
प.पू. श्री. डॉ. चंद्रशेखर शिवाचार्य
महास्वामिजी
जंगमवाडी - वाराणसी
सप्रेम भेंट

इतिहास समिति प्रकाशन–३

जैन धर्म का मौलिक इतिहास

प्रथम भाग

(तीर्थंकर खण्ड)

लेखक एवं निर्देशक
आचार्यश्री हस्तीमलजी महाराज

सम्पादक-मण्डल
**श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री, पं० रत्न मुनि श्री लक्ष्मीचन्दजी म०,
पं० शशिकान्त झा, डॉ० नरेन्द्र भानावत,
गजसिंह राठोड़, जैन न्यायतीर्थ**

प्रकाशक
जैन इतिहास समिति
जयपुर (राजस्थान)

प्रकाशक :
जैन इतिहास समिति
आचार्यश्री विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार
लाल भवन, चौड़ा रास्ता, जयपुर-३

•

•

प्रथम संस्करण : १९७१

मूल्य : २५ रु०

•

आवरण :
पारस भन्साली

•

मुद्रक :
जयपुर प्रिण्टर्स
मिर्जा इस्माइल रोड, जयपुर

विषय-सूची

प्रकाशकीय

किसी भी देश या समाज के उत्थान में उसके इतिहास का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। विश्व-इतिहास में ऐसा कोई उदाहरण दृष्टिगोचर नहीं होता जहां कि कोई देश या समाज अपने गौरवमय इतिहास को भूलकर सम्मानित रह सका हो। जो अपने पूर्वजों के जीवनवृत्त से, उनके मूल्यवान् कृतित्व से अपरिचित है, वह भला प्रगति के दौर में कैसे अग्रसर हो सकता है?

इतिहास जीवन को समुन्नत बनाने में अमोघ वरदान है। वह हतप्रभ समाज में नवजीवन का संचार कर, कायरों को शूरवीर, धर्महीन को धर्मप्रेमी और कर्त्तव्यविमुख-जनों को कर्त्तव्यपरायण बनाता है। जैन परम्परा का इतिहास अपने में कई सार्वभौम मूल्यों और सार्वकालिक जीवन-सत्यों को समेटे हुए है जिनसे प्रेरणा लेकर हम अपने वर्तमान को अतीत के सदृश उज्ज्वल तथा सार्थक वना सकते हैं।

पर दुर्भाग्य से जैन परम्परा का इतिहास अब तक धुंधला-सा बना हुआ है। जीवन के हर क्षेत्र में शक्ति और स्फूर्ति पैदा करने वाला यह समाज सम्प्रति अपना गौरवपूर्ण इतिहास विस्मृत कर सामाजिक व धार्मिक क्षेत्र में पीछे रह गया है। कस्तूरी-मृग की तरह वह अपनी सुगन्ध से स्वयं भी अनजान तथा जगत् को भी अनजान बनाये हुए है।

इतिहास लिखने या तत्सम्बन्धी सामग्री को संजोकर रखने के सम्वन्ध में समाज के प्राचीन सन्तों की अनोखी परम्परा और पद्धति थी। वे ग्रन्थ-प्रणयन या तत्त्व-सृजन को जितना महत्त्व देते थे, उतना प्रणेता के इतिवृत्त को नहीं। यही कारण है कि मध्यकाल की यथावत् जानकारी से हमारा समाज सर्वथा अलग-थलग नजर आता है।

आधुनिक युग की चेतना के साथ इतिहास-लेखन की प्रवृत्ति विकसित हुई। जैन समाज भी इससे अछूता नहीं रहा। कई स्फुट प्रयत्न हुए, वे उपयोगी और महत्त्वपूर्ण होते हुए भी जैन परम्परा के शृंखलाबद्ध इतिहास-ग्रन्थ का रूप नहीं ले सके। ऐसे इतिहास-ग्रंथ की वर्षों से आवश्यकता अनुभव की जा रही थी जो जैन परम्परा को समीचीन शोध के फलस्वरूप प्रामाणिकता के साथ वैज्ञानिक पद्धति से, उसके सही ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत कर सके। सम्वत् २०२२ के वालोतरा चातुर्मास में प्रकाण्ड विद्वान् महामनीषि आचार्य श्री हस्तीमलजी

म. सा. ने ऐसे व्यापक इतिहास-ग्रन्थ के प्रणयन का प्रभावशील उद्बोधन दिया। फलस्वरूप वर्तमान जैन इतिहास समिति गठित की गई जिसके अध्यक्ष न्यायमूर्ति इन्द्रनाथ मोदी, मन्त्री सोहनमल कोठारी और कोषाध्यक्ष पूनमचन्द बडेर मनोनीत किये गये।

इतिहास-लेखन की प्रारम्भिक प्रक्रिया के रूप में वालोतरा में ही आचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा. के सान्निध्य में लालभाई, दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्या मन्दिर, अहमदाबाद के निर्देशक पं० दलसुखभाई मालवणिया और राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर के प्राध्यापक डॉ० नरेन्द्र भानावत आदि के संयुक्त परामर्श से एक सम्भाव्य रूपरेखा बनाई गई और अन्ततः यह निर्णय लिया गया कि जैन परम्परा का यह इतिहास तीन भागों में प्रकाशित किया जाय –

(१) भगवान् ऋषभदेव से लेकर भगवान् महावीर स्वामी तक
(२) भगवान् महावीर स्वामी के बाद से लेकर लौंकाशाह तक
(३) लौंकाशाह से लेकर आज तक

इस महत्त्वपूर्ण एवं चिर अभिलषित कार्य को सम्पन्न करने के लिए विभिन्न परम्पराओं से सम्बद्ध विद्वान् मुनियों और लेखकों से प्रामाणिक सामग्री और मार्गदर्शन लेने का हमारा विनम्र प्रयत्न रहा, पत्राचार भी किया पर कई कारणों से इस दिशा में हम आगे नहीं बढ़ सके।

पर आचार्य श्री हस्तीमलजी म. सा. मनोयोगपूर्वक इसी कार्य में जुटे रहे। ऐतिहासिक तथ्यों के संकलन, गवेषणापूर्ण अन्वेषणा और यथावत् आकलन के लिये आचार्यश्री ने राजस्थान का ग्रामानुग्राम विहार करते हुये गुजरात प्रदेश की ओर प्रस्थान किया और वहां के पाटन, सिद्धपुर, पालनपुर, कलोल, खेड़ा, खंभात, लींवड़ी, बड़ौदा, अहमदावाद आदि नगरों के ज्ञान-भंडारों का निरीक्षण कर हजारों हस्तलिखित ग्रन्थों का अवलोकन किया।

इस यात्रा में जो महत्त्वपूर्ण पट्टावलियां सामने आईं, डॉ० नरेन्द्र भानावत के सम्पादन में उनका प्रकाशन इतिहास समिति ने "पट्टावली प्रबन्ध संग्रह" नाम से किया है। आचार्यश्री की यह प्रबल धारणा रही कि सरल सुबोध शैली में जैन परम्परा की एक संक्षिप्त झांकी सामान्य पाठकों के लिये भी प्रस्तुत की जाय। यह कार्य भी आचार्यश्री द्वारा ही सम्पन्न हुआ। उन्होंने जैन परम्परा को सरस काव्यबद्ध रूप प्रदान किया। श्री गजसिंह राठौड़ के सम्पादकत्व में इस कृति का प्रकाशन भी "जैन आचार्य चरितावली" नाम से इतिहास समिति कर चुकी है।

आचार्यश्री के अहमदाबाद चातुर्मास में इतिहास के प्रथम भाग का लेखन-कार्य विधिवत् आरम्भ हुआ। आज जिस रूप में यह ग्रन्थ आपके समक्ष प्रस्तुत है उसके मूल में भी आचार्यश्री हस्तीमलजी म. सा. का विशिष्ट चिन्तन और सम्यक् निर्देशन रहा है। इसके प्रणयन में आपने जो अनवरत श्रम और अध्यवसाय किया वह कल्पनातीत है। आचार्यश्रीजी के प्रति अपना आभार प्रकट करने के

लिये हमारे कोष में शब्द ही नहीं हैं। पंडित-रत्न मुनि श्री लक्ष्मीचन्दजी म. और शास्त्रज्ञ श्री देवेन्द्र मुनिजी का ग्रन्थ-सम्पादन में पूरा सक्रिय सहयोग रहा है, उसके लिये हम उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता अर्पित करते हैं। डॉ० नरेन्द्र भानावत, पं० शशिकान्तजी झा व श्री गजसिंहजी राठोड़, न्यायतीर्थ ने हमारा निवेदन स्वीकार कर ग्रन्थ सम्पादन में जो महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है, उसके लिये हम उन सबके अत्यन्त आभारी हैं। श्री गजसिंहजी ने पूरा समय देकर ग्रन्थ को अन्तिम रूप देने में विशेष तत्परता दिखलाई, जिसके लिये वे हमारी बधाई के पात्र हैं। प्रसिद्ध गवेषक विद्वान् श्री अगरचन्दजी नाहटा से हमें कई उपयोगी सुझाव और भोगीलाल सांडेसरा से सहायता एवं सहयोग प्राप्त होते रहे। उनके प्रति भी हम अपना आभार व्यक्त करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं।

आदरणीय श्री देवेन्द्र मुनिजी ने अपनी सुन्दर शैली में इस ग्रन्थ के लिए भूमिका लिखकर हमें विशेष रूप से अनुगृहीत किया है। अनुक्रमणिका तैयार करने में श्रीमती शान्ता भानावत, एम०ए० का, प्रूफ संशोधन में श्री प्रेमराजजी बोगावत – साहित्य मंत्री सम्यक् ज्ञान प्रचारक मंडल का, प्रतिलेखन आदि में श्री मोतीलालजी गान्धी, श्री चन्दूलाल केशवलाल मेहता, श्री सरदारमलजी सांड, श्री पूनमचन्दजी मूणोत आदि का बड़ा स्नेहपूर्ण सहयोग मिलता रहा। समिति के कोषाध्यक्ष श्री पूनमचन्दजी बडेर, श्रीचन्दजी गोलेछा, श्री सोहननाथजी मोदी, श्री नथमलजी हीरावत, श्री इन्द्रचन्दजी हीरावत, श्री धनराजजी चौपड़ा, श्री सुगनचन्दजी भंडारी, श्री घासीलालजी कोठारी, श्री खेलशंकर दुर्लभजी, श्री सिरहमलजी बम्ब, श्री उमरावमलजी सेठ, श्री जतनराजजी मेहता, श्री उमरावमलजी ढड्ढा, श्री केशरीमलजी सुराणा, श्री पृथ्वीराजजी कवाड़, श्री मुन्नीमलजी सिंघवी, श्री भीकमचन्दजी चौधरी, श्री प्यारचन्दजी रांका, श्री भूरालालजी पालड़ेचा, श्री भंवरलालजी गोठी, श्री माणकचन्दजी नाहर, श्री थानचन्दजी मेहता, श्री जालमचन्दजी रिखबचन्दजी बाफना, श्री पुखराजजी मूणोत, श्री चंपालालजी कोठारी, श्री जौहरीमलजी मूणोत, श्री सिरहमलजी नवलखा, श्री सुकनराजजी भोपालचन्दजी पगारिया, श्री कालुरामजी चाँदमलजी मुथा, श्री मुकनचन्दजी खुशालचन्दजी भंडारी, श्री उगरसिंहजी बोथरा, श्री तेजमलजी उदयराजजी, श्री सरदारमलजी उमरावमलजी ढड्ढा, श्री जड़ावमलजी माणकचन्दजी बैताला, श्रीमती चकाबाई, श्री जसराजजी गोलेछा, श्री गुलाबचन्दजी हजारीमलजी बोथरा, श्री मोहनलालजी दुग्गड़, श्री छोटमलजी मेहता, श्री रतिभाई, कान्तिभाई, जयपुर श्री संघ, मद्रास श्री संघ, अहमदाबाद श्री संघ, बालोतरा श्रीसंघ, आचार्यश्री विनयचन्द ज्ञान भंडार तथा प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से सहायता करने वाले, सभी सदस्यों ने समय-समय पर रुचि लेकर इस ऐतिहासिक कार्य को सम्पन्न करने में जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया है, उसके लिये इस अवसर पर हम उन सभी के प्रति अपना हार्दिक आभार व्यक्त करना चाहते हैं। इस ग्रन्थ की छपाई के कार्य में जयपुर प्रिण्टर्स के संचालक श्री सोहनलालजी जैन व प्रेस के अधिकारियों, विशेषत: सर्वश्री रामाधारजी तिवारी, राधेश्यामजी,

सूरजप्रकाशजी शर्मा एवं दौलतरामजी का पूर्ण सहयोग रहा, अतः समिति की ओर से उनके प्रति भी हार्दिक आभार प्रकट करते हैं।

आशा है जैन धर्म के मौलिक इतिहास का यह प्रथम भाग संत, सतियों, विद्वानों, शोधकर्त्ताओं और सामान्य पाठकों के लिए परितोषकर सिद्ध होगा।

अन्त में हम अपने हृदय के अन्तःस्तल से आह्लादित ही नहीं अपितु अपने आपको परम सौभाग्यशाली अनुभव करते हैं कि परम श्रद्धेय आचार्यप्रवर श्री हस्तीमलजी म. सा. के वर्णनातीत परिश्रम तथा कौशलपूर्ण निर्देशन के फलस्वरूप हम इस ऐतिहासिक रचना को भगवान् महावीर की २५०० वीं निर्वाण-जयन्ती के पुण्यावसर पर प्रकाशित करने में सफल हुए हैं। हमें आशा ही नहीं वरन् प्रबल विश्वास है कि हमारा यह प्रयास सुविज्ञ पाठकजनों को इस महान् एवं पुनीत अवसर के उपलक्ष में एक विनम्र भेंट के रूप में स्वीकार्य होगा।

इसी ग्रन्थ के द्वितीय भाग के यथाशीघ्र प्रस्तुतीकरण में भी हमें आपका पूर्ववत् सहयोग मिलता रहेगा, इसी विश्वास के साथ।

इन्द्रनाथ मोदी
अध्यक्ष,
जैन इतिहास समिति, जयपुर

सोहनमल कोठारी
मन्त्री,
जैन इतिहास समिति, जयपुर

अपनी बात

[आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज]

धार्मिक इतिहास का आकर्षण

किसी भी देश, जाति, धर्म अथवा व्यक्ति के पूर्वकालीन इतिवृत्त को इतिहास कहा जाता है। उसके पीछे विशिष्ट पुरुषों की स्मृति भी हेतु होती है। इतिहास-लेखन के पीछे मुख्य भावना होती है – महापुरुषों की महिमा प्रकट करते हुए भावी पीढ़ी को तदनुकूल आचरण करने एवं अनुगमन करने की प्रेरणा प्रदान करना।

सामान्यत: जिस प्रकार देश, जाति और व्यक्तियों के विविध इतिहास प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं उस प्रकार धार्मिक इतिहासों की उपलब्धि दृष्टि-गोचर नहीं होती। इसके परिणामस्वरूप केवल जनसाधारण ही नहीं अपितु अच्छे पढ़े-लिखे विद्वान् भी अधिकांशत: यही समझ रहे हैं कि जैन धर्म का कोई प्राचीन प्रामाणिक इतिहास आज उपलब्ध नहीं है।

परंतु वास्तव में ऐसी बात नहीं है। जैन धर्म के इतिहास-ग्रन्थ यद्यपि चिरकाल से उपलब्ध हैं – और उनमें आदिकाल से प्राय: सभी प्रमुख धार्मिक घटनाएं उल्लिखित हैं, तथापि ऐतिहासिक घटनाओं का क्रमबद्ध (सिलसिलेवार) एवं रुचिकर आलेखन किसी एक ग्रंथ के रूप में नहीं होने, तथा ऐतिहासिक सामग्रीपूर्ण ग्रन्थ प्राकृत एवं संस्कृत भाषा में आबद्ध होने के कारण वे सर्व-साधारण के लिए सहसा बोधगम्य, आकर्षण के केन्द्र एवं सर्वप्रिय नहीं बन सके।

यह मानव की दुर्बलता है कि वह प्राय: भोग एवं भोग्य सामग्री की ओर सहज ही आकृष्ट हो जाता है अत: संसार के दृश्य, मोहक पदार्थ और मानवीय जीवन[illegible]ल व्यवहारों के प्रति जैसा पाठकों का आकर्षण होता है वैसा धर्म अथवा ध[illegible]क इतिहास के प्रति नहीं होता। क्योंकि धर्म एवं धार्मिक इतिहास में मुख्यत: त्याग-तप की बात होती है।

जैन धर्म का इतिहास

धर्म का स्वतन्त्र इतिहास नहीं होता। सम्यक् विचार व आचार रूप धर्म हृदय की वस्तु है, जिसका कब कहाँ और कैसे उदय, विकास अथवा ह्रास हुआ तथा कैसे विनाश होगा यह अतिशय ज्ञानी के अतिरिक्त किसी को ज्ञात नहीं।

ऐसी स्थिति में उसका इतिहास कैसे लिखा जाय यह समस्या है। अतः इन्द्रियातीत अतिसूक्ष्म धर्म का अस्तित्व प्रमाणित करने के लिये धार्मिक महापुरुषों का जीवन और उनका उपदेश ही धर्म का परिचायक है। धर्म का आविर्भाव, तिरोभाव एवं विकास मनुष्य आदि धार्मिक जीवों में ही होता है क्योंकि धर्म बिना धर्मी अर्थात् गुणी के नहीं होता। अतः धार्मिक मानवों का इतिहास ही धर्म का इतिहास है। धार्मिक पुरुषों में आचार-विचार, उनके देश में प्रचार एवं प्रसार तथा विस्तार का इतिवृत्त ही धर्म का इतिहास है।

सम्यक् विचार और सम्यक् आचार से रागादि दोषों को जीतने का मार्ग ही जैन धर्म है। वह किसी जाति या देश-विशेष का नहीं, वह तो मानवमात्र के लिए शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति का मार्ग है। धर्म का अस्तित्व कब से है? इसके उत्तर में शास्त्रकारों ने बतलाया है कि जैसे पंचास्तिकायात्मक लोक सदाकाल से है उसी प्रकार आचारांग आदि द्वादशांगी गणिपिटक रूप सम्यक्श्रुत भी अनादि हैं।

भारतवर्ष जैसे क्षेत्र एवं धर्म को मानने वाले व्यक्तियों की अपेक्षा से भोगयुग के पश्चात् धर्म का आदिकाल और अवसर्पिणी के दुःषमकाल के अन्त में धर्म का विच्छेद होने से इसका अन्त भी कहा जा सकता है। इस उद्भव और अवसान के मध्य की अवधि का धार्मिक इतिवृत्त ही धर्म का पूर्ण इतिहास है।

प्रस्तुत इतिहास भारतवर्ष और इस अवसर्पिणीकाल की दृष्टि से [illegible] अवसर्पिणीकाल के तृतीय आरक के अन्त में प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदे[illegible] और उन्हीं से देश में विधिपूर्वक श्रुतधर्म और चारित्रधर्म का प्रादुर्भाव [illegible] अतः क्षेत्र तथा काल की दृष्टि से यही जैन धर्म का आदिकाल कहा गया है। [illegible] के अन्यान्य धार्मिक सम्प्रदायों ने भी अपने-अपने धर्म को प्राचीन बतलाने [illegible] प्रयत्न किया है पर जैन-संघ की तरह अन्यत्र कहीं भी धर्म के आदिकाल [illegible] लेकर उनके प्रचार, प्रसार एवं विस्तार की आचार्य-परम्परा का क्रमबद्ध नि[illegible] नहीं मिलता। प्रायः वहां राज्य-परम्परा का ही प्रमुखता से उल्लेख मिलता है।

ग्रन्थ का नामकरण

जैन शास्त्रों के अनुसार इस अवसर्पिणीकाल में २४ तीर्थंकर, १२ च[illegible]वर्ती, ९ बलदेव, ९ वासुदेव और ९ प्रतिवासुदेव – ये ६३ उत्तम पुरुष हुए हैं। प्रकृति के सहज नियमानुसार मानव समाज के शारीरिक, मानसिक आदि ऐहि[illegible] और आध्यात्मिक संरक्षण, संगोपन एवं संवर्द्धन के लिए लोकनायक [illegible] धर्मनायक दोनों का नेतृत्व आवश्यक माना गया है।

चक्री या अर्द्धचक्री जहां मानव-समाज में व्याप्त संघर्ष और पापाचार [illegible] दण्डभय से दमन करते एवं जनता को नीति-मार्ग पर आरूढ़ करते हैं वहां धर्मनायक-तीर्थंकर धर्मतीर्थ की स्थापना करके उपदेशों द्वारा लोगों का हृदय-परिवर्[illegible] करते हुए जन-जन के मनमें पाप के प्रति घृणा उत्पन्न करते हैं। दण्ड-नीति [illegible]

दोषों का दमन मात्र होता है पर धर्म-नीति ज्ञानामृत से दोषों को सदा के लिए केवल शान्त ही नहीं करती अपितु दोषों के प्रादुर्भाव के द्वारों को अवरुद्ध करती है।

धर्मनायक तीर्थंकर मानव के अन्तर्मन में सोई हुई आत्मशक्ति को जागृत करते और उसे विश्वास दिलाते हैं कि मानव ! तू ही अपने सुख-दुख का निर्माता है, बाहर में किसी को शत्रु या मित्र समझ कर व्यर्थ के रागद्वेष से आकुल–व्याकुल मत बन।

ऐसे धर्मोत्तम महापुरुष तीर्थंकरों का प्राचीन ग्रन्थों के आधार से यहां परिचय दिया गया है अतः इस ग्रन्थ का नाम 'जैन धर्म का मौलिक इतिहास' रखा गया है।

इतिहास का मूलाधार

यों तो इतिहास-लेखन में प्रायः सभी प्राचीन ग्रन्थ आधारभूत होते हैं पर उन सब का मूलभूत आधार दृष्टिवाद है। दृष्टिवाद के पांच भेदों में से चौथा अनुयोग है, जिसे वस्तुतः जैन धर्म के इतिहास का मूल स्रोत या उद्‌भव स्थान कहा जा सकता है। समवायांग और नन्दीसूत्र में उल्लिखित हुण्डी के अनुसार प्रथमानुयोग में (१) तीर्थंकरों के पूर्वभव, (२) देवलोक में उत्पत्ति, (३) आयु, (४) च्यवन, (५) जन्म, (६) अभिषेक, (७) राज्यश्री, (८) मुनिदीक्षा, (९) उग्रतप, (१०) केवल ज्ञानोत्पत्ति, (११) प्रथम प्रवचन, (१२) शिष्य, (१३) गण और गणधर, (१४) आर्याप्रवर्तिनी, (१५) चतुर्विध संघ का परिमाण, (१६) केवलज्ञानी, (१७) मनःपर्यवज्ञानी, (१८) अवधिज्ञानी, (१९) समस्त श्रुतज्ञानी – द्वादशांगी, (२०) वादी, (२१) अनुत्तरोपपात वाले, (२२) उत्तरवैक्रिय वाले, (२३) सिद्धगति को प्राप्त होने वाले, (२४) जैसे सिद्धिमार्ग बतलाया और (२५) पादोपगमन में जितने भक्त का तप कर अन्तक्रिया की उसका वर्णन किया है।

इसी प्रकार के अन्य भी अनेक भाव आबद्ध होने का उल्लेख प्राप्त होता है।

मूल प्रथमानुयोग की तरह गण्डिकानुयोग में कुलकर, तीर्थंकर, चक्रवर्ती, दशार्ह, बलदेव, वासुदेव, गणधर और भद्रबाहु गाण्डिका का विचार है। उसमें हरिवंश तथा उत्सर्पिणी एवं अवसर्पिणीकाल का चित्रण भी किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस अनुयोग रूप दृष्टिवाद में इतिहास का सम्पूर्ण मूल बीज निहित कर दिया गया था।

इन उपरोक्त उल्लेखों से निर्विवाद रूप से यह स्पष्ट होता है कि जैन धर्म का सम्पूर्ण, सर्वांगपूर्ण और प्रामाणिक इतिहास बारहवें अंग दृष्टिवाद में विद्यमान था। ऐसी दशा में डॉ० हर्मन, जैकोबी जैसे पाश्चात्य विद्वानों का यह अभिमत कि रामायण की कथा जैनों के मूल आगम में नहीं है, वह वाल्मिकीय

रामायण अथवा अन्य हिन्दू ग्रन्थों से उधार ली गई है – नितान्त भ्रान्तिपूर्ण एवं निराधार सिद्ध होता है।

प्रथमानुयोग धार्मिक इतिहास का प्राचीनतम शास्त्र माना गया है। जैन धर्म के इतिहास में जितने भी ज्ञात, अज्ञात, उपलब्ध तथा अनुपलब्ध ग्रन्थ हैं उनका मूल स्रोत अथवा आधार प्रथमानुयोग ही रहा है। आज श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्परा के आगम-ग्रन्थों, समवायांग, नन्दी, कल्पसूत्र और आवश्यक निर्युक्ति में जो इतिहास की यत्र-तत्र झांकी मिलती है वह सब प्रथमानुयोग की ही देन है।

कालप्रभावजन्य क्रमिक स्मृति-शैथिल्य के कारण शनैः शनैः चतुर्दश पूर्वों के साथ-साथ इतिहास का अक्षय भण्डार प्रथमानुयोग और गण्डिकानुयोग रूप वह शास्त्र आज विलुप्त हो गया। वही हमारा मूलाधार है।

इतिहास-लेखन में पूर्वाचार्यों का उपकार

प्रथमानुयोग और गण्डिकानुयोग के विलुप्त हो जाने के बाद जैन इतिहास को सुरक्षित रखने का श्रेय एकमात्र पूर्वाचार्यों की श्रुतसेवा को है। इस विषय में उन्होंने जो योगदान दिया है वह कभी भुलाया नहीं जा सकता। आगमाश्रित निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य और टीका आदि ग्रन्थों के माध्यम से उन्होंने जो उपकार किया है वह आज के इतिहास-गवेशकों के लिए बड़ा ही सहायक सिद्ध हो रहा है।

पूर्वाचार्यों ने इस प्रकार ऐतिहासिक सामग्री प्रस्तुत नहीं की होती, तो आज हम सर्वथा अन्धकार में रहते अतः यहां उन कतिपय ग्रन्थकारों के लेखकों का कृतज्ञतावश स्मरण करना आवश्यक समझते हैं।

(१) उनमें सर्वप्रथम आचार्य भद्रबाहु हैं जिन्होंने दशवैकालिक आवश्यक आदि १० सूत्रों पर निर्युक्ति की रचना की। आपका रचनाकाल वीर संवत् १७० से पहले का है।

(२) जिनदास गणी महत्तर। आपने आवश्यक चूर्णि आदि ग्रंथों की रचना की। आपका रचनाकाल ई० सन् ६००–६५० है।

(३) अगस्त्य सिंह ने दशवैकालिक सूत्र पर चूर्णि की रचना की। आपका रचनाकाल विक्रम की तीसरी शताब्दी (वल्लभी-वाचना से २००-३०० वर्ष पूर्व का) है।

(४) संघदास गणी ने वृहत्कल्प भाष्य और वसुदेव हिण्डी की रचना की। आपका रचनाकाल ई० सन् ६०६ है।

(५) जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यक भाष्य की रचना की। आपका रचनाकाल विक्रम सं. ६४५ है।

(६) विमळ सूरि ने पउमचरियं आदि इतिहास ग्रन्थों की रचना की। आपका रचनाकाल विक्रम संवत् ६० है।

(७) यतिवृषभ ने तिळोयपण्णत्ती आदि ग्रन्थों की रचना की। आपका रचनाकाल ई० चौथी शताब्दी के आसपास माना गया है।

(८) जिनसेन ने ई० ९ वीं शताब्दी के प्रारम्भकाल में आदि पुराण और हरिवंश पुराण की रचना की।

(९) आचार्य गुणभद्र ने शक सम्वत् ८२० में उत्तर पुराण की रचना की।

(१०) रविषेण ने ई० सन् ६७८ में पद्मपुराण की रचना की।

(११) आचार्य शीळांक ने ई० सन् ८६८ में चउवन महापुरिसचरियम् की रचना की।

(१२) पुष्पदन्त ने विक्रम सम्वत् १०१६ से १०२२ में अपभ्रंश भाषा के महापुराण नामक इतिहास-ग्रन्थ की रचना की।

(१३) भद्रेश्वर ने ईसा की ११वीं शताब्दी में कहावली ग्रन्थ की रचना की।

(१४) आचार्य हेमचन्द्र ने ई० सं. १२२६ से १२२९ में त्रिषष्टि-शलाकापुरुषचरित्र नामक इतिहास-ग्रंथ की रचना की।

(१५) धर्मसागर गणी ने तपागच्छ-पट्टावली सूत्रवृत्ति नामक (प्राकृत-सं०) इतिहास-ग्रन्थ की रचना वि. सं. १६४६ में की।

इन संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषा के इतिहास-ग्रन्थों के अतिरिक्त अनेक ज्ञात और अगणित अज्ञात विद्वानों ने जैन इतिहास के सम्बन्ध में हिन्दी, गुजराती आदि प्रान्तीय भाषाओं में रचनायें की हैं। जागरूक सन्त-समाज ने अनेकों स्थाविरावळियां, सैकड़ों पट्टावळियां आदि लिखकर भी इतिहास की श्रीवृद्धि करने में किसी प्रकार की कोर-कसर नहीं रखी है। उन सबके प्रति हम हृदय से कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

इतिहास की विश्वसनीयता

उपरोक्त पर्यालोचन के बाद यह कहना किंचित्मात्र भी अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं होगा कि हमारा जैन-इतिहास बहुत गहरी सुदृढ़ नींव पर खड़ा है। यह इधर-उधर की किंवदन्ती या कल्पना के आधार से नहीं पर प्रामाणिक पूर्वाचार्यों की अविरळ परम्परा से प्राप्त है। अतः इसकी विश्वसनीयता में लेशमात्र भी शंका की गुंजाइश नहीं रहती। जैसाकि आचार्य विमळसूरि ने अपने पउमचरियम् ग्रन्थ में लिखा है :-

नामावलिय निबद्धं आयरियपरम्परागयं सव्वं।
वोच्छामि पउम चरियं, अहाणुपुव्वि समासेण ।।

अर्थात् आचार्य परम्परागत सब इतिहास जो नामावळी में निबद्ध है वह संक्षेप में कहूंगा। उन्होंने फिर कहा है :-

परम्परा से होती हुई पूर्व-ग्रन्थों के अर्थ की हानि को काल का प्रभाव समझ कर विद्वज्जनों को खिन्न नहीं होना चाहिये। यथा —

एवं परम्पराए परिहाणि पुव्वगंथ अत्थाणं।
नाऊण काळभावं न रुसियव्वं बुहजणेणं।।

इससे प्रमाणित होता है कि प्राचीन समय में नामावली के रूप में संक्षिप्त रूप से इतिहास को सुरक्षित रखने की पद्धति वहुमान्य थी। धर्म-संप्रदायों की तरह राजवंशों में भी इस प्रकार इतिहास को सुरक्षित रखने का क्रम चलता था। जैसा कि बीकानेर राज्य के राजवंश की एक ऐतिहासिक उक्ति से स्पष्ट होता है :–

बीको नरो ळूणसी जैतो कलो राय।
दळपत सूरो करणसी अनूप सरूप सुजाय।।
जोरो गजो राजसी प्रतापो सूरत्त।
रतनसी सरदारसी, डूंग गंग महिपत्त।।

इस प्रकार नामावलि-निबद्ध इतिहास के प्राचीन एवं प्रामाणिक होने से इसकी विश्वसनीयता में कोई शंका नहीं रहती।

तीर्थंकर और केवली

केवली और तीर्थंकरों में समानता होते हुए भी अंतर है। घाती-कर्मों का क्षय कर केवलज्ञान का उपार्जन करने वाले केवली कहलाते हैं। तीर्थंकरों की तरह उनमें केवलज्ञान और केवलदर्शन होता है फिर भी वे तीर्थंकर नहीं कहलाते।

ऋषभ देव से वर्धमान–महावीर तक चौबीसों अरिहंत केवली होने के साथ-साथ तीर्थंकर भी हैं। केवली और तीर्थंकर में वीतरागता एवं ज्ञान की समानता होते हुए भी अन्तर है। तीर्थंकर स्वकल्याण के साथ परकल्याण की भी विशिष्ट योग्यता रखते हैं। वे त्रिजगत् के उद्धारक होते हैं। उनका देव, असुर, मानव, पशु, पक्षी, सब पर उपकार होता है। उनकी कई बातें विशिष्ट होती हैं। वे जन्म से ही कुछ विलक्षणता लिए होते हैं जो केवली में नहीं होती। जैसे तीर्थंकर के शरीर पर १००८ लक्षण होते हैं[1] केवली के नहीं। तीर्थंकर की तरह केवली में विशिष्ट वागतिशय और नरेन्द्र-देवेन्द्र कृत पूजातिशय नहीं होता। उनमें अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र और अनन्त वीर्य होता है पर महाप्रातिहार्य नहीं होते। तीर्थंकर की यह खास विशेषता है कि उनके साथ (१) अशोक वृक्ष, (२) सुरकृत पुष्पवृष्टि, (३) दिव्य ध्वनि, (४) चामर, (५) स्फटिक सिंहासन, (६) भामण्डल-प्रभामण्डल, (७) देव-दुन्दुभि और (८) छत्रत्रय – ये अतिशय होते हैं। इनको प्रातिहार्य कहते हैं।

[1] अट्ठसहस्सलक्खणधरो.........., उत्तराध्ययन. २२।५

सामान्यरूपेण तीर्थंकर से बारह गुना ऊंचा अशोक वृक्ष होता है। इसके अतिरिक्त तीर्थंकर की ३४ अतिशयमयी विशेषतायें होती हैं। उनकी वाणी भी ३५ विशिष्ट गुणवती होती है। सामान्य केवली के ये अतिशय नहीं होते।

तीर्थंकरों का बल

तीर्थंकर धर्मतीर्थ के संस्थापक और चालक होते हैं अतः उनका वलवीर्य जन्म से ही अमित होता है। नरेन्द्र-चक्रवर्ती ही नहीं सुरेन्द्र से भी तीर्थंकर का बल अनन्त गुना अधिक माना गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ के पृष्ठ ३५६ पर तीर्थंकर के बल को तुलना से समझाया गया है। विशेषावश्यक भाष्य और निर्युक्ति में इसको प्रकारान्तर से भी बतलाया है। वसुदेव से द्विगुणित बल चक्रवर्ती का और चक्रवर्ती से अपरिमित बल तीर्थंकर का कहा गया है। वहां उदाहरणपूर्वक वताया गया है कि :–

कूप तट पर बैठे हुए वासुदेव को सांकळों से बांधकर सोलह हजार राजा अपनी सेनाओं के साथ पूरी शक्ति लगाकर खींचें तब भी वह लीला से बैठे खाना खाते रहें, तिलमात्र भी हिलें-डुलें नहीं। [1]

तीर्थंकरों का वल इन्द्रों को भी इसलिए हरा देता है कि उनमें तन-वल के साथ-साथ अतुल मनोवल और अदम्य आत्मवल होता है। कथा-साहित्य में नवजात शिशु महावीर द्वारा चरणांगुष्ठ से सुमेरु पर्वत को प्रकम्पित कर देने की बात इसीलिए अतिशयोक्तिपूर्ण अथवा असम्भव नहीं कही जा सकती क्योंकि तीर्थंकर के अतुल बल के समक्ष ऐसी घटनाएं साधारण समझनी चाहिये। 'अहिंसा, संयम और तप रूप धर्म में जिसका मन सदा रमा रहता है, उसे देव भी नमस्कार करते और सेवा करते रहते हैं' इस आर्ष वचनानुसार तीर्थंकर भगवान् सदा देव-देवेन्द्रों द्वारा सेवित रहते हैं।

---

[1] सोलस रायसहस्सा, सव्व-वलेणं तु संकलनिवद्धं।
अंछंति बासुदेवं, अगडतडम्मि ठियं संतं ॥ ७० ॥

घेतूण संकलं सो, वाम हत्थेण अंछमाणाणं।
भुँजिज्ज विलिपिज्ज व, महुमणं ते न चाएंति ॥ ७१ ॥

दो सोला वत्तीसा, सव्व वलेणं तु संकलनिवद्धं।
अंछंति चक्कवट्टिं, अगडतडम्मि ठियं संतं ॥ ७२ ॥

घेतूण संकलं सो, वामगहत्थेण अंछमाणाणं।
भुँजिज्ज विलिपिज्ज व, चक्कहरं ते न चायन्ति ॥ ७३ ॥

जं केसवस्स बलं, तं दुगुणं होइ चक्कवट्टिस्स।
तत्तो बला वलवगा, अपरिमियवला जिणवरिंदा ॥ ७४ ॥

[विशेषावश्यक भाष्य, मूल, पृ. ५७-५८, गा. ७०-७१]

तीर्थंकर और क्षत्रिय-कुल

तीर्थंकरों ने साधना और सिद्धान्त में सर्वत्र गुण और तप की प्रधानता बतलाई है,[1] जाति या कुल की प्रधानता नहीं मानी। ऐसी स्थिति में प्रश्न होता है कि तीर्थंकरों का जन्म क्षात्र-कुलों में ही क्यों माना गया? क्या इसमें जातिवाद की गन्ध नहीं है? जैन शास्त्रानुसार जाति में जन्म की अपेक्षा गुणकर्म की प्रधानता मानी गई है। जैसी कि उक्ति प्रसिद्ध है –

'कम्मुणा बंभणो होई, कम्मुणा होई खत्तिओ।' [उत्त० २३।३३

'ब्राह्मण या क्षत्रिय कर्मानुसार होता है। ब्राह्मण – ब्रह्मचर्य-सत्य संतोष-प्रधान भिक्षाजीवी होता है जबकि क्षत्रिय ओजस्वी, तेजस्वी, रणक्रिया प्रधान प्रभावशाली होता है। धर्म-शासन के संचालन और रक्षण में आन्तरिक सत्य शीलादि गुणों के साथ-साथ ओजस्विता की भी परम आवश्यकता रहती है अन्यथा दुर्बल की दया के समान साधारण जन-मन पर धर्म का प्रभाव नहीं होगा। ब्राह्मण कुलोत्पन्न व्यक्ति शान्त, सुशील एवं मृदु स्वभाव वाला होता है, तेज-प्रधान नहीं। उसके द्वारा किया गया अहिंसा-प्रचार प्रभावोत्पादक नहीं होता। क्षात्र-तेज वाला शस्त्रास्त्र-सम्पन्न व्यक्ति राज्य-वैभव को साहसपूर्वक त्यागकर अहिंसा की बात करता है तो अवश्य उसका प्रभाव होता है। यही कारण है कि जातिवाद से दूर रहकर भी जैन धर्म ने तीर्थंकरों का क्षात्रकुल में ही जन्म मान्य किया किया है।[2] दरिद्र, भिक्षुक-कुल, कृपण-कुल आदि का खास निषेध किया है। ऋषभदेव से महावीर तक सभी तीर्थंकर क्षत्रिय-कुल के विमल गगन में उदय पाकर संसार को विमल ज्योति से चमकाते रहे। कठोर से कठोर कर्म काटने में भी उन्होंने अपने तपोबल से सिद्धि प्राप्त की।

तीर्थंकर की स्वाश्रित साधना

देव-देवेन्द्रों से पूजित होकर भी तीर्थंकर अपनी तप-साधना में स्वावलम्बी होते हैं। वे किसी देव-दानव या मानव का कभी सहारा नहीं चाहते। भगवान् पार्श्वनाथ और महावीर की साधना में धरणेन्द्र, सिद्धार्थ देव और शक्रेन्द्र का सेवा में आकर उपसर्ग-दाताओं को हटाने का उल्लेख आता है पर पार्श्वनाथ या महावीर ने मारणान्तिक कष्टों में भी उनकी साहाय्य की इच्छा नहीं की। जब भी श्रमण भगवान् महावीर से देवेन्द्र ने निवेदन किया – "भगवन्! आप पर भयंकर कष्ट और उपसर्ग आने वाले हैं। आज्ञा हो तो मैं आपकी सेवा में रहकर कष्ट निवारण करना चाहता हूं।"

उत्तर में प्रभु ने यही कहा – "शक्र! स्वयं द्वारा बांधे हुये कर्म स्वयं को ही काटने होते हैं। दूसरों की सहायता से फलभोग का समय आगे-पीछे हो

---

[1] तवो विसेसो, न जाइ विसेस कोइ। उ. १२।३७

[2] देखें कल्पसूत्र।

सकता है पर कर्म नहीं कटते। तीर्थंकर स्वयं ही कर्म काट कर अरिहंत-पद प्राप्त करते हैं।[1] इसी भाव से प्रभु ने शूलपाणि यक्ष के उपसर्ग और एक रात में ही संगमकृत वीस उपसर्गों को समतापूर्वक सहन किया।[2] प्रभु यदि मन में भी लाते कि ऐसा क्यों हो रहा है तो इन्द्र सेवा में तैयार था पर प्रभु अडोल रहे।

प्रत्येक तीर्थंकर के शासन-रक्षक यक्ष, यक्षिणी [3] होते हैं, जो समय-समय पर शासन की संकट से रक्षा और तीर्थंकरों के भक्तों की इच्छा पूर्ण करते रहते हैं। तीर्थंकर भगवान् अपने कष्ट-निवारणार्थ उन्हें भी याद नहीं करते।

इसके अतिरिक्त भी जब भगवान् महावीर ने देखा कि परिचित भूमि में लोग उन पर कष्ट और परीषह नहीं आने देते हैं तब अपने कर्मों को काटने हेतु वे वज्रभूमि, शुभ्रभूमि जैसे अनार्य-खण्ड में चले गये जहां कोई भी परिचित न होने के कारण उनकी सहाय या कष्ट-निवारण न कर सके। वहां कैसे-कैसे कष्ट सहे, यह विहारचर्या में पढ़ें।[4]

इस प्रकार की अपनी कठोरतम दिनचर्या एवं जीवनचर्या से तीर्थंकरों ने संसार को यह पाठ पढ़ाया कि प्रत्येक व्यक्ति को साहस के साथ अपने कर्मों को काटने में जुट जाना चाहिये। फलभोग के समय घबराकर भागना वीरता नहीं। अशुभ फल के भोगने में भी धीरता के साथ डटे रहना और शुभ ध्यान से कर्म काटना ही वीरत्व है। यही शान्ति का मार्ग है।

तीर्थंकरों का अंतरकाल

एक तीर्थंकर के निर्वाण के पश्चात् दूसरे तीर्थंकर के निर्वाण तक के काल को मोक्ष-प्राप्ति का अन्तरकाल कहते हैं। एक तीर्थंकर के जन्म से दूसरे तीर्थंकर के जन्म तक और एक की केवलोत्पत्ति से दूसरे की केवलोत्पत्ति तक का अन्तर-काल भी होता है पर यह निर्वाणकाल की अपेक्षा अन्तरकाल है। प्रवचन सारोद्धार और तिलोयपण्णत्ती में इसी दृष्टि से तीर्थंकरों का अन्तरकाल बताया गया है। प्रवचन सारोद्धार की टीका एवं अर्थ में स्पष्ट रूप से कहा है कि समुत्पन्न का अर्थ जन्मना नहीं करके 'सिद्धत्वेन समुत्पन्नः' अर्थात् सिद्ध हुए करना चाहिये। तभी बराबर काल की गणना बैठ सकती है। तीर्थंकरों के अन्तरकालों में उनके शासनवर्ती आचार्य और स्थविर तीर्थंकर-वाणी के आधार पर धर्म-तीर्थ का अक्षुण्ण संचालन करते हैं। आत्मार्थी साधक शास्त्रानुकूल आचरण कर सिद्धि

---

[1] इतिहास का पृ. ३६३
[2] ,, ,, ३८८-८९
[3] (क) समवायांग
(ख) तिलोयपण्णत्ती ४/ ९३४-३६/ ९३७-३९
[4] ,, ,, ३८१-८२

भी प्राप्त करते हैं। प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव से सुविधिनाथ तक के आठ अन्तर और शान्तिनाथ से महावीर तक के ८ इन कुल १६ अंतरों में संघरूप तीर्थ का विच्छेद नहीं हुआ। पर सुविधिनाथ से शान्तिनाथ तक के सात अंतरों में धर्मतीर्थ का विच्छेद हो गया।

संभव है उस समय कोई खास राजनैतिक या सामाजिक संघर्ष के कारण जैन धर्म पर बड़ा संकट आया हो। आचार्य के अनुसार सुविधिनाथ के पश्चात् और शीतलनाथ से पूर्व इतना विषम समय था कि लोग जैन धर्म की बात करने में भी भय खाते थे। कोई धर्म-श्रवण के लिये भी तैयार नहीं होता।

इस प्रकार चतुर्विध संघ में नई वृद्धि नहीं होने से तीर्थ का विच्छेद हो गया। भरतकालीन ब्राह्मण जो धर्मच्युत हो गये थे उनका प्रभुत्व बढ़ने लगा। ब्राह्मणों को अन्न-धन-स्वर्णादि का दान करना ही धर्म का मुख्य अंग माना जाने लगा। भ० शीतलनाथ के तीर्थ के अन्तिम भाग में राजा मेघरथ भी इस उपदेश से प्रभावित हुआ और उसने मंत्री की वीतराग-मार्गानुकूल सलाह को भी अस्वीकार कर दिया।[1]

संभव है शीतलनाथ के शासनकाल की तरह अन्य सात तीर्थंकरों के अन्तर में भी ऐसे ही किसी विशेष कारण से तीर्थ का विच्छेद हुआ हो। तीर्थ-विच्छेदों का कुल समय पौने तीन पल्य बताया गया है।

वास्तविकता यह है कि भगवान् ऋषभदेव से सुविधिनाथ तक के अन्तरों में दृष्टिवाद को छोड़कर ग्यारह अंग-शास्त्र विद्यमान रहते हैं पर सुविधिनाथ से शान्तिनाथ तक के अंतरों में बारहों अंग-शास्त्रों का पूर्ण विच्छेद माना गया है। शान्तिनाथ से महावीर के पूर्व तक भी दृष्टिवाद का ही विच्छेद होता है। अन्य ग्यारह अंग-शास्त्रों का नहीं जैसा कि कहा है :–

मुत्तूण दिट्ठिवायं, हवंति एक्कारसेव अंगाइं।
अट्ठसु जिणंतरेसु, उसह जिणिंदाओ जा सुविही ॥४३४॥

सत्तसु जिणंतरेसु, वोच्छिन्नाइं दुवालसंगाइं।
सुविहि जिणा जा संति, कालपमाणं कमेणेंसि ॥४३५॥

अट्ठसु जिणंतरेसु, वोच्छिन्नाइं न हुन्ति अंगाइं।
संति जिणा जा वीरं, वुच्छिन्नो दिट्ठिवाउ तहिं ॥४३६॥

[प्रवचन सारोद्धार, द्वार ३६]

ऋषभदेव से भगवान् वर्द्धमान – महावीर तक चौबीस तीर्थंकरों के शासन काल में सात अंतरों को छोड़कर निरंतर धर्मतीर्थ चलता रहा। संख्या में न्यूनाधिक होने पर भी कभी भी चतुर्विध संघ का सर्वथा अभाव नहीं हुआ कारण कि धर्मशास्त्र – ग्यारह अंग परंपरा से सुरक्षित रहे। शास्त्ररक्षा ही धर्म रक्षा का सर्वोपरि साधन है।

---

[1] उत्तरपुराण, पर्व ५६, श्लो. ६६-६६

तिलोयपण्णत्ती के अनुसार चौबीस तीर्थंकरों के जन्म से २३ अन्तरकाल निम्न प्रकार हैं :–

तृतीय काल के चौरासी लाख पूर्व, ३ वर्ष, ८ मास और एक पक्ष शेष रहने पर भगवान् ऋषभदेव का जन्म हुआ।

१. भगवान् ऋषभदेव की उत्पत्ति के पश्चात् पचास लाख करोड़ सागर और बारह लाख पूर्व बीत जाने पर भगवान् अजितनाथ का जन्म हुआ।

२. भगवान् अजितनाथ की उत्पत्ति के पश्चात् ३० लाख करोड़ सागर और बारह लाख पूर्व वर्ष व्यतीत होने पर भगवान् संभवनाथ का जन्म हुआ।

३. भगवान् संभवनाथ के जन्म के पश्चात् १० लाख करोड़ सागर और १० लाख पूर्व बीत जाने पर भगवान् अभिनन्दन का जन्म हुआ।

४. भगवान् अभिनन्दन की उत्पत्ति के पश्चात् ९ लाख करोड़ सागर और दस लाख पूर्व व्यतीत हो जाने पर भगवान् सुमतिनाथ का जन्म हुआ।

५. भगवान् सुमतिनाथ के जन्म के अनन्तर ९० हजार करोड़ सागर और १० लाख पूर्व वर्ष बीत जाने पर भगवान् पद्मप्रभ का जन्म हुआ।

६. भगवान् पद्मप्रभ के जन्म के पश्चात् ९ हजार करोड़ सागर और १० लाख पूर्व व्यतीत होने पर भगवान् सुपार्श्वनाथ का जन्म हुआ।

७. भगवान् सुपार्श्वनाथ की उत्पत्ति के ९०० करोड़ सागर और दस लाख पूर्व वर्ष बीतने पर भगवान् चन्द्रप्रभ का जन्म हुआ।

८. भगवान् चन्द्रप्रभ के जन्म के पश्चात् ९० करोड़ सागर और ८ लाख पूर्व वर्ष व्यतीत हो जाने पर भगवान् सुविधिनाथ (पुष्पदंत) का जन्म हुआ।

९. भगवान् सुविधिनाथ के जन्म से ९ करोड़ सागर और एक लाख पूर्व वर्ष पश्चात् भगवान् शीतलनाथ का जन्म हुआ।

१०. भगवान् शीतलनाथ के जन्म के अनन्तर एक करोड़ सागर और एक लाख पूर्व में एक सौ सागर एवं एक करोड़ पचास लाख छब्बीस हजार वर्ष कम समय व्यतीत होने पर भगवान् श्रेयांसनाथ का जन्म हुआ।

११. भगवान् श्रेयांसनाथ के जन्म के पश्चात् चौवन सागर और १२ लाख वर्ष बीतने पर भगवान् वासुपूज्य का जन्म हुआ।

१२. भगवान् वासुपूज्य के जन्म के पश्चात् ३० सागर और १२ लाख वर्ष बीतने पर भगवान् विमलनाथ का जन्म हुआ।

१३. भगवान् विमलनाथ के जन्म के अनन्तर ९ सागर और ३० लाख वर्ष व्यतीत होने पर भगवान् अनन्तनाथ का जन्म हुआ।

१४. भगवान् अनन्तनाथ के जन्म के पश्चात् ४ सागर और २० लाख वर्ष व्यतीत होने पर भगवान् धर्मनाथ का जन्म हुआ।

१५. भगवान् धर्मनाथ के जन्म के पश्चात् पौन पल्य कम तीन सागर और ६ लाख वर्ष बीतने पर भगवान् शान्तिनाथ का जन्म हुआ।

१६. भगवान् शान्तिनाथ के जन्म के पश्चात् आधा पल्य और ५ हजार वर्ष बीतने पर भगवान् श्री कुंथुनाथ का जन्म हुआ।

१७. भगवान् कुंथुनाथ के जन्म के पश्चात् ग्यारह हजार वर्ष कम एक हजार करोड़ वर्ष न्यून पाव पल्य बीतने पर भगवान् अरनाथ का जन्म हुआ।

१८. भगवान् अरनाथ के जन्म के पश्चात् गुनतीस हजार वर्ष अधिक एक हजार करोड़ वर्ष बीतने पर भगवान् मल्लिनाथ का जन्म हुआ।

१९. भगवान् मल्लिनाथ के जन्म के पश्चात् चौवन लाख पचीस हजार वर्ष व्यतीत होने पर भगवान् मुनिसुव्रत का जन्म हुआ।

२०. भगवान् मुनिसुव्रत स्वामी के जन्म के पश्चात् ६ लाख बीस हजार वर्ष बीतने पर भगवान् नमिनाथ का जन्म हुआ।

२१. भगवान् नमिनाथ के जन्म के पश्चात् पाँच लाख नौ हजार वर्ष बीतने पर भगवान् अरिष्टनेमि का जन्म हुआ।

२२. भगवान् अरिष्टनेमि के जन्म के पश्चात् चौरासी हजार ६५० वर्ष व्यतीत होने पर भगवान् पार्श्वनाथ का जन्म हुआ।

२३. भगवान् पार्श्वनाथ के जन्म के पश्चात् दो सौ अठहत्तर (२७८) वर्ष व्यतीत होने पर भगवान् महावीर का जन्म हुआ।

विचार और आचार

सामान्यरूप से देखा जाता है कि अच्छे से अच्छे महात्मा भी उपदेश में जैसे उच्च विचार प्रस्तुत करते हैं, आचार उनके अनुरूप नहीं पाल सकते। अनेक तो उससे विपरीत आचरण करने वाले भी मिलेंगे। परन्तु तीर्थंकरों के जीवन की यह विशेषता होती है कि वे जिस प्रकार के उच्च विचार रखते हैं पूर्णतः वैसा का वैसा ही प्रचार, समुच्चार, और आचार भी रखते हैं। उनका आचार उनके विचारों से भिन्न अथवा विदिशागामी नहीं होता।

फिर भी तीर्थंकरों की जीवन घटनाएं देखकर कई स्थलों पर साधारण व्यक्ति को शंकाएं हो सकती हैं। उदाहरणस्वरूप कुछ आचार्यों ने लिखा है कि भगवान् महावीर ने दीक्षाग्रहण करने के पश्चात् ज्योंही विहार किया तो एक दरिद्र ब्राह्मण मार्ग में आ करुणाजनक स्थिति में उनसे कुछ याचना करने लगा। दया से द्रवित हो प्रभु ने देवदूष्य का एक खण्ड फाड़कर उसे दे दिया। साधु के लिये गृहस्थ को रागवृद्धि के कारणरूप वस्त्रादि दान का निषेध करने वाले प्रभु स्वयं वैसा करें यह कैसे संभव है? क्योंकि प्रभु में अनन्त दया होती है, वस्त्र फाड़कर देने रूप सीमित दया नहीं होती। मान लें कि भगवान् का हृदय दया से पिघल गया तो भी देवदूष्य को फाड़ने की उनको आवश्यकता नहीं थी। संभव है

वा में रहने वाले सिद्धार्थ आदि किसी देव ने ऐसा किया हो। उस दशा में आचार्यों रा ऐसा लिखना संगत हो सकता है।

इसी प्रकार तीर्थंकर का सर्वथा अपरिग्रही होकर भी देवकृत छत्र, चाम- दि विभूतियों के बीच रहना साधारण जन के लिये शंका का कारण हो सकता । आज के बुद्धिवादी तीर्थंकर की देवकृत भक्ति का गलत अनुकरण करना चाहते । वास्तव में तीर्थंकर की स्थिति दूसरे प्रकार की थी। देवकृत महिमा के समय र्थंकर को केवलज्ञान हो चुका था। वे पूर्ण वीतरागी बन चुके थे। आज के संत गुरु छद्मस्थ होने के कारण सरागी हैं। तीर्थंकर के तीर्थंकर नामकर्म के दय होने से देव स्वयं शाश्वत नियमानुसार छत्र चामरादि विभूतियों से उनकी हिमा करते वैसी आज के संतों की विशिष्ट पुण्य प्रकृतियों का उदय नहीं है ससे कि तीर्थंकरों के समवशरण की तरह पुष्पवर्षा कर भक्तों को बाह्याडम्बर ु निमित्त बनना पड़े। रागादि का उदय होने से आज की महिमा पूजा दोनों के ये बन्ध का कारण हो सकती है अतः शासनप्रेमियों को तीर्थंकर के नाम का थ्यानुकरण नहीं करना चाहिये।

श्चय और व्यवहार

वीतराग और कल्पातीत होने के कारण तीर्थंकर व्यवहार की मर्यादाओं बंधे नहीं होते। इतना होते हुए भी तीर्थंकरों ने हमें निश्चय एवं व्यवहार रूप क्षमार्ग का उपदेश दिया और स्वयं ने व्यवहार-विरुद्ध प्रवृत्ति नहीं की। फिर भी चार्यों ने केवलज्ञान के पश्चात् भगवान् महावीर का रात्रि में विहार कर महा- वन पधारना माना है। यह ठीक है कि केवलज्ञानी के लिये रात-दिन का नहीं होता फिर भी यह व्यवहार-विरुद्ध है। वृहत्कल्पसूत्र की वृत्ति के अनुसार ने व्यवहार-पालन हेतु प्यास और भूख से पीड़ित साधुओं को जंगल में सहज त्त पानी एवं अचित्त तिलों के होते हुए भी खाने-पीने की अनुमति नहीं दी।[1] ृत्तिकार ने 'राईए संपत्तो महसेणवणम्मि उज्जाणे' लिखा है। वैसे आवश्यक ण आदि में दरिद्र ब्राह्मण को वस्त्र खण्ड देने का भी उल्लेख है। इन सबकी ी संगति हो सकती है इस पर गीतार्थ गम्भीरता से विचार करें।

हम इतना निश्चित रूप से कह सकते हैं कि तीर्थंकर 'जहा वाई तहा रिया वि भवइ' होते हैं। उनका आचार विचारानुगामी और व्यवहार में अविरुद्ध ता है। निश्चय मार्ग के पूर्ण अधिकारी होते हुए भी तीर्थंकर व्यवहार-विरुद्ध वृत्ति नहीं करते। तीर्थंकरों का रात्रि-विहार नहीं करना और मल्लिनाथ का वलज्ञान के बाद भी साधु-सभा में न रहकर साध्वी-सभा में रहना आदि, वहार-विरुद्ध प्रवृत्ति नहीं करने के ही प्रमाण हैं।

र्थंकरकालीन महापुरुष

भगवान् ऋषभदेव से महावीर तक २४ तीर्थंकरों के समय में अनेक ऐसे हापुरुष हुए हैं जो राज्याधिकारी होकर भी मुक्तिगामी माने गये हैं। उनमें

[1] वृहत्कल्प भा०, भा० २, गा० ९९७ से ९९९, पृ० ३१४-१५

२४ तीर्थंकरों के साथ बारह चक्रवर्ती, नव बलदेव, नव वासुदेव इस तरह कुल मिलाकर ५४ महापुरुष कहे गये हैं। पीछे और नव प्रतिवासुदेवों को जोड़ने से त्रिषष्टि शलाका-पुरुष के रूप में कहे जाने लगे।

भरत चक्रवर्ती भगवान् ऋषभदेव के समय में हुए जिनके सम्बन्ध में जैन, हिन्दू और बौद्ध – ये भारत की तीनों प्रमुख परम्पराएं एक मत से स्वीकार करती हैं कि इन्हीं ऋषभदेव के पुत्र भरत चक्रवर्ती के नाम पर हमारे देश का नाम भारत पड़ा।

सगर चक्रवर्ती दूसरे तीर्थंकर भगवान् अजितनाथ के समय में, मघवा और सनत्कुमार भगवान् धर्मनाथ एवं शान्तिनाथ के अन्तरकाल में हुए। भगवान् शान्तिनाथ, कुंथुनाथ एवं अरनाथ चक्री और तीर्थंकर दोनों ही थे। आठवें सुभौम चक्रवर्ती भगवान् अरनाथ और मल्लिनाथ के अन्तरकाल में हुए। नौवें चक्रवर्ती पद्म भगवान् मल्लिनाथ और भगवान् मुनिसुव्रत के अन्तरकाल में हुए। दसवें चक्रवर्ती हरिषेण भगवान् मुनिसुव्रत और भगवान् नमिनाथ के अन्तरकाल में हुए। ग्यारहवें चक्रवर्ती जय भगवान् नमिनाथ और भगवान् अरिष्टनेमि के अन्तरकाल में तथा बारहवें चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त भगवान् अरिष्टनेमि और भगवान् पार्श्वनाथ के मध्यवर्ती काल में हुए।

त्रिपृष्ठ आदि पांच वासुदेव भगवान् श्रेयांसनाथ आदि पांच तीर्थंकरों के काल में हुए। भगवान् अरनाथ और मल्लिनाथ के अन्तरकाल में पुण्डरीक, भगवान् मल्लिनाथ और मुनिसुव्रत के अन्तरकाल में दत्त नामक वासुदेव हुए। भगवान् मुनिसुव्रत और नमिनाथ के अन्तरकाल में लक्ष्मण वासुदेव और भगवान् अरिष्टनेमि के समय में श्रीकृष्ण वासुदेव हुए।

वासुदेव आदि की तरह ग्यारह रुद्र, ९ नारद और कहीं बाहुवली आदि चौवीस कामदेव भी माने गये हैं।

(१) भीमावलि, (२) जितशत्रु, (३) रुद्र, (४) वैश्वानर, (५) सुप्रतिष्ठ, (६) अचल, (७) पुण्डरीक, (८) अजितंधर, (९) अजितनाभि, (१०) पीठ और (११) सात्यकि – ये ग्यारह रुद्र माने गये हैं।

(१) भीम, (२) महाभीम, (३) रुद्र, (४) महारुद्र, (५) काल, (६) महाकाल, (७) दुर्मुख, (८) नरमुख और (९) अधोमुख नामक नौ नारद हुए। ये सभी भव्य एवं मोक्षगामी माने गये हैं।

प्रथम रुद्र भगवान् ऋषभदेव के समय में, दूसरे रुद्र भगवान् अजितनाथ के समय में, तीसरे रुद्र से नौवें रुद्र तक सुविधिनाथ आदि सात तीर्थंकरों के समय में, दसवें रुद्र भगवान् शान्तिनाथ के समय में और ग्यारहवें रुद्र भगवान् महावीर के समय में हुए। अन्तिम दोनों रुद्र नरक के अधिकारी माने गये हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ में धार्मिक इतिहास-लेखन का मुख्य दृष्टिकोण होने से चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव आदि का यथावत् विस्तृत वर्णन नहीं किया गया है।

चक्रवर्तियों में से भरत और ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती का, वासुदेवों में श्रीकृष्ण का और प्रतिवासुदेवों में से जरासन्ध का ऐतिहासिक दृष्टिकोण से संक्षिप्त वर्णन किया गया है। रुद्र एवं नारदों के लिये तिलोयपण्णत्ती के चतुर्थ महाधिकार में पठनीय सामग्री उल्लिखित है।

भगवान् महावीर के भक्त राजाओं में श्रेणिक, कूणिक, चेटक, उदायन आदि प्रमुख राजाओं का परिचय दिया गया है। श्रेणिक भगवान् महावीर के शासन का प्रभावक भूपति हुआ है। उसने शासन-सेवा से तीर्थंकर-गोत्र का उपार्जन किया। पूर्वबद्ध निकाचित कर्म के कारण उसे प्रथम नरकभूमि में जाना पड़ा। उसने अपने नरक-गति के बंध को काटने हेतु सभी प्रकार के प्रयत्न किये। श्रमण भगवान् महावीर की चरण-शरण ग्रहण कर उसने अपने नरक-गमन से बचने का कारण पूछा। आवश्यक चूर्णि के अनुसार प्रभु ने उसे नरक से बचने के दो उपाय – क्रमशः कालशौकरिक से हिंसा छुड़ाना और कपिला ब्राह्मणी से भिक्षा दिलाना बताये। श्रेणिक चरित्र में नमुक्कारसी पच्चखाण, श्रेणिक की दादी द्वारा मुनि-दर्शन और पूणिया श्रावक से सामायिक का फल खरीदना – ये तीन कारण अधिक बताये गये हैं। श्रेणिक ने भरसक प्रयत्न किया पर नमुक्कारसी का व्रत करने में सफल नहीं हो सका। अपनी दादी द्वारा मुनिदर्शन के दूसरे उपाय के सम्बन्ध में उसे विश्वास था कि उसकी प्रार्थना पर उसकी दादी अवश्य ही मुनिदर्शन कर लेगी और उसके फलस्वरूप सहज ही वह नरक-गमन से बच जायगा। परन्तु श्रेणिक द्वारा लाख प्रयत्न करने पर भी उसकी दादी ने मुनि-दर्शन करना स्वीकार नहीं किया। नरक से बचने का तीसरा उपाय पूणिया श्रावक की सामायिक खरीदना था। पर पूणिया श्रावक की सामायिक तो त्रैलोक्य की समस्त सम्पत्ति से भी अधिक कीमती एवं अमूल्य थी अतः वह कीमत से मिलती ही कैसे? अन्त में श्रेणिक ने समझ लिया कि उसका नरक-गमन अवश्यंभावी है।

तीर्थंकर और नाथ-संप्रदाय

तीर्थंकरों का उल्लेख जैन साहित्य के अतिरिक्त वेद, पुराण आदि वैदिक और त्रिपिटक आदि बौद्ध धर्म-ग्रन्थों में भी उपलब्ध होता है। परन्तु उनमें ऋषभ, संभव, सुपार्श्व, अरिष्टनेमि आदि रूप से ही उल्लेख मिलता है, कहीं भी नाथ पद से युक्त तीर्थंकरों के नाम उपलब्ध नहीं होते। समवायांग, आवश्यक और नन्दीसूत्र में भी नाथ-पद के साथ नामों का उल्लेख नहीं मिलता। ऐसी स्थिति में सहज ही यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि तीर्थंकरों के नाम के साथ 'नाथ' शब्द कब और किस अर्थ में प्रयुक्त होने लगा।

शब्दार्थ की दृष्टि से विचार करते हैं तो नाथ शब्द का अर्थ स्वामी या प्रभु होता है। आगम में वशीकृत-आत्मा के लिये भी नाथ शब्द का प्रयोग किया गया है। जैसे कि उत्तराध्ययन सूत्र में अनाथी मुनि के शब्दों में कहा गया है :–

खन्तो दन्तो निरारंभो, पव्वइओ अणगारियं।
तो हं नाहो जाओ, अप्पणो य परस्स य ।।३४।।

[उ०, ३५]

अर्थात् "जब मैं शान्त, दान्त और निरारम्भी रूप से प्रव्रजित हो गया तब अपना और पर का नाथ हो गया।"

प्रत्येक तीर्थंकर त्रिलोकस्वामी और उपरोक्त महान् गुणों से सम्पन्न होते हैं अतः उनके नाम के साथ 'नाथ' उपपद का लगाया जाना नितान्त उपयुक्त एवं उचित ही है। प्रभु, नाथ, देव एवं स्वामी आदि शब्द एकार्थक हैं अतः तीर्थंकर के नाम के साथ देव, नाथ अथवा स्वामी उपपद लगाया गया है।

सर्वप्रथम भगवती सूत्र में भगवान् महावीर का और आवश्यक सूत्र में अरिहन्तों का उत्कीर्तन करते हुए 'लोगनाहेणं', 'लोग नाहाणं' विशेषण से उन्हें लोकनाथ कहा है।

टीकाकार ने 'नाथ' शब्द की एक दूसरी व्याख्या भी की है। 'योगक्षेमकृन्नाथः' अलभ्यलाभो योगः, लब्धस्य परिपालनं क्षेमः। इस दृष्टि से तीर्थंकर भव्य जीवों के लिये अलब्ध सम्यग्दर्शन आदि का लाभ और लब्ध सम्यग्दर्शन का परिपालन करवाते हैं अतः वे इस अपेक्षा से भी नाथ कहे जा सकते हैं।

चौथी शताब्दी के आस-पास हुए दिगम्बर आचार्य यतिवृषभ ने अपने ग्रन्थ 'तिलोयपण्णत्ती' में अधोलिखित कतिपय स्थलों पर तीर्थंकरों के नाम के साथ 'नाथ' शब्द का प्रयोग किया है :—

'भरणी रिक्खम्मि संतिणाहो य।' ति० प० ४।५४१।
'विमलस्स तीसलक्खा, अणंतणाहस्स पंचदसलक्खा।'

[ति० प० ४।५९९]

आचार्य यतिवृषभ तीर्थंकरों के नाम के आगे नाथ शब्द की तरह ईसर और सामी पदों का भी उल्लेख किया है। यथा :—

'रिसहेसरस्स भरहो, सगरो अजिएसरस्स पच्चक्खं'

[ति० प० ४।१२८३]

'लक्खा पणप्पमाणा वासाणं धम्मसामिस्स।'

[ति० प०, ४।५९९]

इससे इतना तो सुनिश्चित एवं निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि चौथी शताब्दी में यतिवृषभ के समय में तीर्थंकरों के नाम के साथ नाथ शब्द का प्रयोग लिखने-पढ़ने व बोलने में आने लगा था।

जैन तीर्थंकरों के नाम के साथ लगे हुए नाथ शब्द की लोकप्रियता शनैः शनैः इतनी बढ़ी कि शैवमती योगी अपने नाम के साथ मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ आदि रूप से नाथ शब्द जोड़ने लगे फलस्वरूप इस संप्रदाय का नाम ही 'नाथ संप्रदाय' से रूप में पहिचाना जाने लगा।

इतर संप्रदाय के साधारण लोग जो सर्वथा आदिनाथ, अजितनाथ आदि तीर्थंकरों की महिमा और उनके इतिहास से अनभिज्ञ हैं, गोरखनाथ की परम्परा में नीमनाथी, पारसनाथी नाम देख कर भ्रान्ति में पड़ सकते हैं कि गोरखनाथ से नेमनाथ पारसनाथ हुए या नेमनाथ पारसनाथ से गोरखपंथी हुए। सही स्थिति यह है कि मत्स्येन्द्रनाथ जो नाथ संप्रदाय के मूल प्रवर्तक[1] एवं आदि आचार्य माने जाते हैं उनका समय ईसा की आठवीं शताब्दी माना गया है जबकि तीर्थंकर भगवान् नेमनाथ, पारसनाथ और जैन धर्मानुयायी हजारों वर्ष पहले से हैं। नेमनाथ पार्श्वनाथ से ८३ हजार वर्ष पूर्व हो चुके हैं। दोनों में बड़ा कालभेद है। अतः गोरखनाथ से नेमनाथ पारसनाथ या जैन धर्मानुयायियों के होने की तो संभावना ही नहीं हो सकती। ऐसी मिथ्या कल्पना विद्वानों के लिये किसी भी तरह विश्वसनीय नहीं हो सकती। हाँ नेमनाथ पारसनाथ से गोरखनाथ की संभावना की जा सकती है। पर विचारने पर वह भी ठीक नहीं बैठती क्यों कि भगवान् पार्श्वनाथ विक्रम संवत से ७२५ वर्ष से भी अधिक पहले हो चुके हैं जब कि गोरखनाथ को विद्वानों ने बप्पा रावल का भी समकालीन माना है। हो सकता है कि भगवान् नेमनाथ के व्यापक अहिंसा प्रचार का जिसने कि पूरे यादव वंश का मोड़ वदल दिया था नाथ परम्परा पर प्रभाव पड़ा हो और पार्श्वनाथ के कमठ प्रतिबोध की कथा से नाथ परम्परा के योगियों का मन प्रभावित हुआ हो और इस आधार से नीमनाथी, पारसनाथी परम्परा प्रचलित हुई हो। जैसा कि प्रसिद्ध इतिहासज्ञ हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपनी 'नाथ संप्रदाय' नामक पुस्तक में लिखा है:—

"चांदनाथ संभवतः वह प्रथम सिद्ध थे जिन्होंने गोरक्षमार्ग को स्वीकार किया था। इसी शाखा के नीमनाथी और पारसनाथी नेमिनाथ और पार्श्वनाथ नामक जैन तीर्थंकरों के अनुयायी जान पड़ते हैं। जैन साधना में योग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। नेमिनाथ और पार्श्वनाथ निश्चय ही गोरक्षनाथ के पूर्ववर्ती थे।"[2]

ऐतिहासिक मान्यताओं में मतभेद

"यहां यह प्रश्न उपस्थित किया जा सकता है कि जैन इतिहास का मूलाधार जब सब का एक है तो फिर विभिन्न आचार्यों के लिखने में मतभेद क्यों ?

वास्तविकता यह है कि जैन परम्परा का सम्पूर्ण श्रुत गुरु-शिष्य परम्परा से प्रायः मौखिक ही चलता रहा। एक गुरु के शिष्यों में भी मौखिक ज्ञान क्षयोपशम की न्यूनाधिकता के कारण विभिन्न प्रकार का दृष्टिगोचर होता है। एक की स्मृति में एक बात एक तरह से है तो दूसरे की स्मृति में वही बात दूसरी तरह

---

[1] हमारी अपनी धारणा यह है कि इसका उदय लगभग ८वीं शताब्दी के आसपास हुआ था। मत्स्येन्द्रनाथ इसके मूल प्रवर्तक थे।—हिन्दी की निर्गुण काव्य धारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठ भूमि। पृ० ३२७

[2] 'नाथ संप्रदाय' — हजारी प्रसाद द्विवेदी पृ० १९० —

से और तीसरे को संभव है उसका बिलकुल ही स्मरण न हो। अति सन्निकट काल के घटनाचक्र के संबन्ध में जब इस प्रकार की मतवैचित्र्य की स्थिति है तो प्राचीनकाल की ऐतिहासिक घटनाओं के सम्बन्ध में दीर्घकाल की अनेक दुष्कालियों के समय स्मरण, चिन्तन एवं परावर्तन के बराबर अवसर प्राप्त न होने की दशा में कतिपय मतभेदों का होना स्वाभाविक है। जैसा कि विमलसूरि ने पउम चरियं में कहा है :—

एवं परम्पराए परिहाणी पुव्व गंथ अत्थाणं।
नाऊण कालभावं, न रूसियव्वं बुहजणेण ॥

निकट भूत में हुए अनेक संतों, उनकी परम्पराओं एवं उनके जन्मकाल आदि के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद दृष्टिगोचर होता है। उदाहरणस्वरूप कबीर को कोई हिन्दू मानते हैं तो कई मुस्लिम। उनके जन्मकाल, माता-पिता के नाम आदि के सम्बन्ध में भी आज मतैक्य दृष्टिगोचर नहीं होता। पूज्य धर्मदासजी महाराज जिनके नाम पर स्थानकवासी समाज में कितनी ही उपसंप्रदायें चल रही हैं उनके माता-पिता, जन्मकाल और स्वर्गवास-तिथि के सम्बन्ध में आज मतभेद चल रहा है। ऐसी स्थिति में हजारों वर्ष पहले हुए तीर्थंकरों के विषय में मतभेद हो तो इसमें विशेष आश्चर्य की बात नहीं है। कालप्रभाव, स्मृतिभेद, दृष्टिभेद के अतिरिक्त लेखक और वाचक के दृष्टिदोष के कारण भी मान्यताओं में कुछ विभेद आ गये हैं, जो कालान्तर में ईसा की तीसरी शती के आसपास श्वेताम्बर-दिगम्बर परम्पराओं की मध्यवर्ती यापनीय नामक तीसरी परम्परा के भी जनक रहे हैं। पाठकों को इस मतभेद से खिन्न होने की अपेक्षा यह देख कर अधिक गौरवानुभव करना चाहिये कि तीर्थंकरों के माता-पिता, जन्मस्थान, च्यवन नक्षत्र, च्यवन स्थल, जन्म नक्षत्र, वर्ण, लक्षण, कुमारकाल, दीक्षातप, दीक्षाकाल, साधनाकाल, निर्वाणतप, निर्वाणकाल आदि मान्यताओं में श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों परम्पराओं का प्रायः साम्य है। नाम, स्थान, तिथि आदि का भेद, श्रुतिभेद या गणनाभेद से हो गया है उससे मूल वस्तु में कोई अन्तर नहीं पड़ता।

भगवान् वासुपूज्य, मल्ली, अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ और महावीर इन पांच तीर्थंकरों को दोनों परम्पराओं में कुमार माना गया है। अरिष्टनेमि, मल्ली, महावीर, वासुपूज्य और पार्श्वनाथ इन पांचों ने कुमारकाल में और शेष १९ तीर्थंकरों ने राज्य करने के पश्चात् दीक्षा ग्रहण की[1] इस प्रकार का उल्लेख तिलोयपण्णत्ती में किया गया है। कुमारकाल के साथ राज्य का उल्लेख होने के कारण वे पांचों तीर्थंकर अविवाहित ही दीक्षित हुए हों ऐसा स्पष्ट नहीं होता। इस अस्पष्टता के कारण दोनों परम्पराओं में पार्श्व, वासुपूज्य और महावीर के विवाह के विषय में मतैक्य नहीं रहा।

प्रस्तुत ग्रन्थ में तीर्थंकर परिचय-पत्र एवं प्रत्येक तीर्थंकर के जीवन-परिचय में यथास्थान उन मतभेद के स्थलों का भी निर्देश किया है। कुछ ऐसे भी

[1] तिलो० प०, ४।६७०

मतभेद हैं जो परम्परा से विपरीत होने के कारण मुख्यरूपेण विचारणीय हैं। जैसे-सब आचार्यों ने क्षत्रियकुंड को महाराज सिद्धार्थ का निवासस्थल माना है परन्तु आचार्य शीलांक ने उसे सिद्धार्थ का विहारस्थल (Hill Station) लिखा है।[1]

आचाराँग सूत्र, कल्पसूत्र आदि में नन्दीवर्धन को श्रमण भगवान् महावीर का ज्येष्ठ भाई लिखा है जबकि आचार्य शीलांक ने नन्दीवर्धन को महावीर का छोटा भाई बताया है।[2]

भगवती सूत्र के अनुसार गोशालक द्वारा सर्वानुभूति और सुनक्षत्र अरणगार पर तेजोलेश्या का प्रक्षेपण और समवसरण में मुनिद्वय का प्राणान्त होना बताया गया है जब कि आचार्य शीलांक ने चउवन महापुरिस चरियम् में गोशालक द्वारा प्रक्षिप्त तेजोलेश्या से किसी मुनि की मृत्यु का उल्लेख नहीं किया है। उन्होंने लिखा है कि सर्वानुभूति अरणगार के साथ विवाद होने पर गोशालक ने उन पर तेजोलेश्या फेंकी। बदले में सर्वानुभूति ने भी तेजोलेश्या प्रकट की। दोनों तेजोलेश्याएं टकराईं। भगवान् महावीर ने तेजोलेश्याओं द्वारा होने वाले अनर्थ को रोकने के लिये शीतललेश्या प्रकट की। उसके प्रबल प्रभाव को नहीं सह सकने के कारण वह तेजोलेश्या गोशालक पर गिर कर उसे जलाने लगी। तेजोलेश्या की तीव्र ज्वालाओं से भयभीत हो गोशालक भगवान् महावीर के चरणों में गिर पड़ा। प्रभु के चरणों की कृपा से उस पर आया हुआ तेजोलेश्या का उपसर्ग शान्त हो गया।[3]

गोशालक को अपने दुष्कृत्य पर पश्चात्ताप हुआ और अपने दुष्कृत्य की निन्दा करते हुए उसने शुभ-लेश्या प्राप्त की और मरकर अन्त में अच्युत स्वर्ग में देवरूप से उत्पन्न हुआ।[4]

---

[1] अण्णया य गामाणुगामं गच्छमाणो कीलाणिमित्तमागओ णियभुत्तिपरिसंठियं कुंडपुरं णामनयरं।

[चउपन्नमहापुरिसचरियं, पृ. २७०]

[2] परलोयमइगतेसुं जणणि-जणएसुं पणामिऊण णियकणिट्ठस्स भाउणो रज्जं·······

[चउप्पन्नमहापुरिसचरियं, पृ० २७२]

[3] अण्णया य भिक्खु··· सव्वाणभूईहिं समं विवाओ संजाओ। तओ विवायवसुप्पण्ण कोवाई-सयेणय पक्खित्ता ताणोवरिं तेउलेसा, तेहिंपि तस्स सतेउलेस त्ति। ताणं च परोप्परं तेउले-साणं संपलग्गं जुज्झं एत्थावसरम्मि य भयवया तस्सुवसमणणिमित्तं पेसिया सीयलेसा। तओ सीयलेसापहावमसहमाणा विवलाया तेउलेसा, मंदसाहियकिच्च व्व पयत्ता अहिद्दविउं गोसालयं। णवरमसहमाणो तेयजलणप्पहावं समल्लीणो जयगुरुं। जय गुरुचलणप्प-हावपणट्ठोवसग्गपसरो य संबुद्धो पयत्तो चिंतिउं हा! दुट्ठु मे कयं जं भयवया सह सम-सीसिमारुहंतेण अच्चासायणा कया।

[वही, पृ० ३०६-७]

[4] एवं च पइदिणं णिंदणाइयं कुणमाणो कालमासे कयपाणपरिच्चाओ समुप्पण्णो अच्चुए देवलोए त्ति।

[वही, पृ० ३०७]

उपरोक्त मन्तव्यों से प्रतीत होता है कि आचार्य शीलांक के समय में भी गोशालक द्वारा भगवान् के पास सर्वानुभूति और सुनक्षत्र मुनि पर तेजोलेश्या फेंकने के सम्बन्ध में विचार-विभेद था। आचार्य शीलांक जैसे शास्त्रज्ञ मुनि द्वारा परम्परागत मान्यता के विपरीत लिखने के पीछे कोई कारण अवश्य होना चाहिये। इतने बड़े विद्वान् यों ही बिना सोचे कुछ लिख डालें इस पर विश्वास नहीं होता। यह विषय विद्वानों की गहन गवेषणा की अपेक्षा रखता है।

तीर्थंकरकालीन प्रचार-नीति

तीर्थंकरों के समय में देव, देवेन्द्र और नरेन्द्रों का पूर्णरूपेण सहयोग होते हुए भी जैन धर्म का देश-देशान्तरों में व्यापक प्रचार क्यों नहीं हुआ, तीर्थंकरकाल की प्रचार-नीति कैसी थी जिससे कि भरत जैसे चक्रधर, श्रीकृष्ण जैसे शक्तिधर और मगधनरेश श्रेणिक जैसे भक्तिधरों के सत्ताकाल में भी देश में जैन धर्म का प्रचुर प्रचार नहीं हो सका। साधु-संत और शक्तिशाली भक्तों ने प्रचारक भेजकर तथा अधिकारियों ने राजाज्ञा प्रसारित कर अहिंसा एवं जैन धर्म का सर्वत्र व्यापक प्रचार क्यों नहीं किया, इस प्रकार के प्रश्न सहज ही प्रत्येक व्यक्ति के मस्तिष्क में उत्पन्न हो सकते हैं।

तत्कालीन स्थिति का सम्यक् अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि तीर्थंकरों के मार्ग में प्रचार का मूल सम्यग्विचार और आचारनिष्ठा ही माना गया था। उनके उपदेश का मूल लक्ष्य हृदय-परिवर्तन रहता था। यही कारण है कि तीर्थंकर भगवान् ने अपने पास आये हुए श्रोताओं को भी सम्यग्दर्शन आदि मार्ग का ज्ञान कराया पर किसी को बलपूर्वक अथवा आग्रहपूर्वक यह नहीं कहा कि तुम्हें अमुक व्रत ग्रहण करना होगा। उपदेशश्रवण के पश्चात् जो भी इच्छापूर्वक साधुधर्म अथवा श्रावकधर्म ग्रहण करने के लिए खड़ा होता उसे यही कहा जाता – 'यथा-सुखम्' अर्थात् जिसमें सुख हो उसमें प्रमाद मत करो।

भावना उत्पन्न करने के बाद क्या करना, इसका निर्णय श्रोता पर ही छोड़ दिया जाता। आज की तरह बल प्रयोग या आडम्बर से प्रचार नहीं किया जाता था। कारण कि प्रचार की अपेक्षा आचार की प्रधानता थी। अन्यथा चक्रवर्ती और वासुदेवों के राज्यकाल में अनार्य-खण्ड में भी जैन धर्म के प्रति व्यापक आदर हो जाता और लाखों ही नहीं करोड़ों मानव जैन धर्म के श्रद्धालु अनुयायी बन जाते एवं सर्वत्र वीतराग-वाणी का प्रचार एवं प्रसार हो जाता।

तीर्थंकरों के समय के प्रचार को देखते हुए प्रतीत होता है कि उन्होंने ज्ञानपूर्वक विशुद्ध प्रचार को ही उपादेय मान रखा था। सत्तावल, धनबल अथवा सेवा-शुश्रूषा से प्रसन्न कर, किसी को भय, प्रलोभन या प्रशंसा से चढ़ाकर बिना पाये (बुनियाद) के तैयार करना उचित नहीं माना जाता था। जैन साधु सार्वजनिक स्थान में ठहरते, बिना भेद-भाव के सब जातियों के अनिंद्यकुलों से भिक्षा ग्रहण करते और सबको उपदेश देते थे। धर्म, संप्रदाय या पंथ-परिवर्तन कराने में खास रस नहीं लिया जाता था। बोध पाकर कोई स्वयं धर्म ग्रहण

रना चाहता उसे ही दीक्षित किया जाता। जैनाचार्यों अथवा शासकों द्वारा ोई बलात् धर्म-परिवर्तन का उदाहरण नहीं मिलेगा।

उस समय स्थिति ऐसी थी कि समाज के शुभ वातावरण में अनायास ही ोग धर्मानुकूल जीवन जी सकते थे। संस्कारों का पाया इतना दृढ़ था कि अनार्य ोग भी उनके प्रभाव से प्रभावित हो जाते। अभय कुमार ने अनार्य देशस्थ अपने ता के मित्र अनार्य नरेश के राजकुमार को धर्मप्रेमी वनाने के लिये धर्मो-करण की भेंट भेजी और सेठ जिनदत्त ने अनार्यभूप को धर्मरत्न की ओर ाकृष्ट कर भगवान् महावीर की सेवा में उपस्थित किया। इसी प्रकार मंत्री चत्त ने केशिश्रमण को श्वेताम्बिका नगरी ले जा कर नास्तिक नरेश प्रदेशी को ास्तिक एवं धर्मानुरागी बनाया।

प्रचार का तरीका यह था कि किसी विशिष्ट पुरुष को ऐसा तैयार करना के वह हजारों को धर्मनिष्ठ बना सके। उस समय किसी की धार्मिक साधना में ाधा पहुँचाना या किसी को धर्मच्युत करना जघन्य कृत्य समझा जाता था। आज की स्थिति उस समय से भिन्न है। आज अनार्य देश में भी आर्यजन आते-जाते तथा रहते हैं एवं कई अनार्य लोग भारत की आर्यधरा में भी रहने लगे हैं। एक दूसरे का परस्पर प्रभाव पड़ता है। ऐसी स्थिति में आवश्यक है कि उनमें अहिंसा, सत्य एवं सदाचार का खुलकर प्रचार किया जाय। उन्हें खाद्याखाद्य का स्वरूप समझाया जाय। अन्यथा वढ़ते हुए हिंसा और मांसाहार के युग में निर्बल मन वाले धार्मिक लोग विदेशियों से प्रभावित हो धर्मानुकूल व्यवहार से विमुख हो जावेंगे। प्रचार आवश्यक है पर वह अपनी संस्कृति के अनुरूप होना चाहिए। हमारी प्रचार-नीति आचार-प्रधान और ज्ञानपूर्वक हृदय-परिवर्तन की भूमिका पर ही आधारित होनी चाहिये। इसी से हम जिन-शासन का हित कर सकते हैं और यही तीर्थंकरकालीन संस्कृति के अनुरूप प्रचार का मार्ग हो सकता है।

आज के इतिहास लेखक

जैन इतिहास के इस प्रकार के प्रामाणिक आधार होने पर भी आधुनिक विद्वान् उसको बिना देखे जैन धर्म और तीर्थंकरों के विषय में भ्रन्ति-पूर्ण लेख लिख डालते हैं, यह आश्चर्य एवं खेद की बात है। इतिहासज्ञ को प्रामाणिक ग्रन्थों का अध्ययन कर जिस धर्म या संप्रदाय के विषय में लिखना हो प्रामाणि-कता से लिखना चाहिये। सांप्रदायिक अभिनिवेश या बिना पूरे अध्ययन-मनन के सुनी-सुनाई बात पर लिख डालना उचित नहीं।

गोशालक द्वारा महावीर का शिष्यत्व स्वीकार करना और आजीवक मत पर महावीर के सिद्धान्त का प्रभाव शास्त्रसिद्ध होने पर भी यह लिखना कि महावीर ने गोशालक से अचेलधर्म स्वीकार किया, कितनी वड़ी भूल है। आज भी कुछ विद्वान् जैन धर्म को वैदिक मत की शाखा वताने की व्यर्थ चेष्टा करते हैं, यह उनकी गहरी भूल है। हम आशा ही नहीं पूर्ण विश्वास करते हैं कि हमारे विज्ञ इतिहासज्ञ इस ओर विशेष सतर्क रहकर जैन धर्म जैसे भारत के प्रमुख धर्म

का सही परिचय प्रस्तुत कर राष्ट्र को तद्विषयक अज्ञान से हटा आलोक में रखने का प्रयास करेंगे।

ग्रन्थ परिचय

'जैन धर्म का मौलिक इतिहास' नाम का प्रस्तुत ग्रन्थ प्रथमानुयोग की प्राचीन आगमीय परम्परा के अनुसार लिखा गया है। इस तीर्थंकर-खंड में तीर्थंकरों के पूर्व-भव, देवगति का आयु, च्यवन, च्यवनकाल, जन्म, जन्मकाल, राज्याभिषेक, विवाह, वर्षीदान, प्रव्रज्या, तप, केवलज्ञान, तीर्थस्थापना, गणधर, प्रमुख आर्या, साधु-साध्वी आदि परिवारमान एवं किये हुए विशेष उपकार का परिचय दिया गया है। ऋषभदेव से महावीर तक चौबीसों तीर्थंकरों का परिचय आचारांग, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, समवायांग, आवश्यक आदि सूत्र, आवश्यक निर्युक्ति, आवश्यक चूर्णि, प्रवचन सारोद्धार, सत्तरिसय द्वार और दिगम्बर परम्परा के महापुराण, उत्तर पुराण, तिलोय पण्णत्ती आदि प्राचीन ग्रन्थों के आधार से लिखा गया है।

मतभेद के स्थलों में त्रिषष्टि शलाका पुरुष-चरित्र, आगमीय मत और सत्तरिसय प्रकरण को सामने रखकर शास्त्रसम्मत विचार को ही प्रमुख स्थान दिया है। भगवान् ऋषभदेव के प्रकरण में अत्यधिक अनुसन्धान अपेक्षित था पर प्रारम्भिक होने के कारण सर्वप्रथम उसे अन्तिम रूप दे दिया गया अतः हमारी इच्छानुसार वह अतिशय सुन्दर नहीं बन पाया है। तथापि अरिष्टनेमि आदि आगे के तीर्थंकरों का विस्तार से सर्वांगपूर्ण परिचय लिखने का प्रयास किया गया है।

ऐतिहासिक तथ्यों की गवेषणा के लिये जैन साहित्य के अतिरिक्त वैदिक और बौद्ध साहित्य से भी यथाशक्य सामग्री संकलन का लक्ष्य रखा है। गवेषणा में हमने किसी साहित्य की उपेक्षा नहीं की है।

मौलिक ग्रन्थों के अतिरिक्त आधुनिक लेखकों के साहित्य का भी पूरा उपयोग किया गया है। पार्श्वनाथ में श्री देवेन्द्र मुनि, जो सम्पादक-मंडल में प्रमुख हैं, के साहित्य का और भगवान् महावीर के प्रकरण में श्री विजयेन्द्र सूरि, श्री कल्याण विजयजी आदि के साहित्य का भी यथेष्ट उपयोग किया गया है। लिखते समय इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है कि कोई भी चीज शास्त्र के विपरीत नहीं जावे और निर्ग्रन्थ परम्परा के विरुद्ध न हो। फिर भी साम्प्रदायिक अभिनिवेशवश कोई अप्रामाणिक बात नहीं आवे इस बात का ध्यान रखा गया है। इस खण्ड में मुख्यतया तीर्थंकरों का ही परिचय है अतः इसे तीर्थंकर खण्ड कहा जा सकता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के परिशिष्ट में श्वेताम्बर एवं दिगम्बर परम्पराओं की मान्यतानुसार तीर्थंकरों का तुलनात्मक परिचय और आवश्यक टिप्पण भी दिये हैं।

संस्मरण –

प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखन, संकलन एवं सम्पादन कार्य में पं० शशिकान्तजी झा और गजसिंहजी राठोड़ का श्रमपूर्ण सहयोग भुलाया नहीं जा सकता। वैदिक

साहित्य के माध्यम से अलभ्य उपलब्धियां श्री राठोड़ के लगनपूर्ण अनवरत चिन्तन एवं गवेषणा का ही प्रतिफल है। उनका इतिहास के लिये रात-दिन तन्मयता से चिन्तन सचमुच अनुकरणीय कहा जा सकता है। मेरे कार्य-सहायक पं० मुनि श्री लक्ष्मीचन्द्रजी, सेवाव्रती मुनि लघु लक्ष्मीचन्द्रजी, श्री चौथमलजी प्रभृति का व्याख्यान आदि कार्य में और हीरा मुनि, शीतल मुनि आदि छोटे मुनियों का सेवा कार्य से अनवरत सहयोग मिलता रहा है। उन सबके सहयोग से ही कार्य संपन्न हो सका है।

प्रूफ संशोधन एवं प्रकाशन की समीचीन व्यवस्था में सम्यक् ज्ञान प्रचारक मण्डल के साहित्य मंत्री श्री प्रेमराजजी बोगावत का एवं ग्रन्थ को सुन्दर बनाने में डॉ. नरेन्द्र भानावत का सहयोग भी भुलाया नहीं जा सकता। और भी ज्ञात, अज्ञात, छोटे-बड़े कार्यों में जिन-जिन का सहयोग रहा है उन सबका नामपूर्वक स्मरण यहां संभव नहीं है।

भाव, भाषा और सिद्धान्त का यथाशक्य खयाल रखते हुए भी मानव-स्वभाव की अपूर्णता के कारण यदि कोई त्रुटि रह गई हो तो उसके लिये मिच्छा मे दुक्कडं। विद्वज्जन सुहृद्भाव से उन त्रुटियों की सूचना करेंगे तो भविष्य में उन्हें सुधारने का ध्यान रखा जा सकेगा।



सम्पादकीय

संसार के विविध विषयों में इतिहास का भी एक बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। विचारकों द्वारा इतिहास को धर्म, देश, जाति, संस्कृति एवं सभ्यता का प्राण माना गया है। जिस धर्म, देश, सभ्यता अथवा संस्कृति का इतिहास जितना अधिक समुन्नत, समृद्ध एवं सर्वांगपूर्ण होता है उतना ही अधिक वह धर्म, देश और समाज उत्तरोत्तर प्रगतिपथ पर अग्रसर होता हुआ संसार में चिरंजीवी और स्थायी सम्मान का अधिकारी होता है। वास्तव में इतिहास मानव की वह जीवनी-शक्ति है, वह शक्ति का अक्षय्य अजस्र स्रोत है जिससे निरन्तर अनुप्राणित एवं सशक्त हो मानव उन्नति की ओर अग्रसर होता हुआ अन्त में अपने चरम-लक्ष्य को प्राप्त करने में सफलकाम होता है।

यों तो संसार में सत्ता, सभ्यता, संस्कृति, समृद्धि, सन्मान, सन्तान आदि सभी को प्रिय हैं परन्तु तत्त्वदर्शियों ने बड़े गहन चिन्तन के पश्चात् आत्मानुभव से इन सब ऐहिक सुखों को क्षणविध्वंसी समझ कर धर्म को सर्वोपरि स्थान देते हुए यह ध्रुव-सत्य संसार के समक्ष रखा कि –

"धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षितः।"

अर्थात् जिसने अपने धर्म की रक्षा नहीं की उसका सम्मान, सुख, समृद्धि, सत्ता, सभ्यता आदि सब कुछ चौपट होने के साथ वह स्वयं भी चौपट हो गया पर जिसने अपने धर्म को नहीं छोड़ा, प्राणपण से भी धर्म की रक्षा की उसने अपने धर्म की रक्षा के साथ-साथ सत्ता, सम्मान, समृद्धि आदि की और अपनी स्वयं की भी रक्षा कर ली।

चिन्तकों ने संसार की सारभूत वस्तुओं का धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार विभागों में वर्गीकरण किया है। इस वर्गीकरण में भी धर्म को मूर्धन्य स्थान दिया है। क्योंकि यह प्राणी का परम हितैषी, सच्चा मित्र और चिरसंगी है। ऐसे परम कल्याणकारी अद्वितीय सखा धर्म की रक्षा करने का प्रत्येक प्राणी तभी प्रयत्न करेगा जबकि वह धर्म का सर्वांगीण स्वरूप, परमोत्कृष्ट महत्त्व अच्छी तरह से समझता हो। धर्म के महत्त्व और स्वरूप को भलीभांति समझने और जानने का माध्यम उस धर्म का इतिहास है।

इसके अतिरिक्त इतिहास की एक और महती उपयोगिता है। वह हमें हमारी अतीत की भूलों, अतीत के हमारे सही निर्णयों, सामयिक सुन्दर विचारों

और प्रयासों का पर्यवेक्षण कराने के साथ-साथ भूतकाल की भूलों से बचने एवं अच्छाइयों को दृढ़ता के साथ पकड़ कर उन्नति के पथ पर अग्रसर होने की प्रेरणा करता रहता है।

इस दृष्टि से विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि किसी धर्म, देश और संस्कृति का सच्चा इतिहास वास्तव में उस धर्म, देश और संस्कृति का प्राण, जीवन-शक्ति, प्रकाशस्तम्भ, प्रेरणास्रोत, पथ-प्रदर्शक, अभ्युन्नति का प्रशस्त मार्ग, खतरों से सावधान कर विनाश के गहरे गर्त से बचाने वाला सच्चा मित्र और सब कुछ है।

इतिहास वस्तुतः मानव को उस प्रशस्त मार्ग का, उस सीधी और सुन्दर सड़क का दिग्दर्शन कराता है जिस पर निरन्तर चलते रहने से पथिक निश्चित रूप से अपने अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त करने में समर्थ होता है। इतिहास मानव को चरमोत्कर्ष के प्रशस्त मार्ग का केवल दिग्दर्शन मात्र ही नहीं कराता अपितु वह उस प्रशस्त पथ के पथिकों को उस मार्ग में आने वाली समस्त बाधाओं, रुकावटों, स्खलनाओं और छलनाओं से भी हर डग पर बचते रहने के लिये सावधान करता है। इतिहास में वर्णित साधना-पथ के अतीत के पथिकों के भले-बुरे अनुभवों से साधना-पथ पर अग्रसर होने वाला प्रत्येक नवीन पथिक लाभ उठा कर मार्ग में आने वाली सभी कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करता हुआ निर्बाध गति से अपने इप्सित लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

जैन समाज, खासकर श्वेताम्बर स्थानकवासी समाज में जैन धर्म के प्रामाणिक इतिहास की कमी चिरकाल से खटक रही थी। जैन कान्फ्रेन्स और मुनिमण्डल ने सन्मेलन में भी अनेक बार जैन धर्म का प्रामाणिक इतिहास निर्मित करवाने का निर्णय किया पर किसी कर्मठ इतिहासज्ञ विद्वान् ने इस अतिकष्टसाध्य कार्य को सम्पन्न करने का भार अपने जिम्मे नहीं लिया अतः इसे मूर्त स्वरूप नहीं मिल सका।

समाज द्वारा चिराभिलषित इस कार्य को सम्पन्न करने की दृष्टि से स्वनामधन्य आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज साहब ने 'स्वान्तःसुखाय परजनहिताय च' इस भावना से प्रेरित हो जैन धर्म का प्रारम्भ से लेकर आज तक का सही, प्रामाणिक, सर्वांगपूर्ण और क्रमबद्ध इतिहास लिखने का भगीरथ प्रयास प्रारम्भ किया। वास्तव में आचार्यश्री ने इस दुस्साध्य एवं गुरुतर महान् दायित्व को अपने ऊपर लेकर अद्भुत साहस का परिचय दिया है।

इतिहास-लेखन जैसे कार्य के लिये गहन अध्ययन, क्षीरनीर विवेकमयी तीव्र बुद्धि, उत्कृष्ट कोटि की स्मरणशक्ति, उत्कट साहस, अथाह ज्ञान, अडिग अध्यवसाय, पूर्ण निष्पक्षता, घोर परिश्रम आदि अत्युच्चकोटि के गुणों की आवश्यकता रहती है। वे सभी गुण आचार्यश्री में विद्यमान हैं। पर इतिहास-लेखन का कार्य लेखक से इस बात की अपेक्षा करता है कि वह अपना अधिकाधिक

समय लेखन के लिये दे। ध्यान, स्वाध्याय, अध्यापन, व्याख्यान, संघ-व्यवस्था एवं विहारादि अनिवार्य कार्यों के कारण पहले से ही अपनी अतिव्यस्त दिनचर्या का निर्वहण करने के साथ-साथ "जैन धर्म के मौलिक इतिहास" का यह प्रथम भाग पूर्ण कर आचार्यश्री ने नीतिकार की इस सूक्ति को अक्षरशः चरितार्थ कर दिखाया :-

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः,
प्रारभ्य विघ्नविहताः विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैः पुनःपुनरपि प्रतिहन्यमानाः,
प्रारब्धमुत्तमजनाः न परित्यजन्ति ॥

इस महान् कार्य को सम्पन्न करने में आचार्यश्री को कितना घोर परिश्रम, गहन चिन्तन-मनन-अध्ययन करना पड़ा है इसकी कल्पनामात्र से प्रत्यक्षदर्शी सिहर उठते हैं। आचार्यश्री के अक्षय शक्तिभण्डार, बौद्धिक एवं शारीरिक प्रबल परिश्रम का इस ही से अनुमान लगाया जा सकता है कि आचार्यश्री से आशुलिपि में डिक्टेशन लेने, उसे नागरी लिपि में लिखने तथा स्पष्ट एवं विस्तृत निर्देशन के अनुसार लेखन-सम्पादन के एक वर्षमात्र के कार्य से मुझे अनेक बार ऐसा अनुभव होता कि कहीं मेरे मस्तिष्क की शिराएं फट न जायं। पर ज्यों ही प्रातःकाल इन महान् योगी को पूर्ण मनोयोग से नित्यनवीन शतगुणित शक्ति से इतिहास-लेखन में व्यस्त देखता तो मुझे अपनी दुर्बलता पर लज्जा का अनुभव होता, अन्तर के कर्णरन्ध्रों में एक उद्घोष सा उद्भूत होता -

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥
क्लैव्यं मास्म गमः पार्थ, नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं, त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप ॥

और तत्क्षण ऐसा अनुभव होता मानो अंतर का तार विद्युत् के बहुत बड़े जनरेटर से जुड़ गया है। मैं पुनः यथावत् कार्य में जुट जाता।

श्रमणश्रेष्ठ-जीवन और आचार्य-पद के दैनिक दायित्वों का निर्वहण करने के साथ-साथ अहर्निश इतिहास-लेखन में तन्मयता के साथ लीन रहने पर भी आचार्यश्री के प्रशस्त भाल पर थकान की कोई हल्की सी रेखा तक भी कभी दृष्टिगोचर नहीं हुई। चेहरे पर वही सहज मुस्कान आंखों में महर्घ्य मुक्ता-फल की सी स्वच्छ-अद्भुत चमक सदा अक्षुण्ण विराजमान रहती।

जिस प्रकार संसार और संसार के मूलभूत-द्रव्य अनादि एवं अनंत हैं उसी प्रकार आत्मधर्म होने के कारण जैन धर्म तथा उसका इतिहास भी अनादि तथा अनन्त है। अतः जैन इतिहास को किसी एक ग्रन्थ अथवा अनेक ग्रन्थों में सम्पूर्ण रूप से आबद्ध करने का प्रयास करना वस्तुतः अनन्त आकाश को बांहों में समेट लेने के प्रयास के तुल्य असाध्य और असंभव है। फिर भी प्रस्तुत ग्रन्थ में

प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव द्वारा धर्म-तीर्थ की स्थापना से प्रारम्भ अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के निर्वाण-समय तक का जैन धर्म का क्रम एवं संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया गया है। इसके ही साथ कुलकर-काल एवं अवसर्पिणी तथा उत्सर्पिणीकाल को मिला कर कोड़ाकोड़ी सागर के पूर्ण काल-चक्र का एक रेखाचित्र की तरह अति संक्षि स्थूल विवरण भी यथाप्रसंग दिया गया है।

इस प्रवर्तमान अवसर्पिणीकाल में भरतक्षेत्र में सर्वप्रथम भग ऋषभदेव ने तृतीय आरक की समाप्ति में ८९६ वर्ष ३ मास १५ दिन एक लाख पूर्व का समय अवशेष रहा उस समय धर्म-तीर्थ की स्थापना उसी समय से इस अवसर्पिणीकालीन जैन धर्म का इतिहास प्रारम्भ होता भगवान् ऋषभदेव द्वारा तीर्थ-प्रवर्तन के काल से लेकर भगवान् महावीर निर्वाणकाल तक का इतिहास प्रस्तुत ग्रन्थ में देने का प्रयत्न किया गया चतुर्थ आरक के समाप्त होने में जब तीन वर्ष और साढ़े आठ मास अवशेष तब भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ।

इस प्रकार यह इतिहास एक क्रोड़ा-क्रोड़ी सागर, ७० शंख, ५५ प निन्यानवें नील, निन्यानवें खरब, निन्यानवें अरब, निन्यानवें करोड़, निन्या लाख और सत्तावन हजार वर्ष का अति संक्षिप्त इतिहास है।

कल्पना द्वारा भी अपरिमेय इस सुदीर्घ अतीत में असंख्य बार भरत की धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक, बौद्धिक एवं भौगोलिक स्थिति में उतार आये, उन सब का लेखा-जोखा रखना वास्तव में दुस्साध्य ही नहीं नितान्त कहा जा सकता है। पर इस लम्बी अवधि में भी आर्यधरा पर समय-सम चौबीस तीर्थंकर प्रकट हुए और भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान को हस्तामलक तरह युगपद् देखने-जानने वाले त्रिकालदर्शी उन तीर्थंकरों ने विस्मृति के गर्भ में उन सभी उपयोगी तथ्यों को समय-समय पर वाणी द्वारा प्रकाशित किया।

तीर्थंकरों द्वारा प्रकट किये गये उन ध्रुव-तथ्यों में से कतिपय तथ्य सुदीर्घ अतीत के अन्धकार में विलीन हो गये पर नियतकालभावी अधिकांश त सर्वज्ञभाषित आगम परम्परा के कारण आज भी अपना असंदिग्ध स्वरूप लि हमारी अमूल्य थाती के रूप में विद्यमान हैं। जो कतिपय तथ्य विस्मृति के ग में विलीन हुए उनमें से भी कतिपय महत्त्वपूर्ण तथ्य प्राचीन आचार्यों ने अप कृतियों में आवद्ध कर सुरक्षित रखे हैं। उन बिखरे तथ्यों को यदि पूरी श लगा कर क्रमबद्ध रूप से एकत्रित करने का सामूहिक प्रयास किया जाय हस्तलिखित प्राचीन पुस्तकों में और भी ऐसी विपुल सामग्री उपलब्ध होने संभावना है जिससे कि केवल जैन इतिहास के ही नहीं अपितु भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास के कई धूमिल एवं लुप्तप्राय तथ्यों के प्रकाश में आने अनेक नई ऐतिहासिक उपलब्धियां होने की आशा की जा सकती है।

हमारा अतीत बड़ा आदर्श, सुन्दर और स्वर्णिम रहा है। हम लोगों के ही प्रमाद के कारण वह धूमिल हो रहा है। आज भी भारतीय दर्शन की संसार के उच्चकोटि के तत्त्वचिन्तकों के हृदय पर गहरी छाप है। पाश्चात्य विद्वानों ने समय-समय पर यह स्पष्ट अभिमत व्यक्त किया है कि भारतीय दर्शन एवं चिन्तकों का संसार में सदा से सर्वोच्च स्थान रहा है और भारतीय संस्कृति मानव-संस्कृति का आदि-स्रोत है। सर्वतोमुखी भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में भी हमारे पूर्वज अत्यधिक बढ़े-चढ़े थे, यह तथ्य हमारे शास्त्र और धार्मिक ग्रन्थ डिण्डिम घोष से प्रकट कर रहे हैं। अमोघ शक्तियां, अमोघबाण, आग्नेयास्त्र, वायव्यास्त्र, ब्रह्मास्त्र, रौद्रास्त्र, वैष्णवास्त्र, वरुणास्त्र, रथमूसलास्त्र (आधुनिक टैंकों से भी अत्यधिक संहारक स्वचालित भीषण अस्त्र), महाशिलाकण्टक (अद्भुत प्रक्षेपणास्त्र), शतघ्नी आदि संहारक अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण और प्रयोग हमारे पूर्वज जानते थे, यह हमारे प्राचीन ग्रन्थ पुकार-पुकार कर कहते हैं पर हमारा सम्मोह और मतिविभ्रम हमें इस ध्रुव सत्य को स्वीकार नहीं करने देता। इतिहास साक्षी है कि जब तक भारतीयों ने अपने उज्ज्वल अतीत के सही इतिहास को विस्मृत नहीं किया तब तक वे उन्नति के उच्चतम शिखर पर आसीन रहे और जब से अपने इतिहास को भुलाया उसी दिन से अधःपतन प्रारम्भ हो गया। हमने हमारे प्राचीन—"संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्, समानो मन्त्रस्समितिस्समानी समानं मनस्सहचित्तमेषाम्। समानी व आकूतिस्समाना हृदयानि वः। समानमस्तु वो मनो यथा वस्सुसहासति।" और

"सह नाववतु, सह नौ भुनक्तु सह नौ वीर्यं करवावहै तेजस्वी नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै।" इन सिंहनादों को भुला कर सफलता की कुंजी ही खो दी।

यदि हम वास्तव में सच्चे हृदय से अपनी खोई हुई समृद्धि प्रतिष्ठा और गौरवगरिमा को पुनः प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें अपने इतिहास का वास्तविक ज्ञान करना होगा। क्योंकि इतिहास वह सीढ़ी है जो सदा ऊपर की ओर ही चढ़ाती है और कभी नीचे नहीं गिरने देती।

उन्नति के इस मूलमन्त्र को श्रद्धेय जैनाचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज साहब ने अच्छी तरह अनुभव करने के पश्चात् जैन धर्म के मौलिक इतिहास के रूप में एक महान् सम्बल और अक्षय्य पाथेय हमें प्रदान किया है जिसमें जीवन को समुन्नत बनाने वाले प्रशस्त मार्ग के साथ-साथ 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के दर्शन होते हैं।

अत्युच्चकोटि के विचारक, इतिहासज्ञ और महान् संत की कृति का संपादन करना किसी बड़े विद्वान् का कार्य हो सकता है जिसने सम्पूर्ण जैनागम और प्राचीन साहित्य का समीचीन रूप से अध्ययन किया हो और जो स्वयं उच्च कोटि का इतिहासज्ञ एवं इतिहास की सूक्ष्म से सूक्ष्म बारीकियों को परखने में कुशल हो। पर इन पंक्तियों के प्रस्तुतकर्त्ता में इस प्रकार की कोई भी योग्यता नाम मात्र को भी नहीं है। जो कुछ सम्पादन कार्य बन पड़ा है वह इस पुस्तक के

लेखक करुणाकर आचार्यश्री की असीम कृपा और इस पुस्तक के संपादक-मण्डल के सम्माननीय विद्वानों के विश्वास और स्नेह का ही फल है।

इस पुस्तक में यदि कोई त्रुटि अथवा आगम-विरुद्ध बात रह गई हो तो पूरी ईमानदारी के साथ कार्य करते रहने पर भी अल्पज्ञ होने के कारण का सम्पादकीय का लेखक ही उसके लिये पूर्णरूपेण दोषी है।

'यदत्रासौष्ठवं किञ्चित्तन्ममैव न कस्यचित्' इस पद के माध्यम से सम्भावित अपनी सभी त्रुटियों के लिये विद्वद्वृन्द के समक्ष मैं क्षमाप्रार्थी हूँ।

श्रद्धेय आचार्यश्री ने जैन धर्म के इतिहास के सम्बन्ध में नोट्स, ले आदि सामग्री तैयार की है वह इतनी विपुल मात्रा में है कि यदि उसमें से सम्पू महत्त्वपूर्ण सामग्री को प्रकाशनार्थ लिया जाता तो तीर्थंकरकाल के ही प्रस्तु ग्रन्थ के समान आकार वाले अनेक भाग तैयार हो जाते अतः अतीव संक्षिप्त में प्रमुख ऐतिहासिक सामग्री को ही इस ग्रन्थ में स्थान दिया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के आद्योपान्त सम्यक् अध्ययन से धर्म एवं इतिहास के वि पाठकों को विदित होगा कि आचार्यश्री ने भारतीय इतिहास को अनेक नव उपलब्धियों से समृद्ध, सुन्दर और अलंकृत किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ के कालच कुलकर तुलनात्मक विश्लेषण, धर्मानुकूल लोक-व्यवस्था, श्वेताम्बर दिगम् परम्पराओं की तुलना, भगवान् ऋषभदेव और भरत का जैनेतर पुराणादि उल्लेख, हरिवंश की उत्पत्ति, उपरिचर वसु (पूरा उपाख्यान), वसुदेव – स व्यक्तित्व, उस समय की राजनीति, अरिष्टनेमि का शौर्य-प्रदर्शन, अरिष्टनेमि अद्भुत रहस्य का उद्घाटन, क्षमामूर्ति गज सुकुमाल, वैदिक साहित्य में अरिष् और उनका वंशवर्णन, भगवान् पार्श्वनाथ का व्यापक और अमिट प्रभाव, केशिश्रमण, गोशालक का परिचय, कुतर्कपूर्ण भ्रम, कालचक्र का वर्णन, बहुत बड़ा भ्रम, भगवान् महावीर की प्रथम शिष्या, महाशिलाकंटक युद्ध, मूसल संग्राम, ऐतिहासिक दृष्टि से निर्वाणकाल तथा भगवान् महावीर और के निर्वाण का ऐतिहासिक विश्लेषण आदि शीर्षकों में आचार्यश्री की ल लेखन-कला के अद्भुत चमत्कार के साथ-साथ आचार्यश्री के विराट् स्वरू महान् व्यक्तित्व, अनुपम चहुंमुखी प्रतिभा, प्रकाण्ड पाण्डित्य और अधिकारि के दर्शन होते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ मूल आगमों, चूर्णियों, वृत्तियों और प्रामाणिक प्राचीन ग्र के आधार पर लिखा गया है। इस ग्रन्थ में वर्णित प्रायः सभी तथ्य धर्म इतिहास के मूल ग्रन्थों से लिये गये हैं एवं जैन धर्म का इतिहास इसके प्रारम्भि मूलकाल से लिखा गया है अतः इसका नाम "जैन धर्म का मौलिक इति रखा गया है। तीर्थंकरों की धर्म-परिषद् के लिये आदि के स्थलों में समव और आगे के स्थलों में समवशरण लिखा गया है। विद्वान् दिगम्बर मुनि ज्ञानसागरजी ने अपने 'वीरोदय काव्य' के अधोलिखित श्लोक में –

समवशरणमेतन्नामतो विश्रुतासी –
ज्जिनपतिपदपूता संसदेषा सुभाशीः
जनिमरणदुःखाद्दुखितो जीवराशि –
रिह समुपगतः सन् संभवेदाशु काशीः

समवशरण शब्द का प्रयोग करते हुए 'समवशरण' शब्द की व्याख्या में अन्यत्र लिखा है :–

"ख्यातं च नाम्ना समवेत्य यत्र, ययुर्जनाः श्रीशरणं यदत्र ।"

अर्थात् उसमें चारों ओर से आकर सभी प्रकार के जीव श्री वीर भगवान् की शरण ग्रहण करते हैं, इसलिये वह समवशरण के नाम से संसार में प्रसिद्ध हुआ ।

'सम्यग्-एकी भावेन, अवसरणं–एकत्र गमनं–मेलापकः समवसरणम्' अभिधान-राजेन्द्र-कोष में दी हुई इस समवसरण की व्याख्या से उपरिवर्णित व्याख्या अधिक प्रभावपूर्ण प्रतीत हुई अतः प्रस्तुत ग्रन्थ में आगे चलकर समवशरण शब्द का प्रयोग किया गया है ।

इस ग्रन्थ के सम्पादन में जिन प्राचीन, मध्ययुगीन और अर्वाचीन विद्वान् लेखकों की पुस्तकों से सहायता ली गई है उनकी सूची लेखकों के नाम सहित दे दी गई है । हम उन सभी विद्वान् लेखकों के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करते हैं ।

इस ग्रंथ के सम्पादन-काल में मुझे आगम-साहित्य के साथ-साथ अनेक प्राचीन एवं अर्वाचीन ग्रन्थों को पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ । उनमें एकत्रित अपार ऐतिहासिक सामग्री वस्तुतः अमूल्य है । मेरा यह निश्चित अभिमत है कि प्रामाणिक ऐतिहासिक सामग्री के दृष्टिकोण से जैन धर्मानुयायी अन्य सभी धर्मावलम्बियों से बहुत अधिक समृद्ध हैं ।

यहां यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि इतनी अधिक ऐतिहासिक सामग्री के स्वामी होते हुए भी आज जैन धर्मावलम्बी चारों ओर से यह आवाज क्यों उठा रहे हैं कि जैन धर्म के प्रामाणिक इतिहास का अभाव हमें खटक रहा है अतः जैन धर्म के एक सर्वांगपूर्ण प्रामाणिक इतिहास का निर्माण किया जाना चाहिये ।

अटल दृढ़ विश्वास के साथ मेरा तो यही उत्तर होगा कि आज जैन धर्म का इतिहास प्राकृत, अपभ्रंश तथा संस्कृत के वज्रकपाटों में बन्द पड़ा है और जो बाहर है वह यत्र तत्र विभिन्न ग्रन्थों एवं ग्रन्थ-भण्डारों में बिखरा पड़ा है । इतिहास की विपुल सामग्री के विद्यमान होते हुए भी सर्वसाधारण के लिये बोधगम्य भाषा में क्रमबद्ध एवं सर्वांगपूर्ण जैन इतिहास आज समाज के समक्ष नहीं है ।

आवश्यकता थी एक ऐसे भगीरथ की जो सुदूर के विभिन्न स्थानों में रुंधे-रुके पड़े इतिहास के अजस्र निर्मल स्रोतों की धाराओं को एकत्र प्रवाहित कर

भूमिका

धर्म और दर्शन

धर्म और दर्शन मनुष्य के लिए आवश्यक ही नहीं अपितु अनिवार्य हैं। जब मानव चिन्तन के सागर में गहराई से डुबकी लगाता है तब दर्शन का और जब वह उस चिन्तन का अपने जीवन में प्रयोग करता है तब धर्म का जन्म होता है। मानव के जीवन की उलझन को सुलझाने के लिए ही धर्म और दर्शन का जन्म हुआ। धर्म और दर्शन ये दोनों सापेक्ष हैं, एक दूसरे के पूरक हैं।

महान् दार्शनिक सुकरात से किसी ने जिज्ञासा प्रस्तुत की कि शान्ति कहाँ है और क्या है?

उस दार्शनिक ने समाधान करते हुए कहा—"मेरे लिए शान्ति मेरा धर्म और दर्शन है, वह बाहर नहीं अपितु मेरे अन्दर है।"

सुकरात की दृष्टि से धर्म और दर्शन भिन्न नहीं अपितु अभिन्न हैं। उसके पश्चात् ग्रीक व यूरोपीय दार्शनिकों में धर्म और दर्शन को लेकर मतभेद उपस्थित हुआ। सुकरात ने जो दर्शन और धर्म का निरूपण किया वह जैन धर्म से बहुत कुछ संगत प्रतीत होता है। जैन धर्म में आचार के पाँच भेद माने गये हैं[1] उसमें ज्ञानाचार भी एक है। ज्ञान और आचार परस्पर सापेक्ष हैं, इस दृष्टि से विचार दर्शन और आचार धर्म है।

पाश्चात्य चिन्तकों ने धर्म के लिए 'रिलीजन' और दर्शन के लिए 'फिलोसफी' शब्द का प्रयोग किया है किन्तु धर्म और दर्शन शब्द में जो गम्भीरता व व्यापकता है वह रिलीजन और फिलोसफी शब्द में नहीं है। भारतीय विचारकों ने धर्म और दर्शन को पृथक्-पृथक् स्वीकार नहीं किया है। जो धर्म है वही दर्शन भी है। दर्शन तर्क पर आधारित है और धर्म श्रद्धा पर, वे एक दूसरे के बाधक नहीं अपितु साधक रहे हैं। वेदान्त में जो पूर्व मीमांसा है वह धर्म है और उत्तर मीमांसा है वह दर्शन है। योग आचार है तो सांख्य विचार है। बौद्ध परम्परा में हीनयान दर्शन है तो महायान धर्म है। जैन धर्म में मुख्य रूप से दो तत्त्व हैं एक अहिंसा और दूसरा अनेकान्त। अहिंसा धर्म है और अनेकान्त दर्शन है। इस प्रकार दर्शन धर्म है और धर्म दर्शन है। विचार में आचार और आचार में विचार यही भारतीय चिन्तन की विशेषता है।

---

[1] स्थानाङ्ग ५, उद्दे. २, सूत्र ४३२

ग्रीक और यूरोप में धर्म और दर्शन दोनों साथ-साथ नहीं अपितु एक दूसरे के विरोध में खड़े हैं, जिसके फलस्वरूप जीवन में जो आनन्द की अनुभूति होनी चाहिये वह नहीं हो पाती।

पाश्चात्य विचारकों ने धर्म में बुद्धि, भावना और क्रिया ये तीन तत्त्व माने हैं। बुद्धि का तात्पर्य है ज्ञान, भावना का अर्थ है श्रद्धा और क्रिया का अर्थ है आचार। जैन दृष्टि से भी सम्यक् श्रद्धा, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र ये तीन धर्म हैं।

'हेगेल' और 'मैक्स मूलर' ने धर्म की जो परिभाषा की है उसमें ज्ञानात्मक पहलू पर ही बल दिया है और दो अंशों की उपेक्षा की है। काण्ट ने धर्म की परिभाषा की उसमें ज्ञानात्मक के साथ क्रियात्मक पहलू पर भी लक्ष्य किया, भावात्मक पहलू की उसने भी उपेक्षा कर दी। किन्तु मार्टिन्यू ने धर्म की परिभाषा प्रस्तुत की उसमें विश्वास, विचार और आचार इन तीनों का समन्वय है। दूसरे शब्दों में कहा जाय तो भक्ति, ज्ञान और कर्म इन तीनों को उसने अपनी परिभाषा में समेट लिया है।

पाश्चात्य विचारकों की दृष्टि से धर्म और दर्शन का विषय सम्पूर्ण विश्व है। दर्शन मानव की अनुभूतियों की तर्कपुरस्सर व्याख्या करके सम्पूर्ण विश्व के आधारभूत सिद्धान्तों की अन्वेषणा करता है। धर्म भी आध्यात्मिक मूल्यों के द्वारा सम्पूर्ण विश्व का विवेचन करने का प्रयास करता है। धर्म और दर्शन की दूसरी समता यह है कि दोनों मानवीय ज्ञान की योग्यता में, यथार्थता में, चरम तत्त्व में विश्वास करते हैं। दर्शन में बौद्धिकता की प्रधानता है तो धर्म में आध्यात्मिकता की। दर्शन सिद्धान्त को प्रधानता देता है तो धर्म व्यवहार को।

आज के युग में यह प्रश्न पूछा जाता है कि धर्म और दर्शन का जन्म कब से हुआ? इस प्रश्न के उत्तर में संक्षेप में इतना ही लिखना पर्याप्त होगा कि वर्तमान इतिहास की दृष्टि से इसकी आदि का पता लगाना कठिन है। इसके लिए हमें प्रागैतिहासिक काल में जाना होगा, जिस पर हम अगले पृष्ठों में चिन्तन करेंगे। यह सदा स्मरण रखना होगा कि दर्शन के अभाव में धर्म अपूर्ण है और धर्म के अभाव में दर्शन भी अपूर्ण है। मानव-जीवन को सुन्दर, सरस और मधुर बनाने के लिए दोनों ही की जीवन में अत्यन्त आवश्यकता है।

आधुनिक युग में एक नवीन प्रश्न भी उपस्थित हो रहा है कि धर्म और विज्ञान का क्या सम्बन्ध है? यहाँ विस्तार से विवेचन करने का प्रसंग नहीं है। संक्षेप में इतना ही बताना आवश्यक है कि धर्म का सम्बन्ध आन्तरिक जीवन से अधिक है और विज्ञान का सम्बन्ध बाह्य-जगत् प्रकृति से है। धर्म का प्रधान उद्देश्य मुक्ति की साधना है और विज्ञान का प्रधान उद्देश्य है प्रकृति का अनुसंधान। विज्ञान में सत्य की तो प्रधानता है पर शिव और सुन्दरता का अभाव है जबकि धर्म में 'सत्य' 'शिव' और 'सुन्दर' तीनों हैं।

जैन धर्म

जैन धर्म विश्व का एक महान् धर्म है, दर्शन है। आजतक प्रचलित और प्रतिपादित सभी धर्म तथा दर्शनों में यह अद्भुत अनन्य एवं अपराजेय है। विश्व का कोई भी धर्म और दर्शन इसकी प्रतिस्पर्धा नहीं कर सकता। इसमें हजार-हजार विशेषताएं हैं जिनके कारण यह आज भी विश्व के विचारकों के लिए आकर्षण का केन्द्र बना हुआ है। यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना अनिवार्य है कि प्रस्तुत विचारणा के पीछे विशुद्ध सत्य-तथ्य की भावना ही अठखेलियां कर रही है, न कि किसी भी धर्म के प्रति उपेक्षा, आक्षेप और ईर्ष्या की भावना।

सहज ही प्रश्न हो सकता है कि जैन धर्म और दर्शन यदि इतना महान् व श्रेष्ठ है तो उसके अनुसरण करने वालों की संख्या इतनी अल्प क्यों है? उत्तर में निवेदन है कि मानव सदा से सुविधावाद को पसन्द करता रहा है, वह सरल मार्ग चाहता है, कठिन मार्ग नहीं। आज भौतिक-भक्ति के युग में यह प्रवृत्ति द्रौपदी के दुकूल की तरह बढ़ रही है। मानव अधिकाधिक भौतिक सुख-सुविधाएं प्राप्त करना चाहता है और उसके लिए वह अहर्निश प्रयत्न कर रहा है तथा उसमें अपने जीवन की सार्थकता अनुभव कर रहा है जबकि जैन धर्म भौतिकता पर नहीं आध्यात्मिकता पर बल देता है, वह स्वार्थ को नहीं परमार्थ को अपनाने का संकेत करता है, वह प्रवृत्ति की नहीं निवृत्ति की प्रेरणा देता है, वह भोग नहीं त्याग को बढ़ावा देता है, वासना नहीं उपासना को अपनाने का संकेत करता है, जिसके फलस्वरूप ही जैन धर्म के अनुयायियों की संख्या अल्प व अल्पतर होती जा रही है पर यह असमर्थता, अयोग्यता व दुर्भाग्य आज के भौतिकवादी मानव का है न कि जैन धर्म और दर्शन का है। अनुयायियों की अधिकता और न्यूनता के आधार से किसी भी धर्म को श्रेष्ठ और कनिष्ठ मानना यह बुद्धिमानी नहीं है। जैन धर्म की उपयोगिता और महानता जितनी अतीत काल में थी उससे भी अधिक आधुनिक युग में है। आज विश्व के भाग्य-विधाता चिन्तित हैं। भौतिकवाद की पराकाष्ठा होने पर भी जीवन में आनन्द की अनुभूति नहीं हो रही है। वे अनुभव करने लगे हैं कि बिना आध्यात्मिकता के भौतिक उन्नति जीवन के लिए वरदान नहीं अपितु अभिशाप है।

जैन धर्म की प्राचीनता

यह साधिकार कहा जा सकता है कि जैन धर्म विश्व का सबसे प्राचीन धर्म है। यह न वैदिक धर्म की शाखा है और न बौद्ध धर्म की। किन्तु यह सर्वतंत्र स्वतंत्र धर्म है, दर्शन है। यह सत्य है कि 'जैन धर्म' इस शब्द का प्रयोग वेदों में, त्रिपिटकों में और आगमों में देखने को नहीं मिलता है जिसके कारण तथा साम्प्रदायिक अभिनिवेश के कारण कितने ही इतिहासकारों ने जैन धर्म को अर्वाचीन मानने की भयंकर भूल की है। हमें उनके ऐतिहासिक ज्ञान पर तरस आती है।

'वैदिक संस्कृति का विकास' पुस्तक में श्री लक्ष्मण शास्त्री जोशी ने लिखा है – जैन तथा बौद्ध धर्म भी वैदिक संस्कृति की ही शाखाएं हैं। यद्यपि सामान्य मनुष्य इन्हें वैदिक नहीं मानता। सामान्य मनुष्य की इस भ्रान्त धारणा का कारण है मूलतः इन शाखाओं के वेद-विरोध की कल्पना। सच तो यह है कि जैनों और बौद्धों की तीन अन्तिम कल्पनाएं-कर्म-विपाक, संसार का बंधन और मोक्ष या मुक्ति – अन्ततोगत्वा वैदिक ही हैं।"[1]

शास्त्री महोदय ने जिन अन्तिम कल्पनाओं – कर्म-विपाक, संसार का बंधन और मोक्ष या मुक्ति को अन्ततोगत्त्वा वैदिक कहा है, वास्तव में वे मूलतः अवैदिक हैं।

वैदिक साहित्य में आत्मा और मोक्ष की कल्पना ही नहीं है। और इन को बिना माने कर्म-विपाक और बंधन की कल्पना का विशेष मूल्य नहीं है। ए०ए० मैकडोनेल का मन्तव्य है – पुनर्जन्म के सिद्धान्त का वेदों में कोई संकेत नहीं मिलता है किन्तु एक ब्राह्मण में यह उक्ति मिलती है कि जो लोग विधिवत् संस्कारादि नहीं करते वह मृत्यु के वाद पुनः जन्म लेते हैं और वार-वार मृत्यु का ग्रास बनते रहते हैं।[2]

वैदिक संस्कृति के मूल तत्त्व हैं – यज्ञ, ऋण, और वर्ण-व्यवस्था। इन तीनों का विरोध श्रमण संस्कृति की जैन और बौद्ध दोनों धाराओं ने किया है। अतः शास्त्री का मन्तव्य आधाररहित है। यह स्पष्ट है कि जैन धर्म वैदिक धर्म की शाखा नहीं है।

प्रो० लासेन ने लिखा है – "बुद्ध और महावीर एक ही व्यक्ति हैं क्योंकि जैन और बुद्ध परम्परा की मान्यताओं में अनेक विध समानता है।"[3]

प्रो० बेबर ने लिखा है – जैन धर्म बौद्ध धर्म की एक शाखा है वह उससे स्वतंत्र नहीं है।"[4]

उपर्युक्त दोनों मतों का निरसन प्रो० याकोबी ने अनेक अकाट्य तर्कों के आधार से किया और अन्त में यह स्पष्ट बताया कि जैन और बौद्ध दोनों सम्प्रदाय स्वतंत्र हैं, इतना ही नहीं बल्कि जैन सम्प्रदाय बौद्ध सम्प्रदाय से पुराना भी है और ज्ञातपुत्र महावीर तो उस सम्प्रदाय के अन्तिम पुरस्कर्ता मात्र हैं।"[5]

जब हम ऐतिहासिक दृष्टि से जैन धर्म का अध्ययन करते हैं तब सूर्य के प्रकाश की तरह स्पष्ट ज्ञात होता है कि जैन धर्म विभिन्न युगों में विभिन्न नामों

---

[1] वैदिक संस्कृति का विकास, पृ० १५-१६

[2] वैदिक माइथॉलॉजी, पृ० ३१६

[3] S. B. E. Vol. 22 Introduction P. 19

[4] वही पृ० १८

[5] वही

द्वारा अभिहित होता रहा है। वैदिक काल से आरण्यक काल तक वह वातरशन मुनि या वातरशन श्रमणों के नाम से पहचाना गया है। ऋग्वेद में वातरशन मुनि का वर्णन है।[१] तैत्तिरीय आरण्यक में केतु अरुण और वातरशन ऋषियों की स्तुति की गई है।[२] आचार्य सायण के मतानुसार केतु, अरुण और वातरशन ये तीनों ऋषियों के संघ थे।[३] वे अप्रमादी थे।[४] श्रीमद्भागवत के अनुसार भी वातरशन श्रमणों के धर्म का प्रवर्तन भगवान् ऋषभदेव ने किया।[५]

तैत्तिरीयारण्यक में भगवान् ऋषभदेव के शिष्यों को वातरशन ऋषि और ऊर्ध्वमंथी कहा है।[६] व्रात्य शब्द भी वातरशन शब्द का सहचारी है। वातरशन मुनि वैदिक परम्परा के नहीं थे। क्योंकि प्रारम्भ में वैदिक परम्परा में संन्यास और मुनिपद का स्थान नहीं था।[७]

जैन धर्म का दूसरा नाम आर्हत भी अत्यधिक विश्रुत रहा है। जो 'अर्हत्' के उपासक थे वे 'आर्हत्' कहलाते थे। वे वेद और ब्राह्मणों को नहीं मानते थे। ऋग्वेद में वेद और ब्रह्म के उपासकों को 'बार्हत' कहा गया है। वेदवाणी को बृहती कहते हैं। बृहती की उपासना करने वाले बार्हत कहलाते हैं। वेदों की उपासना करने वाले ब्रह्मचारी होते थे। वे इन्द्रियों का संयमन और नियमन कर वीर्य की रक्षा करते थे और इस प्रकार वेदों की उपासना करने वाले ब्रह्मचारी साधक 'बार्हत' कहलाते थे।[८] बार्हत ब्रह्म या ब्राह्मण संस्कृति के पुरस्कर्त्ता थे। वे वैदिक यज्ञ-याग को ही सर्वश्रेष्ठ मानते थे।

आर्हत लोग यज्ञों में विश्वास न कर कर्म-बंध और कर्म-निर्जरा को मानते थे। प्रस्तुत आर्हत धर्म को 'पद्मपुराण' में सर्वश्रेष्ठ धर्म कहा है।[९] इस धर्म के प्रवर्तक ऋषभदेव हैं।

मुनयो वातरशनाः पिशङ्गा वसते मला। ऋग्वेद संहिता १०।११।१३६।२

केतवो अरुणासश्च ऋषयो वातरशनाः प्रतिष्ठां शतधा हि समाहितासो सहस्रधायसम्॥
तैत्तिरीय आरण्यक १।२१।३; १।२४,

(ख) तैत्तिरीय आरण्यक १।३१।६

केत्वरुणवातरशनशब्दा ऋषिसंघानाचक्षते। ते सर्वेऽपि ऋषिसंघाः समाहितासोऽप्रमत्ताः सन्तः उपदधतु। तैत्तिरीयारण्यक भाष्य १।२१।३

श्रीमद्भागवत ११।२।२०

वातरशनाह वा ऋषयः श्रमणा ऊर्ध्वमंथिनो बभूवुः तैत्तिरीयरण्यकः २।७।१

साहित्य और संस्कृति पृ० २०८, देवेन्द्र मुनि, भारतीय विद्या प्रकाशन, कचौड़ी गली, वाराणसी।

आच्छद्विधानैर्गुपितो बार्हतैः सोमरक्षितः ग्राव्णामिच्छृवन् तिष्ठसि न ते अश्नाति पार्थिवः।
ऋग्वेद १०।८५।४।

आर्हतं सर्वमैतच्च, मुक्तिद्वारमसंवृतम्। धर्माद् विमुक्तेरर्होऽयं, न तस्मादपरः परः॥
पद्मपुराण १३।३५०

ऋग्वेद में अर्हन् को विश्व की रक्षा करने वाला सर्वश्रेष्ठ कहा[1]
शतपथ ब्राह्मण में भी अर्हन् का आह्वान किया गया है और अन्य कई स्थलों
उन्हें 'श्रेष्ठ' कहा गया है।[2] सायण के अनुसार भी अर्हन् का अर्थ योग्य है

आचार्यप्रवर श्रुतकेवली भद्रबाहु ने कल्पसूत्र में भगवान् अरिष्टनेमि
अन्य तीर्थंकरों का विशेषण अर्हत् प्रयोग किया है।[3] इसिभासियं के अ
भगवान् अरिष्टनेमि के तीर्थकाल में प्रत्येक बुद्ध भी अर्हत् कहलाते थे।[4]

पद्मपुराण[5] और विष्णुपुराण[6] में जैन धर्म के लिए आर्हत्-धर्म
प्रयोग मिलता है।

आर्हत शब्द की मुख्यता भगवान् पार्श्वनाथ के तीर्थकाल तक चलती रं
महावीरयुगीन साहित्य का पर्यवेक्षण करने पर सहज ही ज्ञात हो
कि उस समय निर्ग्रन्थ शब्द मुख्य रूप से व्यवहृत हुआ है।[8] बौद्ध साहि
अनेक स्थलों पर भगवान् महावीर को 'निग्गंथ नायपुत्त' कहा है।[9] अशो
शिलालेखों में भी 'निग्गंठ' शब्द का उल्लेख प्राप्त होता है।[10] भगवान् मह
के पश्चात् आठ गणधरों या आचार्यों तक 'निर्ग्रन्थ' शब्द मुख्य रूप से रहा है
वैदिक ग्रन्थों में भी निर्ग्रन्थ शब्द मिलता है।[12] सातवीं शताब्दी में बंग
निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय प्रभावशाली था।[13]

---

1 ऋग्वेद २।३३।१०; २।३।१।३; ७।१८।२२, १०।२।२। ६६।७। तथा १८
ऐआ० ५।२।२; शा० १५।४। १८।२, २३।१, ऐ० ४।१०

2 ३।४।१।३-६, तै० २।८।६।६, तै आ० ४।५।७; ५।४।१०, आदि-आदि

3 कल्पसूत्र, देवेन्द्र मुनि सम्पादित, सूत्र १६१, १६२ आदि

4 इसिभाषियं १।२०

5 पद्मपुराण १३।३५०

6 विष्णुपुराण ३।१८।१२

7 बाबू छोटेलाल स्मृतिग्रन्थ, पृ० २०१
(ख) अतीत का अनावरण, पृ० ६०

8 आचारांग १।३।१।१०८ [भगवती ६।६।
(ख) निग्गंथं पावयणं

9 दीघनिकाय सामंयफल सुत्त १८।२१
(ख) विनयपिटक महावग्ग, पृ० २४२

10 इमे वियापटा होहंति त्ति निग्गंठेसु पि मे कटे
[प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन दि० खण्ड, पृ०

11 श्री सुधर्मस्वामिनोऽष्टौ सूरीन् यावत् निर्ग्रन्थाः साधवोऽनगारा इत्यादि सामान्य
धायिन्याख्यासीः
— पट्टावली समुच्चय, तपागच्छ पट्टावली, पृ० ४५

12 कन्थाकौपीनोत्तरासङ्गादीनां त्यागिनो यथाजातरूपधरा निर्ग्रन्था निष्परिग्रहा
संवर्तश्रुतिः [तैत्तिरीय आरण्यक १०।६३, सायणभाष्य भाग – २, पृ०
(ख) जावालोपनिषद्

13 द एज आव इम्पीरियल कन्नौज, पृ० २८८

दशवैकालिक,[1] उत्तराध्ययन[2] और सूत्रकृताङ्ग[3] आदि आगमों में जिन शासन, जिनमार्ग, जिनवचन शब्दों का प्रयोग हुआ है। किन्तु 'जैन धर्म' इस शब्द का प्रयोग आगम ग्रन्थों में नहीं मिलता। सर्वप्रथम 'जैन' शब्द का प्रयोग जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण कृत विशेषावश्यक भाष्य में देखने को प्राप्त होता है।[4] उसके पश्चात् के साहित्य में जैन धर्म शब्द का प्रयोग विशेषरूप से व्यवहृत हुआ है। मत्स्यपुराण[5] में जिनधर्म और देवी भागवत[6] में जैन धर्म का वर्णन प्राप्त होता है।

तात्पर्य यह है कि देश काल के अनुसार शब्द बदलते रहे हैं, पर शब्दों के बदलते रहने से जैन धर्म अर्वाचीन नहीं हो सकता। परम्परा की दृष्टि से उसका सम्बन्ध भगवान् ऋषभदेव से है।

जिस प्रकार शिव के नाम पर शैव धर्म विष्णु के नाम पर वैष्णव धर्म और बुद्ध के नाम पर बौद्ध धर्म प्रचलित हैं वैसे ही जैन धर्म किसी व्यक्ति-विशेष के नाम पर प्रचलित नहीं है और न यह धर्म किसी व्यक्ति-विशेष का ही है। इसे ऋषभदेव, पार्श्वनाथ और महावीर का धर्म नहीं कहा है। यह आर्हतों का धर्म है, जिनधर्म है। जैन धर्म के मूल मंत्र 'नमो अरिहंताणं, नमो सिद्धाणं, नमो आयरियाणं, नमो उवज्झायाणं, नमो लोए सव्व साहूणं'[7] में किसी व्यक्ति-विशेष को नमस्कार नहीं किया गया है। जैन धर्म का स्पष्ट अभिमत है कि कोई भी व्यक्ति आध्यात्मिक उत्कर्ष कर मानव से महामानव बन सकता है, तीर्थंकर बन सकता है।

---

[1] सोच्चाणं जिण-सासणं
[दशवैकालिक ८।२५]
(ख) जिणमय
[वही ६।३।१५]

[2] जिणवयणे अणुरत्ता जिणवयणं जे करेंति भावेण
[उत्तराध्ययन ३६।२६४]

[3] अणुत्तरं धम्ममिणं जिणाणं
[सूत्रकृताङ्ग]

[4] जेणं तित्थं – विशेषावश्यक भाष्य गा० १०४३
(ख) तित्थं-जइणं – वही गा० १०४५-१०४६
(ग) जइण समुग्घायगईए
[वही, गा० ३८३]

[5] मत्स्यपुराण ४।१३।५४

[6] गत्वाथ मोहयामास रजिपुत्रान् बृहस्पतिः
जिनधर्मं समास्थाय वेदबाह्यं स वेदवित् ॥
छद्मरूपधरं सोम्यं बोधयन्तं छलेन तान्
जैनधर्मकृतं स्वेन, यज्ञनिन्दापरं तथा ॥
[देवीभागवत ४।१३।५४]

[7] भगवती मंगलाचरण

तीर्थंकर

तीर्थंकर शब्द जैन साहित्य का मुख्य पारिभाषिक शब्द है। यह शब्द और किस समय प्रचलित हुआ यह कहना अत्यधिक कठिन है। वर्तमान इतिहास से इसकी आदि नहीं ढूंढ़ी जा सकती। निस्संदेह यह शब्द उपलब्ध इतिहास से बहुत पहले प्राग् ऐतिहासिक काल में भी प्रचलित था। जैन परम्परा में शब्द का प्राधान्य रहने के कारण बौद्ध साहित्य में भी इसका प्रयोग किया है। बौद्ध साहित्य में अनेक स्थलों पर 'तीर्थंकर' शब्द व्यवहृत हुआ है[1] सामञ्ञफल सुत्त में छह तीर्थंकरों का उल्लेख किया गया है[2] किन्तु यह है कि जैन साहित्य की तरह मुख्य रूप से यह शब्द वहाँ प्रचलित नहीं रहा। कुछ ही स्थलों पर उसका उल्लेख हुआ है किन्तु जैन साहित्य में इस शब्द प्रयोग अत्यधिक मात्रा में हुआ है। तीर्थंकर जैन धर्म-संघ का पिता है, सर्व है। जैन साहित्य में खूब ही विस्तार से तीर्थंकर का महत्त्व उट्टङ्कित किया है। आगम साहित्य से लेकर स्तोत्र साहित्य तक में तीर्थंकर का महत्त्व प्रतिपादित है। चतुर्विंशतिस्तव और शक्रस्तव में तीर्थंकर के गुणों का जो उत्कीर्तन किया गया है उसे पढ़कर साधक का हृदय श्रद्धा से नत हो जाता है।

जो तीर्थं का कर्त्ता या निर्माता होता है वह तीर्थंकर कहलाता है। परिभाषा के अनुसार तीर्थं शब्द का अर्थं धर्म-शासन है। जो संसार-समुद्र पार करने वाले धर्म-तीर्थ की संस्थापना करते हैं वे तीर्थंकर कहलाते हैं। अहिंसा सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये धर्म हैं। इस धर्म को धारण करने श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका हैं। इस चतुर्विध संघ को भी तीर्थ गया है।[3] इस तीर्थ की जो स्थापना करते हैं उन विशिष्ट व्यक्तियों तीर्थंकर कहते हैं।

संस्कृत साहित्य में तीर्थशब्द 'घाट' के लिए भी व्यवहृत हुआ है। घाट के निर्माता हैं वे तीर्थंकर कहलाते हैं। सरिता को पार करने के लिए घाट कितनी उपयोगिता है यह प्रत्येक अनुभवी व्यक्ति जानता है। संसाररूपी महान् नदी है, उसमें कहीं पर क्रोध के मगरमच्छ मुंह फाड़े हुए हैं, कहीं माया के जहरीले साँप फूत्कार कर रहे हैं तो कहीं पर लोभ के भंवर हैं। सभी को पार करना कठिन है। साधारण साधक विकारों के भंवर में फंस हैं। कषाय के मगर उन्हें निगल जाते हैं। अनन्त दया के अवतार तीर्थंकर ने साधकों की सुविधा के लिए धर्म का घाट बनाया, अणुव्रत और महाव्रतों निश्चित योजना प्रस्तुत की, जिससे प्रत्येक साधक इस संसाररूपी भयंकर को सहज ही पार कर सकता है।

---

[1] देखिए बौद्ध साहित्य का लंकावतार-सूत्र

[2] दीघ निकाय, सामञ्ञफल सुत्त, पृ० १६-२२, हिन्दी अनुवाद

[3] तित्थं पुण चाउवन्नाइन्ने समण संघो – समणा, समणीओ, सावया, सावियाओ [भगवती सूत्र शतक २, उ० ८, सूत्र ६
(ख) स्थानांग ४।३

तीर्थ का अर्थ पुल भी है। चाहे कितनी ही बड़ी से बड़ी नदी क्यों न हो, यदि उस पर पुल है तो निर्बल से निर्बल व्यक्ति भी उसे सुगमता से पार कर सकता है। तीर्थंकरों ने संसाररूपी नदी को पार करने के लिए धर्म-शासन अथवा साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविकारूपी संघस्वरूप पुल का निर्माण किया है। आप अपनी शक्ति व भक्ति के अनुसार इस पुल पर चढ़कर संसार को पार कर सकते हैं। धार्मिक साधना के द्वारा अपने जीवन को पावन बना सकते हैं। तीर्थंकरों के शासनकाल में हजारों लाखों व्यक्ति आध्यात्मिक साधना कर जीवन को परम पवित्र बनाकर मुक्त होते हैं।

प्रश्न हो सकता है कि प्रवर्तमान अवसर्पिणीकाल में भगवान् ऋषभदेव ने सर्वप्रथम तीर्थ की संस्थापना की अतः उन्हें तीर्थंकर कहना चाहिए परन्तु उनके पश्चाद्वर्ती तेवीस महापुरुषों को तीर्थंकर क्यों कहा जाय ?

कुछ विद्वान् यह भी कहते हैं कि धर्म की व्यवस्था जैसी एक तीर्थंकर करते हैं वैसी ही व्यवस्था दूसरे तीर्थंकर भी करते हैं अतः एक ऋषभदेव को ही तीर्थंकर मानना चाहिए अन्य को नहीं।

उल्लिखित प्रश्नों के उत्तर में निवेदन है कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह और अनेकान्त आदि जो धर्म के आधारभूत मूल सिद्धान्त हैं वे शाश्वतसत्य और सदा-सर्वदा अपरिवर्तनीय हैं। अतीत के अनन्तकाल में जो अनन्त तीर्थंकर हुए हैं, वर्तमान में जो श्री सीमंधर स्वामी आदि तीर्थंकर हैं और अनागत अनन्तकाल में जो अनन्त तीर्थंकर होने वाले हैं उन सबके द्वारा धर्म के मूल स्तंभस्वरूप इन शाश्वत सत्यों के सम्बन्ध में समान रूप से प्ररूपणा की जाती रही है, की जा रही है और की जाती रहेगी। धर्म के मूल तत्त्वों के निरूपण में एक तीर्थंकर से दूसरे तीर्थंकर का किंचित्मात्र भी भेद न कभी रहा है और न कभी रहेगा परन्तु प्रत्येक तीर्थंकर अपने-अपने समय में देश-काल, जनमानस की ऋजुता, तत्कालीन मानव की शक्ति, बुद्धि, सहिष्णुता आदि को ध्यान में रखते हुए उस काल और उस काल के मानव के अनुरूप साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविका के लिये अपनी-अपनी एक नवीन आचार-संहिता का निर्माण करते हैं।

एक तीर्थंकर द्वारा संस्थापित श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविकारूपी तीर्थ में काल-प्रभाव से जब एक अथवा अनेक प्रकार की विकृतियां उत्पन्न हो जाती हैं, तीर्थ में लम्बे अतीत तथा अन्य कारणों से भ्रान्तियां पनपने लगती हैं, कभी-कभी तीर्थ विलुप्त, विलुप्तप्राय, विशृंखल अथवा शिथिल हो जाता है उस समय दूसरे तीर्थंकर का समुद्भव होता है और वे विशुद्धरूपेण नवीन तीर्थ की स्थापना करते हैं अतः एव वे तीर्थंकर कहलाते हैं। उनके द्वारा धर्म के प्राणभूत ध्रुव सिद्धान्त उसी रूप में उपदिष्ट किये जाते हैं केवल बाह्य क्रियाओं एवं आचार-व्यवहार आदि का प्रत्येक तीर्थंकर के समय में न्यूनाधिक वैभिन्न्य होता है।

जब पुराने घाट ढह जाते हैं, वे विकृत अथवा अनुपयुक्त हो जाते हैं; नवीन घाट निर्माण किये जाते हैं। जब धार्मिक विधि-विधानों में विकृति जाती है तब तीर्थंकर उन विकृतियों को नष्ट कर अपनी दृष्टि से पुनः धा विधानों का निर्माण करते हैं। तीर्थंकरों का शासन-भेद इस बात का ज्व प्रमाण है। मैंने इस सम्बन्ध में 'भगवान् पार्श्व एक समीक्षात्मक अध्ययन'[1] में विस्तार से विवेचन किया है। जिज्ञासु पाठकों को वहां देखना चाहिए।

तीर्थंकर अवतार नहीं

एक बात स्मरण रखनी चाहिए कि जैन धर्म ने तीर्थंकर को ईश्वर अवतार या अंश नहीं माना है और न दैवी सृष्टि का अजीब प्राणी ही स्वी किया है। उसका यह स्पष्ट मन्तव्य है कि तीर्थंकर का जीव अतीत में एक हमारी ही तरह वासना के दल-दल में फंसा हुआ था। पापरूपी पंक से था। कषाय की कालिमा से कलुषित था, मोह की मदिरा से मत्त था। व्याधि और उपाधियों से संत्रस्त था। हेय, ज्ञेय और उपादेय का उसे तनि ध्यान नहीं था। वैराग्य से विमुख रहकर वह विकारों को अपनाता था। उपा को छोड़कर वासना का दास बना हुआ था। त्याग के बदले वह राग में हुआ था। भौतिक व इन्द्रियजन्य सुखों को सच्चा सुख समझकर पागल की उसके पीछे दौड़ रहा था किन्तु एक दिन महान् पुरुषों के संग से उसके नेत्र गये। भेद-विज्ञान की उपलब्धि होने से तत्त्व की अभिरुचि जागृत हुई। सत्य स्थिति का उसे परिज्ञान हुआ।

किन्तु कितनी ही बार ऐसा भी होता है कि मिथ्यात्व के पुनः आक्र से उसके ज्ञान-नेत्र धुंधले हो जाते हैं और वह पुनः मार्ग को विस्मृत कुमार्ग पर आरूढ़ हो जाता है और लम्बे समय के पश्चात् पुनः सन्मार्ग आता है तब वासना से मुंह मोड़कर साधना को अपनाता है, उत्कृष्ट तप व सं की आराधना करता हुआ एक दिन भावों की परम निर्मलता से तीर्थंकर न कर्म का बंधन करता है और फिर वह तृतीय भव से तीर्थंकर बनता है[2] कि यह भी नहीं भूलना चाहिए कि जब तक तीर्थंकर का जीव संसार के भोग-विल में उलझा हुआ है, सोने के सिंहासन के मोह में फंसा हुआ है तब तक वह वस तीर्थंकर नहीं है। तीर्थंकर बनने के लिए उस अन्तिम भव में भी राज्य-वैभव छोड़ना होता है। श्रमण बन कर स्वयं को पहले महाव्रतों का पालन करना है, एकान्त शान्त निर्जन स्थानों में रहकर आत्म-मनन करना होता है, भयंक भयंकर उपसर्गों को शान्त भाव से सहन करना होता है। जब साधना ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, और अन्तराय कर्म नष्ट होते हैं

---

[1] भ० पार्श्व एक समीक्षात्मक अध्ययन, पृ० ३-२५, प्रकाशन : पं० मुनि श्रीमल प्रका २५६ नाना पेठ, पूना नं० २, सन् १९६९

[2] समवायाङ्ग सूत्र १५७

केवलज्ञान केवलदर्शन की प्राप्ति होती है। उस समय वे साधु, साध्वी, श्रावक श्राविकारूप तीर्थ की संस्थापना करते हैं तब वस्तुतः तीर्थंकर कहलाते हैं।

उत्तारवाद

वैदिक परम्परा का विश्वास अवतार-वाद में है। गीता के अभिमतानुसार ईश्वर, अज, अनन्त और परात्पर होने पर भी अपनी अनन्तता को अपनी माया शक्ति से संकुचित कर शरीर को धारण करता है। अवतारवाद का सीधा सा अर्थ है ईश्वर का मानव के रूप में अवतरित होना, मानव शरीर से जन्म लेना। गीता की दृष्टि से ईश्वर तो मानव बन सकता है किन्तु मानव कभी ईश्वर नहीं बन सकता। ईश्वर के अवतार लेने का एक मात्र उद्देश्य है सृष्टि में चारों ओर जो अधर्म का अंधकार छाया हुआ होता है उसे नष्ट कर धर्म का प्रकाश, साधुओं का परित्राण, दुष्टों का नाश और धर्म की स्थापना करना।[1]

जैन धर्म का विश्वास अवतारवाद में नहीं उत्तारवाद में है। अवतारवाद में ईश्वर को स्वयं मानव बनकर पुण्य-पाप करने पड़ते हैं। भक्तों की रक्षा के लिए उसे संहार भी करना पड़ता है। स्वयं राग-द्वेष से मुक्त होने पर भी भक्त के लिए उसे राग भी करना पड़ता है और द्वेष भी। वैदिक परम्परा में विचारक ने इस विकृति को लीला कहकर उस पर आवरण डालने का प्रयास किया है। जैन दृष्टि से मानव का उत्तार होता है। वह प्रथम विकृति से संस्कृति की ओर बढ़ता है फिर प्रकृति में पहुँच जाता है। राग-द्वेष युक्त जो मिथ्यात्व की अवस्था है वह विकृति है। राग-द्वेष मुक्त जो वीतराग अवस्था है वह संस्कृति है। पूर्ण रूप से कर्मों से मुक्त जो शुद्ध सिद्ध अवस्था है वह प्रकृति है। सिद्ध बनने का अर्थ है कि अनन्त काल के लिए अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त शक्ति में लीन हो जाना। वहाँ कर्म-बंध और कर्म-बंध के कारणों का सर्वथा अभाव होने से जीव पुनः संसार में नहीं आता। उत्तारवाद का अर्थ है मानव का विकारी जीवन से ऊपर उठकर भगवान् के अविकारी जीवन तक पहुँच जाना, पुनः उसमें कदापि लिप्त न होना। तात्पर्य यह है कि जैन धर्म का तीर्थंकर ईश्वरीय अवतार नहीं है। जो लोग तीर्थंकरों को अवतार मानते हैं वे भ्रम में हैं। जैन धर्म का यह वज्र आघोष है कि प्रत्येक व्यक्ति साधना के द्वारा आन्तरिक शक्तियों का विकास कर तीर्थंकर बन सकता है। तीर्थंकर बनने के लिए जीवन में आन्तरिक शक्तियों का विकास परमावश्यक है।

तीर्थंकर और अन्य मुक्त आत्माओं में अन्तर

जैन धर्म का यह स्पष्ट मन्तव्य है कि तीर्थंकर और अन्य मुक्त होने वाले आत्माओं में आन्तरिक दृष्टि से कोई फर्क नहीं है। केवलज्ञान और केवलदर्शन

---

[1] यदा यदा हि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत
अभ्युत्थानमधर्मस्य, तदात्मानं सृजाम्यहं ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥ [श्रीमद्भगवद्गीता ४।७-८

भागवत के आधार पर विकसित लघु-भागवतामृत में यह संख्या तथा 'सात्वत तंत्र' में लगभग ४१ से भी अधिक हो गई है।[1] इस तरह कालीन वैष्णव सम्प्रदायों में भी कोई सर्वमान्य सूची गृहीत नहीं हुई है।

हिन्दी साहित्य में चौबीस अवतारों का वर्णन है उसमें भागवत की सूचियों का समावेश किया गया है। सूरदास[2], बारहट्ठ[3], रामानन्द,[4] रज्जब[5], बैजू,[6] लखनदास[7], नाभादास[8] आदि ने भी चौबीस अवतार का वर्णन किया

इन चौबीस अवतारों में मत्स्य, वराह, कूर्म, आदि अवतार पशु हंस पक्षी है। कुछ अवतार पशु और मानव दोनों के मिश्रित हैं जैसे हयग्रीव आदि।

वैदिक परम्परा में अवतारों की संख्या में क्रमशः परिवर्तन होता रहा जैन तीर्थंकरों की तरह उनका व्यवस्थित रूप नहीं मिलता। इतिहासकार 'भागवत' की प्रचलित चौबीस अवतारों की परम्परा को जैनों से प्रभावित है। श्री गौरीशंकर हीराचन्द ओझा का मन्तव्य है कि चौबीस अवतारों की कल्पना भी बौद्धों के चौबीस बुद्ध और जैनों के चौबीस तीर्थंकरों की कल्पना के आधार पर हुई है।[9]

चौबीस बुद्ध

भागवत में जिस प्रकार विष्णु, वासुदेव या नारायण के अनेक की चर्चा की गई है उसी प्रकार लंकावतार सूत्र में कहा गया है कि बुद्ध

---

(१९) श्री पति, (२०) कान्तात्मन, (२१) राहुजीत, (२२) … (२३) पारिजातहर, (२४) लोकनाथ, (२५) शान्तात्मा, (२६) … (२७) न्यग्रोधशायी, (२८) एकश्रृङ्गतनु, (२९) वामनदेव, (३०) … (३१) नर, (३२) नारायण, (३३) हरि, (३४) कृष्ण, (३५) … (३६) राम, (३७) देवविध, (३८) कल्कि, (३९) पातालशयन।

[कलेक्टेड वर्क्स ऑफ आर० जी० भण्डारकर, पृ०

[1] लघुभागवतामृत, पृ० ७० श्लोक ३२, सात्वत तंत्र, द्वितीय पटल

[2] सूरसागर पृ० १२६, पद ३७८

[3] अवतार चरित, सं० १७३३, नागरी प्रचारिणी सभा (हस्तलिखित प्रति)

[4] न तहाँ चौबीसूं वप वरन,

[रामानन्द की हिन्दी रचनाएं नागरी प्रचारिणी,

[5] एक कहै अवतार दस, एक कहै चौबीस। [रज्जब जी की बानी, पृ० ११…

[6] आप अवतार भये, चौबीस वपुधर। [रागकल्पद्रुम, जिल्द १, पृ० ४५]

[7] चतुर्विंश लीलावतारी। [राग कल्पद्रुम, जि० १, पृ० ५१९]

[8] चौबीस रूप लीला रुचिर

[9] मध्यकालीन भारतीय संस्कृति (१९५१ सं०), पृ० १३

रूपों में अवतीर्ण होंगे और सर्वत्र अज्ञानियों में धर्म-देशना करेंगे।[1] लंकावतार में भागवत के समान चौबीस बुद्धों का उल्लेख है।

सूत्रालंकार[2] में बुद्धत्व-प्राप्ति के लिए प्रयत्न का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि कोई भी पुरुष प्रारम्भ से ही बुद्ध नहीं होता। बुद्धत्व की उपलब्धि के लिए पुण्य और ज्ञान-संभार की आवश्यकता होती है। तथापि बुद्धों की संख्या में अभिवृद्धि होती गई। प्रारम्भ में यह मान्यता रही कि एक साथ दो बुद्ध नहीं हो सकते किन्तु महायान मत ने एक समय में अनेक बुद्धों का अस्तित्व स्वीकार किया है। उनका मन्तव्य है कि एक लोक में अनेक बुद्ध एक साथ नहीं हो सकते।[3]

इससे बुद्धों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि हुई। सद्धर्म पुंडरीक में अनन्त बोधिसत्व बताए गए हैं और उनकी तुलना गंगा के रेती के कणों से की गई है। इन सभी बोधिसत्वों को लोकेन्द्र माना है।[4] उसके पश्चात् यह उपमा बुद्धों के लिए रूढ़ सी हो गई।[5]

लंकावतार सूत्र में यह भी कहा गया है कि बुद्ध किसी भी रूप को धारण कर सकते हैं, कितने ही सूत्रों में यह भी बताया गया है कि गंगा की रेती के समान असंख्य बुद्ध भूत, वर्तमान और भविष्य में तथागत रूप होते हैं।[6] जैसे विष्णुपुराण और भागवत में विष्णु के असंख्य अवतार माने गए हैं वैसे ही बुद्ध भी असंख्य अवतरित होते हैं। जहाँ भी लोग अज्ञान अंधकार में छटपटाते हैं वहाँ पर बुद्ध का धर्मोपदेश सुनने को मिलता है।[7]

बौद्ध साहित्य में प्रारंभ में पुनर्जन्म को सिद्ध करने के लिए बुद्ध के असंख्य अवतारों की कल्पना की गई किन्तु बाद में चलकर बुद्ध के अवतारों की संख्या ५, ७, २४ और ३६ तक सीमित हो गई।

जातककथाओं का दूरेनिदान, अविदूरेनिदान, और सन्तिकेनिदान के नाम से जो विभाजन किया गया है उनमें से दूरेनिदान[8] में एक कथा इस प्रकार प्राप्त होती है :–

"प्राचीनकाल में एक सुमेध नामक परिव्राजक थे। उन्हीं के समय दीपंकर बुद्ध उत्पन्न हुए। लोग दीपंकर बुद्ध के स्वागत हेतु मार्ग सजा रहे थे। सुमेध

---

[1] लंकावतार, सूत्र ४०, पृ० २२६

[2] सूत्रालंकार – ६।७७

[3] बौद्ध धर्म दर्शन, पृ० १०४, १०५

[4] सद्धर्मपुण्डरीक, १४।६, पृ० ३०२

[5] मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, पृ० २३

[6] लंकावतार सूत्र, पृ० १६८

[7] लंकावतार, सूत्र ४०, पृ० २२६

[8] जातक अट्ठकथा, दूरेनिदान, पृ० २ से ३६

परिव्राजक उस कीचड़ में मृगचर्म बिछाकर लेट गया। उस मार्ग से जाते हु
सुमेध की श्रद्धा व भक्ति को देखकर बुद्ध ने भविष्यवाणी की – "यह कालान्तर
में बुद्ध होगा।" उसके पश्चात् सुमेध ने अनेक जन्मों में सभी पारमिताओं
साधना पूर्ण की। उन्होंने विभिन्न कल्पों में चौबीस बुद्धों की सेवा की और
में लुम्बिनी में सिद्धार्थ नाम से उत्पन्न हुए।"[1]

प्रस्तुत कथा में पुनर्जन्म की संसिद्धि के साथ ही विभिन्न कल्पों में चौ
बुद्ध हुए यह बताया गया है।

भदन्त शान्तिभिक्षु का मन्तव्य है कि ईसा पूर्व प्रथम या द्वितीय शता
में चौबीस बुद्धों का उल्लेख हो चुका था।[2]

ऐतिहासिक दृष्टि से जब हम चिन्तन करते हैं तब स्पष्ट ज्ञात हो
चौबीस तीर्थंकर और चौबीस बुद्ध की अपेक्षा, वैदिक चौबीस अवतार की क
परवर्ती है, क्योंकि महाभारत के परिवर्द्धित रूप में भी दशावतारों का ही उ
है। महाभारत से लेकर श्रीमद्भागवत तक के अन्य पुराणों में १०, ११,
१४ और २२ तक की संख्या मिलती है किन्तु चौबीस अवतार का स्पष्ट उ
भागवत (२।७) में ही मिलता है। श्री मद्भागवत का काल विद्वान् अधि
अधिक छठ्ठी शताब्दी मानते हैं।[3]

वैदिक परम्परा की तरह बुद्धों की संख्या भी निश्चित नहीं है। बु
संख्या अनन्त भी मानी गई है। उसके बाद सात मानुषी बुद्ध माने गए हैं
फिर चौबीस बुद्ध माने गए हैं।[5] महायान की एक सूची में ३२ बुद्धों के
मिलते हैं।[6] किन्तु जैन साहित्य में इस प्रकार की विभिन्नता नहीं है।
तीर्थंकरों की संख्या में एकरूपता है। चाहे श्वेताम्बर ग्रन्थ हों चाहे दि
सम्प्रदाय के ग्रन्थ हों, उनमें सभी जगह चौबीस तीर्थंकरों का ही उल्लेख है

यह भी स्मरण रखना चाहिए कि चौबीस तीर्थंकरों का उल्लेख समवा
भगवती जैसे अंग ग्रन्थों में हुआ है। अंग ग्रन्थों के अर्थ के प्ररूपक स्वयं भ
महावीर हैं और वर्तमान में जो अंग सूत्र प्राप्त हैं उनके सूत्र-रचयिता ग
सुधर्मा हैं। भगवान् महावीर को ई० पूर्व ५५७ में केवलज्ञान हुआ और ५
उनका परिनिर्वाण हुआ।[7] इस दृष्टि से समवायांग का रचनाकाल ५५

---

[1] महायान–भदन्त शान्तिभिक्षु, प्रस्तावना, पृ० १५
[2] मध्यकालीन साहित्य में अवतारवाद, पृ० २४
[3] भागवत सम्प्रदाय, पृ० १५३, पं० बलदेव उपाध्याय
[4] बौद्धधर्म दर्शन, पृ० १२१, आचार्य नरेन्द्रदेव
[5] वही, पृ० १०५
[6] दी बौद्धिष्ट इकानोग्राफी, पृ० १०, विजयघोष भट्टाचार्य
[7] आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन, पृ० ११७
[8] कितने ही विद्वान् ९६० वीर-निर्वाण की रचना मानते हैं, पर वह लेखन का स
रचना का नहीं।

५२७ के मध्य में है। स्पष्ट है कि चौबीस तीर्थंकरों का उल्लेख चौबीस बुद्ध और चौबीस अवतारों की अपेक्षा बहुत ही प्राचीन है। जब जैनों में चौबीस तीर्थंकरों की महिमा और गरिमा अत्यधिक बढ़ गई तब संभव है बौद्धों ने और वैदिक परम्परा वालों ने अपनी अपनी दृष्टि से बुद्ध और अवतारों की कल्पना की, पर जैनियों के तीर्थंकरों की तरह उनमें व्यवस्थित रूप न आ सका। चौबीस तीर्थंकरों की जितनी सुव्यवस्थित सामग्री जैन ग्रन्थों में उपलब्ध होती है उतनी बौद्ध साहित्य में तथा वैदिक वाङ्मय में अवतारों की नहीं मिलती। जैन तीर्थंकर कोई भी पशु-पक्षी आदि नहीं हुए हैं; जब कि बुद्ध और वैदिक अवतारों में यह बात नहीं है।

अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर ने अनेक स्थलों पर यह कहा है कि : "जो पूर्व-तीर्थंकर पार्श्व ने कहा है वही मैं कह रहा हूं।"[१] पर त्रिपिटक में बुद्ध ने कहीं भी यह नहीं कहा कि पूर्व-बुद्धों ने[२] यह कहा है जो मैं कह रहा हूं पर वे सर्वत्र यही कहते हैं "मैं ऐसा मानता हूं।" इससे भी यह सिद्ध होता है कि बुद्ध के पूर्व बौद्ध धर्म की कोई भी परम्परा नहीं थी; जबकि महावीर के पूर्व पार्श्वनाथ की परम्परा चल रही थी।

ऋषभदेव

चौबीस तीर्थंकरों में सबसे प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव हैं। उनके अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए आगम व आगमेतर साहित्य ही प्रबल प्रमाण हैं। जैन दृष्टि से भगवान् ऋषभदेव वर्तमान अवसर्पिणीकाल के तृतीय आरे के उपसंहारकाल में हुए हैं।[३] चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर और ऋषभदेव के बीच का समय असंख्यात वर्ष का है।[४] वैदिक दृष्टि से ऋषभदेव प्रथम सतयुग के अन्त में हुए हैं और राम व कृष्ण के अवतारों से पूर्व हुए हैं।[५] जैन दृष्टि से आत्मविद्या के प्रथम पुरस्कर्ता भगवान् ऋषभदेव हैं।[६] वे प्रथम राजा, प्रथम जिन, प्रथम केवली, प्रथम तीर्थंकर और प्रथम धर्मचक्रवर्ती थे।[७] ब्रह्माण्ड पुराण में ऋषभदेव को दस प्रकार के धर्म का प्रवर्तक माना है।[८]

---

१ व्याख्या प्रज्ञप्ति, श० ५, उद्दे० ९, सू० २२७
वही, श० ९। उद्दे० ३२,

२ मज्झिमनिकाय ५६ अंगुत्तर निकाय

३ (क) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति (ख) कल्पसूत्र

४ कल्पसूत्र

५ जिनेन्द्र मत दर्पण, भाग १, पृष्ठ १०

६ धम्माणं कासवो मुहं, उत्तराध्ययन १६, अ० २५

७ उसहे णामं अरहा कोसलिए पढमराया पढमजिणे, पढम केवली पढमतित्थयरे पढमधम्मवरचक्कवट्टी समुप्पज्जित्थे [जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, २।३०]

८ इह हि इक्ष्वाकुकुलवंशोद्भवेन नाभिसुतेन मरुदेव्या नन्दनेन महादेवेन ऋषभेण दस प्रकारो धर्मः स्वयमेव चीर्णः [ब्रह्माण्डपुराण]

श्रीमद्भागवत से भी इसी बात की पुष्टि होती है। वहां यह बताया है कि वासुदेव ने आठवां अवतार नाभि और मरुदेवी के वहां धारण कि वे ऋषभ रूप में अवतरित हुए और उन्होंने सब आश्रमों द्वारा नमस्कृत दिखलाया।[1] एतदर्थ ही ऋषभदेव को मोक्षधर्म की विवक्षा से 'वासुदे कहा है।[2]

ऋषभदेव के सौ पुत्र थे। वे सभी ब्रह्मविद्या के पारगामी थे।[3] उनके पुत्रों को आत्मविद्या विशारद भी कहा है।[4] उनके ज्येष्ठ पुत्र भरत तो महा थे।[5] स्वयं ऋषभदेव को योगेश्वर कहा गया है।[6] उन्होंने विविध योगच का चरण किया था।[7] जैन आचार्य उन्हें योगविद्या के प्रणेता मानते हैं हठयोग प्रदीपिका में भगवान् ऋषभदेव को हठयोगविद्या के उपदेष्टा के रू नमस्कार किया है।[8]

ऋषभदेव अपने विशिष्ट व्यक्तित्व के कारण वैदिक परम्परा में मान्य रहे हैं।

महाकवि सूरदास ने उनके व्यक्तित्व का चित्रण करते हुए लिखा है ने पुत्र के लिए यज्ञ किया, उस समय यज्ञपुरुष[10] ने स्वयं दर्शन देकर जन्म का वचन दिया जिसके फलस्वरूप ऋषभ की उत्पत्ति हुई।[11]

सूरसारावली में कहा गया है कि प्रियव्रत के वंश में उत्पन्न हरि शरीर का नाम ऋषभदेव था। उन्होंने इस रूप में भक्तों के सभी कार्य

---

[1] अष्टमे मरुदेव्यां तु नाभेर्जात उरुक्रमः
दर्शयन् वर्त्म धीराणां, सर्वाश्रमनमस्कृतम् [श्रीमद्भागवत १।३।१३]

[2] तमाहुर्वासुदेवांशं मोक्षधर्मविवक्षया [श्रीमद्भागवत ११।२।१६]

[3] अवतीर्णः सुतशतं, तस्यासीद् ब्रह्मपारगम् [वही ११।२।१६]

[4] नवाभवन् महाभागा, मुनयोह्यर्थशंसिनः
श्रमणा वातरशना: आत्मविद्याविशारदा: [वही ११।२।२०]

[5] येषां खलु महायोगी भरतो ज्येष्ठः श्रेष्ठगुणः आसीत्
[वही ५।४।९]

[6] भगवान् ऋषभदेवो योगेश्वर : [वही ५।४।३]

[7] नानायोगचर्याचरणो भगवान् कैवल्यपतिर्ऋषभः
[वही ५।५।२५]

[8] योगिकल्पतरुं नौमि, देव-देवं वृषध्वजम् [ज्ञानार्णव १।२]

[9] श्री आदिनाथाय नमोस्तु तस्यै येनोपदिष्टा हठयोगविद्या।

[10] नाभि नृपति सुत हित जग कियौ
जज्ञ-पुरुष तब दरसन दियौ [सूरसागर, पृष्ठ १५०, पद ४०९]

[11] मैं हरता करता संसार में लैहौं नृप ग्रह अवतार
रिषभदेव तब जनमे आइ, राजा कै ग्रह बजी बधाई।। [सूरसागर पृष्ठ, १५०]

किये।[1] अनावृष्टि होने पर स्वयं वर्षा होकर बरसे और ब्रह्मावर्त में अपने पुत्रों को ज्ञानोपदेश कर स्वयं ने संन्यास ग्रहण किया। हाथ जोड़े हुए प्रस्तुत अष्ट-सिद्धियों को उन्होंने स्वीकार नहीं किया। ये ऋषभदेव मुनि परब्रह्म के अवतार बताए गए हैं।[2]

नरहरिदास ने भी इनकी अवतार कथा का वर्णन करते हुए इन्हें परब्रह्म परम पावन पुरुष व अविनाशी कहा है।[3]

ऋग्वेद में भगवान् श्री ऋषभ को पूर्वज्ञान का प्रतिपादक और दुःखों का नाश करने करने वाला बतलाते हुए कहा है – "जैसे जल से भरा मेघ वर्षा का मुख्य स्रोत है, जो पृथ्वी की प्यास को बुझा देता है, उसी प्रकार पूर्वी ज्ञान के प्रतिपादक ऋषभ महान् हैं उनका शासन वर दे। उनके शासन में ऋषि परम्परा से प्राप्त पूर्वज्ञान आत्मा के शत्रुओं क्रोधादिक का विध्वंसक हो। दोनों (संसारी और मुक्त) आत्माएं अपने ही आत्म गुणों से चमकती हैं। अतः वे राजा हैं। वे पूर्ण ज्ञान के आगार हैं। और आत्म-पतन नहीं होने देते।"[4]

तीर्थंकर ऋषभदेव ने सर्वप्रथम इस सिद्धान्त की उद्घोषणा की थी कि मनुष्य अपनी शक्ति का विकास कर आत्मा से परमात्मा बन सकता है। प्रत्येक आत्मा में परमात्मा विद्यमान है जो आत्म-साधना से अपने देवत्व को प्रकट कर लेता है वही परमात्मा बन जाता है। उनकी इस मान्यता की पुष्टि ऋग्वेद की ऋचा से होती है, – "जिसके चार शृंग – अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य हैं। तीन पाद हैं – सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र। दो शीर्ष केवलज्ञान और मुक्ति हैं। तथा जो मन-वचन और काय इन तीनों योगों से बद्ध हैं (संयत हैं) उस ऋषभ ने घोषणा की कि महादेव (परमात्मा) मानव के भीतर ही आवास करता है।"[5]

अथर्ववेद[6] और यजुर्वेद से भी इस मान्यता के प्रमाण मिलते हैं। कहीं-कहीं वे प्रतीक शैली से वर्णित हैं और कहीं-कहीं पर संकेत रूप से उल्लेख है।

अमेरिका और यूरोप के वनस्पति-शास्त्रियों ने अपनी अन्वेषणा से यह सिद्ध किया है कि खाद्य गेहूँ का उत्पादन सब से पहले हिन्दूकुश और हिमालय

---

[1] प्रियव्रत धरेउ हरि निज वपु ऋषभदेव यह नाम।
किन्हें व्याज सकल भक्तन को अंग अंग अभिराम॥ [सूरसारावली, पृष्ठ ४]

[2] आठों सिद्धि भई सन्मुख जब करी न अंगीकार
जय जय जय श्री ऋषभदेव मुनि परब्रह्म अवतार [सूरसारावली, पृष्ठ ४]

[3] अवतारलीला – (हस्तलिखित)

[4] असूतपूर्वा वृषभो ज्यायनिया अरय शुरुधः सन्ति पूर्वीः दिवो न पाता विदथस्य धीभिः क्षत्रं राजाना पुदिवोदधाथे [ऋग्वेद ५२, । ३८]

[5] चत्वारि शृंगा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महादेवो मर्त्या आविवेश॥ [ऋग्वेद]

[6] अथर्ववेद १९। ४२। ४

के मध्यवर्ती प्रदेश में हुआ।[1] सिन्धु घाटी की सभ्यता से भी यही लगता है कि कृषि का प्रारम्भ सर्वप्रथम इस देश में हुआ था। जैन दृष्टि कृषि-विद्या के जनक ऋषभदेव हैं। उन्होंने असि, मसि, और कृषि का किया था। भारतवर्ष में ही नहीं अपितु विदेशों में भी कहीं पर वे कृषि के माने जाकर उपास्य रहे हैं, कहीं पर वर्षा के देवता माने गये हैं और 'सूर्यदेव' मानकर पूजे गये हैं। सूर्यदेव – उनके केवलज्ञान का प्रतीक रहा है।

चीन और जापान भी उनके नाम और काम से परिचित रहे हैं। त्रिपिटकों में उनका उल्लेख मिलता है। जापानी उनको 'रोकशब' (Roks कहकर पुकारते हैं।

मध्य एशिया, मिश्र और यूनान तथा फोनेशिया एवं फरिणक लो भाषा में वे 'रेशेफ' कहलाये, जिसका अर्थ सींगों वाला देवता है जो ऋष अपभ्रंश रूप है [2]।

शिवपुराण के अध्ययन से यह तथ्य और भी अधिक स्पष्ट हो है।[3] डाक्टर राजकुमार जैन ने 'वृषभदेव तथा शिव-सम्बन्धी प्राच्य मा शीर्षक लेख में विस्तार से ऊहापोह किया है कि भगवान् ऋषभवेद औ दोनों एक थे। अतः जिज्ञासु पाठकों को वह लेख पढ़ने की प्रेरणा देता है

अक्कड़ और सुमेरों की संयुक्त प्रवृत्तियों से उत्पन्न बेबीलोनि संस्कृति और सभ्यता बहुत प्राचीन मानी जाती है। उनके विजयी राजा हम् (२१२३–२०८१ ई० पू०) के शिलालेखों से ज्ञात होता है कि स्वर्ग औ का देवता वृषभ था।[5]

सुमेर के लोग कृषि के देवता के रूप में अर्चना करते थे। जिसे तामुज कहते थे[6]। वे बैल को विशेष पवित्र समझते थे।[7] सुमेर तथा

---

[1] बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन पृ. ५२, लेखक – भरतसिंह उपाध्याय

[2] (क) भगवान् ऋषभदेव और उनकी लोकव्यापी मान्यता, लेखक – कामता प्रसा आचार्य भिक्षु स्मृति ग्रन्थ द्वि. खं. पृ ४

(ख) बाबू छोटेलाल जैन स्मृति ग्रन्थ पृ. २०४

[3] इत्थं प्रभाव ऋषभोऽवतारः शंकरस्य मे।
सतां गतिर्दीनबन्धुर्नवमः कथितस्तव ॥
ऋषभस्य चरित्रं हि परमं पावनं महत्।
स्वर्ग्यंयशस्यमायुष्यं श्रोतव्यं वै प्रयत्नतः ॥ [शिवपुराण ४।४७–४८]

[4] मुनि हजारीमल स्मृति ग्रन्थ पृ. ६०९–६२९

[5] बाबू छोटेलाल जैन स्मृति ग्रन्थ पृ. २०५

[6] विल ड्यूरेण्ट : द स्टोरी ऑव सिविलिजेशन (ओवर अरियण्टल हेरिटेज) १९५४ पृ० २१९

[7] वही पृ. १२७

के एक धर्मशास्त्र में 'अर्हंशम्म' का उल्लेख मिलता है।[1] 'अर्हं' शब्द अर्हंत का ही संक्षिप्त रूप जान पड़ता है।

हित्ती जाति पर भी भगवान् ऋषभदेव का प्रभाव जान पड़ता है। उनका मुख्य देवता 'ऋतुदेव' था। उसका वाहन बैल था, जिसे 'तेशुव' कहा जाता था, जो तित्थयर 'उसभ' का अपभ्रंश ज्ञात होता है।[2]

ऋग्वेद में भगवान् ऋषभ का उल्लेख अनेक स्थलों पर हुआ है।[3] किन्तु टीकाकारों ने साम्प्रदायिकता के कारण अर्थ में परिवर्तन कर दिया है जिसके कारण कई स्थल विवादास्पद हो गये हैं। जब हम उन ऋचाओं का साम्प्रदायिक पूर्वाग्रह का चश्मा उतार कर अध्ययन करते हैं तब स्पष्ट ज्ञात होता है कि यह भगवान् ऋषभदेव के सम्बन्ध में ही कहा गया है।

वैदिक ऋषि भक्ति-भावना से विभोर होकर ऋषभदेव की स्तुति करता हुआ कहता है –

"हे आत्मद्रष्टा प्रभो! परमसुख पाने के लिए मैं तेरी शरण में आना चाहता हूँ, क्योंकि तेरा उपदेश और तेरी वाणी शक्तिशाली है – उनको मैं अवधारण करता हूँ। हे प्रभो! सभी मनुष्यों और देवों में तुम्हीं पहले पूर्वयाया (पूर्वगत ज्ञान के प्रतिपादक) हो।"[4]

ऋषभदेव का महत्त्व केवल श्रमण परम्परा में ही नहीं अपितु ब्राह्मण परम्परा में भी रहा है। वहां उन्हें आराध्यदेव मानकर मुक्तकंठ से गुणानुवाद किया गया है। सुप्रसिद्ध वैदिक साहित्य के विद्वान् प्रो० विरूपाक्ष एम. ए., वेदतीर्थ और आचार्य विनोबा भावे जैसे बहुश्रुत विचारक ऋग्वेद आदि में ऋषभदेव की स्तुति के स्वर सुनते हैं।[5]

---

[1] वही, पृ० १९९

[2] विदेशी संस्कृतियों में अहिंसा – डॉ० कामता प्रसाद जैन गुरुदेव रत्नमुनि स्मृति ग्रन्थ, पृ० ४०३

[3] ऋग्वेद संहिता

मण्डल १	अध्याय २४	सूत्र १९०	मंत्र १
,, २	,, ४	,, ३३	,, १५
,, ५	,, २	,, २८	,, ४
,, ६	,, १	,, १	,, ८
,, ६	,, २	,, १९	,, ११
,, १०	,, १२	,, २६	,, १
			आदि २

[4] मरवस्य ते तीवषस्य प्रजूतिमियर्भि वाचमृताय भूषन्
इन्द्र क्षितीमामास मानुषीणां विशां दैवी नामुत पूर्वयामा [ऋग्वेद २।३४।२]

[5] पूज्य गुरुदेव रत्नमुनि स्मृति ग्रन्थ इतिवृत्त

ऋग्वेद में भगवान् ऋषभदेव के लिए 'केशी' शब्द का प्रयोग हुआ। वातरशन मुनि के प्रकरण में केशी की स्तुति की गई है जो स्पष्ट रूप से भग ऋषभदेव से सम्बन्धित है।[1]

ऋग्वेद के दूसरे स्थल पर केशी और ऋषभ का एक साथ वर्णन हुआ जिस सूक्त में यह ऋचा आयी है उसकी प्रस्तावना में निरुक्त के जो 'मुद्ग हृता गावः' प्रभूति श्लोक उट्टङ्कित किए गए हैं, उनके अनुसार मुद्गल ऋषि गायें तस्कर चुरा कर ले गये थे। उन्हें लौटाने के लिए ऋषि ने केशी वृष अपना सारथी बनाया, जिसके वचन मात्र से गायें आगे न भाग कर पीछे की लौट पड़ीं। प्रस्तुत ऋचा पर भाष्य करते हुए आचार्य सायण ने पहले तो और केशी का वाच्यार्थ पृथक् बताया किन्तु प्रकारान्तर से उन्होंने उसे किया है।[3]

मुद्गल ऋषि के सारथी (विद्वान् नेता) केशी वृषभ जो शत्रुओं का करने के लिए नियुक्त थे, उनकी वाणी निकली, जिसके फल स्वरूप जो ऋषि की गायें (इन्द्रियां) जुते हुए दुर्धर रथ (शरीर) के साथ दौड़ वे निश्चल होकर मौद्गलानी (मुद्गल की स्वात्मवृत्ति) की ओर लौट पड़ीं

सारांश यह है कि मुद्गल ऋषि की जो इन्द्रियां पराङ्मुखी थीं, वे योगयुक्त ज्ञानी नेता केशी वृषभ के धर्मोपदेश को सुनकर अन्तर्मुखी हो गईं।

जैन साहित्य के अनुसार जब भगवान् ऋषभदेव साधु बने उस उन्होंने चार मुष्टि केशों का लोच किया था।[4] सामान्य रूप से पांच केश लोच करने की परम्परा रही है। भगवान् केशों का लोच कर रहे थे। भागों के केशों का लोच करना अवशेष था। उस समय शक्रेन्द्र की प्रार्थ भगवान् ने उसी प्रकार रहने दिया।[5] यही कारण है केश रखने से वे के केशरियाजी के नाम से विश्रुत हुए। जैसे सिंह अपने केशों के कारण से

[1] केश्यग्निं केशी विषं केशी बिभर्ति रोदसी।
केशी विश्वं स्वर्दृशे केशीदं ज्योतिरुच्यते ॥ [ऋग्वेद १०।१३६, १]

[2] ककर्दवे वृषभो युक्त आसीद्
अवावचीत् सारथिरस्य केशी
दुधर्युक्तस्य द्रवतः सहानस
ऋच्छन्ति मा निष्पदो मुद्गलानीम् ॥ [ऋग्वेद १०।१०२, ६]

[3] अथवा, अस्य सारथिः सहायभूतः केशी प्रकृष्टकेशो
वृषभः अवावचीत् भ्रशमशब्दयत् इत्यादि [सायणभाष्य]

[4] (क) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति [वक्षस्कार २, सूत्र ३०]
(ख) सयमेव चउमुट्ठियं लोयं करेइ... [कल्पसूत्र, सूत्र १९५]
(ग) उच्चखान चतुसृभिर्मुष्टिभिः शिरसः कचान्
चतुसृभ्यो दिग्भ्यः शेषामिव दातुमना प्रभुः [त्रिषष्टि १।३।६७]

[5] जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति वक्षस्कार २, सूत्र ३० की वृत्ति

कहलाता है वैसे ही ऋषभदेव भी केशी, केशरी और केशरियाजी के नाम से पुकारे जाते हैं।

भगवान् ऋषभदेव, आदिनाथ[1] 'हिरण्यगर्भ'[2] और ब्रह्मा आदि[3] नामों से भी अभिहित हुए हैं।

जैन और वैदिक साहित्य में जिस प्रकार विस्तार से भगवान् ऋषभदेव का चरित्र चित्रित किया गया है वैसा बौद्ध साहित्य में नहीं हुआ है। केवल कहीं-कहीं पर नाम निर्देश अवश्य हुआ है। जैसे धम्मपद में 'उसभं पवरं वीरं।[4] गाथा में अस्पष्ट रीति से ऋषभदेव और महावीर का उल्लेख हुआ है।[5] बौद्धाचार्य धर्मकीर्ति ने सर्वज्ञ आप्त के उदाहरण में ऋषभ और महावीर का निर्देश किया है और बौद्धाचार्य आर्य देव भी ऋषभदेव को ही जैन धर्म का आद्य-प्रचारक मानते हैं। 'आर्य मंजुश्री मूलकल्प' में भारत के आदि सम्राटों में नाभि-पुत्र ऋषभ और ऋषभ पुत्र भरत की गणना की गई है।[6]

आधुनिक प्रतिभा-सम्पन्न मूर्धन्य चिन्तक भी इस सत्य तथ्य को बिना संकोच स्वीकार करने लगे हैं कि भगवान् ऋषभदेव से ही जैन धर्म का प्रादुर्भाव हुआ है।

डॉक्टर हर्मन जेकोबी लिखते हैं कि इसमें कोई प्रमाण नहीं कि पार्श्वनाथ जैन धर्म के संस्थापक थे। जैन परम्परा प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव को ही जैन धर्म का संस्थापक मानने में एकमत है। इस मान्यता में ऐतिहासिक सत्य की अत्यधिक संभावना है।[7]

डॉक्टर राधाकृष्णन्[8], डॉक्टर स्टीवेन्सन[9] और जयचन्द्र विद्यालंकार[10] प्रभृति अन्य अनेक विज्ञों का भी यही अभिमत रहा है।[11]

तीर्थंकर, अजित, संभव, सुमति, श्रेयांस, अनन्त, शान्ति और अर आदि

---

[1] ऋषभदेव : एक परिशीलन, पृ० ६६ [देवेन्द्र मुनि]

[2] (क) हिरण्यगर्भो योगस्य, वेत्ता नान्यः पुरातनः [महाभारत, शान्ति पर्व]
(ख) विशेष विवेचन के लिए देखिए कल्पसूत्र की प्रस्तावना [देवेन्द्र मुनि]

[3] ऋषभदेव : एक परिशीलन [देवेन्द्र मुनि पृ० ६१—६२]

[4] धम्मपद ४।२२

[5] इण्डियन हिस्टारिक क्वार्टरली, भाग ३, पृ० ४७३—७५

[6] प्रजापतेः सुतोनाभि तस्यापि आगमुच्यति नाभिनो ऋषभपुत्रो वै सिद्धकर्म दृढव्रतः
[आर्य मंजु श्री मूलकल्प ३९०]

[7] इण्डि० एण्डि०, जिल्द ९, पृ० १६३

[8] भारतीय दर्शन का इतिहास, जिल्द १, पृ० २८७

[9] कल्पसूत्र की भूमिका डॉ. स्टीवेन्सन

[10] भारतीय इतिहास की रूपरेखा, पृ० ३८४

[11] (क) जैन साहित्य का इतिहास — पूर्व पीठिका, पृ० १०८
(ख) हिन्दी विश्वकोष, भाग ३, पृ० ४४४

तीर्थंकरों के सम्बन्ध में वैदिक और बौद्ध परम्परा में भी उल्लेख है।[1]
तीर्थंकर प्रागैतिहासिक काल में हुए हैं।

अरिष्टनेमि

भगवान् अरिष्टनेमि बाईसवें तीर्थंकर हैं। आधुनिक ऐतिहासिक जो साम्प्रदायिक पूर्वाग्रह से मुक्त हैं और शुद्ध ऐतिहासिक दृष्टि सम्पन्न भगवान् अरिष्टनेमि को भी एक ऐतिहासिक पुरुष मानते हैं।

तीर्थंकर अरिष्टनेमि और वासुदेव श्रीकृष्ण दोनों समकालीन ही वंशोद्भव भाई-भाई हैं। दोनों अपने समय के महान् व्यक्ति हैं किन्तु जीवन-दिशाएं भिन्न-भिन्न रही हैं। एक धर्मवीर हैं तो दूसरे कर्मवीर निवृत्तिपरायण हैं तो दूसरे प्रवृत्तिपरायण हैं। एक प्रवृत्ति के द्वारा प्रगति के पथ पर अग्रसर होते हैं तो दूसरे निवृत्ति को प्रधान बनाकर त्मिक विकास के सोपानों पर आरूढ़ होते हैं।

भगवान् अरिष्टनेमि के युग का गंभीरतापूर्वक पर्यालोचन करने पर हो जाता है कि उस युग के क्षत्रियों में मांस-भक्षण की प्रवृत्ति पर्याप्त बढ़ गई थी। उनके विवाह के अवसर पर पशुओं का एकत्र किया जाना को उजागर करता है। हिंसा की इस पैशाचिक प्रवृत्ति की ओर जन-सा ध्यान आकर्षित करने के लिए और क्षत्रियों को मांस-भक्षण से विरत करने श्री अरिष्टनेमि ने जो पद्धति अपनाई, वह अद्भुत और असाधारण थी। विवाह किये बिना लौट जाना मानों समग्र क्षत्रिय-जाति के पापों का प्र था। उसका बिजली का सा प्रभाव दूर-दूर तक और बहुत गहरा हुआ।

एक सुप्रतिष्ठित महान् राजकुमार का दूल्हा बनकर जाना और पर विवाह किए बिना लौट जाना क्या साधारण घटना थी? भगवान् का वह बड़े से बड़ा त्याग था और उस त्याग ने एक बार समाज को दिया था। समाज के हित के लिए आत्मबलिदान का ऐसा दूसरा कोई मिलना कठिन है। इस आत्मोत्सर्ग ने अभक्ष्य-भक्षण करने वाले क्षणिक सुख के लिए दूसरों के जीवन के साथ खिलवाड़ करने वाले आँखें खोल दीं, आत्मालोचन के लिए विवश कर दिया और उन्हें अपने एवं दायित्व का स्मरण करा दिया। इस प्रकार परम्परागत अहिंसा के एवं विस्मृत बने संस्कारों को उन्होंने पुनः पुष्ट, जागृत व सजीव और अहिंसा की संकीर्ण बनी परिधि को विशालता प्रदान की — पशु पक्षियों को भी अहिंसा की परिधि में समाहित कर दिया। जगत् भगवान् का यह उद्बोधन एक अपूर्व वरदान था और वह आज तक भी नहीं जा सकता है।

---

[1] देखिये कल्पसूत्र की प्रस्तावना [देवेन्द्र मुनि, पृ० २५ से २७ श्री अमरजैन आ संस्थान, गढ़ सिवाना से प्रकाशित]

वेद, पुराण और इतिहासकारों की दृष्टि से भगवान् अरिष्टनेमि का क्या महत्त्व है, इस प्रश्न पर प्रस्तुत ग्रन्थ में 'ऐतिहासिक परिपार्श्व'[1] शीर्षक के अन्तर्गत प्रमाण-पुरस्सर विवेचन किया गया है।

जैन ग्रन्थों की तरह वैदिक हरिवंश पुराण में श्रीकृष्ण और भगवान् अरिष्टनेमि का वंश वर्णन प्राप्त है।[2] उसमें श्रीकृष्ण को अरिष्टनेमि का चचेरा भाई होना लिखा है। जैन और वैदिक परम्परा में अन्तर यही है कि जैन परम्परा में भगवान् अरिष्टनेमि के पिता समुद्रविजय को वसुदेव का बड़ा भाई माना है। वे दोनों सहोदर थे; जबकि वैदिक हरिवंश पुराण में चित्रक और वसुदेव को चचेरा भाई माना है। श्रीमद्भागवत में चित्रक का नाम चित्ररथ दिया है। संभव है वैदिक ग्रन्थों में समुद्रविजय का ही अपर नाम चित्रक या चित्ररथ आया हो।

मैंने अपने 'भगवान् अरिष्टनेमि और कर्मयोगी श्रीकृष्ण : एक अनुशीलन'[3] ग्रन्थ में विस्तार से प्रकाश डाला है तथा प्रस्तुत ग्रन्थ में भी इस पर ख़ासी अच्छी चर्चा की गई है। अतः यहाँ पर पुनरावृत्ति करना उचित नहीं है। पाठकों को वे स्थल ध्यानपूर्वक पढ़ने चाहिए जिससे अनेक शंकाओं का स्वतः ही निरसन हो जायेगा।

भगवान् पार्श्व

भगवान् पार्श्व को पौर्वात्य और पाश्चात्य सभी इतिहासविज्ञों ने ऐतिहासिक पुरुष माना है, जिसके सम्बन्ध में सप्रमाण वर्णन मूल ग्रन्थ में किया गया है।[4]

भगवान् पार्श्व भारतीय संस्कृति के एक जाज्वल्यमान नक्षत्र रहे हैं। वे श्रमण-संस्कृति के उन्नायक थे। जैन और बौद्ध ये दोनों परम्पराएँ उनसे प्रभावित रही हैं।

तथागत बुद्ध ने अपने प्रमुख शिष्य सारिपुत्र से कहा – "सारिपुत्र! बोधि-प्राप्ति से पूर्व मैं दाढ़ी-मूछों का लुंचन करता था। मैं खड़ा रहकर तपस्या करता था। उकड़ू बैठकर तपस्या करता था, मैं नंगा रहता था। लौकिक आचारों का पालन नहीं करता था। हथेली पर भिक्षा लेकर खाता था। बैठे हुए स्थान पर आकर दिये हुए अन्न को, अपने लिए तैयार किये हुए अन्न को और निमंत्रण को भी स्वीकार नहीं करता था।"[5]

---

1 जैन धर्म का मौलिक इतिहास, पृ० २३६ से २४१ तक

2 देखिए प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० २४१ से २४८

3 प्रकाशक – श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय, पदराड़ा, जिला उदयपुर (राजस्थान), परिशिष्ट ३, वंश-परिचय ३८७ से ३६४

4 जैन धर्म का मौलिक इतिहास – 'भ० पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता', पृ० ३०३-३०५

5 (क) मज्झिमनिकाय – महासिंहनाद सुत्त १।१।२
(ख) भगवान् बुद्ध – धर्मानन्द कोसाम्बी, पृ० ६८-६६

यह सारा आचार जैन श्रमणों का है। कुछ स्थविर कल्पिक है और जिन कल्पिक है। दोनों प्रकार के आचारों का उनके जीवन में संमिश्रण पं० सुखलालजी[1] और पं० धर्मानन्द कौसाम्बी[2] ने भी यही अभिप्राय अभि[व्यक्त] किया है कि बुद्ध ने कुछ समय के लिए भगवान् पार्श्व की परम्परा स्वीकार की थी।

सुप्रसिद्ध इतिहासकार डॉ० राधा मुकर्जी[3] और श्रीमती राइस डे[विड्स][4] का भी यही मत है। स्पष्ट है कि बुद्ध की साधना-पद्धति भगवान् पार्श्वना[थ के] सिद्धान्तों से प्रभावित थी।

श्रमण संस्कृति ही नहीं अपितु वैदिक संस्कृति भी भगवान् पार्श्व[से] प्रभावित हुई। वैदिक संस्कृति में पहले भौतिकता का स्वर मुखरित था। भ[गवान्] पार्श्व ने उस भौतिकवादी स्वर को आध्यात्मिकता की ओर मोड़ा।

वैदिक संस्कृति का मूल वेद है। वेदों में आध्यात्मिक चर्चाएँ नहीं हैं। अनेक देवों की भव्य-स्तुतियाँ और प्रार्थनाएँ की गई हैं। द्युतिमान होना [देव] का मुख्य लक्षण है। प्रकृति के जो रमणीय दृश्य और विस्मयजनक व चम[त्कार]पूर्ण जो घटनाएँ थीं उनको सामान्य रूप से देवकृत कहा गया। आधिभौ[तिक] आधिदैविक और आध्यात्मिक ये तीन देव के प्रकार माने गए हैं। इन दृष्टियों से देवत्व का प्रतिपादन वैदिक ग्रन्थों में प्राप्त होता है। स्थान-[भेद] से तीन देवता प्रमुख हैं। पृथ्वी स्थान देव–इसमें अग्नि को मुख्य माना ग[या] अन्तरिक्ष स्थान देव – इसमें इन्द्र और वायु को मुख्य स्थान दिया ग[या] द्यु-स्थान देव–जिनमें सूर्य और सविता मुख्य हैं। इन तीन देवों की स्तु[ति] विभिन्न रूपों में विभिन्न स्थानों पर की गई है। इन देवों के अतिरिक्त अ[न्य] की भी स्तुतियाँ की गई हैं। ऋग्वेद की तरह, सामवेद, यजुर्वेद और अ[थर्व] में भी यही है।

उसके पश्चात् ब्राह्मण ग्रन्थ आते हैं। उनमें भी यज्ञ के विधि-विधा[न का] ही विस्तार से वर्णन है–यज्ञ किस प्रकार किया जाय, उनके लिए किन साध[नों की] आवश्यकता है। यज्ञों के लिए कौन अधिकारी है। यज्ञों के सम्बन्ध में विरोध भी प्रतीत होता है। उसका परिहार भी ब्राह्मण ग्रन्थों में किया ग[या] उसके पश्चात् संहिता साहित्य आता है। संहिता और ब्राह्मण ग्रन्थों में भेद यही है कि संहिता स्तुति-प्रधान है और ब्राह्मण विधि-प्रधान है।

उसके पश्चात् उपनिषद् साहित्य आता है। उसमें यज्ञों का विरो[ध]

---

[1] चार तीर्थंकर, जैन संस्कृति संशोधक मण्डल, वाराणसी, पृ० १४०–१४१
[2] पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म पृ० २८–३१
[3] हिन्दू सभ्यता, ले० राधाकुमुद मुकर्जी, अनु० डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, रा[ज] प्रकाशन, दिल्ली १९५५, पृ० २३९
[4] Mrs Rhys Davids Gautama The Man, pp. 22–25

अध्यात्म-विद्या की चर्चा है – हम कौन हैं, कहाँ से आये हैं, कहां जायेंगे – आदि प्रश्नों पर विचार किया गया है।[1] अध्यात्म-विद्या श्रमण संस्कृति की देन है।

आचार्य शंकर ने दस उपनिषदों पर भाष्य लिखा है। उनके नाम इस प्रकार हैं – ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य और वृहदारण्यक।

डॉक्टर वेलकर और रानाडे के अनुसार प्राचीन उपनिषदों में मुख्य ये हैं – छान्दोग्य, वृहदारण्यक, ईश, कठ, ऐतरेय, तैत्तिरीय, मुण्डक, कौषीतकी, केन और प्रश्न[2]।

आर्थर ए० मैकडॉनल के अभिमतानुसार प्राचीनतम वर्ग वृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय और कौषीतकी उपनिषद् का रचनाकाल ईसा पूर्व ६०० है।[3]

एच० सी० राय चौधरी का मत है कि विदेह के महाराज जनक याज्ञवल्क्य के समकालीन थे। याज्ञवल्क्य, वृहदारण्यक और छान्दोग्य उपनिषद् के मुख्य पात्र पाँच हैं। उनका काल-मान ईसा पूर्व सातवीं शताब्दी है। प्रस्तुत ग्रन्थ पृष्ठ ६७ में लिखा है – "जैन तीर्थंकर पार्श्व का जन्म ईसा पूर्व ८७७ और निर्वाणकाल ईसा पूर्व ७७७ है।" इससे भी यही सिद्ध है कि प्राचीनतम उपनिषद् पार्श्व के पश्चात् के हैं।[4]

डाक्टर राधाकृष्णन् की धारणा के अनुसार प्राचीनतम उपनिषदों का काल-मान ईसा पूर्व आठवीं शताब्दी से ईसा की तीसरी शताब्दी तक है।[5]

स्पष्ट है कि उपनिषद् साहित्य भगवान् पार्श्व के पश्चात् निर्मित हुआ है। भगवान् पार्श्व ने यज्ञ आदि का अत्यधिक विरोध किया था। आध्यात्मिक साधना पर बल दिया था, जिसका प्रभाव वैदिक ऋषियों पर भी पड़ा और उन्होंने उपनिषदों में यज्ञों का विरोध किया[6]। उन्होंने स्पष्ट कहा – "यज्ञ विनाशी और दुर्बल साधन है। जो मूढ़ हैं, वे इनको श्रेय मानते हैं, वे बार-बार जरा और मृत्यु को प्राप्त होते रहते हैं।"

मुण्डकोपनिषद् में विद्या के दो प्रकार बताए हैं–परा और अपरा। परा विद्या वह है जिससे ब्रह्म की प्राप्ति होती है और इससे भिन्न अपरा विद्या है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष–यह अपरा है[7]।

---

[1] केनोपनिषद् १

[2] हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलासफ़ी, भाग २, पृ० ८७–९०।

[3] History of the Sanskrit Literature, p. 226.

[4] पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शियण्ट इण्डिया, पृ० ५२।

[5] दी प्रिंसिपल उपनिषदाज्, पृ० २२।

[6] प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति॥ [मुण्डकोपनिषद् १।२।७]

[7] माण्डूक्य १।१।४।५

महाभारत में महर्षि बृहस्पति ने प्रजापति मनु से कहा – "मैंने ऋक्, [illegible] यजुर्वेद, अथर्ववेद, नक्षत्र-गति, निरुक्त, व्याकरण, कल्प और शिक्षा का भी अ[illegible]यन किया है तो भी मैं आकाश आदि पाँच महाभूतों के उपादान कारण को [illegible] जान सका।"[1]

प्रजापति मनु ने कहा – "मुझे इष्ट की प्राप्ति हो और अनिष्ट का निवा[illegible] हो, इसीलिए कर्मों का अनुष्ठान प्रारम्भ किया गया है। इष्ट और अनिष्ट [illegible] ही मुझे प्राप्त न हों एतदर्थ ज्ञानयोग का उपदेश दिया गया है। वेद में जो [illegible] के प्रयोग बताए गए हैं वे प्रायः सकाम भाव से युक्त हैं। जो इन कामनाओं [illegible] मुक्त होता है वही परमात्मा को पा सकता है। नाना प्रकार के कर्ममार्ग में [illegible] की इच्छा रखकर प्रवृत्त होने वाला मानव परमात्मा को प्राप्त नहीं होता।"[2]

उपनिषदों के अतिरिक्त महाभारत और अन्य पुराणों में भी ऐसे अ[illegible] स्थल हैं जहां आत्म-विद्या या मोक्ष के लिए वेदों की असारता प्रकट की गई [illegible] आचार्य शंकर ने श्वेताश्वतर भाष्य में एक प्रसंग उट्टङ्कित किया है। भृगु ने [illegible] पिता से कहा – "त्रयी-धर्म अधर्म का हेतु है। यह किंपाक फल के समान है। [illegible] तात ! सैकड़ों दुःखों से पूर्ण इस कर्म-काण्ड में कुछ भी सुख नहीं है। अतः [illegible] के लिए प्रयत्न करने वाला मैं त्रयी-धर्म का किस प्रकार सेवन कर सकता हूं।"[3]

गीता में भी यही कहा है कि त्रयी-धर्म (वैदिक धर्म) में लगे रहते [illegible] सकाम पुरुष संसार में आवागमन करते रहते हैं।[4] आत्म-विद्या के लिए [illegible] की असारता और यज्ञों के विरोध में आत्मयज्ञ की स्थापना यह वैदिक [illegible] परम्परा की ही देन है।[5]

उपनिषदों में श्रमण संस्कृति के शब्द भी व्यवहृत हुए हैं। जैन [illegible] साहित्य में 'कषाय' शब्द का प्रयोग सहस्राधिक बार हुआ है किन्तु वैदिक सा[illegible] में रागद्वेष के अर्थ में इस शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। छान्दोग्योपनिष[illegible] 'कषाय' शब्द का राग-द्वेष के अर्थ में प्रयोग हुआ है।[6] इसी प्रकार 'त[illegible]

---

१ महाभारत, शान्तिपर्व २०१।८

२ महाभारत, शान्तिपर्व २०१।१०।११

३ त्रयीधर्ममधर्मार्थं किंपाकफलसन्निभम् ।
नास्ति तात ! सुखं किंचिदत्र दुःखशताकुले ।।
तस्मान् मोक्षाय यतता कथं सेव्या मया त्रयी । [श्वेताश्वतर, पृ० २३]

४ भगवद्गीता, ९।२१

५ छान्दोग्य उपनिषद् ८।५।१,
बृहदारण्यक २।२।९, १०

६ मृदित कषायाय [छान्दोग्य उपनिषद् ७।२६]
[शंकराचार्य ने इस पर भाष्य लिखा है – मृदित कषायाय वार्क्षादिरिव कषायो राग-द्वेषादि दोषः सत्त्वस्य रंजना रूपत्वात्]

शब्द भी जैन साहित्य में अनेक स्थलों पर आया है पर वैदिक साहित्य में नहीं। जैन साहित्य की तरह ही माण्डुक्य उपनिषद् में भी 'तायी' शब्द का प्रयोग हुआ है।[१]

मुण्डक छान्दोग्य प्रभृति उपनिषदों में ऐसे अनेक स्थल हैं जहाँ पर श्रमण संस्कृति की विचारधाराएं स्पष्ट रूप से झलक रही हैं। जर्मन विद्वान् हर्टले ने यह सिद्ध किया है कि मुण्डकोपनिषद् में प्रायः जैन-सिद्धान्त जैसा वर्णन है और जैन पारिभाषिक शब्द भी वहाँ व्यवहृत हुए हैं।[२]

वृहदारण्यक के याज्ञवल्क्य कुषीतक के पुत्र कहोल से कहते हैं – "यह वही आत्मा है जिसे जान लेने पर ब्रह्मज्ञानी पुत्रैषणा वित्तैषणा और लोकैषणा से मुंह फेर कर ऊपर उठ जाते हैं। भिक्षा से निर्वाह कर सन्तुष्ट रहते हैं।

.........जो पुत्रैषणा है, वही लोकैषणा है।"[३]

इसिभासियं में भी इसिभासिय को याज्ञवल्क्य एषणा-त्याग के पश्चात् भिक्षा से संतुष्ट रहने की बात कहते हैं।[४] तुलनात्मक दृष्टि से जब हम चिन्तन करते हैं तब ज्ञात होता है कि दोनों के कथन में कितनी समानता है। वैदिक विचारधारा के अनुसार सन्तानोत्पत्ति को आवश्यक माना है। वहाँ पर पुत्रैषणा के त्याग को कोई स्थान नहीं है। वृहदारण्यक में एषणा-त्याग का विचार आया है वह श्रमण-संस्कृति की देन है।

एम० विण्टरनिट्ज ने अर्वाचीन उपनिषदों को अवैदिक माना है[५] किन्तु यह भी सत्य है कि प्राचीनतम उपनिषद् भी पूर्ण रूप से वैदिक विचारधारा के निकट नहीं हैं, उन पर भगवान् अरिष्टनेमि और भगवान् पार्श्वनाथ की विचार-धारा का स्पष्ट प्रभाव है।

यह माना जाता है कि यूनान के महान् दार्शनिक 'पाईथोगारेस' भारत आये थे और वे भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा के श्रमणों के सम्पर्क में रहे।[६] उन्होंने उन श्रमणों से आत्मा, पुनर्जन्म, कर्म आदि जैन सिद्धान्तों का अध्ययन किया और फिर वे विचार उन्होंने यूनान की जनता में प्रसारित किये। उन्होंने मांसाहार का विरोध किया। कितनी ही वनस्पतियों का भक्षण भी धार्मिक दृष्टि से त्याज्य बतलाया। उन्होंने पुनर्जन्म को सिद्ध किया। आवश्यकता है तटस्थ दृष्टि से इस पर अन्वेषण करने की।

---

[१] माण्डूक्य उपनिषद् ६६

[२] इण्डो इरेनियन मूलग्रन्थ और संशोधन, भाग ३

[३] वृहदारण्यक ३।५।१

[४] इसिभासियाइं १२।१-२

[५] प्राचीन भारतीय साहित्य, पृ० १६०-१६१

[६] संस्कृति के अंचल में – देवेन्द्र मुनि, पृ० ३३-३४

भगवान् पार्श्व का विहार-क्षेत्र आर्य और अनार्य दोनों देश रहे हैं। दो
ही देश के निवासी उनके परम भक्त रहे हैं।[1]

भारतीय इतिहास का जब हम गहराई से पर्यवेक्षण करते हैं तब स्
ही परिज्ञात होता है कि आज से छब्बीस सौ वर्ष पूर्व भारत की सामाजि
धार्मिक स्थिति बड़ी विचित्र थी। धर्म का आध्यात्मिक पक्ष प्रायः गौण
चुका था। धर्म के नाम पर कर्मकाण्ड का अधिक चलन था। बाह्य क्रियाका
और आडम्बर धर्म की श्रेष्ठता व ज्येष्ठता का मापदण्ड बन गया था, जि
नेतृत्व एक वर्ग-विशेष ने अपने हाथ में ले रखा था। उन्होंने धार्मिक साहि
को सरल-सरस जन-भाषा में न रखकर जटिल व दुरूह संस्कृत भाषा
आबद्ध कर दिया था। वे ग्रन्थ जनभोग्य न होकर विद्वद्भोग्य हो गए थे। ज
साधारण का सम्बन्ध उन धार्मिक ग्रन्थों से छूट गया था। उन्होंने जन्मग
जातिमद से ग्रसित होकर 'स्त्रीशूद्रौ नाधीयेताम्' प्रभृति आज्ञाएं प्रसारित
जिनसे जनमानस विक्षुब्ध हो उठा। ऊँच-नीच की भावनाएं पनपने लगीं।
समय धर्म भावशून्य बाह्य कर्मकाण्डों और मिथ्या आडम्बरों के निविड़ बं
में आबद्ध किया जा चुका था।

भारत का पूर्वीय भाग मुख्य रूप से हिंसापूर्ण यज्ञ-यागादि कर्मका
का केन्द्र था। धार्मिक दासता चारों ओर अपना प्रभुत्व जमा रही थी। ज
मानस उस विकृत वातावरण से ऊब चुका था और वह किसी दिव्य-भव्य प्रका
पुञ्ज की अपलक प्रतीक्षा कर रहा था जो उसे धर्म का प्रशस्त एवं
मार्गदर्शन कर सके।

ऐसे समय में चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन मगध के विदेह जनपद
वैशाली के क्षत्रिय कुण्ड के अधिपति राजा सिद्धार्थ और रानी त्रिशला के
भगवान् महावीर का जन्म हुआ।[2]

उनका बचपन यौवन के चौखट पर पहुँचता है, पर उसमें न मर्यादा
उन्माद है, न भोगलिप्सा और न विह्वलता है। माता-पिता के आग्रह
विवाह करते हैं, संसार में रहते भी हैं पर जल-कमलवत् निर्लिप्त स्थिति में।

मार्गशीर्ष दशमी के दिन तीस वर्ष की अवस्था में वे एकाकी संय
कठोर कंटकाकीर्ण महामार्ग पर बढ़ते हैं। साधनाकाल में वे एकान्त-
निर्जन स्थानों में जाकर खड़े हो जाते हैं। चिन्तन की गहराई में उतरते
हैं। उनके साधनाकाल का रोमांचकारी वर्णन आवश्यक चूर्णी, महावीर च
त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र आदि ग्रन्थों में विस्तार के साथ दिया गया
महावीर की प्रस्तुत उग्र साधना जैन तीर्थंकरों के जीवन में सबसे कठोर

[1] देखिए – भगवान् पार्श्व : एक समीक्षात्मक अध्ययन, पृष्ठ १११-११४

[2] कल्पसूत्र ९३

इतिहासकार आचार्य भद्रबाहु ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है : "सब अर्हंतों एवं तीर्थंकरों में वर्धमान महावीर का तपःकर्म उग्र था।"[1]

बारह वर्ष, छह मास तक उन्होंने कठोर साधना में अपने को तपाया, दुःसह कष्टों को सहन किया और आधिभौतिक एवं आधिदैविक घोर उपसर्गों के झंझावात में भी अचल हिमालय की भांति साधना का निष्कंप दीप जलाते रहे। अन्त में वैशाख शुक्ला दशमी के दिन उन्होंने महाप्रकाश प्राप्त कर लिया। वे स्वयं ज्योतिर्मय बन गये। अल्पज्ञ से सर्वज्ञ बन गये।

भगवान् वहां से मध्यम पावापुरी पधारे। समवसरण की रचना हुई। सभी उपस्थित हुए। उस युग के दिग्गज विद्वान् सर्वशास्त्र-पारंगत इन्द्रभूति भी आये। प्रभु की तेजोदीप्त मुखमुद्रा ने पहले ही क्षण इन्द्रभूति को खींच लिया और जब प्रभु की वाणी में स्वतः उनके मानसिक संदेह का निराकरण हुआ, तो वे श्रद्धा से गद्गद हो उठे। वे प्रभु के चरणों में झुक गये, परम सत्य का दर्शन पाकर कृतार्थ हो गये। प्रभु ने इन्द्रभूति की चिन्तनधारा को नया मोड़ दिया, अनेकान्त की दृष्टि दी, सत्य को समझने के नये मान और विधान दिये। द्वादशाङ्गी के गहन ज्ञान की कुञ्जी 'उप्पन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा' के रूप में प्रदान की। इस प्रकार उत्पत्ति, स्थिति और विलय की यह त्रिपदी वामन रूप धारी विष्णु के तीन पैरों की तरह विश्व के सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान को नापने वाली सिद्ध हुई।

भगवान् महावीर कहां-कहां पर किस रूप में धर्म की ज्योति जगाते रहे, कौन-कौन उनके अनुयायी बने, कौन-कौन उनके प्रतिस्पर्धी थे, आदि पर विस्तार से प्रस्तुत ग्रन्थ में विवेचन किया गया है अतः मैं उन सभी विषयों पर प्रकाश न डालकर मूल ग्रन्थ पढ़ने की प्रबल प्रेरणा देता हूँ।

महावीर के सिद्धान्त

श्रमण भगवान् महावीर ने आचार के क्षेत्र में अहिंसा की प्रतिष्ठा की। अहिंसा जैनाचार का प्राण है। अहिंसा का जितना सूक्ष्म विवेचन और विश्लेषण जैन आचार-परम्परा में उपलब्ध है उतना किसी भी जैनेतर परम्परा में नहीं। अहिंसा का मूल आधार आत्मसाम्य है। प्रत्येक आत्मा चाहे वह पृथ्वीकाय हो, अप्काय हो, तेउकाय हो, वायुकाय हो, वनस्पतिकाय हो, या त्रसकाय हो, तात्त्विक दृष्टि से सभी समान हैं। सुख-दुःख का अनुभव, जीवन-मरण की प्रतीति, प्रत्येक प्राणी में समान होती है; जैसे हमें अपना जीवन प्रिय है मरण अप्रिय है, सुख प्रिय है दुःख अप्रिय है, अनुकूलता प्रिय है प्रतिकूलता अप्रिय है, मृदुता प्रिय है कठोरता अप्रिय है, स्वतंत्रता प्रिय है और परतंत्रता अप्रिय है। एतदर्थ हमारा कर्तव्य है कि हम किसी को भी कष्ट एवं बाधा न

---

1. उग्गं च तवोकम्मं विसेसओ वद्धमाणस्स [आवश्यक निर्युक्ति, गा० २००]

पहुँचावें। केवल तन से ही नहीं अपितु मन और वचन से भी इस प्रकार... और उच्चारण न करें। मन, वचन और काया से किसी भी प्राणी को... मात्र भी कष्ट नहीं देना पूर्ण अहिंसा है। एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय... अहिंसक भावना जैन दर्शन की अपनी मौलिक देन है।

अहिंसा को केन्द्र-बिन्दु मानकर अमृषावाद, अस्तेय, अमैथुन... अपरिग्रह का विकास हुआ। आत्मिक विकास के लिए और कर्म-बंधन को... के लिए इनकी अनिवार्यता स्वीकार की गई।

जिस प्रकार आचार के क्षेत्र में अहिंसा को प्रधानता दी गई उसी... विचार के क्षेत्र में अनेकान्तदृष्टि को मुख्यता दी गई। अनेकान्तदृष्टि का... वस्तु का सर्वतोमुखी विचार। वस्तु में अनेक धर्म होते हैं। उनमें से किसी... धर्म का ही आग्रह न रखते हुए अपेक्षा-भेद से सभी धर्मों के साथ समान... चिन्तन करना अनेकान्तदृष्टि का कार्य है। अनेक धर्मात्मक वस्तु के निरू... लिए 'स्यात्' शब्द का प्रयोग आवश्यक है। 'स्यात्' का अर्थ है किसी... विशेष से, किसी एक धर्म की दृष्टि से कथन करना। वस्तु के अनन्त धर्म... किसी एक धर्म का विचार उसी एक दृष्टि से किया जाता है। दूसरे... विचार दूसरी दृष्टि से किया जाता है। इस तरह वस्तु के धर्मभेद से ही... उत्पन्न होता है। इस अपेक्षावाद या सापेक्षवाद का नाम ही स्याद्वाद है।

स्याद्वाद जीवन के उलझे हुए प्रश्नों को सुलझाने की एक विशे... है। उसमें न अर्धसत्य को स्थान है और न संशयवाद को ही। पर खेद... भारत के मूर्धन्य मनीषी-गण भी स्याद्वाद के सही स्वरूप को... सके। ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार आचार्य शंकर[1], भूतपूर्व राष्ट्रपति डॉक्टर... राधाकृष्णन्।[2] सुप्रसिद्ध सांख्यदर्शन के विद्वान् प्रो० महलोनोविस प्रभृति... ने स्याद्वाद को अर्द्धसत्य, और संशयवाद की संज्ञा दी है। उन्हीं... का अनुसरण अन्य अनेक साहित्यकारों ने किया है। अभी-अभी प्रकाशित... युग पुराण' के द्वितीय खण्ड में सेठ गोविन्ददास तथा डॉक्टर ओमप्रकाश... ग्रन्थ में स्याद्वाद का संशयवाद के रूप में उल्लेख किया है। ग्रन्थ की भू... डॉक्टर कविवर रामधारी सिंह दिनकर ने भी उसी बात की पुष्टि की है।... स्याद्वाद के सही स्वरूप को समझ सकें इसी दृष्टि से ये पंक्तियाँ लिखी जा...

जीवन का व्यवहार विधि-निषेध के युगल पार्श्वों के मध्य में... चलता है। दार्शनिक शब्दावली में इसे सत्-असत्, एक-अनेक, नित्य... वाच्य-अवाच्य आदि कहा गया है। व्यवहार में विधि-निषेध का... रहता है। प्रश्न है – विरोधी युगलों का एक ही पदार्थ में कैसे प्ररूपण... जाय? जिस पदार्थ में जिस सत्ता को ग्रहण किया जाता है, क्या उस...

---

[1] शांकर भाष्य २।२।३३

[2] इण्डियन फिलासफी जिल्द १ पृ. ३०५–६

में प्रतिशोध भी हो सकता है ? स्वीकार और निषेध, अस्तित्व और नास्तित्व अपने में एक कठिन समस्या है, यहीं से संशय का प्रारम्भ होता है। भगवान् महावीर ने 'स्याद् अस्ति स्याद् नास्ति' के आधार से प्रस्तुत समस्या को सुलझाया है। सापेक्ष या निरपेक्ष उभय स्वरूपात्मक वस्तु के स्वभाव को ग्रहण करना ही यथार्थ दृष्टि है। किसी भी पदार्थ का आत्यन्तिक निषेध और आत्यन्तिक विधान नहीं होता। जिस अपेक्षा से वह है उस अपेक्षा से वह पूर्ण है जिस अपेक्षा से नहीं है उस अपेक्षा से वह नहीं है।

हरएक पदार्थ में अनन्त धर्मों की सत्ता है और उस स्वभाव में वह दूसरे स्वभाव की प्रतिरोधिनी नहीं है। एतदर्थ ही विरोधी युगलों का सहअस्तित्व सहज रूप से संभाव्य है। पानी जीवन भी है और डूबने वालों के लिए संहारक भी है। अग्नि जीवन प्रदान करने वाला तत्त्व भी है और उग्र रूप धारण करने पर नाश भी करता है। ऊनी वस्त्र सर्दी में उपयोगी हैं और गर्मी में निरुपयोगी हैं। गरिष्ठ भोजन स्वस्थ व्यक्ति के लिए स्वास्थ्यप्रद है पर रुग्ण व्यक्ति के लिए हानिकर है। इस प्रकार प्रत्येक कार्य द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की सीमा से आबद्ध है।

प्रत्येक पदार्थ में विरोधी युगल का युगपत् अस्तित्व है। उसी से व्यक्ति चक्कर में पड़ जाता है क्योंकि व्यक्ति का चिन्तन हमेशा निरपेक्ष होकर चलता है जब कि उसका हरएक व्यवहार अपेक्षा के साथ बंधा हुआ है। जिस समय पदार्थ के अस्तित्व-पक्ष की विवक्षा की जाती है उस समय उसी पदार्थ के इतर पक्षों का नास्तित्व भी तो अभिवाच्य नहीं होता। केवल मुख्य और गौण का ही प्रश्न होता है।

भगवान् महावीर ने कहा है कि प्रतिक्षण प्रत्येक पदार्थ में उत्पाद और व्यय होता है और साथ ही वह ध्रुव भी रहता है जिससे वह सत् असत् में नहीं बदलता।

सत्य अनुभूतिगम्य है, अनुभूति एकांशग्राही और सर्वांशग्राही उभयरूप होती है, किन्तु अभिव्यक्ति सर्वांशग्राही नहीं एकांशग्राही होती है। वह सदा एक अंश ही प्रस्तुत करती है। ज्ञान के अनन्त पर्याय हैं, व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार उन्हें अधिकृत करता है। अभिव्यक्ति का माध्यम शब्द है। अनुभूति की पूर्णता और अधिकता होने पर भी वह एक अंश को ही प्रस्तुत करती है। वक्ता अपनी समस्त अनुभूतियों को एक साथ व्यक्त नहीं कर सकता, जितनी वह व्यक्त करता है उतनी सुनने वाला ग्रहण नहीं कर पाता, जितना ग्रहण होता है वह अपेक्षा के साथ संयुक्त होकर होता है अतः सत्य सदा अपेक्षा के साथ बंधा हुआ है।

भगवान् महावीर ने सापेक्षवाद के रूप में स्याद्वाद का प्ररूपण किया। विज्ञान के क्षेत्रमें अल्बर्ट आइन्स्टीन ने सापेक्षवाद के रूप में उसका विस्तार किया। स्याद्वाद का मुख्य विषय जड़ और चेतन रहा है; जब कि आइन्स्टीन

ने उसमें आकाश और काल की योजना कर उसे विशेष आधुनिक शैली में प्र
किया है। दोनों में अद्भुत सामंजस्य है।

जिन विद्वानों ने स्याद्वाद को संशयवाद और अर्धसत्य कहा है उ
सापेक्षवाद के सम्बन्ध में यह मन्तव्य नहीं है। आश्चर्य की बात है कि स्याद्
और सापेक्षवाद के विवेचन में शाब्दिक अन्तर के अतिरिक्त और कोई भी
अन्तर नहीं होते हुए भी उन्होंने इन दोनों के सम्बन्ध में विभिन्न मत
आधार पर अभिव्यक्त किया है ?

प्रश्न सहज ही पैदा होता है कि विज्ञों द्वारा यह भूल किस प्रकार
इसके अनेक कारण हैं। स्याद्वाद यह 'स्याद् और वाद' इन दो शब्दों के
से बना है। 'स्याद्' यह अव्यय है। इसके अनेक अर्थ हैं संभावना, विधान,
'कथंचित्', अपेक्षा-विशेष, दृष्टि-विशेष, किसी एक धर्म की विवक्षा आदि
विज्ञों ने केवल इसके संभावनात्मक अर्थ पर ही ध्यान दिया और उसी
उन्होंने स्याद्वाद को संशयवाद कहा।

आचार्य शंकर के समय शास्त्रार्थ की परम्परा थी और उसमें एक
का खण्डन-मण्डन प्रमुख रूप से चलता था। स्याद्वाद का उपहास करने की
से उन्होंने उसे 'संशयवाद' के रूप में उपस्थित किया, जो सर्वथा गलत था।

भूतपूर्व राष्ट्रपति डॉ० एस० राधाकृष्णन्, प्रो० महलोनोवीस,
रामधारीसिंह दिनकर डॉ० सेठ गोविन्ददास आदि परिहास की परम्परा से
ही दूर हैं तथापि आचार्य शंकर के द्वारा कथित संभावनात्मक अर्थ से
मात्र भी दूर नहीं हट पाये हैं। शब्दों के हेरफेर के साथ अपने ग्रन्थों में
में वही दुहराते रहे हैं। खेद है कि हम अपनी दृष्टि से किसी भी
अन्तस्तल तक नहीं पहुँचते और पुरानी लकीर के ही फकीर बने
विद्वानों को चाहिए कि प्राचीन त्रुटियों को न दुहराकर स्याद्वाद के
स्वरूप को समझें।

लेखक

जैन जगत के महान् आध्यात्मिक नेता, ज्ञान और साधना के
धनी, आचार्यश्री हस्तीमलजी महाराज स्थानकवासी जैन परम्परा के एक
माने हुए सन्त-रत्न हैं।

एक ओर वे अध्यात्म योगी हैं, जप, तप, ध्यान और योग आदि
उनको अत्यधिक प्रिय हैं। तत्सम्बन्धी सम्पूर्ण भारतीय साहित्य का
गहराई से अध्ययन ही नहीं किया है, अपितु प्रतिदिन घंटों तक साधना
अनुभव का अमृत भी प्राप्त किया है।

दूसरी ओर वे मूर्धन्य साहित्यकार भी हैं। उन्होंने दशवैकालिक,
प्रश्न व्याकरण अन्तकृतदशांग, कल्पसूत्र, वृहत्कल्प आदि आगम साहि

विद्वत्तापूर्ण सम्पादन किया है। धर्म, दर्शन, इतिहास और अध्यात्म आदि विषयों पर शोधप्रधान निबन्ध भी लिखे हैं।

जैन धर्म के इतिहास के प्रति उनकी स्वाभाविक अभिरुचि रही है। उन्होंने जीवन के उषाकाल में जैन इतिहास पर विस्तृत लेखमाला भी लिखी थी, जो जिनवाणी के अनेक अंकों में जिज्ञासु के नाम से प्रकाशित हुई थी। इसके अतिरिक्त पूज्य श्री रत्नचन्द्रजी म० की अपनी सम्प्रदाय के ज्योतिर्धर सन्तों के सम्बन्ध में ऐतिहासिक दृष्टि से अनेक पुस्तकें भी लिखी हैं जो सम्यग्ज्ञान प्रचारक मण्डल से प्रकाशित हुईं।

इतिहास का इतिहास

सन् १९६५ में श्रद्धेय पूज्य गुरुदेव श्री पुष्कर मुनि जी महाराज और परमादरणीय पंडित प्रवर आचार्यश्री हस्तीमलजो महाराज का समदड़ी में परस्पर मिलन हुआ। मैं उस समय 'महावीर जीवन दर्शन' ग्रन्थ लिख रहा था।

आचार्यश्री ने उसकी पाण्डुलिपि देखकर कहा: "अन्य तीर्थंकरों के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार प्रमाण-पुरस्सर लिखा जाय तो महान् श्रुत-सेवा होगी।"

प्रसंगवश अन्य सामाजिक, धार्मिक एवं दार्शनिक चर्चाओं के साथ इतिहास के सम्बन्ध में भी चर्चाएं चलीं कि हमने श्रमण-सम्मेलनों में प्रस्ताव तो अनेक बार पारित किये हैं किन्तु जैन धर्म का कोई प्रामाणिक इतिहास हम प्रस्तुत नहीं कर सके हैं। हम लोगों ने उधर जितना लक्ष्य देना चाहिए उतना नहीं दिया है।

यह सत्य है कि स्थानकवासी जैन समाज में सर्वप्रथम महान् चिन्तक वाड़ीलाल मोतीलाल शाह ने 'ऐतिहासिक नोंध', श्री मणीलालजी म० ने 'वीर पट्टावली', पं० सुशील मुनिजी ने 'जैन धर्म का इतिहास' और पाथर्डी बोर्ड ने 'हमारा इतिहास' निकाला है और अन्य कई साम्प्रदायिक इतिहास भी निकले हैं किन्तु उनमें अन्वेषणा के अभाव में अनेक स्खलनाएं रह गई हैं। इतिहास का लिखना कोई साधारण कार्य नहीं है, यह अत्यन्त श्रमसाध्य कार्य है। जितना अधिक श्रम किया जायेगा उतना ही अधिक मधुर फल प्राप्त होगा।

मैंने नम्र निवेदन किया कि यह कार्य आपश्री अपने हाथ में ले लेवें। अन्य कार्य को गौण कर इसे प्रमुखता देवें। आपश्री जो भी लेखन, सम्पादन आदि में मेरे से सहयोग चाहेंगे वह मैं गुरुदेवश्री की आज्ञा से सहर्ष देने को प्रस्तुत हूं।

उस वर्ष आचार्यश्री का वर्षावास बालोतरा में हुआ और गुरुदेवश्री का खाण्डप में। खाण्डप वर्षावास में मैंने 'ऋषभदेव, एक परिशीलन' ग्रन्थ लिखा जो बाद में सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा से प्रकाशित हुआ।

बालोतरा वर्षावास में आचार्यश्री ने स्वयं इतिहास लिखने का व दूसरों से लिखवाने का पूर्ण निश्चय किया। लेखक व सम्पादक-मण्डल में मेरा भी नाम

रखा गया और चौबीस तीर्थंकरों पर लिखने के लिए मुझे कहा गया, ...
चौबीस तीर्थंकरों के सम्बन्ध में अन्वेषणा करता रहा। ज्यों-ज्यों अन्वे...
करता गया त्यों-त्यों मुझे नित्य नवीन सामग्री प्राप्त होती रही।

बालोतरा वर्षावास के पश्चात् इतिहास लिखने के लिए आचार्य... स्वयं राजस्थान एवं गुजरात के स्थानकवासी जैन भण्डारों को ही नहीं, ... मन्दिर मार्गी समाज व यतियों के प्राचीनतम भण्डारों को भी टटोला। ... प्रशस्तियां, पट्टावलियां और अलभ्य ग्रन्थ प्राप्त किये। पट्टावलियों का महत्त्वपूर्ण संग्रह आपश्री ने सम्पादित कर 'पट्टावली प्रबन्ध संग्रह' के ... प्रकाशित करवाया, जिसका इतिहासप्रेमियों ने हृदय से स्वागत किया।

सन् १९६८ का वर्षावास श्रद्धेय गुरुदेवश्री का घोड़नदी (महाराष्ट्र) था और आचार्यश्री का 'पाली' (राजस्थान) में। उस समय 'जैन इ... समिति', जयपुर की ओर से 'पदमचन्दजी मेहता' इतिहास का प्रथम खण्ड ... के लिए मेरे पास उपस्थित हुए। साथ ही समिति की यह प्रबल प्रेरणा ... अतिशीघ्र यह कार्य सम्पन्न करें। मैंने अपने लेखन के अनुभव के आधा... कहा – "यह कार्य शीघ्रता का नहीं है। इसके लिए समय व विपुल ग्रन्थ... टटोलने की आवश्यकता है।" तथापि समिति के अधिकारीगण अत्यधिक ... करते रहे। फलस्वरूप मैंने अपने लिखे हुए 'ऋषभदेव : एक परिशीलन', '... पार्श्व : एक समीक्षात्मक अध्ययन', 'महावीर जीवन-दर्शन तथा कल्पसूत्र' ... ग्रन्थों से उपयोगी सामग्री लेकर तथा अन्य अनेक ग्रन्थों के आधार से ए... के स्वल्प समय में तीन सौ से भी अधिक पृष्ठों का लेखन व सम्पादन किया। मैंने चौबीस तीर्थंकरों के सम्बन्ध में ऐतिहासिक व तुलनात्मक दृष्टि से ... तीर्थंकरों के पूर्वभव, वासुदेव, चक्रवर्तियों का परिचय मैंने जानकर नहीं लि...

इतिहास की पाण्डुलिपि को देखकर आचार्यश्री ने प्रसन्नता व्यक्त... पर साथ ही यह भी सूचना दी कि पूर्वभव आदि सारी सामग्री का भी आना आवश्यक है किन्तु आचार्यश्री राजस्थान में थे और हम महाराष्ट्र... अतः क्षेत्र की दूरी से परस्पर मिलकर उनके निर्देशानुसार लेखन करना नहीं था, अतः मैंने नम्र निवेदन किया कि अवशेष कार्य आपश्री के नेतृत्व... सम्पन्न कराया जाय। इस पर स्वयं आचार्यश्री ने इसके लेखन का कार्य हाथ में लिया और नवीनतम ढंग से इस प्रस्तुत खोजपूर्ण ग्रन्थ के लेखन-... को सम्पन्न करवाया।

प्रस्तुत ग्रन्थ

मुझे परम प्रसन्नता है कि सात वर्ष के निरन्तर श्रम के पश्चात् "... का मौलिक इतिहास" का यह प्रथम खण्ड प्रकाश में आ रहा है। अन्य ... अभी अवशेष हैं, जो ऐतिहासिक दृष्टि से बड़े ही महत्त्वपूर्ण होंगे. उन ... अधिकांश सामग्री एकत्रित की जा चुकी है।

प्रस्तुत खण्ड में प्रागैतिहासिक और ऐतिहासिक युग का सम्मिश्रण है। चौवीस तीर्थंकरों में से इक्कीस तीर्थंकर प्रागैतिहासिक काल में गिने गये हैं। भगवान् अरिष्टनेमि, भगवान् पार्श्व और भगवान् महावीर ये तीन तीर्थंकर ऐतिहासिक युग में आते हैं। आधुनिक इतिहासकार उन्हें ऐतिहासिक पुरुष मानते हैं। प्रस्तुत खण्ड में चौवीस तीर्थंकरों के सम्बन्ध में प्राचीन व आधुनिक ग्रन्थों के प्रकाश में अनुशीलनात्मक, प्रामाणिक और सुव्यवस्थित सामग्री प्रस्तुत की गई है और साथ ही उन बातों का निरसन किया गया है जो भ्रामक थीं।

सभी तीर्थंकरों के सम्बन्ध में एक साथ इतने व्यवस्थित रूप से प्रथम वार ही लिखा गया है। यह मैं अधिकार की भाषा में तो नहीं कह सकता कि चौवीस तीर्थंकरों के सम्बन्ध में इसमें सब कुछ आ गया है, पर यह सत्य है कि अधिकाधिक प्रामाणिक सामग्री को इसमें संकलित किया गया है।

तीर्थंकरों के साथ ही भरत व ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती के सम्बन्ध में भी तुलनात्मक दृष्टि से प्रकाश डाला गया है। जैन दृष्टि से श्रीकृष्ण के सम्बन्ध में चिन्तन किया गया है। वैदिक और जैन ग्रन्थों के आधार पर भगवान् अरिष्टनेमि का वंश-परिचय भी दिया गया है। परिशिष्ट विभाग में भी उपयोगी सामग्री का संकलन-आकलन किया गया है। इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ साधारण पाठकों के लिए और विशिष्ट ज्ञाताओं के लिए भी समान उपयोगी है। भाव-भाषा और शैली सभी दृष्टियों से सुन्दर ही नहीं, अति सुन्दर है। सर्वत्र शैली की सुघड़ता, भाषा की सरसता एवं प्रवाहपूर्णता के दर्शन होते हैं।

परम श्रद्धेय आचार्यश्री हस्तीमलजी महाराज की एकनिष्ठा व इतिहास प्रेम के कारण ही प्रस्तुत ग्रन्थ-रत्न प्रकाश में आ रहा है। उनके भगीरथ प्रयास के कारण ही ग्रन्थ इतना सुन्दर बन सका है। मैं आचार्यश्री के इस अथक परिश्रम का हृदय से अभिनन्दन करता हूं और आशा करता हूं कि वे अन्य दो खण्ड भी यथाशीघ्र स्वयं तैयार करेंगे या अन्य से तैयार करवाने का अनुग्रह करेंगे।

मुझे आशा ही नहीं अपितु दृढ़ विश्वास है कि इतिहासप्रेमी सज्जन प्रस्तुत ग्रन्थ का स्नेह से स्वागत करेंगे। चौबीस तीर्थंकरों के सम्बन्ध में गहराई से अध्ययन, चिन्तन, मनन कर अपने जीवन को आचार और विचार की दृष्टि से उत्तम व समुन्नत बनाएंगे। इसी शुभाशा के साथ,

श्री मेघजी थोभण जैन धर्म स्थानक
१७०, कांदावाड़ी, बम्बई
अक्षय तृतीया, २७-४-७१

देवेन्द्र मुनि

जैन धर्म का मौलिक इतिहास

कालचक्र और कुलकर

जैन शास्त्रों के अनुसार संसार अनादि काल से सतत गतिशील चलता आ रहा है। इसका न कभी आदि है और न कभी अन्त।

यह दृश्यमान् समस्त जगत् परिवर्तनशील परिणामी नित्य है। मूल द्रव्य की अपेक्षा नित्य है और पर्याय की दृष्टि से परिवर्तन सदा चालू रहता है। प्रत्येक जड़-चेतन का परिवर्तन नैसर्गिक ध्रुव एवं सहज स्वभाव है। जिस प्रकार दिन के पश्चात् रात्रि और रात्रि के पश्चात् दिन, प्रकाश के पश्चात् अन्धकार और अन्धकार के पश्चात् प्रकाश का प्रादुर्भाव होता है। ग्रीष्म, वर्षा, शिशिर, हेमन्त, शरद् और वसन्त इन षड्ऋतुओं का एक के बाद दूसरी का आगमन, गमन, पुनरागमन और प्रतिगमन का चक्र अनादि काल से निरन्तर चलता आ रहा है। शुक्ल पक्ष की द्वितीया का केवल फेनलेखा तुल्य चन्द्र क्रमशः वृद्धि करते हुए पूर्णिमा को पूर्णचन्द्र बन जाता है और फिर कृष्णपक्ष के आगमन पर वही ज्योतिपुंज षोडश कलाधारी पूर्णचन्द्र क्षय रोगी की तरह धीरे-धीरे ह्रास को प्राप्त होता हुआ क्रमशः अमावस्या की काली अंधेरी रात्रि में पूर्णरूपेण तिरोहित हो अस्तित्वविहीन सा हो जाता है। अभ्युदय के पश्चात् अभ्युत्थान एवं अभ्युत्थान की पराकाष्ठा के पश्चात् अधःपतन का प्रारम्भ और इसके पश्चात् क्रमशः पूर्ण पतन, फिर अभ्युदय, अभ्युत्थान, उत्कर्ष और पूर्ण उत्कर्ष, इस प्रकार चराचर जगत् का अनादि काल से अनवरत क्रम चला आ रहा है। संसार के इस अपकर्ष-उत्कर्षमय कालचक्र को क्रमशः अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल की संज्ञा दी गई है। कृष्णपक्ष के चन्द्र में क्रमिक ह्रास की तरह ह्रासोन्मुख काल को अवसर्पिणी काल और शुक्लपक्ष के चन्द्र के क्रमिक उत्कर्ष की तरह विकासोन्मुख काल को उत्सर्पिणी काल के नाम से कहा जाता है।

*अवसर्पिणी का क्रमिक अपकर्ष काल निम्नांकित छः भागों में विभक्त किया गया है :—

(१)	सुषमा सुषम	चार कोड़ाकोड़ी† सागर‡ का।
(२)	सुषम	तीन कोड़ाकोड़ी सागर का।
(३)	सुषमा दुषम	दो कोड़ाकोड़ी सागर का।
(४)	दुषमा सुषम	४२ हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागर का।
(५)	दुषम	इक्कीस हजार वर्ष का।
(६)	दुषमा दुषम	इक्कीस हजार वर्ष का।

---

† कृपया परिशिष्ट देखें।

‡ कृपया परिशिष्ट देखें।

इसी प्रकार उत्सर्पिणी काल के क्रमिक उत्कर्ष काल को भी छः विभक्त कर अवसर्पिणी काल के उल्टे क्रम से (१) दुषमा दुषम, (२) (३) दुषमा सुषम, (४) सुषमा दुषम, (५) सुषम और (६) सुषम नाम से समझना चाहिए।

दोनों मिलकर बीस कोड़ाकोड़ी सागर का एक कालचक्र होता है।[1]

हम सब इस ह्रासोन्मुख अवसर्पिणी काल के दौर से ही गुजर रहे अवसर्पिणी के परमोत्कर्ष काल में अर्थात् प्रथम सुषमा सुषम आरे में परमोत्कृष्ट रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और सर्वोत्कृष्ट समृद्धियों से सम्पन्न हो इस समय के प्राणियों को जीवनोपयोगी सर्वोत्कृष्ट सामग्री बिना प्रयास कल्पवृक्षों से सहज सुलभ होती है अतः उनका जीवन अपने आप में परम सुखमय होता है। प्रकृति की सुखद सुन्दर एवं मन्द मधुर बयार समय के मानव का मन-मयूर प्रतिक्षण आनन्द-विभोर हो अपनी अद्भुत मस्त रहता है। सहज-सुलभ भोग्य सामग्री में, उपभोग में, मानव मस्ति ज्ञानतन्तुओं को झंकृत होने का भी अवसर नहीं मिलता और मस्ति ज्ञानतन्तुओं की झंकृति के अभाव में मस्तिष्क की चंचलता, चिन्तन, विचार संघर्ष का कोई कारण ही उसके समक्ष उपस्थित नहीं होता। जि वीणा की मधुर झंकार से विमुग्ध हरिण मन्त्रमुग्ध सा अपने आपको भूल उसी प्रकार प्रकृति के परमोत्कृष्ट मादक माधुर्य में विमुग्ध उस समय का सब प्रकार की चिन्ताओं से विमुक्त हो ऐहिक आनन्द से ओत-प्रोत जीव करता है। इसे भोगयुग की संज्ञा दी जाती है।

प्रकृति के परिवर्तनशील अटल स्वभाव के कारण संसार की वह त्कर्षता और मानव की वह मधुर मादकता भरी अवस्था भी चिर स्थिर नहीं रह पाती। उसमें क्रमशः परिवर्तन आता है और पृथ्वी का व त्कर्ष काल शनैः शनैः सुषमा सुषम आरे से सुषम, सुषमा दुषम आदि काल की ओर गतिशील होता है। फलतः पृथ्वी के रूप, रस, गन्ध, माधुर्य में और यहां तक कि हर अच्छाई में क्रमिक ह्रास आता रहता है की इस ह्रासोन्मुख दशा में मानव के शारीरिक विकास और उसकी सुख में भी ह्रास होना प्रारम्भ हो जाता है। ज्यों-ज्यों मानव की सुख कमी आती जाती है और उसे अभाव का सामना करना पड़ता है त्यों-त्यों मस्तिष्क में चंचलता पैदा होती जाती है और उसका शान्त मस्तिष्क विचार-संघर्ष का केन्द्र बनता जाता है। "अभाव से अभियोगों का जन्म है" इस उक्ति के अनुसार ज्यों-ज्यों अभाव बढ़ते जाते हैं त्यों-त्यों विचा और अभियोग भी बढ़ते जाते हैं।

इस प्रकार अपकर्षोन्मुख अवसर्पिणी काल के तृतीय आरे का जब अधिक समय व्यतीत हो जाता है तो पृथ्वी के रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, उर्वर

[1] आरक के सम्बन्ध में विशेष जानकारी के लिये जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति, वक्ष २ देखें।

गुणों का पहले से काफी मात्रा में ह्रास हो जाता है। कल्पवृक्षों के क्रमिक विलोप के कारण सहज सुलभ जीवनोपयोगी सामग्री भी आवश्यक मात्रा में उपलब्ध नहीं होती।[1] अभाव की उस भयावह स्थिति में जनमन आन्दोलित हो उठता है। फलतः विचार-संघर्ष, कषाय-वृद्धि, क्रोध, लोभ, छल, प्रपंच, स्वार्थ, अहंकार और वैर-विरोध की पाशविक प्रवृत्ति का प्रादुर्भाव होने लगता है और शनैः शनैः इन दोषों के दावानल में मानव-समाज जलने लगता है। अशान्ति की असह्य आग से त्रस्त एवं दिग्विमूढ मानव के मन में शान्ति की पिपासा जागृत होती है उस समय उस दिशाभ्रान्त मानव समाज के अन्दर से ही कुछ विशिष्ट प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति संयोग पाकर भूमि में दबे हुए बीज की तरह ऊपर आते हैं जो उन त्रस्त मानवों को भौतिक शान्ति का पथ प्रदर्शित करते हैं।

पूर्वकालीन स्थिति और कुलकर काल

ऐसे विशिष्ट बल, बुद्धि एवं प्रतिभासम्पन्न व्यक्ति ही मानव समाज में कुलों की स्थापना करने के कारण कुलकर कहलाते हैं। कुलकरों के द्वारा अस्थायी व्यवस्था की जाती है जिससे तात्कालिक समस्या का आंशिक समाधान होता है किन्तु जब बढ़ती समस्याओं को हल करना कुलकरों की सामर्थ्य से बाहर हो जाता है तब समय के प्रभाव और जनता के सद्भाग्य से एक तेजोमूर्ति नर-रत्न का जन्म होता है, जो धर्म-तीर्थ का आविष्कर्त्ता होकर जन-जन को नीति एवं धर्म की शिक्षा देता और मानव समुदाय को परम शान्ति और अक्षय सुख के सही मार्ग पर आरूढ करता है।

इसी समय मानव जाति के सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक इतिहास का सूत्रपात होता है, जिसका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है:—

भगवान् ऋषभदेव के पूर्ववर्त्ती मानव स्वभाव से शान्त, शरीर से स्वस्थ एवं स्वतन्त्र जीवन जीने वाले थे। सहज शान्त और निर्दोष जीवन जीने के कारण उस समय के मनुष्यों को धर्म की आवश्यकता ही नहीं थी। अतः उनमें भौतिक मर्यादाओं का अभाव था। वे केवल सहज भाव से व्यवहार करते और उसमें कभी पुण्य का और कभी पाप का उपार्जन भी कर लेते। वे न किसी नर या पशु से सेवा-सहयोग ग्रहण करते और न किसी के लिये अपना सेवा-सहयोग अर्पित ही करते। दश प्रकार के कल्पवृक्षों[2] के द्वारा सहज-प्राप्त फल-फूलों से वे

---

[1] तेसु परिहीयंतेसु कसाया उप्पएणा — [आवश्यक निर्युक्ति पृ० १५४ (१)]

[2] स्थानांग सूत्र में कल्पवृक्षों के सम्बन्ध में इस प्रकार का उल्लेख है:—
सुसम-सुसमाएणं समाए दसविहा रुक्खा उपभोगत्ताए हव्वमागच्छन्ति, तंजहा:—
मत्तंगयाय भिंगा, तुडियंगा दीवजोइ चित्तंगा।
चित्तरसा मणियंगा, गेहागारा अणियणा य॥ [सुत्तागम मूल, सू० १०५८]

सुषमा-सुषम काल में १० प्रकार के वृक्ष मनुष्यों के उपभोगार्थ काम आते हैं। जैसे:— (१) मत्तंगा-मद्य-रस को देने वाले, (२) भृंगांग—पात्र-भाजन देने वाले,

अपना जीवन चलाते थे, उनका जीवन रोग, शोक और वियोग रहित था। कल्पवृक्षों से प्राप्त होने वाली भोग्य सामग्री क्षीण होने लगी और आवश्यकता पूर्ति नहीं होने लगी तो उनकी सहज शान्ति भंग हो गई, संघर्ष की स्थिति उत्पन्न होने लगी। तब उन्होंने मिल कर छोटे-छोटे कुलों में अपनी व्यवस्था बनाई और कुलों की उस व्यवस्था को करनेवाले कहलाये। ऐसे मुख्य कुलकरों के नाम इस प्रकार हैं :–

(१) विमलवाहन, (२) चक्षुष्मान, (३) यशस्वी, (४) अ... (५) प्रसेनजित, (६) मरुदेव और (७) नाभि।[1] कुलकरों की संख्या के... में ग्रन्थकारों में मतभेद है। जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति में १५ कुलकरों का उल्लेख है।

तीसरे आरे में जब पल्योपम का अष्टम भाग शेष रहा तब सात... उत्पन्न हुए। प्रथम कुलकर विमलवाहन हुए। किसी समय वन प्रदेश में... हुए एक मानव युगल को किसी श्वेतवर्ण सुन्दर हाथी ने देखा और पूर्व... स्नेह से उसको उसने अपनी पीठ पर बिठा लिया तो लोगों ने उस... गजारूढ़ देख कर सोचा-"यह मनुष्य हम से अधिक शक्तिशाली है।" उज्ज्वल... वाला होने के कारण लोग उसे विमलवाहन कहने लगे।[2]

उस समय कल्पवृक्षों की कमी होने से लोगों में परस्पर विवाद हो... जिससे उनकी शान्ति भंग हो गई। उन्होंने मिल कर अपने से अधिक प्र...

---

(३) त्रुटितांग-आमोद-प्रमोद के लिए वाद्य देने वाले, (४) दीपांग-प्रकाश... दीपक के समान फल देने वाले, (५) ज्योति-अग्नि की तरह ताप-उष्णता... (६) चित्रांग-विविध वर्णों के फूल देने वाले, (७) चित्तरस-अनेक प्रकार... वाले, (८) मणियंग-मणि रत्नादि की तरह चमकदार आभूषणों की पूर्ति... (९) गेहागार-घर, शाला आदि आकार वाले और (१०) अनग्न-नग्नता... वाले अर्थात् वल्कल की तरह वस्त्र की पूर्ति करने वाले।

इन वृक्षों से युगलिक मनुष्यों की आहार-विहार और निवास... आवश्यकताएं पूर्ण हो जाती थीं, अतः इन्हें कल्पवृक्ष की संज्ञा दी है। ... कल्पवृक्ष का अपर नाम सुरतरु भी दिया है। कल्पवृक्ष के लिए साधारण... मान्यता है कि ये मनचाहे पदार्थ देते हैं, इनसे उत्तमोत्तम पक्वान्न और... आभूषण आदि जो मांगा जाय वही मिलता है। पर वस्तुतः ऐसी बात... युगलिकों को शास्त्र में 'पुढवीपुप्फफलाहारा', पृथ्वी, पुष्प और फलमय आहार... गया है। यदि दैवी प्रभाव से कल्पवृक्ष इच्छानुसार वस्तुएं देते तो उनकी ... नहीं बताई जातीं। हां, कल्पवृक्ष की विभिन्न जातियों से तत्कालीन मनुष्यों... आवश्यकताएं पूर्ण हो जाती थीं इस दृष्टि से उन्हें मनोकामना पूर्ण करने... जा सकता है। विशेष स्पष्टीकरण परिशिष्ट में देखें।

[1] आवश्यक निर्युक्ति पृ० १५४ गा० १५२

[2] आवश्यक निर्युक्ति पृ० १५३

विमलवाहन को अपना नेता बना लिया। विमलवाहन ने सब के लिये मर्यादा निश्चित की और मर्यादा उल्लंघन का अपराध करने पर दड देने की घोषणा की।

जब कोई मर्यादा का उल्लंघन करता तब "हा" तूने क्या किया, ऐसा कह कर अपराधी को दंडित किया जाता। उस समय का लज्जाशील और स्वभाव से संकोचशील प्रकृति वाला मानव इसी दंड को सर्वस्वहरण जैसा कठोर दंड मानता और एक बार का दंडित अपराधी व्यक्ति दुबारा फिर कभी गलती नहीं करता। इस प्रकार चिरकाल तक "हा" कार की दंड नीति से व्यवस्था चलती रही।

कालान्तर में विमलवाहन की चन्द्रजसा युगलिनी से दूसरा युगल उत्पन्न हुआ। इसी क्रम से तीसरे, चौथे, पांचवें, छठे और सातवें कुलकर हुए। तत्कालीन मनुज कुलों की व्यवस्था करने से वे कुलकर कहलाये। विमलवाहन और दूसरे कुलकर चक्षुष्मान तक "हाकार" नीति चलती रही। तीसरे और चौथे कुलकर तक "माकार" नीति एवं पांचवें, छठे और सातवें कुलकर तक "धिक्कार" नीति से व्यवस्था चलती रही।

जब अपराधी को "हा" कहने से काम नहीं चलता तब जरा उच्च स्वर में कहा जाता "मा" यानि मत करो, और इससे लोग अपराध करना छोड़ देते। समय की रुक्षता और स्वभाव की कठोरता से जब लोग 'हाकार' और 'माकार' नीति के प्रभावक्षेत्र से बाहर हो चले तब 'धिक्कार' नीति का आविर्भाव हुआ। पिछले ३ कुलकरों के समय यही नीति चलती रही[1]।

कुलकर : तुलनात्मक विश्लेषण

अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे के पिछले तीसरे भाग में समय के प्रभाव से जब भूमि के सत्व एवं उर्वरकता का शनैः शनैः ह्रास होने के कारण कल्पवृक्षों ने फल देना बन्द कर दिया, तब केवल कल्पवृक्षों पर आश्रित रहने वाले लोगों में उन वृक्षों को लेकर झगड़े होने लगे। अधिक से अधिक कल्पवृक्षों को अपने अधिकार में रखने की प्रवृत्ति उनमें उत्पन्न होने लगी। कल्पवृक्षों पर स्वामित्व के इस प्रश्न को लेकर जब कलह व्यापक रूप धारण करने लगा और इतस्ततः अव्यवस्था उग्र रूप धारण करने लगी, तब कुलकर व्यवस्था का प्रादुर्भाव हुआ।

वन विहारी उन स्वतन्त्र मानवों ने एकत्र होकर छोटे छोटे कुल बनाये और प्रतिभाशाली विशिष्ट पुरुष को अपना नेता स्वीकार किया। कुल की सुव्यवस्था करने के कारण उन कुलनायकों को कुलकर कहा जाने लगा। आदि पुराण और वैदिक साहित्य मनुस्मृति आदि में मननशील होने से इनको

---

[1] (क) हक्कारे, मक्कारे धिक्कारे चैव। [आ० नि०, पृ० १५६ (२)]
दंडं कुव्वन्ति 'हाकारं'। [ति० पन्नत्ति, गा० ४५२]

(ख) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति

मनु कहा गया और जैन साहित्य की परिभाषा में कुल की व्यवस्था
कुलकर नाम दिया गया। कुलकरों की व्यवस्था और कार्यक्षेत्र की
मतैक्य होने पर भी कुलकरों की संख्या के सम्बन्ध में शास्त्रों में मत
जैनागम – स्थानांग, समवायांग और भगवती में सात कुलकर बताये गये
आवश्यक चूर्णि एवं आवश्यक निर्युक्ति में भी उसी के अनुरूप सात कुलकर
किये गये हैं। स्थानांग, समवायांग, आवश्यक निर्युक्ति आदि के अनुसार
कुलकरों के नाम इस प्रकार हैं :–

(१) विमलवाहन, (२) चक्षुष्मान्, (३) यशोमान्, (४) अ
(५) प्रसेनजित्, (६) मरुदेव और (७) नाभि। जैसा कि कहा है:-

"जम्बूद्दीवे दीवे भारहे वासे इमिसे ओसप्पिणीए सत्त कुलगरा
तं जहा :–

"पढमित्थ विमलवाहण, चक्खुमं जसमं चउत्थमभिचन्दे।
ततो अ पसेणई पुण मरुदेव चेव नाभी य॥

[स्थानांग, ७ स्वरमण्डलाधिकार – आव
पृ० २८ – २९ = आव० नि० गा० १५२ = सम

महापुराण में चौदह और जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में १५ कुलकर बताये
पउम चरियं में – (१) सुमति, (२) प्रतिश्रुति, (३) सीमंकर, (४)
(५) क्षेमंकर, (६) क्षेमंधर, (७) विमलवाहन, (८) चक्षुष्मान्, (९)
(१०) अभिचन्द्र, (११) चन्द्राभ, (१२) प्रसेनजित्, (१३) मरुदे
(१४) नाभि, इस प्रकार चौदह नाम गिनाये हैं; जबकि महापुराण
प्रतिश्रुत, दूसरे सन्मति, तीसरे क्षेमकृत्, चौथे क्षेमंधर, पांचवें सीमंकर
सीमंधर, इस प्रकार कुछ व्युत्क्रम से संख्या दी गई है।[1] विमलवाहन से
नाम दोनों में समान हैं। जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में पउम चरियं के १४ नामों
ऋषभ को जोड़कर पन्द्रह कुलकर बतलाये गये हैं – जो अपेक्षा से
होने पर भी बाधक नहीं है। चौदह कुलकरों में प्रथम के छः और
चन्द्राभ के अतिरिक्त सात नाम वे ही स्थानांग के अनुसार हैं। संभव है
छः कुलकर उस समय के मनुष्यों के लिये योगक्षेम में मार्गदर्शक मात्र

[1] आद्यः प्रतिश्रुतिः प्रोक्तः, द्वितीयः सन्मतिर्मतः।
तृतीयः क्षेमकृन्नाम्ना, चतुर्थः क्षेमधृन्मनुः॥
सीमकृत्पंचमो ज्ञेयः, षष्ठः सीमधृदिष्यते।
ततो विमल वाहांकश्चक्षुष्मानष्टमो मतः॥
यशस्वान्नवमस्तस्मान्नाभि चन्द्रोऽप्यनन्तरः।
चन्द्राभोऽस्मात्परं ज्ञेयो, मरुदेवस्ततः परम्॥
प्रसेनजित् परं तस्मान्नाभिराजश्चतुर्दशः।
[महापुराण जिनसेनाचार्य, प्रथम भाग, पर्व ३, श्लो० २२९–२३२,

पिछले कुलकरों की तरह दण्ड व्यवस्था आदि में उनका सक्रिय योग नहीं होने के कारण इनको गौण मानकर केवल सात ही कुलकर गिने गये हों और ऋषभदेव को प्रथम भूपति होने व यौगलिक रूप को समाप्त कर कर्मभूमि के रूप में नवीन राज्य व्यवस्था स्थापित कर राजा होने के कारण कुलकर रूप में नहीं गिना गया हो और संभव है जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में कुल का सामान्य अर्थ मानव-समूह लेकर उनकी भी बड़े कुलकर के रूप में गणना कर ली गई हो।

जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में कुलकरों की संख्या इस प्रकार है :-

"तीसे समाए पच्छिमे तिभाए पलिओवमद्धभागावसेसे, एत्थणं इमे पण्णरस कुलगरा समुप्पज्जित्था, तं जहा–सुमई, पडिस्सुई, सीमंकरे, सीमंधरे, खेमंकरे, खेमंधरे, विमलवाहणे, चक्खुमं, जसमं, अभिचन्दे, चन्दाभे, पसेणई, मरुदेवे, णाभी उसभोत्ति।"

[जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति पत्र १३२]

जैन साहित्य की तरह वैदिक साहित्य में भी इस प्रकार का वर्णन उपलब्ध होता है। वहां पर कुलकरों के स्थान पर प्रायः मनु शब्द प्रयुक्त हुआ है। मनुस्मृति में स्थानांग के सात कुलकरों की तरह सात महातेजस्वी मनु इस प्रकार बतलाये गये हैं :–

(१) स्वयम्भू, (४) तामस, (७) वैवस्वत।
(२) स्वारोचिष्, (५) रैवत,
(३) उत्तम, (६) चाक्षुष,

यथा :- स्वायंभुवस्यास्य मनोः षड्वंश्या मनवोऽपरे।
सृष्टवन्तः प्रजाः स्वाः स्वाः महात्मानो महौजसः॥
स्वारोचिषश्चोत्तमश्च तामसो रैवतस्तथा।
चाक्षुषश्च महातेजा विवस्वत्सुत एव च॥
स्वायम्भुवाद्याः सप्तैते मनवो भूरि तेजसः।
स्वे स्वेऽन्तरे सर्वमिदमुत्पाद्यापुश्चराचरम्॥

[मनुस्मृति, अ. १/श्लो. ६१–६२–६३]

अन्यत्र चौदह मनुओं का भी उल्लेख मिलता है –

(१) स्वायम्भुव, (६) चाक्षुष, (११) धर्म सावर्णि,
(२) स्वारोचिष, (७) वैवस्वत, (१२) रुद्र सावर्णि,
(३) औत्तमि, (८) सावर्णि, (१३) रौच्य देव सावर्णि,
(४) तापस, (९) दक्षसावर्णि, (१४) इन्द्र सावर्णि।
(५) रैवत, (१०) ब्रह्मसावर्णि,

[मोन्योर-मोन्योर विलियम संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० ७८४]

मत्स्य पुराण, मार्कण्डेय पुराण, देवी भागवत और विष्णु पु
स्वायंभुव आदि चौदह मनु बतलाये गये हैं।

(१) स्वायंभुव, (६) चाक्षुष, (११) मेरु सा
(२) स्वारोचिष, (७) वैवस्वत, (१२) ऋभु,
(३) औत्तमि, (८) सावर्णि, (१३) ऋतुधा
(४) तामस, (९) रौच्य, (१४) विश्वक
(५) रैवत, (१०) भौत्य,

वैवस्वत के बाद मार्कण्डेय पुराण में ५ सावर्णि, तथा रौच्य औ
ये सात मनु और माने गये हैं।

श्रीमद्भागवत में अष्टम मनु–

(८) सावर्णि, (१२) रुद्र सावर्णि,
(९) दक्ष सावर्णि, (१३) देव सावर्णि,
(१०) ब्रह्म सावर्णि, (१४) इन्द्र सावर्णि,
(११) धर्म सावर्णि,

इस प्रकार १४ मनुओं के नाम बतलाये गये हैं। [भागवत

चतुर्दश मनु का काल-प्रमाण सहस्र युग* है। [भाग. स्कंध ८ अ
[हिन्दी विश्वकोष, १६ वां भाग, पृ. ६४८

मनुओं के विस्तृत परिचय के लिए मत्स्यपुराण के ९ वें अ
२१ वें अध्याय तक और जैन प्राचीन ग्रन्थ तिलोय पण्णत्ती के चतुर्थ मह
की ४२१ से ५०९ तक की गाथाएं पठनीय हैं। तिलोय पण्णत्ती में
कुलकरों और उनके समय की परिस्थितियों का वर्णन किया गया
परिशिष्ट में देखें।

उपरोक्त तुलनात्मक विवेचन से भारतीय मानवों की आदि व्य
ऐतिहासिकता पर अच्छा प्रकाश पड़ता है।

---

* कृपया परिशिष्ट देखें।

भगवान् ऋषभदेव

तीर्थंकर पद प्राप्ति के साधन

भगवान् ऋषभदेव मानव समाज के आदि व्यवस्थापक और प्रथम धर्म-नायक रहे हैं। जब तीसरे आरे के ८४ लाख पूर्व, तीन वर्ष, साढे आठ मास अवशेष रहे[1] और अन्तिम कुलकर महाराज नाभि जब कुलों की व्यवस्था करने में अपने आपको असमर्थ और मानव कुलों की बढ़ती हुई विषमता को देखकर चिन्तित रहने लगे तब पुण्यशाली जीवों के पुण्य प्रभाव और समय के स्वभाव से महाराज नाभि पत्नी मरुदेवी की कुक्षि से भगवान् ऋषभदेव का जन्म हुआ। आस्तिक दर्शनों का मन्तव्य है कि आत्मा त्रिकाल सत् है, वह अनन्त काल पहले था और भविष्य में भी रहेगा। वह पूर्व जन्म में जैसी करणी करता है वैसे ही फल भोग प्राप्त करता है। प्रकृति का सहज नियम है कि वर्तमान की सुख समृद्धि और विकसित दशा किसी पूर्व कर्म के फलस्वरूप ही मिलती है। पौधों को फला-फूला देख कर हम उनकी बुआई और सिंचाई का भी अनुमान करते हैं वैसे ही भगवान् ऋषभदेव के महा महिमामय पद के पीछे भी उनकी विशिष्ट साधनाएँ रही हुई हैं।

जब साधारण पुण्य-फल की उपलब्धि के लिए भी साधना और करणी की आवश्यकता होती है तब त्रिलोक पूज्य तीर्थंकर पद जैसी विशिष्ट पुण्य प्रकृति सहज ही किसी को कैसे प्राप्त हो सकती है ? उसके लिए बड़ी तपस्या, भक्ति और साधना की जाय तब कहीं उसकी उपलब्धि हो सकती है। जैनागम ज्ञाताधर्म कथा में तीर्थंकर गोत्र के उपार्जन के लिए वैसे बीस स्थानों का आराधन आवश्यक कारण भूत माना गया है, जो इस प्रकार है :-

"इमेहियणं बीसाए कारणेहिं आसेविय बहुलीकएहिं तित्थयर नामं गोयं कम्मं निवत्तिसु" तं जहा :-

अरहंत सिद्ध पवयण, गुरु थेर बहुस्सुए तवस्सिसु।
वच्छलयाय एसिं, अभिक्खनाणोवओगे य॥
दंसण विणए आवस्सए य सीलव्वए निरइयारो।
खणलव तवच्चियाए, वेयावच्चे समाही य॥

---

[1] (क) सुसम दुस्समाए ततियाएवि बहुवितिक्कंताए चउरासीए पुव्वसयसहस्सेहिं सेसएहिं एगूणणउइए य पक्खेहिं सेसएहिं आसाढवहुलपक्खे चउत्थीए उत्तरासाढाजोगजुत्ते मियंके विणीयाए भूमिए नाभिस्स कुलगरस्स मरुदेवाए भारियाए कुच्छिसि गब्भत्ताए उववन्नो। [आवश्यक चूर्णि (जिनदास) पूर्व भाग पृ० १३५]

(ख) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति

अप्पुव्वनाण गहणे, सुयभत्ती पवयणे पहावणाया।
एएहिं कारणेहिं, तित्थयरत्तं लहइ जीवो॥
[आव. नि० १७६-७८-ज्ञाता० अ. ८

अर्थात् (१) अरिहंत की भक्ति, (२) सिद्ध की भक्ति, (३) प्रवचन भक्ति, (४) गुरु, (५) स्थविर, (६) बहुश्रुत और (७) तपस्वी मुनि की सेवा करना, (८) निरंतर ज्ञान में उपयोग रखना, (९) निर्दोष सम्यक्त्व पालन करना, (१०) गुणवानों का विनय करना, (११) विधिपूर्वक षडा... करना, (१२) शील और व्रत का निर्दोष पालन करना, (१३) वैराग्य... वृद्धि करना, (१४) शक्तिपूर्वक तप और त्याग करना, (१५) चतुर्विध... समाधि उत्पन्न करना, (१६) व्रतियों की सेवा करना, (१७) अपूर्व... अभ्यास, (१८) वीतराग के वचनों पर श्रद्धा करना, (१९) सुपात्र दान और (२०) जिन-शासन की प्रभावना करना।

सब के लिए यह आवश्यक नहीं है कि बीसों ही बोलों की आराधना... जाय, कोई एक दो बोल की उत्कृष्ट साधना एवं अध्यवसायों की उच्चता... तीर्थंकर बनने की योग्यता पा लेते हैं।

महापुराण में तीर्थंकर बनने के लिए षोडश कारण भावना... आराधन आवश्यक बतलाया गया है। उनमें दर्शन-विशुद्धि, विनय-सम्पन्न... प्राथमिकता दी है; जब कि ज्ञाताधर्म कथा में अर्हद्भक्ति आदि से पहले विन...

इनमें सिद्ध, स्थविर और तपस्वी के बोल नहीं हैं, उन सबका ... षोडश-कारण भावनाओं में हो जाता है। अतः संख्या-भेद होते हुए भी ... में भेद नहीं है।

तत्वार्थ सूत्र में षोडश कारण भावना इस प्रकार है:-

"दर्शनविशुद्धिर्विनयसम्पन्नता, शीलव्रतेष्वनतिचारोऽभीक्ष्णं ज्ञानो... संवेगौ, शक्तितस्त्यागतपसी, संघ-साधु-समाधिर्वैयावृत्यकरणमर्हदाचार्य... प्रवचनभक्तिरावश्यका परिहाणिर्मार्गं प्रभावना प्रवचनवत्सलत्वमिति तीर्थं...
[तत्त्वार्थ सूत्र ...

भगवान् ऋषभदेव के जीव ने कहां किस भव में इन बोलों की आ... कर तीर्थंकर गोत्र कर्म का उपार्जन किया इसको समझने के लिए उनके... का परिचय आवश्यक है, जो इस प्रकार है:-

भगवान् ऋषभदेव के पूर्व भव व साधना

भगवान् ऋषभदेव का जीव एक बार महाविदेह के क्षितिप्रतिष्ठ... धन्ना नामक सार्थवाह के रूप में उत्पन्न हुआ। उसके पास विपुल सम्पदा... दूर के देशों में उसका व्यापार चलता था। एक बार उसने यह घोषणा... कि जिस किसी को अर्थोपार्जन के लिए विदेश चलना हो, वह मेरे साथ...

उसको सभी प्रकार की सुविधाएं दूंगा। यह घोषणा सुन कर सैकड़ों लोग उसके साथ व्यापार के लिए चल पड़े।

आचार्य धर्मघोष को भी वसंतपुर जाना था, उन्होंने निर्जन अटवी पार करने के लिए सहज प्राप्त इस संयोग को अनुकूल समझा और अपनी शिष्यमंडली सहित धन्ना सेठ के साथ हो लिए। सेठ ने अपने भाग्य की सराहना करते हुए अनुचरों को आदेश दिया कि आचार्य के भोजनादि का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाय। आचार्य ने बताया कि श्रमणों को अपने लिए बनाया हुआ आधाकर्मी और औद्देशिक आदि दोषयुक्त आहार निषिद्ध है। उसी समय एक अनुचर आम्रफल लेकर आया। सेठ ने आचार्य से आम्रफल ग्रहण करने की प्रार्थना की तो पता चला कि श्रमणों के लिए फल-फूल आदि हरे पदार्थ भी अग्राह्य हैं। श्रमणों की इस कठोर चर्या को सुन कर सेठ का हृदय भक्ति से आप्लावित और मस्तक श्रद्धावनत हो गया।

सार्थवाह के साथ आचार्य भी पथ को पार करते हुए आगे बढ़ रहे थे। तदनन्तर वर्षा का समय आया और उमड़ घुमड़ कर घनघोर घटाएं बरसने लगीं। सार्थवाह ने वर्षा के कारण मार्ग में पंक व पानी आदि की प्रतिकूलता देख कर जंगल में ही एक सुरक्षित स्थान पर वर्षावास बिताने का निश्चय किया। आचार्य धर्मघोष भी वहीं पर एक अन्य निर्दोष स्थान पर ठहर गये। संभावना से अधिक समय तक जंगल में रुकने के कारण सार्थ की सम्पूर्ण खाद्य सामग्री समाप्त हो गई, लोग वन के फल, मूल, कन्दादि से जीवन बिताने लगे।

ज्यों ही वर्षा की समाप्ति हुई कि सेठ को अकस्मात् आचार्य की स्मृति हो आई। उसने सोचा, आचार्य धर्मघोष भी हमारे साथ थे। मैंने अब तक उनकी कोई सुधि नहीं ली। इस प्रकार पश्चात्ताप करते हुए वह शीघ्र आचार्य के पास गया और आहार की अभ्यर्थना करने लगा। आचार्य ने उसको श्रमण-आचार की मर्यादा समझाई। विधि-अविधि का ज्ञान प्राप्त कर सेठ ने भी परम उल्लास-भाव से मुनि को विपुल घृत का दान दिया। उत्तम पात्र, श्रेष्ठ द्रव्य और उच्च अध्यवसाय के कारण उसको वहां सम्यग्दर्शन की प्रथम बार उपलब्धि हुई अतः पहले के अनन्त भवों को छोड़ कर यहीं से ऋषभदेव का प्रथम भव गिना गया है। ऋषभदेव के अन्तिम तेरह भवों में यह प्रथम भव है।

धन्ना सार्थवाह के भव से निकल कर देव तथा मनुष्य के विविध भव करते हुए आप सुविधि वैद्य के यहां पुत्र रूप से उत्पन्न हुए। यह ऋषभदेव का नवमां भव है। इनका नाम जीवानन्द रखा गया। जीवानन्द के चार अन्तरंग मित्र थे, पहला राजपुत्र महीधर, दूसरा श्रेष्ठिपुत्र, तीसरा मंत्री-पुत्र और चौथा सार्थवाह-पुत्र। एक बार जब वह अपने साथियों के साथ घर में वार्तालाप कर रहा था, उस समय उसके यहां एक दीर्घ-तपस्वी मुनि भिक्षार्थ पधारे। प्रतिकूल आहार-विहारादि कारणों से मुनि के शरीर में कृमिकुष्ट की व्याधि उत्पन्न हो गई थी। राजपुत्र महीधर ने मुनि की कुष्ट के कारण विपन्न स्थिति को देख कर जीवानन्द से कहा,

मित्र ! तुम सब लोगों की चिकित्सा करते हो, पर खेद की बात है कि इस मुनि की भीषण व्याधि को देखकर भी तुम कुछ करने को तत्पर नहीं हो। उत्तर में जीवानन्द ने कहा, भाई ! तुम्हारा कथन सत्य है पर इस चिकित्सा के लिए मुझे जिन वस्तुओं की आवश्यकता है, उनके अभाव में दिशा में कर ही क्या सकता हूं ? मित्र के पूछने पर जीवानन्द ने बताया मुनि की चिकित्सा के लिए रत्नकम्बल, गौशीर्ष चन्दन और लक्ष पाक तीन वस्तुएं आवश्यक हैं। लक्ष पाक तेल तो मेरे पास है पर अन्य दो वस्तु पास नहीं हैं। ये दोनों वस्तुएं प्राप्त हो जायं तो मुनि की चिकित्सा हो सकती है।

यह सुन कर महीधर ने अपने चारों मित्रों के साथ उसी समय वस्तुएं उपलब्ध करने की इच्छा से बाजार की ओर प्रस्थान कर दिया और के एक बड़े व्यापारी के यहां पहुंच कर रत्नकम्बल और गौशीर्ष चन्दन की गवेषणा की। व्यापारी ने इन तरुणों को इन दोनों वस्तुओं का मूल्य एक लाख मोहरें बताया और पूछा कि इन दोनों वस्तुओं की किनके लिए आवश्यकता है? उन लोगों के इस उत्तर से कि कुष्ठ-रोग-पीड़ित तपस्वी मुनि की चिकित्सा के लिए उन्हें इन दो बहुमूल्य वस्तुओं की आवश्यकता है, वह सेठ बड़ा प्रभावित हुआ और सोचने लगा कि जब इन बालकों के मन में मुनि के प्रति इतनी श्रद्धा है तो क्या मैं स्वयं इस सेवा का लाभ नहीं ले सकता ? मुनि के लिए बिना कुछ लिए ही दवा देना उचित है, यह सोच कर उसने बिना मूल्य लिए दोनों वस्तुएं दे दीं। वैद्य जीवानन्द और उसके साथी तीनों आवश्यक औषधियां लेकर साधु के पास उद्यान में गये जहां कि मुनि ध्यानावस्थित थे। जीवानन्द ने वन्दन कर मुनि के शरीर पर पहले तेल का मर्दन किया। तेल रोम-कूपों से शरीर में समा गया तो तेल के अन्दर पहुंचते ही कुष्ठकृमि व्याकुल कर बाहर निकलने लगे। तदनन्तर वैद्यपुत्र ने रत्नकम्बल से साधु के शरीर को ढक दिया और सारे कीड़े शीतल रत्नकम्बल में आ गये। इस पर वैद्य ने कम्बल को किसी पशु के मृत कलेवर पर रख दिया जिससे वे सब कीड़े उसमें समा गये। फिर जीवानन्द ने मुनि के शरीर पर गौशीर्ष चन्दन का लेप किया। इस प्रकार तीन बार मालिश करके जीवानन्द ने अपने चिकित्सा-कौशल से उन मुनि को पूर्णरूपेण रोग से मुक्त कर दिया।[1]

मुनि की इस प्रकार निश्छल सेवा से जीवानन्द आदि मित्रों ने पुण्य-लाभ प्राप्त किया। मुनि को पूर्ण रूप से स्वस्थ देख कर उनका मन गद्गद् हो गया। जीवानन्द ने मुनि से ध्यानान्तराय के लिए क्षमा याचना की। मुनि ने उनको त्याग विरागपूर्ण उपदेश दिया जिससे प्रभावित होकर जीवानन्द ने अपने चारों मित्रों के साथ श्रावकधर्म ग्रहण किया। तदनन्तर श्रमणधर्म की आराधना कर आयु पूर्ण होने पर पांचों मित्र अच्युतकल्प विमान में देव के अधिकारी बने।

[1] आवश्यक मलय वृत्ति पृ० १९५

जीवानन्द ने अपनी विशिष्ट शुभ साधना के फलस्वरूप देवलोक की आयु पूर्ण कर पुष्कलावती विजय में महाराज वज्रसेन की रानी धारिणी के यहां पुत्र रूप से जन्म ग्रहण किया। गर्भ-काल में माता ने चौदह महा-स्वप्न देखे। फलस्वरूप पुत्र का नाम वज्रनाभ रखा गया, जो आगे चल कर षट्खण्ड राज्य का अधिकारी चक्रवर्ती बना। जीवानन्द के अन्य चार मित्र बाहु, सुबाहु, पीठ और महापीठ के नाम से सहोदर भाई के रूप में उत्पन्न हुए। वज्रनाभ ने पूर्व जन्म की मुनि सेवा के फलस्वरूप चक्रवर्ती का पद प्राप्त किया और अन्य भाई माण्डलिक राजा हुए। इनके पिता तीर्थंकर वज्रसेन ने जब केवली होकर देशना आरम्भ की तब पूर्वजन्म के संस्कारवश चक्रवर्ती वज्रनाभ भी वैराग्यभाव में रंग कर दीक्षित हो गये और चिर काल तक संयम धर्म की साधना करते हुए उन्होंने दीर्घकाल तक तपस्या की और अर्हद्‌भक्ति आदि बीस स्थानों की सम्यक् आराधना कर उसी जन्म में तीर्थंकर-नाम कर्म का उपार्जन किया।

जन्म

वज्रनाभ का जीव सर्वार्थसिद्ध में देव हुआ। स्थिति पूर्ण कर अषाढ कृष्णा चतुर्थी को[1] सर्वार्थसिद्ध विमान से च्युत हुए और उत्तराषाढा नक्षत्र के योग में माता मरुदेवी की कुक्षि में गर्भरूप से उत्पन्न हुए।

सर्वार्थसिद्ध विमान से च्यव कर जिस समय भगवान् ऋषभदेव का जीव मरुदेवी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ, उस दिन रात्रि के पिछले भाग में माता मरुदेवी ने निम्नलिखित चौदह शुभ स्वप्न देखे :–

(१) गज,	(६) चन्द्र,	(११) क्षीर समुद्र,
(२) वृषभ,	(७) सूर्य,	(१२) विमान,
(३) सिंह,	(८) ध्वजा,	(१३) रत्नराशि और,
(४) लक्ष्मी,	(९) कुंभ,	(१४) निर्धूम अग्नि।[2]
(५) पुष्पमाला,	(१०) पद्मसरोवर,	

कल्पसूत्र में उल्लिखित गाथा में विमान के साथ एक नाम 'भवन' भी दिया है। इसका भाव यह है कि जो जीव नरक भूमि से आते उनकी माता भवन का स्वप्न देखती और देवलोक से आने वालों के लिए विमान का शुभ-स्वप्न बतलाया गया है। संख्या से तीर्थंकर और चक्रवर्ती की माताएं चौदह स्वप्न ही देखती हैं। दिगम्बर परम्परा में सोलह स्वप्न देखना बतलाया है।[3]

---

[1] उववातो सव्वट्ठे सव्वेसिं पढमतो चुतो उसभो।
रिक्खेण असाढाहिं, असाढ बहुले चउत्थिए।। [आवश्यक निर्युक्ति गा० १८२।]

[2] गय-वसह-सीह-अभिसेय-दाम ससि-दिणयरं-झयं-कुम्भं।
पउमसर, सागर, विमाण-भवण-रयणुच्चय सिहिं च।। [कल्पसूत्र, सू० ३३।]

[3] आचार्य जिनसेन ने मत्स्य-युगल और सिंहासन ये दो स्वप्न बढ़ा कर सोलह स्वप्न बतलाये हैं। [महापुराण पर्व १२ पृ० १०३–१२०।]

यहां यह स्मरणीय है कि अन्य सब तीर्थंकरों की माताएं प्रथम हाथी को मुख में प्रवेश करते हुए देखती हैं, जबकि मरुदेवी ने प्रथम वृषभ को अपने मुख में प्रवेश करते हुए देखा।

स्वप्नदर्शन के पश्चात् जागृत होकर मरुदेवी महाराज नाभि के पास और उसने मृदु व मनोहर शब्दों में सारा वृत्तान्त नाभि कुलकर से कहा। उस समय स्वप्न-पाठक नहीं थे अतः स्वयं महाराज नाभि ने औत्पातिकी से स्वप्नों का फल सुनाया। सुखपूर्वक गर्भकाल पूर्ण कर चैत्र कृष्णा अ को उत्तराषाढा नक्षत्र के योग में माता मरुदेवी ने सुखपूर्वक पुत्र-रत्न को दिया। कहीं-कहीं अष्टमी के बदले नवमी को[2] जन्म होना लिखा गया है। है उदय तिथि, अस्ततिथि की दृष्टि से ऐसा तिथिभेद लिखा गया हो।

जन्मकाल और महिमा

भगवान् ऋषभदेव के जन्मकाल के सम्बन्ध में इतिहासविद् आगम और आगमेतर साहित्य के द्वारा ही उनके जन्मकाल एवं जीवन सम्बन्धी परिचय का प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। जैन परम्परा तरह वैदिक परम्परा के आचार्यों ने प्रथम मनु स्वायंभुव के मन्वन्तर में वंशज अग्नीध्र से नाभि का जन्म होना माना है, जो ऋषभदेव के पि गये हैं। इस प्रकार ऋषभदेव का जन्मकाल सतयुग के अन्त में व रा से बहुत पूर्व माना गया है।

जिस समय भगवान् ऋषभदेव का जन्म हुआ, सभी दिशाएं शान्त प्रभु के जन्म से सम्पूर्ण लोक में उद्योत हो गया। क्षण भर के लिए नार के जीवों को भी विश्रान्ति प्राप्त हुई। छप्पन दिक्कुमारियों और देवों ने आकर जन्म-महोत्सव मनाया। जन्माभिषेक की विशेष जानकारी के लिए दीव पन्नत्ती, पांचवां वक्षस्कार और आवश्यक चूर्णि द्रष्टव्य हैं।

जन्मकाल में वैश्रमण देव ने तीर्थंकर के जन्म भवन पर बत्तीस हिरण्य की वर्षा की।[3] महाराज नाभि ने भी पुत्र-जन्म का हर्ष से उत्सव तत्कालीन मानवों के लिए जन्म-महोत्सव मनाने का यह पहला ही प्रसंग

नामकरण

जन्म-महोत्सव के बाद नामकरण का अवसर आया। माता म बालक के गर्भ में आते ही प्रथम वृषभ का स्वप्न देखा और बालक के पर भी वृषभ का शुभ-लांछन (चिह्न)[4] था अतः उनका नाम ऋषभदे

---

[1] चैत्त बहुलट्ठमीए जातो उसभो आसाढ नक्खत्ते।
[आवश्यक निर्युक्ति० गा० १८४ व कल्पसूत्र, सू

[2] चैत्रे मास्यसिते पक्षे, नवम्यामुदये रवेः। [महापुराण जिनसेन सर्ग १३ श्लो

[3] जम्बू दीव पन्नत्ती, पाँचवां वक्षस्कार।

[4] उरुसु उसभलंछणं, उसभो सुमिणंमि तेण कारणेण उसभो त्ति णामं कयं।
[आव० चू० (जिनदास)

गया। भगवती आदि आगम और आगमेतर साहित्य में ऋषभ के साथ 'नाथ' एवं 'देव' का भी प्रयोग किया गया है, जो ऋषभ के प्रति भक्ति भाव का द्योतक हो सकता है।

दिगम्बर परम्परा में ऋषभ का कई स्थानों पर वृषभदेव नाम मिलता है। वृषभदेव जगत् में ज्येष्ठ हैं। ये जगत् के लिए हितकारक धर्म रूपी अमृत की वर्षा करने वाले हैं, इसलिए इन्द्र ने उनका नाम वृषभदेव रखा।[१] भागवतकार के मन्तव्यानुसार सुन्दर शरीर, विपुल कीर्ति, तेज, बल, यश और पराक्रम आदि सद्गुणों के कारण महाराज नाभि ने इनका नाम ऋषभ रखा।[२] महापुराण के अनुसार श्रेष्ठ धर्म से शोभायमान होने के कारण इन्द्र ने इन्हें वृषभ स्वामी नाम से सम्बोधित किया।[३]

जैन ऐतिहासज्ञों ने धर्म कर्म के आद्य प्रवर्तक होने से आदिनाथ के रूप में भी इनका उल्लेख किया है। जनसाधारण में ये इसी नाम से अधिक जाने जाते हैं। भगवान् ऋषभदेव जब माता के गर्भ में आये तब कुबेर ने हिरण्य की वृष्टि की, इसलिए इनका एक नाम हिरण्यगर्भ भी कहा जाता है।[४] चूर्णिकार के अनुसार इनका नाम काश्यप भी माना गया है। इक्षु के विकार, रस (परिवर्तित स्वरूप) को कास्य कहा है, उसका पान करने से ये काश्यप कहे गये हैं।[५]

कल्पसूत्र में ऋषभदेव के ५ नाम बतलाये गये हैं:-

(१) ऋषभ (२) प्रथम राजा (३) प्रथम भिक्षाचर (४) प्रथम जिन और (५) प्रथम तीर्थंकर।[६]

वंश और गोत्र

भगवान् ऋषभदेव का कोई वंश नहीं था क्योंकि युगलिकों के समय में मानव समाज किसी कुल, जाति या वंश के विभाग से विभक्त नहीं था। जब ऋषभदेव एक वर्ष से कुछ कम की बाल्यवय में अपने पिता की गोद में बैठे हुए क्रीड़ा कर रहे थे, तब हाथ में इक्षुदण्ड लेकर इन्द्र उपस्थित हुए। इन्द्र के हाथ में इक्षु-यष्टि देख कर ऋषभ ने उसे प्राप्त करने के लिए अपना प्रशस्त लक्षणयुक्त दाहिना हाथ आगे बढ़ाया। तब सर्वप्रथम इन्द्र ने इक्षु-भक्षण की रुचि जानकर

---

[१] महापुराण, जिनसेन पर्व १४, श्लोक १६०, पृ० ३१९

[२] श्रीमद्भागवत ५-४-२ प्रथम खण्ड गोरखपुर संस्करण ३, पृ० ५५६।

[३] महापुराण श्लोक १६१, पर्व १४, पृ० ३१९।

[४] सैषा हिरण्मयी वृष्टिर्धनेशेन निपातिता।
विभोर्हिरण्यगर्भत्वमिव बोधयितुं जगत्॥ [महापुराण, पर्व १२ श्लोक ९५]

[५] कास उच्छु तस्य विकारो कास्यः रसः, सो जस्स पाणं सो कासवो-उसभस्वामी।
दशवैकालिक, अध्ययन चौथा, अगस्त्य ऋषि की चूर्णि।

[६] उसभे इवा, पढमराया इवा, पढमभिक्खाचरे इवा, पढम जिणे इवा, पढम तित्थकरे इवा।
[कल्पसूत्र १९४]

प्रभु के वंश का नाम इक्ष्वाकु वंश[1] रखा। तभी से इनकी जन्मभूमि भी इक्ष्वाकु भूमि के नाम से प्रसिद्ध हुई।[2] पानी की क्यारी को काटने से जैसे पानी की धारा वह चलती है वैसे ही इक्षु के काटने और छेदन करने से रस का स्राव होता है अतः भगवान का गोत्र कास्यप कहा गया।[3]

भगवान् ऋषभदेव से जन्म ही तीन ज्ञान के धारक थे। इनके मतिज्ञान, एवं श्रुतिज्ञान भी निर्मल थे। इन्हें जाति स्मरण ज्ञान से अपने पूर्व जन्म का सम्यक् परिज्ञान था।[4] यही कारण है कि इन्हें किसी कलागुरु से शिक्षा प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं हुई। ये स्वयं लोकगुरु थे।

जब देवपति शकेन्द्र ने इनकी विवाह योग्य अवस्था समझी तब सुनन्दा और सुमंगला के साथ नवीन विधि से इनका विवाह सम्पन्न किया। इससे पूर्व तत्कालीन मानव समाज में ऐसी कोई वैवाहिक प्रथा प्रचलित नहीं थी। इससे पहले के मनुष्य केवल नर-नारी के रूप से युगल रूप में जन्म पाते और समयान्तर में पति-पत्नी के रूप में परिवर्तित हो जाया करते थे। पति-पत्नी या भाई-बहिन का उनके बीच कोई नाता नहीं हुआ करता था। सर्वप्रथम भगवान् ऋषभदेव ने ही भावी मानव-समाज के हितार्थ विवाह-परम्परा का सूत्रपात किया। उन्होंने मानव-मन की बदली हुई परिस्थिति का अध्ययन किया और उनमें बढ़ती हुई वासना को विवाह सम्बन्ध से सीमित कर मानव जाति को वासना की भट्टी में गिरने से बचाया।[5]

बीस लाख पूर्व तक कुमारावस्था में रहने के पश्चात् प्रभु का विवाह हुआ। देवेन्द्र ने वर सम्बन्धी कार्य किये और देवियों ने सुनन्दा एवं सुमंगला के लिए वधूपक्ष का कार्य सम्पन्न किया। तभी से अविवाहित स्त्री-पुरुष के बीच संबंध होना निन्दित माना जाने लगा।

अवसर्पिणी काल में विवाह-प्रथा का यही प्रथम आरम्भ काल था।

भगवान् ऋषभदेव की सन्तति

विवाह के पश्चात् ऋषभदेव का राज्याभिषेक हुआ।[6] छः लाख पूर्व[7] से कुछ न्यून काल तक सुनन्दा एवं सुमंगला के साथ विवाह सम्बन्ध से रहते हुए भगवान् को संतानोत्पत्ति हुई। सुमंगला ने भरत और ब्राह्मी तथा सुनन्दा ने बाहुबली और सुन्दरी को युगल रूप में जन्म दिया। सुमंगला ने कालान्तर में

---

[1] (क) आवश्यक निर्युक्ति, गाथा १८६ (ख) निर्युक्ति दीपिका गाथा १८६

[2] आवश्यक चूर्णि, पृ० १५२

[3] आव० म० पूर्व भाग, पृ० १६२। –चूर्णि पृ० १५३।

[4] आ० म० १८६ पृ० १४३०

[5] भोग सम्मत्थं नाउं, वरकम्मं तस्स कासि देविन्दो।
दोण्हं बरमहिलाणं, बहुकम्मं कासि देवीतो॥ आवश्यक निर्युक्ति गा० १६१ पृ० १६३

[6] तीर्थंकर-महावीर, पृ० ३०, भा० १

[7] कृपया परिशिष्ट देखें।

युगल रूप से ४६ बार में कुल ६८ पुत्रों को और जन्म दिया। इस प्रकार प्रभु के १०० पुत्र और दो पुत्रियां उत्पन्न हुईं।[1] उनके नाम इस प्रकार हैं :–

१. भरत	३३. वसुवर्मा	६५. हरिषेण
२. बाहुबली	३४. सुवर्मा	६६. जय
३. शङ्ख	३५. राष्ट्र	६७. विजय
४. विश्वकर्मा	३६. सुराष्ट्र	६८. विजयन्त
५. विमल	३७. बुद्धिकर	६९. प्रभाकर
६. सुलक्षण	३८. विविधकर	७०. अरिदमन
७. अमल	३९. सुयश	७१. मान
८. चित्राङ्ग	४०. यशःकीर्ति	७२. महाबाहु
९. ख्यातकीर्ति	४१. यशस्कर	७३. दीर्घबाहु
१०. वरदत्त	४२. कीर्तिकर	७४. मेघ
११. दत्त	४३. सुषेण	७५. सुघोष
१२. सागर	४४. ब्रह्मसेण	७६. विश्व
१३. यशोधर	४५. विक्रान्त	७७. वराह
१४. अवर	४६. नरोत्तम	७८. वसु
१५. थवर	४७. चन्द्रसेन	७९. सेन
१६. कामदेव	४८. महसेन	८०. कपिल
१७. ध्रुव	४९. सुसेण	८१. शैल विचारी
१८. वत्स	५०. भानु	८२. अरिंजय
१९. नन्द	५१. कान्त	८३. कुञ्जरबल
२०. सूर	५२. पुष्पयुत	८४. जयदेव
२१. सुनन्द	५३. श्रीधर	८५. नागदत्त
२२. कुरु	५४. दुर्द्धर्ष	८६. काश्यप
२३. अंग	५५. सुसुमार	८७. बल
२४. बंग	५६. दुर्जय	८८. वीर
२५. कौशल	५७. अजयमान	८९. शुभमति
२६. वीर	५८. सुधर्मा	९०. सुमति
२७. कलिंग	५९. धर्मसेन	९१. पद्मनाभ
२८. मागध	६०. आनन्दन	९२. सिंह
२९. विदेह	६१. आनन्द	९३. सुजाति
३०. संगम	६२. नन्द	९४. सञ्जय
३१. दशार्ण	६३. अपराजित	९५. सुनाम
३२. गम्भीर	६४. विश्वसेन	९६. नरदेव

[1] कल्पसूत्र किरणावली, पत्र १५१–२

९७. चित्तहर ९८. सुखर ९९. दृढ़रथ १००. प्रभं

दिगम्बर परम्परा के आचार्य जिनसेन ने भगवान् ऋषभदेव के
माने हैं। एक नाम वृषभसेन अधिक दिया है।[2]

भगवान् ऋषभदेव की पुत्रियों के नाम – १. ब्राह्मी २. सुन्दरी

आहार विधि

भगवान् ऋषभदेव की राज्य व्यवस्था से पूर्व मानव कल्पवृक्ष के कंद-मूल आदि के भोजन पर ही निर्भर थे। जब जनसंख्या दिन प्रति लगी, तब कन्द-मूल आदि भी पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं होने लगे वृक्षों की संख्या भी कम हो चुकी थी, फलतः मानवों ने स्वतः उत्पन्न जंगली आदि अन्न का कच्चे रूप में उपयोग करना आरंभ किया।

उस समय अग्नि आदि पकाने के साधनों का सर्वथा अभाव था उसे कच्चा ही खाने लगे। जब कच्चा अन्न खाने से लोगों को अपच की होने लगी तब वें ऋषभदेव के पास पहुंचे और उनसे इस समस्या के की प्रार्थना की। ऋषभदेव ने उनको शालियों का छिलका हटा कर से उन्हें मसल कर खाने की सलाह दी। जब वह भी सुपच नहीं हो में भिगो कर और मुट्ठी व बगल में रख कर गर्म करके खाने की राय अपच की बाधा उससे भी दूर नहीं हुई।

ऋषभदेव अतिशय ज्ञानी होने के कारण अग्नि के विषय में जा यह भी जानते थे कि काल की एकान्त स्निग्धता से अभी अग्नि उत्प सकती, अतः जब काल की स्निग्धता कुछ कम हुई तब उन्होंने लकड़ियाँ कर अग्नि[3] उत्पन्न की और लोगों को पाक कला का ज्ञान कराया।

चूर्णिकार ने लिखा है कि संयोगवश एक दिन जंगल के वृक्षों में संघर्ष हुआ और उससे अग्नि उत्पन्न हो गई। वह भूमि पर गिरे सूखे घास को जलाने लगी। युगलियों ने उसे रत्न समझ कर ग्रहण क किन्तु उसको छूते ही जब हाथ जलने लगे तो वे अंगारों को छोड़ कर के पास आये और सारा वृत्तान्त कह सुनाया। ऋषभ ने कहा, आस घास साफ करने से आग आगे नहीं बढ़ सकेगी। उन लोगों ने वैसा और आग का बढ़ना बन्द हो गया।

फिर प्रभु ने बताया कि इसी आग में कच्चे धान्य को पका जाता है। युगलियों ने आग में धान्य को डाला तो वह जल गया

[1] (क) कल्पसूत्र किरणावली, पत्र १५१–५२
(ख) कल्पसूत्र सुबोधिका टीका, व्याख्यान ७, पृ० ४९८
[2] महापुराण पर्व १६, पृ० ३४६
[3] आवश्यक चूर्णि, पृ० १५५

युगलिक समुदाय पुनः ऋषभ के पास आया और बोला कि आग तो स्वयं ही सारा धान्य खा जाती है। तब भगवान् ने मिट्टी गीली कर हाथी के कुंभस्थल पर उसे जमा कर पात्र बनाया और बोले कि ऐसे बर्तन बना कर धान्य को उन बर्तनों में रख कर आग पर पकाने से वह जलेगा नहीं। इस प्रकार वे लोग आग में पका कर खाद्य तैयार करने लगे। मिट्टी के बर्तन और भोजन पकाने की कला सिखा कर ऋषभदेव ने उन लोगों की समस्या हल की इसलिये लोग उन्हें धाता एवं प्रजापति कहने लगे। सब लोग शान्ति से अपना जीवन बिताने लगे।

राज्याभिषेक

अन्तिम कुलकर नाभि के समय में ही जब उनके द्वारा अपराध-निरोध के लिये निर्धारित की गई धिक्कार नीति का उल्लंघन होने लगा और अपराध-निवारण में उनकी नीति प्रभावहीन सिद्ध हुई, तब युगलिक लोग घबरा कर ऋषभदेव के पास आए और उन्हें वस्तुस्थिति का परिचय कराते हुए सहयोग की प्रार्थना की।

ऋषभदेव ने कहा – जनता में अपराधी मनोवृत्ति नहीं फैले और मर्यादा का यथोचित पालन हो इसके लिये दण्ड-व्यवस्था होती है, जिसका संचालन राजा किया करता है और वही समय-समय पर दण्डनीति में सुधार करता रहता है। राजा का राज्यपद पर अभिषेक किया जाता है।

यह सुन कर युगलियों ने कहा – महाराज ! आप ही हमारे राजा बन जाइये।

इस पर ऋषभ ने नाभि के सम्मानार्थ कहा – जाओ इसके लिये तुम सब महाराज नाभि से निवेदन करो।

युगलियों ने नाभि के पास जाकर निवेदन किया। समय के जानकार नाभि ने भी युगलियों की नम्र प्रार्थना सुन कर कहा – मैं तो वृद्ध हूं, अतः तुम अब ऋषभदेव को राज्यपद देकर उन्हें राजा बना लो।

नाभि की आज्ञा पाकर युगलिक-जन पद्म सरोवर पर गये और कमल के पत्तों में पानी ले कर आए। उसी समय आसन चलायमान होने से देवेन्द्र भी वहां आ गये। उन्होंने सविधि सम्मानपूर्वक देवगण के साथ ऋषभदेव का राज्याभिषेक किया और उन्हें राज-योग्य अलंकारों से विभूषित कर दिया।

युगलियों ने सोचा कि अलंकारविभूषित ऋषभ के शरीर पर पानी कैसे डाला जाय। ऐसा सोच कर उन्होंने ऋषभदेव के चरणों पर पानी डाल कर अभिषेक किया [1] और उन्हें अपना राजा स्वीकार किया।

इस प्रकार ऋषभदेव उस समय के प्रथम राजा घोषित हुए। इन्होंने पहले से चली आ रही कुलकर व्यवस्था को समाप्त कर नवीन राज्य व्यवस्था का निर्माण किया।

---

[1] आव० चूर्णि, पृ० १५४

युगलियों के इस विनीत स्वभाव को देख कर शक्रेन्द्र ने उस जगह नगरी के नाम से उनकी वसति कायम कर दी। उस नगरी का दू अयोध्या भी कहा जाता है।

शासन व्यवस्था का विकास

राज्याभिषेक के पश्चात् ऋषभदेव ने राज्य की सुव्यवस्था और के लिये प्रथम आरक्षक दल की स्थापना की। उसके अधिकारी 'उग्र' कहे जाने लगे। फिर राजकीय व्यवस्था में परामर्श के लिये एक मंत्रि निर्माण किया गया, जिसके अधिकारी को 'भोग' नाम से सम्बोधित कि लगा। इसके अतिरिक्त एक परामर्श-मंडल की स्थापना की गई जो सन्निकट रह कर उन्हें समय-समय पर परामर्श देता रहे। परामर्श सदस्यों को 'राजन्य' और सामान्य कर्मचारियों को 'क्षत्रिय' नाम से किया जाने लगा।[1]

विरोधी तत्त्वों से राज्य की रक्षा करने तथा दुष्टों को दण्डि के लिये उन्होंने चार प्रकार की सेना और सेनापतियों की व्यवस्था अपराधी की खोज एवं अपराध-निरोध के लिए साम, दाम, दण्ड नीति तथा निम्नलिखित चार प्रकार की दण्ड-व्यवस्था का भी किया गया :-

(१) **परिभाषण :** अपराधी को कुछ समय के लिये आक्रोशपूर्ण दण्डित करना।

(२) **मण्डलीबन्ध :** अपराधी को कुछ समय के लिये सीमित में रोके रखना।

(३) **चारकबन्ध :** बन्दीगृह जैसे किसी एक स्थान में अप बन्द रखना।

(४) **छविविच्छेद :** अपराधी के हाथ पैर जैसे शरीर के किसी का छेदन करना।

उपर्युक्त चार नीतियों के सम्बन्ध में कुछ आचार्यों का मत है दो नीतियां भरत के समय से प्रचलित हुई थीं परन्तु भद्रबाहु के मत बन्ध और घातनीति भी ऋषभदेव के समय में ही प्रचलित हो गई थीं।

धर्मानुकूल लोक-व्यवस्था

राष्ट्र की सुरक्षा और उत्तम व्यवस्था कर लेने के पश्चात् लोक जीवन को स्वावलम्बी बनाना अवश्यक समझा। राष्ट्रवासी स्वयं सरलता से अल्पारंभपूर्वक बिता सकें ऐसी शिक्षा देने के विचार

[1] आवश्यक निर्युक्ति गाथा १६८

[2] आव० नि०, गा० २ से १४

१०० शिल्प और असि, मसि, कृषिरूप तीन कर्मों का प्रजा के हितार्थ उपदेश दिया। शिल्प कर्म का उपदेश देते हुए आपने प्रथम कुंभकार का कर्म सिखाया। फिर वस्त्र-वृक्षों के क्षीण होने पर पटकार-कर्म और गेहागार-वृक्षों के अभाव में वर्धकी कर्म सिखाया, फिर चित्रकार-कर्म और रोम-नखों के बढ़ने पर काश्यपक अर्थात् नापित-कर्म सिखाया। इन पांच मूल शिल्पों के बीस २ भेदों से १०० (सौ) प्रकार के कर्म उत्पन्न हुए[1]। व्यवहार की दृष्टि से उन्होंने मान, उन्मान, अवमान और प्रतिमान का भी ज्ञान कराया।[2]

कला विज्ञान

आपने भरत और ब्राह्मी-सुन्दरी के माध्यम से अपनी प्रजा को लेखन आदि बहत्तर (७२) पुरुषों की कलाएं और ६४ महिला-गुण अर्थात् स्त्रियों की कलाएं सिखाईं।[3]

लोक स्थिति एवं कलाज्ञान

इस प्रकार लोकनायक और राष्ट्रस्थविर के रूप में उन्होंने विविध व्यवहारोपयोगी विधियों से तत्कालीन जन-समाज को परिचित कराया। इस समय तक ऋषभदेव आरंभ, परिग्रह की हेयता को समझते हुए भी उसके त्यागी नहीं थे। अतः जनहित और उदय-कर्म के फल भोगार्थ आरंभयुक्त कार्य भी करते-करवाते रहे। पर इसका अर्थ यह नहीं कि वे इन कर्मों को निष्पाप समझ रहे थे। उन्होंने मानव जाति को अभक्ष्य-भक्षण जैसे महारम्भी जीवन से बचा कर अल्पारम्भी जीवन जीने के लिये असि, मसि, कृषि-रूप कर्म की शिक्षा दी और समझाया कि आवश्यकता से कभी सदोष प्रवृत्ति भी करनी पड़े तो पाप को पाप समझ कर निष्पाप जीवन की ओर लक्ष्य रखते हुए चलना चाहिये। यही सम्यग्दर्शीपन है।

लोकजीवन को स्वाश्रयी बनाने के साथ ही साथ उसे सुन्दर एवं स्वपर-हितकारी बनाने के लिये उन्होंने अपनी पुत्री ब्राह्मी को दाहिने हाथ से अठारह प्रकार की लिपियों का ज्ञान कराया[4] और सुन्दरी को बायें हाथ से गणित-ज्ञान

एवं ता पढमं कुंभकारा उपपन्ना......इमाणि सिप्पाणि उप्पाएयव्वाणि, तत्थ पच्छा वत्थरुक्खा परिहीणा ताएऽणंतिक्का उप्पाइया, पच्छा गेहागारा परिहीणा ताए वड्ढती उप्पाइता, पच्छा रोमनखाणि वड्ढंति ताहे कम्मकरा उप्पाइत्ता ण्हाविया य...एवं सिप्पसयं एवं ता सिप्पाण उप्पत्ति ॥ आव० चू० पृ० १५६ पूर्व भाग ॥

आवश्यक निर्युक्ति, गा० २१३–१४

तेवट्ठिं च पुव्वसयसहस्साइं रज्जवास मज्झे वसमाणे लेहाइयाए गणियप्पहाणाओ सऊणरूय-पज्जवसाणाओ बावत्तरि कलाओ, चउसट्ठिं महिला गुणे, सिप्पसयं च कम्माणं तिन्नि वि पयाहियाए उवदिसइ...। —कल्पसूत्र सु० टीका, सूत्र २११ प० ४४४

लेहं लिवीविहाणं जिणेण बंभीए दाहिण करेणं।

की शिक्षा दी ।[1] फिर अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को पुरुष की बहत्तर कलाओं का और बाहुबली को प्राणीलक्षण का ज्ञान कराया[3] ।

बहत्तर कलाएं इस प्रकार हैं :-

(१)	लेहं	:	लेखनकला ।
(२)	गणियं	:	गणित-कला ।
(३)	रूवं	:	रूप-कला ।
(४)	नट्टं	:	नाट्य-कला ।
(५)	गीयं	:	संगीत-कला ।
(६)	वाइयं	:	वाद्य बजाने की कला ।
(७)	सरगयं	:	स्वर जानने की कला ।
(८)	पुक्खरगयं	:	ढोल आदि वाद्य बजाने की कला।
(९)	समतालं	:	ताल देने की कला ।
(१०)	जूयं	:	द्यूत यानी जूवा खेलने की कला ।
(११)	जणवायं	:	वार्तालाप करने की कला ।
(१२)	पारेकिच्चं[4]	:	नगर के संरक्षण की कला ।
(१३)	अट्ठावयं	:	पासा खेलने की कला ।
(१४)	दग्मट्टियं	:	पानी और मिट्टी के योग से वस्तु बनाने की
(१५)	अन्नविहिं	:	अन्नोत्पादन की कला ।
(१६)	पाणविहिं	:	पानी को शुद्ध करने की कला ।
(१७)	वत्थविहिं	:	वस्त्र बनाने आदि की कला ।
(१८)	सयणविहिं	:	शय्या-निर्माण की कला ।
(१९)	अज्जं	:	संस्कृत (आर्य) भाषा में कविता-निर्माण
(२०)	पहेलियं	:	प्रहेलिका-निर्माण की कला ।
(२१)	मागहियं	:	छन्द बनाने की कला ।

[1] गणियं संखाणं सुन्दरीए वामेण उवइट्ठं ।। २१२ ।। आ० नि०
(क) विशेषावश्यक, भाष्य ४६४ की टीका में लिपियों के नाम (१) ब्राह्मी, (२) ... (३) भूत, (४) यक्षी, (५) राक्षसी, (६) उड्डी, (७) यवनी, (८) ... (९) कीरी, (१०) द्राविड़ी, (११) सिंघविय, (१२) मालविनी, (१३) ... (१४) लाटी, (१५) पारसी, (१६) अनिमित्ती, (१७) ... (१८) मूलदेवी ।
(ख) भारतीय जैनश्रमण संस्कृति अने लेखनकला पृ० ६

[2] सम० सूत्र समवाय ७२ । कल्पसूत्र सु० टीका

[3] भरहस्स रूवकम्मं, नराइलक्खमहोइयं बलिणो ।
माणुम्माणवमाणं, पमाणगणिमाइ वत्थूणं ।। —आव० नि० २१३

[4] पोरेकत्वं उववाई दृढ़ प्रतिज्ञाधिकार ।

(२२) गाहं : प्राकृत भाषा में गाथा-निर्माण की कला।
(२३) सिलोगं : श्लोक बनाने की कला।
(२४) गंधजुत्ति : सुगन्धित पदार्थ बनाने की कला।
(२५) मधुसित्थं : मधुरादि षट् रस बनाने की कला।
(२६) आभरणविहिं : अलंकार-निर्माण तथा धारण करने की कला।
(२७) तरुणी पडिकम्मं : स्त्री को शिक्षा देने की कला।
(२८) इत्थी लक्खणं : स्त्री के लक्षण जानने की कला।
(२९) पुरिस लक्खणं : पुरुष के लक्षण जानने की कला।
(३०) हय लक्खणं : घोड़े के लक्षण जानने की कला।
(३१) गय लक्खणं : हाथी (गज) के लक्षण जानने की कला।
(३२) गोलक्खणं : गाय, एवं वृषभ के लक्षण जानने की कला।
(३३) कुक्कुड लक्खणं : कुक्कुट के लक्षण जानने की कला।
(३४) मिंढय लक्खणं : मेंढे के लक्षण जानने की कला।
(३५) चक्कं लक्खणं : चक्र-लक्षण जानने की कला।
(३६) छत्त लक्खणं : छत्र-लक्षण जानने की कला।
(३७) दंड लक्खणं : दण्ड-लक्षण जानने की कला।
(३८) असिलक्खणं : तलवार के लक्षण जानने की कला।
(३९) मणिलक्खणं : मणि-लक्षण जानने की कला।
(४०) कागणि लक्खणं : काकिणी (चक्रवर्ती के रत्न विशेष) के लक्षण जानने की कला।
(४१) चम्मलक्खणं : चर्म-लक्षण जानने की कला।
(४२) चन्द लक्खणं : चन्द्र-लक्षण जानने की कला।
(४३) सूर चरियं : सूर्य आदि की गति जानने की कला।
(४४) राहु चरियं : राहु की गति जानने की कला।
(४५) गह चरियं : ग्रहों की गति जानने की कला।
(४६) सोभाग करं : सौभाग्य का ज्ञान।
(४७) दोभाग करं : दुर्भाग्य का ज्ञान।
(४८) विज्जागयं : रोहिणी, प्रज्ञप्ति आदि विद्या सम्बन्धी ज्ञान।
(४९) मंतगयं : मन्त्र-साधना आदि का ज्ञान।
(५०) रहस्सगयं : गुप्त वस्तु को जानने का ज्ञान।
(५१) समासं : प्रत्येक वस्तु के वृत्त का ज्ञान।
५२) चारं : सैन्य का प्रमाण आदि जानना।
५३) पडिवूहं : प्रतिव्यूह रचने की कला।
५४) पडिचारं : सेना को रणक्षेत्र में उतारने की कला।
५५) वूहं : व्यूह रचने की कला।
५६) खंधावारमाणं : सेना के पड़ाव का जमाव जानना।

(५७) नगरमाणं	:	नगर का प्रमाण जानने की कला
(५८) वत्थुमाणं	:	वस्तु का प्रमाण जानने की कला
(५९) खंधावार निवेसं	:	सेना का पड़ाव आदि कहां डालना का परिज्ञान।
(६०) वत्थु निवेसं	:	प्रत्येक वस्तु के स्थापन करने की
(६१) नगर निवेसं	:	नगर-निर्माण का ज्ञान।
(६२) ईसत्थं	:	थोड़े को बहुत करने की कला।
(६३) रूप्पवायं	:	तलवार आदि की मूठ बनाने की
(६४) आससिक्खं	:	अश्व-शिक्षा।
(६५) हत्थिसिक्खं	:	हस्ति-शिक्षा।
(६६) धणु वेयं	:	धनुर्वेद।
(६७) हिरण्णपागं सुवन्नपागं मणिपागं, धातुपागं	:	हिरण्यपाक, सुवर्णपाक मणिपाक और धातुपाक बनाने
(६८) बाहुजुद्धं, दंडजुद्धं, मुट्ठिजुद्धं, अट्ठिजुद्धं, जुद्ध, निजुद्ध, जुद्धाईजुद्ध	:	बाहुयुद्ध, दंडयुद्ध मुष्टियुद्ध, यष्टियुद्ध युद्ध, नियुद्ध, युद्धातियुद्ध करने
(६९) सुत्ताखेडं, नालियाखेडं, वट्टखेडं, चम्मखेडं	:	सूत बनाने की, नली बनाने की, की, वस्तु के स्वभाव जानने चमड़ा बनाने आदि की कलाएं।
(७०) पत्तच्छेज्जं-कड़गच्छेज्जं	:	पत्र छेदन एवं कड़ग-वृक्षां छेदने की कला।
(७१) सजीवं, निज्जीवं	:	संजीवन, निर्जीवन-कला।
(७२) सउणरूयं	:	पक्षी के शब्द से शुभाशुभ जानने

पुरुषों के लिये कला-विज्ञान की शिक्षा देकर प्रभु ने महिलाओं को उपयोगी व शिक्षासम्पन्न करना भी आवश्यक समझा।

अपनी पुत्री ब्राह्मी के माध्यम से उन्होंने लिपि-ज्ञान तो दिया ही साथ में महिला-गुणों के रूप में उनको ६४ कलाएं भी सिखलाईं। वे इस प्रकार हैं :—

१. नृत्य-कला	९. दम्भ	१७. धर्म विचा
२. औचित्य	१०. जलस्तम्भ	१८. शकुनसार
३. चित्र-कला	११. गीतमान	१९. क्रियाकल
४. वादित्र-कला	१२. तालमा	२०. संस्कृत ज
५. मंत्र	१३. मेघवृष्टि	२१. प्रसाद नी
६. तन्त्र	१४. फलाकृष्टि	२२. धर्म रीति
७. ज्ञान	१५. आराम रोपण	२३. वर्णिकावृ
८. विज्ञान	१६. आकार गोपन	२४. सुवर्ण सि

२५. सुरभितैलकरण	३८. चूर्णयोग	५२. भूषण-परिधान
२६. लीला संचरण	३९. हस्तलाघव	५३. भृत्योपचार
२७. हय-गजपरीक्षण	४०. वचन-पाटव	५४. गृहाचार
२८. पुरुष-स्त्रीलक्षण	४१. भोज्य विधि	५५. व्याकरण
२९. हेमरत्न भेद	४२. वाणिज्य विधि	५६. परनिराकरण
३०. अष्टादश लिपि-परिच्छेद	४३. मुखमण्डन	५७. रन्धन
	४४. शालि खण्डन	५८. केश बन्धन
३१. तत्काल बुद्धि	४५. कथाकथन	५९. वीणानाद
३२. वस्तु सिद्धि	४६. पुष्प ग्रथन	६०. वितण्डावाद
३३. काम विक्रिया	४७. वक्रोक्ति	६१. अङ्क विचार
३४. वैद्यक क्रिया	४८. काव्यशक्ति	६२. लोक व्यवहार
३५. कुम्भभ्रम	४९. स्फारविधिवेष	६३. अन्त्याक्षरिका
३६. सारिश्रम	५०. सर्वभाषा विशेष	६४. प्रश्न प्रहेलिका[1]
३७. अंजनयोग	५१. अभिधान ज्ञान	

भगवान् ऋषभदेव द्वारा वर्ण व्यवस्था का प्रारम्भ

भगवान् आदिनाथ से पूर्व भारतवर्ष में कोई वर्ण या जाति की व्यवस्था नहीं थी, सब लोगों की एक ही – मानव जाति थी। उनमें ऊंच-नीच का भेद नहीं था। सब लोग बल, बुद्धि और वैभव में समान थे। कोई किसी के अधीन नहीं था। प्राप्त सामग्री से सब को संतोष था, अतः उनमें कोई जाति-भेद की आवश्यकता ही नहीं हुई। जब लोगों में विषमता बढ़ी और जनमन में लोभ-मोह का संचार हुआ तो भगवान् आदिनाथ ने वर्ण-व्यवस्था का सूत्रपात किया।

भोग-युग से कृत-युग (कर्म-युग) का प्रारम्भ करते हुए उन्होंने ग्राम, कस्बे, नगर, पत्तन आदि के निर्माण की, शिल्प एवं दान आदि की, उस समय के जन-समुदाय को शिक्षा दी।

चिर-काल से भोग-युग के अभ्यस्त उन लोगों के लिए कर्मक्षेत्र में उतर कर अथक एवं अनवरत परिश्रम करने की यह सर्वथा नवीन शिक्षा थी। इस कार्य में भगवान् को कितना अनथक प्रयास करना पड़ा होगा, इसकी आज कल्पना भी नहीं की जा सकती। इस सब भगीरथ-प्रयास के साथ ही ऋषभदेव ने सामाजिक जीवन से नितान्त अनभिज्ञ उस समय के मानव का सुन्दर, शान्त और सुखमय जीवन बनाने के लिए सह-अस्तित्व का पाठ पढ़ाते हुए सब प्रकार से समीचीन समाज व्यवस्था की आधारशिला रखी।

जो लोग शारीरिक दृष्टि से सुदृढ़ और शक्ति-सम्पन्न थे उन्हें प्रजा की रक्षा के कार्य में नियुक्त कर पहिचान के लिए 'क्षत्रिय' शब्द की संज्ञा दी।

---

[1] जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, वक्षस्कार २, टीका पत्र १३९–२,१४०–१–कल्पसूत्र सुबोधिका टीका

जो लोग कृषि, पशुपालन व वस्तुओं के क्रय-विक्रय-वितरण वाणिज्य में निपुण सिद्ध हुए उन लोगों के वर्ग को वैश्य वर्ण की संज्ञा दी

जिन कार्यों को करने में क्षत्रिय और वैश्य लोग प्रायः अनिच्छा एवं अभिव्यक्त करते, उन कार्यों को करने में भी जो लोग तत्पर हुए व जन की सेवा में विशेष अभिरुचि प्रकट की, उस वर्ग के लोगों को 'शूद्र' की सं

इस प्रकार ऋषभदेव के समय में क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन ती की उत्पत्ति हुई।[1]

भगवान् ऋषभदेव ने मानव को सर्वप्रथम सह-अस्तित्व, सहयोग, सहिष्णुता, सुरक्षा, सौहार्द एवं समानता का पाठ पढ़ाकर मानव के मानव के प्रति भ्रातृभाव को जन्म दिया। उन्होंने गुण-कर्म के अनुसार विभाग किये, जन्म को प्रधानता नहीं दी और लोगों को समझाया अपना-अपना काम करते हुए एक-दूसरे का सम्मान करते रहो, कि तिरस्कार की भावना से मत देखो।

आचार्य जिनसेन के मतानुसार ब्राह्मण वर्ण की उत्पत्ति इस बतलाई गई है कि कुछ समय के बाद जब भरत चक्रवर्ती पद पर आसीन उनके मन में विचार पैदा हुआ कि मैंने दिग्विजय करके बहुत वैभव इकट्ठे किये हैं। अन्य लोग भी रातदिन मेहनत कर अपनी शक्ति-भर करते हैं किन्तु इसका उपयोग कहां किया जाय, जो सब तरह से लाभ इस विचार के साथ उन्हें यह भी ध्यान में आया कि यदि बुद्धिजीवी एक वर्ग तैयार किया जाय तो उनके द्वारा त्रिवर्ग के अन्य लोगों को जीवन-निर्माण में बौद्धिक सहयोग मिलता रहेगा और समाज का नैति भी नहीं गिरेगा।

इस विचार को मूर्त्तरूप देने के लिए उन्होंने सभी शिष्ट लोगों यहां आमन्त्रित किया और परीक्षा के लिए मार्ग में हरी घास बिछवा दी

हरी घास में भी जीव होते हैं, जिनकी हमारे चलने से विराधना इस बात का बिना विचार किये ही बहुत-से लोग भरत के प्रासाद में च परन्तु कुछ विवेकशील लोग मार्ग में हरी घास बिछी होने के कारण अन्दर नहीं गये।

भरत द्वारा प्रासाद के अन्दर नहीं आने का कारण पूछने पर कहा – हमारे आने से वनस्पति के जीवों की विराधना होती, इसी प्रासाद के अन्दर नहीं आये।

महाराज भरत ने उनकी दयावृत्ति की सराहना करते हुए उ मार्ग से प्रासाद में बुलाया और उन्हें सम्मानित कर 'माहण' अर्थात् की संज्ञा से सम्बोधित किया।

---

[1] आदिपुराण, पर्व १६, श्लोक २४३ से २४६

आवश्यक चूर्णि (जिनदास गणी) के अनुसार भरत अपने ९८ भाइयों को प्रव्रजित हुए जानकर अधीर हो उठे और मन में विचार करने लगे कि इतनी बड़ी अतुल सम्पदा किस काम की जो अपने स्वजनों के भी काम न आ सके। यदि मेरे भाई चाहें तो मैं यह भोग उन्हें अर्पण कर दूँ।

जब भगवान् विनीता नगरी पधारे तो भरत ने अपने दीक्षित भाइयों को भोगों के लिए निमन्त्रित किया पर उन्होंने त्यागे हुए भोगों को ग्रहण करना स्वीकार नहीं किया। तब भरत ने उन परिग्रह-त्यागी मुनियों का आहार आदि के दान द्वारा सेवा-सत्कार करना चाहा और असनादि से ५०० गाड़े भरा कर उन मुनियों के पास पहुँचे एवं वन्दन-नमस्कार कर उन्हें असन-पानादि के उपभोग के लिए आमन्त्रित करने लगे।

भगवान् ऋषभदेव ने फरमाया – इस प्रकार का साधुओं के लिए बना हुआ आधाकर्मी या उनके लिए लाया हुआ आहार साधुओं के लिए ग्राह्य नहीं होता।

इस पर भरत ने प्रभु से प्रार्थना की – भगवन्! यदि ऐसी बात है तो मेरे लिए पहले ही से बने हुए भोजन को स्वीकार किया जाय।

जब भगवान् ने उसे भी 'राजपिण्ड' कह कर अग्राह्य बताया तो भरत बड़े खिन्न एवं चिन्तित हो सोचने लगे – क्या पिता ने मुझे सर्वथा परित्यक्त कर दिया है।

इसी बीच देवराज शक्रेन्द्र ने भरत की व्यथा एवं चिन्ता का निवारण करने के लिए प्रभु से पृच्छा की – भगवन्! अवग्रह कितने प्रकार के होते हैं?

प्रभु ने पंचविध अवग्रह में देवेन्द्र और राजा का भी अवग्रह बताया।

भरत ने इस पर प्रभु से निवेदन किया – भगवन्! मैं अपने भारतवर्ष में श्रमण-निर्ग्रन्थों को सुखपूर्वक विचरण करने की अनुज्ञा प्रदान करता हूँ।

इसके बाद श्रमणों के लिए लाये हुए आहार-पानादि के सदुपयोग के सम्बन्ध में भरत द्वारा पूछे जाने पर शक्र ने कहा – राजन्! जो तुम से गुणाधिक हैं, उनका इस असन-पानादि से सत्कार करो।

भरत ने मन ही मन सोचा – कुल, जाति और वैभव आदि में तो कोई मुझ से अधिक नहीं है। जहां तक गुणाधिक्य का प्रश्न है, इसमें मुझ से अधिक (गुण वाले) त्यागी, साधु व मुनिराज हैं, वे तो मेरे इस पिण्ड को स्वीकार ही नहीं करते। अब रहे गुणाधिक कुछ श्रावक – तो उन्हें ही यह सामग्री दे दी जाय।

ऐसा सोच कर भरत ने वह भोजन श्रावकों को दे दिया और उन्हें बुला कर कहा – आप अपनी जीविका के लिए व्यवसाय, सेवा, कृषि आदि कोई कार्य न करें, मैं आप लोगों की जीविका की व्यवस्था करूंगा। आपका

कार्य केवल शास्त्रों का श्रवण, पठन एवं मनन व देव, गुरु की से रहना है।

इस प्रकार अनेकों श्रावक प्रतिदिन भरत की भोजनशाला में करते और बोलते – 'वर्द्धते भयं, मा हण, मा हण' – भय बढ़ रहा है, करो, हिंसा मत करो।

भरत की ओर से श्रावकों के नाम इस साधारण निमन्त्रण से अन्य लोग भी अधिकाधिक संख्या में भरत की भोजनशाला में आने करने लगे। भोजन बनाने वालों ने भोजन के लिए आने वालों की दिन बढ़ती हुई संख्या को देख कर सोचा कि यह तो अव्यवस्था है और उन्होंने स्थिति भरत के सम्मुख रखी।

भरत ने कहा – तुम लोग प्रत्येक व्यक्ति से पूछताछ करो और जो श्रावक हो उसे भोजन खिलाओ।

भोजनशाला के व्यवस्थापकों ने आगन्तुकों से पूछताछ करना किया और जिन लोगों ने अपने व्रतों के सम्बन्ध में सम्यक् रूप से बताया योग्य समझ कर भरत के पास ले गये और भरत ने कांगणी रत्न चिह्नित किया और कहा – छः छः महीनों से ऐसा परीक्षण करते रहें

इस प्रकार माहण उत्पन्न हुए। उनके जो पुत्र-पौत्र होते उन्हें के पास ले जाया जाता और व्रत स्वीकार करने पर कांगणी रत्न से किया जाता। वे लोग आरम्भ, परिग्रह की प्रवृत्तियों से अलग रहकर 'मा हन, मा हन' ऐसी शिक्षा देते, अतः उन्हें 'माहण' अर्थात् 'ब्राह्मण' जाने लगा।[1]

भरत द्वारा प्रत्येक श्रावक के – देव, गुरु, धर्म अथवा ज्ञान चरित्र रूपी रत्नत्रय की आराधना के कारण – कांगणी रत्न से की जातीं।

समय पाकर वे ही तीन रेखाएं यज्ञोपवीत के रूप में परिणत हो

इस प्रकार ब्राह्मण वर्ण की उत्पत्ति हुई। जब भरत के पुत्र आ सिंहासनारूढ़ हुए तो उन्होंने सुवर्णमय यज्ञोपवीत धारण करवाई। की यज्ञोपवीत धारण करने की परिपाटी आदित्य यश से आठवीं चलती रही।[2]

इस तरह भगवान् आदिनाथ से लेकर भरत के राज्यकाल तक की स्थापना हुई।

---

[1] आवश्यक चूर्णि, पृ० २१३–१४

[2] एवं ते उप्पन्ना माहणा, कामं जदा आइच्चजसो जातो तदा सोवन्नियाणि जण्णो एवं तेसिं अट्ठ पुरिसजुगाणि ताव सोवन्नितारिण ।। आव० चू० प्र० भा०, पृ०

साधक जीवन

आदि नरेन्द्र ऋषभदेव ने दीर्घकाल तक लोकनायक के रूप से राज्य का संचालन कर प्रेम और न्यायपूर्वक ६३ लाख पूर्व तक प्रजा का पालन किया। उन्होंने लोक-जीवन में व्याप्त अव्यवस्था को दूर कर न्याय, नीति एवं व्यवस्था का संचार किया और फिर स्थायी शान्ति प्राप्त करने एवं निष्पाप जीवन जीने के लिये भोग-मार्ग से योग-मार्ग अपनाना आवश्यक समझा। उनका विश्वास था कि अध्यात्म-साधन के विना मानव की शान्ति स्थायी नहीं हो सकती। यही सोच कर उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को राज्य का उत्तराधिकारी बनाया और शेष निन्यानवे पुत्रों को पृथक्-पृथक् राज्य देकर गृहस्थ जीवन के दायित्व से स्वयं छुटकारा पाया और आत्म-साधना के मार्ग पर बढ़ने का संकल्प किया।

प्रभु के इस मानसिक निश्चय को जानकर नव लोकान्तिक देवों ने अपना कर्त्तव्य पालन करने हेतु प्रभु के चरणों में प्रार्थना की कि – भगवन्! सम्पूर्ण जगत् के कल्याणार्थ धर्म-तीर्थ को प्रकट कीजिये। लोकान्तिक देवों की प्रार्थना सुनकर प्रभु ने वर्षी-दान प्रारम्भ किया, संसार त्याग की भावना से उन्होंने प्रतिदिन[1] प्रभात की पुण्य वेला में एक करोड़ और आठ लाख स्वर्ण-मुद्राओं का एक वर्ष तक दान किया। इस प्रकार कुल तीन अरब अट्ठासी करोड़ और अस्सी लाख स्वर्ण-मुद्राओं का दान दिया गया। दान के द्वारा उन्होंने जन-मानस में यह भावना भर दी कि द्रव्य के भोग का महत्त्व नहीं, अपितु उसके त्याग का महत्त्व है।

अभिनिष्क्रमण–श्रमण दीक्षा

इस प्रकार ८३ लाख पूर्व गृहस्थ-पर्याय में बिता कर चैत्र कृष्णा अष्टमी[2] के दिन उत्तराषाढ़ा नक्षत्र में ऋषभदेव ने दीक्षार्थ अभिनिष्क्रमण किया। उन्होंने विशाल राज्य-वैभव और परिवार को छोड़कर भव्य भोग-सामग्री को तिलांजलि दी और शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त करने के लिये देव-मानवों के विशाल समुदाय के साथ विनीता नगरी से निकल कर षष्टमभक्त के निर्मल तप से अशोक वृक्ष के नीचे अपने सम्पूर्ण पापों को त्याग कर मुनि-दीक्षा स्वीकार की और सिद्ध की साक्षी से यह प्रतिज्ञा की कि 'सव्वं अकरणिज्जं पाव-कम्मं पच्चक्खामि', हिंसा आदि सब पापकर्म अकरणीय हैं, अतः मैं उनका सर्वथा त्याग करता हूं। शिर के बालों का चतुर्मुष्टिक लुंचन कर प्रभु ने बतलाया कि शिर के बालों की तरह हमें पापों को भी जड़मूल से उखाड़ फेंकना है। इन्द्र की प्रार्थना से भगवान्

---

[1] आव० नि० गाथा २३९ व २४२

[2] (अ) कल्पसूत्र, सू० १९५, पृ० ५७, पुण्य विजय
(आ) जम्बू द्वीप प्रज्ञप्ति में चैत्र कृ० ९ का उल्लेख है।
(इ) हरिवंश पुराण में चैत्र कृ० ९ का उल्लेख है।

ने एक मुष्टि के बाल रहने दिये । आपके इस त्याग-तप को देखकर देवों [illegible] और मानवों की विशाल परिषद् चित्र-लिखित सी हो गई ।

इस प्रकार संयम जीवन की निर्मल साधना से ऋषभदेव सर्वप्रथ[illegible] साधु एवं परिव्राजक रूप से प्रसिद्ध हुए । इनके त्याग से प्रभावित होकर [illegible] भोगवंश, राजन्य और क्षत्रिय वंश के चार हजार राजकुमारों ने उनके सा[illegible] ग्रहण किया ।[1] यद्यपि भगवान् ने उन्हें प्रव्रज्या नहीं दी, तथापि उन्हों[illegible] ही प्रभु का अनुसरण कर लुंचन आदि क्रियाएं कीं और साधु वन[illegible] साथ विचरना प्रारम्भ किया । प्रभु के दीक्षा-ग्रहण का वह दिन असं[illegible] बीत जाने पर भी आज कल्याणक दिवस के रूप में महिमा पा रहा है।

विद्याधरों की उत्पत्ति

भगवान् ऋषभदेव जब सावद्य-त्याग रूप अभिग्रह लेकर निर्[illegible] से विचरने लगे तब नमि और विनमि दो राजकुमार जो कच्छ एवं [illegible] के पुत्र थे, भगवान् की सेवा में उपस्थित हुए । भगवान् से प्रार्थना कर[illegible] प्रभो ! आपने सबको भोग्य सामग्री दी है, हमें भी दीजिये । इस प्र[illegible] संध्या वे भगवान् के साथ लगे रहे । एक समय भगवान् को वन्दन करने [illegible] धरणेन्द्र आया, उस समय भी नमि एवं विनमि ने भगवान् से इसी [illegible] विनती की । यह देख कर धरणेन्द्र ने उनसे कहा – "मित्रों ! सुनो, [illegible] संगरहित हैं, इनको राग-रोष भी नहीं है, यहां तक कि अपने शरीर [illegible] इनका स्नेह नहीं है । अतः इनसे याचना करना ठीक नहीं । मैं भगवान् [illegible] के लिए तुम्हारी सेवा निष्फल न हो इसलिए पठन-मात्र से सिद्ध हो[illegible] ४८००० विद्याएं देता हूँ, इनमें गौरी, गंधारी, रोहिणी और प्रज्ञप्ति [illegible] महाविद्याएं हैं । इनको लेकर जाओ और विद्याधर की ऋद्धि से देश [illegible] बसा कर सुख से विचरो । उन्होंने भी वैसा ही किया । नमि ने वैताढ्[illegible] की दक्षिण श्रेणी में रथनेउर आदि ५० नगर बसाये । उसी तरह विनमि [illegible] उत्तर की ओर ६० नगर बसाये । जो मनुष्य जिस देश से लाये गये थे [illegible] से वैताढ्य पर उनके जनपद स्थापित किये गये ।

इस प्रकार नमि एवं विनमि ने आठ-आठ निकाय विभक्त [illegible] देवों के समान विद्या-बल से मनुष्य-देव सम्बन्धी भोगों का उपभोग [illegible] विचरने लगे । मनुष्य होकर भी विद्या-बल की प्रधानता से ये लोग [illegible] कहाने लगे । और यहीं से विद्याधरों की परम्परा चालू हुई ।[2]

विहारचर्या

श्रमण हो जाने के पश्चात् ऋषभदेव दीर्घकाल तक अखंड मौनव्र[illegible] तपस्या के साथ एकान्त में निर्मोह भाव से ध्यान करते हुए विचरते रहे।

---

[1] आ० नि० गाथा २४७

[2] आव० चू० प्र० भा०, पृ० १६१–६२

जिनसेन के अनुसार इन्होंने छह मास का[1] अनशन तप धारण कर रखा था। पर श्वेताम्बर साहित्य में ऐसा उल्लेख नहीं मिलता, वहां बेले की तपस्या के बाद इस प्रकार भिक्षा-भ्रमण का विवरण मिलता है।

प्रभु घोर अभिग्रहों को धारण कर अनासक्त भाव से ग्रामानुग्राम भिक्षा के लिये भ्रमण करते, पर भिक्षा एवं उसकी विधि का जनता को ज्ञान नहीं होने से, उन्हें भिक्षा प्राप्त नहीं होती। साथ के चार हजार श्रमण जो चिरकाल से इस प्रतीक्षा में थे कि भगवान् हमारी सुधबुध लेंगे और व्यवस्था करेंगे, पर दीर्घकाल के बाद भी जब भगवान् कुछ नहीं बोले तो वे सब अनुगामी श्रमण भूख-प्यास आदि परीषहों से संत्रस्त होकर वल्कलधारी तापस हो गये।[2] कुलाभिमान व भरत के भय से वे पुनः गृहस्थ आश्रम में तो नहीं गये पर कष्ट, सहिष्णुता और विवेक के अभाव में सम्यक् साधना से पथच्युत होकर परिव्राजक बन गये और वन में जाकर वन्य फल-फूलादि खाते हुए अपना जीवन-यापन करने लगे।

भगवान् आदिनाथ जो वीतराग थे, लाभालाभ में समचित्त होकर अग्लान भाव से ग्राम, नगर विचरते रहे। भावुक भक्तजन आदिनाथ प्रभु को अपने यहां आये देखकर प्रसन्न होते। कोई अपनी सुन्दर कन्या, कोई उत्तम बहुमूल्य वस्त्राभूषण, कोई हस्ती, अश्व, रथ, वाहन, छत्र, सिंहासनादि और कोई फलफूल आदि प्रस्तुत कर उन्हें ग्रहण करने की प्रार्थना करता, किन्तु विधिपूर्वक भिक्षा देने का ध्यान किसी को नहीं आता। भगवान् ऋषभदेव इन सारे उपहारों को बिना ग्रहण किये ही उलटे पैरों खाली हाथ लौट जाते।

भगवान् का प्रथम पारणा

इस प्रकार भिक्षा के लिये विचरण करते हुए ऋषभदेव को करीब एक वर्ष बीत गया, फिर भी उनके मन में कोई ग्लानि पैदा नहीं हुई। एक दिन भ्रमण करते हुए प्रभु कुरु जनपद में हस्तिनापुर पधारे। वहां बाहुबली के पौत्र एवं राजा सोमप्रभ के पुत्र श्रेयांस युवराज थे। उन्होंने रात्रि में स्वप्न देखा कि सुमेरु पर्वत श्यामवर्ण का (कान्तिहीन) हो गया है, उसको मैंने अमृत से सिंचन कर पुनः चमकाया।[3] दूसरी ओर सुबुद्धि सेठ को स्वप्न आया कि सूर्य की हजार किरणें जो अपने स्थान से चलित हो रही थीं, श्रेयांस ने उनको पुनः सूर्य में स्थापित कर दिया, इससे वह अधिक चमकने लगा।[4] महाराज सोमप्रभ ने स्वप्न

---

[1] षण्मासानशन धीरः, प्रतिज्ञाय महाधृतिः।
योगैकाग्रयनिरुद्धान्त – बहिष्करण विक्रियः। महा. पु. १८ (१-२)

[2] जे ते चतारि सहस्सा ते भिक्खं अलभंततेणमाणेण घरंण वच्चंति भरहस्स य भयेणं, पच्छावणमतिगता तावसा जाता.......। आवश्यक चूर्णि, पृष्ठ १६२

[3] आ० चू० पृ० १६२–६३

[4] आ० चू० पृ० १६२–६३

देखा कि शत्रुओं से युद्ध करते हुए किसी बड़े सामन्त को श्रेयांस ने सहायता प्रदान की।[1] और श्रेयांस की सहायता से उसने शत्रु-सैन्य को हटा दिया। प्रातःकाल तीनों मिलकर अपने अपने स्वप्न पर चिंतन करने लगे, और सब एक ही निष्कर्ष पर पहुंचे कि श्रेयांस कुमार को अवश्य ही कोई विशिष्ट लाभ प्राप्त होने वाला है।[2]

उसी दिन पुण्योदय से भगवान् ऋषभदेव विचरते हुए हस्तिनापुर पधारे। बहुत काल के बाद भगवान् के दर्शन पाकर नगरजन अत्यन्त प्रसन्न हुए। जब श्रेयांसकुमार ने राजमार्ग पर भ्रमण करते हुए भगवान् ऋषभदेव को देखा तो उनके दर्शन करते ही श्रेयांस के मन में जिज्ञासा हुई और ऊहापोह करते हुए, चिन्तन करते हुए उन्हें ज्ञानावरण के क्षयोपशम से जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। पूर्वभव की स्मृति से उन्होंने जाना कि ये प्रथम तीर्थंकर हैं। आरम्भ परिग्रह के सम्पूर्ण त्यागी हैं। इन्हें निर्दोष आहार देना चाहिये। इस प्रकार वे सोच ही रहे थे कि भवन में सेवक पुरुषों द्वारा इक्षु-रस के घड़े लाये गये। परम प्रसन्न होकर श्रेयांसकुमार सात-आठ कदम भगवान् के सामने गये और प्रदक्षिणा-पूर्वक भगवान् को वन्दन कर स्वयं इक्षु-रस का घड़ा लेकर आये तथा त्रिकरण शुद्धि से प्रतिलाभ देने की भावना से भगवान् के पास आये और बोले, प्रभो! क्या, खप है ? भगवान् ने हाथ फैलाया तो श्रेयांस ने प्रभु की अंजलि में सारा रस उंडेल दिया। भगवान् अच्छिद्रपाणि थे अतः रस की एक बूंद भी नीचे नहीं गिरने पाई। भगवान् ने वैशाख शुक्ला तृतीया को वर्ष-तप का पारणा किया। श्रेयांस को बड़ी प्रसन्नता हुई। उस समय देवों ने पंच-दिव्य की वर्षा की और 'अहो दानं, अहो दानं' की ध्वनि से आकाश गूंज उठा। श्रेयांस ने प्रभु को वर्षी-तप का पारणा कराकर महान् पुण्य का संचय किया और अशुभ कर्मों की निर्जरा की। उस युग के ये प्रथम भिक्षा-दाता हुए। आदिनाथ ने जगत् को सबसे पहले तप का पाठ पढ़ाया तो श्रेयांसकुमार ने भिक्षा-दान की विधि से अनजान मानव समाज को सर्वप्रथम भिक्षा-दान की विधि बतलाई। प्रभु के पारणे का वैशाख शुक्ला तृतीया का वह दिन अक्षयकरणी के कारण लोक में आखा-तीज या अक्षय-तृतीया के नाम से प्रसिद्ध हुआ, जो आज भी सर्वजन-विश्रुत पर्व माना जाता है।

केवलज्ञान की प्राप्ति

प्रव्रज्या ग्रहण करने के पश्चात् निर्ममत्वभाव से तपस्या करते हुए प्रभु एक हजार वर्ष तक ग्रामानुग्राम विचरते हुए आत्मस्वरूप को चमकाते रहे। अन्त में क्षपक श्रेणी में आरूढ़ हो शुक्ल-ध्यान से चार घातिक कर्मों का सम्पूर्ण क्षय किया और पुरिमताल नगर के बाहर शकटमुख उद्यान में फाल्गुन कृष्णा एकादशी

[1] आ० म० २१७-१८
[2] आ० म० गिरि टीका पत्र २१८

के दिन[1] अष्टम तप के साथ दिन के पूर्व भाग में उत्तराषाढ़ा नक्षत्र के योग में ध्यानारूढ़ हुए और केवलज्ञान, केवलदर्शन की उपलब्धि की। देव एवं देवपतियों ने केवलज्ञान का महोत्सव किया। भगवान् भाव अरिहंत हो गये। केवलज्ञान की प्राप्ति एक वटवृक्ष के नीचे हुई, अतः आज भी वटवृक्ष देश में आदर एवं गौरव की दृष्टि से देखा जाता है।

केवलज्ञान की प्राप्ति से अब भगवान् भाव अरिहन्त होगये। अरिहंत होने से आपमें बारह गुण प्रकट हुए, जो इस प्रकार हैं :–

(१) अनन्त ज्ञान, (२) अनन्त दर्शन, (३) अनन्त चारित्र यानी वीतराग भाव, (४) अनन्त बल-वीर्य, (५) अशोक वृक्ष, (६) देवकृत पुष्प-वृष्टि, (७) दिव्य-ध्वनि, (८) चामर, (९) स्फटिक-सिंहासन, (१०) छत्र-त्रय, (११) आकाश में देव-दुन्दुभि और (१२) भामण्डल।

पाँच से बारह तक के आठ गुणों को प्रतिहार्य[2] कहा गया है। भक्तिवश देवों द्वारा यह महिमा की जाती है।

तीर्थंकरों की विशेषता

सामान्य केवली की अपेक्षा अरिहंत तीर्थंकर में खास विशेषताएं होती हैं। आचार्यों ने मूलभूत चार अतिशय[3] बतलाये हैं। यद्यपि वीतरागता और सर्वज्ञता तीर्थंकर और सामान्य केवली में समान होती हैं पर तीर्थंकर की प्रभावोत्पादक अन्य भी विशेषताएं अतिशय रूप में होती हैं जिनके लिए समवायांग सूत्र में "चौतीसं बुद्धाइसेसा" और "पणतीसं सच्चवयणाइसेसा पण्णता" कहा गया है। श्वेताम्बर परम्परा में शास्त्रोक्त चौंतीस अतिशय इस प्रकार हैं :–

तीर्थंकरों के चौंतीस अतिशय

(१) अवट्ठिए केसमंसुरोमनहे	केश रोम और स्मश्रु का अवस्थित रहना।
(२) निरामया निरुवलेवा गायलट्ठी	शरीर का रोगरहित एवं निर्लेप होना।
(३) गोक्खीरपंडुरे मंससोणिए	गौ-दुग्ध की तरह रक्त-मांस का श्वेत होना।
(४) पउमुप्पलगंधिए उस्सासनिस्सासे	श्वासोच्छ्वास का उत्पल कमल की तरह सुगन्धित होना।
(५) पच्छन्ने आहारनीहारे अदिस्से मंसचक्खुणा	आहार नीहार प्रच्छन्न, यानी चर्मचक्षु से अदृश्य होना।

[1] कल्पसूत्र १९६, पृ० ५८ तथा आवश्यक नि० गाथा २६३।
[2] अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टिर्दिव्यध्वनिश्चामरमासनं च।
भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वराणाम्॥
[3] अपायागमातिशयो – ज्ञानातिशयः पूजातिशयो वागतिशयश्च।
–अभिधान राजेन्द्र, १, पृ० ३१।

(६) आगासगयंचक्कं	आकाशगत चक्र होना।
(७) आगासगयं छत्तं	आकाशगत छत्र होना।
(८) आगासगयाओ सेयवरचामराओ	आकाशगत श्वेत चामर होना।
(९) आगासफालिआमयं सपायपीढं सीहासणं	आकाशस्थ स्फटिक सिंहासन।
(१०) आगासगओ कुडभीसहस्सपरिमंडिआभिरामो इन्दज्झओ पुरओ गच्छइ	हजार पताका वाले इन्द्रध्वज का आकाश में आगे चलना।
(११) जत्थ जत्थ वि य णं अरहंतो भगवन्तो चिट्ठंति वा निसीयंति वा तत्थ तत्थ वि य णं तक्खणादेव संछन्नपत्तेपुप्फपल्लव समाउलो सच्छत्तो सज्झओ सघंटो सपडागो असोगवरपायवो अभिसंजायई	अर्हन्त भगवान् जहां जहां ठहरें, वहां वहां तत्काल फूल-फल युक्त अशोक वृक्ष का होना।
(१२) ईसिं पिट्ठओ मउडठाणंमि तेयमंडलं अभिसंजायइ अंधयारे वि य णं दस दिसाओ पभासेइ	भगवान् के थोड़ा पीछे की ओर मुकुट के स्थान पर तेजो-मंडल होना जो चहुं दिशा को प्रकाशित कर सके।
(१३) बहुसमरमणिज्जे भूमिभागे	भूमि-भाग का रमणीक होना।
(१४) अहोसिरा कंटया जायंति	काँटों का अधोमुख होना।
(१५) उऊ विवरीया सुहफासा भवंति	ऋतुओं का सब प्रकार से सुखदायी होना।
(१६) सीयलेणं सुहफासेणं सुरभिणा मारुएणं जोयणपरिमंडलं सव्वओ समंता संपमज्जिज्जइ	शीतल-सुखद-मंद वायु से चारों ओर चार-चार कोस तक स्वच्छता होनी।
(१७) जुत्तफुसिएणं मेहेण य निहयरयरेणूयं किज्जइ	जल-बिन्दुओं से भूमि की धूलि का शमन होना।
(१८) जलथलयभासुपभूतेणं विंटट्ठाइणा दसद्धवण्णेणं कुसुमेणं जाणुस्सेहप्पमाणमित्ते (अचित्ते) पुप्फोवयारे किज्जइ	पांच प्रकार के अचित्त फूलों का जानु प्रमाण ढेर लगना।
(१९) अमणुण्णाणं सद्दफरिसरसरूवगंधाणं अवकरिसो भवइ	अशुभ शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श का अपकर्ष होना।

(२०) मणुण्णाणं सद्दफरिसरसरूव-गंधाणं पाउब्भाओ भवइ	शुभ वर्ण, गन्ध, रस एवं स्पर्श आदि का प्रकट होना।
(२१) पच्चाहरओ वि य णं हियय-गमणीओ जोयण नीहारी सरो	बोलते समय भगवान् के गंभीर स्वर का एक योजन तक पहुँचना।
(२२) भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खइ	अर्द्धमागधी भाषा में भगवान् का धर्म प्रवचन फरमाना।
(२३) सा वि य णं अद्धमागही भासा भासिज्जमाणी तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाणं दुप्पय-चउप्पअमियपसुपक्खिसरी-सिवाणं अप्पणो हियसिव सुहयभासत्ताए परिणमइ	अर्द्धमागधी भाषा का आर्य, अनार्य, मनुष्य और पशुओं की अपनी अपनी भाषा के रूप में परिणत होना।
(२४) पुव्वबद्धवेरा वि य णं देवासुर-नागसुवण्णजक्खरक्खसकिन्नर-किंपुरिसगरुलगन्धव्वमहोरगा अरहओ पायमूले पसंतचित्त-माणसा धम्मं निसामंति	भगवान् के चरणों में पूर्व के वैरी देव, असुर आदि का वैर भूल कर प्रसन्न मन से धर्म श्रवण करना।
(२५) अण्णउत्थियपावयणिया वि य णमागया वंदंति	अन्य तीर्थ के वादियों का भी भगवान् के चरणों में आकर वन्दन करना।
(२६) आगया समाणा अरहओ पाय-मूले निप्पलिवयणा हवंति	वाद के लिए आये हुए प्रतिवादी का निरुत्तर हो जाना।
(२७) जओ जओ वि य णं अरहंतो भगवन्तो विहरंति तओ तओ वि य णं जोयणपणवीसाए णं ईति न भवई	जहां जहां भगवान् विचरण करें वहां वहां से २५ (पच्चीस) योजन तक ईति नहीं होती।
(२८) मारी न भवइ	जहां जहां भगवान् विचरण करें वहां वहां से २५ योजन तक मारी नहीं होती।
(२९) सचक्कं न भवइ	जहां जहां भगवान् विचरण करें वहां वहां स्वचक्र का भय नहीं होता।
(३०) परचक्कं न भवइ	जहां जहां भगवान् विचरण करें वहां वहां पर-चक्र का भय नहीं होता।
(३१) अइवुट्ठी न भवइ	जहां जहां भगवान् विचरण करें वहां वहां अतिवृष्टि नहीं होती।

(३२) अणावुट्ठी न भवइ — जहां जहां भगवान् विचरण करें वहां वहां अनावृष्टि नहीं होती।

(३३) दुब्भिक्खं न भवइ — जहां जहां भगवान् विचरण करें वहां वहां दुर्भिक्ष नहीं होता।

(३४) पुव्वुप्पणा वि य णं उप्पाइया वाही खिप्पमिव उवसमंति। — जहां जहां भगवान् विचरण करें वहां वहां पूर्व उत्पन्न उत्पात भी शीघ्र शान्त हो जाते हैं।[1]

[सुत्तागम पृ० ३४५-४६] [समवायांग, समवाय १११]

दिगम्बर परम्परा में ३४ अतिशयों का वर्णन इस प्रकार किया गया है:-

जन्म के १० अतिशय[2]:-

(१) स्वेदरहित तन
(२) निर्मल शरीर
(३) दूध की तरह रुधिर का श्वेत होना
(४) अतिशय रूपवान् शरीर
(५) सुगन्धित तन
(६) प्रथम उत्तम संहनन
(७) प्रथम उत्तम संस्थान
(८) एक हजार आठ (१००८) लक्षण
(९) अमित बल,
(१०) हित-प्रिय वचन।

केवलज्ञान के १० अतिशय[3] :-

(१) भगवान् विचरें वहां वहां सौ सौ कोस तक सुभिक्ष होना (ईति नहीं होना),
(२) आकाश में गमन,
(३) भगवान् के चरणों में प्राणियों का निर्भय होना,

---

[1] पाठान्तर में काला, अगरु आदि से गन्धमद्धायमान रमणीय भू-भाग को उन्नीसवां और तीर्थंकर के दोनों ओर दो यक्षों द्वारा चंवर डुलाने को बीसवां अतिशय माना है किन्तु वृहद्वाचना में नहीं होने से इन्हें यहां स्वीकार नहीं किया है।

दूसरे से पांचवें तक चार अतिशय जन्म के, १९ (उन्नीस) देवकृत और ग्यारह केवलज्ञानभावी माने हैं। [समवायांग वृत्ति]

[2] नित्यं निःस्वेदत्वं, निर्मलता क्षीरगौररुधिरत्वं च।
स्वाद्याकृति संहनने, सौरूप्यं सौरभं च सौलक्ष्यम् ॥१॥
अप्रमितवीर्यता च प्रियहित-वादित्वमन्यदमित गुणस्य।
प्रथिता दश ख्याता स्वतिशयधर्मा स्वयंभुवोर्देहस्य ॥२॥

[3] गव्यूतिशत चतुष्टय-सुभिक्षता-गगन-गमनमप्राणिवधः।
भुक्त्युपसर्गाभावश्चतुरास्यत्वं च सर्वविद्येश्वरता ॥३॥
अच्छायत्वमपक्ष्मस्पन्दश्च समप्रसिद्ध-नखकेशत्वम्।
स्वतिशयगुणाः भगवतो घातिक्षयजाः भवंति तेऽपि दशैव ॥४॥ [नन्दीश्वर भक्ति]

(४) कवलाहार (स्थूल आहार) का नहीं होना[1],

(५) भगवान् पर कोई उपसर्ग नहीं होना,

(६) समवसरण में चतुर्मुख दिखना,

(७) अनन्त ज्ञान के कारण सर्व विद्याओं का ईश्वर होना,

(८) शरीर का निर्मल और छाया रहित होना,

(९) नेत्रों के पलकों का नहीं गिरना,

(१०) नख केशों का सम होना।

देव-कृत १४ अतिशय[2] :—

(१) चहुँ दिशाओं का निर्मल होना।
(२) आकाश का मेघरहित व स्वच्छ होना।
(३) पृथ्वी का धन-धान्य आदि से भरी पूरी होना।
(४) सुगन्धित वायु का चलना।
(५) देवताओं द्वारा सुगन्धित जलवृष्टि होना।
(६) योजनपर्यन्त पृथ्वी का दर्पण सम उज्ज्वल होना।
(७) विहार के समय चरणों के नीचे कमल की रचना होना।
(८) आकाश में जय-जयकार होना।
(९) सम्पूर्ण जीवों को परम आनन्द का प्राप्त होना।
(१०) पृथ्वी का कण्टक पाषाणादि से रहित होना।
(११) सहस्रार वाले धर्मचक्र का आगे चलना।
(१२) विरोधी जीवों में परस्पर मैत्री होना।
(१३) ध्वजासहित अष्टमंगल का विहार के समय आगे चलना।
(१४) अर्धमागधी वाणी द्वारा भव्य जीवों को तृप्त करना।

---

[1] केवली भगवान् के कवलाहार का अभाव पाया जाता है। उनकी आत्मा का इतना विकास हो चुका होता है कि स्थूल भोजन द्वारा उनके दृश्यमान देह का संरक्षण अनावश्यक हो जाता है। उनके शरीर-रक्षण के निमित्त बल प्रदान करने वाले सूक्ष्म पुद्गल परमाणुओं का आगमन बिना प्रयत्न के हुआ करता है।

[2] देवकृत चौदह अतिशय :—

देव रचित हैं चारदश, अर्धमागधी भाश।
आपस माहीं मित्रता, निर्मल दिश आकाश।।
होत फूल फल ऋतु सबैं, पृथिवी काच समान।
चरण कमल तल कमल है नभ तैं जय जय बान।।
मन्द सुगन्ध बयारि पुनि, गंधोदक की वृष्टि।
भूमि विषैं कण्टक नहीं, हर्षमयी सब सृष्टि।।
धर्मचक्र आगे रहैं, पुनि बसु मंगलसार।
अतिशय श्री अरहंत के.....................।।

श्वेताम्बर दिगम्बर परम्पराओं की तुलना

श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा के अतिशयों में संख्या समान होने पर भी निम्न अन्तर है :–

श्वेताम्बर ग्रन्थ समवायांग में आहार-नीहार चर्मचक्षु से अदृश्य-प्रच्छन्न माना है, इसके स्थान पर दिगम्बर परम्परा में स्थूल आहार का अभाव और नीहार नहीं होना, इस तरह दोनों अलग अतिशय मान्य किये हैं।

समवायांग के छठे अतिशय से ग्यारहवें तक अर्थात् आकाशगत चक्र से अशोक वृक्ष तक के नाम दिगम्बर परम्परा में नहीं हैं। इनके स्थान पर निर्मल दिशा, स्वच्छ आकाश, चरण के नीचे स्वर्ण-कमल, आकाश में जयजयकार, जीवों के लिए आनन्ददायक, आकाश में धर्मचक्र का चलना व अष्ट मंगल, ये ७ अतिशय माने गये हैं।

शरीर के सात अतिशय :–

(१) स्वेद रहित शरीर,
(२) अतिशय रूप,
(३) प्रथम संहनन,
(४) प्रथम संस्थान,
(५) १००८ लक्षण,
(६) अनन्त बल और
(७) हित-प्रिय वचन – जो दिगम्बर परम्परा में मान्य हैं, पर समवायांग में नहीं हैं।

समवायांग के तेजो भामण्डल के स्थान पर दिगम्बर परम्परा में केवली अवस्था का चतुर्मुख अतिशय माना है। समवायांग के बहुसमरमणीय भूमिभाग के स्थान पर पृथ्वी की उज्ज्वलता और शस्य-श्यामलता – ये दो अतिशय माने गये हैं।

केवल ज्ञान के अतिशयों में समवायांग द्वारा वर्णित, अन्य तीर्थ के वादियों का आकर वन्दन करना और बाद में निरुत्तर होना, इन दो अतिशयों के स्थान पर दिगम्बर परम्परा में एक ही अतिशय, सर्व विद्येश्वरता माना है।

फिर पच्चीस योजन तक ईति आदि नहीं होना, इस प्रसंग के सात अतिशयों के स्थान पर दिगम्बर परम्परा में सुभिक्ष होना, यह केवल एक ही अतिशय माना गया है।

उपसर्ग का अभाव और समवसरण में प्राणियों की निर्वैर वृत्ति ये दोनों अतिशय दोनों परम्पराओं में समान रूप से मान्य हैं।

छाया-रहित शरीर, आकाशगमन और निर्निमेष चक्षु ये तीन अतिशय जो दिगम्बर परम्परा में मान्य हैं, श्वेताम्बर ग्रन्थ समवायांग में नहीं हैं।

इस तरह संकोच, विस्तार एवं सामान्य दृष्टिभेद को छोड़कर दोनों परम्पराओं में ३४ अतिशय माने गये हैं। प्रत्येक तीर्थंकर इन चौंतीस अतिशयों से सम्पन्न होते हैं।

तीर्थंकर की वाणी के ३५ गुण

समवसरण में तीर्थंकर भगवान् की मेघ सी वाणी पैंतीस अतिशयों के साथ अविरलरूप से प्रवाहित होती है। वे पैंतीस अतिशय इस प्रकार हैं :—

(१) लक्षणयुक्त हो,
(२) उच्च स्वभावयुक्त हो,
(३) ग्रामीणता यानी हल्के शब्दादि से रहित हो,
(४) मेघ जैसी गम्भीर हो,
(५) अनुनाद अर्थात् प्रतिध्वनियुक्त हो,
(६) वक्रता-दोष-रहित सरल हो,
(७) मालकोषादि राग-सहित हो,
(८) अर्थ-गम्भीर हो,
(९) पूर्वापर विरोधरहित हो,
(१०) शिष्टतासूचक हो,
(११) सन्देहरहित हो,
(१२) पर-दोषों को प्रकट न करने वाली हो,
(१३) श्रोताओं के हृदय को आनन्द देने वाली हो,
(१४) बड़ी विचक्षणता से देश काल के अनुसार हो,
(१५) विवक्षित विषयानुसारी हो,
(१६) असम्बद्ध व अतिविस्तार रहित हो,
(१७) परस्पर पद एवं वाक्यानुसारिणी हो,
(१८) प्रतिपाद्य विषय का उल्लंघन करने वाली न हो,
(१९) अमृत से भी अधिक मधुर हो,
(२०) मर्मवेधी न हो,
(२१) धर्मार्थरूप पुरुषार्थ की पुष्टि करने वाली हो,
(२२) अभिधेय अर्थ की गम्भीरता वाली हो,
(२३) आत्म-प्रशंसा व पर-निन्दा रहित हो,
(२४) श्लाघनीय हो,
(२५) कारक, काल, वचन और लिंग आदि के दोषों से रहित हो,
(२६) श्रोताओं के मन में आश्चर्य पैदा करने वाली हो,
(२७) अद्भुत अर्थ-रचना वाली हो,
(२८) विलम्बरहित हो,
(२९) विभ्रमादि दोषरहित हो,
(३०) विचित्र अर्थ वाली हो,
(३१) अन्य वचनों से विशेषता वाली हो,
(३२) वस्तुस्वरूप को साकार रूप में प्रस्तुत करने वाली हो,
(३३) सत्वप्रधान व साहसयुक्त हो,
(३४) स्व-पर के लिए खेदरहित हो, और
(३५) विवक्षित अर्थ की सम्यक्सिद्धि तक अविच्छिन्न अर्थ वाली हो।

भरत का विवेक

जिस समय भगवान् ऋषभदेव को केवलज्ञान की उपलब्धि हुई उस समय सम्पूर्ण लोक में ज्ञान का उद्योत हो गया। नरेन्द्र और देवेन्द्र भी केवल-कल्याणक का उत्सव मनाने को प्रभु की सेवा में उपस्थित हुए।

सम्राट् भरत को जिस समय प्रभु के केवलज्ञान की सूचना मिली, उसी समय एक दूत ने आकर आयुधशाला में चक्र-रत्न उत्पन्न होने की शुभ सूचना भी दी।[1]

आचार्य जिनसेन के अनुसार उसी समय उन्हें पुत्र-रत्न-लाभ की तीसरी शुभ सूचना भी प्राप्त हुई।

एक साथ तीनों शुभ सूचनाएँ पाकर महाराज भरत क्षण भर के लिये विचार में पड़ गये कि प्रथम चक्र-रत्न की पूजा की जाय या पुत्र-जन्म का उत्सव मनाया जाय अथवा प्रभु के केवलज्ञान की महिमा गाई जाय ?

क्षणान्तर में विवेक के आलोक में उन्होंने निर्णय किया कि चक्र-रत्न और पुत्र-रत्न की प्राप्ति तो अर्थ एवं काम का फल है, पर प्रभु का केवलज्ञान धर्म का फल है। प्रारम्भ की दोनों वस्तुएँ नश्वर हैं, जबकि तीसरी अनश्वर। अतः चक्र-रत्न या पुत्र-रत्न का महोत्सव मनाने के बजाय मुझे प्रथम प्रभुचरणों की वन्दना और उपासना करनी चाहिये, क्योंकि वही सब कल्याणों का मूल और महालाभ का कारण है। पहले के दोनों लाभ भौतिक होने के कारण क्षणविध्वंसी हैं, जब कि भगवच्चरणवंदन आध्यात्मिक होने से आत्मा के लिये सदा श्रेयस्कर है। यह सोच कर चक्रवर्ती भरत प्रभु के चरण-वंदन को चल पड़े।

भगवद् दर्शन से मरुदेवी की मुक्ति

इधर माता मरुदेवी अपने पुत्र ऋषभदेव के दर्शन हेतु चिरकाल से तड़प रही थीं। प्रव्रज्या लेने के बाद हजार वर्ष बीतने पर भी वह अपने प्रिय पुत्र ऋषभ को एक बार भी नहीं देख पाई। फलतः अपने प्यारे पुत्र की स्मृति में उसके नयनों से प्रतिपल आँसू बरसते थे।

भरत की महान् राज्य-ऋद्धि को देखकर मरुदेवी ने उलाहना देते हुए कहा – "वत्स भरत, तुम अमित ऐश्वर्य का उपभोग कर रहे हो किन्तु मेरा प्रिय पुत्र ऋषभ भूखा-प्यासा न मालूम कहां कहां भटक रहा होगा। तुम लोग उसकी कोई सार-सम्हाल नहीं लेते।" कुछ काल बाद भरत ने मरुदेवी को भगवान् ऋषभदेव के विनीता नगरी के बाहर पधारने का शुभ समाचार सुनाया।

उसने जब भरत से सुना कि उसका प्रिय पुत्र-ऋषभ विनीता नगरी के पास आ गया है तो वह भी भरत के साथ गजारूढ़ होकर दर्शनार्थ चल पड़ीं।

समवसरण के निकट पहुँचकर मां मरुदेवी ने देव-देवेन्द्रकृत ऋषभदेव की महिमा-पूजा देखी तो वे सोचने लगीं – "अहो, मैं तो समझती थी कि मेरा प्रिय पुत्र ऋषभ कष्टों में होगा, पर यह तो सुखसागर में गोते लगा रहा है।"

---

[1] (क) कल्पसूत्र १९६, पृ० ५८ (ख) आवश्यक नि० गाथा २६३।

[2] (क) आवश्यक चू० पृ० १८१ (ख) तत्र धर्मफलं तीर्थं, पुत्रः स्यात् कामजं फलम्। अर्थानुबन्धिनोऽर्थस्य फलं चक्रं प्रभास्वरम्। महापुराण २४।६।५७३।

इस पर से उनके चिन्तन का प्रवाह बदल गया। वे आर्त्तध्यान से शुक्ल ध्यान में आरूढ़ हुईं और कुछ क्षणों में ही ज्ञान, दर्शन, अन्तराय और मोह के सघन आवरणों को दूर कर केवलज्ञान व केवल-दर्शन की धारक बन गईं।[1]

चूर्णिकार के अनुसार छत्र, भामण्डलादि अतिशय देखकर मरुदेवी को केवलज्ञान हुआ। आयु काल अल्प होने से कुछ समय बाद ही शेष चार अघाति कर्मों को भी नष्ट कर, गजारूढ़ स्थिति में ही वे सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गईं।[2]

कुछ आचार्य भगवान् की धर्मकथा का शब्द श्रवण करते हुए आयु पूर्ण होने से मरुदेवी का सिद्ध होना मानते हैं।

अवसर्पिणी काल में सिद्ध होने वाले जीवों में माता मरुदेवी का प्रथम स्थान है। तीर्थ-स्थापना के पूर्व सिद्ध होने से उन्हें अतीर्थ-सिद्ध भी कहा है।

भगवान् ऋषभदेव का समवसरण

समवसरण का शब्दार्थ है – सम्यग् एकी भावेन अवसरणमेकत्र गमनं – मेलापकः समवसरणम्।[3]

अच्छी तरह एक स्थान पर मिलने को समवसरण कहते हैं। जहां साधु-साध्वी या वादी मिलें या व्याख्यान दें उस क्षेत्र को भी समवसरण कहते हैं।

वादी, क्रियावादी आदि भेद से समवसरण अनेक प्रकार के हैं। यहां तीर्थंकर के प्रवचन-सभा-रूप समवसरण ही इष्ट है, अतः उसी का विचार किया जाता है।

समवसरण के लिये कहा गया है कि जहां सर्वप्रथम भगवान् का समवसरण होता है और उसमें जहां किसी महर्द्धिक देव का आगमन हो, वहां देवकृत जलवृष्टि, पुष्पवृष्टि और तीन प्राकार युक्त समवसरण किया जाता है। जैसा कि कहा है :–

जत्थ अपुव्वो सरणं, जत्थ व देवो महड्ढियो एइ।
वाउदय-पुप्फ-बद्दल-पागार तियं च अभिओगा॥

[आव० नि० प० १०६, गा० ५४४]

समवसरण के चहुं ओर चार-चार कोस तक देवता भूमि को संवर्तक वायु से स्वच्छ एवं पुष्पवर्षा से सुवासित करते हैं।

---

[1] दिगम्बर परम्परा में इसका उल्लेख नहीं है।

[2] (क) करि स्कन्धाधिरूढैव, स्वामिनी मरुदेव्यथ।
अन्तकृत्केवलित्वेन, प्रपेदे पदमव्ययम्॥ [त्रिषष्ठि १।३।५३०]

(ख) भगवतो य छत्तातिच्छत्तं पेच्छंतीए चेव केवल नाणं उप्पन्नं, तं समयं च णं आयुं खुट्टं सिद्ध देवेहि य से पूया कता....। [आवश्यक चूर्णि (जिनदास) १८१]

(ग) आवश्यक मलयगिरि टीका २२६।

[3] अभिधान राजेन्द्र, पृ० ४६०

तीर्थंकर के समवसरण में देवेन्द्रों द्वारा रत्नों से चित्रित तीन प्राकार बनाये जाते हैं। उनमें पहला रत्नमय, दूसरा सुवर्णमय और तीसरा रजतमय होता है।

पहला प्राकार वैमानिक देव, दूसरा ज्योतिष्क देव और तीसरा भवनपति देव बनाते हैं।

कंगूरों के लिए भी इसी प्रकार वैमानिक, ज्योतिष्क और भवनपतियों द्वारा अलग अलग बनाने का उल्लेख है।

व्यन्तर देव ध्वजा, पताकायुक्त तोरण और चारों ओर मनोहर गन्ध-युक्त धूपघड़ियों की रचना करते हैं।

आभ्यन्तर प्राकार के मध्यम भाग में अशोक वृक्ष होता है जो तीर्थंकर से बारह गुना ऊंचा होता है। उसके नीचे रत्नमय पीठ के ऊपर, चैत्य वृक्ष के नीचे, देव छन्दक के भीतर सिंहासन पर तीर्थंकर विराजते हैं।

इस प्रकार समवसरण की रचना सर्वत्र नहीं होती, जहां देवेन्द्र आते हैं वहां उपरोक्त प्रकार की रचना होती है। जहां इन्द्र के सामानिक देव आदि आते हैं, वहां पर एक ही प्राकार बनाया जाता है। यदि इन्द्र या सामानिक आदि किसी महर्द्धिक देव का आगमन नहीं हो तब भवनपति आदि समवसरण की रचना करते अथवा नहीं भी करते हैं।[1]

समवसरण में प्रवेश करने की भी एक निश्चित पद्धति है। गणधर पूर्व द्वार से प्रविष्ट होकर तीर्थंकर को वन्दन कर दक्षिण की ओर बैठते हैं।

उनके बाद अतिशय ज्ञानी, केवली आदि और सामान्य साधु भी पूर्व द्वार से प्रविष्ट होते हैं।

वैमानिक देवियां पूर्व द्वार से आकर सामान्य साधुओं के पीछे खड़ी रहती हैं।

तत्पश्चात् साध्वियों का पूर्व द्वार से आकर वैमानिक देवियों के पीछे खड़े रहना बतलाया है, बैठना नहीं।

भवनवासी आदि की देवियां दक्षिण द्वार से आती हैं और क्रमशः भवनवासी के पीछे ज्योतिष्क की देवियां और उनके पीछे व्यन्तर देवियां ठहरती हैं। भवनवासी, ज्योतिष्क और व्यन्तरों का पश्चिम द्वार से प्रवेश बतलाया है।

वैमानिक देव, नरेन्द्र आदि मानव और मनुष्य-स्त्रियां उत्तर द्वार से आकर क्रमशः एक दूसरे के पीछे बैठती हैं। यहां ऐसी भी परम्परा बतलाई गई है

[1] इदि इन्द्रा.......वा केचिन्महर्द्धिका नायान्ति ततो भवनवास्यादय इतरे समवसरणं कुर्वन्ति वा न वेत्येवं भजना।

[अभिधान राजेन्द्र, भाग ७, पृष्ठ ४६३]

कि – "देव्यः सर्वा एव न निषीदन्ति, देवाः मनुष्याः, मनुष्यस्त्रियश्च निषीदन्ति" अर्थात् देवियां सभी बैठती नहीं हैं, देव, मनुष्य और मनुष्य-स्त्रियां बैठती हैं।

समवसरण में कोई किसी का तिरस्कार नहीं करते, न एक दूसरे से मत्सर करते हैं और न विकथा ही करते हैं। भगवान् के प्रभाव से विरोधी प्राणियों में भी परस्पर वैर-विरोध एवं भय नहीं होता।

दूसरे प्राकार में पशु-पक्षी आदि तिर्यंच और तीसरे में यान-वाहनादि का होना बतलाया गया है। कभी मनुष्य और देव भी यहां हो सकते हैं।

दिगम्बर परम्परा में भी प्राकार त्रय का इससे मिलता जुलता पर कुछ बढ़कर विवरण उपलब्ध होता है।

समवसरण में चार प्रकार के देव व देवियां तथा साधु, साध्वी, मनुष्य और तिर्यंच, इस तरह बारह प्रकार की परिषद् का वर्णन दोनों परम्पराओं में उल्लिखित है।

श्वेताम्बर परम्परा के उववाइय सूत्र में भगवान् का चम्पा नगरी में समवसरण होने का उल्लेख है। वहां नगरी के बाहरी पूर्णभद्र उद्यान में अशोक वृक्ष के नीचे सिंहासन के आकार वाले कृष्ण पृथ्वीशिला पट्ट पर यथोचित अवग्रह से प्रभु का विराजना बतलाया है।

श्रमण गण से परिवृत्त ३४ अतिशय और ३५ विशिष्ट वाणी-गुणों से सम्पन्न प्रभु आकाशगत चक्र, छत्र एवं चामर और स्फटिकमय सपादपीठ सिंहासन से आगे चलते हुए धर्म-ध्वज के साथ चवदह हजार श्रमण एवं छत्तीस हजार श्रमणियों के परिवार से युक्त पधारे। वहाँ पर ऋषि परिषद्, मुनि परिषद् आदि विशाल परिषदा में योजनगामिनी, सर्वभाषानुयायी अर्धमागधी भाषा में तीर्थंकर महावीर की देशना का वर्णन है। किन्तु इस प्रकार देवकृत समवसरण की विभूति का कहीं उल्लेख नहीं मिलता।

देशना और तीर्थ स्थापना

केवलज्ञानी और वीतरागी बन जाने के पश्चात् ऋषभदेव पूर्ण कृतकृत्य हो चुके थे। वे चाहते तो एकान्त साधना से भी अपनी मुक्ति कर लेते फिर भी उन्होंने देशना दी। इसके कई कारण थे। प्रथम तो यह कि जब तक देशना दे कर धर्मतीर्थ की स्थापना नहीं की जाती तब तक तीर्थंकर नाम कर्म का भोग नहीं होता। दूसरा, जैसा कि प्रश्न व्याकरण सूत्र में कहा गया है, समस्त जगजीवों की रक्षा व दया के लिये भगवान् ने प्रवचन दिया।[1] अतः भगवान् ऋषभदेव को शास्त्र में प्रथम धर्मोपदेशक कहा गया है। वैदिक पुराणों में भी उन्हें दशविध धर्म का प्रवर्त्तक माना गया है।[2]

[1] प्रश्न प्र० संवर।
[2] ब्रह्माण्ड पुराण......

जिस दिन भगवान् ऋषभदेव ने प्रथम देशना दी, वह फाल्गुन कृष्णा एकादशी का दिन था। उस दिन भगवान् ने श्रुत एवं चारित्र धर्म का निरूपण करते हुए रात्रिभोजन विरमण सहित अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहरूप पंच महाव्रत धर्म का उपदेश दिया।[1]

प्रभु ने समझाया कि मानव-जीवन का लक्ष्य भोग नहीं योग है, राग नहीं विराग है, वासना नहीं साधना है, वृत्तियों का हठात् दमन नहीं अपितु ज्ञानपूर्वक शमन है।

भगवान् के त्यागपूर्ण हृदय से निकले हुए इन उद्‌गारों को सुन कर सम्राट् भरत के ऋषभसेन आदि पांच सौ पुत्रों एवं सात सौ पौत्रों ने साधु संघ में और ब्राह्मी आदि पांच सौ सन्नारियों ने साध्वी संघ में दीक्षा ग्रहण की।

महाराज भरत सम्यग्‌दर्शनी श्रावक हुए।

सुन्दरी विरक्त हो कर दीक्षित होना चाहती थी परन्तु भरत ने उसको स्त्रीरत्न बनाने की इच्छा से रोक रखा; अतः उसने श्राविका धर्म ग्रहण किया।

इसी प्रकार महाराज भरत आदि सहस्रों नर-पुंगवों और सुंदरी आदि सन्नारियों ने सम्यग् दर्शन और श्रावक व्रत ग्रहण किया।

इस प्रकार साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप यह चार प्रकार का संघ स्थापित हुआ। धर्म-तीर्थ की स्थापना करने से भगवान् सर्वप्रथम तीर्थंकर कहलाये।

ऋषभसेन ने भगवान् की वाणी सुन कर प्रव्रज्या ग्रहण की और तीन पृच्छाओं से उसने चौदह पूर्व का ज्ञान प्राप्त किया।[2]

भगवान् के चौरासी गणधरों में प्रथम गणधर ऋषभसेन हुए। कहीं कहीं पुंडरीक नाम से भी उल्लेख मिलता है परन्तु समवायांग सूत्र आदि के आधार से पुंडरीक नहीं, ऋषभसेन नाम ही संगत प्रतीत होता है।

ऋषभदेव के साथ प्रव्रज्या ग्रहण करने वाले जिन चार हजार व्यक्तियों के लिये पहले क्षुधा, पिपासादि कष्टों से घबरा कर तापस होने की बात कही गई थी, उन लोगों ने भी जब भगवान् की केवल-ज्ञानोत्पत्ति और तीर्थ-प्रवर्तन की बात सुनी तो कच्छ, महा कच्छ को छोड़ कर शेष सभी भगवान् की सेवा में आए और आर्हती प्रव्रज्या ग्रहण कर साधु संघ में सम्मिलित हो गये।[3]

---

१ (क) फग्गुणबहुले इक्कारसीई अह अट्ठमेणभत्तेण।
उप्पन्नंमि अणंते महव्वया पंच पन्नवए॥ [आवश्यक निर्युक्ति गाथा ३४०]

(ख) सव्व जगजीव रक्खण दयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं। [प्रश्न व्याकरण २।१]

२ तत्थ उसभसेणो णाम भरहस्स रन्नो पुत्तो सो धम्मं सोऊण पव्वइतो तेण तिहिं पुच्छाहिं चोद्दसपुव्वाइं गहिताइं उप्पन्ने विगते धुते, तत्थ बम्भीवि पव्वइया। [आ० चूर्णि पृ० १८२]

३ "भगवओ सगा से पव्वइता।" [आ० नि० म० पृ० २२०] (ब) त्रि० १।३।६५४

आचार्य जिनसेन के मतानुसार ऋषभदेव के ८४ गणधरों के नाम इस प्रकार हैं :—

१. वृषभसेन
२. कुम्भ
३. दृढरथ
४. शत्रुदमन
५. देव शर्मा
६. धन देव
७. नन्दन
८. सोमदत्त
९. सुरदत्त
१०. वायशर्मा
११. सुबाहु
१२. देवाग्नि
१३. अग्निदेव
१४. अग्निभूति
१५. तेजस्वी
१६. अग्निमित्र
१७. हलधर
१८. महीधर
१९. माहेन्द्र
२०. वसुदेव
२१. वसुन्धर
२२. अचल
२३. मेरु
२४. भूति
२५. सर्वसह
२६. यज्ञ
२७. सर्वगुप्त
२८. सर्वप्रिय
२९. सर्वदेव
३०. विजय
३१. विजयगुप्त
३२. विजयमित्र
३३. विजयश्री
३४. पराख्य
३५. अपराजित
३६. वसुमित्र
३७. वसुसेन
३८. साधुसेन
३९. सत्यदेव
४०. सत्यवेद
४१. सर्वगुप्त
४२. मित्र
४३. सत्यवान्
४४. विनीत
४५. संवर
४६. ऋषिगुप्त
४७. ऋषिदत्त
४८. यज्ञदेव
४९. यज्ञगुप्त
५०. यज्ञमित्र
५१. यज्ञदत्त
५२. स्वायंभुव
५३. भागदत्त
५४. भागफल्गु
५५. गुप्त
५६. गुप्त फल्गु
५७. मित्रफल्गु
५८. प्रजापति
५९. सत्य यश
६०. वरुण
६१. धन वाहिक
६२. महेन्द्र दत्त
६३. तेजोराशि
६४. महारथ
६५. विजयश्रुति
६६. महाबल
६७. सुविशाल
६८. वज्र
६९. वैर
७०. चन्द्रचूड़
७१. मेघेश्वर
७२. कच्छ
७३. महाकच्छ
७४. सुकच्छ
७५. अतिबल
७६. भद्रावलि
७७. नमि
७८. विनमि
७९. भद्रबल
८०. नन्दी
८१. महानुभाव
८२. नन्दीमित्र
८३. कामदेव और
८४. अनुपम.

[हरिवंश पुराण, सर्ग १२, श्लो० ५४ से ७०]

परिव्राजक मत का प्रारम्भ

आवश्यक निर्युक्ति आदि श्वेताम्बर ग्रन्थों के अनुसार भगवान् की देशना सुन कर और समवसरण की अद्भुत महिमा देख कर सम्राट् भरत का पुत्र मरीचि भी प्रभु के चरणों में दीक्षित हो गया तथा तप संयम की विधिवत्

आराधना करते हुए उसने एकादश अंगों का अध्ययन भी किया। पर सुकुमारता के कारण एक बार ग्रीष्मकाल के भीषण ताप और अस्नान-परीषह से पीड़ित हो कर वह साधना के कंटकाकीर्ण मार्ग से विचलित हो गया।[1]

वह मन ही मन सोचने लगा कि मेरु गिरि के समान संयम के इस गुरुतर भार को मैं घड़ी भर भी वहन नहीं कर सकता, क्योंकि संयम योग्य धृति आदि गुणों का मुझ में अभाव है, तो मुझे क्या करना चाहिये।

इस प्रकार विचार करते हुए उसे बुद्धि उत्पन्न हुई कि व्रत पर्याय में आकर फिर घर लौट जाना तो उचित नहीं, सब लोग मुझे कायर कहेंगे और यदि साधु रूप में रह कर विधिवत् संयम का निर्दोष पालन नहीं करता हूं तो आत्म-वंचना होगी। अतः मुझे मेरी स्थिति के अनुसार नवीन वेष धारण कर विचरना चाहिये। श्रमण-धर्म से उसने निम्न भेद की कल्पना की :-

"जिनेन्द्र मार्ग के श्रमण मन, वचन और काया के अशुभ व्यापार रूप दंड से मुक्त, जितेन्द्रिय होते हैं। पर मैं मन, वाणी और काया से अगुप्त-अजितेन्द्रिय हूं। इसलिये मुझे प्रतीक रूप से अपना त्रिदंड रखना चाहिये।"[2]

"श्रमण सर्वथा प्राणातिपात विरमण के धारक, सर्वथा हिंसा के त्यागी होने से मुंडित होते हैं, पर मैं पूर्ण हिंसा का त्यागी नहीं हूं। मैं स्थूल हिंसा से निवृत्ति करूंगा और शिखा सहित क्षुर मुंडन कराऊंगा।"[3]

"श्रमण धन-कंचन रहित एवं शील की सौरभवाले होते हैं किन्तु मैं परिग्रहधारी और शील की सुगन्ध से रहित हूं अतः मैं चन्दन आदि का लेप करूंगा।"[4]

"श्रमण निर्मोही होने से छत्र नहीं रखते, पर मैं मोह ममता सहित हूं, अतः छत्र धारण करूंगा और उपानत् एवं खड़ाऊं भी पहनूंगा।"[5]

"श्रमण निरम्बर और शुक्लाम्बर होते हैं, जो स्थविरकल्पी हैं वे निर्मल मनोवृत्ति के प्रतीक श्वेत वस्त्र धारण करते हैं, पर मैं कषाय से कलुषित हूं, अतः मैं काषाय वस्त्र, गेरुए वस्त्र धारण करूंगा।"[6]

"पाप-भीरु श्रमण जीवाकुल समझ कर सचित्त जल आदि का आरंभ नहीं करता किन्तु मैं परिमित जल का स्नान-पानादि में उपयोग करूंगा।"[7]

---

[1] (क) आ० भा० गा० ३७। (ख) आव० नि० गा० ३५०।३५१
[2] आवश्यक नियुक्ति गाथा ३५३
[3] " " " ३५४
[4] " " " ३५५
[5] " " " ३५६
[6] " " " ३५७
[7] आवश्यक नियुक्ति गाथा ३५८

इस प्रकार परिव्राजक वेष की कल्पना कर मरीचि भगवान् के साथ उसी वेष से ग्राम-नगर आदिं में विचरने लगा।

मरीचि के पास आ कर बहुत से लोग धर्म की पृच्छा करते, वह उन सबको क्षान्ति आदि दशविध श्रमण-धर्म की शिक्षा देता और भगवान् के चरणों में शिष्य होने को भेज देता।

किसी समय भरत महाराज ने भगवान् के समक्ष प्रश्न किया – "प्रभो! आपकी इस सभा में कोई ऐसा भी जीव है जो भरत क्षेत्र में आपके समान आने वाली चौवीसी में तीर्थंकर होगा ?"[१]

समाधान करते हुए भगवान् ने फरमाया–"भरत! यह स्वाध्याय-ध्यान में रत तुम्हारा पुत्र मरीचि जो प्रथम परिव्राजक है, आगे इसी अवसर्पिणी में महावीर नाम का चौबीसवां तीर्थंकर होगा।"

भगवान् का निर्णय सुन कर सम्राट् भरत बहुत ही प्रसन्न हुए और मरीचि के पास जाकर उसका अभिवादन करते हुए बोले – "मरीचि! तुम तीर्थंकर बनोगे, इसलिये मैं तुम्हारा अभिवादन करता हूं। मरीचि! तेरी इस प्रव्रज्या को एवं वर्तमान जन्म को वंदन नहीं करता हूं, किन्तु तुम जो भावी तीर्थंकर बनोगे, इसलिये मैं वंदन करता हूं।"

भरत की बात सुन कर मरीचि बहुत ही प्रसन्न हुआ और तीन बार आस्फोटन करके बोला – "अहो मैं प्रथम वासुदेव और मूका नगरी का चक्रवर्ती बनूंगा, और इसी अवसर्पिणी काल में अन्तिम तीर्थंकर भी, कितनी बड़ी ऋद्धि ? फिर मेरा कुल कितना ऊंचा ? मेरे पिता प्रथम सम्राट् चक्रवर्ती, दादा तीर्थंकर और मैं भी भावी तीर्थंकर, क्या इससे बढ़ कर भी कोई कुल होगा ?"

इस प्रकार कुलमद के कारण मरीचि ने यहां नीच गोत्र का बन्ध कर लिया।[२]

एक दिन शरीर की अस्वस्थावस्था में जब कोई उसकी सेवा करने वाला नहीं था तो मरीचि को विचार हुआ कि – "मैंने किसी को शिष्य नहीं बनाया, अतः आज सेवा से वंचित रह रहा हूं। अब स्वस्थ होने पर मैं अपना शिष्य अवश्य बनाऊंगा।[३]

समय पाकर उसने कपिल राजकुमार को अपना शिष्य बनाया।"[४]

महापुराणकार ने कपिल को ही योगशास्त्र और सांख्य दर्शन का प्रवर्तक माना है।

---

[१] आ० नि० गाथा ३६७।
[२] आ० म० ४२८, ४३१–४३२
[३] आ० म० प० २४७। १
[४] त्रिषष्टि १।६।५२

इस प्रकार "आदि परिव्राजक" मरीचि के शिष्य कपिल से व्यवस्थित रूप में परिव्राजक परम्परा का आरंभ हुआ।[१]

ब्राह्मी और सुन्दरी

प्रातःस्मरणीया सतियों में ब्राह्मी और सुन्दरी का स्थान महत्त्वपूर्ण है। भगवान् आदिनाथ के १०० पुत्रों में जैसे भरत और बाहुबली प्रसिद्ध हैं उसी तरह उनकी दोनों पुत्रियां ब्राह्मी और सुन्दरी भी सर्वजन-विश्रुत हैं।

भगवान् ऋषभदेव ने ब्राह्मी के माध्यम से ही जन-समाज को अठारह लिपियों का ज्ञान प्रदान किया।

आवश्यक निर्युक्ति के टीकाकार के अनुसार ब्राह्मी का बाहुबली से और भरत का सुन्दरी से सम्बन्ध किया गया।

यहां यह शंका होती है कि ब्राह्मी और सुन्दरी को बालब्रह्मचारिणी माना गया है फिर इनका विवाह कैसे ?

संभव है कि उस समय की लोक-व्यवस्थानुसार पहले दोनों का सम्बन्ध घोषित किया गया हो और फिर भोग-विरति के कारण दोनों ने भगवान् के पास प्रव्रज्या ग्रहण कर ली हो।

आवश्यक चूर्णि और मलयगिरि वृत्ति में भी भरत को सुन्दरी और बाहुबली को ब्राह्मी देने का उल्लेख है।

ब्राह्मी तो भगवान् को केवलज्ञान होते ही दीक्षित हो गई, पर सुन्दरी को उस समय भरत ने दीक्षा ग्रहण करने की अनुमति प्रदान नहीं की, भरत द्वारा अवरोध उपस्थित करने के कारण वह उस समय दीक्षित नहीं हो सकी। भरत का विचार था कि चक्ररत्न से षट्खण्ड पृथ्वी को जीतकर सुन्दरी को स्त्री-रत्न नियुक्त किया जाय।

आचार्य जिनसेन के अनुसार सुन्दरी ने भगवान् ऋषभदेव के प्रथम प्रवचन से ही प्रतिबोध पाकर ब्राह्मी के साथ दीक्षा ग्रहण की थी।[२]

पर श्वेताम्बर परम्परा की मान्यता के अनुसार भरत की आज्ञा प्राप्त न होने से, वह उस समय प्रथम श्राविका बनी। उसके अन्तर्मन में वैराग्य की प्रबल भावना थी। तन से गृहस्थाश्रम में रह कर भी उसका हृदय संयम में रम रहा था। भरत के स्नेहातिरेक को देख कर सुन्दरी ने रागनिवारण हेतु उपाय सोचा। उसने भरत द्वारा षट्खण्ड विजय के लिए प्रस्थान कर देने पर निरन्तर आयम्बिल तप करना प्रारम्भ कर दिया।

---

[१] महापुराण, १८।६२।४०३

[२] (क) महापुराण २४।१७७ (ख) त्रिषष्टि प० १, स० ३, श्लो० ६५०:५१

साठ हजार वर्ष बाद जब भरत सम्पूर्ण भारतवर्ष पर अपनी विजय-वैजयन्ती फहरा, षट् खण्ड विजय कर विनीता नगरी को लौटे और बारह वर्ष के महाराज्याभिषेक-समारोह के पश्चात् वे अपने परिवार की संभाल करते हुए सुन्दरी के पास आये तो सुन्दरी के सुन्दर-सुडौल शरीर को अत्यन्त कृश और शोभाहीन देखकर वे बड़े क्षुब्ध हुए। अनुचरों को उपालम्भ देते हुए उन्होंने सुन्दरी के क्षीणकाय होने का कारण पूछा।

अनुचरों ने कहा–"स्वामिन्! सभी प्रकार के सुख-साधनों का बाहुल्य होते हुए भी इनके क्षीण होने का कारण यह है कि जब से आपने इन्हें संयम-ग्रहण का निषेध किया, उसी दिन से इन्होंने निरन्तर आचाम्ल व्रत प्रारम्भ कर रखा है। हम लोगों द्वारा विविध विधि से पुनः पुनः निवेदन करने पर भी इन्होंने अपना व्रत नहीं छोड़ा।"

सुन्दरी की यह स्थिति देख कर भरत ने पूछा–"सुन्दरी! तुम प्रव्रज्या लेना चाहती हो या गृहस्थ जीवन में रहना चाहती हो?"

सुन्दरी द्वारा प्रव्रज्या ग्रहण करने की उत्कट इच्छा अभिव्यक्त किये जाने पर भरत ने प्रभु की सेवा में रत ब्राह्मी के पास उसे प्रव्रजित करा दिया, वह साध्वी हो गईं।

इन दोनों बहिनों का वैवाहिक जीवन स्वल्प काल के लिये भी नहीं रहा, अतः इन्हें बालब्रह्मचारिणी कहने में कोई बाधा प्रतीत नहीं होती। विवाह, केवल नाम मात्र का, नेम-राजिमती के समान है, वास्तव में इनका पाणिग्रहण नहीं हुआ।

पुत्रों को प्रतिबोध

पहले कहा जा चुका है कि ऋषभदेव ने अपने सभी पुत्रों को पृथक्-पृथक् ग्रामादि का राज्य देकर प्रव्रज्या ग्रहण की।

जब भरत ने षट् – खण्ड के देशों पर विजय प्राप्त की तब भ्राताओं को भी अपने आज्ञानुवर्ती बनाने के लिए उसने उनके पास दूत भेजे। दूत की बात सुन कर अट्ठानुओं भाइयों ने मिलकर विचार-विमर्श किया, परन्तु वे कोई निर्णय नहीं कर सके। तब उन सबने सोचा कि भगवान् के पास जाकर बात करेंगे और उनकी जैसी आज्ञा होगी वैसा ही करेंगे।

इस तरह सोच कर वे सब भगवान् के पास आये और उन्हें सारी स्थिति से अवगत कराते हुए बोले – "भगवन्! आपने हमको जो राज्य दिया था वह भाई भरत हमसे छीनना चाहता है। उसके पास कोई कमी नहीं, फिर भी तृष्णा के अधीन हो वह कहता है कि या तो हमारी आज्ञा स्वीकार करो या युद्ध करने के लिये तैयार हो जाओ। आपके दिये हुए राज्य को हम यों ही दब कर अर्पण करदें, यह कायरता होगी और भाई के साथ युद्ध करें तो विनय-भंग

होगा, मर्यादा का लोप हो जायगा। ऐसी स्थिति में आप ही बताइये, हमें क्या करना चाहिये ?"

भगवान् ने भौतिक राज्य की नश्वरता और अनुपादेयता बतलाते हुए उनको आध्यात्मिक राज्य का महत्त्व समझाया।

भगवान् के उस उपदेश का सार सूयगडांग के दूसरे वैतालीय अध्ययन में बताया गया है।

भागवत में भी भगवान् के पुत्रोपदेश का वर्णन इससे मिलता-जुलता ही प्राप्त होता है।[1]

भगवान् की दिव्य वाणी में आध्यात्मिक राज्य का महत्त्व और संघर्ष-जनक भौतिक राज्य के त्याग की बात सुन कर सभी पुत्र अवाक् रह गये।

उन्होंने भगवान् के उपदेश को शिरोधार्य कर इन्द्रियों और मन पर संयम रूप स्वराज्य स्वीकार किया और वे पंच महाव्रत रूप धर्म को ग्रहण कर भगवान् के शिष्य बन गये।

सम्राट् भरत ने ज्योंही यह खबर सुनी तो वे दौड़े दौड़े आये और भाइयों से राज्य ग्रहण करने की प्रार्थना करने लगे, पर अट्ठानुओं भाइयों ने अब राज्य वैभव और माया से अपनी पीठ फेर ली थी अतः भरत की स्नेह भरी बातें उनको विचलित नहीं कर सकीं। वे अक्षय राज्य के अधिकारी हो गये।

अहिंसात्मक युद्ध

ऋषभदेव के पुत्र बाहुबली ने युद्ध में भी अहिंसाभाव रख कर यह बता दिया कि हिंसा के स्थान पर अहिंसा भाव से भी किस प्रकार सुधार किया जा सकता है।

ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र सम्राट् भरत सम्पूर्ण देशों में अपना एक अखंड शासन स्थापित करने जा रहे थे। अट्ठानुओं भाइयों के दीक्षित हो जाने से उनका मार्ग बहुत कुछ तो सरल बन चुका था फिर भी एक बाधा थी कि महाबली बाहुबली को कैसे जीता जाय ?

जब तक बाहुबली को आज्ञानुवर्ती नहीं बना लिया जाता तब तक एक-छत्र राज्य की स्थापना नहीं हो सकती। अतः उन्होंने अपने छोटे भाई बाहुबली को यह संदेश पहुंचाया कि वह भरत की अधीनता स्वीकार कर लें।

दूत के मुख से भरत का सन्देश सुन कर बाहुबली की भृकुटी तन गई। क्रोध में तमतमाते हुए उन्होंने कहा – "अट्ठानुओं भाइयों का राज्य छीन कर भी भरत की राज्य-तृष्णा शान्त नहीं हुई और अब वह मेरे राज्य पर भी झपटना चाहता है। उसे अपनी शक्ति का गर्व है, वह सबको दबा कर रखना

[1] श्रीमद्भागवत प्रथम खण्ड ५।५।१९

चाहता है, यह शक्ति का सदुपयोग नहीं, दुरुपयोग है, भगवान् द्वारा स्थापित सुव्यवस्था का अतिक्रमण है। ऐसी स्थिति में मैं भी चुप्पी नहीं साध सकता। मैं उसे बतला दूंगा कि आक्रमण करना कितना बुरा है।"

बाहुबली की यह बात सुनकर दूत लौट गया। उसने भरत के पास आकर सारी बात कह सुनाई।

भरत भी चुप बैठने वाले कब थे। उन्होंने विराट् सेना लेकर युद्ध करने हेतु "बहली देश" की सीमा पर आकर डेरा डाल दिया।

दूसरी ओर बाहुबली भी अपनी सेना के साथ मैदान में डटे हुए थे। दोनों ओर कुछ समय तक सैनिकों में टक्कर होती रही। पर युद्ध में होने वाले जन-संहार से बचने के लिए बाहुबली ने निर्णय किया कि क्यों नहीं वे दोनों भाई भाई मिल कर ही निर्णायक द्वन्द्व युद्ध कर लें।

दोनों के एकमत होने पर दृष्टि-युद्ध, वाक्-युद्ध, मुष्टि-युद्ध और दंड-युद्ध द्वारा परस्पर बल-परीक्षण होने लगा।

पहले दृष्टि-युद्ध हुआ, उसमें भरत की पराजय हुई। फिर क्रमशः वाग्युद्ध, बाहु-युद्ध और मुष्टि-युद्ध में भी भरत पराजित हो गये।

तब भरत सोचने लगे – "क्या बाहुबली चक्रवर्ती है, जिससे कि मैं कमजोर पड़ रहा हूँ ?"

उनके इस प्रकार विचार करते ही देवता ने भरत को चक्ररत्न का आयुध प्रदान किया। छोटे भाई से पराजित होना भरत को बहुत ही बुरा लगा, अतः आवेश में आकर उन्होंने बाहुबली के शिरश्छेदन के लिये चक्ररत्न से उन पर वार किया।

बाहुबली ने भरत को वार करते देखा तो गर्व के साथ क्रुद्ध हो उछले और चक्र को पकड़ना चाहा पर उसी समय उन्हें विचार हुआ कि तुच्छ काम-भोगों के लिये ऐसा करना योग्य नहीं। भाई प्रतिज्ञाभ्रष्ट हो गया है तो भी मुझे धर्म छोड़ कर भ्रातृवध का दुष्कर्म नहीं करना चाहिये।[1]

भरत के ही परिवार के सदस्य व चरमशरीरी होने के कारण चक्ररत्न भी बाहुबली की प्रदक्षिणा करके पीछे की ओर लौट गया।[2]

बाहुबली की इस विजय से गगन विजयघोषों से गूंज उठा और भरत मन ही मन बहुत लज्जित हुए। हेमचन्द्र के त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र में इस सन्दर्भ को निम्नरूप से प्रस्तुत किया गया है :–

---

[1] (क) आव० नि० मलयवृत्ति गा० ३२ से ३५ प० २३२ (ख) आव० चू० प० २१०

[2] न चक्रं चक्रिणः शक्तं, सामान्येऽपि सगोत्रजे।
विशेषतस्तु चरमशरीरे नरि तादृशे ॥७२३॥
चक्रं चक्रभृतः पाणि, पुनरप्यापपात तत् । ७२४॥
[त्रिषष्टि श. पु. चरित्र, पर्व १, सर्ग ५]

"बाहुबली ने रुष्ट होकर जब भरत पर प्रहार करने के लिये मुष्टि उठाई तब सहसा दर्शकों के दिल कांप गये और सब एक स्वर में कहने लगे-"क्षमा कीजिये, समर्थ होकर क्षमा करने वाला बड़ा होता है। भूल का प्रतिकार भूल से नहीं होता।"

बाहुबली शान्त मन से सोचने लगे – "ऋषभ की सन्तानों की परम्परा हिंसा की नहीं, अपितु अहिंसा की है। प्रेम ही मेरी कुल-परम्परा है। किन्तु उठा हुआ हाथ खाली कैसे जाय ?"

"उन्होंने विवेक से काम लिया, अपने उठे हुए हाथ को अपने ही सिर पर डाला और बालों का लुंचन करके वे श्रमण बन गये। उन्होंने ऋषभदेव के चरणों में वहीं से भावपूर्वक नमन किया और कृत–अपराध के लिए क्षमा-प्रार्थना की।"

बाहुबली का घोर तप और केवलज्ञान

ऋषभदेव की सेवा में जाने की इच्छा होने पर भी बाहुबली आगे नहीं बढ़ सके। उनके मन में द्वन्द्व था – "पूर्वदीक्षित छोटे भाइयों के पास यों ही कैसे जाऊँ ?"

इस बात के स्मरण आते ही वे अहंकार से पराजित हो गये। वे जंगल में ध्यानस्थ खड़े हो गये और एक वर्ष तक गिरिराज की तरह अडोलभाव से खड़े रहे। शरीर पर बेलें छा गईं, कोमल कमल की तरह खिला बदन मुरझा गया, पैर दीमकों की मिट्टी से ढक गये[1], फिर भी केवलज्ञान का आभास तक नहीं।

भगवान् ऋषभदेव ने बाहुबली की स्थिति जानी तो उन्होंने उनको प्रतिबोध देने हेतु ब्राह्मी और सुन्दरी को उनके पास भेजा।

दोनों साध्वियां वहां आकर मृदु भाषा में बाहुबली से बोलीं – "भाई, हाथी से नीचे उतरो, हाथी पर बैठे केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं होती।"

बाहुबली साध्वियों की बात सुनकर विचारने लगे – "मैं हाथी पर कहां बैठा हूं, साध्वियां असत्य नहीं बोलतीं।[2] अरे समझा, ये ठीक कहती हैं, मैं अभिमान रूपी हाथी पर आरूढ़ हूं।"

इस विचार के साथ ही सरल भाव से ज्यों ही बाहुबली ने अपने छोटे भाइयों को नमन करने के लिये पैर उठाये कि उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया।

केवली बनकर वे भगवान् के समवसरण में गये और वहां नियम के अनुसार प्रभु को वन्दन कर केवली परिषद् में बैठ गये।

---

[1] संवच्छरं अच्छई काउसग्गेण वल्ली विताणेणं बेढियो पाया य वम्मि य निग्गएहिं भुयंगेहिं।
[आव० म० वृ–पृ० २३२-१]

[2] तातो य अलियं न भणाति।
[आवश्यक चूर्णि पूर्व भाग, पृष्ठ २११]

आचार्य जिनसेन ने लिखा है कि बाहुबली एक वर्ष तक ध्यान में स्थिर रहे, परन्तु उनके मन में यह विचार बना रहा कि मेरे कारण भरत के मन में संक्लेश हुआ है। उनके वार्षिक अनशन के बाद भरत के द्वारा क्षमा-याचनापूर्वक वन्दन करने पर उनका मानसिक शल्य दूर हुआ और उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया।[1]

भरत की अनासक्ति

भारतवर्ष का एकछत्र सार्वभौम राज्य पाकर भी भरत के मन में शान्ति नहीं थी। निन्यानुओं भाइयों को खोकर राज्यभोगों में उन्हें गौरवानुभूति नहीं हो रही थी, उनके मन में राज्य के लिये भाइयों को अपमानित करने का खेद था। अतः राष्ट्र का अखण्ड शासन करते हुए भी उनके मन में आसक्ति नहीं थी।

एक समय भगवान् ऋषभदेव जब अपनी शिष्य मंडली के साथ विनीता नगरी के उद्यान में विराजमान थे तब सहस्रों नर-नारी उनके उपदेश श्रवण का लाभ ले रहे थे।

उनमें से किसी एक ने भगवान् से प्रश्न किया – "प्रभो ! चक्रवर्ती भरत किस गति में जायेंगे ?"

प्रभु ने कहा – "मोक्ष में।"

प्रश्नकर्त्ता बोल उठा – "अहो ! भगवान् के मन में भी पुत्र के प्रति पक्षपात है।"

यह बात भरत के कानों तक पहुंची। उन्होंने सोचा – "मेरे कारण भगवान् पर आक्षेप किया जा रहा है। मुझे इस व्यक्ति को शिक्षा देनी चाहिये।"

यह सोचकर उन्होंने उसे बुला कर कहा – "तेल से भरा हुआ एक कटोरा लेकर विनीता के सब बाजारों में घूम आओ। याद रखना, एक बूंद भी तेल नीचे गिराया तो फांसी के तख्ते पर लटका दिये जाओगे। कटोरे से एक बूंद तेल नहीं गिरने पर ही तुम मुक्त हो सकोगे।"

भरत के आदेश से भयभीत हुआ वह व्यक्ति आदेशानुसार सारी नगरी में घूमकर भरत के पास लौटा, पर बाजार में किसी ओर नजर उठा कर देख भी नहीं सका।

भरत ने पूछा – "तुम सारी विनीता नगरी में घूम आये हो। बताओ नगरी में तुमने कहां-कहां क्या-क्या देखा ?"

"महाराज कटोरे के अतिरिक्त मैंने कुछ भी नहीं देखा।"

"अरे ! क्या नगर में हो रहे नाटक नहीं देखे और संगीत मंडली के मधुर संगीत भी नहीं सुने ?"

[1] महापुराण, ३६। १८६–८६। २१७ द्वि० भाग

"नहीं महाराज ! जिसकी नजरों के आगे मृत्यु नाच रही हो, वह नाटक कैसे देख सकता है ? मृत्यु का भय कैसा होता है, यह तो भुक्तभोगी ही जानता है।"

"भाई ! जैसे तुम एक जीवन के मृत्यु-भय से नाटक नहीं देख सके और संगीत नहीं सुन सके, वैसे ही मेरे सामने दीर्घकाल की मृत्यु परम्परा का भयंकर भय है। अतः साम्राज्य-लीला का उपभोग करते हुए भी मैं उसमें लुब्ध नहीं हो पा रहा हूँ। मैं तन से संसार के भोगोपभोग और आरंभ-परिग्रह में रहकर भी मन से निर्लिप्त हूँ," भरत ने कहा।

उस शंकाशील व्यक्ति की समझ में यह बात आ गई और भगवान् के वचन पर उसके मन में जो शंका थी वह दूर हो गई।

भरत ने यह शिक्षा देकर उसको विदा कर दिया।

भरत के जनहितकारी शासन के कारण ही इस देश का नाम भारतवर्ष प्रसिद्ध हुआ।[1]

भरत का स्वरूप-दर्शन

सम्यग्दर्शन के प्रकाश से भरत का अंतर्मन प्रकाशित था। दीर्घकाल तक राज्यलीला में रह कर भी वे उसमें अलिप्त और स्वरूप-दर्शन के लिये लालायित थे।

एक दिन वस्त्रालंकारों से विभूषित होकर वे शीशमहल-आदर्शभवन में गये। दीवारों और आँगन के शीशों में उनका सौन्दर्य शतमुखी होकर प्रतिबिम्बित हो रहा था। आंगन में प्रतिबिम्बित छवि ऐसी लग रही थी मानो क्षीरसागर में हंस विचरण कर रहा हो। महाराज अपनी छटा देख कर स्वयं विस्मित से थे। अपनी अंगुलियों की शोभा निहारते हुए उन्होंने देखा कि प्रकाशमान अंगुलियों के बीच एक अंगुली शोभाहीन है, सूनी है क्योंकि उसमें पहनी हुई अंगूठी कहीं गिर पड़ी है।

उन्होंने एक-एक करके अपने सारे आभूषण उतार दिये, आभूषणों को उतारने से शरीर का कृत्रिम सौन्दर्य नष्ट हो गया, शरीर कमल रहित सरोवर की तरह शोभाहीन प्रतीत हुआ।

भरत के चिन्तन का मोड़ बदला, उन्होंने सोचा – "शरीर का यह सौंदर्य मेरा अपना नहीं है, यह तो कृत्रिम है, वस्त्राभूषणों से ही यह सुन्दर प्रतीत होता है। क्षण भर पहले जो देह दमक रही थी, वह आभूषणों के अभाव में श्रीहीन हो गई।"

उन्हें पहली बार यह अनुभव हुआ— "भौतिक अलंकारों से लदी हुई सुन्दरता कितनी निकम्मी है। इसके व्यामोह में फंस कर मानव अपने शुद्ध स्वरूप को भूल जाता है। सौन्दर्य की अवस्थिति "स्व" में है "पर" में नहीं।

[1] वसुदेव हिंडी प्र० खं० पृ० १८६ व भागवत ११।२।१७ (क) नारद पु० अ० ४८, श्लो० ५

वस्तुतः "स्व" की ओर अधिक ध्यान न देकर मैं आज तक "पर" शरीरादि में ही तत्परता दिखाता रहा । यह मेरी भयंकर भूल रही ।"

धीरे-धीरे उनके चिन्तन का प्रवाह सम, संवेग और निर्वेद की भूमिका पर पहुंचा और अपूर्व-करण में प्रविष्ट हो उन्होंने ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय एवं अन्तराय कर्मों का क्षय कर केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त कर लिया ।[1]

वे प्रभु ऋषभदेव के चरण-चिह्नों पर चल पड़े और अन्त में शुद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गये ।

धर्म-परिवार

भगवान् ऋषभदेव का गृहस्थ परिवार जिस प्रकार विशाल था उसी प्रकार उनका धार्मिक परिवार भी छोटा नहीं था । यों तो प्रभु की वीतरागतामयी वाणी सुनकर कोई विरला ही ऐसा रहा होगा जो लाभान्वित होकर भी उनके प्रति श्रद्धाशील नहीं हुआ हो । अगणित नर-नारी, देव-देवी और पशु तक उनके उपासक बने, भक्त बने, परन्तु यहां विशेषकर व्रतियों की दृष्टि से ही उनका धर्म-परिवार बताया जा रहा है ।

भगवान् ऋषभ के संघ में चौरासी हजार श्रमण हुए, तीन लाख श्रमणियां हुईं[2], तीन लाख पांच हजार श्रावक और पांच लाख चौवन हजार व्रतधारिणी श्राविकाएं हुईं ।[3]

चौरासी हजार श्रमणों में ऋषभसेन, साध्वियों में ब्राह्मी, सुन्दरी, श्रावकों में श्रेयांस एवं श्राविकाओं में सुभद्रा प्रमुख माने गये हैं ।

श्रमण परिवार की व्यवस्था के लिये उसको चौरासी गणों में बांट कर आचार धर्म की शिक्षा दी गई ।

श्रमणों के ये विभाग गण कहे गये और इनकी व्यवस्था करने वाले गणधर। भगवान् के परिवार में ऋषभसेन आदि चौरासी गणधर हुए, जो गण की व्यवस्था करते थे ।

गुण की दृष्टि से सम्पूर्ण श्रमणसंघ सात श्रेणियों में विभक्त था । जैसे :-

१. केवलज्ञानी
२. मनःपर्यवज्ञानी
३. अवधिज्ञानी
४. वैक्रिय लब्धिधारी
५. चतुर्दश पूर्वधारी
६. वादी और
७. सामान्य साधु

[1] आ० नि० गा० ४३६
[2] दिग. परम्परा में (हरिवंश पु० और तिलोय पण्णत्ति) ३५०००० श्रमणियाँ मानी हैं ।
[3] कल्पसूत्र, १९७ सू०

भगवान् ऋषभदेव के केवलज्ञानियों की संख्या वीस हजार थी। वे चराचर वस्तुमात्र के ज्ञाता थे।[१]

मानसिक भाव को जानने वाले मनःपर्यवज्ञानियों की संख्या बारह हजार छः सौ पचास थी।[२]

एक सीमा में रूपी पदार्थों को आत्मसाक्षात्कार से जानने वाले अवधि-ज्ञानी नौ हजार थे।[३]

वैक्रिय-लब्धि वाले बीस हजार छः सौ थे।[४]

चतुर्दश पूर्व-धारी श्रमण चार हजार सात सौ पचास थे।[५]

बारह हजार छः सौ पचास श्रमण शास्त्रार्थ में कुशल वादी थे।[६]

और सामान्य साधु चौरासी हजार थे।

एक हजार वर्ष कम एक लाख पूर्व के संयमकाल में प्रभु ने विभिन्न क्षेत्रों में विहार किया। उन्होंने वहली, अंडबइल्ला-अटक प्रदेश, यवन-यूनान, स्वर्ण-भूमि और पन्नव-पर्शिया जैसे दूर-दूर के अनार्य क्षेत्रों में भी विचरण कर धर्म का उपदेश दिया। देश के कोने-कोने में जैन धर्म का प्रचार भगवान् आदिनाथ के ही उपदेश का प्रतिफल है।

परिनिर्वाण

दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् भगवान् ऋषभदेव दीर्घकाल तक भूमंडल पर विचरते रहे। एक लाख पूर्व तक संयमभाव में विचरण कर भगवान् ऋषभ ने हजारों ग्राम-नगरों में धर्म का प्रचार किया।

अन्त समय में आयु काल को निकट समझ कर दश हजार साधु-परिवार के साथ भगवान् अष्टापद[७] पर्वत पर पधारे और तीसरे आरे के तीन वर्ष और साढ़े आठ मास शेष रहने पर छः दिन के निराहार तप में प्रभु ध्याना-वस्थित हुए, शुक्ल ध्यान के चतुर्थ चरण में शैल की तरह अकंपभाव में वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र रूप चार अघाति कर्मों का युगपत् क्षय कर माघ कृष्णा त्रयोदशी[८] को अभिजित् नक्षत्र के योग में पर्यंकासन से सिद्ध-बुद्ध-मुक्त

---

१ कल्प सूत्र, १९७ सू०

२ कल्प सू०, १९७ सू०

३ कल्प सू०, वही

४ कल्प सू०, वही

५ कल्प सू०, वही

६ (क) कल्प सूत्र, १९७ सू०
(ख) दिगम्बर परंपरा में १२७५० वादी माने गये हैं।

७ हरिवंश पुराण और तिलोय पन्नत्ति के अनुसार भगवान् ऋषभदेव का निर्वाण-स्थल कैलाश माना गया है।

८ अणगारसहस्सेहिं सिद्ध संपरिवुडे...जाव सव्वदुःखपहीणे।
(क) जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, वक्षस्कार माह बहुल बहुलस्स तेरसी पक्खेणं दसहिं........
(ख) सत्तरिसय प्रकरण द्वार १४७ गा० ३०६

हुए। वे सकल कर्मरहित शुद्ध स्वरूप को पाकर अजर अमर स्वरूप में लीन हो गये।[१]

वैदिक परम्परा के साहित्य में माघ कृष्णा चतुर्दशी को आदिदेव का शिवलिंग रूप से उद्भव होना माना है।[२] भगवान् आदिनाथ के शिव-पद प्राप्ति का इससे साम्य प्रतीत होता है।

जैनेतर साहित्य में ऋषभदेव

जैन परम्परा की तरह वैदिक परम्परा के साहित्य में भी ऋषभदेव का विस्तृत परिचय उपलब्ध होता है और बौद्ध साहित्य में भी ऋषभ का उल्लेख मिलता है। पुराणों में ऋषभ की वंश-परम्परा का परिचय इस प्रकार मिलता है :–

"ब्रह्माजी ने अपने से उत्पन्न अपने ही स्वरूप स्वायंभुव को प्रथम मनु बनाया। फिर स्वायंभुव मनु से प्रियव्रत और प्रियव्रत से आग्नीध्र आदि दस पुत्र हुए। आग्नीध्र से नाभि और नाभि से ऋषभ हुए।[३]

ऋषभदेव का परिचय प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि महात्मा नाभि की प्रिया मरुदेवी की कुक्षि से अतिशय कान्तिमान् ऋषभ नामक पुत्र का जन्म हुआ। महाभाग पृथिवीपति ऋषभदेव ने धर्मपूर्वक राज्यशासन तथा विविध यज्ञों का अनुष्ठान किया और अपने वीर पुत्र भरत को राज्याधिकार सौंपकर तपस्या के लिये पुलहाश्रम की ओर प्रस्थान किया।[४]

जबसे ऋषभदेव ने अपना राज्य भरत को दिया तबसे यह हिमवर्ष लोक में भारतवर्ष के नाम से प्रसिद्ध हुआ।[५]"

श्रीमद्भागवत में ऋषभदेव को यज्ञपुरुष विष्णु का अंशावतार माना गया है। उसके अनुसार भगवान् नाभि का प्रेम–सम्पादन करने के लिये

---

[१] जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति और कल्प सूत्र, १९९ सू०

[२] ईशान संहिता।

(क) माघे कृष्णे चतुर्दश्यामादिदेवो महानिशि।
शिवलिंगतयोद्भूतः, कोटिसूर्य-समप्रभः॥
तत्कालव्यापिनी ग्राह्या, शिवरात्रिव्रते तिथिः। [ईशान संहिता]

(ख) माघमासस्य शेषे या, प्रथमे फाल्गुनस्य च।
कृष्णा चतुर्दशी सा तु, शिवरात्रिः प्रकीर्तिता॥ [कालमाधवीय नागरखण्ड]

[३] विष्णु पुराण, अंश २ अ० १। श्लो. ७। १६, २७

[४] विष्णु पुराण, २।१।२८ और २९

[५] विष्णु पुराण, २।१।३२

महारानी मरुदेवी के गर्भ से दिगम्बर संन्यासी वातरशना – श्रमणों के धर्म को प्रकट करने के लिये शुद्ध सत्वमय विग्रह से प्रकट हुए। यथा :–

"भगवान् परमर्षिभिः प्रसादितो नाभेः प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मरुदेव्यां, धर्मान्दर्शयितुकामो वातरशनानां श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमन्थिनां शुक्लया तन्वावततार।[१]"

"ऋषभदेव के शरीर में जन्म से ही वज्र, अंकुश आदि विष्णु के चिह्न थे। उनके सुन्दर और सुडौल शरीर, विपुल कीर्ति, तेज, बल, ऐश्वर्य, यश, पराक्रम और शूरवीरता आदि गुणों के कारण महाराज नाभि ने उनका नाम ऋषभ (श्रेष्ठ) रखा।[२]"

श्रीमद्भागवत में ऋषभदेव को साक्षात् ईश्वर भी कहा है। यथा:- "भगवान् ऋषभदेव परम स्वतन्त्र होने के कारण स्वयं सर्वदा ही सब तरह की अनर्थ परम्परा से रहित, केवल आनन्दानुभव-स्वरूप और साक्षात् ईश्वर ही थे। अज्ञानियों के समान कर्म करते हुए काल के अनुसार प्राप्त धर्म का आचरण करके उसका तत्त्व न जानने वाले लोगों को उन्होंने सत्य धर्म की शिक्षा दी।[३]"

भागवत में इन्द्र द्वारा दी गई जयन्ती कन्या से ऋषभ का पाणिग्रहण और उसके गर्भ से अपने समान सौ पुत्र उत्पन्न होने का उल्लेख है।[४]

ब्रह्मावर्त पुराण में लिखा है कि ऋषभ ने अपने पुत्रों को अध्यात्मज्ञान की शिक्षा दी और फिर स्वयं अवधूतवृत्ति स्वीकार कर ली। उनके उपदेश का सार इस प्रकार है :

"मेरे इस अवतार-शरीर का रहस्य साधारण जनों के लिये बुद्धिगम्य नहीं है। शुद्ध सत्व ही मेरा हृदय है और उसी में धर्म की स्थिति है। मैंने अधर्म को अपने से बहुत दूर पीछे ढकेल दिया है, इसलिये सत्पुरुष मुझे ऋषभ कहते हैं।[५] पुत्रों! तुम सम्पूर्ण चराचर भूतों को मेरा ही शरीर समझ कर शुद्ध बुद्धि से पद-पद पर उनकी सेवा करो, यही मेरी सच्ची पूजा है।[६]"

"ऋषभदेव की अपरिग्रहवृत्ति का भागवत में निम्नरूप से उल्लेख मिलता है :-

---

[१] श्रीमद्भागवत, ५।३।२०
[२] श्रीमद्भागवत, ५।४।२
[३] श्रीमद्भागवत, ५।४।१४
[४] श्रीमद्भागवत, ५।४।८
[५] श्रीमद्भागवत, ५।५।१९
[६] श्रीमद्भागवत, ५।५।२६

"ऋषभदेव ने पृथ्वी का पालन करने के लिये भरत को राज्यगद्दी पर बिठाया और स्वयं उपशमशील, निवृत्ति-परायण महामुनियों के भक्ति-ज्ञान और वैराग्य रूप परमहंसोचित धर्म की शिक्षा देने के लिये बिलकुल विरक्त हो गये। केवल शरीर मात्र का परिग्रह रखा और सब कुछ घर पर रहते ही छोड़ दिया।[1]"

ऋषभदेव के तप की पराकाष्ठा और उनकी नग्नचर्या का परिचय इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है :–

"वे तपस्या के कारण सूख कर कांटा हो गये थे और उनके शरीर की शिराएं-धमनियां दिखाई देने लगीं। अन्त में अपने मुख में एक पत्थर की वटिया रख कर उन्होंने नग्नावस्था में महाप्रस्थान किया।[2]"

भागवतकार के शब्दों में ऋषभ-चरित्र की महिमा इस प्रकार है :–

"राजन्! इस प्रकार सम्पूर्ण वेद, लोक, देवता, ब्राह्मण और गौओं के परमगुरु भगवान् ऋषभदेव का विशुद्ध चरित्र मैंने तुम्हें सुनाया है।"
"यह मनुष्य के समस्त पापों को हरने वाला है। जो मनुष्य इस परम मंगलमय पवित्र चरित्र को एकाग्रचित्त से श्रद्धापूर्वक निरन्तर सुनते या सुनाते हैं, उन दोनों की ही भगवान् वासुदेव में अनन्य भक्ति हो जाती है।[3]"

"निरन्तर विषय-भोगों की अभिलाषा करने के कारण अपने वास्तविक श्रेय से चिरकाल तक बेसुध बने हुए लोगों को जिन्होंने करुणावश निर्भय आत्मालोक का उपदेश दिया और जो स्वयं निरन्तर अनुभव होने वाले आत्मस्वरूप की प्राप्ति से सब प्रकार की तृष्णाओं से मुक्त थे, उन भगवान् ऋषभदेव को नमस्कार है।[4]"

शिवपुराण में शिव का आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के रूप में अवतार लेने का उल्लेख है।[5]

ऋग्वेद में भगवान् ऋषभ को पूर्वज्ञान का प्रतिपादक और दुःखों का नाश करने वाला बतलाते हुए कहा है :–

"जैसे जल से भरा हुआ मेघ वर्षा का मुख्य स्रोत है, जो पृथ्वी की प्यास को बुझा देता है, उसी प्रकार पूर्वज्ञान के प्रतिपादक वृषभ (ऋषभ) महान् हैं।"

[1] श्रीमद्भागवत, ५।५।२८
[2] श्रीमद्भागवत, ५।६।७
[3] श्रीमद् भा० ५।६।१६
[4] श्रीमद् भा० ५।६।१९
[5] शिव पु० ४।४७।४८

बौद्ध साहित्य में लिखा है :-

"भारत के आदि सम्राटों में नाभिपुत्र ऋषभ और ऋषभपुत्र भरत की गणना की गई है। उन्होंने हेमवत गिरि हिमालय पर सिद्धि प्राप्त की। वे व्रतपालन में दृढ़ थे। वे ही निर्ग्रन्थ, तीर्थंकर ऋषभ जैनों के आप्तदेव थे।[१]"

धम्मपद में ऋषभ को सर्वश्रेष्ठ वीर कहा है।[२]

ऋषभदेव के समय का उल्लेख करते हुए कुछ इतिहासज्ञों ने निम्न प्रकार से उल्लेख किया है :-

श्री रामधारी सिंह 'दिनकर' का कथन है :-

"मोहनजोदड़ो की खुदाई में योग के प्रमाण मिले हैं और जैन मार्ग के आदि तीर्थंकर जो श्री ऋषभदेव थे, जिनके साथ योग और वैराग्य की परम्परा उसी प्रकार लिपटी हुई है जैसे शक्ति कालान्तर में शिव के साथ समन्वित हो गई। इस दृष्टि से कई जैन विद्वानों का यह मानना अयुक्तियुक्त नहीं है कि ऋषभदेव वेदोल्लिखित होने पर भी वेदपूर्व हैं।[३]"

डॉ० जिम्भर लिखते हैं :-

"आज प्रागैतिहासिक काल के महापुरुषों के अस्तित्व को सिद्ध करने के साधन उपलब्ध नहीं। इसका अर्थ यह नहीं है कि वे महापुरुष हुए ही नहीं।"

"इस अवसर्पिणी काल में भोगभूमि के अन्त में अर्थात् पाषाणकाल के अवसान पर कृषि काल के प्रारम्भ में पहले तीर्थंकर ऋषभ हुए, जिन्होंने मानव को सभ्यता का पाठ पढ़ाया।"

"उनके पश्चात् और भी तीर्थंकर हुए जिनमें से कई का उल्लेख वेद-ग्रन्थों में भी मिलता है। अतः जैन धर्म भगवान् ऋषभदेव के काल से चला आ रहा है।[४]"

---

[१] प्रजापतेः सुतोनाभिः, तस्यापि सुतमुच्यते। नाभिनो ऋषभपुत्रो वै, सिद्धकर्म-दृढव्रतः॥
तस्यापि मणिचरो यक्षः, सिद्धो हेमवते गिरौ। ऋषभस्य भरतः पुत्रः।
आर्य मंजु श्री मूल श्लो० ३९०-९१-९२

[२] उसमं पवरं वीरं। धम्मपद ४२२

[३] आजकल, मार्च १९६२, पृ० ८

[४] (क) दी फिलासफीज आफ इण्डिया, पृ० २१७
(ख) अहिंसा वाणी, वर्ष १२, अंक ९, पृ० ३७९
डॉ० कामताप्रसाद के लेख से उद्धृत।

भगवान् ऋषभदेव और भरत का जैनेतर पुराणादि में उल्लेख

भगवान् ऋषभदेव और सम्राट् भरत इतने अधिक प्रभावशाली पुण्य-पुरुष हुए हैं कि उनका जैन ग्रन्थों में तो उल्लेख आता ही है, इसके अतिरिक्त वेद के मन्त्रों, जैनेतर पुराणों, उपनिषदों आदि में भी उनका उल्लेख मिलता है।

भागवत में मरुदेवी, नाभिराज, वृषभदेव और उनके पुत्र भरत का विस्तृत विवरण मिलता है।

यह दूसरी बात है कि वह कितने ही अंशों में भिन्न प्रकार से दिया गया है। फिर भी मूल में समानता है।

इस देश का भारत नाम भी भरत चक्रवर्ती के नाम से ही प्रसिद्ध हुआ है। निम्नांकित उद्धरणों से हमारे उक्त कथन की पुष्टि होती है :–

आग्नीध्रसूनोर्नाभेस्तु, ऋषभोऽभूत् सुतो द्विजः।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे, वीरः पुत्रशताद् वरः ।।३९।।
सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं, महाप्राव्राज्यमास्थितः।
तपस्तेपे महाभागः, पुलहाश्रमसंश्रयः ।।४०।।
हिमाह्वयं दक्षिणं वर्षं, भरताय पिता ददौ।
तस्मात्तु भारतं वर्षं, तस्य नाम्ना महात्मनः ।।४१।।

[मार्कण्डेय पुराण, अध्याय ४०]

हिमाह्वयं तु यद्वर्षं, नाभेरासीन्महात्मनः।
तस्यर्षभोऽभवत्पुत्रो, मरुदेव्यां महाद्युतिः ।।३७।।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे, वीरः पुत्रशताग्रजः।
सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं, भरतं पृथिवीपतिः ।।३८।।

[कूर्म पुराण, अध्याय ४०]

जरा मृत्यु भयं नास्ति, धर्माधर्मौयुगादिकम्।
नाधर्मं मध्यमं तुल्या, हिम देशात्तु नाभितः ।।१०।।
ऋषभो मरुदेव्यां च, ऋषभाद् भरतोऽभवत्।
ऋषभोऽदात् श्री पुत्रे, शाल्यग्रामे हरिर्गतः ।।११।।
भरताद् भारतं वर्षं, भरतात् सुमतिस्त्वभूत्।

[अग्नि पुराण, अध्याय १०]

नाभिस्त्वजनयत्पुत्रं, मरुदेव्यां महाद्युतिः।
ऋषभं पार्थिव-श्रेष्ठं, सर्वं क्षत्रस्य पूर्वजम् ।।५०।।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे, वीरः पुत्रशताग्रजः।
सोऽभिषिच्याथ भरतं, पुत्रं प्राव्राज्यमास्थितः ।।५१।।
हिमाह्वयं दक्षिणं वर्षं, भरताय न्यवेदयत्।
तस्माद् भारतं वर्षं, तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः ।।५२।।

[वायु महापुराण, पूर्वार्ध, अध्याय ३३]

नाभिस्त्वजनयत् पुत्रं, मरुदेव्यां महाद्युतिम् ।।५९।।
ऋषभं पार्थिव-श्रेष्ठं, सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम् ।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे, वीरः पुत्रशताग्रजः ।।६०।।
सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं, महाप्राव्राज्यमास्थितः ।
हिमाह्वयं दक्षिणं वर्षं, तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः ।।६१।।
[ब्रह्माण्डपुराण, पूर्वार्ध, अनुषंगपाद अध्याय १४]

"नाभिर्मरुदेव्यां पुत्रमजनयत् ऋषभनामानं तस्य भरतः पुत्रश्च तावदग्रजः तस्य भरतस्य पिता ऋषभः हेमाद्रेर्दक्षिणं वर्षं महद् भारतं नाम शशास ।
[वाराह पुराण, अध्याय ७४]

नाभेर्निसर्गं वक्ष्यामि, हिमांकेऽस्मिन्निबोधत ।
नाभिस्त्वजनयत्पुत्रं, मरुदेव्यां महामतिः ।।१९।।
ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठं, सर्वक्षत्रस्य पूजितम् ।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे, वीरः पुत्रशताग्रजः ।।२०।।
सोऽभिषिच्याथ ऋषभो, भरतं पुत्रवत्सलः ।
ज्ञानं वैराग्यमाश्रित्य, जित्वेन्द्रियमहोरगान् ।।२१।।
सर्वात्मनात्मन्यास्थाप्य, परमात्मानमीश्वरम् ।
नग्नो जटी निराहारोऽचीरी ध्वांतगतो हि सः ।।२२।।
निराशस्त्यक्तसंदेहः, शैवमाप परं पदम् ।
हिमाद्रेर्दक्षिणं वर्षं, भरताय न्यवेदयत् ।।२३।।
तस्मात्तु भारतं वर्षं, तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः ।
[लिंग पुराण, अध्याय ४७]

.... ।
न ते स्वस्ति युगावस्था, क्षेत्रेष्वष्टसु सर्वदा ।।२६।।
हिमाह्वयं तु वै वर्षं, नाभेरासीन्महात्मनः ।
तस्यर्षभोऽभवत्पुत्रो मरुदेव्यां महाद्युतिः ।।२७।।
.... ।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे ज्येष्ठः पुत्रशतस्य सः ।।२८।।
[विष्णु पुराण, द्वितीयांश अध्याय १]

नाभेः पुत्रश्च ऋषभः ऋषभाद् भरतोऽभवत् ।
तस्यनाम्नात्विदं वर्षं, भारतं चेति कीर्त्यंते ।।५७।।
[स्कन्ध पुराण, माहेश्वर खण्ड का कौमार खण्ड, अध्याय ३७]

कुलादि बीजं सर्वेषां प्रथमो विमलवाहनः ।
चक्षुष्मान् यशस्वी वाभिचन्द्रोऽथ प्रसेनजित् ।
मरुदेवी च नाभिश्च, भरते कुल सप्तमाः ।
अष्टमो मरुदेव्यां तु, नाभेर्जात उरुक्रमः ।

दर्शयन् वर्त्म वीराणां सुरासुरनमस्कृतः ।
नीति त्रितयकर्ता यो, युगादौ प्रथमो जिनः ।

[मनुस्मृतिः]

भगवान् ऋषभदेव और ब्रह्मा

लोक में ब्रह्मा नाम से प्रसिद्ध जो देव है, वह भगवान् वृषभदेव को छोड़कर दूसरा नहीं है । ब्रह्म के अन्य अनेक नामों में निम्नलिखित नाम अत्यन्त प्रसिद्ध हैं :-

हिरण्यगर्भ, प्रजापति, लोकेश, नाभिज, चतुरानन, स्रष्टा, स्वयंभू ।

इनकी यथार्थ संगति भगवान् वृषभदेव के साथ बैठती है । जैसे :-

हिरण्य गर्भ–जब भगवान् माता मरुदेवी के गर्भ में आए उसके छ मास पहले अयोध्यानगरी में हिरण्य सुवर्ण तथा रत्नों की वर्षा होने लगी थी । इसलिए आपका हिरण्यगर्भ[1] नाम सार्थक है ।

प्रजापति – कल्पवृक्षों के नष्ट हो जाने के बाद असि, मसि, कृषि आदि छह कर्मों का उपदेश देकर आपने ही प्रजा की रक्षा की थी, अतः आप प्रजापति कहलाये ।

लोकेश – समस्त लोक के स्वामी होने के कारण आप लोकेश कहलाये ।

नाभिज – नाभिराज नामक चौदहवें (सातवें) मनु से उत्पन्न हुए थे, इसलिए नाभिज कहलाए ।

चतुरानन– समवसरण में चारों ओर से आपका दर्शन होता था, इसलिए आप चतुरानन कहे जाते थे ।

स्रष्टा – भोग भूमि नष्ट होने के बाद देश, नगर आदि का विभाग,- राजा, प्रजा, गुरु, शिष्य आदि का व्यवहार और विवाह प्रथा आदि के आप आद्य-प्रवर्त्तक थे, इसलिए स्रष्टा कहे गए ।

स्वयम्भू – दर्शन विशुद्धि आदि भावनाओं से अपनी आत्मा के गुणों का विकास कर स्वयं ही आद्य तीर्थंकर हुए, इसलिए स्वयम्भू कहलाए ।

[आदि पुराणम्, प्रथमो विभागः, प्रस्तावना पृ० १५, जिनसेनाचार्य]

---

[1] सैपा हिरण्मयी वृष्टिर्धनेशेन निपातिता ।
विभोर्हिरण्यगर्भत्वमिवबोधयितुं जगत् ।। महापुराण पर्व १२–श्लोक ९५
हिरण्यगर्भस्त्वं धाता जगतां त्वं स्वभूरसि ।
निभमात्रं त्वदुत्पत्तौ पितृ मन्या यतो [illegible] ।। महापुराण पर्व १५ श्लो० ५७

भगवान् श्री अजितनाथ

तीर्थंकर ऋषभदेव के बहुत समय के बाद द्वितीय तीर्थंकर श्री अजितनाथ हुए।

प्रकृति का अटल नियम है कि जिसका जीवन जितना उच्च होगा, उसकी पूर्व-जन्म की साधना भी उतनी ही ऊंची होगी। अजितनाथ की पूर्व-जन्म की साधना भी ऐसी ही अनुकरणीय और उत्तम रही थी।

पूर्व भव

महाराज विमलवाहन के जीवन में इन्होंने बड़ी साधना और जिन प्रवचन की भक्ति की थी। संसार में रहते हुए भी इनका जीवन भोगों से अलिप्त था। विशाल राज्य और भव्य भोगों को पाकर भी उस ओर इनकी प्रीति नहीं हुई। लोग इनको युद्ध वीर, दानवीर और दयावीर कहा करते थे।

उनका मन निरन्तर इस बात के लिए चिन्तित रहता था कि – "मनुष्य-जन्म पाकर हमने क्या किया ? बचपन से लेकर आज तक न जाने कितनों को सताया, कितनों को डराया और कितनों को निराश किया, जिसकी कोई सीमा नहीं। तन, धन और सम्मान के लिए हजारों कष्ट सहते रहे। पर अपने आप को ऊंचा उठाने का कभी विचार नहीं किया। क्या यही जीवन का साफल्य है ?"

राजा के इस प्रकार के गंभीर चिन्तन को तब और बल मिला जब अरिंदम आचार्य के नगर के उद्यान में आने की शुभ सूचना वनपालक ने उनको दी। बड़े उत्साह और प्रेम के साथ राजा आचार्य को वन्दन करने गया और आचार्य के त्यागपूर्ण जीवन के दर्शन कर परम प्रसन्न हुआ। उसके अन्तर्मन की सारी वासनाएं शान्त हो गईं। आचार्य के त्याग और वैराग्यपूर्ण उपदेश को सुनकर राजा विरक्त हुआ और पुत्र को राज्य पर अभिषिक्त कर उसने प्रव्रज्या ग्रहण की।

वह साधु बन गये। पांच समिति, तीन गुप्ति की साधना करते हुए उन्होंने विविध प्रकार के तप, अनुष्ठान आदि किए और एकावली, रत्नावली, लघुसिंह और महासिंह-निष्क्रीड़ित जैसी तपस्या से विपुल कर्म की निर्जरा की। बीस बोल की आराधना से तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन भी उन्होंने कर लिया। अन्त समय में अनशन के साथ प्राण त्याग किये और विजय विमान में अहमिन्द्र रूप से उत्पन्न हुए।

मातापिता

यही विमलवाहन का जीव विनीता नगरी के महाराज जितशत्रु की धर्मपत्नी महारानी विजयादेवी की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। वैशाख शुक्ला त्रयोदशी के दिन रोहिणी नक्षत्र के योग में विजय विमान से च्यवन हुआ और उसी रात

मातापिता]

की माता ने गर्भ धारण किया और १४ महाशुभ स्वप्न देखे। अत्यन्त पराक्रमी महाराज जितशत्रु आपके पिता और विजयादेवी माता थीं।

मानी हुई बात है कि पुण्यवान् प्राणी का आगमन सब ओर मंगलकारक होता है। फलस्वरूप उसी रात राजा जितशत्रु के छोटे भाई सुमित्र की भार्या को भी गर्भ रहा। मंगलकारी चौदह शुभ स्वप्न देखकर उसने भी चक्रवर्ती पुत्र का लाभ प्राप्त किया।

जन्म

गर्भकाल पूर्ण होने पर विजया माता ने सुखपूर्वक पुत्ररत्न को उत्पन्न किया। उस समय का वातावरण इतना मंगलमय और उत्साहपूर्ण था कि नारक जीव भी अपने घोर कष्टों से क्षणिक विराम अनुभव कर रहे थे।

माघ शुक्ला अष्टमी के शुभ दिन रोहिणी नक्षत्र में प्रभु का जन्म कल्याणक सम्पन्न हुआ। इन्द्र, नरेन्द्र ने परम प्रमोद से प्रभु का जन्म महोत्सव मनाया। देश ही नहीं, सारे लोक में हर्ष की लहर दौड़ रही थी। इस अवसर पर राजा जितशत्रु ने बन्दियों को मुक्त किया और प्रीतिदान से याचकजनों को प्रसन्न किया।

नामकरण

जब से आप माता विजया के गर्भ में आए राजा जितशत्रु को कोई जीत नहीं सका। इसलिए मातापिता ने आपका नाम अजितनाथ रखा।

कहीं कहीं ऐसा भी उल्लेख है कि आपके गर्भकाल में रहते हुए रानी विजया को महाराजा खेल में जीत नहीं सके अतः पुत्र का नाम अजितनाथ रखा गया।[1]

विवाह और राज्य

बाल्यकाल पूर्ण कर जब आप बड़े हुए तब मातापिता के अत्याग्रह से आपका योग्य कन्याओं के साथ पाणिग्रहण हुआ। फूल पर भौंरों की तरह आपके चारों ओर सम्पदाएं मंडराती रहतीं, पर अजितनाथजी का मन इनमें जरा भी नहीं लुभाया। वे उदासीन भाव से संसार के व्यवहार को चलाते रहे।

एक दिन राजा जितशत्रु ने मोक्ष-साधन की इच्छा प्रकट करते हुए अजितनाथ से राज्य ग्रहण करने को कहा। उस समय आपने अपने चाचा को राज्य भार प्रदान करने का सुझाव दिया किन्तु चाचा सुमित्र ने इसे स्वीकार नहीं किया। संयोगवश आपको राज्यपद पर आरूढ़ होकर शासन-कार्य संभालना पड़ा। आपकी कार्यकुशलता से अल्प-समय में ही प्रजाजन सुख-समृद्धि एवं शान्ति का अनुभव करने लगे। राज्य-व्यवस्था भी बड़े सुचारु रूप से चलने लगी।

[1] विसेसोयूतं रमंति पुव्वं राया जिणियाइयोगब्भ आभूते माता जिणति सदावित्ति तेण अक्खेसु अजितत्ति अजितो जातो।
[आवश्यक चूर्णि पूर्व भाग, पृष्ठ १०]

चिरकाल तक राज्यपद पर रहकर जब भोगावली कर्म का भार हल्का हुआ तो एक दिन सहज ही आपके मन में त्याग का संकल्प जाग उठा और आपने सुमित्र के पुत्र राजकुमार सगर को राज्य संभलाकर दीक्षित होने का निश्चय किया। यही सगर आगे चलकर सार्वभौम चक्रवर्ती सम्राट् के रूप में प्रसिद्ध हुए।

दीक्षा और पारणा

अजितनाथ के विरक्तभाव को जानकर लोकान्तिक देव आये और उन्होंने प्रभु से धर्मतीर्थ के प्रवर्तन की प्रार्थना की। प्रभु ने भी एक वर्ष तक दान देकर माघ शुक्ला नवमी को दीक्षा की तैयारी की। हजारों स्त्री-पुरुषों के बीच जब आप सहस्राम्र वन में पालकी से नीचे उतरे तब जयनाद से गगनमंडल गूंज उठा।

आपने पंच मुष्टिक लोचकर सम्पूर्ण सावद्य कर्मों का त्याग किया। आपके साथ एक हजार अन्य राजाओं और राजकुमारों ने भी दीक्षा ग्रहण की। उस समय आपको बेले[1] की तपस्या थी। दीक्षा लेते ही आपको चौथा मनःपर्यवज्ञान उत्पन्न होगया। दूसरे दिन अयोध्यापुरी[2] के राजा ब्रह्मदत्त के यहां आपका प्रथम पारणा सम्पन्न हुआ। देवों ने पंचदिव्य बरसा कर दान की महिमा प्रकट की।

केवलज्ञान

दीक्षित होकर प्रभु बारह वर्षों तक विविध प्रकार के तप करते हुए व ग्रामानुग्राम विचरते हुए अयोध्या पधारे। वहाँ प्रभु ने क्षपक-श्रेणि में आरूढ़ होकर उत्कृष्ट भाव से साधना करते हुए ज्ञानावरण आदि चार घाति-कर्मों का क्षय किया और पौष शुक्ला एकादशी[3] को आपने केवलज्ञान एवं केवलदर्शन प्राप्त किया।

उस समय चन्द्र रोहिणी नक्षत्र में था। केवली बनकर प्रभु ने अपनी अमोघ देशना द्वारा चतुर्विध संघ की स्थापना की और भाव-तीर्थंकर कहलाये।

धर्म परिवार

आपका धर्म परिवार इस प्रकार था :–

गणधर[4]	– पचानवे (९५)
केवली[5]	– बाईस हजार (२२,०००)
मनःपर्यवज्ञानी[6]	– बारह हजार पांच सौ (१२,५००)

[1] तिलोयपन्नत्ति (गा० ६४४–६६७) में अष्टम भक्त का उल्लेख है।
[2] उत्तर पुराण के अनुसार पारणास्थल साकेतपुरी है।
[3] तिलोयपन्नत्ति में पौष शुक्ला १४ का उल्लेख है। [गा० ६७९–७०१]
[4] हरिवंश पुराण और तिलोयपन्नत्ति में ९० गणधर होने का उल्लेख है।
[5] त्रिषष्ठि शलाका पुरुष चरित्र पर्व २, सर्ग ६, श्लो० ६६५–६७०
[6] समवायांग सूत्र

धर्म परिवार]

अवधिज्ञानी	– नव हजार चार सौ (९,४००)
चौदह पूर्वधारी	– तीन हजार सात सौ (३,७००)
वैक्रियलब्धिधारी	– वीस हजार चार सौ (२०,४००)
वादी	– बारह हजार चार सौ (१२,४००)
साधु	– एक लाख (१,००,०००)
साध्वी	– तीन लाख तीस हजार (३,३०,०००)
श्रावक	– दो लाख अठानवे हजार (२,९८,०००)
श्राविका	– पांच लाख पैंतालीस हजार (५,४५,०००)

परिनिर्वाण

अन्त में बहत्तर लाख पूर्व की आयु पूर्ण कर आप एक हजार मुनियों के साथ सम्मेत शिखर पर एक मास के अनशनपूर्वक चैत्र शुक्ला पंचमी को मृगशिर नक्षत्र में सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हुए। यही आपका निर्वाण-दिवस है।

आपने अठारह लाख पूर्व कुमार अवस्था में, त्रेपन लाख पूर्व कुछ अधिक राज्य-शासक की अवस्था में, बारह वर्ष छद्मस्थ अवस्था में और कुछ कम एक लाख पूर्व केवल पर्याय में बिताये।

चिरकाल तक आपका धर्म-शासन जयपूर्वक चलता रहा, जिसमें असंख्य आत्माओं ने अपना कल्याण किया।

भगवान् श्री संभवनाथ

भगवान् अजितनाथ के बहुत समय बाद तीसरे तीर्थंकर श्री संभवनाथ हुए। आपने राजा विपुलवाहन के भव में उच्च करणी का बीज वोया जिससे तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया।

पूर्वभव

किसी समय क्षेमपुरी के राजा विपुलवाहन के राज्यकाल में भयंकर दुष्काल पड़ा। प्रजावत्सल राजा को इसकी बड़ी चिन्ता हुई। उसने देखा कि लोग भोजन के लिये तड़प रहे हैं। करुणाशील नृपति इस भयंकर दृश्य को नहीं देख सका। उसने भंडारियों को आज्ञा दी कि राज्य के अन्न-भण्डारों को खोल कर प्रजाजनों में बांट दिया जाय।

इतना ही नहीं उसने संत और प्रभु-भक्तों की भी नियमानुसार सुधि ली। वह साधु-साध्वियों को निर्दोष तथा प्राशुक आहार स्वयं देता और सज्जन एवं धर्मनिष्ठ जनों को अपने सामने खिला कर सन्तुष्ट करता।

इस प्रकार चतुर्विध संघ की निर्मल भाव से सेवा करने के कारण उसने तीर्थंकर पद के योग्य शुभ कर्म उपार्जित कर लिये।

एक बार संध्या के समय बादलों को बनते और बिखरते देखकर उसे संसार की नश्वरता का सही स्वरूप ध्यान में आया और मन में विरक्ति हो गई। आचार्य स्वयंप्रभ की सेवा में दीक्षित हो कर उसने संयम धर्म की आराधना की और अन्त में समाधि-मरण से काल कर नवम-कल्प-आनत[1] देवलोक में देव रूप से उत्पन्न हुआ।

जन्म

देवलोक से निकल कर उसी विपुलवाहन के जीव ने श्रावस्ती नगरी के महाराज जितारि के यहां पुत्र रूप में जन्म लिया। इनकी माता का नाम रानी सेनादेवी[2] था।

फाल्गुन शुक्ला अष्टमी को मृगशिर नक्षत्र में स्वर्ग से च्यवन कर जब आप गर्भ में आये तब माता ने चौदह प्रमुख शुभ स्वप्न देखे और महाराज जितारि के मुख से स्वप्नफल सुनकर परम प्रसन्न हुईं।

---

[1] सत्तरिसय द्वार, द्वार १२, गा० ५५–५६ में सप्तम ग्रैवेयक और तिलोयपन्नत्ति में अधोग्रैवेयक से च्यवन होने का उल्लेख है।

[2] तिलोयपन्नत्ति (गा० ५२६ से ५४९) में सुसेना नाम दिया है।

जन्म]

उचित आहार-विहार और मर्यादा से नव महीने तक गर्भ की प्रतिपालना कर मृगशिर शुक्ला चतुर्दशी को अर्धरात्रि के समय मृगशिर नक्षत्र में माता ने सुखपूर्वक पुत्र-रत्न को जन्म दिया।

नामकरण

आपके जन्म समय में सारे संसार में आनन्द-मंगल की लहर फैल गई और जब से प्रभु गर्भ में आये तब से देश में प्रभूत मात्रा में साम्ब एवं मूंग आदि धान्य की उत्पत्ति हुई। चहुं ओर देश की भूमि धान्य से लहलहा उठी, अतः मातापिता ने आपका नाम संभवनाथ रखा।[1]

विवाह और राज्य

बाल्यकाल पूर्ण कर जब संभवनाथ युवा हुए तो महाराज जितारि ने योग्य कन्याओं से उनका पाणिग्रहण संस्कार करवाया और पुत्र को राज्य देकर स्वयं प्रव्रजित हो गये।

संभवनाथ पिता के आग्रह से सिंहासनारूढ़ तो हुए पर मन में भोगों से विरक्त रहे। उन्होंने संसार के विषयों को विषमिश्रित पक्वान्न की तरह माना। वे विचार करने लगे—"जैसे विषमिश्रित पक्वान्न खाने में मधुर होकर भी प्राण-हारी होते हैं, वैसे ही संसार के भोग तत्काल मधुर और लुभावने होकर भी शुभ आत्मगुणों की घात करने वाले हैं। बहुत लज्जा की बात है कि मानव अनन्त पुण्य से प्राप्त इस मनुष्य जन्म को यों ही आरम्भ—परिग्रह और विषय-कषाय के सेवन में गंवा रहे हैं। अमृत का उपयोग लोग पैरों को धोने में कर रहे हैं। मुझे चाहिये कि संसार को सम्यक् बोध देने के लिये मैं स्वयं त्याग-मार्ग में अग्रणी होकर जन-समाज को प्रेरणा प्रदान करूं।"

दीक्षा

आपने भोगावली कर्मों को चुकाने के लिये चवालीस लाख पूर्व और चार पूर्वांग काल तक राज्यपद का उपभोग किया, फिर स्वयं विरक्त हो गये, क्योंकि स्वयं-बुद्ध होने के कारण तीर्थंकरों को किसी दूसरे के उपदेश की आवश्यकता नहीं होती। फिर भी मर्यादा के अनुसार लोकान्तिक देवों ने आकर प्रार्थना की और प्रभु ने भी वर्षीदान देकर प्रव्रज्या ग्रहण करने की भावना प्रकट की।

वर्षीदान के पश्चात् जब भगवान् दीक्षित होने को पालकी में बैठकर सहस्राम्रवन में आये तब उनके त्याग से प्रभावित होकर अन्य एक हजार राजा भी उन्हीं के साथ घर से निकल पड़े और मृगशिर सुदी पूर्णिमा को मृगशिर

---

[1] जम्मत्थे जिणिंदे णिहारणाइयं बहुयं संभूयं, जायम्मिय रज्जस्स सयलस्स वि सुहं संभूयं ति कलिऊण संभवाहिहाणं कुणति सामिस्सो।। चौ० महापुरिस च०, पृ० ७२

नक्षत्र में पंच-मुष्टिक लुंचन कर व सम्पूर्ण पाप कर्मों का परित्याग कर प्रभु संयम-धर्म में दीक्षित हो गये।

आपके परम उच्च त्याग से देव, दानव एवं मानव सभी बड़े प्रभावित थे क्योंकि आप चक्षु:, श्रोत्र आदि पांच इन्द्रियों पर और क्रोध, मान, माया, एवं लोभ रूप चार कषायों पर पूर्ण विजय प्राप्त कर मुंडित हुए। दीक्षित होते ही आपको मन:पर्यवज्ञान उत्पन्न हुआ और जन-जन के मन पर आपकी दीक्षा का बड़ा प्रभाव रहा।

विहार और पारणा

जिस समय आपने दीक्षा ग्रहण की, उस समय आपको निर्जल षष्ट-भक्त का तप था। दीक्षा के दूसरे दिन प्रभु सावत्थी नगरी में पधारे और सुरेन्द्र राजा के यहां प्रथम पारणा किया। फिर तप करते हुए विभिन्न ग्राम नगरों में विचरते रहे।

केवलज्ञान

चौदह वर्षों की छद्मस्थकालीन कठोर तप:साधना से आपने शुक्ल ध्यान की अग्नि में मोहनीय कर्म को सर्वथा भस्मीभूत कर डाला, फिर क्षीणमोह गुणस्थान के अन्त में ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्मों का युगपद् क्षय कर कार्त्तिक कृष्णा पंचमी को श्रावस्ती नगरी में मृगशिर नक्षत्र में केवलज्ञान, केवलदर्शन की प्राप्ति की।

केवलज्ञान होने के पश्चात् धर्म-देशना देकर आपने साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विध संघ की स्थापना की और फिर आप भाव-तीर्थंकर कहलाये।

धर्म परिवार

आपके मुख्य शिष्य चारुजी हुए। आपका धर्म संघ निम्न प्रकार था :-

गणधर	–	एक सौ दो (१०२)
केवली	–	पन्द्रह हजार (१५०००)
मन:पर्यवज्ञानी	–	बारह हजार एक सौ पचास (१२१५०)
अवधि ज्ञानी	–	नौ हजार छ सौ (९६००)
चौदह पूर्वधारी	–	दो हजार एक सौ पचास (२१५०)
वैक्रिय लब्धिधारी	–	उन्नीस हजार आठ सौ (१९८००)
वादी	–	बारह हजार (१२०००)
साधु	–	दो लाख (२०००००)
साध्वी	–	तीन लाख छत्तीस हजार (३३६०००)
श्रावक	–	दो लाख तिरानवे हजार (२९३०००)
श्राविका	–	छ लाख छत्तीस हजार (६३६०००)

परिनिर्वाण

चार पूर्वांग कम एक लाख पूर्व वर्षों तक केवली पर्याय में रहकर आप चैत्र शुक्ला छठ को मृगशिर नक्षत्र में अनशनपूर्वक शुक्ल ध्यान के अन्तिम चरण में सिद्ध, बुद्ध, मुक्त एवं निवृत्त हो गये ।

आपने पन्द्रह लाख पूर्व वर्ष कुमार अवस्था में, चार पूर्वांग सहित चवालीस लाख पूर्व वर्ष राज्य-शासक अवस्था में और कुछ कम एक लाख पूर्व वर्ष दीक्षा अवस्था में बिताये । इस प्रकार सब मिलाकर साठ लाख पूर्व वर्षों का आपने आयुष्य पाया ।

भगवान् श्री अभिनन्दन

पूर्वभव

भगवान् संभवनाथ के पश्चात् चतुर्थ तीर्थंकर श्री अभिनन्दन हुए।

इन्होंने पूर्वभव में महाबल[1] राजा के जन्म में आचार्य विमलचन्द्र के पास दीक्षित होकर तीर्थंकर गोत्र के बीस स्थानों की आराधना की और अन्त में आप समाधिभाव के साथ काल-धर्म प्राप्त कर विजय विमान में अनुत्तर देव हुए।

जन्म

विजय विमान[2] से च्यवन कर महाबल का जीव अयोध्या नगरी में महाराज संवर के यहां तीर्थंकर रूप से उत्पन्न हुआ। वैशाख शुक्ला चतुर्थी को पुष्य नक्षत्र में आपका विजय विमान से च्यवन हुआ। महारानी सिद्धार्था ने गर्भ धारण किया[3] और उसी रात्रि को १४ मंगलकारी शुभ स्वप्न देखे।

गर्भकाल पूर्ण होने पर माघ शुक्ला द्वितीया को पुष्य नक्षत्र के योग में माता सिद्धार्था ने सुखपूर्वक पुत्ररत्न को जन्म दिया। आपके जन्म के समय नगर और देश में ही नहीं वरन् सम्पूर्ण विश्व में सुख-शान्ति एवं आनन्द की लहरें फैल गईं। देवों और देवपतियों ने आपका जन्म महोत्सव मनाया।

नामकरण

जबसे प्रभु माता के गर्भ में आये, सर्वत्र प्रसन्नता छा गई और जन-जन के मन में हर्ष की लहरें हिलोरें लेने लगीं अतः मातापिता और परिजनों ने मिलकर आपका नाम अभिनन्दन रखा।[4]

विवाह और राज्य

वाल-लीला के पश्चात् जव प्रभु ने युवावस्था में प्रवेश किया तव महाराज संवर ने योग्य कन्याओं के साथ इनका पाणिग्रहण संस्कार करवाया। कुछ समय के बाद राजा ने स्वयं निवृत्ति-मार्ग ग्रहण करने की भावना से अभिनन्दन कुमार का राज्यपद पर अभिषेक किया और स्वयं मुनि-धर्म की दीक्षा लेकर आत्म-साधना में लग गये।

---

१ समवायांग सूत्र में महाबल के स्थान पर धर्मसिंह नाम दिया हुआ है।

२ आचार्य हेमचन्द्र ने पुष्य नक्षत्र के स्थान पर अभीचि को कल्याण नक्षत्र माना है।
[त्रि. श. पर्व, ३ अ. २, श्लो. ५०-६२]

३ हरिवंशपुराण (गा० १६६–१८०) में माघ शुक्ला १२ लिखा है।

४ भगवम्मि गब्भत्थे कुलं रज्जं णगरं अभिणंदइ, त्ति तेण जणणि जणएहिं वियारिऊण गुणनिप्फण्णं अभिणंदणो त्ति णामं कयं।
[च० महापुरिस च०, पृ० ७५]

दीक्षा और पारणा

प्राय: देखा जाता है कि साधारण मनुष्य तभी तक शान्त और निर्मल बना रह पाता है जब तक कि उसके सामने विकारी साधन न आने पावें किन्तु सम्राट् का सम्मानपूर्ण पद पाकर भी अभिनन्दन स्वामी जरा भी हर्षातिरेक से विचलित नहीं हुए। उन्होंने यह प्रमाणित कर दिखाया कि महापुरुष विकार के हेतुओं में रहकर भी विकृत नहीं होते।

प्रजाजनों को कर्त्तव्य-पालन और नीति-धर्म की शिक्षा देते हुए साढ़े छत्तीस लाख पूर्व वर्षों तक उत्तम प्रकार से राज्य का संचालन कर प्रभु ने दीक्षा ग्रहण करने की इच्छा प्रकट की। लोकान्तिक देवों की प्रार्थना और वर्षीदान देने के पश्चात् माघ शुक्ला द्वादशी को अभीचि-अभिजित नक्षत्र के योग में एक हजार राजाओं के साथ प्रभु ने सम्पूर्ण पापकर्मों का त्याग किया और वे पंच मुष्टिक लोच कर सिद्ध की साक्षी से संयम स्वीकार कर संसार से विमुख हो मुनि बन गये। उस समय आपको बेले[1] की तपस्या थी।

दीक्षा के दूसरे दिन आप साकेतपुर पधारे और वहां के महाराज इन्द्रदत्त के यहां प्रथम पारणा किया। उस समय देवों ने पंच-दिव्य प्रकट कर 'अहो दानं, अहो दानं' का दिव्य-घोष किया।

केवलज्ञान

दीक्षा ग्रहण कर वर्षों तक उग्र तपस्या करते हुए प्रभु ग्रामानुग्राम विचरते रहे। ममत्वभाव-रहित संयम-धर्म की साधना करते हुए अठारह वर्षों तक आप छद्मस्थ-चर्या से विचरे और फिर प्रभु ने अयोध्या में शुक्ल ध्यान की प्रबल अग्नि में ज्ञानावरण, दर्शनावरण मोह और अन्तराय रूप कर्म के इन्धनों को जला कर संपूर्ण घाती कर्मों का क्षय किया और पौष शुक्ला चतुर्दशी[2] को अभिजित नक्षत्र में केवलज्ञान की उपलब्धि की।

केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर आपने देव और मनुष्यों की सभा में धर्म-देशना दी तथा धर्माधर्म का भेद समझा कर लोगों को कल्याण का पथ दिखाया। धर्मतीर्थ की स्थापना करने से आप भाव-तीर्थंकर कहलाए।

धर्म परिवार

आपका धर्म परिवार निम्न संख्या में था :–

गण एवं गणधर	– एक सौ सौलह (११६)
केवली	– चौदह हजार (१४०००)
मन: पर्यवज्ञानी	– ग्यारह हजार छ सौ (११६००)
अवधि ज्ञानी	– नौ हजार आठ सौ (९८००)

[1] तिलोय प. (गा० ६४४–६६७) में तेले की तपस्या का उल्लेख है।
[2] (क) आव. नि. व सत्तरिसय प्रकरण (ख) तिलोय प. में कार्तिक शु. ५ का उल्लेख है।

चौदह पूर्वधारी	– एक हजार पांच सौ (१५००)
वैक्रिय लब्धिधारी	– उन्नीस हजार (१९०००)
वादी	– ग्यारह हजार (११०००)
साधु	– तीन लाख (३०००००)
साध्वी	– छः लाख तीस हजार (६३००००)
श्रावक	– दो लाख अठ्यासी हजार (२८८०००)
श्राविका	– पांच लाख सत्ताईस हजार (५२७०००)

परिनिर्वाण

पचास लाख पूर्व वर्षों की पूर्ण आयु में आपने साढ़े बारह लाख पूर्व तक कुमार अवस्था, आठ पूर्वांग सहित साढ़े छत्तीस लाख पूर्व तक राज्यपद और आठ पूर्वांग कम एक लाख पूर्व तक दीक्षा पर्याय का पालन किया।

फिर अन्त में जीवन काल की समाप्ति निकट समझ कर वैशाख शुक्ला अष्टमी को[1] पुष्य नक्षत्र के योग में आपने एक मास के अनशन से एक हजार मुनियों के साथ सकल कर्म क्षय कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होकर निर्वाण-पद प्राप्त किया। आपके परम पावन उपदेशों से असंख्य आत्माओं ने अपना कल्याण-साधन किया।

---

[1] वैशाखस्य सिताष्टम्यां, पुष्यस्थे रजनीकरे।
समं मुनिसहस्रेणाऽपुनरागत्यगात् पदम् ।। त्रिषष्टि श०पु०च०, पर्व ३, सर्ग ३, श्लो. १७२
(क) सत्तरिसयद्वार, द्वा. १४७, गा. ३०६ से ३१०
(ख) प्रवचनसारोद्धार, हरिवंश और तिलोय पन्नत्ति में वैशाख शु. ७ निर्वाण तिथि का उल्लेख है।

भगवान् श्री सुमतिनाथ

चौथे तीर्थंकर भगवान् अभिनन्दन के पश्चात् पंचम तीर्थंकर श्री सुमति नाथ हुए।

पूर्व-भव

आपकी धर्म-साधना पूर्व विदेह के पुष्कलावती विजय में हुई। महाराज विजयसेन की रानी सुदर्शना पुत्र नहीं होने से चिन्तित रहती थीं।

एक दिन उसने उद्यान में किसी सेठानी के साथ आठ पुत्र-वधुएं देखीं तो उसके मन में बड़ा विचार हुआ। उसने राजा के सामने अपनी चिन्ता व्यक्त की तो राजा ने तपस्या कर कुलदेवी की आराधना की। देवी ने प्रसन्न होकर कहा— "देवलोक से च्यव कर एक जीव तुम्हारे यहां पुत्र रूप से उत्पन्न होगा।"

समय पाकर रानी को पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई। उसका नाम पुरुषसिंह रखा गया। युवावस्था प्राप्त होने पर राजा ने कुलीन एवं रूपवती कन्याओं के साथ उसका पाणिग्रहण संस्कार कर दिया।

एक दिन कुमार उद्यान में घूमने गया। वहां उसने विनयनन्दन आचार्य का उपदेश सुना, और उपदेश से प्रभावित हो विरक्त हो गया। संयम लेकर उसने बीस स्थान की आराधना की, जिससे तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया। अन्त में समाधि के साथ काल प्राप्त कर वैजयन्त नाम के अनुत्तर विमान में उत्पन्न हुआ।

जन्म

वैजयन्त विमान की स्थिति पूर्ण हो जाने पर श्रावण शुक्ला द्वितीया को मघा नक्षत्र में पुरुषसिंह का जीव वैजयन्त विमान से च्युत हुआ और अयोध्यापति महाराज मेघ की रानी मंगलावती के गर्भ में आया। तत्पश्चात् माता मंगलावती गर्भ-सूचक चौदह शुभ स्वप्न देखकर परम प्रसन्न हुई। गर्भकाल पूर्ण होने पर वैशाख शुक्ला अष्टमी को मध्य रात्रि के समय मघा नक्षत्र में माता ने सुखपूर्वक पुत्ररत्न को जन्म दिया।

पुण्यशाली पुरुष का जन्म किसी खास कुल या जाति के लिये नहीं होता। वे तो विश्व के लिये उत्पन्न होते हैं अतः उसकी खुशी और प्रसन्नता भी सारे संसार को होती है। फिर जन्म की नगरी में इस जन्म से आनन्द और हर्ष का अतिरेक होना स्वाभाविक ही था।

महाराज मेघ ने जन्मोत्सव की खुशी में दश दिनों तक नागर-जनों के आमोद-प्रमोद के लिये सारी सुविधाएं प्रदान कीं।

नामकरण

बारहवें दिन नामकरण के लिये स्वजन एवं बान्धवों को एकत्र कर महाराज मेघ ने कहा – "बालक के गर्भ में रहते समय इसकी माता ने बड़ी-बड़ी उलझी हुई समस्याओं का भी अनायास ही अपनी सन्मति से हल ढूंढ़ निकाला, अतः इसका नाम सुमतिनाथ रखना ठीक जंचता है।"

सबके पूछने पर महाराज ने रानी की सन्मति के उदाहरणस्वरूप निम्न घटना सबके सामने रखी।

एक बार किसी सेठ की दो पत्नियों में अपने एक शिशु को लेकर कलह उत्पन्न होगया। सेठ व्यवसाय के प्रसंग में शिशु को दोनों माताओं की देख-रेख में छोड़कर देशान्तर गया हुआ था। वहां उसकी मृत्यु हो गई। इधर शिशु की विमाता माता से भी बढ़कर बच्चे का लालन-पालन करती थी। आपस में प्रेम की अधिकता से पुत्र की माता लाड़-प्यार के कार्य में सौत को दखल नहीं देती। बालक दोनों को बराबर मानता था, उसके निर्मल और निश्छल मानस में माता और विमाता का भेदभाव नहीं था।

जब सेठ के मरने की सूचना मिली तो विमाता ने पुत्र और धन दोनों पर अपना अधिकार प्रदर्शित किया। बालक की माता भला ऐसे निराधार अधिकार को चुपचाप कैसे सहन कर लेती। फलतः दोनों का विवाद निर्णय के लिये राजा मेघ के पास पहुंचा। बच्चे के रंग, रूप और आकार-प्रकार से महाराजा किसी उचित निर्णय पर नहीं पहुंच सके और इसी ऊहापोह में उन्हें भोजन के लिये जाने में देर हो गई।

जब रानी सुमंगला को यह पता लगा तो वह महाराज के पास आयी और बोली–"स्वामिन्। आज भोजन में इतनी देर क्यों?"

जब महाराज ने सारी कथा कह सुनायी तो सुमंगला बोली–"महाराज! आप भोजन और आराम करें। मैं शीघ्र ही इस समस्या का हल निकाल देती हूं।"

ऐसा कहकर उसने दोनों सेठानियों को बुलाकर उनकी बातें सुनीं और बोलीं–"मेरे गर्भ में तीन ज्ञान का धारक अतिशय पुण्यवान् प्राणी है। वह जन्म लेकर तुम्हारे इस विवाद का निर्णय कर देगा, तब तक बच्चे को मेरे पास रहने दो। मैं सब तरह से इसकी देखभाल और लालन-पालन करती रहूंगी।"

इस पर विमाता बोली–"ठीक है, आप इसे अपने पास निर्णय होने तक रखें, मुझे आपकी शर्त स्वीकार है।"

मगर जननी का हृदय अपने प्राणप्रिय पुत्र के इस निरवधि-वियोग के दारुण दुःख को कैसे सहन कर लेता? वह जोरों से चीख उठी–"नहीं, मुझे आपकी यह शर्त स्वीकार नहीं है। मैं अपने नयन-तारे को इतने समय तक अपने से अलग रखना पसन्द नहीं करूंगी। मैं अपना प्राण त्याग सकती हूं किन्तु पुत्र का क्षणिक वियोग भी मेरे लिये असह्य है।"

रानी सुमंगला ने उसकी बातों से समझ लिया कि पुत्र इस ही का है। क्योंकि कोई भी जननी अपने अंश को परवशता के बिना अपने से अलग रखना स्वीकार नहीं कर सकती। इसी आधार पर उन्होंने धन सहित पुत्र की वास्तविक अधिकारिणी उस ही को माना। इस तरह रानी ने इस विकट समस्या का समाधान अपनी सद्बुद्धि से कर दिया।[1]

यह सुनकर उपस्थित जनों ने एक स्वर से कुमार का नाम सुमतिनाथ रखने में अपनी सम्मति दे दी। इस प्रकार कुमार का नाम सुमतिनाथ रखा गया।

विवाह और राज्य

युवावस्था में प्रविष्ट होने पर महाराज मेघ ने योग्य कन्याओं से उनका पाणिग्रहण कराया। उनतीस लाख पूर्व वर्षों तक राज्य-पद का उपभोग कर जब उन्होंने भोग कर्म को क्षीण हुआ समझा तो संयम धर्म के लिये तत्पर हो गये।

दीक्षा और पारणा

लोकान्तिक देवों की प्रार्थना से वर्षीदान देकर एक हजार राजाओं के साथ आप दीक्षार्थ निकले और वैशाख शुक्ला नवमी के दिन मघा नक्षत्र में सिद्धों को नमस्कार कर प्रभु ने पंचमुष्टिक लोच किया और सर्वथा पापकर्म का त्याग कर मुनि बन गये।

उस समय आपको षष्टभक्त-दो दिन का निर्जल तप था। दूसरे दिन विहार कर प्रभु विजयपुर पधारे और वहां के महाराज पद्म के यहां तप का प्रथम पारणा स्वीकार किया।

केवलज्ञान व देशना

वीस वर्षों तक विविध प्रकार की तपस्या करते हुए प्रभु छद्मस्थ दशा में विचरे। धर्मध्यान और शुक्लध्यान से बड़ी कर्म निर्जरा की। फिर सहस्राम्र वन में पधार कर ध्यानावस्थित हो गये। शुक्लध्यान की प्रकर्षता से चार घातिक कर्मों के इन्धन को जला कर चैत्र शुक्ला एकादशी के दिन मघा नक्षत्र में केवलज्ञान और केवलदर्शन की उपलब्धि की।

केवलज्ञान की प्राप्ति कर प्रभु ने देव, दानव और मानवों की विशाल सभा में मोक्ष-मार्ग का उपदेश दिया और चतुर्विध संघ की स्थापना कर आप भाव-तीर्थंकर कहलाये।

---

[1] गब्भगते भट्टारए माताए दोण्हं सवत्तीणं छम्मासितो ववहारो छिण्णो एत्थं असोगवर पादवे एस मम पुत्तो महामती छिंदिहिति, ताए जावत्ति भणिताओ, इतरी भणिति एवं होतु, पुत्तमाता णेच्छतित्ति णातूणं, छिण्णो एतस्स गब्भगतस्स गुणेणंति सुमति जातो ।। आवश्यक चूर्णि पूर्व भाग, पृ. ९

धर्म परिवार

इनके संघ में निम्न परिवार था :–

गणधर	– एक सौ (१००)
केवली	– तेरह हजार (१३०००)
मनः पर्यवज्ञानी	– दस हजार चार सौ पचास (१०४५०)
अवधिज्ञानी	– ग्यारह हजार (११०००)
चौदह पूर्वधारी	– दो हजार चार सौ (२४००)
वैक्रिय लब्धिधारी	– अठारह हजार चार सौ (१८४००)
वादी	– दस हजार छ सौ पचास (१०६५०)
साधु	– तीन लाख बीस हजार (३२००००)
साध्वी	– पांच लाख तीस हजार (५३००००)
श्रावक	– दो लाख इक्यासी हजार (२८१०००)
श्राविका	– पांच लाख सोलह हजार (५१६०००)

परिनिर्वाण

चालीस लाख पूर्व की आयु में से प्रभु ने दस लाख पूर्व तक कुमारावस्था, उनतीस लाख ग्यारह पूर्वांग राज्यपद, बारह पूर्वांग कम एक लाख पूर्व तक चारित्र-पर्याय का पालन किया, फिर अन्त समय निकट जान कर एक मास का अनशन किया और चैत्र शुक्ला नवमी को पुनर्वसु नक्षत्र में चार अघाति-कर्मों का क्षय कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो निर्वाण-पद प्राप्त किया।

भगवान् श्री पद्मप्रभ

पूर्वभव

भगवान् सुमतिनाथ के पश्चात् छट्ठे तीर्थंकर श्री पद्मप्रभ स्वामी हुए। अन्य तीर्थंकरों की तरह आपने भी राजा अपराजित के भव में तीर्थंकर पद की विशिष्ट योग्यता उपार्जित की।

सुसीमानगरी के महाराज अपराजित ऐसे धर्मपूर्ण व्यवहार वाले थे कि जैसे सदेह धर्म ही हों। इन्हें न्याय ही मित्र, धर्म ही बन्धु और गुण-समूह ही सच्चा धन प्रतीत होता था। अन्य मित्र, बन्धु और धन आदि बाहरी साधनों में उनकी प्रीति नहीं थी।

एक दिन भूपति ने सोचा कि ये वाह्य साधन जब तक मुझको नहीं छोड़ें तब तक पुरुषार्थ का वल बढ़ाकर मैं ही इनको त्याग दूं तो श्रेयस्कर होगा। इस प्रकार विचार करके उन्होंने पिहिताश्रव मुनि के चरणों में संयम ग्रहण कर लिया और अर्हद्-भक्ति आदि स्थानों की आराधना कर तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया।

अन्त समय में समाधि के साथ आयु पूर्ण कर वे ३१ सागर की परम स्थिति वाले ग्रैवेयक देव हुए।

जन्म

देव भव की स्थिति पूर्ण कर अपराजित के जीव ने कोशाम्बी नगरी के महाराजा धर के यहां तीर्थंकर रूप में जन्म लिया। वह माघ कृष्णा षष्ठी के दिन चित्रा नक्षत्र में देवलोक से निकल कर माता सुसीमा की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। उसी रात्रि को महारानी सुसीमा ने चौदह महाशुभस्वप्न देखे।

फिर कार्तिक कृष्णा द्वादशी के दिन चित्रा नक्षत्र में माता ने सुखपूर्वक पुत्र-रत्न को जन्म दिया। जन्म के प्रभाव से लोक में सर्वत्र शान्ति और हर्ष की लहर दौड़ गई।

नामकरण

गर्भ काल में माता को पद्म (कमल) की शय्या में सोने का दोहद उत्पन्न हुआ और वालक के शरीर की प्रभा पद्म के समान थी, इसलिए इनका नाम पद्मप्रभ रक्खा गया।[1]

---

[1] "गब्भत्थे य भगवम्मि जणणीए पउमसयणीयम्मि दोहलो आसि' त्तितेण भगवओ जहत्थमेव पउमप्पभो' त्तिणामं कयं।" चउप्पन महापुरिस चरियं, पृ० ८३

पद्मवर्णं पद्मचिन्हं, सा देवी सुषुवे सुतं। त्रि. ३।४।३८

पद्मशय्या दोहदोऽस्मिन्, यन्मातुर्गर्भगेऽभवत्।
पद्माभश्चेत्यमुं पद्मप्रभ इत्याह्वयत् पिता। त्रि. ३।४।५१

विवाह और राज्य

बाल्यकाल पूर्ण कर जब पद्मप्रभ ने यौवन में प्रवेश किया तब महाराजा धर ने योग्य कन्याओं के साथ इनका पाणिग्रहण कराया।

आठ लाख पूर्व कुमार पद में रहकर आपने राज्य-पद ग्रहण किया। इक्कीस लाख पूर्व से अधिक राज्य-पद पर रहकर इन्होंने न्याय-नीति से प्रजा का पालन किया और नीति-धर्म की शिक्षा दी।

दीक्षा और पारणा

दीर्घकाल तक राज्य सुख का उपभोग कर जब देखा कि भोगावली कर्म-क्षीण हो गये हैं, तो प्रभु मुक्ति-मार्ग की ओर अग्रसर हुए।

लोकान्तिक देवों की प्रार्थना से एक वर्ष तक दान देकर प्रभु ने कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी के दिन षष्ठभक्त–दो दिन के निर्जल तप से विधिपूर्वक दीक्षा ग्रहण की। उस समय राजन्य आदि वर्गों के एक हजार पुरुषों ने आपके संग दीक्षा ग्रहण की।

दूसरे दिन ब्रह्मस्थल के महाराज सोमदेव के यहां प्रभु का पारणा हुआ। देवों द्वारा दान की महिमापूर्वक पंच दिव्य बरसाये गये।

केवलज्ञान

आप छ मास तक उग्र तपस्या करते हुए छद्मस्थ चर्या में विचरे और फिर विहार क्रम से सहस्राम्र वन में आए। मोह कर्म को तो प्रभु प्रायः क्षीण कर चुके थे। फिर शेष कर्मों की निर्जरा के लिये षष्ठभक्त तप के साथ वट वृक्ष के नीचे कायोत्सर्ग मुद्रा में स्थित होकर आपने शुक्लध्यान से घातिकर्मों का क्षय किया और चैत्र सुदी पूर्णिमा के दिन चित्रा नक्षत्र में केवलज्ञान प्राप्त किया।

घाती कर्मों के बन्धन से मुक्त होने के बाद प्रभु ने धर्म-देशना देकर चतुर्विध संघ की स्थापना की एवं आप अनन्त चतुष्टय (अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चारित्र, अनन्त वीर्य) के धारक होकर लोकालोक के ज्ञाता, द्रष्टा और भाव-तीर्थंकर हो गये।

धर्म परिवार

आपके धर्म परिवार की संख्या निम्न है :–

गणधर	–	एक सौ सात (१०७)
केवली	–	बारह हजार (१२०००)
मनःपर्यवज्ञानी	–	दश हजार तीन सौ (१०३००)
अवधिज्ञानी	–	दश हजार (१००००)
चौदह पूर्वधारी	–	दो हजार तीन सौ (२३००)
वैक्रिय लब्धिधारी	–	सोलह हजार आठ सौ (१६८००)

धर्म परिवार]

वादी	—	नौ हजार छ सौ (६६००)
साधु	—	तीन लाख तीस हजार (३३००००)
साध्वी	—	चार लाख बीस हजार (४२००००)
श्रावक	—	दो लाख छहत्तर हजार (२७६०००)
श्राविका	—	पांच लाख पांच हजार (५०५०००)

परिनिर्वाण

केवली बन कर प्रभु ने बहुत वर्षों तक संसार को कल्याणकारी मार्ग की शिक्षा दी।

फिर जब अन्त में आयुकाल निकट देखा तब एक मास का अनशन कर मृगशिर वदी एकादशी के दिन[1] चित्रा नक्षत्र में सम्पूर्ण योगों का निरोध कर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गए।

आपकी कुल आयु तीस लाख पूर्व की थी जिसमें सोलह पूर्वांग कम साढ़े सात लाख पूर्व तक कुमार रहे, साढ़े इक्कीस लाख पूर्व तक राज्य किया और कुछ कम एक लाख पूर्व तक चारित्र-धर्म का पालन कर प्रभु ने निर्वाण प्राप्त किया।

---

[1] सत्तरिसय द्वार, गा० ३०६-३१०

भगवान् श्री सुपार्श्वनाथ

पूर्वभव

भगवान् पद्मप्रभ के बाद सातवें तीर्थंकर श्री सुपार्श्वनाथ हुए। क्षेमपुरी के महाराज नन्दिसेन के भव में इन्होंने त्याग एवं तप की उत्कृष्ट साधना की।

आचार्य अरिदमन के पास संयम ले इन्होंने बीस स्थानों की आराधना की एवं तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया और अन्त समय की आराधना से काल-धर्म प्राप्त कर आप छठे ग्रैवेयक में अहमिन्द्र रूप से उत्पन्न हुए।

जन्म

ग्रैवेयक से निकल कर नन्दिसेन का जीव भाद्रपद कृष्णा अष्टमी के दिन विशाखा नक्षत्र में वाराणसी नगरी के महाराज प्रतिष्ठसेन की रानी पृथ्वी की कुक्षि में गर्भ रूप से उत्पन्न हुआ। उसी रात्रि को महारानी पृथ्वी देवी ने महापुरुष के जन्म-सूचक चौदह मंगलकारी शुभ-स्वप्न देखे।

विधिपूर्वक गर्भकाल पूर्ण कर माता ने ज्येष्ठ शुक्ला द्वादशी को विशाखा नक्षत्र में सुखपूर्वक पुत्र-रत्न को जन्म दिया।

नामकरण

बारहवें दिन नामकरण के समय महाराज प्रतिष्ठसेन ने सोचा कि गर्भकाल में माता के पार्श्व-शोभन रहे, अतएव बालक का नाम सुपार्श्वनाथ रक्खा जाय।[1] इस तरह से आपका नाम सुपार्श्वनाथ रक्खा गया।

विवाह और राज्य

शैशव के पश्चात् महाराज प्रतिष्ठसेन ने उनका योग्य कन्याओं से पाणिग्रहण करवाया और राज्य-पद से उन्हें सुशोभित किया।

चौदह लाख पूर्व कुछ अधिक समय तक प्रभु राज्य-श्री का उपभोग करते हुए प्रजाजनों को नीति-धर्म की शिक्षा देते रहे।

दीक्षा और पारणा

फिर राज्य-काल के बाद जब प्रभु ने भोगावली कर्म को क्षीण देखा तो संयम-ग्रहण की इच्छा की।

आपने लोकान्तिक देवों की प्रार्थना पर वर्ष भर दान देने के पश्चात् ज्येष्ठ शुक्ला त्रयोदशी को एक हजार अन्य राजाओं के साथ दीक्षा के लिए निष्क्रमण

[1] भगवम्मि य गब्भगए जणणी जाया सुपासत्ति तओ भगवओ सुपासत्तिणामं कयं। च. महापुरिस च. पृ. ८६

किया। षष्ठभक्त की तपस्या के साथ उद्यान में पहुंच कर प्रभु ने पंच-मुष्टि लोच करके सर्वथा पापों का त्याग कर, मुनिव्रत ग्रहण किया।

दूसरे दिन पाटलिखण्ड नगर के प्रधान नायक महाराज महेन्द्र के यहां उनका पारणा सम्पन्न हुआ।

केवलज्ञान

नव मास तक विविध प्रकार का तप करते हुए प्रभु छद्मस्थचर्या में विचरते रहे। फिर उसी सहस्राम्र वन में आकर शुक्लध्यान में स्थित हो गए।

ज्ञानावरणादि चार घाति-कर्मों का सर्वथा क्षय कर, फाल्गुन शुक्ला षष्ठी को विशाखा नक्षत्र में प्रभु ने केवलज्ञान एवं केवलदर्शन प्राप्त किया।

केवली बनकर देव-मनुजों की विशाल परिषद् में प्रभु ने धर्म-देशना दी और जड़ और चेतन का भेद समझाते हुए फरमाया कि दृश्य जगत् की सारी वस्तुएं, यहां तक कि तन भी अपना नहीं है। तन, धन, परिजन आदि वाह्य वस्तुओं को अपना मानना ही दुख का मूल कारण है।

उनके इस प्रकार के सदुपदेश से सहस्रों नर-नारी संयम-धर्म के आराधक बने और प्रभु ने चतुर्विध तीर्थ की स्थापना कर भाव-अरिहन्त पद को प्राप्त किया।

धर्म परिवार

प्रभु के संघ में निम्न परिवार था :

गण एवं गणधर	– पचानवे (९५) जिनमें मुख्य विदर्भजी थे।
केवली	– ग्यारह हजार (११०००)
मनःपर्यवज्ञानी	– नौ हजार एक सौ पचास (९१५०)
अवधिज्ञानी	– नौ हजार (९०००)
चौदह पूर्वधारी	– दो हजार तीन सौ पचास (२३५०)
वैक्रिय लब्धिधारी	– पन्द्रह हजार तीन सौ (१५३००)
वादी	– आठ हजार चार सौ (८४००)
साधु	– तीन लाख (३०००००)
साध्वी	– चार लाख तीस हजार (४३००००)
श्रावक	– दो लाख सत्तावन हजार (२५७०००)
श्राविका	– चार लाख तिरानवे हजार (४९३०००)

परिनिर्वाण

बीस लाख पूर्व की कुल आयु में से पांच लाख पूर्व कुमार अवस्था में, चौदह लाख कुछ अधिक पूर्व राज्य-पद पर और बीस पूर्वांग कम एक लाख पूर्व तक सम्यग् चारित्र का पालन कर जब आपने अपना अन्त समय निकट समझा तो एक मास का अनशन कर पांच सौ मुनियों के साथ चार अघाति-कर्मों का क्षय करके फाल्गुन कृष्णा सप्तमी को सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होकर निर्वाण पद प्राप्त किया।

भगवान् श्री चन्द्रप्रभ स्वामी

भगवान् सुपार्श्वनाथ के बाद आठवें तीर्थंकर श्री चन्द्रप्रभ स्वामी हुए।

पूर्वभव

धातकीखण्ड में मंगलावती नगरी के महाराज पद्म के भव में इन्होंने उच्च योगों की साधना की, फलतः इनको वैराग्य हो गया और उन्होंने युगन्धर मुनि के पास संयम ग्रहण कर दीर्घकाल तक चारित्र-धर्म का पालन करते हुए बीस स्थानों की आराधना की और तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया। अन्त समय की आराधना से काल-धर्म प्राप्त कर ये विजय-विमान में अहमिन्द्र रूप से उत्पन्न हुए।

जन्म

विजय विमान से निकल कर महाराज पद्म का जीव चैत्र कृष्णा पंचमी को अनुराधा नक्षत्र में चन्द्रपुरी के राजा महासेन की रानी सुलक्षणा के यहां गर्भ रूप में उत्पन्न हुआ। महारानी सुलक्षणा ने उसी रात्रि में उत्कृष्ट फलदायक चौदह शुभ स्वप्न देखे।

सुखपूर्वक गर्भकाल को पूर्ण कर माता सुलक्षणा ने पौष कृष्णा (द्वादशी) एकादशी के दिन[१] अनुराधा नक्षत्र में अर्द्धरात्रि के समय पुत्ररत्न को जन्म दिया। देव-देवेन्द्र ने अति-पाण्डु-कम्बल-शिला पर प्रभु का जन्माभिषेक बड़े उल्लास एवं उत्साहपूर्वक मनाया।

नामकरण

महाराज महासेन ने जन्म-महोत्सव के वाद बारहवें दिन नामकरण के लिये मित्रजनों को एकत्र कर कहा – "बालक की माता ने गर्भकाल में चन्द्रपान की इच्छा पूर्ण की और इस वालक के शरीर की प्रभा भी चन्द्र जैसी है, अतः वालक का नाम चन्द्रप्रभ रखा जाता है।"[२]

विवाह और राज्य

युवावस्था सम्पन्न होने पर राजा ने उत्तम राजकन्याओं से प्रभु का पाणिग्रहण करवाया।

---

[१] शलाका पुरुष चरित्र के अनुसार जन्मतिथि पौष कृष्णा १३ मानी गई है। त्रि. ष. ३।६।३२

[२] (क) गर्भस्थेऽस्मिन् मातुरासीच्चन्द्रपानाय दोहदः।
चन्द्राभश्चैष ;इत्याह्वच्चन्द्रप्रभममुं पिता॥ त्रि. श. पु. च. ३।६।४९

(ख) पिउणा य 'चंदप्पहसमाणो' ति कलिऊण चंदप्पहो त्ति णामं कयं भगवओ॥
च. म. पु. च., पृ. ८८

ढाई लाख पूर्व तक युवराज-पद पर रह कर फिर आप राज्य-पद पर अभिषिक्त किये गये और छ लाख पूर्व से कुछ अधिक समय तक राज्य का पालन करते हुए प्रभु नीति-धर्म का प्रसार करते रहे। इनके राज्य-काल में प्रजा सब तरह से सुख-सम्पन्न और कर्त्तव्य-मार्ग का पालन करती रही।

दीक्षा और पारणा

संसार के भोग्य-कर्म क्षीण हुए जान कर प्रभु ने मुनि-दीक्षा का संकल्प किया। लोकान्तिक देवों की प्रार्थना और वर्षीदान के वाद एक हजार राजाओं के साथ षष्ठ-भक्त की तपस्या से इनका निष्क्रमण हुआ।

पौष कृष्णा त्रयोदशी को अनुराधा नक्षत्र में सम्पूर्ण पाप-कर्मों का परित्याग कर प्रभु ने विधिपूर्वक दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा के दूसरे दिन पद्मखण्ड के सोमदत्त राजा के यहां क्षीरान्न से प्रभु का पारणा हुआ। देवों ने पंच-दिव्य वर्षा कर दान की महिमा प्रकट की।

केवलज्ञान

तीन मास तक छद्मस्थ-चर्या में विचर कर फिर प्रभु सहस्राम्र वन में पधारे। वहां प्रियंगु वृक्ष के नीचे शुक्ल ध्यान में ध्यानावस्थित हो गये। फाल्गुन कृष्णा सप्तमी को शुक्लध्यान के बल से ज्ञानावरणादि चार घाति-कर्मों का क्षय कर, प्रभु ने केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति की।

फिर देव-मानवों की विशाल सभा में श्रुत व चारित्र-धर्म की देशना देकर भगवान् ने चतुर्विध संघ की स्थापना की। कुछ कम एक लाख पूर्व तक केवली पर्याय में रह कर प्रभु ने लाखों जीवों का कल्याण किया।

धर्म-परिवार

यों तो महापुरुषों का परिवार "वसुधैव कुटुम्बकम्" होता है, फिर भी व्यवहारदृष्ट्या उनके उपदेशों का पालन एवं प्रसार करने वाले अधिक कृपापात्र होने से उनके धर्म-परिवार में गिने गये हैं, जो इस प्रकार हैं :–

गण एवं गणधर	–	तिरानवे (९३) दत्त आदि।
केवली	–	दस हजार (१००००)
मनःपर्यवज्ञानी	–	आठ हजार (८०००)
अवधिज्ञानी	–	आठ हजार (८०००)
चौदह पूर्वधारी	–	दो हजार (२०००)
वैक्रिय लब्धिधारी	–	चौदह हजार (१४०००)
वादी	–	सात हजार छ सौ (७६००)
साधु	–	दो लाख पचास हजार (२५००००)
साध्वी	–	तीन लाख अस्सी हजार (३८००००)
श्रावक	–	दो लाख पचास हजार (२५००००)
श्राविका	–	चार लाख इकरानवे हजार (४९१०००)

परिनिर्वाण

जिस समय प्रभु ने अपने जीवनकाल का अन्त निकट देखा तब एक हजार मुनियों के साथ एक मास का अनशन किया और अयोगी दशा में चार अघाति-कर्मों का क्षय कर भाद्रपद कृष्णा सप्तमी को श्रवण नक्षत्र में सिद्ध, बुद्ध एवं मुक्त होकर निर्वाण-पद प्राप्त किया।

इनकी कुल आयु दस लाख पूर्व वर्षों की थी, जिसमें ढाई लाख पूर्व तक युवराज-पद पर और साढ़े छ लाख पूर्व तक राज्य-पद पर रहे तथा कुछ कम एक लाख पूर्व तक प्रभु ने चारित्र-धर्म का पालन किया।

भगवान् श्री सुविधिनाथ

तीर्थंकर चन्द्रप्रभ के पश्चात् नौवें तीर्थंकर श्री सुविधिनाथ हुए। इन्हें पुष्पदन्त भी कहा जाता है।

पूर्वभव

पुष्कलावती विजय के भूपति महापद्म के भव में इन्होंने संसार से विरक्त होकर मुनि जगन्नन्द के पास दीक्षा ग्रहण की और उच्चकोटि की तप-साधना करते हुए तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया।

अन्त समय में अनशनपूर्वक काल कर वे वैजयन्त विमान में अहमिन्द्र रूप से उत्पन्न हुए।

जन्म

काकन्दी नगरी के महाराज सुग्रीव इनके पिता और रामादेवी इनकी माता थी।

वैजयन्त विमान से निकलकर महापद्म का जीव फाल्गुन कृष्णा नवमी को मूल नक्षत्र में माता रामादेवी की कुक्षि में गर्भ रूप से उत्पन्न हुआ। माता ने उसी रात्रि में चौदह मंगलकारी शुभ स्वप्न देखे। महाराज से स्वप्न-फल सुनकर महारानी हर्षविभोर हो गई।

गर्भकाल पूर्ण कर माता ने मृगशिर कृष्णा पंचमी को मध्यरात्रि के समय मूल नक्षत्र में सुखपूर्वक पुत्ररत्न को जन्म दिया। माता-पिता व नरेन्द्र-देवेन्द्रों ने जन्मोत्सव की खुशियां मनाईं। दश दिनों तक नगर में आमोद-प्रमोद का मंगल वातावरण बना रहा।

नामकरण

नामकरण के समय महाराज सुग्रीव ने सोचा कि बालक के गर्भकाल में माता सब विधियों में कुशल रहीं, इसलिये इसका नाम सुविधिनाथ और गर्भकाल में माता को पुष्प का दोहद उत्पन्न हुआ, अतः पुष्पदन्त रखा जाय। इस प्रकार सुविधिनाथ और पुष्पदंत प्रभु के ये दो नाम प्रख्यात हुए।[1]

---

१. कुशला सर्वविधिषु, गर्भस्थेऽस्मिन् जनन्यभूत्
पुष्पदोहृदतो दन्तोद्गमोऽस्यसमभूदिति।
सुविधिः पुष्पदन्तश्चेत्यभिधानद्वयं विभोः। महोत्सवेन चक्राते, पितरौ दिवसे शुभे।
त्रि० ३ प० ७ श्लो० ४८।५०

विवाह और राज्य

दो लाख पूर्व की आयु में से चौथा भाग अर्थात् पचास हजार पूर्व का समय बीतने पर महाराज सुग्रीव ने योग्य कन्याओं से इनका पाणिग्रहण करवाया तथा योग्य जानकर राज्यपद पर भी अभिषिक्त कर दिया। कुछ अधिक पचास हजार पूर्व तक प्रभु ने अलिप्तभाव से लोकहितार्थ कुशलतापूर्वक राज्य का संचालन किया।

दीक्षा और पारणा

राज्यकाल के वाद जव प्रभु ने भोगावली कर्म को क्षीण होते देखा तव संयम ग्रहण करने की इच्छा की।

लोकान्तिक देवों ने अपने कर्त्तव्यानुसार प्रभु से प्रार्थना की और वर्षीदान देकर प्रभु ने भी एक हजार राजाओं के साथ दीक्षार्थ निष्क्रमण किया। मृगशिर कृष्णा षष्ठी के दिन मूल नक्षत्र के समय सूरप्रभा शिविका से प्रभु सहस्राम्र वन में पहुंचे और सिद्ध की साक्षी से, सम्पूर्ण पापों का परित्याग कर दीक्षित हो गये। दीक्षा ग्रहण करते ही इन्होंने मन:पर्यवज्ञान प्राप्त किया।

दूसरे दिन श्वेतपुर के राजा पुष्प के यहां प्रभु का परमान्न से पारणा हुआ और देवों ने पंच-दिव्य प्रकट कर दान की महिमा बतलाई।

केवलज्ञान

चार मास तक प्रभु विविध कष्टों को सहन करते हुए ग्रामानुग्राम विचरते रहे। फिर उसी उद्यान में आकर प्रभु ने क्षपकश्रेणी पर आरोहण किया और शुक्ल ध्यान से घातिकर्मों का क्षय कर मालूर वृक्ष के नीचे कार्तिक शुक्ला तृतीया को मूल नक्षत्र में केवलज्ञान की प्राप्ति की।

केवली होकर देव-मानवों की महती सभा में प्रभु ने धर्मोपदेश दिया और चतुर्विध संघ की स्थापना कर, भाव-तीर्थंकर कहलाये।

धर्म परिवार

प्रभु के संघ में निम्न गणधरादि हुए :–

गणधर	– अठ्यासी (८८) वाराहजी आदि।
केवली	– सात हजार पांच सौ (७५००)
मन:पर्यवज्ञानी	– सात हजार पांच सौ (७५००)
अवधिज्ञानी	– आठ हजार चार सौ (८४००)
चौदह पूर्वधारी	– एक हजार पांच सौ (१५००)
वैक्रिय लब्धिधारी	– तेरह हजार (१३०००)
वादी	– ६ हजार (६०००)
साधु	– दो लाख (२०००००)

साध्वी – एक लाख बीस हजार (१२००००)
श्रावक – दो लाख उन्तीस हजार (२२९०००)
श्राविका – चार लाख बहत्तर हजार (४७२०००)

परिनिर्वाण

कुछ कम एक लाख पूर्व तक संयम का पालन कर जब प्रभु ने अपना आयु-काल निकट समझा तब एक हजार मुनियों के साथ सम्मेतशिखर पर एक मास का अनशन धारण किया, फिर योगनिरोध करते हुए चार अघाति-कर्मों का क्षय कर भाद्रपद कृष्णा नवमी के दिन मूल नक्षत्र में सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होकर निर्वाण पद प्राप्त किया।

कहा जाता है कि कालदोष से सुविधिनाथ के बाद साधुधर्म का विच्छेद हो गया और श्रावक लोग इच्छानुसार दान आदि धर्म का उपदेश करने लगे। संभव है यह काल ब्राह्मण संस्कृति के प्रचार-प्रसार का प्रमुख समय रहा हो।

भगवान् श्री शीतलनाथ

भगवान् श्री सुविधिनाथ के बाद भगवान् श्री शीतलनाथ दशवें तीर्थंकर हुए।

पूर्वभव

सुसीमा नगरी के महाराज पद्मोत्तर के भव में बहुत वर्षों तक राज्य का उपभोग कर इन्होंने 'स्रस्ताघ' नाम के आचार्य के पास संयम ग्रहण किया और विशिष्ट प्रकार की तपः साधना से तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया।

अन्त समय में अनशन की आराधना से काल प्राप्त कर प्राणत स्वर्ग में बीस सागर की स्थिति वाले देव हुए।

जन्म

भद्दिलपुर के महाराज दृढ़रथ इनके पिता और नन्दादेवी इनकी माता थीं। वैशाख कृष्णा षष्ठी के दिन पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र में प्राणत स्वर्ग से चयव कर पद्मोत्तर का जीव नन्दादेवी के गर्भ में उत्पन्न हुआ। महारानी उसी रात्रि को महा मंगलकारी चौदह शुभ स्वप्न देखकर जागृत हुईं। उसने महाराज के पास जाकर उन स्वप्नों का फल पूछा। उत्तर में यह सुनकर कि वह एक महान् पुण्यशाली पुत्र को जन्म देने वाली है, महारानी अत्यधिक प्रसन्न हुईं।

गर्भकाल के पूर्ण होने पर माता नन्दा ने माघ कृष्णा द्वादशी को पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र में सुखपूर्वक पुत्ररत्न को जन्म दिया। प्रभु के जन्म से अखिल विश्व में शान्ति एवं आनन्द की लहर फैल गई। महाराज दृढ़रथ ने मन खोल कर जन्मोत्सव मनाया।

नामकरण

बालक के गर्भ-काल में महाराज दृढ़रथ के शरीर में भयंकर दाह-ज्वर की पीड़ा थी जो विभिन्न उपचारों से भी शान्त नहीं हुई, पर एक दिन नन्दादेवी के कर-स्पर्श मात्र से वह वेदना शान्त हो गई और तन, मन में शीतलता छा गई। अतः सबने मिलकर बालक का नाम शीतलनाथ रखा।[1]

विवाह और राज्य

हर्ष और उल्लास के वातावरण में शैशवकाल पूर्ण कर जब इन्होंने यौवनावस्था में प्रवेश किया, तब माता-पिता के आग्रह से योग्य कन्याओं के साथ इनका पाणिग्रहण किया गया।

---

[1] राज्ञः सन्तप्तमप्यंगं, नन्दास्पर्शेन शीत्यभूत्।
गर्भस्थेऽस्मिन्निति तस्य, नाम शीतल इत्यभूत् ॥ त्रिष० ३।८।४७

पच्चीस हजार पूर्व तक कुंवर पद पर रहकर फिर पिता के अत्याग्रह से प्रभु ने निर्लेप भाव से राज्यपद लेकर शासन का सम्यक् रूप से संचालन किया। पचास हजार पूर्व तक राज्यपद पर रहने के पश्चात् जब भोगावली कर्म का भोग पूर्ण हुआ, तब प्रभु ने दीक्षा ग्रहण करने की इच्छा की।

दीक्षा और प्रथम पारणा

लोकान्तिक देवों की प्रार्थना और वर्षीदान के बाद एक हजार राजाओं के साथ चन्द्रप्रभा शिविका में आरूढ़ होकर प्रभु सहस्राम्र वन में पहुंचे और माघ कृष्णा द्वादशी को पूर्वाषाढा नक्षत्र में षष्ठ-भक्त तपस्या से सम्पूर्ण पाप कर्मों का परित्याग कर मुनि बन गये।

श्रमण-दीक्षा लेते ही इन्होंने मन:पर्यवज्ञान प्राप्त किया। दूसरे दिन अरिष्टपुर के महाराज पुनर्वसु के यहां परमान्न से इनका प्रथम पारणा सम्पन्न हुआ। देवों ने पंच-दिव्य प्रकट करके दान की महिमा बतलाई।

केवलज्ञान

विविध प्रकार के परीषहों को सहन करते हुए तीन मास छद्मस्थ-चर्या के बिताकर फिर प्रभु सहस्राम्र वन पधारे और प्लक्ष (पीपल) वृक्ष के नीचे शुक्ल-ध्यान में स्थित हो गये। शुक्लध्यान से ज्ञानावरण आदि चार घाती कर्मों का सम्पूर्ण क्षय कर प्रभु ने पौष कृष्णा चतुर्दशी को पूर्वाषाढा नक्षत्र में लोकालोक-प्रकाशक केवलज्ञान प्राप्त किया।

केवली होकर प्रभु ने देवासुर-मानवों की विशाल सभा में धर्मदेशना दी। संसार के नश्वर पदार्थों की प्रीति को दुखजनक बतलाकर उन्होंने मोक्ष-मार्ग में यत्न करने की शिक्षा दी और चतुर्विध-संघ की स्थापना कर, आप भावतीर्थंकर कहलाए।

धर्म परिवार

भगवान् शीतलनाथ के संघ में निम्न गणधर आदि हुए :-

गण एवं गणधर	–	इक्यासी (८१)
केवली	–	सात हजार (७०००)
मन:पर्यवज्ञानी	–	सात हजार पांच सौ (७५००)
अवधिज्ञानी	–	सात हजार दो सौ (७२००)
चौदह पूर्वधारी	–	एक हजार चार सौ (१४००)
वैक्रिय लब्धिधारी	–	बारह हजार (१२०००)
वादी	–	पांच हजार आठ सौ (५८००)
साधु	–	एक लाख (१०००००)
साध्वी	–	एक लाख और छ (१००००६)
श्रावक	–	दो लाख नव्यासी हजार (२८९०००)
श्राविका	–	चार लाख अट्ठावन हजार (४५८०००)

परिनिर्वाण

कुछ कम पच्चीस हजार पूर्व तक संयम का पालन कर जब आयुकाल निकट देखा तब प्रभु ने एक हजार मुनियों के साथ एक मास का अनशन किया।

अन्त में मन-वचन-कायिक योगों का निरोध करते हुए सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर वैशाख कृष्णा द्वितीया को पूर्वाषाढा नक्षत्र में प्रभु ने सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होकर निर्वाण-पद प्राप्त किया।

भगवान् श्री श्रेयांसनाथ

भगवान् श्री शीतलनाथ के पश्चात् ग्यारहवें तीर्थंकर श्री श्रेयांसनाथ हुए।

पूर्वभव

पुष्कर द्वीप के राजा नलिनगुल्म के भव में इन्होंने रोग की तरह राज्य भोग को छोड़कर ऋषि वज्रदन्त के पास दीक्षा ले ली और तीव्र तप से कर्मों को कृश करते हुए निर्मोह भाव से विचरते रहे।

वहां वीस स्थानों की आराधना कर तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन किया। अन्त समय में शुभ-ध्यान से आयु पूर्णकर नलिनगुल्म महाशुक्र कल्प में ऋद्धिमान् देव हुए।

जन्म

भारतवर्ष की भूषणस्वरूपा, सिंहपुरी नगरी के अधिनायक महाराज विष्णु इनके पिता और सद्गुणधारिणी विष्णुदेवी इनकी माता थीं।

ज्येष्ठ कृष्णा षष्ठी के दिन श्रवण नक्षत्र में 'नलिनगुल्म' का जीव स्वर्ग से निकलकर माता विष्णु की कुक्षि में उत्पन्न हुआ। माता ने उसी रात्रि में १४ महा शुभ-स्वप्न देखे। गर्भकाल पूर्ण कर माता ने फाल्गुन कृष्णा द्वादशी को सुखपूर्वक पुत्ररत्न को जन्म दिया। आपके जन्मकाल में सर्वत्र सुख, शांति और हर्ष का वातावरण फैल गया।

नामकरण

समस्त राजपरिवार और राष्ट्र का बालक के जन्म से श्रेय-कल्याण हुआ, अतः मातापिता ने शुभ समय में बालक का गुणसम्पन्न नाम श्रेयांसनाथ रखा।[1]

विवाह और राज्य

बाल्यकाल में देव, दानव और मानव कुमारों के संग खेलकर जब प्रभु युवावस्था में प्रविष्ट हुए तो पिता के आग्रह से योग्य कन्याओं के संग आपने पाणिग्रहण किया और इक्कीस लाख वर्ष के होने पर आप राज्य-पद के अधिकारी बनाये गये।

बयालीस लाख वर्ष तक आप मही-मंडल पर न्यायपूर्वक राज्य का संचालन करते रहे।

---

[1] जिनस्य मातापितरावुत्सवेन महीयसा,
अभिधां श्रेयसि दिने, श्रेयांस इति चक्रतुः ॥ ४।१।८८ त्रि० शलाका पु. च.

दीक्षा और पारणा

भोग्य-कर्म के क्षीण होने पर जब आपने संयम ग्रहण करने की इच्छा की, तब लोकान्तिक देवों ने अपनी मर्यादा के अनुसार आकर प्रभु से प्रार्थना की। फलतः वर्ष भर तक निरन्तर दान देकर एक हजार अन्य राजाओं के साथ वेले की तपस्या में राजमहल से दीक्षार्थ अभिनिष्क्रमण किया और फाल्गुन कृष्णा त्रयोदशी को श्रवण नक्षत्र में सहस्राम्रवन के अशोक वृक्ष के नीचे सम्पूर्ण पापों का परित्याग कर आपने विधिपूर्वक प्रव्रज्या स्वीकार की।

दूसरे दिन सिद्धार्थपुर में राजा नन्द के यहां प्रभु का परमान्न से पारणा सम्पन्न हुआ।

केवलज्ञान

दीक्षा के पश्चात् दो मास तक छद्मस्थभाव में आप विविध ग्राम-नगरों में विचरे और आगत कष्टों को सहन करने में अचल-स्थिर बने रहे। माघ कृष्णा अमावस्या को क्षपकश्रेणी द्वारा मोह-विजय कर शुक्लध्यान की उच्च स्थिति में घाति-कर्मों का सर्वथा क्षय कर षष्ठ तप से आपने केवलज्ञान और केवलदर्शन की उपलब्धि की। केवली होकर देव-मानवों की विशाल सभा में श्रुत-चारित्र धर्म की प्रभु ने देशना दी और चतुर्विध संघ की स्थापना कर, आप भाव-तीर्थंकर कहलाये।

राज्य शासन पर श्रेयांस का प्रभाव

केवलज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् भगवान् श्रेयांसनाथ विचरते हुए पोतनपुर पधारे। भगवान् के पधारने की शुभ सूचना राजपुरुष ने तत्कालीन प्रथम वासुदेव त्रिपृष्ठ को दी।

यह शुभ समाचार सुनकर त्रिपृष्ठ इतना अधिक प्रसन्न हुआ कि उसने शुभसंदेश लाने वाले को साढ़े बारह करोड़ मुद्राओं से पुरस्कृत किया और अपने बड़े भाई अचल बलदेव के साथ भगवान् के चरणारविन्दों को वन्दन करने गया। भगवान् की सम्यक्त्व–सुधा बरसाने वाली वाणी को सुनकर दोनों भाइयों ने सम्यक्त्व धारण किया।[1]

यह त्रिपृष्ठ वर्तमान अवसर्पिणी काल के प्रथम वासुदेव और इनके भाई अचल प्रथम बलदेव थे।

भगवान् महावीर के पूर्वभवीय मरीचि के जीव ने ही महाराज प्रजापति की महारानी भद्रा[2] की कुक्षि से त्रिपृष्ठ के रूप में जन्म ग्रहण किया।

इधर प्रथम प्रतिवासुदेव अश्वग्रीव को निमित्तज्ञों की भविष्यवाणी से जब यह ज्ञात हुआ कि उसका संहार करने वाला प्रथम वासुदेव जन्म ग्रहण कर चुका है तो वह चिन्तातुर हो रात दिन अपने प्रतिद्वन्द्वी की खोज में तत्पर रहने लगा।

---

[1] सम्यक्त्वं प्रतिपेदाते, बलभद्रहरी पुनः ।। त्रि० पु० च० ४।१।८४५

[2] आचार्य हेमचन्द्र ने तृपृष्ठ की माता का नाम मृगावती लिखा है। यथा :–
विश्वभूतिश्च्युतः शुक्रान्मृगावत्या अथोदरे।
[त्रिषष्टि श. पु. च. पर्व १०, स. १, श्लो. ११८]

प्रजापति के पुत्र त्रिपृष्ठ और बलदेव के पराक्रम एवं अद्‌भुत साहस की सौरभ सर्वत्र फैल रही थी। उससे अश्वग्रीव के मन में शंका उत्पन्न हुई कि हो न हो प्रजापति के दोनों महा पराक्रमी पुत्र ही मेरे लिये काल बनकर पैदा हुए हों अतः वह उन दोनों को छल - वल से मरवाने की सोचने लगा।

उन दिनों अश्वग्रीव के राज्य में किसी शालिखेत में एक शेर का भयंकर आतंक छाया हुआ था। अश्वग्रीव की ओर से शेर को मरवाने के सारे उपाय निष्फल हो जाने पर उसने प्रजापति को आदेश भेजा कि वह शालिखेत की शेर से रक्षा करे।

प्रजापति शालिखेत पर जाने को तैयार हुए ही थे कि राजकुमार त्रिपृष्ठ आ पहुंचे। उन्होंने साहस के साथ महाराज प्रजापति से कहा – "शेर से खेत की रक्षा करना कौनसा बड़ा काम है, मुझे आज्ञा दीजिये, मैं ही उस शेर को समाप्त कर दूंगा।"

पिता की आज्ञा से त्रिपृष्ठ अचल बलदेव के साथ शालिखेत पर जा पहुंचे। लोगों के मुख से सिंह की भयंकरता और प्रजा में व्याप्त आतंक के सम्बन्ध में सुनकर उन्होंने उसे मिटाने का संकल्प किया। त्रिपृष्ठ ने सोचा कि प्रजा में व्याप्त सिंह के आतंक को समाप्त कर दूं तभी मेरे पौरुष की सफलता है।

दोनों भाई निर्भीक हो शेर की मांद की ओर बढ़े और त्रिपृष्ठ ने निर्भय सोये हुए शेर को ललकारा। सिंह भी बार-बार की आवाज से क्रुद्ध हुआ और भयंकर दहाड़ के साथ त्रिपृष्ठ पर झपटा। त्रिपृष्ठ ने विद्युत् वेग से लपक कर सिंह के दोनों जबड़ों को पकड़कर आसानी से पुराने बांस की तरह उसे चीर डाला। सिंह मारे क्रोध और ग्लानि के तड़प रहा था और विचार रहा था - "आज एक मानव-किशोर ने मुझे कैसे मार डाला ?" सारथी ने शेर को आश्वस्त करते हुए कहा – "वनराज शोक न करो, जिस प्रकार तुम पशुओं में राजा हो उसी प्रकार यह तेजस्वी युवक भी मनुष्यों में राजा है। तुम किसी छोटे व्यक्ति के हाथ से नहीं मारे गये हो।"

त्रिपृष्ठ द्वारा उस भयंकर और शक्तिशाली सिंह के मारे जाने की खबर सुन कर अश्वग्रीव कांप उठा और उसे निश्चय हो गया कि इसी कुमार के हाथों उसकी मृत्यु होगी।

कुछ सोच विचार के वाद उसको एक उपाय सूझा कि इस वीरता के उपलक्ष में पुरस्कार देने के वहाने उन दोनों कुमारों को यहां बुला कर छल-वल से मरवा दिया जाय। अश्वग्रीव ने महाराज प्रजापति को संदेश भिजवाया - "आपके दोनों राजकुमारों ने जो वीरतापूर्ण कार्य किया है उसके लिये हम उनको पुरस्कृत और सम्मानित करना चाहते हैं, अतः आप उन्हें यहां भिजवा दो।"

अश्वग्रीव के उपरोक्त संदेश के उत्तर में त्रिपृष्ठ ने कहलवा भेजा – "जो राजा एक शेर को भी नहीं मार सका उससे हम किसी प्रकार का पुरस्कार लेने को तैयार नहीं हैं।"

कुमार त्रिपृष्ठ के इस उत्तर से अश्वग्रीव तिलमिला उठा और एक बड़ी चतुरंगिणी सेना लेकर उसने प्रजापति पर चढ़ाई कर दी। बलदेव और त्रिपृष्ठ भी अपनी सेना के साथ रणांगण में आ डटे। दोनों ओर की सेनाएं भिड़ गईं और बड़ा भीषण लोमहर्षक युद्ध हुआ।

उस समय त्रिपृष्ठ ने अश्वग्रीव से कहलाया कि निरर्थक नर-संहार से तो यह अच्छा रहेगा कि हम दोनों आपस में द्वन्द्वयुद्ध कर लें। अश्वग्रीव भी त्रिपृष्ठ के इस प्रस्ताव से सहमत हो गया और दोनों में भयंकर द्वन्द्वयुद्ध चल पड़ा। अन्ततोगत्वा प्रतिवासुदेव अश्वग्रीव, वासुदेव त्रिपृष्ठ द्वारा युद्ध में मारा गया। इस प्रकार त्रिपृष्ठ अर्द्ध-भरत का अधिपति वासुदेव हो गया।

त्रिपृष्ठ और अश्वग्रीव के बीच का यह युद्ध भगवान् श्रेयांसनाथ को केवलज्ञान प्राप्त होने से पूर्व हुआ था।

वासुदेव त्रिपृष्ठ के यहां किसी दिन कुछ संगीतज्ञ, जो अत्यन्त मधुर स्वर से संगीत प्रस्तुत करने में दक्ष थे, आये। शयन का समय होने से त्रिपृष्ठ ने द्वारपाल को आज्ञा दी कि जिस समय मुझे नींद आजाय, तत्काल संगीत बन्द करा देना।

संगीत की मधुर कर्णप्रिय ध्वनि की मस्ती में भूलकर द्वारपाल ने त्रिपृष्ठ को निद्रा आजाने पर भी संगीत बन्द नहीं कराया। रात भर संगीत चलता रहा, सहसा त्रिपृष्ठ जाग उठे और क्रुद्ध होकर द्वारपाल से पूछा – "अरे! संगीत बन्द क्यों नहीं कराया ?"

द्वारपाल ने कहा – "महाराज! संगीत मुझे इतना कर्णप्रिय लगा कि समय का कुछ भी ध्यान नहीं रहा।"

त्रिपृष्ठ ने क्रुद्ध हो अन्य सेवकों को आदेश दिया कि शीशा गरम करके उसके कानों में उंडेल दिया जाय। राजाज्ञा को कौन टाले ? द्वारपाल के कानों में गरम २ शीशा उंडेल दिया गया और वह तड़प-तड़प कर मर गया।

इस तरह के क्रूर कर्मों से वासुदेव त्रिपृष्ठ ने घोर नरक-आयु का बन्ध कर लिया। क्रूर अध्यवसाय से उसका सम्यक्त्वभाव खंडित हो गया। ८४ लाख वर्ष की आयु भोगकर वह सातवीं नरक का अधिकारी बना।

बलदेव अचल ने जब भाई का मरण सुना तो शोक से आकुल हो गये, विवेकी होकर भी अविवेकी की तरह करुण स्वर में विलाप करने लगे। बार-बार उठने की आवाज देने पर भी त्रिपृष्ठ महानिद्रा से नहीं उठे तो अचल मूर्छित हो भूतल पर गिर पड़े। कालान्तर में मूर्छा दूर होने पर वृद्धजनों से प्रबोधित किये गये।

दुख में वीतराग के चरण ही एकमात्र आधार होते हैं यह समझकर बलदेव भी प्रभु श्रेयांसनाथ के चरणों का ध्यान कर और उनकी वाणी का स्मरण कर संसार की नश्वरता के बारे में सोचने लगे और सांसारिक विषयों से परांग्मुख हो गये।[1]

आखिर धर्मघोष आचार्य की वाणी सुनकर अचल विरक्त हुए और जिन-दीक्षा ग्रहण कर तप-संयम से सकल कर्मों को क्षय कर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गये। इनकी ८५ लाख वर्ष की आयु थी।

धर्म परिवार

श्रेयांसनाथ के संघ में निम्न गण एवं गणधरादि परिवार हुआ :-

गणधर	– छिहत्तर[2] (७६)
केवली	– छ हजार पांच सौ (६५००)
मनःपर्यवज्ञानी	– छ हजार (६०००)
अवधिज्ञानी	– छ हजार (६०००)
चौदह पूर्वधारी	– तेरह सौ (१३००)
वैक्रिय लब्धिधारी	– ग्यारह हजार (११०००)
वादी	– पांच हजार (५०००)
साधु	– चौरासी हजार (८४०००)
साध्वी	– एक लाख तीन हजार (१०३०००)
श्रावक	– दो लाख उन्यासी हजार (२७९०००)
श्राविका	– चार लाख अड़तालीस हजार (४४८०००)

परिनिर्वाण

केवलज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् दो मास कम इक्कीस लाख वर्ष तक भूमंडल में विचर कर प्रभु ने लोगों को आत्मकल्याण की शिक्षा दी।

फिर मोक्षकाल निकट समझकर एक हजार मुनियों के साथ अनशन स्वीकार किया और शुक्लध्यान के अन्तिम चरण में अयोगीदशा को प्राप्त कर श्रावण कृष्णा तृतीया को धनिष्ठा नक्षत्र में सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर सिद्ध, बुद्ध एवं मुक्त हुए। आपकी पूर्ण आयु चौरासी लाख वर्ष की थी।

---

[1] श्रेयांसस्वामिपादानां, स्मरन् श्रेयस्करीं गिरम्।
संसारासारतां ध्यायन्, विषयेभ्यो परांग्मुखः ॥ त्रि० ४।१।६०२॥

[2] कहीं पर ६६ का उल्लेख भी मिलता है।

भगवान् श्री वासुपूज्य

श्रेयांसनाथ के बाद बारहवें तीर्थंकर वासुपूज्य स्वामी हुए।

पूर्वभव

इन्होंने पुष्कर द्वीप के मंगलावती विजय में पद्मोत्तर राजा के भव में निरन्तर जिनशासन की भक्ति की। इनके मन में सदा यही ध्यान रहता कि लक्ष्मी चपला की तरह चंचल है और पुण्यबल अंजलिगत जल की तरह नश्वर है, अतः इस नाशवान् शरीर से अविनश्वर मोक्ष-पद की प्राप्ति करने में ही जीवन का वास्तविक कल्याण है।

संयोगवश भावना के अनुरूप उनका वज्रनाभ गुरु के साथ समागम हुआ। उनके उपदेश से विरक्त होकर इन्होंने संयम ग्रहण किया और तीव्र तप एवं अर्हद्-भक्ति आदि शुभ स्थानों की आराधना से तीर्थंकर-नामकर्म का उपार्जन किया। अन्तिम समय शुभध्यान में काल कर वे प्राणत स्वर्ग में ऋद्धिमान् देव हुए।

जन्म

प्राणत स्वर्ग से निकल कर यही पद्मोत्तर का जीव तीर्थंकर रूप से उत्पन्न हुआ। भारत की प्रसिद्ध चम्पानगरी के प्रतापी राजा वसुपूज्य इनके पिता और जयादेवी माता थीं।

ज्येष्ठ शुक्ला नवमी को शतभिषा नक्षत्र में पद्मोत्तर का जीव स्वर्ग से निकलकर माता जया की कुक्षि में गर्भ रूप से उत्पन्न हुआ। उसी रात्रि में माता जया ने चौदह महा शुभ-स्वप्न देखे जो महान् पुण्यात्मा के जन्म-सूचक थे। माता ने उचित आहार-विहार से गर्भकाल पूर्ण किया और फाल्गुन कृष्णा चतुर्दशी के दिन शतभिषा नक्षत्र के शुभ योग में सुखपूर्वक पुत्ररत्न को जन्म दिया।

नामकरण

महाराज वसुपूज्य के पुत्र होने के कारण आपका नाम वासुपूज्य रखा गया।

विवाह और राज्य

आचार्य हेमचन्द्र के मतानुसार वासुपूज्य अविवाहित माने गये हैं, ऐसा ही जिनसेन आदि दिगम्बर परम्परा के आचार्यों का भी मन्तव्य है। हेमचन्द्र के अनुसार शैशवकाल पूर्ण होने पर भी जब वासुपूज्य शिशु की तरह भोग से सर्वथा विमुख दिखाई दिये, तब महाराज वसुपूज्य ने पाणिग्रहण का प्रस्ताव रखते हुए पुत्र से अनुरोध की भाषा में कहा – "कुमार ! अब तुम्हें विवाह करना चाहिये। जैसे ऋषभ ने पितृवचन से सुनन्दा और सुमंगला से पाणिग्रहण किया और अजितनाथ से श्रेयांसनाथ तक के भूतकालीन तीर्थंकरों ने भी पिता के

अनुरोध से राज्य का उपभोग कर फिर मोक्ष-मार्ग का साधन किया। इसी प्रकार तुम्हें भी विवाह, राज्य, दीक्षा और तपःसाधन की पूर्व-परम्परा का पालन करना चाहिये। यही हमारी अभिलाषा है।"

पितृ-वचन को सुनकर वासुपूज्य ने सादर कहा – "तात! पूर्व पुरुषों के पावन चरित्र को मैं भी जानता हूं किन्तु सबके भोग्य-कर्म समान नहीं होते। उनके जैसे-जैसे कर्म और भोगफल अवशेष थे, वैसे मेरे भोग-कर्म अवशिष्ट नहीं हैं। साथ ही भविष्य में भी मल्लिनाथ, नेमनाथ आदि तीर्थंकर भोग्य-कर्म अवशेष नहीं होने से बिना विवाह के ही दीक्षित होंगे, ऐसे मुझे भी अविवाहित रहकर दीक्षा-ग्रहण करना है। अतः आप आज्ञा दीजिये जिससे मैं दीक्षित होकर स्व-पर का कल्याण कर सकूं।"

इस प्रकार माता-पिता को समझा कर विवाह और राज्य-ग्रहण किये बिना ही इनके दीक्षा-ग्रहण का उल्लेख मिलता है। आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार वासुपूज्य बालब्रह्मचारी रहे एवं उन्होंने न विवाह किया और न राज्य ही। किन्तु आचार्य शीलांक के "चउपन्न महापुरिस चरियं" में दार-परिग्रह करने और कुछ काल राज्यपालन कर दीक्षित होने का उल्लेख है।[१]

वास्तव में तीर्थंकर की गृहचर्या भोग्यकर्म के अनुसार ही होती है, अतः उनका विवाहित होना या नहीं होना कोई विशेष अर्थ नहीं रखता। विवाह से तीर्थंकर की तीर्थंकरता में कोई बाधा नहीं आती।

दीक्षा और पारणा

भोग्यकर्म क्षीण होने पर प्रभु ने लोकान्तिक देवों से प्रेरित होकर वर्षभर तक निरन्तर दान दिया, फिर अठारह लाख वर्ष पूर्ण होने पर छह सौ राजाओं के साथ चतुर्थ-भक्त से दीक्षार्थ निष्क्रमण किया और फाल्गुन कृष्णा अमावस्या को शतभिषा नक्षत्र में सम्पूर्ण पापों का परित्याग कर श्रमणवृत्ति स्वीकार की।

दूसरे दिन महापुर में जाकर राजा सुनन्द के यहां प्रभु ने परमान्न से प्रथम पारणा किया। देवों ने पंच-दिव्य बरसा कर पारण की बड़ी महिमा की।

केवलज्ञान

दीक्षा लेकर भगवान् तपस्या करते हुए एक मास छद्मस्थचर्या में विचरे और फिर उसी उद्यान में आकर पाटला वृक्ष के नीचे ध्यानस्थित हो गये। शुक्लध्यान के दूसरे चरण में चार घातिकर्मों का क्षय कर माघ शुक्ला द्वितीया को शतभिषा के योग में प्रभु ने चतुर्थ-भक्त (उपवास) से केवलज्ञान की प्राप्ति की।

केवली होकर प्रभु ने देव-असुर-मानवों की विशाल सभा में धर्म-देशना दी तथा क्षान्ति आदि दशविध धर्म का स्वरूप समझाकर चतुर्विध संघ की स्थापना की और भाव-तीर्थंकर कहलाये।

---

[१] तओ कुमारभावमणुवालिऊंण किंचिकालं कयदारपरिग्गहो रायसिरिमणुवालिऊण....
चउ० महापुरिस च० पृ० १०४।

विहार करते हुए जब प्रभु द्वारिका के निकट पधारे तो राजपुरुष ने वासुदेव द्विपृष्ठ को प्रभु के पधारने की शुभ-सूचना दी। भगवान् वासुपूज्य के पधारने की शुभ-सूचना की बधाई सुनाने के उपलक्ष में वासुदेव ने उसको साढ़े बारह करोड़ मुद्राओं का प्रीतिदान दिया।

त्रिपृष्ठ के बाद ये इस समय के दूसरे वासुदेव होते हैं।

धर्म-परिवार

आपके संघ में निम्न परिवार था :-

गण एवं गणधर	–	छासठ (६६)
केवली	–	छ हजार (६०००)
मनःपर्यवज्ञानी	–	छ हजार एक सौ (६१००)
अवधिज्ञानी	–	पांच हजार चार सौ (५४००)
चौदह पूर्वधारी	–	एक हजार दो सौ (१२००)
वैक्रिय लब्धिधारी	–	दश हजार (१००००)
वादी	–	चार हजार सात सौ (४७००)
साधु	–	बहत्तर हजार (७२०००)
साध्वी	–	एक लाख (१०००००)
श्रावक	–	दो लाख पन्द्रह हजार (२१५०००)
श्राविका	–	चार लाख छत्तीस हजार (४३६०००)

राज्य-शासन पर धर्म-प्रभाव

श्रेयांसनाथ की तरह भगवान् वासुपूज्य का धर्मशासन भी सामान्य लोक-जीवन से लेकर राजघराने तक व्यापक हो चला था। छोटे-बड़े राजाओं के अतिरिक्त उस समय के अर्द्धचक्री (वासुदेव) द्विपृष्ठ और विजय बलदेव पर भी उनका विशिष्ट प्रभाव था।

प्रभु के पधारने की खबर सुनकर द्विपृष्ठ ने भी साढ़े बारह करोड़ मुद्राओं का प्रीतिदान किया और वासुपूज्य भगवान् की वीतरागमयी वाणी सुनकर सम्यक्त्व ग्रहण किया तथा विजय बलदेव ने श्रावकधर्म अंगीकार किया। कालान्तर में मुनि-धर्म स्वीकार कर विजय ने शिव-पद प्राप्त किया।

परिनिर्वाण

एक मास कम चौवन लाख वर्ष तक केवली पर्याय में विचर कर प्रभु ने लाखों भव्य-जनों को धर्म का संदेश दिया। फिर मोक्ष-काल निकट जानकर चम्पा नगरी पधारे और छह सौ मुनियों के साथ एक मास का अनशन कर शुक्लध्यान के चतुर्थ चरण से अक्रिय होकर सम्पूर्ण कर्मों का क्षय किया एवं आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी को उत्तराभाद्रपद नक्षत्र में सिद्ध, बुद्ध एवं मुक्त होकर प्रभु ने निर्वाण-पद की प्राप्ति की।

भगवान् श्री विमलनाथ

भगवान् वासुपूज्य के बाद तेरहवें तीर्थंकर भगवान् श्री विमलनाथ हुए।

पूर्वभव

तीर्थंकर-नामकर्म का उपार्जन करने के लिये इन्होंने भी धातकीखण्ड की महापुरी नगरी में राजा पद्मसेन के भव में वैराग्य प्राप्त किया और जिनशासन की बड़ी सेवा की।

मुनि सर्वगुप्त का उपदेश सुन कर ये विरक्त हुए और शिक्षा-दीक्षा लेकर निर्मलभाव से आपने संयम की आराधना की। वहां बीस स्थानों की आराधना कर इन्होंने तीर्थंकर-नामकर्म का उपार्जन किया और अन्त में समाधिपूर्वक आयु पूर्ण कर आठवें सहस्रार-कल्प में ऋद्धिमान् देव रूप से उत्पन्न हुए।

जन्म

सहस्रार देवलोक से निकल कर पद्मसेन का जीव वैशाख शुक्ला द्वादशी को उत्तराभाद्रपद नक्षत्र में माता श्यामा की कुक्षि में उत्पन्न हुआ।

इनकी जन्मभूमि कंपिलपुर थी। विमल यशधारी महाराज कृतवर्मा इनके पिता थे और उनकी सुशीला पत्नी श्यामा आपकी माता थीं। माता ने गर्भ धारण के पश्चात् मंगलकारी चौदह शुभ-स्वप्न देखे और उचित आहार-विहार से गर्भ-काल पूर्ण कर माघ शुक्ला तृतीया को उत्तराभाद्रपद में चन्द्र का योग होने पर सुखपूर्वक सुवर्णकान्ति वाले पुत्ररत्न को जन्म दिया।

देवों ने सुमेरु पर्वत की अतिपांडु-कम्बल शिला पर प्रभु का जन्म-महोत्सव मनाया। महाराज कृतवर्मा ने भी हृदय खोल कर पुत्रजन्म की खुशियां मनाई।

नामकरण

दश दिनों के आमोद-प्रमोद के पश्चात् महाराज कृतवर्मा ने नामकरण के लिये मित्रों व बान्धवजनों को एकत्र किया और बालक के गर्भ में रहने के समय माता तन, मन से निर्मल बनी रहीं, अतः बालक का नाम विमलनाथ रखा।[1]

विवाह और राज्य

एक हजार आठ लक्षण वाले विमलनाथ जब तरुण हुए तो भोगों में रुचि नहीं होने पर भी मातापिता के आग्रह से प्रभु ने योग्य कन्याओं के साथ पाणि-ग्रहण लिया।

---

[1] गर्भस्थे जननी तस्मिन् विमला यदजायत।
ततो विमल इत्याख्यां, तस्य चक्रे पिता स्वयम् ॥ त्रिष० ४।३।४८

पन्द्रह लाख वर्ष कुंवर-पद में बिता कर आप राज्य-पद पर आरूढ़ हुए और तीस लाख वर्ष तक प्रभु ने न्याय-नीतिपूर्वक राज्य का संचालन किया।

पैंतालीस लाख वर्ष के बाद जब भव-विपाकी कर्म को क्षीण हुआ समझा तब प्रभु ने भवजलतारिणी आर्हती दीक्षा ग्रहण करने की इच्छा व्यक्त की।

दीक्षा और पारणा

लोकान्तिक देवों द्वारा प्रार्थित प्रभु वर्ष भर तक कल्पवृक्ष की तरह याचकों को इच्छानुसार दान देकर एक हजार राजाओं के संग दीक्षार्थ सहस्राम्र वन में पधारे और माघ शुक्ला चतुर्थी को उत्तराभाद्रपद नक्षत्र में षष्ठभक्त की तपस्या से सब पाप-कर्मों का परित्याग कर दीक्षित हुए।

दूसरे दिन धान्यकट पुर में जाकर प्रभु ने महाराज जय के यहां परमान्न से पारणा किया।

केवलज्ञान

पारणा करने के पश्चात् वहां से विहार कर दो वर्ष तक प्रभु विविध ग्राम नगरों में परीषहों को समभाव से सहन करते हुए विचरते रहे।

फिर दीक्षास्थल में पहुंच कर अपूर्वकरण गुणस्थान से क्षपक-श्रेणी में आरूढ़ हुए और ज्ञानावरण आदि चार घाति-कर्मों का क्षय कर पौष शुक्ला षष्ठी को उत्तराभाद्रपद नक्षत्र में बेले की तपस्या से प्रभु ने केवलज्ञान, केवलदर्शन की प्राप्ति की।

केवलज्ञान के पश्चात् जब प्रभु विहार कर द्वारिका पधारे और समवसरण हुआ तब राजपुरुष ने तत्कालीन वासुदेव स्वयंभू को अर्हद्दर्शन की शुभ-सूचना दी। उन्होंने भी प्रसन्न होकर साढ़े बारह करोड़ रौप्यमुद्राओं का प्रीतिदान देकर उसको सत्कृत किया और प्रभु की देशना सुनकर जहां हजारों नरनारियों ने चारित्र-धर्म स्वीकार किया वहां वासुदेव ने भी सम्यक्त्व-धर्म स्वीकार किया। चतुर्विध संघ की स्थापना कर प्रभु ने भाव-तीर्थंकर का पद सुशोभित किया।

धर्म परिवार

आपके संघ में मन्दर आदि छप्पन गणधरादि सहित निम्न परिवार था :—

गण एवं गणधर	—	छप्पन (५६)
केवली	—	पांच हजार पांच सौ (५५००)
मनःपर्यवज्ञानी	—	पांच हजार पांच सौ (५५००)
अवधिज्ञानी	—	चार हजार आठ सौ (४८००)
चौदह पूर्वधारी	—	एक हजार एक सौ (११००)
वैक्रिय लब्धि-धारी	—	नौ हजार (९०००)
वादी	—	तीन हजार दो सौ (३२००)

साधु – अड़सठ हजार (६८०००)
साध्वी – एक लाख आठ सौ (१००८००)
श्रावक – दो लाख आठ हजार (२०८०००)
श्राविका – चार लाख चौबीस हजार (४२४०००)

राज्य-शासन पर धर्म-प्रभाव

तेरहवें तीर्थंकर भगवान् विमलनाथ के समय में मेरक प्रतिवासुदेव और स्वयंभू वासुदेव हुए।

विमलनाथ के धर्म-शासन का साधारण जन से लेकर लोकनायक-शासकों पर भी पूर्ण प्रभाव था। भगवान् विमलनाथ के समवसरण की बात जान कर वासुदेव स्वयंभू भी अपने ज्येष्ठ भ्राता भद्र बलदेव के साथ वन्दन करने गया और प्रभु की वाणी सुनकर स्वयंभू ने सम्यक्त्व धारण किया और भद्र बलदेव ने श्रावक-धर्म ग्रहण किया।

वासुदेव स्वयंभू की मृत्यु के पश्चात् बलदेव भद्र ने विरक्त होकर मुनिधर्म ग्रहण किया और पैंसठ लाख वर्ष की आयु भोग कर अन्तिम समय की आराधना से मुक्ति प्राप्त की।

परिनिर्वाण

दो वर्ष कम पन्द्रह लाख वर्ष तक केवली रूप से जन-जन को सत्य-मार्ग का उपदेश देकर जब प्रभु ने अपना आयुकाल निकट देखा तब छ सौ साधुओं के साथ प्रभु ने एक मास का अनशन किया और मास के अन्त में शेष चार अघाति-कर्मों का क्षय कर आषाढ़ कृष्णा[1] सप्तमी को पुष्य नक्षत्र में शुद्ध, बुद्ध और मुक्त होकर निर्वाण-पद प्राप्त किया। आपकी पूर्ण आयु साठ लाख वर्ष की थी।

---

[1] प्रवचन सारोद्धार, हरिवंश पु. और तिलोयपन्नत्ति में आषाढ़ कृष्णा ८ उल्लिखित है, जब कि सत्तरिसय द्वार की गाथा ३०६ से ३१० में आषाढ़ कृष्णा ७।

भगवान् श्री अनन्तनाथ

भगवान् विमलनाथ के पश्चात् चौदहवें तीर्थंकर श्री अनन्तनाथ हुए।

पूर्वभव

इन्होंने धातकीखण्ड की अरिष्टा नगरी में महाराज पद्मरथ के भव में तीर्थंकर-पद की साधना की। महाराज पद्मरथ बड़े शूरवीर और पराक्रमी राजा थे।

विरोधी राजाओं और समस्त महिमंडल को जीतकर भी मोक्ष-लक्ष्मी की साधना में उन्होंने उसको नगण्य समझा और कुछ समय बाद वैराग्यभाव से चित्तरक्ष गुरु के पास संयम ग्रहण कर तप-संयम की विशिष्ट साधना की और तीर्थंकर-नामकर्म का उपार्जन किया।

अन्त समय में शुभ ध्यान से प्राण त्याग कर दसवें स्वर्ग के ऋद्धिमान् देव हुए।

जन्म

अयोध्या नगरी के महाराज सिंहसेन इनके पिता और महारानी सुयशा इनकी माता थीं। श्रावण कृष्णा सप्तमी को रेवती नक्षत्र में स्वर्ग से निकलकर पद्मरथ का जीव माता सुयशा की कुक्षि में गर्भ रूप से उत्पन्न हुआ। माता ने चौदह शुभ-स्वप्न देखे। गर्भकाल पूर्ण होने पर वैशाख कृष्णा त्रयोदशी के दिन रेवती नक्षत्र के योग में माता सुयशा ने सुखपूर्वक पुत्र-रत्न को जन्म दिया। देव, दानव और मानवों ने जन्म की खुशियां मनाईं।

नामकरण

दश दिनों तक आमोद-प्रमोद मनाने के उपरान्त नामकरण करते समय महाराज सिंहसेन ने विचार किया "बालक की गर्भस्थावस्था में आक्रमणार्थ आये हुए अतीव उत्कट अपार शत्रु-सैन्य पर भी मैंने विजय प्राप्त की अतः इस बालक का नाम अनन्तनाथ रखा जाय।"[1] और इस विचार के अनुरूप ही प्रभु का नामकरण हुआ।

विवाह और राज्य

चन्द्रकला की तरह बढ़ते हुए प्रभु ने शैशवकाल के सात लाख पचास हजार वर्ष पूर्ण कर जब तारुण्य प्राप्त किया तब पिता सिंहसेन ने अत्याग्रह से

---

[1] (क) गर्भस्थेऽस्मिन् जितं पित्रानन्तं परवलं यतः।
ततश्चक्रेऽनन्तजिदित्याख्यां परमेशितुः ॥ त्रि०ष० ४।४।४७

(ख) गब्भत्थे य भगवम्मि पिउणा 'अणंतं परबलं जियं 'ति तओ
जहत्थं अणन्तइजिणो त्ति नामं कयं भुवणगुरुणो ॥ च० महापुरिस चरियं, पृ.१२६

योग्य कन्याओं के साथ आपका पाणिग्रहण करवाया और राज्य की व्यवस्था के लिये आपको राज्य-पद पर भी अभिषिक्त किया।

पन्द्रह लाख वर्ष तक समुचित रीति से राज्य का पालन कर जब आपने भोग्य-कर्म को क्षीण समझा तो मुनिव्रत ग्रहण करने का संकल्प किया।

दीक्षा और पारणा

लोकान्तिक देवों की प्रेरणा से प्रभु ने वर्षीदान से याचकों को इच्छानुकूल दान देकर वैशाख कृष्णा चतुर्दशी को रेवती नक्षत्र में एक हजार राजाओं के साथ सम्पूर्ण पापों का परित्याग कर मुनिधर्म की दीक्षा ग्रहण की। उस समय आपके बेले की तपस्या थी।

दीक्षा के बाद दूसरे दिन वर्द्धमानपुर में जाकर प्रभु ने विजय भूप के यहां परमान्न से पारणा किया।

केवलज्ञान

दीक्षित होने के बाद प्रभु तीन वर्ष तक छद्मस्थचर्या से ग्रामानुग्राम विचरते रहे फिर अवसर देख सहस्राम्र वन में पधारे और अशोक वृक्ष के नीचे ध्यानस्थित हो गये। क्षपक-श्रेणी से कषायों का उन्मूलन कर शुक्लध्यान के दूसरे चरण से प्रभु ने घाति-कर्मों का क्षय किया और वैशाख कृष्णा चतुर्दशी को रेवती नक्षत्र में अष्टभक्त-तपस्या से केवलज्ञान की उपलब्धि की।

केवली होकर देव-मानवों की सभा में प्रभु ने धर्म-देशना दी और चतुर्विध संघ की स्थापना कर भाव-तीर्थंकर कहलाये। द्वारिका के पास पहुंचने पर तत्कालीन वासुदेव पुरुषोत्तम ने भी आपका उपदेश-श्रवण किया और सम्यक्त्व-धर्म की प्राप्ति की।

धर्म परिवार

भगवान् अनन्तनाथ के संघ में निम्न धर्म-परिवार था :-

गण एवं गणधर	–	पचास (५०)
केवली	–	पांच हजार (५०००)
मन:पर्यवज्ञानी[1]	–	पांच हजार (५०००)
अवधिज्ञानी	–	चार हजार तीन सौ (४३००)
चौदह पूर्वधारी	–	नौ सौ (९००)
वैक्रिय लब्धिधारी	–	आठ हजार (८०००)
वादी	–	तीन हजार दो सौ (३२००)
साधु	–	छासठ हजार (६६०००)
साध्वी	–	बासठ हजार (६२०००)
श्रावक	–	दो लाख छ हजार (२०६०००)
श्राविका	–	चार लाख चौदह हजार (४१४०००)

[1] हेमचन्द्राचार्य ने त्रि० शलाका पुरुष चरित्र में ४५०० मन:पर्यवज्ञानी लिखे हैं।

राज्य-शासन पर धर्म-प्रभाव

चौदहवें तीर्थंकर भगवान् अनन्तनाथ के समय में भी पुरुषोत्तम नाम के वासुदेव और सुप्रभ नाम के बलदेव हुए।

भगवान् के निर्मल ज्ञान की महिमा से प्रभावित होकर पुरुषोत्तम भी अपने ज्येष्ठ भ्राता के साथ इनके वन्दन को गया और भगवान् की अमृतमयी वाणी से अपने मन को निर्मल कर उसने सम्यक्त्व-धर्म की प्राप्ति की।

बलदेव सुप्रभ ने श्रावक-धर्म ग्रहण किया और भाई की मृत्यु के पश्चात् संसार की मोह-माया से विरक्त हो मुनि-धर्म ग्रहण कर अन्त में मुक्ति-पद प्राप्त किया।

परिनिर्वाण

तीन वर्ष कम सात लाख वर्ष तक केवली पर्याय में विचर कर जब मोक्ष-काल निकट समझा तब प्रभु ने एक हजार साधुओं के साथ एक मास का अनशन किया और चैत्र शुक्ला पंचमी को रेवती नक्षत्र में तीस लाख वर्ष की आयु पूर्ण कर, सकल कर्मों को क्षय कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हुए।

भगवान् श्री धर्मनाथ

भगवान् अनन्तनाथ के पश्चात् पन्द्रहवें तीर्थंकर श्री धर्मनाथ हुए।

पूर्वभव

एक समय धातकीखण्ड के पूर्व-विदेह में स्थित भद्दिलपुर के महाराज सिंहरथ प्रबल पराक्रमी और विशाल साम्राज्य के अधिपति होकर भी धर्म में बड़े दृढ़प्रतिज्ञ थे। नित्यानन्द की खोज में उन्होंने संसार के सभी सुखों को नीरस समझ कर निस्पृह-भाव से इन्द्रिय-सुखों का परित्याग कर विमलवाहन मुनि के पास दुर्लभतम चारित्रधर्म को स्वीकार किया एवं तप-संयम की साधना करते हुए तीर्थंकर-नामकर्म की योग्यता प्राप्त की।

समता को उन्होंने योग की माता और तितिक्षा को जीवन-सहचरी सखी माना। दीर्घकाल की साधना के बाद समाधिपूर्वक आयु पूर्ण कर वे वैजयन्त विमान में अहमिन्द्र रूप से उत्पन्न हुए। यही सिंहरथ का जीव आगे चल कर धर्मनाथ तीर्थंकर हुआ।

जन्म

सिंहरथ का जीव वैजयन्त विमान से च्यवन कर वैशाख शुक्ला सप्तमी[1] को पुष्य नक्षत्र में रत्नपुर के महाप्रतापी महाराज भानु की महारानी सुव्रता के गर्भ में उत्पन्न हुआ। महारानी सुव्रता तीर्थंकर के जन्म-सूचक चौदह महामंगलकारी शुभ-स्वप्न देखकर हर्षविभोर हो गई।

गर्भकाल पूर्ण होने पर माघ शुक्ला तृतीया को पुष्य नक्षत्र के योग में माता सुव्रता ने सुखपूर्वक पुत्ररत्न को जन्म दिया। देवेन्द्रों और महाराज भानु ने बड़े ही हर्षोल्लास के साथ भगवान् धर्मनाथ का जन्म-महोत्सव मनाया।

नामकरण

बारहवें दिन सब लोग नामकरण के लिये एकत्रित हुए। महाराज दृढ़रथ ने सबको संबोधित करते हुए कहा – "बालक के गर्भ में रहते माता को धर्म-साधन के उत्तम दोहद उत्पन्न होते रहे और उसकी भावना सदा धर्ममय रही अतः बालक का नाम धर्मनाथ रखा जाता है।"[2]

---

१ अण्णया वइसाइसुद्धपंचमीए पूसजोगम्मि......वेजयन्तविमाणाओ चविऊण सुव्वयाए कुच्छिसि समुप्पण्णो....... [चउ० म० पु० च०, पृ० १३३]

२ (क) गर्भस्थेऽस्मिन् धर्मविधौ, यन्मातुर्दोहदोऽभवत् ।
तेनास्य धर्म इत्याख्यामकार्षीत् भानुभूपतिः ।। त्रि० ४।५।४६।।

(ख) "भगवम्मि गब्भत्थे' अतीव जणणीए धम्मकरणदोहलो आसि त्ति तओ धम्मो त्ति नामं कयं तिहुयणगुरुणो । च० महा पु० च० पृ० १३३

(ग) अम्मा पितरो सावग धम्मे भुज्जो चुक्के खलंति, उववण्णे दढव्वताणि ।।
[आ. चू., पूर्व. भा., पृ. ११]

विवाह और राज्य

देव-कुमारों के साथ क्रीड़ा करते हुए प्रभु ने शैशवकाल पूर्ण किया। फिर पिता की चिरकालीन अभिलाषा को पूर्ण करने और भोग्य-कर्म को चुकाने के लिये पाणिग्रहण किया।

दो लाख पचास हजार वर्ष के बाद पिता के अनुरोध से आपने राज्यभार ग्रहण किया और पांच लाख वर्ष तक भलीभांति पृथ्वी का पालन करने के पश्चात् आप भोग्य-कर्म को हल्का हुआ जान कर दीक्षा ग्रहण करने को तत्पर हुए।

दीक्षा और पारणा

लोकान्तिक देवों ने प्रार्थना की – "भगवन् ! धर्म-तीर्थ को प्रवृत्त कीजिये।"

उनकी विज्ञप्ति से वर्ष भर तक दान देकर नागदत्ता शिविका से प्रभु नगर के बाहर उद्यान में पहुंचे और एक हजार राजाओं के साथ बेले की तपस्या से माघ शुक्ला त्रयोदशी को पुष्य नक्षत्र में सम्पूर्ण पापों का परित्याग कर आपने दीक्षा ग्रहण की।

दूसरे दिन सौमनस नगर में जाकर धर्मसिंह राजा के यहां प्रभु ने परमान्न से प्रथम पारणा किया। देवों ने पंच-दिव्य बरसा कर दान की महिमा प्रकट की।

केवलज्ञान

विभिन्न प्रकार के तप-नियमों के साथ परीषहों को सहते हुए प्रभु दो वर्ष तक छद्मस्थचर्या से विचरे, फिर दीक्षा-स्थान में पहुंचे और दधिपर्ण वृक्ष के नीचे ध्यानावस्थित हो गये। शुक्लध्यान से क्षपक-श्रेणी का आरोहण करते हुए पौष शुक्ला पूर्णिमा के दिन भगवान् धर्मनाथ ने पुष्य नक्षत्र में ज्ञानावरणादि घाति-कर्मों का सर्वथा क्षय कर केवलज्ञान, केवलदर्शन की प्राप्ति की।

केवली बनकर देवासुर-मनुजों की विशाल सभा में देशना देते हुए प्रभु ने कहा – "मानवों ! बाहरी शत्रुओं से लड़ना छोड़कर अपने अन्तर के विकारों से युद्ध करो। तन, धन और इन्द्रियों का दास बनकर आत्मगुण की हानि करने वाला नादान है। नाशवान् पदार्थों में प्रीति कर अनन्तकाल से भटक रहे हो, अब भी अपने स्वरूप को समझो और भोगों से विरत हो सहजानन्द के भागी बनो।"

प्रभु का इस प्रकार का उपदेश सुनकर हजारों नर-नारियों ने चारित्र-धर्म स्वीकार किया। वासुदेव पुरुषसिंह और बलदेव सुदर्शन भी भगवान् के उपदेश से सम्यग्-दृष्टि बने। चतुर्विध संघ की स्थापना कर प्रभु भाव-तीर्थंकर कहलाये।

भगवान् धर्मनाथ के शासन के तेजस्वी रत्न

भगवान् धर्मनाथ के केवलज्ञान की महिमा सुनकर वासुदेव पुरुषसिंह और बलदेव सुदर्शन भी प्रभावित हुए।

प्रतिवासुदेव निशुंभ को मार कर पुरुषसिंह त्रिखण्डाधिपति बन चुका था। भगवान् के अश्वपुर पधारने पर बलदेव सुदर्शन और पुरुषसिंह भी वंदन को गये। प्रभु की वाणी सुनकर बलदेव व्रतधारी श्रावक बने और पुरुषसिंह वासुदेव सम्यग्दृष्टि।

महारंभी होने से पुरुषसिंह मर कर छट्ठी नरकभूमि में गया और बलदेव भ्रातृवियोग से विरक्त होकर संयमी बन गये। तप-संयम की सम्यग् आराधना कर वे मुक्ति के अधिकारी बने। यह भगवान् धर्मनाथ के उपदेश का ही फल था।

वासुदेव की तरह भगवान् के शासन में चक्रवर्ती भी उनकी उपासना करते। चक्री मघवा और सनत्कुमार जैसे बल-रूप और ऐश्वर्य-सम्पन्न सम्राट् भी त्याग-मार्ग की शरण लेकर मोक्ष-मार्ग के अधिकारी हो गये। ये दोनों चक्रवर्ती पन्द्रहवें तीर्थंकर भगवान् धर्मनाथ और सोलहवें तीर्थंकर भगवान् शान्तिनाथ के अन्तराल-काल में अर्थात् भगवान् धर्मनाथ के शासनकाल में हुए। उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :-

भगवान् धर्मनाथ के पश्चात् तीसरे चक्रवर्ती मघवा हुए। सावत्थी नगरी के महाराज समुद्रविजय की पतिव्रता देवी भद्रा से मघवा का जन्म हुआ, माता ने चौदह शुभ-स्वप्नों में इन्द्र के समान पराक्रमी पुत्र के होने की बात जान कर बालक का नाम मघवा रखा।

समुद्रविजय के बाद वह राज्य का संचालन करने लगे। आयुधशाला में चक्ररत्न के उत्पन्न होने पर षट्खण्ड की साधना कर चक्रवर्ती बने। भोग की विपुल सामग्री पाकर भी आप उसमें आसक्त नहीं हुए अपितु अपनी धर्मकरणी में वृद्धि करते रहे। अन्त में सम्पूर्ण आरम्भ-परिग्रह का त्याग कर चारित्रधर्म स्वीकार किया और समाधिभाव में काल कर तीसरे देवलोक में महर्द्धिक देव हुए।

चौथे चक्रवर्ती सनत्कुमार भी भगवान् धर्मनाथ के शासन में हुए। आप अतिशय रूपवान् और शक्तिसम्पन्न थे। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है :-

जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र में हस्तिनापुर नगर के शासक महाराज अश्वसेन शील, शौर्य आदि गुणसम्पन्न थे। उनकी धर्मशीला रानी सहदेवी की कुक्षि में एक स्वर्गीय जीव उत्पन्न हुआ। महारानी ने चौदह शुभ-स्वप्न देखे और स्वप्नों का शुभ फल जानकर प्रसन्न हुईं एवं समय पर तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। स्वर्ण के समान कान्ति वाले पुत्र को देखकर बालक का नाम सनत्कुमार रखा।

सनत्कुमार ने बड़े होकर विविध कलाओं का ज्ञान प्राप्त किया। उसका एक मित्र महेन्द्रसिंह था जो बहुत ही पराक्रमी और गुणवान् था। एक दिन राजकुमार ने महाराज अश्वसेन को भेंट में प्राप्त हुए उत्तम जाति के घोड़े देखे और उनमें जो सर्वोत्तम घोड़ा था, उसकी लगाम पकड़ कर सनत्कुमार उस पर आरूढ़ हो गया। सनत्कुमार के आरूढ़ होते ही घोड़ा वायुवेग से उड़ता सा बढ़ चला। कुमार ने लगाम खींचकर घोड़े को रोकने का भरसक प्रयत्न किया पर

ज्यों-ज्यों कुमार ने घोड़े को रोकने का प्रयास किया, त्यों-त्यों घोड़े की गति बढ़ती ही गई।

महेन्द्रसिंह आदि सब साथी पीछे रह गये और सनत्कुमार अदृश्य होगया। राजा अश्वसेन, अपने पुत्र सनत्कुमार के अदृश्य होने की बात सुनकर बड़े चिन्तित हुए और स्वयं उसकी खोज करने लगे। आंधी के कारण मार्ग के चरण-चिह्न भी मिट गये थे।

महेन्द्रसिंह ने महाराज अश्वसेन को किसी तरह पीछे लौटाया और स्वयं एकाकी ही कुमार को खोजने की धुन में निकल पड़ा। इस प्रकार खोज करते-करते लगभग एक वर्ष बीत गया पर राजकुमार का कहीं पता नहीं लगा।

सनत्कुमार की खोज में विविध स्थानों और वनों में घूमते-घूमते महेन्द्र-सिंह ने एक दिन किसी एक जंगल में हंस, सारस, मयूरादि पक्षियों की आवाज सुनी और शीतल-सुगन्धित वायु के झोंके उस दिशा से आ आकर उसका स्पर्श करने लगे तो वह कुछ आशान्वित हो उस दिशा की ओर आगे बढ़ा।

कुछ दूर जाकर उसने देखा कि कुछ रमणियां मधुर-ध्वनि के साथ आमोद-प्रमोद कर रही हैं। उन रमणियों के मध्य में एक परिचित युवा को देखकर ज्योंही वह आगे बढ़ा तो अपने चिरप्रतीक्षित सखा सनत्कुमार से उसका साक्षात्कार हो गया। दोनों एक-दूसरे को देखकर हर्षविभोर होगये। पारस्परिक कुशलवृत्त पूछने के पश्चात् महेन्द्र ने सनत्कुमार के साथ बीती सारी बात जाननी चाही। राजकुमार ने कहा—"मैं स्वयं कहूं इसकी अपेक्षा विद्याधर-कन्या वकुलमति से सुनेंगे तो अधिक अच्छा रहेगा।"

वकुलमति ने सनत्कुमार के शौर्य की कहानी सुनाते हुए बताया कि किस प्रकार आर्य-पुत्र ने यक्ष की दानवी शक्तियों से लोहा लेकर विजय पाई और किस प्रकार वे सब उनकी (सनत्कुमार की) अनुचरियां बन गईं।

सनत्कुमार की गौरवगाथा सुनकर महेन्द्रसिंह अत्यन्त प्रसन्न हुआ। तदनन्तर उसने राजकुमार को माता-पिता की स्मृति दिलाई। फलस्वरूप राज-कुमार अपने परिवार-सहित हस्तिनापुर की ओर चल पड़े। कुमार के आगमन का समाचार सुनकर महाराज अश्वसेन के हर्ष का पारावार नहीं रहा, उन्होंने बड़े उत्सव के साथ कुमार का नगर-प्रवेश कराया और पुत्र के शौर्यातिरेक को देखकर उसे राज्य-पद पर अभिषिक्त किया और महेन्द्रसिंह को सेनापति बनाकर स्वयं भगवान् धर्मनाथ के शासन में स्थविर मुनि के पास दीक्षित हो गये।

न्याय-नीति के साथ राज्य का संचालन करते हुए सनत्कुमार की पुण्य-कला चतुर्मुखी हो चमक उठी। उनकी आयुधशाला में चक्ररत्न प्रकट हुआ तब षट्खण्ड की साधना कर उन्होंने चक्रवर्ती-पद प्राप्त किया।

सनत्कुमार की रूपसंपदा इतनी अद्भुत थी कि स्वर्ग में भी उनकी प्रशंसा होने लगी। एक बार सौधर्म देवलोक में दूसरे स्वर्ग का एक देव आया तो उसके

रूप से वहां के सारे देव चकित हो गये। उन्होंने कालान्तर में इन्द्र से पूछा-"इसका रूप इतना अलौकिक कैसे है ?"

इन्द्र ने कहा-"इसने पूर्वजन्म में आयंबिल-वर्द्धमान तप किया था। उसका यह आंशिक फल है।"

देवों ने पूछा-"क्या ऐसा दिव्य रूप कोई मनुष्य भी पा सकता है ?"

इन्द्र ने कहा-"भरतक्षेत्र में सनत्कुमार चक्री ऐसे ही विशिष्ट रूप वाले हैं।"

इन्द्र की बात सब देवों ने मान्य की, पर दो देवों ने नहीं माना। वे ब्राह्मण का रूप बनाकर आये और उन्होंने द्वारपाल से चक्रवर्ती के रूप-दर्शन की उत्कंठा व्यक्त की।

उस समय सनत्कुमार स्नान-पीठ पर खुले बदन नहाने बैठे थे, ब्राह्मणों की प्रबल इच्छा जानकर चक्री ने कहा-"आने दो।" ब्राह्मण आये और सनत्कुमार का रूप-लावण्य देखकर चकित हो गये।

चक्री ने कहा-"अभी क्या देख रहे हो ? स्नान के पश्चात् जब वस्त्राभूषणों से सुसज्जित हो सभा में बैठूं तब देखना।"

ब्राह्मणों ने कहा-"जैसी आज्ञा।"

कुछ ही समय में स्नानादि से निवृत्त हो महाराज कल्पवृक्ष की तरह अलंकृत-विभूषित हो, राजसभा में आये, उस समय उन दोनों ब्राह्मणों को भी बुलाया गया।

ब्राह्मणों ने देखा तो शरीर का रंग बदल गया था। वे मन ही मन खेद करने लगे।

चक्रवर्ती ने पूछा-"चिन्तित क्यों हैं ?"

ब्राह्मण बोले-"राजन् ! शरीरं व्याधिमंदिरं" आपके सुन्दर शरीर में कीड़े उत्पन्न हो गये हैं।"

शरीर की इस नश्वरता से सनत्कुमार संभल गये और विरक्त हो सम्पूर्ण आरंभ-परिग्रह का त्यागकर मुनि बन गये। दीक्षित होकर वे निरन्तर बेले-बेले की तपस्या करने लगे, रोग आदि प्रतिकूल परीषहों में भी विचलित नहीं हुए। दीर्घकाल की इस कठिन तपस्या एवं साधना से उनको अनेक लब्धियां प्राप्त हो गईं।

एक बार पुनः स्वर्ग में उनकी प्रशंसा हुई और देव उनके धैर्य की परीक्षा करने आया।

देव वैद्य का रूप बनाकर आया और आवाज लगाते हुए मुनि के पास से निकला-"लो दवा, लो दवा। रोग मिटाऊं।"

मुनि ने कहा – "वैद्य ! कौनसा रोग मिटाते हो ? भाव-रोग दूर कर सकते हो तो करो, द्रव्य-रोग की क्या चिन्ता, उसकी दवा तो मेरे पास भी है।"

यों कहकर मुनि ने रक्तश्राव से गलित अंगुली के थूक लगाया और तत्काल ही वह अंगुली कंचन के समान हो गई।

देव भी चकित एवं लज्जित हो मुनि के चरणों में नतमस्तक हो बार-बार क्षमायाचना करते हुए अपने स्थान को चला गया।

इस प्रकार जिनेन्द्र भगवान् धर्मनाथ का प्रवचन देश में सर्वत्र जनमानस में घर किये हुए था और सबके लिये आदरणीय बना हुआ था।

महामुनि सनत्कुमार एक लाख वर्ष तक संयम का पालन कर, अन्त समय की आराधना से तीसरे देवलोक में महर्द्धिक देव रूप से उत्पन्न हुए।

धर्म परिवार

भगवान् धर्मनाथ के संघ में निम्न परिवार था :–

गणधर	– तयालीस (४३) अरिष्ट आदि
केवली	– चार हजार पांच सौ (४,५००)
मन:पर्यवज्ञानी	– चार हजार पांच सौ (४,५००)
अवधिज्ञानी	– तीन हजार छः सौ (३,६००)
चौदह पूर्वधारी	– नौ सौ (९००)
वैक्रिय लब्धिधारी	– सात हजार (७,०००)
वादी	– दो हजार आठ सौ (२,८००)
साधु	– चौंसठ हजार (६४,०००)
साध्वी	– बासठ हजार चार सौ (६२,४००)
श्रावक	– दो लाख चवालीस हजार (२,४४,०००)
श्राविका	– चार लाख तेरह हजार (४,१३,०००)

परिनिर्वाण

दो कम ढाई लाख वर्ष तक केवली-पर्याय में विचरकर प्रभु ने लाखों जीवों का उद्धार किया।

फिर प्रभु ने अपना मोक्षकाल निकट देखकर आठ सौ मुनियों के साथ सम्मेत-शिखर पर एक मास का अनशन किया और ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी को पुष्य नक्षत्र में अयोगी-भाव में स्थित हो, सकल कर्मों का क्षय कर दस लाख वर्ष की आयु में सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होकर निर्वाण-पद प्राप्त किया।

भगवान् श्री शान्तिनाथ

भगवान् धर्मनाथ के बाद सोलहवें तीर्थंकर श्री शान्तिनाथ हुए। इनका जीवन बड़ा प्रभावशाली और लोकोपकारी था। इन्होंने अनेक भवों से तीर्थंकर-पद की योग्यता सम्पादित की। इनके श्रीषेण, युगलिक आदि के भवों में से यहां वज्रायुध के भव से संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

पूर्वभव

पूर्व-विदेह के मंगलावती-विजय में रत्नसंचया नाम की नगरी थी। रत्नसंचया के महाराज क्षेमंकर की रानी रत्नमाला से वज्रायुध का जन्म हुआ।

बड़े होने पर लक्ष्मीवती देवी से उनका विवाह हुआ और उससे उत्पन्न संतान का नाम सहस्रायुध रखा गया।

किसी समय स्वर्ग में इन्द्र ने देवगण के समक्ष वज्रायुध के सम्यक्त्व की प्रशंसा की। देवगण द्वारा उसे स्वीकार करने के बाद भी चित्रचूल नाम के एक देव ने कहा, – "मैं परीक्षा के बिना ऐसी बात नहीं मानता।"

ऐसा कहकर वह क्षेमंकर राजा की सभा में आया और बोला – "संसार में आत्मा, परलोक और पुण्य-पाप आदि कुछ नहीं हैं। लोग अन्धविश्वास में व्यर्थ ही कष्ट पाते हैं।"

देव की बात का प्रतिवाद करते हुए वज्रायुध बोला – "आयुष्मन्! आपको जो दिव्य-पद और वैभव मिला है, अवधिज्ञान से देखने पर पता चलेगा कि पूर्व-जन्म में यदि आपने विशिष्ट कर्त्तव्य नहीं किया होता तो यह दिव्य-भव आपको नहीं मिलता। पुण्य-पाप और परलोक नहीं होते तो आपको वर्तमान की ऋद्धि प्राप्त नहीं होती।"

वज्रायुध की बात से देव निरुत्तर हो गया और उसकी दृढ़ता से प्रसन्न होकर बोला – "मैं तुम्हारी दृढ़ सम्यक्त्वनिष्ठा से प्रसन्न हूं, अतः जो चाहो सो मांगो।"

वज्रायुध ने निस्पृहभाव से कहा – 'मैं तो इतना ही चाहता हूं कि तुम सम्यक्त्व का पालन करो।"

वज्रायुध की निःस्वार्थ-वृत्ति से देव बहुत प्रसन्न हुआ और दिव्य-अलंकार भेंट कर वज्रायुध के सम्यक्त्व की प्रशंसा करते हुए चला गया।

किसी समय वज्रायुध के पूर्वभव के शत्रु एक देव ने उनको क्रीड़ा में देख कर ऊपर से पर्वत गिराया और उन्हें नाग-पाश में बांध लिया परन्तु प्रबल-पराक्रमी वज्रायुध ने वज्रऋषभ-नाराच-संहनन के कारण एक ही मुष्टि-प्रहार से पर्वत के टुकड़े-टुकड़े कर दिये और नागपाश को भी तोड़ फेंका।

कालान्तर में राजा क्षेमंकर ने वज्रायुध को राज्य देकर प्रव्रज्या ग्रहण की और केवलज्ञान प्राप्त कर भाव-तीर्थंकर कहलाये। इधर भावी-तीर्थंकर वज्रायुध ने आयुधशाला में चक्र-रत्न के उत्पन्न होने पर छः खण्ड पृथ्वी को जीत कर सार्वभौम सम्राट् का पद प्राप्त किया और सहस्रायुध को युवराज बनाया।

एक बार जब वज्रायुध राज-सभा में बैठे हुए थे कि "बचाओ, बचाओ" की पुकार करता हुआ एक विद्याधर वहां आया और राजा के चरणों में गिर पड़ा।

शरणागत जानकर वज्रायुध ने उसे आश्वस्त किया। कुछ समय बाद ही शस्त्र हाथ में लिये एक विद्याधरदम्पति आया तथा अपने अपराधी को मांगने लगा और कहा – "महाराज! इसने हमारी पुत्री को विद्या-साधन करते समय उठाकर आकाश में ले जाने का अपराध किया है, अतः इसको हमें सौंपिये, हम इसे दण्ड देंगे।"

वज्रायुध ने उनको पूर्वजन्म की बात सुनाकर उपशान्त किया और स्वयं भी पुत्र को राज्य देकर दीक्षा ग्रहण की। वे संयम-साधना के पश्चात् पादोपगमन संथारा कर आयु का अन्त होने पर ग्रैवेयक में देव हुए।

ग्रैवेयक से निकलकर वज्रायुध का जीव पुण्डरीकिणी नगरी के राजा घनरथ के यहां रानी प्रियमती की कुक्षि से पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ। उसका नाम मेघरथ रखा गया।

महाराज घनरथ की दूसरी रानी मनोरमा से दृढ़रथ का जन्म हुआ। युवा होने पर सुमंदिरपुर के राजा की कन्या के साथ मेघरथ का विवाह हुआ। मेघरथ महान् पराक्रमी होकर भी बड़े दयालु और साहसी थे।

महाराज घनरथ ने मेघरथ को राज्य देकर दीक्षा ग्रहण की। मेघरथ राजा बन गया फिर भी धर्म को नहीं भूला। एक दिन व्रत ग्रहण कर वह पौषधशाला में बैठा था कि एक कबूतर आकर उसकी गोद में गिर गया और भय से कंपित हो अभय की याचना करने लगा।[1] राजा ने स्नेहपूर्वक उसकी पीठ पर हाथ फेरा और उसे निर्भय रहने को आश्वस्त किया।

इतने में ही वहां एक बाज आया और राजा से कबूतर की मांग करने लगा। राजा ने शरणागत को लौटाने में अपनी असमर्थता प्रकट की तथा बाज से कहा–"खाने के लिये तू दूसरी वस्तु से भी अपना पेट भर सकता है फिर इसको मार कर क्या पायेगा? इसको भी प्राण अपने समान ही प्रिय हैं।"

इस पर बाज ने कहा – "महाराज! एक को मार कर दूसरे को बचाना, यह कहां का न्याय व धर्म है? कबूतर के ताजे मांस के बिना मैं जीवित नहीं रह सकता, आप धर्मात्मा हैं तो दोनों को बचाइये।"

[1] एयम्मि देसयाले, भीओ पारेवओ थरथरेंतो।
पोसहसालमइगओ, 'रायं! सरणं' ति सरणं ति॥
[वसुदेव हिण्डी, द्वि० खण्ड, पृ. ३३७]

वहां से विहार कर वर्ष भर तक आप विविध प्रकार की तपस्या करते हुए छद्मस्थ-रूप से विचरे।

केवलज्ञान

एक वर्ष बाद फिर हस्तिनापुर के सहस्राम्र उद्यान में आकर आप ध्यानावस्थित हो गये। आपने शुक्लध्यान से क्षपक-श्रेणी का आरोहण कर सम्पूर्ण घाति-कर्मों का क्षय किया और पौष शुक्ला नवमी को भरणी नक्षत्र में केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति की।

केवली होकर प्रभु ने देव-मानवों की विशाल सभा में धर्म-देशना देते हुए समझाया – "संसार के सारभूत षट्-द्रव्यों में आत्मा ही सर्वोच्च और प्रमुख है। जिस कार्य से आत्मा का उत्थान हो वही उत्तम और श्रेयस्कर है। मानव-जन्म पाकर जिसने कल्याण-साधन नहीं किया उसका जीवन अजा-गल-स्तन की तरह व्यर्थ एवं निष्फल है।"

धर्म-देशना सुन कर हजारों नर-नारियों ने संयम-धर्म स्वीकार किया। चतुर्विध-संघ की स्थापना कर प्रभु भाव-तीर्थंकर कहलाये।

धर्म परिवार

भगवान् शान्तिनाथ का धर्म-परिवार निम्न प्रकार था :–

गण एवं गणधर[1]	– छत्तीस (३६)
केवली	– चार हजार तीन सौ (४,३००)
मनःपर्यवज्ञानी	– चार हजार (४,०००)
अवधिज्ञानी	– तीन हजार (३,०००)
चौदह पूर्वधारी	– आठ सौ (८००)
वैक्रिय लब्धिधारी	– छः हजार (६,०००)
वादी	– दो हजार चार सौ (२,४००)
साधु	– बासठ हजार (६२,०००)
साध्वी	– इकसठ हजार छः सौ (६१,६००)
श्रावक	– दो लाख नब्बे हजार (२,९०,०००)
श्राविका	– तीन लाख तिरानवे हजार (३,९३,०००)

परिनिर्वाण

प्रभु ने एक वर्ष कम पचीस हजार वर्ष केवली-पर्याय में विचर कर लाखों लोगों को कल्याण का संदेश दिया। फिर अन्तकाल समीप जानकर उन्होंने नौ सौ साधुओं के साथ एक मास का अनशन किया और ज्येष्ठ कृष्णा त्रयोदशी को भरणी नक्षत्र में चार अघाति-कर्मों का क्षय कर सम्मेत-शिखर पर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होकर निर्वाण-पद प्राप्त किया। आपकी पूर्ण आयु एक लाख वर्ष की थी।

---

[1] (क) आवश्यक नि० दीपिका प्र० भा०, पृ० ६७ (१), गा० २६७
(ख) समवायांग, समवाय ९ में ९० गणधर होने का उल्लेख है।

भगवान् श्री कुंथुनाथ

भगवान् श्री शान्तिनाथ के बाद सत्रहवें तीर्थंकर श्री कुंथुनाथ हुए।

पूर्वभव

पूर्व-विदेह की खड्गी नगरी के महाराज सिंहावह संसार से विरक्ति होने के कारण संवराचार्य के पास दीक्षित हुए और अर्हद्-भक्ति आदि विशिष्ट स्थानों की आराधना कर उन्होंने तीर्थंकर-नामकर्म का उपार्जन किया।

अन्तिम समय में समाधिपूर्वक आयु पूर्ण कर सिंहावह सर्वार्थसिद्ध विमान में अहमिन्द्र रूप से उत्पन्न हुए।

जन्म

सर्वार्थसिद्ध विमान से निकल कर सिंहावह का जीव हस्तिनापुर के महाराज वसु की धर्मपत्नी महारानी श्रीदेवी की कुक्षि में श्रावण बदी नवमी को कृत्तिका नक्षत्र में गर्भरूप से उत्पन्न हुआ। उसी रात्रि को महारानी श्रीदेवी ने सर्वोत्कृष्ट महान् पुरुष के जन्म-सूचक चौदह परम-मंगलप्रदायक-शुभस्वप्न देखे।

गर्भकाल पूर्ण होने पर वैशाख शुक्ला चतुर्दशी को कृत्तिका नक्षत्र में सुखपूर्वक प्रभु ने जन्म धारण किया।

नामकरण

दश दिनों तक जन्म-महोत्सव आमोद-प्रमोद के साथ मनाने के बाद महाराज वसुसेन ने उपस्थित मित्रजनों के समक्ष नामकरण का हेतु प्रस्तुत करते हुए कहा – "गर्भ-समय में बालक की माता ने कुंथु नाम के रत्नों की राशि देखी, अतः बालक का नाम कुंथुनाथ रखा जाता है।"[1]

विवाह और राज्य

बाल्यकाल पूर्ण कर युवावस्था में प्रवेश करने के बाद प्रभु ने भोग्य-कर्म को समाप्त करने के लिये योग्य राज-कन्याओं से पाणिग्रहण किया।

तेईस हजार सात सौ पचास वर्ष के बाद आयुधशाला में चक्ररत्न उत्पन्न होने पर आपने षट्खण्ड-पृथ्वी को जीत कर चक्रवर्ती-पद प्राप्त किया एवं चौदह रत्न, नव-निधान और सहस्रों राजाओं के अधिनायक हुए।

बाईस हजार वर्ष तक माण्डलिक राजा के पद पर रह कर तेईस हजार सात सौ पचास वर्ष तक चक्रवर्ती-पद से राज्य का शासन करते हुए प्रभु समुचित रीति से प्रजा का पालन करते रहे।

[1] भूमिगो य थूभं दट्ठूण जणणी विउद्ध त्ति, गब्भगये य कुंथुसमाणा सेसपडिवक्खा विहुत्ति ताऊणं कुंथु त्ति णामं कयं भयवओ। च. म. पु. च., पृ. १५२

दीक्षा और पारणा

भोग्य-कर्म क्षीण होने पर प्रभु ने दीक्षा ग्रहण करने की इच्छा की। उस समय लोकान्तिक देवों ने आकर प्रार्थना की – "भगवन् ! धर्म-तीर्थ को प्रवृत्त कीजिये।"

एक वर्ष तक याचकों को इच्छानुसार दान देकर आपने वैशाख कृष्णा पंचमी को कृत्तिका नक्षत्र में एक हजार राजाओं के साथ दीक्षार्थ निष्क्रमण किया और सहस्राम्र वन में पहुँचकर छट्ठ-भक्त की तपस्या से सम्पूर्ण पापों का परित्याग कर विधिवत् दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा ग्रहण करते ही आपको मन:पर्यवज्ञान उत्पन्न हो गया।

दूसरे दिन विहार कर प्रभु 'चक्रपुर' नगर में पधारे और राजा व्याघ्रसिंह के यहां प्रथम पारणा ग्रहण किया।

केवलज्ञान

विविध प्रकार की तपस्या करते हुए प्रभु छद्मस्थ-चर्या में सोलह वर्ष तक ग्रामानुग्राम विचरते हुए पुन: सहस्राम्र वन में पधारे और ध्यानस्थित हो गये। शुक्लध्यान के दूसरे चरण में तिलक वृक्ष के नीचे मोह और अज्ञान का सर्वथा नाश कर चैत्र शुक्ला तृतीया के दिन कृत्तिका के योग में प्रभु ने केवलज्ञान की प्राप्ति की।

केवली होकर देव-मानवों की विशाल सभा में श्रुतधर्म-चारित्रधर्म की महिमा बतलाते हुए चतुर्विध-संघ की स्थापना कर आप भाव-तीर्थंकर कहलाये।

धर्म-परिवार

भगवान् कुंथुनाथ के संघ में निम्न धर्म-परिवार था :–

गणधर एवं गण	–	पैंतीस (३५) स्वयम्भू आदि गणधर एवं ३५ ही गण
केवली	–	तीन हजार दो सौ (३२००)
मन:पर्यवज्ञानी	–	तीन हजार तीन सौ चालीस (३३४०)
अवधिज्ञानी	–	दो हजार पांच सौ (२५००)
चौदह पूर्वधारी	–	छः सौ सितर (६७०)
वैक्रियलब्धिधारी	–	पांच हजार एक सौ (५१००)
वादी	–	दो हजार (२०००)
साधु	–	साठ हजार (६००००)
साध्वी	–	साठ हजार छः सौ (६०६००)
श्रावक	–	एक लाख उन्यासी हजार (१७९०००)
श्राविका	–	तीन लाख इक्यासी हजार (३८१०००)

परिनिर्वाण

मोक्षकाल समीप जान कर प्रभु सम्मेतशिखर पधारे। वहां केवलज्ञान के बाद तेईस हजार सात सौ चौंतीस वर्ष बीतने पर एक हजार मुनियों के साथ

एक मास का अनशन किया और वैशाख कृष्णा प्रतिपदा को कृत्तिका नक्षत्र में सम्पूर्ण कर्मों का क्षय कर प्रभु सिद्ध, बुद्ध, एवं मुक्त हुए।

इनकी पूर्ण आयु पिचानवे हजार वर्ष की थी, जिसमें से तेईस हजार सात सौ पचास वर्ष कुमार अवस्था, तेईस हजार सात सौ पचास वर्ष माण्डलिक-पद और उतने ही वर्ष अर्थात् २३ हजार सात सौ पचास वर्ष चक्रवर्ती-पद पर रहे एवं तेईस हजार सात सौ पचास वर्ष संयम का पालन किया।

भगवान् श्री अरनाथ

भगवान् कुंथुनाथ के पश्चात् अठारहवें तीर्थंकर भगवान् अरनाथ हुए।

पूर्वभव

पूर्व-विदेह की सुसीमा नगरी के महाराज धनपति के भव में इन्होंने तीर्थंकर-पद की अर्हता प्राप्त की। धनपति ने अपने नगरवासियों को प्रेमपूर्वक संयम और अनुशासन में रहने की ऐसी शिक्षा दी थी कि उन्हें दण्ड से समझाने की कभी आवश्यकता ही प्रतीत नहीं हुई।

कुछ समय के बाद धनपति ने संसार से विरक्त होकर संवर मुनि के पास संयम-धर्म की दीक्षा ग्रहण की और तप-नियम की साधना करते हुए महिमंडल पर विचरने लगे।

एक बार चातुर्मासी तप के पारणे पर जिनदास सेठ ने मुनि को श्रद्धापूर्वक प्रतिलाभ दिया। इस प्रकार देव, गुरु, धर्म के विनय और तप-नियम की उत्कृष्ट साधना से उन्होंने तीर्थंकर-नामकर्म का उपार्जन किया और अन्त में समाधि-पूर्वक काल कर वे ग्रैवेयक में महर्द्धिक देव-रूप से उत्पन्न हुए।

जन्म

ग्रैवेयक से निकल कर यही धनपति का जीव हस्तिनापुर के महाराज सुदर्शन की रानी महादेवी की कुक्षि में फाल्गुन शुक्ला द्वितीया को गर्भरूप में उत्पन्न हुआ और महारानी ने चौदह शुभ-स्वप्नों को देख कर परम प्रमोद प्राप्त किया।

अनुक्रम से गर्भकाल पूर्ण होने पर मृगशिर शुक्ला दशमी को रेवती नक्षत्र में माता ने सुखपूर्वक कनक-वर्णीय पुत्र-रत्न को जन्म दिया। देव और देवेन्द्रों ने जन्म-महोत्सव मनाया। महाराज सुदर्शन ने भी नगर में बड़े आमोद-प्रमोद के साथ प्रभु का जन्म-महोत्सव मनाया।

नामकरण

गर्भकाल में माता ने बहुमूल्य रत्नमय चक्र के अर को देखा, इसलिये बालक के नामकरण के समय सुदर्शन ने पुत्र का नाम भी उपस्थित मित्रजनों के समक्ष अरनाथ रखा।[1]

विवाह और राज्य

बालक्रीड़ा करते हुए प्रभु द्वितीया के चन्द्र की तरह बड़े हुए। युवावस्था में पिता की आज्ञा से योग्य राजकन्याओं के साथ इनका पाणिग्रहण कराया

[1] पइट्ठावियं से णाम सुमिणंमि महारिहारयणमयारदंसणओ अरो त्ति। [च. पु. च., पृ. १५३]

गया। इक्कीस हजार वर्ष बीत जाने पर राजा सुदर्शन ने कुमार को राज्य-पद पर अभिषिक्त किया। इक्कीस हजार वर्ष तक माण्डलिक राजा के रूप में रहे और फिर आयुधशाला में चक्ररत्न उत्पन्न हो जाने पर प्रभु देश-विजय को निकले और षट्खण्ड-पृथ्वी को जीत कर चक्रवर्ती बन गये। इक्कीस हजार वर्ष तक चक्रवर्ती के पद से आपने जनपद का शासन कर देश में सुख, शान्ति सुशिक्षा और समृद्धि की वृद्धि की।

दीक्षा और पारणा

भोग-काल के बाद जब उदय-कर्म का जोर कम हुआ तब प्रभु ने राज्य-वैभव का त्याग कर संयम-साधना की इच्छा व्यक्त की। लोकान्तिक देवों ने आकर नियमानुसार प्रभु से प्रार्थना की और अरविन्दकुमार को राज्य देकर आप वर्षीदान में प्रवृत्त हुए तथा याचकों को इच्छित-दान देकर हजार राजाओं के साथ बड़े समारोह से दीक्षार्थ निकल पड़े।

सहस्राम्र वन में आकर मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी को रेवती नक्षत्र में छट्ठभक्त-बेले की तपस्या से सम्पूर्ण पापों का परित्याग कर प्रभु ने विधिवत् दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा ग्रहण करते ही आपको मनःपर्यवज्ञान उत्पन्न हुआ।

फिर दूसरे दिन राजपुर नगर में अपराजित राजा के यहां प्रभु ने परमान्न से पारणा ग्रहण किया।

केवलज्ञान

वहां से विहार कर विविध अभिग्रहों को धारण करते हुए तीन वर्ष तक प्रभु छद्मस्थ-विहार से विचरे।[1] वे निद्रा-प्रमाद का सर्वथा वर्जन करते हुए ध्यान की साधना करते रहे। विहारक्रम से प्रभु सहस्राम्र वन आये और आम्र-वृक्ष के नीचे ध्यानावस्थित हो गये। कार्तिक शुक्ला द्वादशी को रेवती नक्षत्र के योग में शुक्लध्यान से क्षपक-श्रेणी का आरोहण कर आठवें, नवमें, दशवें और बारहवें गुणस्थान को प्राप्त किया और घाति-कर्मों का सर्वथा क्षय कर आपने केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति की।

केवली होकर प्रभु ने देवासुर-मानवों की विशाल सभा में धर्म-देशना देकर चतुर्विध-संघ की स्थापना की और भाव-तीर्थंकर एवं भाव-अरिहंत कहलाये। भाव-अरिहन्त अठारह दोषों से रहित होते हैं। जो इस प्रकार हैं :–

१. ज्ञानावरण कर्मजन्य अज्ञान-दोष	८. रति
२. दर्शनावरण कर्मजन्य निद्रा-दोष	९. अरति-खेद
३. मोहकर्मजन्य मिथ्यात्व-दोष	१०. भय
४. अविरति-दोष	११. शोक-चिन्ता
५. राग	१२. दुगुन्छा
६. द्वेष	१३. काम
७. हास्य	

[1] आवश्यक में छद्मस्थकाल तीन अहोरात्र का माना है। सम्पादक

(१४ से १८) अन्तरायजन्य दानान्तराय आदि पांच अन्तराय-दोषों को मिलाने से अठारह।

कुछ लोग अठारह दोषों में आहार-दोष को भी गिनते हैं पर आहार शरीर का दोष है अतः आत्मिक दोषों में उसकी गणना उचित प्रतीत नहीं होती। उससे केवलज्ञान की प्राप्ति में अवरोध नहीं होता। अरिहन्त बन जाने पर तीर्थंकर प्रभु ज्ञानादि अनन्त-चतुष्टय और अष्ट-महाप्रातिहार्य के धारक होते हैं।

धर्म-परिवार

आपके संघ में निम्न धर्म-परिवार था :–

गणधर एवं गण	–	कुंभजी आदि तेंतीस (३३) गणधर एवं तेंतीस (३३) ही गण
केवली	–	दो हजार आठ सौ (२८००)
मनःपर्यवज्ञानी	–	दो हजार पांच सौ इक्यावन (२५५१)
अवधिज्ञानी	–	दो हजार छः सौ (२६००)
चौदह पूर्वधारी	–	छः सौ दस (६१०)
वैक्रिय लब्धिधारी	–	सात हजार तीन सौ (७३००)
वादी	–	एक हजार छः सौ (१६००)
साधु	–	पचास हजार (५००००)
साध्वी	–	साठ हजार (६००००)
श्रावक	–	एक लाख चौरासी हजार (१८४०००)
श्राविका	–	तीन लाख बहत्तर हजार (३७२०००)

परिनिर्वाण

तीन कम इक्कीस हजार वर्ष केवली-चर्या से विचर कर जब आपको अपना मोक्षकाल समीप प्रतीत हुआ तो एक हजार मुनियों के साथ सम्मेतशिखर पर प्रभु ने एक मास का अनशन ग्रहण किया और अन्त समय में शैलेशी दशा को प्राप्त कर चार अघाति-कर्मों का सर्वथा क्षय कर मार्गशीर्ष शुक्ला दशमी को रेवती नक्षत्र के योग में चौरासी हजार वर्ष की आयु पूर्ण कर प्रभु सिद्ध, बुद्ध एवं मुक्त हुए अर्थात् शरीर त्याग निरञ्जन-निराकार-सिद्ध बन गये।

भगवान् श्री मल्लिनाथ

भगवान् अरनाथ के पश्चात् उन्नीसवें तीर्थंकर श्री मल्लिनाथ हुए।

पूर्वभव

विदेह क्षेत्र के सलिलावती-विजय में महाबल मुनि के भव में इन्होंने तीर्थंकर-पद की योग्यता अर्जित की।

महाबल, वीतशोका नगरी के न्यायप्रिय प्रतापी राजा वल के पुत्र थे। इनकी माता का नाम धारिणी था। जव महाबल युवा हुए तो पांच सौ राज-कन्याओं के साथ इनका पाणिग्रहण करवाया गया। कमलश्री से इनके एक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम वलभद्र रखा गया।

किसी समय धर्मघोष नाम के महामुनि अपनी शिष्यमंडली सहित वीतशोका नगरी में पधारे। महाराज बल उन्हें वन्दन करने गये और उनका उपदेश श्रवण कर वे सांसारिक प्रपंच से विरक्त हो गये। महाबल को राज्य-पद पर अभिषिक्त कर उन्होंने प्रव्रज्या ग्रहण कर ली।

महावल सुख से राज्य-संचालन करने लगे। उनके (१) अचल, (२) धरण, (३) पूरण, (४) वसु, (५) वैश्रवण और (६) अभिचन्द्र नाम के छह वाल-मित्र थे। इनकी मित्रता इतनी प्रगाढ़ थी कि वे हर कार्य साथ-साथ करते। इनकी भावना बनी रहती कि हमारी यह मित्रता इस जीवन के बाद भी बनी रहे।

महाराज महाबल राज-काज चलाते हुए भी मन से उसके प्रति निर्लेप बने रहे। वे अपने पुत्र कुंवर बलभद्र को युवराज-पद देकर अपने छः मित्रों के साथ नित्य धर्माचरण में लीन रहते।

एक बार वीतशोका नगरी में धर्मघोष नाम के मुनि फिर पधारे। उनका उपदेश सुनकर महाबल विरक्त हुए और उन्होंने अपने मित्रों के समक्ष दीक्षा धारण करने की भावना प्रकट की। मित्रों ने संयम में सहर्ष साथ देने की सहमति प्रकट करते हुए कहा – "मित्र ! तुम हमारे आधार हो। जब तुम ही न रहोगे तब फिर हम संसार में रह कर क्या करेंगे ? साधना में भी हम एक दूसरे के साथी वन कर रहेंगे।" इस विचार के साथ सभी अपना-अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर सहज-भाव से प्रव्रजित हो गये।

दीक्षित होने के बाद सातों मित्र तप-संयम से आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे। एक समय सबने मिल कर यह संकल्प किया कि हम सब एक ही तपस्या करेंगे[1] ताकि हमारा साथ आगे के जीवन में भी इसी प्रकार बना रहे।

[1] जं णं अम्हं देवाणुप्पिया ! एगं तवोकम्मं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ। ज्ञाता० ८

नियमानुकूल सबने एक लक्ष्य से एक सी तपस्या प्रारम्भ कर दी, पर महाबल मुनि के मन में ज्येष्ठ बने रहने की लालसा से अधिक तप करने की भावना रही। फलतः पारणे के दिन वे अपनी तपस्या को आगे बढ़ा देते और उस दिन पारणा नहीं करते।

इस प्रकार छद्मपूर्वक तप करने से उन्होंने स्त्रीवेद का और वीस स्थानों की आराधना करने से तीर्थंकर-नामकर्म का बन्ध किया। लघुसिंह-क्रीड़ित, महासिंह-क्रीड़ित आदि विविध प्रकार की तपस्या करते हुए चौरासी लाख पूर्व की आयु में चौरासी हजार वर्ष का संयम पालन कर सातों मुनियों ने अनशन-पूर्वक काल-धर्म प्राप्त किया और वे सभी वैजयन्त विमान में अहमिन्द्र के रूप में उत्पन्न हुए।

जन्म

फाल्गुन शुक्ला चतुर्थी[1] के दिन अश्विनी नक्षत्र में महाबल का जीव अनुत्तर विमान से च्यव कर मिथिला के राजा इक्ष्वाकु-वंशीय महाराज कुंभ की महारानी प्रभावती की कुक्षि में गर्भ-रूप से उत्पन्न हुआ। फिर माता ने उसी रात चौदह शुभ-स्वप्न भी देखे। तीन मास बीतने पर प्रभावती को दोहद उत्पन्न हुआ कि वे माताएं धन्य हैं, जो पंचवर्ण-पुष्पों की शय्या[2] में शयन करतीं और पाटल, चम्पा आदि फूलों के गुच्छे को सूंघती हुई विचरण करती हैं।

समीपस्थ व्यन्तर देवों ने माता के दोहद को पूर्ण किया। महारानी प्रभावती ने सुखपूर्वक गर्भकाल पूर्ण कर नव मास और साढे सात रात्रि के पश्चात् मृगशिर शुक्ला एकादशी को अश्विनी नक्षत्र के शुभ योग में उन्नीसवें तीर्थंकर को पुत्री रूप से जन्म दिया।

दिगम्बर परम्परा मल्लिनाथ का स्त्री-रूप से उत्पन्न होना नहीं मानती।

नामकरण

माता को गर्भकाल में पुष्प शय्या पर सोने का दोहद हुआ और देवों द्वारा उसकी पूर्ति की गई। अतएव नामकरण के समय महाराज कुंभ ने विचार किया कि इसका नाम 'मल्ली' रखा जाय।[3] विशिष्ट ज्ञान की धारिका होने से लोग इन्हें 'मल्ली भगवती' कहने लगे।

अलौकिक सौन्दर्य की ख्याति

कालान्तर में मल्लीकुमारी बाल्यभाव से मुक्त हुईं।[4] उनके रूप-लावण्य और गुणादि की उत्कृष्टता की चहुं ओर ख्याति फैलने लगी। जब उन्होंने सौ

---

[1] फग्गुण सुद्धस्स चउत्थि पक्खेणं जयंताओ विमाणाओ .... ज्ञाता. अ., ८।६५

[2] पभावती देवी जल-थलय जाव मल्लेणं डोहलं विणेति...वही, अ. ८। सू. ६५

[3] जम्हाणं अम्हे इमीए दारियाए माउए मल्लसयणिज्जंसि डोहले विणीते तं होउणं नामेणं मल्ली। ज्ञा., अ. ८ सू. ६६

[4] तएणं सा मल्ली विदेह रायवर [illegible] जाव. । तएणं सा मल्ली देसूण वाससय जाया ते छप्पि रायाणो...[ज्ञा. धर्म क. श्रु १ अ. ८]

से कुछ कम वर्ष की अवस्था प्राप्त की तो अवधिज्ञान से वे अपने पूर्वभव के उन छः मित्रों को जानने लगीं जो विभिन्न राज्यों के राजा बन गये थे ।

राजाओं के मोहभाव को उपशम करने के लिये उन्होंने उपाय सोचा और आज्ञाकारी पुरुषों को बुला कर एक मोहन-घर बनाने की आज्ञा दी । उसके मध्य में मणिमय पीठिका पर अपने ही समान रूव-लावण्यमयी सुवर्णमय-पुतलिका बनवाई और भोजनोपरान्त एक-एक पिंड उस पुतली में डालने की व्यवस्था की ।

एक बार साकेतपुर में प्रतिबुद्ध राजा ने रानी पद्मावती के लिये नागघर के यात्रा-महोत्सव की घोषणा की, मालाकारों को अच्छे से अच्छा माल्य-गुच्छ बनाने का आदेश दिया । जब राजा और रानी नागघर में आये और नाग-प्रतिमा को वन्दन किया उस समय मालाकारों द्वारा प्रस्तुत एक श्रीदाम के दड़े को राजा ने देखा और विस्मित होकर अपने सुबुद्धि नामक प्रधान से बोले – "देवानुप्रिय ! तुम राजकार्य से बहुत से ग्राम-नगरों में घूमते हो, राजाओं के भवनों में भी प्रवेश करते हो, क्या तुमने ऐसा मनोहर श्रीदामगंड (पुष्पगुच्छ) कहीं अन्यत्र भी देखा है ?"

सुबुद्धि ने कहा – "महाराज ! मैं आपका संदेश लेकर एक बार मिथिला गया था । वहां महाराज कुंभ की पुत्री मल्ली के वार्षिक-महोत्सव पर जो दिव्य श्रीदामगंड मैंने देखा उसके सामने देवी पद्मावती का यह श्रीदामगंड लक्षांश भी नहीं है । उसने मल्ली के सौन्दर्य का आश्चर्यजनक परिचय दिया जिसे सुनकर महाराज प्रतिबुद्ध मल्लीकुमारी पर मुग्ध हो गये ।

मल्ली के सौन्दर्य की ख्याति अंग देश में भी फैली । चम्पा नगरी के महाराज चन्द्रछाग ने उपासक अर्हन्नक से पूछा – "देवानुप्रिय ! तुम बहुत से ग्राम-नगरों में घूमते हो, कहीं कोई आश्चर्यकारी वस्तु देखी हो तो बताओ ।"

अर्हन्नक ने कहा – "स्वामिन् ! हम चम्पा के ही निवासी हैं । यात्रा के सन्दर्भ में मैं एक बार मिथिला गया और वहां के महाराज कुंभ को मैंने दिव्य कुंडल-युगल भेंट किया । उस समय कुण्डल पहने उनकी पुत्री मल्लीकुमारी को देखा, उनका रूप अतीव आश्चर्यकारी है, वैसी सुन्दर कोई देवकन्या भी नहीं होंगी ।"

यह सुन कर महाराज चन्द्रछाग भी तत्काल सुनने मात्र से ही मल्ली के रूप-लावण्य पर विमुग्ध हो गये ।

कुणाला-जनपद में भी मल्ली के सौन्दर्य की घर-घर चर्चा होने लगी । सावत्थी में कुणालाधिपति महाराज 'रुप्पी' का शासन था । उनकी पुत्री, महारानी धारिणी की सुता सुबाहु बड़ी रूपवती थी । एक बार कन्या का चातुर्मासिक-मज्जन का महोत्सव था । उस समय राजा ने सुवर्णकार-मण्डल को आदेश दिया कि राजमार्ग में पुष्प-मंडप की रचना कर उसमें पंचवर्ण के फूलों से नगरी की रचना करो । आज्ञानुसार नगरी का आलेखन हो जाने पर राजा ने कन्या को पट्ट पर निठला कर सुवर्ण-रौप्यमय कलशों से स्नान कराया, फिर वस्त्राभूषणों से

सज्जित हो कन्या पितृवन्दन को आई तो राजा उसके रूप-लावण्य को देखकर विस्मित हो गया। वर्षधर पुरुषों को बुलाकर राजा ने पूछा – "तुमने कहीं सुबाहु कन्या के समान रूप-लावण्य अन्य किसी कन्या का देखा है ?"

एक वर्षधर पुरुष ने कहा – "महाराज ! एक बार हम राजकार्य से मिथिला गये थे, वहां महाराज कुंभ की पुत्री मल्ली का मज्जन देखा, उसके सम्मुख यह सुबाहु का मज्जन लाखवें भाग भी नहीं है।"

यह सुनकर कुणालाधिपति का गर्व गल गया और वे मल्ली के सौन्दर्य-दर्शन के लिये अत्यन्त व्यग्र और लालायित हो गये।

काशी प्रदेश के महाराज शंख तक भी मल्ली के सौन्दर्य की ख्याति पहुंची। एक बार मिथिला के स्वर्णकार, दिव्य कुंडल-युगल की संधि नहीं जोड़ सकने के कारण निर्वासित कर दिये गये।

वे स्वर्णकार काशीनरेश शंख के पास पहुंचे और उनकी छत्रछाया में सुख से रहने की उन्होंने इच्छा अभिव्यक्त की। काशीपति ने उन्हें निर्वासित करने का कारण पूछा और महाराज कुंभ की पुत्री मल्ली के सौन्दर्य के सम्बन्ध में स्वर्णकारों से जानकारी चाही। स्वर्णकारों ने अवसर देख कर कह डाला- "महाराज ! कोई देवकन्या भी मल्ली जैसी सुन्दर नहीं होगी, वे उत्कृष्ट और अलौकिक कान्तिवाली हैं।" यह सुनकर महाराज शंख भी मल्ली के सौन्दर्य पर मुग्ध हो गये।

मल्ली के अनुपम सौन्दर्य की सौरभ फैलते फैलते कुरु देश तक भी पहुंच गई। मल्ली के कनिष्ठ भाई मल्लदिन्न कुमार ने एक बार अपने प्रमर्द-वन में चित्रकारों द्वारा चित्रसभा की रचना करवाई। जब राजकुमार चित्रसभा देखने गये तो वहां एक चित्र को देखकर स्तंभित हो गये। एक चित्रकार ने मल्ली के पैर का अंगूठा देख रखा था, उसी के आधार पर उस चित्रकलाविशारद ने अपनी योग्यता से अंगूठे के अनुसार मल्ली के शरीर का पूरा चित्र खींच लिया।

मल्लदिन्नकुमार ने जब उस चित्र को देखा तो यह सोचकर कि यह मल्ली विदेह-राजकन्या है, वे लज्जित हो गये, ज्येष्ठ भगिनी के संकोच से पीछे हट गये। जब उन्हें धाई-मां से यह मालूम हुआ कि यह मल्ली नहीं, किन्तु चित्रकार द्वारा आलिखित उनका चित्र है तो वे बड़े क्रुद्ध हुए और चित्रकार को प्राणदंड देने की आज्ञा दे दी। जनता और चित्रकार-मंडल की प्रार्थना पर उसे अंगुष्ठ-छेदन का दण्ड देकर निर्वासित कर दिया। वह चित्रकार कुरु-नरेश के पास पहुंचा और उन्हें मल्ली का चित्र भेंट किया। चित्रपट को देख और मल्ली के रूप की प्रशंसा सुन कर कुरुराज भी मल्ली पर मुग्ध हो गये तथा उसकी प्राप्ति के लिये लालायित रहने लगे।

अन्यान्य देशों की तरह पंचाल-पंजाब में भी मल्ली के रूप-सौन्दर्य की चर्चा होने लगी। किसी समय चोखा नाम की एक परिव्राजिका भ्रमण करती हुई

ख्याति]

मिथिला में आईं। वह वेद-वेदांग की ज्ञाता और बड़ी कुशल थीं। कुछ परिव्राजिकाओं के साथ वह कुंभ राजा के भवन में पहुंचीं और भूमि को जल से शुद्ध कर दर्भासन पर विराजमान हो गईं।

धर्म-चर्चा के प्रसंग में राजकुमारी मल्ली ने उससे पूछा – "चोखे ! धर्म का मूल क्या है ?"

चोखा ने उत्तर में कहा – "हम शुचिमूल धर्म कहते हैं। जहां कुछ अशुचि होती है, उसका जल और मिट्टी से शोधन कर हम निर्विघ्न स्वर्ग के अधिकारी होते हैं।"

मल्ली ने पूछा – "क्या रुधिर से लिप्त वस्त्र को कोई रुधिर से धोकर शुद्ध करे तो शुद्धि होगी ?"

"नहीं"।

"फिर हिंसा आदि पापों से मलिन आत्मा हिंसा से शुद्ध कैसे हो सकती है ?"

चोखा मल्ली की वार्ता का समुचित उत्तर नहीं दे सकने के कारण लज्जित हो गई और उसने प्रतिशोध की भावना से कम्पिलपुर पहुंच कर जितशत्रु महाराज के समक्ष मल्ली के सौन्दर्य की चर्चा की। इस प्रकार मल्ली के सौन्दर्य की चर्चा समग्र देश में चारों ओर फैल चुकी थी।

विवाह प्रसंग और प्रतिबोध

जब मल्ली के रूप-लावण्य और तेजस्विता की चर्चा चारों ओर फैल गई तो अनेक देशों के बड़े-बड़े महिपाल मल्ली पर मुग्ध हो उसे अपनी बनाने के लिये पूर्ण प्रयास करने लगे और जिस प्रकार सुगन्धित पुष्प पर भौंरे मंडराते हैं उसी तरह अनेकों राजाओं और महाराजाओं के राजदूत मल्ली को अपने राज्य की राजमहिषी बनाने के लिये मिथिला नगरी में मंडराने लगे।

महाराज कुंभ इससे कुछ अनिष्ट की आशंका लिये चिन्तित रहने लगे। जब मल्ली के पूर्वभव के छह मित्रों ने भी, जो कि विभिन्न राज्यों के स्वामी थे, मल्ली भगवती के अनुपम सौन्दर्य की महिमा सुनी तो पूर्व-स्नेह से आकर्षित होकर उन्होंने भी मल्ली की याचना के लिये महाराज कुंभ के पास अपने-अपने दूत भेजे।

कुंभ द्वारा मांग स्वीकृत नहीं होने पर छहों भूपतियों ने अपनी सेनाएं लेकर मिथिला पर चढ़ाई करदी और शक्ति के बल पर मल्ली को वरण करने की सोचने लगे।

महाराज कुंभ छहों राजाओं से एक साथ मुकाबला करने में अपने को असमर्थ समझ चिन्तित हो रहे थे फिर भी किलाबन्दी कर युद्ध की तैयारी करने लगे।

चरण-वंदन के लिये आई हुई मल्ली भगवती ने जब पिता-श्री को चिन्तित देखा और चिन्ता का कारण जाना तो विनयपूर्वक कहने लगीं – "महाराज ! आप किंचित् मात्र भी चिन्तित न हों, मैं सारी समस्या को ठीक ढंग से हल कर लूंगी। आप छहों राजाओं को दूत द्वारा अलग-अलग रूप में आने को निमन्त्रित कर दीजिये।"

मल्ली भगवती की योग्यता, बुद्धिमत्ता और नीति-परायणता से प्रभावित एवं आश्वस्त होकर महाराज ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर छहों राजाओं को पृथक्-पृथक् आने का सन्देश भिजवा दिया।

संदेश के अनुसार छहों राजा मिथिला पहुंचे। वहां उन्हें अलग-अलग बने हुए प्रवेशद्वारों से प्रवेश कराकर पूर्वनिर्मित मोहनघर में ठहराया गया। उनमें एक साकेतपुरी के राजा प्रतिबुद्ध, दूसरे चम्पा के चन्द्रछाग, तीसरे कुणाला के रुक्मी, चौथे वाराणसी के शंख, पांचवें हस्तिनापुर के अदीनशत्रु और छठे कम्पिलपुर के जितशत्रु महाराज थे। ये सब अपने लिये निर्दिष्ट अलग २ प्रकोष्ठों में पहुंच कर अशोकवाटिका-स्थित सुवर्ण पुतली को, जो कि पूर्णरूपेण मल्ली की आकृति के अनुरूप बनाई गयी थी, निहारने लगे। प्रकोष्ठों की रचना कुछ इस कलात्मक ढंग से की गई थी कि एक दूसरे को बिना देखे वे छहों राजा मल्ली भगवती के रूप को देख सकें।

भगवती मल्ली ने जब भूपतियों को रूपदर्शन में तन्मय देखा तो पुतली पर का ढक्कन हटा लिया। ढक्कन हटते ही चिरसंचित अन्न की दुर्गन्ध चारों ओर फैल गई और सब भूपति नाक बन्द कर इधर-उधर भागने की चेष्टा करने लगे।

उस समय अवसर देख कर मल्ली भगवती ने राजाओं को सम्बोधित करते हुए कहा – "भूपतियों ! आप किस पर मुग्ध हो रहे हो ? इस पुतली में डाला गया एक ग्रास भी कुछ दिनों में सड़ कर आप सबको असह्य पीड़ाकारक लग रहा है तब मनुष्य के मलमूत्रमय तन में कैसा भंडार भरा होगा और वह कितना दुखदायी होगा ? यह शरीर कितना घृणित और निस्सार है ? क्षण भर आप इस पर विचार कीजिये। ज्ञानी पुरुष तन के रूप-रंग में न लुभाकर भीतर के आत्मदेव से प्रीति करते हैं, वही प्रेम वास्तविक प्रेम है। आप लोगों को मेरे प्रति इतनी अधिक प्रीति क्यों है ? इसको भी सोचिये।"

"हम लोग पूर्व के तीसरे भव में परस्पर मित्र थे। आप सबने मेरे साथ दीक्षा ली थी, हम सबकी साधना भी एक साथ हुई थी परन्तु कर्म अवशेष रहने से हमको देवगति का भव करना पड़ा। मैंने कपट के कारण स्त्री-शरीर प्राप्त किया है। अच्छा हो, इस बार हम सब अपनी प्रबल साधना द्वारा रही-सही कमी को भी दूर कर पूर्णता को प्राप्त करलें और फिर हम सबका अखण्ड साथ बना रहे।"

मल्ली भगवती के इन उद्‌बोधक वचनों से राजाओं को जाति-स्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ एवं इस ज्ञान से उन्होंने अपने २ पूर्वभवों को जाना। अपने २ पूर्वभवों को जान लेने से उन सबको प्रभु के वचनों पर परम श्रद्धा हुई और वे विनयपूर्वक बोले – "भगवति ! आपने हम सबकी आंखें खोल दी हैं। अब आज्ञा दीजिये कि हम सब अपने अनादिकालीन बन्धनों को काटने में अग्रसर हो सकें।"

इस प्रकार हर्षित मन से छहों राजा दीक्षा लेने के पहले अपने-अपने राज्य की व्यवस्था करने हेतु अपने-अपने राज्य को लौट गये।

दीक्षा और पारणा

इधर छहों राजाओं को प्रतिबोध देकर मल्ली भगवती ने भी दीक्षा ग्रहण करने की भावना व्यक्त की। लोकान्तिक देवों की प्रार्थना के पश्चात् आपने वर्ष भर याचकों को इच्छित दान दिया और माता-पिता से अनुमति लेकर पौष शुक्ला एकादशी[1] को अश्विनी नक्षत्र में अष्टमभक्त-तप से सौ वर्ष की आयु में सम्पूर्ण सावद्य कर्मों का परित्याग कर मुनि दीक्षा ग्रहण की।

आपके साथ तीन सौ स्त्रियों (आभ्यंतर परिषद्) और तीन सौ राज-पुरुषों[2] (बाह्य परिषद्) ने संयम ग्रहण किया।

ज्ञाता सूत्र में संयम ग्रहण करने वाले आठ अन्य ज्ञात-कुमारों के नाम उपलब्ध होते हैं जो इस प्रकार हैं :–

(१) नंद
(२) नंदमित्र
(३) सुमित्र
(४) बलमित्र
(५) भानुमित्र
(६) अमरपति
(७) अमरसेन
(८) महासेन

संभव है पूर्वभव के छह मित्र-राजाओं से भिन्न ये कोई अन्य राजा या राजकुमार हों। देवेन्द्रों और नरेन्द्रों ने बड़े ठाट से दीक्षा का महोत्सव सम्पन्न किया।[3]

प्रभु का प्रथम पारणा मिथिला के महाराज विश्वसेन के यहां सम्पन्न हुआ।

केवलज्ञान

दीक्षा ग्रहण करते ही भगवती मल्ली ने मनःपर्यवज्ञान प्राप्त किया और

---

[1] त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र के अनुसार मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी को षष्टभक्त से दीक्षा ग्रहण की।
[2] (क) ज्ञाता. १–८
(ख) चौवीस तीर्थंकर चरित्र (हिन्दी) में एक हजार पुरुष और तीन सौ स्त्रियों के साथ दीक्षित होना लिखा है, जो भ्रांत प्रतीत होता है।
[3] विशेष जानकारी के लिये ज्ञाता सूत्र का आठवां अध्याय देखें।

जिस दिन दीक्षित हुईं उसी दिवस के पश्चिम भाग में[1] अशोक वृक्ष के नीचे पृथ्वी-शिला-पट्ट पर सुखासन से ध्यानस्थित हो गईं वे। शुभ परिणाम, प्रशस्त अध्यवसाय और विशुद्ध लेश्याओं के द्वारा कर्मों के सम्पूर्ण आवरणों को क्षय करने वाले अपूर्वकरण में प्रविष्ट हुईं और उन्होंने अल्प समय में ही अष्टम, नवम, दशम और द्वादश गुणस्थान को पार कर मृगशिर शुक्ला एकादशी को ही अनन्तज्ञान-केवलज्ञान और केवलदर्शन को प्राप्त कर लिया।

अन्य तीर्थंकरों से आपकी यह विशिष्टता रही कि आपने जिस दिन दीक्षा ग्रहण की उसी दिन केवलज्ञान की भी उपलब्धि करली। आपका प्रथम पारणा भी केवलज्ञान में ही हुआ।

केवली बन कर मल्ली भगवती ने देवों और मानवों की महती परिषद् में महाराज कुंभ और जितशत्रु आदि को धर्मदेशना सुनाई।

उपदेश सुन कर महाराज कुंभ और प्रभावती ने श्रावक-धर्म ग्रहण किया और जितशत्रु आदि छः राजाओं ने मुनि-दीक्षा ग्रहण की।

चतुर्विध-संघ की स्थापना कर आप भी भाव-तीर्थंकर कहलाये। आपने ५५ हजार वर्षों तक अनेकों ग्रामों और नगरों में घूम-घूम कर धर्म का उपदेश दिया। आपके समवसरण में साध्वियों का अग्रस्थान माना गया है, क्योंकि उन्हें आभ्यंतर परिषद् में गिना गया है।

धर्म-परिवार

आपके संघ में निम्न धर्म-परिवार था :—

गण एवं गणधर	— अट्ठाईस (२८) गण एवं अट्ठाईस (२८) ही गणधर।
केवली	— तीन हजार दो सौ (३२००)
मनःपर्यवज्ञानी	— आठ सौ (८००)
अवधिज्ञानी	— दो हजार (२०००)
चौदह पूर्वधारी	— छः सौ चौदह (६१४)
वैक्रिय लब्धिधारी	— तीन हजार पांच सौ (३५००)
वादी	— एक हजार चार सौ (१४००)
साधु	— चालीस हजार (४००००)

[1] आवश्यक निर्युक्ति और सत्तरिसय द्वार में भ. मल्लिनाथ का छद्मस्थकाल एक अहोरात्र माना गया है पर "ज्ञाता धर्मकथा" सूत्र में उसी दिन केवलज्ञान-प्राप्ति का उल्लेख होने से उस ही को मान्य किया है। यथा :—

"जं चेव दिवसं पव्वइये तस्सेव दिवसस्स पुव्वावरह्णकाल समयंसि...केवल वर नाणदंसणे समुप्पन्ने।" [ज्ञाता., श्रु. १, अ. ८, सू. ८४]

अनुत्तरोपपातिक मुनि[1]	– दो हजार (२०००)
साध्वी	– पचपन हजार (५५०००) बन्धुमति आदि
श्रावक	– एक लाख चौरासी हजार (१८४०००)
श्राविका[2]	– तीन लाख पैंसठ हजार (३६५०००)

परिनिर्वाण

भगवान् श्री मल्लिनाथ ने १०० (सौ) वर्ष गृहवास में रहकर, सौ वर्ष कम पचपन हजार वर्ष केवली पर्याय का पालन कर ग्रीष्मकाल के प्रथम मास चैत्र शुक्ला चतुर्थी को भरणी नक्षत्र में अर्धरात्रि के समय पांच सौ आर्यिकाओं और पांच सौ बाह्य-परिषद् के साधुओं सहित संथारा पूर्ण कर चार अघाति-कर्मों का क्षय किया और वे सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गये।

---

[1] ज्ञाता०, अ० ८

[2] मल्लिस्स णं अरहओ सावयाणं एगा सयसाहस्सी चुलसीइं च सहस्सा। सुणंदा पामोक्खाओ सावियाणं तिण्णि सयसाहस्सीओ पण्णट्ठिं च सहस्सा ।। [ज्ञा०, अध्याय ८, सू० ४०]

भगवान् श्री मुनिसुव्रत

भगवान् मल्लिनाथ के बाद बीसवें तीर्थंकर श्री मुनिसुव्रत हुए।

पूर्वभव

अपर-विदेह की चम्पा नगरी में राजा सुरश्रेष्ठ के भव में इन्होंने नन्दन मुनि की सेवा में संयम स्वीकार किया और अर्हत्-भक्ति आदि बीस स्थानों की सम्यक् आराधना कर तीर्थंकर नाम-कर्म का उपार्जन किया। अन्त समय में समाधिपूर्वक काल कर प्राणत देवलोक के देव हुए।

जन्म

स्वर्ग की स्थिति पूर्ण कर यही सुरश्रेष्ठ का जीव श्रावण शुक्ला पूर्णिमा को श्रवण नक्षत्र में स्वर्ग से च्यव कर राजगृही के महाराज सुमित्र की महारानी देवी पद्मावती के गर्भ में बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत के रूप में उत्पन्न हुआ।

माता ने मंगलप्रद चतुर्दश शुभ-स्वप्न देखे और प्रशस्त दोहदों से प्रमोदपूर्वक गर्भकाल पूर्ण किया। ज्येष्ठ कृष्णा नवमी[1] के दिन श्रवण नक्षत्र में माता ने सुखपूर्वक पुत्र-रत्न को जन्म दिया। इन्द्र, नरेन्द्र और पुरजनों ने भगवान् के जन्म का मंगल-महोत्सव मनाया।

नामकरण

इनके गर्भ में रहते माता को विधिपूर्वक व्रत-पालन की इच्छा बनी रही और वह सम्यक् रीति से मुनि की तरह व्रत का पालन करती रही अतः महाराज सुमित्र ने बालक का नाम मुनिसुव्रत रखा।[2]

विवाह और राज्य

युवावस्था प्राप्त होने पर पिता सुमित्र ने प्रभावती आदि अनेक योग्य राजकन्याओं के साथ कुमार मुनिसुव्रत का विवाह किया और कालान्तर में उनको राज्य का भार सौंप कर स्वयं आत्म-कल्याण की इच्छा से वैराग्यभावपूर्वक दीक्षित हो गये।

मुनिसुव्रत ने पिता के पीछे राज्य संभाला पर राजकीय वैभव और इन्द्रियों के सुखों में लिप्त नहीं हुए।

दीक्षा और पारणा

पन्द्रह हजार वर्षों तक राज्य का भलीभांति संचालन करने के बाद प्रभु मुनिसुव्रत ने लोकान्तिक देवों की प्रार्थना से वर्षीदान दिया एवं अपने ज्येष्ठ पुत्र को राज्य पर अभिषिक्त कर फाल्गुन कृष्णा अष्टमी[3] के दिन श्रवण नक्षत्र में एक हजार राजकुमारों के साथ दीक्षा ग्रहण की।

---

[1] प्र० व्याकरण में ज्येष्ठ कृष्णा ८ है।

[2] गब्भगए मायापिया य सुव्वता जाता। [आव. चू. उत्त. पृ. ११]

[3] स० द्वा० में फाल्गुन शुक्ला १२ है।

दूसरे दिन राजगृही में ब्रह्मदत्त राजा के यहां प्रभु के बेले का प्रथम पारणा सम्पन्न हुआ। देवों ने पंच-दिव्य बरसा कर दान की महिमा प्रकट की।

केवलज्ञान

ग्यारह मास तक छद्मस्थ रूप से विचरण कर फिर प्रभु दीक्षा वाले उद्यान में पधारे और वहां चम्पा वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ हो गये। फाल्गुन कृष्णा द्वादशी के दिन क्षपक-श्रेणी पर आरूढ़ होकर उन्होंने घाति-कर्मों का सर्वथा क्षय किया और लोकालोक प्रकाशक केवलज्ञान व केवलदर्शन की प्राप्ति की।

केवली बनकर प्रभु ने श्रुतधर्म एवं चारित्र-धर्म की देशना दी और हजारों व्यक्तियों को चारित्र-धर्म की दीक्षा देकर चतुर्विध संघ की स्थापना की।

धर्म-परिवार

भगवान् मुनिसुव्रत स्वामी के संघ में निम्न परिवार था :–

गण एवं गणधर	– अठारह (१८) गण एवं अठारह (१८) ही गणधर
केवली	– एक हजार आठ सौ (१८००)
मनःपर्यवज्ञानी	– एक हजार पांच सौ (१५००)
अवधिज्ञानी	– एक हजार आठ सौ (१८००)
चौदह पूर्वधारी	– पांच सौ (५००)
वैक्रिय लब्धिधारी	– दो हजार (२०००)
वादी	– एक हजार दो सौ (१२००)
साधु	– तीस हजार (३००००)
साध्वी	– पचास हजार (५००००)
श्रावक	– एक लाख बहत्तर हजार (१७२०००)
श्राविका	– तीन लाख पचास हजार (३५००००)

परिनिर्वाण

तीस हजार वर्ष की पूर्ण आयु में से प्रभु साढ़े सात हजार वर्ष कुमारावस्था में रहे, साढ़े सात हजार वर्ष तक राज्य-पद पर रहे और पन्द्रह हजार वर्ष तक संयम-धर्म की आराधना की।

अन्त में केवलज्ञान से जीवन का अन्तिमकाल निकट जानकर प्रभु ने एक हजार मुनियों के साथ एक मास का निर्जल अनशन किया और ज्येष्ठ कृष्णा नवमी के दिन अश्विनी नक्षत्र में सकल कर्मों का क्षय कर सिद्ध, बुद्ध एवं मुक्त हुए।

जैन इतिहास और पुराणों के अनुसार मर्यादा-पुरुषोत्तम राम जिनका अपर नाम पद्म बलदेव है और वासुदेव लक्ष्मण भी भगवान् मुनिसुव्रत के शासन-काल में हुए। राम ने उत्कृष्ट साधना से सिद्धि प्राप्त की और सीता का जीव बारहवें स्वर्ग का अधिकारी हुआ। इनका पवित्र चरित्र "पउमचरियं" एवं पद्म-पुराण आदि ग्रन्थों में विस्तार से उपलब्ध होता है।

भगवान् श्री नमिनाथ

भगवान् श्री मुनिसुव्रत स्वामी के पश्चात् इक्कीसवें तीर्थंकर श्री नमिनाथ हुए।

पूर्वभव

तीर्थंकर नमिनाथ का जीव जब पश्चिम विदेह की कोशाम्बी नगरी में सिद्धार्थ राजा के भव में था, तब किसी निमित्त को पाकर इनको वैराग्य हो आया।

उसी समय सुदर्शन मुनि का सहज समागम हुआ और उन्होंने उत्कृष्ट भाव से दीक्षित होकर उनके पास विशिष्ट रूप से तप-संयम की साधना की। फलस्वरूप तीर्थंकर नाम-कर्म का बंध किया और अन्त समय में शुभ भाव के साथ काल कर अपराजित स्वर्ग में देव रूप से उत्पन्न हुए।

जन्म

यही सिद्धार्थ राजा का जीव स्वर्ग से निकलकर आश्विन शुक्ला पूर्णिमा के दिन अश्विनी नक्षत्र में मिथिला नगरी के महाराज विजय की भार्या महारानी वप्रा के गर्भ में उत्पन्न हुआ। मंगलकारी चौदह शुभ-स्वप्नों को देखकर माता प्रसन्न थीं। योग्य आहार, विहार और आचार से महारानी वप्रा ने गर्भ का पालन किया।

पूर्ण समय होने पर माता वप्रा देवी ने श्रावण कृष्णा अष्टमी को अश्विनी नक्षत्र में कनकवर्ण वाले पुत्ररत्न को सुखपूर्वक जन्म दिया। नरेन्द्र और सुरेन्द्रों ने मंगल महोत्सव मनाया।

नामकरण

बारहवें दिन नामकरण करते समय महाराज विजय ने अपने बन्धु-बान्धवों के बीच कहा – "जब यह बालक गर्भ में था उस समय शत्रुओं ने मिथिला नगरी को घेर लिया। माता वप्रा ने जब राजप्रासाद की छत पर जाकर उन शत्रुओं की ओर सौम्य दृष्टि से देखा तो शत्रु राजा का मन बदल गया और वे मेरे चरणों में आकर झुक गये। शत्रुओं के इस प्रकार नमन के कारण बालक का नाम नमिनाथ[1] रखना उचित प्रतीत होता है।"

---

१. (क) गब्भगयम्मि य भगवंते णमिया नीसेसरिउणो' तओ णमि त्ति णामं कयं भगवओ। [च. म. पु. च., पृ. १७७]

(ख) नगरं रोहिज्जति, देवी अट्टे संठिता दिट्ठा, पच्छा पणता रायाणो अण्णे य पच्चंतिया रायाणो पणतातेण नमी [आव. चू. पृ. ११, उत्तरार्ध]

उपस्थित लोगों ने सहर्ष राजा की बात का समर्थन किया और आपका नाम नमिनाथ रखा गया।

विवाह और राज्य

नमिनाथ के युवावस्था को प्राप्त होने पर महाराज विजय ने अनेक सुन्दर और योग्य राजकन्याओं के साथ नमिनाथ का पाणिग्रहण करवाया और दो हजार पांच सौ वर्ष की अवस्था होने पर राजा ने बड़े ही सम्मान और समारोह के साथ कुमार नमि का राज्याभिषेक किया।

नमिनाथ ने भी पांच हजार वर्ष तक राज्य का पालन कर जन-मन को जीतकर अपना बना लिया। बाद में भोग्य कर्मों को क्षीण हुए जानकर उन्होंने दीक्षा ग्रहण करने का विचार किया। मर्यादा के अनुसार लोकान्तिक देवों ने आकर प्रभु से तीर्थ-प्रवर्तन के लिए प्रार्थना की।

दीक्षा और पारणा

एक वर्ष तक निरन्तर दान देकर नमिनाथ ने राजकुमार सुप्रभ को राज्य-भार सौंप दिया और स्वयं एक हजार राजकुमारों के साथ सहस्राम्र वन की ओर दीक्षार्थ निकल पड़े।

वहां पहुंचकर छट्ठ भक्त की तपस्या से विधिवत् सम्पूर्ण पापों का परित्याग कर आषाढ़ कृष्णा नवमी को उन्होंने दीक्षा ग्रहण की।

दूसरे दिन विहार कर प्रभु वीरपुर पधारे और वहां के महाराज 'दत्त' के यहां परमान्न से प्रथम पारणा ग्रहण किया। दान की महिमा बढ़ाने हेतु देवों ने पंचदिव्य बरसाये और महाराज दत्त की कीर्ति को सर्वत्र फैला दिया।

केवलज्ञान

नौ मास तक विविध प्रकार की तपस्या करते हुए प्रभु छद्मस्थचर्या में विचरे और फिर उसी उद्यान में आकर वोरसली वृक्ष के नीचे ध्यानावस्थित हो गये। वहां मृगशिर कृष्णा एकादशी[1] को शुक्ल-ध्यान की प्रचण्ड अग्नि में सम्पूर्ण घातिकर्मों का क्षय किया और केवलज्ञान, केवलदर्शन की उपलब्धि कर भाव-अरिहन्त कहलाये।

केवली होकर देवासुर-मानवों की विशाल सभा में धर्म-देशना दी और चतुर्विध संघ की स्थापना कर प्रभु भाव-तीर्थंकर बन गये।

धर्म-परिवार

भगवान् नमिनाथ के संघ में निम्न धर्म-परिवार था —

गण एवं गणधर	— सत्रह गण (१७) एवं सत्रह ही (१७) गणधर
केवली	— एक हजार छः सौ (१६००)

[1] "आवश्यक निर्युक्ति और सत्तरिसय द्वार में मार्गशीर्ष शु. ११ है

मनःपर्यवज्ञानी	– एक हजार दो सौ सात (१२०७)
अवधिज्ञानी	– एक हजार छः सौ (१६००)
चौदह पूर्वधारी	– चार सौ पचास (४५०)
वैक्रिय लब्धिधारी	– पांच हजार (५०००)
वादी	– एक हजार (१०००)
साधु	– बीस हजार (२००००)
साध्वी	– इकतालीस हजार (४१०००)
श्रावक	– एक लाख सत्तर हजार (१७००००)
श्राविका	– तीन लाख अड़तालीस हजार (३४८०००)

इस प्रकार प्रभु के उपदेशामृत का पान कर लाखों लोगों ने भक्तिपूर्वक सम्यग्दर्शन का पालन कर आत्म-कल्याण किया।

परिनिर्वाण

नव मास कम ढ़ाई हजार वर्ष तक केवली पर्याय से धर्मोपदेश करते हुए जब प्रभु ने मोक्षकाल समीप समझा तब एक हजार मुनियों के साथ सम्मेत शिखर पर जाकर अनशन प्रारम्भ किया।

एक मास के अन्त में शुक्ल-ध्यान के अन्तिम चरण में योग निरोध करके वैशाख कृष्णा दशमी को अश्विनी नक्षत्र में सकल कर्मों का क्षय कर प्रभु सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हुए। आपकी पूर्ण आयु १० हजार वर्ष की थी।

मुनि सुव्रत स्वामी के छः लाख वर्ष पश्चात् नमिनाथ मोक्ष पधारे। इनके समय में हरिषेण और शासनकाल में जय नाम के चक्रवर्ती राजा हुए।

यहां इतना ध्यान रहे कि तीर्थंकर नमिनाथ और मिथिला के नमि राजर्षि एक नहीं, भिन्न-भिन्न हैं। नाम और नगर की एकरूपता से अधिकांश लेखक दोनों को एक समझ लेते हैं, पर वस्तुतः दोनों एक नहीं हैं।

तीर्थंकर 'नमिनाथ' महाराज विजय के पुत्र और स्वयंबुद्ध हैं; जबकि नमिराज सुदर्शनपुर के युवराज युगबाहु के पुत्र और प्रत्येकबुद्ध हैं।

नमिराज दाह रोग से पीड़ित थे, दाह शान्ति के लिए चन्दन घिसती हुई रानियों के करों में एक-एक चूड़ी देख कर वे प्रतिबोधित हुए। राज्यपद से वे ऋषि बने, अतः राजर्षि कहलाये।

भगवान् श्री अरिष्टनेमि

भगवान् नमिनाथ के पश्चात् बाईसवें तीर्थंकर श्री अरिष्टनेमि हुए।

पूर्वभव

भगवान् अरिष्टनेमि के जीव ने शंख राजा के भव में तीर्थंकर पद की योग्यता का सम्पादन किया। भारतवर्ष में हस्तिनापुर के भूपति श्रीषेण की भार्या महारानी श्रीमती ने शंख के समान उज्ज्वल पुत्ररत्न को जन्म दिया, अतः उनका नाम शंख कुमार रखा गया।

किसी समय कुमार अपने मित्रों के संग क्रीड़ांगण में क्रीड़ा कर रहे थे कि महाराज श्रीषेण के पास लोगों ने आकर दर्दभरी पुकार की – "राजन्! सीमा पर पल्लीपति समरकेतु ने सीमावासियों को लूट कर उन पर भयंकर आतंक जमा रखा है। यदि समय रहते सैनिक कार्यवाही नहीं की गई तो राज्य शत्रु के हाथ में चला जायेगा। आप जैसे वीरों की मौजूदगी में राज्य का रक्षण नहीं हुआ तो फिर हमें अन्य से किसी प्रकार की आशा नहीं है।"

यह पुकार सुनकर महाराज श्रीषेण बड़े क्रुद्ध हुए और उन्होंने तत्काल पल्लीपति का सामना करने के लिये सेना सहित जाने की घोषणा कर दी। कुमार को जब ज्ञात हुआ कि पिताजी युद्ध में जा रहे हैं तो वे महाराज के सम्मुख उपस्थित होकर बोले – "तात! हमारे रहते आप एक साधारण पल्लीपति से लड़ने के लिये जायें, यह हमारे लिये शोभास्पद नहीं है। इस तरह हम युद्धकौशल भी कैसे सीख पायेंगे तथा हमारा उपयोग भी क्या होगा? आपकी आज्ञा भर की देर है, पल्लीपति को जीतने में कुछ भी देर नहीं लगेगी।"

कुमार के साहसपूर्ण वचन सुनकर महाराज बड़े प्रसन्न हुए और सैन्य लेकर उन्हें युद्ध में जाने की अनुमति दे दी।

पिता की आज्ञा पाते ही कुमार सैन्य सजाकर चल पड़े और पल्लीपति के किले को अपने अधिकार में लेकर चारों ओर से पल्लीपति को घेर लिया और उसके द्वारा लूटे गये धन को उससे छीन कर उन प्रजाजनों को लौटा दिया जिनका कि धन लूटा गया था। कुमार ने कुशलता से उस लुटेरे पल्लीपति को पकड़ कर महाराज श्रीषेण के सम्मुख बन्दी के रूप में प्रस्तुत करने हेतु हस्तिनापुर की ओर प्रस्थान किया।

मार्ग में जितारि की कन्या यशोमती का हरणकर ले जाने वाले विद्याधर मणिशेखर से कुमार ने युद्ध किया और उसे पराजित कर दिया। यशोमती ने कुमार की वीरता पर मुग्ध होकर सहर्ष उनका वरण किया।

जब राजकुमार शंख ने पल्लीपति को बन्दी के रूप में महाराज के सम्मुख प्रस्तुत किया तो वे बड़े प्रसन्न हुए और राजकुमार की योग्यता देखकर उसे राज्य-पद पर अभिषिक्त किया एवं स्वयं दीक्षित हो गये। श्रीषेण मुनि ने निर्मल भाव से साधना करते हुए घाति-कर्मों का क्षयकर केवलज्ञान की प्राप्ति की।

एक बार महाराज शंख अपने परिवार सहित मुनि श्री की सेवा में वन्दना करने गये और उनकी देशना सुनकर बोले – "भगवन् ! मेरा यशोमती पर इतना स्नेह क्यों है, जिससे कि मैं चाहकर भी संयम नहीं ले सकता ?"

केवली मुनि ने पूर्वजन्म का परिचय देते हुए कहा – "शंख ! तुम जब धनकुमार के भव में थे तब यह तुम्हारी पत्नी थी। फिर सौधर्म देवलोक में भी तुम दोनों पति-पत्नी के रूप में रहे। चौथे भव में माहेन्द्र देवलोक में तुम दोनों मित्र थे। फिर पांचवें अपराजित के भव में भी तुम दोनों पति-पत्नी के रूप में थे। छट्ठे जन्म में आरण देवलोक में भी तुम दोनों देव हुए। यह सातवां जन्म है, जहां तुम पति-पत्नी के रूप में हो। पूर्व भवों के दीर्घकालीन सम्बन्ध के कारण तुम्हारा इसके साथ प्रगाढ़ प्रेम चल रहा है। आगे भी एक देव का भव पूर्णकर तुम बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के रूप से जन्म लोगे।

श्रीषेण केवली के पास पूर्वभव की बात सुनकर महाराज शंख के मन में वैराग्य जागृत हुआ और उन्होंने अपने पुत्र को राज्य सौंपकर बन्धु-बान्धवों के साथ प्रव्रज्या ग्रहण कर ली।

तप-संयम के साथ अर्हन्त, सिद्ध, साधु की भक्ति में उत्कृष्ट अभिरुचि और उत्कट भावना के साथ निरत रहने के कारण उन्होंने तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया एवं समाधिभाव से आयु पूर्णकर अपराजित विमान में अहमिन्द्र रूप से अनुत्तर वैमानिक देव हुए।

जन्म

महाराज शंख का जीव अपराजित विमान से अहमिन्द्र की पूर्ण स्थिति भोगकर कार्तिक कृष्णा १२ को चित्रा नक्षत्र के योग में च्युत हुआ और महाराज समुद्र विजय की धर्मशीला महारानी शिवा देवी की कुक्षि में गर्भरूप से उत्पन्न हुआ।

शिवा देवी १४ शुभ-स्वप्नों के दर्शन से परम भाग्यशाली पुत्र-लाभ की बात जानकर बहुत प्रसन्न हुईं और उचित आहार-विहार से गर्भकाल को पूर्ण कर श्रावण शुक्ला पंचमी के दिन चित्रा नक्षत्र के योग में उसने सुखपूर्वक पुत्ररत्न को जन्म दिया।

भाग्यशाली पुत्र के पुण्य प्रभाव से देव-देवेन्द्रों ने जन्म-महोत्सव मनाया और महाराज समुद्र विजय ने भी प्रमोद से याचकों को मुक्तहस्त से दान देकर संतुष्ट किया एवं नगर में मंगल-महोत्सव मनाया गया।

शारीरिक स्थिति और नामकरण

अरिष्टनेमि सुन्दर लक्षण और उत्तम स्वर से युक्त थे। वे एक हजार आठ शुभ लक्षणों के धारक थे। गौतम गोत्री और शरीर से श्याम कान्ति वाले थे। उनकी मुखाकृति मनोहर थी। उनका शारीरिक संहनन वज्र सा दृढ और संस्थान-आकार समचतुरस्त्र था। उदर मछली जैसा था[1], उनका बल देव एवं देवपतियों से भी बढ़कर था।

बारहवें दिन महाराज समुद्र विजय ने स्वजन और मित्र जनों को निमन्त्रित कर प्रीतिभोज दिया और नामकरण करते हुए बोले – "बालक के गर्भकाल में रहते हम सब प्रकार के अरिष्टों से बचे तथा माता ने अरिष्ट रत्नमय चक्र-नेमि का दर्शन किया इसलिए इस बालक का नाम अरिष्टनेमि[2] रखा जाता है।"

अरिष्टनेमि के पिता महाराज समुद्र विजय हरिवंशीय प्रतापी राजा थे। अतः यहां पर उनके वंश परिचय में हरिवंश की उत्पत्ति का परिचय आवश्यक समझ कर दिया जा रहा है :–

हरिवंश की उत्पत्ति

दशवें तीर्थंकर भगवान् शीतलनाथ के तीर्थ में[3] वत्स देश की कौशाम्बी नगरी में सुमुह नाम का राजा था। उसने वीरक नामक एक व्यक्ति की वनमाला नाम की परम सुन्दरी स्त्री को प्रच्छन्न रूप से अपने पास रख लिया। पत्नी के विरह में विलाप करता हुआ वीरक अर्द्धविक्षिप्त सा रहने लगा और कालान्तर में वह बालतपस्वी हो गया। उधर वनमाला कौशाम्बीपति सुमुह की परमप्रिया होकर विविध मानवी भोगों का उपभोग करती हुई रहने लगी।

इस प्रकार सुख से जीवन बिताते हुए एक दिन राजा सुमुह अपनी प्रिया वनमाला के साथ वनविहार करने गया और वहां वीरक को बड़ी दयनीय दशा में देखकर अपने कुकृत्य के लिए पश्चात्ताप करने लगा – "ओह! मैंने कितना बड़ा दुष्कृत्य किया है, मेरे ही अन्याय और दोष के कारण यह वीरक इस अवस्था को प्राप्त होकर तपस्वी बना है।"

वनमाला भी इसी प्रकार पश्चात्ताप करने लगी। इस तरह पश्चात्ताप करते हुए दोनों ने भद्र एवं सरल परिणामों के कारण मनुष्य आयु का बन्ध किया। सहसा बिजली गिरने से दोनों का वहीं प्राणान्त हो गया और वे हरिवास नामकी भोगभूमि में युगल रूप में उत्पन्न हुए।

---

[1] वज्जरिसह संघयणो समचउरंसो झसोयरो ॥ [उ. सू., अ. २२]

[2] अरिष्टं अप्रशस्तं तदनेन नामितं, नेमि सामान्यं,
विसेसो-रिट्ठरयणामई नेमी, उप्पयमाणी सुविणे पेच्छति। [आव. चूर्णि, उत्त. पृ. ११]

[3] सीयलजिणस्स तित्थे, सुमुहो नामेण आसि महिपालो।
कोसम्बीनयरीए, तत्थेव य वीरय कुविन्दो ॥ [पउम. च. उ. २१ गा. २]

कालान्तर में वीरक भी मर कर सौधर्म कल्प में किल्विषी देव हुआ और अवधिज्ञान से देखा कि मेरा शत्रु हरि अपनी प्रिया हरिणी के साथ भोगभूमि में अनपवर्त्य आयु से उत्पन्न होकर भोगसुख भोग रहा है।

वह कुपित होकर सोचने लगा – "क्या इस दुष्ट को निष्ठुरतापूर्वक कुचल कर चूर्ण कर दूं ? मेरा अपकार करके भी ये भोगभूमि में उत्पन्न हुए हैं अतः इन्हें यों तो नहीं मार सकता। पर इन्हें ऐसे स्थान पर पहुंचाया जाय जहां तीव्र बन्ध योग्य भोग, भोग कर ये दुःख परम्परा पा सकें।"

उसने ज्ञान से देखा व सोचा – "चम्पा का नरेश अभी-अभी कालधर्म को प्राप्त हुआ है अतः इन्हें वहां पहुंचा दूं क्योंकि एक दिन का भी आसक्तिपूर्वक किया गया राज्य-भोग दुर्गति का कारण होता है तो फिर अधिक दिन की बात ही क्या?"

ऐसा विचारकर देव ने करोड़ पूर्व की आयु वाले हरि-युगल को चित्तरस कल्पवृक्ष सहित उठाकर चम्पा नगरी के उद्यान में पहुंचा दिया और नागरिकजनों को आकाशवाणी से कहने लगा – "तुम लोग राजा की खोज में चिन्तित क्यों हो, मैं तुम्हारे लिए करुणा कर यह राजा लाया हूं। तुम लोग इनका उचित आहार-विहार से पोषण करो, मांस-रस-भावित फल आदि से इनका प्रेम-सम्पादन करते रहना।"

ऐसा कहकर देव ने हरि-युगल की करोड़ पूर्व की आयु का एक लाख वर्ष में अपवर्तन किया[1] और अवगाहना (शरीर की ऊंचाई) भी घटा कर १०० धनुष की कर दी। देव के कथनानुसार नागरिकों ने हरि का राज्याभिषेक किया और बड़े सम्मान से उसका पोषण करते रहे। तमोगुणी आहार और भोगासक्ति के कारण हरि और हरिणी दोनों मर कर नरक गति के अधिकारी बने। यह एक आश्चर्यजनक घटना हुई क्योंकि युगलिकों का नरकगमन नहीं होता।

इसी हरि और हरिणी के युगल से हरिवंश की उत्पत्ति हुई। हरिवंश की उत्पत्ति का समय तीर्थंकर शीतलनाथ के निर्वाण पश्चात् और भगवान् श्रेयांसनाथ के पूर्व माना गया है।[2]

---

[1] पुव्वकोडीसेसाउएसु तेसिं वेरं युमरिऊण वाससयसहस्सं विधारेऊण चम्पाए रायहाणीए इक्खागम्मि चन्दकित्तिपत्थिवे अपुत्ते वोच्छिण्णे नागरयाणं रायकंखियाणं हरिवरिसाओ तं मिहुणं साहरइ……कुणति य से दिव्वप्पभावेण धणुसयं उच्चत्तं।

[वसुदेवहिंडी, खं: १, भाग २, पृ. ३५७]

सामान्य रूप में युगलिक जीव अनपवर्तनीय आयु वाले माने गये हैं पर इनकी आयु का अपवर्तन हुआ क्योंकि बन्ध ऐसा ही था। वास्तव में जितना आयु बन्धा है उसमें घट बढ़ नहीं होती फिर भी जो व्यवहार में यह जानते हैं कि भोगभूमि का आयु असंख्य वर्ष का ही होता है वे करोड़ पूर्व की आयु के पहले मरण जानकर यही समझेंगे कि इसकी आयु घट गयी है। इस दृष्टि से व्यवहार में इसे अपवर्तन कहा जाता है। – सम्पादक

[2] समइक्कंते सीयल जिणम्मि तहणागए य सेयंसे।
एत्थंतरम्मि जाओ हरिवंसो जह तहा सुणह ॥ [चउ. म. पु. च., पृष्ठ १८०]

हरिवंश की परम्परा

हरिवंश में अनेक शक्तिशाली प्रतापी और धर्मात्मा राजा हुए, जिनमें से अनेकों ने कई नगर बसाये। कुछ नगर आजतक भी उन प्रतापी नराधिपतियों के नाम पर विख्यात हैं।

हरिवंश के आदिपुरुष हरि के पश्चात् इस वंश में जो पैत्रिक अधिकार के आधार पर उत्तराधिकारी राजा हुए उनके कुछ नाम क्रमशः इस प्रकार हैं :–

(१) पृथ्वीपति (हरि का पुत्र)
(२) महागिरि
(३) हिमगिरि
(४) वसुगिरि
(५) नरगिरि
(६) इन्द्रगिरि

इस तरह इस हरिवंश में असंख्य राजा हुए। बीसवें तीर्थंकर भगवान् मुनिसुव्रत भी इसी प्रशस्त हरिवंश में हुए।

माधव इन्द्रगिरि का पुत्र दक्ष प्रजापति हुआ। इस दक्ष प्रजापति की रानी का नाम इला और पुत्र का नाम इल था। किसी कारणवश महारानी इला अपने पति दक्ष से रूठकर अपने पुत्र इल को साथ ले दक्ष के राज्य से बाहर चली गई और ताम्रलिप्ति प्रदेश में इलावर्द्धन नामक नगर बसाया और इल ने माहेश्वरी नगरी बसाई।

राजा इल के पश्चात् इसका पुत्र पुलिन राज्य-सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। पुलिन ने एकदा वन में एक स्थान पर देखा कि एक हरिणी कुंडी बनाकर कुण्डलाकार मुद्रा में एक सिंह का सामना कर रही है। इसे उस क्षेत्र का प्रभाव समझकर पुलिन ने उस स्थान पर 'कुंडिणी' नगरी बसाई।

पुलिन के बाद 'वरिम' नामक राजा हुआ जिसने इन्द्रपुर नगर बसाया। इसी वंश के राजा 'संजती' ने वणवासी अथवा वाणवासी नाम की एक नगरी बसाई। इसी राजवंश में कोल्लयर नगर का अधिपति 'कुणिम' नामका एक प्रसिद्ध राजा हुआ। फिर इसका पुत्र महेन्द्र दत्त राजा हुआ। महेन्द्र दत्त के अरिष्टनेमि और मत्स्य नामक दो पुत्र बड़े प्रतापी राजा हुए। अरिष्टनेमि ने गजपुर नामक नगर बसाया और मत्स्य ने भद्दिलपुर नगर। अरिष्टनेमि और मत्स्य के प्रत्येक के सौ-सौ पुत्र हुए।

इसी हरिवंश के 'अयधणू' नामक एक राजा ने सोज्झ नामक नगर बसाया। इसके बाद 'मूल' नामक राजा हुआ। राजा मूल के पश्चात् 'विशाल' नामक नृप हुआ जिसने 'मिथिला' नगरी को बसाया।

राजा विशाल के पश्चात् क्रमशः 'हरिषेण', 'नहषेण', 'संख', 'भद्र' और 'अभिचन्द्र' नाम के बहुत से राजा हुए। 'अभिचन्द्र' का पुत्र 'वसु' एक बड़ा प्रसिद्ध राजा हुआ जो आगे चलकर उपरिचर वसु (आकाश में अधर सिंहासन पर बैठने वाला) के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

उपरिचर वसु

यह वसु हरिवंश का एक महान् प्रतापी राजा था। उसने बाल्यावस्था में क्षीरकदम्बक नामक उपाध्याय के पास अध्ययन किया। महर्षि नारद एवं आचार्य-पुत्र पर्वत भी वसु के सहपाठी थे। ये तीनों शिष्य जिस समय उपाध्याय क्षीरकदम्वक के पास अध्ययन कर रहे थे उस समय किसी एक अतिशय-ज्ञानी ने अपने साथी साधु से कहा कि इन तीनों विद्यार्थियों में से एक तो राजा बनेगा, दूसरा स्वर्ग का अधिकारी होगा और तीसरा नरक में जायगा।[1]

क्षीरकदम्बक ने किसी तरह यह बात सुनली और मन में विचार किया कि वसु तो राजा बनेगा पर नारद और पर्वत, इन दोनों में से नरक में कौन जायगा, इसका निर्णय करना आवश्यक है। अपने पुत्र पर्वत और नारद की परीक्षा करने के लिये उपाध्याय ने एक कृत्रिम बकरा बनाया और उसमें लाक्षारस भर दिया। उपाध्याय द्वारा निर्मित वह बकरा वस्तुतः सजीव बकरे के समान प्रतीत होता था।

उपाध्याय ने नारद को बुलाकर कहा – "वत्स ! मैंने इस बकरे को मन्त्र-बल से स्तंभित कर दिया है। आज बहुला अष्टमी है अतः संध्या के समय, जहां कोई नहीं देखता हो ऐसे स्थान पर इसे मार कर शीघ्र लौट आना।"

अपने गुरु के आदेशानुसार नारद संध्या के समय उस बकरे को लेकर निर्जन स्थान में गया और विचार किया कि यहां तो तारे और नक्षत्र देख रहे हैं। वह और भी घने जंगल के अन्दर चला गया और वहां पर भी उसने सोचा कि यहां पर भी वनस्पतियाँ देख रही हैं जो कि सचेतन हैं। उस घने जंगल के उस निर्जन स्थान से भी नारद बकरे को लिये हुए आगे बढ़ा और एक देवस्थान में पहुँचा। पर वहाँ पर भी उसने मन में विचार किया कि वहां पर भी देव देख रहे हैं।

नारद असमंजस में पड़ गया। उसके मन में विचार आया – "गुरु-आज्ञा यह है कि जहां कोई नहीं देखता हो, उस स्थान पर इसका वध करना। पर ऐसा तो कहीं कोई भी स्थान नहीं है, जहां कि कोई न कोई नहीं देखता हो। ऐसी दशा में यह बकरा निश्चित रूप से अवध्य है।"

---

[1] तत्थेगो अइसयनाणी, तेण इयरो भणिओ – एए तिण्णि जणा, एएसिं एक्को राजा भविस्सइ, एगो नरगगामी, एगो देवलोयगामि त्ति।

[वसुदेव हिण्डी, प्र० खण्ड, पृ० १८९-९०]

अन्ततोगत्वा नारद उस बकरे को बिना मारे ही गुरु के पास लौट आया और उसने गुरु के समक्ष अपने सारे विचार रखे।

गुरु ने साधुवाद के साथ कहा – "नारद ! तुमने बिल्कुल ठीक तरह से सोचा है। तुम जाओ, इस सम्बन्ध में किसी से कुछ न कहना।"[1]

नारद के चले जाने के अनन्तर उपाध्याय ने अपने पुत्र पर्वत को बुलाया और उसे भी वही कृत्रिम बकरा सम्हलाते हुए उसी प्रकार का आदेश दिया, जैसा कि नारद को दिया था।

बकरे को लेकर पर्वत एक जन-शून्य गली में पहुँचा। उसने वहां खड़े होकर चारों ओर देखा कि कहीं कोई उसे देख तो नहीं रहा है। जब वह आश्वस्त हो गया कि उसे उस स्थान पर कोई मनुष्य नहीं देख रहा है, तो उसने तत्काल उस बकरे को काट डाला। कृत्रिम बकरे की गर्दन कटते ही उसमें भरे लाक्षारस से पर्वत के वस्त्र लाल हो गये। पर्वत ने लाक्षारस को लहू समझकर वस्त्रों सहित ही स्नान किया और घर पहुँचकर यथावत् सारा विवरण अपने पिता के समक्ष कह सुनाया।

उपाध्याय क्षीरकदम्बक को अपने पुत्र की बात सुनकर अपार दुःख हुआ। उन्होंने क्रुद्ध-स्वर में कहा – "ओ पापी ! तूने यह क्या कर डाला ? क्या तू यह नहीं जानता कि सम्पूर्ण ज्योतिषमण्डल के देव, वनस्पतियां और अदृश्य रूप से विचरण करने वाले गुह्यक सब के कार्यों को प्रतिक्षण देखते रहते हैं ? इन सबके अतिरिक्त तू स्वयं भी तो देख रहा था। इस पर भी तूने बकरे को मार डाला। तू निश्चित रूप से नरक में जायगा। हटजा मेरे सामने से।"[2]

कालान्तर में नारद अपना अध्ययन समाप्त होने पर गुरु की पूजा कर अपने निवास-स्थान को लौट गया।

वसु ने गुरुकुल से विदाई लेते समय जब अपने गुरु से गुरुदक्षिणा के लिये आग्रह किया तो उपाध्याय क्षीरकदम्बक ने कहा – "वत्स ! राजा बन जाने पर तुम अपने समवयस्क पर्वत के प्रति स्नेह रखना। बस, यही मेरी गुरुदक्षिणा है। मैं तुम्हारा महन्त हूँ।"

---

[1] (क) वसुदेव हिण्डी, पृष्ठ १९०

(ख) आचार्य हेमचन्द्र ने उपाध्याय द्वारा तीनों शिष्यों को पृथक्-पृथक्, एक-एक कृत्रिम कुक्कुट देने का उल्लेख किया है। यथा :–

समर्प्य गुरुरस्माकमेकैकं पिष्ट कुक्कुटम्।
उवाचामी तत्र वध्या, यत्र कोऽपि न पश्यति ॥

[त्रिषष्टि श. पु. च., पर्व ७, सर्ग २, श्लो० ३९१]

[2] तेण भणिओ – पावकम्म ! जोइसियदेवा वणप्फतीओ य पच्छण्णचारियगुज्झया पस्संति जणचरियं, सयं च पस्समाणो 'न पस्सामि' त्ति विवाडेसि छगलगं, गतो सि नरगं, अवसर त्ति।

[वसुदेव हिण्डी, प्र. खं., पृष्ठ १९०]

कुछ समय पश्चात् वसु चेदि देश का राजा बना। एक बार मृगया के लिये जंगल में घूमते हुए वसु ने एक मृग को निशाना बनाकर तीर चलाया, पर मृग एवं तीर के बीच में आकाश के समान स्वच्छ स्फटिक पत्थर था अतः वाण राह में ही उससे टकरा कर गिर गया। पास में जाकर वसु ने जब स्फटिक पत्थर को देखा तो उसके मन में विचार आया कि यह स्फटिक पत्थर एक राजा के लिये बड़ी महत्त्वपूर्ण वस्तु है। वसु ने पास ही के वृक्षों की टहनियां काटकर उनसे उस स्फटिक पत्थर को आच्छादित कर दिया और अपने नगर में लौटने पर प्रधानामात्य को स्फटिक पत्थर के सम्बन्ध में अवगत किया।

प्रधानामात्य ने वह स्फटिक पत्थर राजप्रासाद में मंगवा लिया और उस पर वसु का राजसिंहासन रख दिया। कहीं इस रहस्य का भण्डाफोड़ नहीं हो जाय, इस आशंका से स्फटिक पत्थर लाने वाले सब लोगों को उनकी स्त्रियों सहित प्रधानामात्य ने मरवा डाला।

स्फटिकशिला पर रखे राजसिंहासन पर बैठने के कारण वसु की ख्याति दिग्दिगन्त में फैल गई कि न्याय एवं धर्मपरायण होने के कारण वसु का राजसिंहासन आकाश में अधर रहता है और इस प्रकार वह उपरिचर वसु के नाम से लोक में प्रख्यात हो गया।

आचार्य क्षीरकदम्बक की मृत्यु के पश्चात् पर्वत उपाध्याय बना और अध्यापन का कार्य करने लगा। पर्वत अपने शिष्यों को 'अजैर्यष्टव्यं' इस वेद-वाक्य का यह अर्थ बताने लगा कि 'बकरों से यज्ञ करना चाहिए।'

नारद को जब इस अनर्थ की सूचना मिली तो वह पर्वत के पास पहुँचा। पर्वत ने इस गर्व से कि वह राजा के द्वारा पूजनीय है, जन-समुदाय के समक्ष कहा – "अजा अर्थात् बकरों से यज्ञ करना चाहिए।"[1]

नारद ने पर्वत को अच्छी तरह समझाया कि वह परम्परागत पवित्र वेद-वाक्य के अर्थ का अनर्थकारी प्रलाप न करे। अज का अर्थ ऋषि-महर्षि और श्रुतियां सदा से त्रैवार्षिक यव-व्रीही बताती आ रही हैं न कि छाग।

नारद द्वारा बार-बार समझाने-बुझाने पर भी पर्वत ने अपना दुराग्रह नहीं छोड़ा। ज्यों-ज्यों विवाद बढ़ता गया त्यों-त्यों पर्वत का दुराग्रह भी बढ़ता गया। अन्त में क्रोध में आकर पर्वत ने अपने असत्य-पक्ष पर अड़े रहकर एकत्रित विद्वानों के समक्ष यह कह दिया – "नारद! मेरा पक्ष सत्य है। यदि मेरी बात मिथ्या साबित हो जाय तो विद्वानों के समक्ष मेरी जिह्वा काट डाली जाय अन्यथा तुम्हारी जिह्वा काट ली जाय।"[2]

---

[1] कयाइं च महाजणमज्झे पव्वयओ 'रायपूजिओ अहं' त्ति गव्विओ पण्णवेति – अजा छगला, तेहिं य जइयव्वं ति। [वसुदेव हिण्डी, प्रथम खं., पृ० १९०-१९१]

[2] ततो तेसिं समच्छरे विवादे वट्टमाणे पव्वयओ भणाति –
जइ अहं वितहवादी ततो मे जीहच्छेदो विउसाणं पुरओ, तव वा। [वसुदेव हिण्डी प्र. खं.पृ० १९१]

नारद ने कहा– "पर्वत ! दुराग्रह का अवलम्बन लेकर इस प्रकार की प्रतिज्ञा न करो। मैं तो तुमसे बार-बार यही कहता हूँ कि इस प्रकार का अनर्थ और अधर्म मत करो। हमारे पूज्यपाद उपाध्याय ने हमें अज का अर्थ नहीं उगने वाला धान्य बताया है। यह तुम भी अपने मन में भलीभाँति जानते हो। केवल दुराग्रहवश तुम जो यह अधर्मपूर्ण अनर्थ करने जा रहे हो यह तुम्हारे लिये भी अकल्याणकर है और लोकों के लिये भी।"

इस पर पर्वत ने कहा– "इस वेदवाक्य का अर्थ मैं भी अपनी बुद्धि से नहीं बता रहा हूँ। आखिर मैं भी उपाध्याय का पुत्र हूँ। पिताजी ने मुझे इसी प्रकार का अर्थ सिखाया है।"

नारद ने कहा– "पर्वत ! हमारे स्वर्गीय गुरु के हम दोनों के अतिरिक्त तीसरे शिष्य हरिवंशोत्पन्न महाराज उपरिचर वसु भी हैं। अतः 'अजैर्यष्टव्यं' का अर्थ उनसे पूछा जाय और वे जो इसका अर्थ बताएं उसे प्रामाणिक और सत्य माना जाय।"

पर्वत ने नारद के प्रस्ताव को स्वीकार किया और अपनी माता के समक्ष नारद के साथ हुए अपने विवाद की सारी बात रखी।

माता ने पर्वत से कहा– "पुत्र ! तूने बहुत बुरा किया। तेरे पिता द्वारा नारद सदा ही सम्यक् प्रकार से विद्या ग्रहण करने वाला और ग्रहण की हुई विद्या को हृदयंगम करने वाला माना जाता था।"

इस पर पर्वत ने अपनी माता से कहा– "मां ! ऐसा न कहो। मैंने अच्छी तरह सूत्रों के अर्थ को समझा है। तुम देखना, मैं वसु के निर्णय से नारद को हराकर उसकी जिह्वा कटवा दूंगा।"

पर्वत की माता को अपने पुत्र की बात पर विश्वास नहीं हुआ। वह महाराज वसु के पास गई और वसु के समक्ष 'अजैर्यष्टव्यं' इस वेदवाक्य को लेकर नारद और पर्वत के बीच जो विवाद खड़ा हुआ उसके सम्बन्ध में दोनों के पक्ष को प्रस्तुत करने के पश्चात् वसु से उसने पूछा – "तुम्हारे आचार्य से तुम लोगों ने 'अजैर्यष्टव्यम्' इस वेदवाक्य का क्या अर्थ सीखा था ?"

उत्तर में वसु ने कहा– "मात ! इस पद का अर्थ जैसा कि नारद बताता है, वही हम लोगों ने हमारे पूज्यपाद आचार्य से अवधारित किया है।"

वसु का उत्तर सुन कर पर्वत की माता शोकसागर में निमग्न हो गई। उसने वसु से कहा– "वत्स ! यदि तुमने इस प्रकार का निर्णय दिया तो मेरे पुत्र पर्वत का सर्वनाश सुनिश्चित है। पुत्र-वियोग में मैं भी अपने प्राणों को धारण नहीं कर सकूंगी। अतः अपने पुत्र की मृत्यु से पहले ही मैं तुम्हारे सम्मुख अभी इसी समय अपने प्राणों का परित्याग किये देती हूँ।"

यह कह कर पर्वत की माता ने तत्काल अपनी जिह्वा अपने हाथ से पकड़ ली।

मरणोद्यत उपाध्यायिनी को देखकर वसु नृपति अवाक् रह गये। उसी समय पाखण्ड-पन्थ के उपासक कुछ लोगों ने राजा वसु से कहा- "देव! उपाध्यायिनी के वचनों को सत्य समझिये। यदि कहीं ऐसा अनर्थ हो गया तो हम इस पाप से तत्क्षण ही नष्ट हो जायेंगे।"

अपनी उपाध्यायिनी द्वारा की जाने वाली आत्महत्या के निवारणार्थ और पर्वत के समर्थक पाखन्डपन्थानुयायी लोगों के कहने में आकर मजबूर हो वसु ने कहा- "मां! ऐसा न करो। मैं पर्वत के पक्ष का समर्थन करूंगा।"

अपना कार्य सिद्ध हुआ देख आचार्य क्षीरकदम्बक की विधवा पत्नी अपने घर को लौट गई।

दूसरे दिन जन-समुदाय दो दलों में विभक्त हो गया। कई नारद की प्रशंसा करने लगे तो कई पर्वत की। विशाल जनसमूह के साथ नारद और पर्वत महाराज उपरिचर वसु की राजसभा में पहुँचे। उपरिचर वसु अदृश्य तुल्य स्फटिक-प्रस्तर-निर्मित विशाल स्तम्भ पर रखे अपने राजसिंहासन पर विराजमान थे अतः यही प्रतीत हो रहा था कि वे बिना किसी प्रकार के सहारे के आकाश में अधर सिंहासन पर विराजमान हैं।

नारद और पर्वत ने क्रमशः अपना-अपना पक्ष महाराज उपरिचर वसु के समक्ष रखा और उन्हें निर्णय देने का अनुरोध किया कि दोनों पक्षों में से किसका पक्ष सत्य है?

सत्य-पक्ष को जानते हुए भी अपनी आचार्य-पत्नी पर्वत की माता को दिये गये आश्वासन के कारण असत्य-पक्ष का समर्थन करते हुए महाराज वसु ने निर्णय दिया- "अज अर्थात् छाग – बकरे से यज्ञ करना चाहिये।"

असत्य-पक्ष का जान-बूझ कर समर्थन करने के कारण उपरिचर वसु का सिंहासन उसी समय सत्य के समर्थक देवताओं द्वारा ठुकराया जाकर पृथ्वी पर गिरा दिया गया और इस तरह 'उपरिचर' वसु 'स्थलचर' वसु बन गया।

तत्काल वसु के समक्ष प्रामाणिक धर्म-ग्रन्थ रखे गये और उससे कहा गया कि उन्हें देखकर पुनः वह सही निर्णय दे। पर फिर भी वसु ने मूढतावश यही कहा – "जैसा पर्वत कहता है, वही इसका सही अर्थ है।"

अदृष्ट शक्तियों द्वारा वसु तत्काल घोर रसातल में ढकेल दिया गया। उपस्थित जनसमुदाय पर्वत को धिक्कारने लगा कि इसने वसु का सर्वनाश कर डाला। अधर्मपूर्ण असत्य-पक्ष का समर्थन करने के कारण राजा वसु नरक के दारुण दुखों का अधिकारी बना।[1]

[1] ततो उवरिचरो वसुराया, सोत्तीमतीए पव्वय-नारद विवाते 'अजेहिं अबीजेहिं छगलेहिं वा जइयव्वं' ति पसुवधघायअलियवयण सक्खिकज्जे देवयाणिपाइयो अधरिं गतिं गओ।
[वसुदेव हिण्डी, द्वि. खं., पृ० ३५७]

तत्पश्चात् नारद वहां से चले गये। पर्वत ने तत्कालीन राजा सगर के शत्रु महाकाल नामक देव की सहायता से यज्ञों में पशुबलि का सूत्रपात किया।

महाभारत में वसु का उपाख्यान

महाभारत के शान्तिपर्व में भी वसुदेव हिण्डी से प्रायः काफी अंशों में मिलता-जुलता महाराज वसु का उपाख्यान दिया हुआ है। चेदिराज वसु द्वारा असत्य-पक्ष का समर्थन करने के कारण वैदिकी श्रुति 'अजैर्यष्टव्यम्' में दिये गये 'अज' शब्द का अर्थ त्रैवार्षिक यवों के स्थान पर छाग अर्थात् बकरे प्रतिपादित किया जाकर यज्ञों में पशुबलि का सूत्रपात हुआ, इस तथ्य को जैन और वैष्णव दोनों परम्पराओं के प्राचीन और सर्वमान्य ग्रन्थ एकमत से स्वीकार करते हैं।

प्राचीनकाल के ऋषि, महर्षि, राजा एवं सम्राट् अज अर्थात् त्रैवार्षिक यव, घृत एवं वन्य औषधियों से यज्ञ करते थे। उस समय के यज्ञों में पशु-हिंसा का कोई स्थान ही नहीं था और यज्ञों में पशुबलि को घोरातिघोर पापपूर्ण, गर्हित एवं निन्दनीय दुष्कृत्य समझा जाता था यह महाभारत में उल्लिखित तुलाधार-उपाख्यान,[1] विचख्नु-उपाख्यान[2] एवं उपरिचर राजा वसु के उपाख्यानों से स्पष्टरूपेण सिद्ध होता है।

---

[1] न भूतानामहिंसाया, ज्यायान् धर्मोऽस्ति कश्चन।
यस्मान्नोद्विजते भूतं, जातु किंचित् कथंचन॥
सोऽभयं सर्वभूतेभ्यः, सम्प्राप्नोति महामुने॥३०॥
[शान्ति पर्व, अ० २६२]

यदेव सुकृतं हव्यं, तेन तुष्यन्ति देवताः।
नमस्कारेण हविषा, स्वाध्यायैरौषधैस्तथा॥८॥
[शा० प०, अ० २६३]

पूजा स्याद् देवतानां हि, यथा शास्त्रनिदर्शनम्।...९॥
[वही]

सतां वर्त्मानुवर्तन्ते, यजन्ते चाविहिंसया।
वनस्पतीनौषधीश्च, फलं मूलं च ते विदुः॥२६॥
[वही]

[2] सर्वकर्मस्वहिंसा हि, धर्मात्मा मनुरब्रवीत्।
कामकाराद् विहिंसन्ति, बहिर्वेद्यां पशून् नराः॥५॥
[शा० पर्व, अ० २६४]

... अहिंसा सर्वभूतेभ्यो, धर्मेभ्यो ज्यायसी मता॥६॥
[वही]

यदि यज्ञांश्च, वृक्षांश्च, यूपांश्चोद्दिश्य मानवाः।
वृथा मांसं न खादन्ति, नैषधर्मः प्रशस्यते॥८॥
[वही]

सुरा मत्स्याः मधुमांसमासवं कृसरौदनम्।
धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद् वेदेषु कल्पितम्॥९॥
[वही]

मानान्मोहाच्च लोभाच्च, लौल्यमेतत्प्रकल्पितम्।
विष्णुमेवाभिजानन्ति सर्वयज्ञेषु ब्राह्मणाः॥१०॥
[वही]

यज्ञ में पशुबलि का वचनमात्र से अनुमोदन करने के कारण उपरिचर वसु को रसातल के अन्धकारपूर्ण गहरे गर्त में गिरना पड़ा इस संदर्भ में महाभारत में उल्लिखित वसु का संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है :-

"राजा वसु को घोर-तपश्चर्या में निरत देखकर इन्द्र को शंका हुई कि यदि यह इसी तरह तपश्चर्या करते रहे तो एक न एक दिन उसका इन्द्र-पद उससे छीन लेंगे। इस आशंका से विह्वल हो इन्द्र तपस्वी वसु के पास आया और उसे तप से विरत करने के लिये उसने समृद्ध चेदि का विशाल राज्य देने के साथ-साथ स्फटिक रत्नमय गगनबिहारी विमान एवं सर्वज्ञ होने का वरदान आदि दिये। वसु की राजधानी शुक्तिमती नदी के तट पर थी।"[1]

वसु का हिंसा-रहित यज्ञ

"इन्द्र द्वारा प्रदत्त आकाशगामी विमान में विचरण करने के कारण वे उपरिचर वसु के नाम से लोक में विख्यात हुए। उपरिचर वसु बड़े सत्यनिष्ठ, अहिंसक और यज्ञशिष्ट अन्न का भोजन करने वाले थे।"

"अंगिरस पुत्र – बृहस्पति इनके गुरु थे। न्याय, नीति एवं धर्मपूर्वक पृथ्वी का पालन करते हुए राजा वसु ने महान् अश्वमेध यज्ञ किया। उस अश्वमेध यज्ञ के बृहस्पति होता तथा एकत, द्वित, त्रित, धनुष, रैभ्य, मेधातिथि, शालिहोत्र, कपिल,

---

[1] राजोपरिचरो नाम, धर्मनित्यो महीपतिः ।
बभूव मृगयां गन्तुं, सदा किल धृतव्रतः ।।१।।
स चेदिविषयं रम्यं, वसुः पौरवनन्दनः ।
इन्द्रोपदेशाज्जग्राह, रमणीयं महीपतिः ।।२।।
तमाश्रमे न्यस्तशस्त्रं, निवसन्तं तपोनिधिम् ।
देवाः शक्र पुरोगा वै, राजानमुपतस्थिरे ।।३।।
इन्द्रत्वमर्हो राजायं, तपसेत्यनुचिन्त्य वै ।
तं सान्त्वेन नृपं साक्षात्, तपसः संन्यवर्तयन् ।।४।।
दिविष्ठस्य भुविष्ठस्त्वं, सखाभूतो मम प्रियः ।
रम्यः पृथिव्यां यो देशस्तमावस नराधिप ।।७।।
... न तेऽस्त्यविदितं किंचित्, त्रिषु लोकेषु यद्भवेत् ।।८।।
देवोपभोग्यं दिव्यं त्वामाकाशे स्फाटिकं महत् ।
आकाशगं त्वां मद्दत्तं विमानमुपपत्स्यते ।।१३।।
त्वमेकः सर्वमर्त्येषु विमानवरमास्थितः ।
चरिष्यस्युपरिस्थो हि, देवो विग्रहवानिव ।।१४।।
ददामि ते वैजयन्तीं, मालामम्लानपंकजाम् ।
धारयिष्यति संग्रामे, या त्वां शस्त्रैरविक्षतम् ।।१५।।
यष्टिं च वैष्णवीं तस्मै, ददौ वृत्रनिषूदनः ।
इष्टप्रदानमुद्दिश्य, शिष्टानां प्रतिपालिनीम् ।।१७।।
[महाभारत, आदिपर्व, अध्याय ६३]

वैशम्पायन, कण्व आदि १६ महर्षि सदस्य हुये। उस महान् यज्ञ में यज्ञ के लिये सम्पूर्ण आवश्यक सामग्री एकत्रित की गई परन्तु उसमें किसी भी पशु का वध नहीं किया गया। राजा उपरिचर वसु पूर्ण अहिंसक भाव से उस यज्ञ में स्थित हुए। वे हिंसाभाव से रहित, कामनाओं से रहित, पवित्र तथा उदारभाव से अश्वमेध यज्ञ करने में प्रवृत्त हुए। वन में उत्पन्न हुए फल मूलादि पदार्थों से ही उस यज्ञ में देवताओं के भाग निश्चित किये गये थे।"

"भगवान् नारायण ने वसु के इस प्रकार यज्ञ से प्रसन्न हो स्वयं उस यज्ञ में प्रकट हो महाराज वसु को दर्शन दिये और अपने लिये अर्पित पुरोडाश (यज्ञभाग) को ग्रहण किया।" यथा :—

सम्भूताः सर्वसम्भारास्तस्मिन् राजन् महाक्रतौ।
न तत्र पशुघातोऽभूत्, स राजैवं स्थितोऽभवत् ॥१०॥
अहिंस्रः शुचिरक्षुद्रो, निराशीः कर्म संस्तुतः।
आरण्यकपदोद्भूता, भागास्तत्रोपकल्पिताः ॥११॥
प्रीतस्ततोऽस्य भगवान्, देवदेवः पुरातनः।
साक्षात् तं दर्शयामास, सौऽदृश्योऽन्येन केनचित् ॥१२॥
स्वयं भागमुपाघ्राय, पुरोडाशं गृहीतवान्।
अदृश्येन हृतो भागो, देवेन हरिमेघसा ॥१३॥

[महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३३६]

उस महान् अश्वमेध-यज्ञ को पूर्ण करने के पश्चात् राजा वसु बहुत काल तक प्रजा का पालन करता रहा।[1]

'अजैर्यष्टव्यम्' को लेकर विवाद

एक बार ऋषियों और देवताओं के बीच यज्ञों में दी जाने वाली आहुति के सम्बन्ध में विवाद उठ खड़ा हुआ। देवगण ऋषियों से कहने लगे "'अजेन यष्टव्यम्' (अजैर्यष्टव्यम्) अर्थात् 'अज के द्वारा यज्ञ करना चाहिए' यह, ऐसा जो विधान है, इसमें आये हुए 'अज' शब्द का अर्थ बकरा समझना चाहिए न कि अन्य कोई पशु। निश्चित रूप से यही वास्तविक स्थिति है।"

इस पर ऋषियों ने कहा — "देवताओ ! यज्ञों में बीजों द्वारा यजन करना चाहिए, ऐसी वैदिकी श्रुति है। बीजों का ही नाम अज है; अतः बकरे का वध करना हमें उचित नहीं है। जहां कहीं भी यज्ञ में पशुओं का वध हो, वह सत्-पुरुषों का धर्म नहीं है। यह श्रेष्ठ सत्ययुग चल रहा है। इसमें पशु का वध कैसे किया जा सकता है?"

[1] समाप्तयज्ञो राजापि प्रजां पालितवान् वसुः। ....६२॥

[महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३३७]

यथा :–

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
ऋषीणां चैव संवादं, त्रिदशानां च भारत ।।२।।
अजेन यष्टव्यमिति प्राहुर्देवा द्विजोत्तमान् ।
स च च्छागोऽप्यजो ज्ञेयो नान्यः पशुरिति स्थितिः ।।३।।

ऋषयः ऊचुः

बीजैर्यज्ञेषु यष्टव्यमिति वै वैदिकी श्रुतिः ।
अजसंज्ञानि बीजानि, च्छागं नो हन्तुमर्हथ ।।४।।
नैष धर्मः सतां देवा, यत्र वध्येत वै पशुः ।
इदं कृतयुगं श्रेष्ठं, कथं वध्येत वै पशुः ।।५।।

[महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३३७]

जिस समय देवताओं और ऋषियों के बीच इस प्रकार का संवाद चल रहा था उसी समय नृपश्रेष्ठ वसु भी आकाशमार्ग से विचरण करते हुए उस स्थान पर पहुंच गये । उन अन्तरिक्षचारी राजा वसु को सहसा आते देख ब्रह्मर्षियों ने देवताओं से कहा – "ये नरेश हम लोगों का संदेह दूर कर देंगे। क्योंकि ये यज्ञ करने वाले, दानपति, श्रेष्ठ तथा सम्पूर्ण भूतों के हितैषी एवं प्रिय हैं। ये महान् पुरुष वसु शास्त्र के विपरीत वचन कैसे कह सकते हैं ?"

इस प्रकार ऋषियों और देवताओं ने एकमत हो एक साथ राजा वसु के पास जाकर अपना प्रश्न उपस्थित किया – "राजन् ! किसके द्वारा यज्ञ करना चाहिए ? बकरे के द्वारा अथवा अन्न द्वारा ? हमारे इस संदेह का आप निवारण करें। हम लोगों की राय में आप ही प्रामाणिक व्यक्ति हैं।"

तब राजा वसु ने हाथ जोड़कर उन सबसे पूछा – "विप्रवरो ! आप लोग सच-सच बताइये, आप लोगों में से किस पक्ष को कौनसा मत अभीष्ट है ? अज शब्द का अर्थ आप में से कौनसा पक्ष तो बकरा मानता है और कौनसा पक्ष अन्न ?"

वसु के प्रश्न के उत्तर में ऋषियों ने कहा – "राजन् ! हम लोगों का पक्ष यह है कि अन्न से यज्ञ करना चाहिए तथा देवताओं का पक्ष यह है कि छाग नामक पशु के द्वारा यज्ञ होना चाहिये। अब आप हमें अपना निर्णय बताइये।"[1]

---

[1] महाभारतकार के स्वयं के शब्दों में यह आख्यान इस प्रकार दिया गया है :–

तेषां संवदतामेवमृषीणां विबुधैः सह ।
मार्गागतो नृपश्रेष्ठस्तं देशं प्राप्तवान् वसुः ।।६।।
अन्तरिक्षचरः श्रीमान्, समग्रबलवाहनः ।
तं दृष्ट्वा सहसाऽऽयान्तं वसुं ते त्वन्तरिक्षगम् ।।७।।
ऊचुर्द्विजातयो देवानेष च्छेत्स्यति संशयम् ।
यज्वा दानपतिः श्रेष्ठः सर्वभूतहित प्रियः ।।८।।

वसु द्वारा हिंसापूर्ण यज्ञ का समर्थन व रसातल-प्रवेश

राजा वसु ने देवताओं का पक्ष लेते हुए कह दिया – "अज का अर्थ है छाग (बकरा) अतः बकरे के द्वारा ही यज्ञ करना चाहिए।"

यथा :–

देवानां तु मतं ज्ञात्वा, वसुना पक्षसंश्रयात् ।।१३।।
छागेनाजेन यष्टव्यमेवमुक्तं वचस्तदा ।

यह सुनकर वे सभी सूर्य के समान तेजस्वी ऋषि क्रुद्ध हो उठे और विमान पर बैठकर देवपक्ष का समर्थन करने वाले वसु से बोले – "राजन्! तुमने यह जान कर भी कि 'अज' का अर्थ अन्न है, देवताओं का पक्ष लिया है अतः तुम आकाश से नीचे गिर जाओ। आज से तुम्हारी आकाश में विचरने की शक्ति नष्ट हो जाय। हमारे शाप के आघात से तुम पृथ्वी को भेद कर पाताल में प्रवेश करोगे। नरेश्वर! तुमने यदि वेद और सूत्रों के विरुद्ध कहा हो तो हमारा यह शाप तुम पर अवश्य लागू हो और यदि हम लोग शास्त्र-विरुद्ध वचन कहते हों तो हमारा पतन हो जाय।"

ऋषियों के इतना कहते ही तत्क्षण राजा उपरिचर वसु आकाश से नीचे आ गये और तत्काल पृथ्वी के विवर में प्रवेश कर गये।

इस संदर्भ में महाभारतकार के मूल श्लोक इस प्रकार हैं :–

कुपितास्ते ततः सर्वे, मुनयः सूर्यवर्चसः ।।१४।।
ऊचुर्वसुं विमानस्थं, देवपक्षार्थवादिनम् ।
सुरपक्षो गृहीतस्ते, यस्मात् तस्माद् दिवः पत ।।१५।।
अद्यप्रभृति ते राजन्नाकाशे विहता गतिः ।
अस्मच्छापाभिघातेन, महीं भित्वा प्रवेक्ष्यसि ।।१६।।
(विरुद्धं वेदसूत्राणामुक्तं यदि भवेन्नृप ।
वयं विरुद्धवचना, यदि तत्र पतामहे ।।)
ततस्तस्मिन् मुहूर्तेऽथ, राजोपरिचरस्तदा ।
अधो वै संबभूवाशुः भूमेर्विवरगो नृप ।।१७।।

[महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३३७]

कथंस्विदन्यथा ब्रूयादेष वाक्यं महान् वसुः ।
एवं ते संविदं कृत्वा, विबुधा ऋषयस्तथा ।।९।।
अपृच्छन् सहितामेत्य, वसुं राजानमन्तिकात् ।
भो राजन् केन यष्टव्यमजेनाहोस्विदौषधैः ।।१०।।
एतन्नः संशयं छिन्धि प्रमाणं वो भवान् मतः ।
स तान् कृताञ्जलिर्भूत्वा, परिपप्रच्छ वै वसु ।।११।।
कस्य वै को मतः कामो, ब्रूत सत्यं द्विजोत्तमाः ।
धान्यैर्यष्टव्यमित्येव, पक्षोऽस्माकं नराधिप ।।१२।।
देवानां तु पशुः पक्षो मतो राजन् वदस्व नः । [महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३३७]

वसु के आठ पुत्रों में से छः पुत्र क्रमशः एक के बाद एक राजसिंहासन पर बैठते ही दैवी-शक्ति द्वारा मार डाले गये, शेष दो पुत्र 'सुवसु' और 'पिहद्वय' 'शुक्तिमती' नगरी से भाग खड़े हुए। 'सुवसु' मथुरा में जा बसा। और 'पिहद्वय' का उत्तराधिकारी राजा 'सुबाहु' हुआ। सुबाहु के पश्चात् क्रमशः 'दीर्घबाहु', वज्रबाहु, अर्द्धबाहु, भानु और सुभानु नामक राजा हुए। सुभानु के पश्चात् उनके पुत्र यदु इस हरिवंश में एक महान् प्रतापी राजा हुए। यदु के वंश में 'सौरी' और 'वीर' नाम के दो बड़े शक्तिशाली राजा हुए। महाराज सौरी ने सौरिपुर और वीर ने सौवीर नगर बसाया।[1]

भगवान् नेमिनाथ का पैतृक कुल

पूर्वकथित इन्हीं हरिवंशीय महाराज सौरी से 'अन्धकवृष्णि' और भोग-वृष्णि, दो पराक्रमी पुत्र हुए। 'अन्धकवृष्णि' के 'समुद्रविजय', अक्षोभ, स्तिमित, सागर, हिमवान्, अचल, धरण, पूरण, अभिचन्द और वसुदेव ये दश पुत्र थे[2] जो दशार्ह नाम से प्रसिद्ध हुए।

इनमें बड़े समुद्रवजिय और छोटे वसुदेव, दो विशेष प्रभावशाली थे। समुद्रविजय बड़े न्यायशील, उदार एवं प्रजावत्सल राजा हुए[3] अपने छोटे भाई वसुदेव का लालन-पालन, रक्षण, शिक्षण एवं संगोपन इनकी देख-रेख में ही होता रहा।

समय पाकर वसुदेव ने अपने पराक्रम से देश-देशान्तर में ख्याति प्राप्त की। सौरिपुर के एक भाग में उनका भी राज-शासन रहा। वसुदेव का विशेष परिचय यहां दिया जा रहा है।

वसुदेव का पूर्वभव और बाल्यकाल

कुमार वसुदेव अत्यन्त रूपवान्, पराक्रमी और लोकप्रिय थे। पूर्वजन्म में नन्दीषेण ब्राह्मण के भव में माता-पिता की मृत्यु के पश्चात् कुटुम्बीजनों ने उसे घर से निकाल दिया।

---

[1] सोरिणा सोरियपुरं निवेसावियं, वीरेण सौवीरं। [वसु० हि०, पृ० ३५७]

[2] समुद्दविजयो, अक्खोहो, थिमियो, सागरो हिमवंतो।
अयलो धरणो, पूरणो, अभिचन्दो वसुदेवो त्ति॥ [वही पृ० ३५८]

[3] सोरियपुरम्मि नयरे, आसी राया समुद्दविजओत्ति।
तस्सासि अग्गमहिसी, सिवत्ति देवी अणुज्जंगी॥
तेसिं पुत्ता चउरो, अरिट्ठनेमि तहेव रहनेमी।
तइओ अ सच्चनेमी, चउत्थओ होइ दढनेमी॥
जो सो अरिट्ठनेमि, बावीसइमो अहेसि सो अरिहा।
रहनेमी सच्चनेमी, एए पत्तेयबुद्धाउ॥
[उत्तराध्ययन नि०, गा० ४४३ – ४४५]

एक माली ने उसका पालन-पोषण कर बड़ा किया और अपनी पुत्रियों में से किसी एक से उसका विवाह करने का उसे आश्वासन दिया किन्तु जब तीनों पुत्रियों द्वारा वह पसन्द नहीं किया जाकर ठुकरा दिया गया तो उसे बड़ी आत्म-ग्लानि हुई।

नन्दीषेण ने घने बीहड़ जंगल में जाकर फांसी डालकर मरना चाहा, वहां किसी मुनि ने देखकर उसे आत्महत्या करने से रोका और उपदेश दिया। मुनि के उपदेश से विरक्त हो उसने मुनि-दीक्षा स्वीकार की एवं ज्ञान-ध्यान और तप-संयम से साधना करने लगा। कठोर तप से अपने तिरस्कृत जीवन को उपयोगी बनाने के लिए उसने प्रतिज्ञा की कि किसी भी बीमार साधु की सूचना मिलते ही उसकी सेवा करेगा फिर अन्न ग्रहण करेगा। तपस्या से उसे अनेक लब्धियां प्राप्त थीं अतः रुग्ण साधुओं की सेवा के लिए उसे जिस वस्तु की आवश्यकता होती वही मिल जाती थी। इस सेवा के कारण वह समस्त भरत-खण्ड में महातपस्वी के रूप में प्रसिद्ध हो गया।

उसकी सेवा की प्रशंसा स्वर्ग के इन्द्र भी किया करते थे। दो देवों द्वारा घृणाजनक सेवा की परीक्षा करने पर भी नन्दीषेण विचलित नहीं हुए। निस्वार्थ साधुसेवा से इन्होंने महान् पुण्य का संचय किया।

अन्त में कन्याओं द्वारा किये गये अपने तिरस्कार की बात यादकर उन्होंने निदान किया[1] कि मेरी तपस्या का फल हो तो मैं अगले मानव-जन्म में स्त्री-वल्लभ होऊं। इसी निदान के फलस्वरूप नन्दीषेण देवलोक का भव कर अन्धकवृष्णि के यहां वसुदेव रूप से उत्पन्न हुआ।

वसुदेव का बाल्यकाल बड़ा सुखपूर्वक बीता। ज्योंही वे आठ वर्ष के हुए, कलाचार्य के पास रखे गये। विशिष्ट बुद्धि के कारण अल्प समय में ही वे गुरु के कृपापात्र बन गये।[2]

वसुदेव की सेवा में कंस

जिस समय कुमार वसुदेव का विद्याध्ययन चल रहा था उस समय एक दिन एक रसवणिक् उनके पास एक बालक को लेकर आया और कुमार से अभ्यर्थना करने लगा – "कुमार! यह बालक कंस आपकी सेवा करेगा, इसे आप अपनी सेवा में रखें।"

---

[1] श्रीमद्भागवत में जो वसुदेव और नारद का संवाद दिया हुआ है उसमें भी पूर्वभव में निदान किये जाने की झलक मिलती है। यथा :–

अहं किल पुरानन्तं, प्रजार्थो भुवि मुक्तिदम्।
अपूजयं न मोक्षाय, मोहितो देवमायया ॥ ८ ॥
यथा विचित्र व्यसनाद्, भवद्भिर्विश्वतो भयात्।
मुच्येम ह्यञ्जसैवाद्धो, तथा नः शाधि सुव्रत ॥ ९ ॥

[श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ११, अ० २]

[2] वसुदेव हिण्डी।

वसुदेव ने रसवणिक् की प्रार्थना स्वीकार करली और तब से कंस कुमार की सेवा में रहने लगा और उनके साथ विद्याभ्यास करने लगा।

एक दिन जरासन्ध ने समुद्रविजय के पास दूत भेजा और कहलवाया- "सिंहपुर के उद्दण्ड राजा सिंहरथ को जो पकड़ कर मेरे पास उपस्थित करेगा उसके साथ मैं अपनी पुत्री जीवयशा का विवाह करूंगा और उपहार में एक नगर भी दूंगा।"

वसुदेव को जब इस बात की सूचना मिली तो उन्होंने समुद्रविजय से प्रार्थना की – "देव ! आप मुझे आज्ञा दें, मैं सिंहरथ को बांध कर आपकी सेवा में उपस्थित करूंगा।"

समुद्रविजय ने कुमार वसुदेव के आग्रह और उत्साह को देखकर सबल सेना के साथ उन्हें युद्ध के लिये विदा किया।

वसुदेव का युद्ध-कौशल

वसुदेव का सेना सहित आगमन सुनकर सिंहरथ भी अपने दल-बल के साथ मैदान में आ डटा, दोनों सेनाओं के बीच घमासान युद्ध हुआ। सिंहरथ के प्रचण्ड पराक्रम और तीक्ष्ण प्रहारों से वसुदेव की सेना के पैर उखड़ने लगे। यह देख कर वसुदेव ने अपने सारथी कंस को आदेश दिया कि वह उनके रथ को सिंहरथ की ओर बढ़ावे। कंस ने सिंहरथ की ओर रथ बढ़ाया और वसुदेव ने देखते ही देखते शरवर्षा की झड़ी लगाकर सिंहरथ के सारथी और घोड़ों को बाणों से बींध दिया। उन्होंने अपने रण-कौशल और हस्तलाघव से सिंहरथ को हतप्रभ कर दिया। कंस ने भी परशु-प्रहार से सिंहरथ के रथ के पहियों को चकनाचूर कर दिया और झपट कर सिंहरथ को बन्दी बना लिया एवं वसुदेव के रथ में ला रखा। यह देख सिंहरथ की सारी सेना भाग छूटी।

वसुदेव सिंहरथ को लेकर सोरियपुर लौट आये और समुद्रविजय के समक्ष उसे बन्दी के रूप में उपस्थित किया।[1] किशोरवय के कुमार वसुदेव की इस वीरता से समुद्रविजय बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने उल्लास एवं उत्सव के साथ कुमार का नगर-प्रवेश करवाया।[2]

कंस का जीवयशा से विवाह

समुद्रविजय ने एकान्त पाकर वसुदेव से कहा – "वत्स ! मैंने कोष्टुकी (नैमित्तिक) से जीवयशा के लक्षणों के सम्बन्ध में पूछा तो ज्ञात हुआ कि जीवयशा उभय-कुलों का विनाश करने वाली है अतः जीवयशा से विवाह करना श्रेयस्कर प्रतीत नहीं होता।"

---

[1] चउवन महापुरुष चरियं में वसुदेव द्वारा सिंहरथ को सीधा जरासंघ के पास ले जाने का उल्लेख है।

[2] वसुदेव हिण्डी।

वसुदेव ने समुद्रविजय की बात शिरोधार्य करते हुए कहा – "सिंहरथ को बन्दी बनाने में कंस ने साहसपूर्ण कार्य किया है, अतः उसके पारितोषिक रूप में जीवयशा का कंस के साथ पाणिग्रहण करा देना चाहिये।"

समुद्रविजय द्वारा यह प्रश्न किये जाने पर कि एक उच्च कुल के राजाधिराज की कन्या एक रसवणिक् के पुत्र से कैसे ब्याही जा सकेगी; – वसुदेव ने कहा – "महाराज ! क्षत्रियोचित साहस को देखते हुए कंस क्षत्रिय होना चाहिए न कि रसवणिक।" वास्तविकता का पता लगाने हेतु रसवणिक् को बुलाकर पूछा गया।

रसवणिक् ने कहा – "महाराज ! यह मेरा पुत्र नहीं है, मैंने तो यमुना में बहती हुई कांस्य-पेटिका से इसे प्राप्त किया है। तेज स्वभाव के कारण बड़ा होने पर यह बालकों को मारता-पीटता था। इसलिये इससे ऊबकर मैंने इसे कुमार की सेवा में रख दिया। कांसी की पेटी ही इसकी मां है और इसी लिए इसका नाम कंस रखा गया है। इसके साथ पेटी में यह नामांकित मुद्रिका भी प्राप्त हुई थी, जो सेवा में प्रस्तुत है।"

मुद्रिका पर महाराज उग्रसेन का नाम देखकर समुद्रविजय को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे सिंहरथ और कंस को लेकर जरासंध के पास पहुँचे और बन्दी सिंहरथ को जरासंध के समक्ष उपस्थित करते हुए कंस के पराक्रम की प्रशंसा की और बताया कि यह कंस महाराज उग्रसेन का पुत्र है। यह सब सुनकर जरासंध बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने अपनी पुत्री जीवयशा का कंस के साथ विवाह कर दिया।

अपने पिता द्वारा नदी में बहा दिये जाने की बात सुन कंस पहले ही अपने पिता से बदला लेने पर तुला हुआ था। जरासंध का जामाता बनते ही उसने जरासंध से मथुरा का राज्य मांग लिया और मथुरा में आकर द्वेषवश उग्रसेन को कारागृह में डालकर वह मथुरा का राज्य करने लगा।[1]

वसुदेव का सम्मोहक व्यक्तित्व

युवावस्था प्राप्त करते ही वसुदेव श्वेत परिधान पहने जातिमान् चंचल तुरंग पर सवार हो एक उपवन से दूसरे उपवन में, इस वन से उस वन में प्रकृति की छटा का आनन्द लूटने लगे। नयनाभिराम वसुदेव को राजपथ से आते-जाते देखकर नागरिक जन उनके अलौकिक सौन्दर्य की मुक्तकंठ से प्रशंसा करते और महिलाएं तो उनकी कमनीय कान्ति पर मुग्ध हो उन्हें एकटक निहारती हुई मन्त्रमुग्धा हरिणियों की तरह सुध-बुध भूले उनके पीछे-पीछे चलने लगतीं। इस प्रकार हंसी-खुशी के साथ उनका समय बीतने लगा।

एक दिन वसुदेव उपवनों से घूमकर राजप्रासाद में लौटे ही थे कि समुद्रविजय ने उन्हें बड़े दुलार से कहा – "कुमार ! तुम इस प्रकार दिन में बाहर मत

[1] वसुदेव हिण्डी।

घूमा करो, तुम्हारा सुकुमार मुख धूलिधूसरित और कुम्हलाया सा दिख रहा है। घर में ही रहकर सीखी हुई कलाओं का अभ्यास किया करो – कहीं तुम उन कलाओं को भूल न जाओ।"

वसुदेव ने सहज विनयभाव से कहा – "ऐसा ही करूंगा महाराज!" और उस दिन से वसुदेव राजप्रासाद में ही रहने लगे।

एक दिन समुद्रविजय के लिए विलेपन तैयार करती हुई कुब्जा दासी से वसुदेव ने पूछा – "यह उबटन किसके लिये तैयार कर रही हो ?"

"दासी का छोटा सा उत्तर था – "महाराज के लिए।"

"क्या यह मेरे लिये नहीं है ?"

वसुदेव के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए दासी ने कहा – "कुमार आपने अपराध किया है अतः महाराज आपको उत्तम वस्त्राभूषण विलेपनादि नहीं देते।"

जब वसुदेव ने दासी द्वारा मना किये जाने पर भी बलात् विलेपन ले लिया तो दासी ने तुनक कर कहा – "इस प्रकार के आचरणों के कारण ही तो राजप्रासादों में अवरुद्ध किये गये हो फिर भी अविनय से बाज नहीं आते।"

वसुदेव ने चौकन्ने होकर आग्रहपूर्वक दासी से पूछा – "अरि ! मेरा कौनसा अपराध हो गया है जिससे कि महाराज ने मुझे प्रासाद में ही रोक रखा है?"[1]

दासी ने कहा कि इस रहस्य के उद्घाटन से उसे राजा समुद्रविजय द्वारा दण्डित होने का डर है। वसुदेव ने प्रेमपूर्ण संभाषण से दासी को आखिर प्रसन्न कर लिया और उसने वसुदेव से कहा – "सुनिये कुमार ! एक बार आपकी अनुपस्थिति में नगर के अनेक प्रतिष्ठित नागरिकों ने महाराज के सम्मुख उपस्थित हो निवेदन किया कि शरद् पूर्णिमा के चन्द्र के समान मानव-मात्र के नयनों को आह्लादित करने वाले विशुद्ध-निर्मल चरित्रवान् छोटे राजकुमार नगर में जिस किसी स्थान से निकलते हैं तो वहां का नवयुवति-वर्ग कुमार के अलौकिक सौन्दर्य पर मुग्ध हो उनके पीछे-पीछे मन्त्रमुग्धा हरिणियों के झुण्ड की तरह परिभ्रमण करता रहता है। कुमार अब इस पथ से निकलेंगे, इस आशा में नगर की युवतियां सूर्योदय से पूर्व ही वातायनों, गवाक्षों, जाली-झरोखों और गृह-द्वारों पर जा डटती हैं और यह कहती हुई कि "जब कुमार यहां से निकलेंगे तो उन्हें देखेंगी" सारा दिन चित्रलिखित पुतलियों की तरह वहीं बैठे-बैठे बिता देती हैं तथा रात्रि में निद्रावस्था में भी बार-बार चौंक-चौंक कर बड़बड़ाती हैं – "अरे ! यह रहे वसुदेव, देखो-देखो ! यही तो हैं वसुदेव।"

रमणियां शाक, पत्र, फलादि खरीदने जाती हैं तो वहां भी उनका यही ध्यान रहता है, कहती हैं – "ला वसुदेव दे-दे।" बच्चे जब क्रन्दन करते हैं तो कुमार के आगमन-पथ पर दृष्टि डाले युवतियां बच्चों को गाय के बछड़े समझकर

[1] वसुदेव हिण्डी।

रस्सियों से बांध देती हैं। इस प्रकार सारी नगरवधुएं उन्माद की अवस्था को प्राप्त हो चुकी हैं, गृहस्थी का सारा काम-काज चौपट हो चुका है, देव और अतिथि-पूजन का प्रमुख गृहस्थाचार शिथिल हो नष्टप्राय हो चुका है। अतः देव ! कृपा कर ऐसा प्रबन्ध कीजिये कि कुमार बार-बार उद्यान में नहीं जायें।"

इस पर महाराज समुद्रविजय ने उन लोगों को आश्वस्त करते हुए कहा – "आप लोग विश्वस्त रहें, मैं कुमार को ऐसा करने से रोक दूंगा।" जो परिजन वहां उपस्थित थे उन्हें महाराज ने निर्देश दिया कि इस सम्बन्ध में कुमार से कोई कुछ भी नहीं कहें।"

दासी के मुंह से यह सब सुनकर वसुदेव बड़े चिन्तित हुए और उन्होंने निश्चय किया कि अब उनका वहां रहना श्रेयस्कर नहीं है। उन्होंने अपना स्वर और वेश बदलने की गोलियां तैयार कीं और सन्ध्या-समय वल्लभ नामक दास के साथ नगर के बाहर चले आये। श्मशान में एक शव को पड़ा देखकर वसुदेव ने अपने दास वल्लभ से कहा – "लकड़ियां लाकर चिता तैयार कर।[1]"

सेवक ने चिता तैयार कर दी। वसुदेव ने सेवक से फिर कहा – "अरे ! जा मेरे शयनागार से मेरा रत्नकरण्डक ले आ, द्रव्य का दान कर मैं अग्नि-प्रवेश करता हूं।" वल्लभ ने कहा – "स्वामिन् ! यदि आपने यही निश्चय किया है तो आपके साथ मैं भी अग्नि-प्रवेश करूंगा।"

वसुदेव ने कहा – "जैसा तुझे अच्छा लगे वही करना पर ख़बरदार इस रहस्य का भेद किसी को मत देना। रत्नकरण्डक लेकर शीघ्र लौट आ।"

"अभी लाया महाराज !" यह कहकर वल्लभ शीघ्रता से नगर की ओर दौड़ा।

वसुदेव ने उस अनाथ के शव को चिता पर रखकर अग्नि प्रज्वलित कर दी और श्मशान में पड़ी एक अधजली लकड़ी से माता और गुरुजनों से क्षमा मांगते हुए यह लिख दिया – "विशुद्ध स्वभाव का होते हुए भी नागरिकों ने दोष लगाया इसलिए वसुदेव ने अपने आपको आग में जला डाला।"

पत्र को श्मशान में एक खम्भे से बांध कर वसुदेव त्वरित गति से वहां से चल पड़े। बड़ी लम्बी दूरी तक पथ से दूर चलते हुए वे एक मार्ग पर आये और मार्ग तय करने लगे। उस मार्ग से एक युवती गाड़ी में बैठी हुई ससुराल से अपने मातृगृह को जा रही थी। वसुदेव को देखते ही उसने अपने साथ के वृद्ध से कहा – "ओह ! यह परम सुकुमार ब्राह्मणकुमार पैदल चलते हुए परिश्रान्त हो गया होगा। इसे गाड़ी में बैठा लो। आज रात अपने घर पर विश्राम कर कल आगे चला जायगा।"

वृद्ध ने गाड़ी में बैठने का आग्रह किया। गाड़ी में बैठे हुए सब की निगाहों

[1] वसुदेव हिण्डी।

से छुपकर जा सकूंगा, यह सोचकर वसुदेव गाड़ी में बैठ गए। सुगाम नामक नगर में पहुँचकर स्नान, ध्यान भोजनादि से निवृत्त हो वसुदेव विश्राम करने लगे।

पास ही के यक्षायतन में उस गांव के कुछ लोग बैठे हुए थे। कुमार ने उन्हें नगर से आये हुए लोगों द्वारा यह कहते हुए सुना – "आज नगर में एक बड़ी दुखद घटना हो गई, कुमार वसुदेव ने अग्नि-प्रवेश कर आत्मदाह कर लिया। वसुदेव का वल्लभ नामक सेवक जलती हुई चिता को देखकर करुण क्रन्दन करता हुआ नगर में दौड़ा आया। लोगों द्वारा कारण पूछे जाने पर उसने कहा कि जनापवाद के डर से राजकुमार वसुदेव ने चिता में जलकर प्राणत्याग कर दिये।[1] इतना सुनते ही नगर में सर्वत्र चीत्कार और हाहाकार मच गया।

नागरिकों के रुदन को सुनकर नौ ही भाई तत्काल श्मशान में पहुँचे और वहां कुमार के हाथ से लिखे हुए पत्र को पढ़कर शोक से रोते-रोते उन्होंने चिता को घृत और मधु से सींचा; चन्दन, अगर और देवदारु की लकड़ियों से आच्छादित कर दिया तथा उसे जलाकर प्रेतकार्य सम्पन्न कर वे सब अपने घर को लौट गये।"

यह सब सुन कर वसुदेव को चिन्ता हुई। उनके मुंह से अनायास निकल गया – "यह सांसारिक बन्धन कितना गूढ और रहस्यपूर्ण है, चलो, मेरे आत्मीयजनों को विश्वास हो गया कि वसुदेव मर गया। अब वे मेरी कोई खोज नहीं करेंगे, अब मुझे निश्शंक हो निर्विघ्न रूप से स्वच्छन्द-विचरण करना चाहिए।"

रात भर विश्राम कर वसुदेव ने दूसरे दिन वहां से प्रस्थान किया और वैताढ़ य गिरि की उपत्यकाओं में बसे विभिन्न नगरों और अनेक देशों में पर्यटन किया। वसुदेव ने अपने इस पर्यटन-काल में अनेक अद्भुत साहसपूर्ण कार्य किये, वेदों और अनेक विद्याओं का अध्ययन किया। वसुदेव के सम्मोहक व्यक्तित्व और अद्भुत पराक्रम पर मुग्ध हो अनेकों बड़े-बड़े राजाओं ने अपनी सर्वगुण-सम्पन्न सुन्दर कन्याओं का उनके साथ विवाह कर विपुल सम्पदाओं से उन्हें सम्मानित किया।

एकदा देशाटन करते हुए वसुदेव कोशल जनपद के प्रमुख नगर अरिष्टपुर में पहुँचे। वहां उन्हें ज्ञात हुआ कि कोशलाधीश महाराज 'रुधिर' की अनुपम रूपगुण-सम्पन्ना राजकुमारी 'रोहिणी' के स्वयंवर में जरासन्ध, दमघोष, दन्तवक्त्र, पाण्डु, समुद्रविजय, चन्द्राभ और कंस आदि अनेकों बड़े-बड़े अवनिपति आये हुए हैं तो वसुदेव भी पणव-वाद्य हाथ में लिये स्वयंवर-मण्डप में पहुँचे और एक मंच पर जा बैठे।[2]

परिचारिकाओं से घिरी हुई राजकुमारी 'रोहिणी' ने वरमाला हाथ में लेकर ज्यों ही स्वयंवर-मण्डप में प्रवेश किया, सारा राज-समाज उसके अनुपम सौन्दर्य की कान्ति से चकाचौंध हो चित्रलिखित सा रह गया। यह त्रैलोक्य

[1] वसुदेव हिण्डी।
[2] वसुदेव हिण्डी।

सुन्दरी न मालूम किस का वरण करेगी इस आशंका से सबके दिल धड़क रहे थे, सबकी धमनियों में रक्तप्रवाह उच्चतम गति को पहुंच चुका था।

जिन राजाओं के सामने से रोहिणी अपने हाथों में ली हुई वरमाला को बिना हिलाये ही आगे बढ़ गई उन राजाओं के मुख राहु-ग्रस्त सूर्य की तरह निस्तेज हो काले पड़ गये। वसुदेव ने अपने पणव पर हल्का सा मन्द-मधुर नाद किया कि रोहिणी मन्त्रमुग्धा मयूरी की तरह बड़े-बड़े राजाओं-महाराजाओं का अतिक्रमण करती हुई वसुदेव की ओर बढ़ गई और वसुदेव की ओर देखते ही उनके गले में वरमाला डाल दी व उनके मस्तक पर अक्षतकण चढ़ा कर रनिवास में चली गई।

मण्डप में इससे हलचल मच गई। सब राजा लोग एक दूसरे से पूछने लगे—"किसका वरण किया?" उत्तर में अनेकों के स्वर गूंज रहे थे—"एक गायक को।"

राजाओं का क्षोभ उग्र रूप धारण करने लगा। महाराज दन्तवक्त्र ने गरजते हुए कोशलाधीश को कहा—"तुम्हारी कन्या यदि एक गायक को ही चाहती थी तो इन उच्चकुलीन बड़े-बड़े क्षत्रिय-राजाओं को क्यों आमन्त्रित किया गया? कोई क्षत्रिय इस अपमान को सहन नहीं करेगा।"

कोशलपति ने कहा—"स्वयंवर में कन्या को अपना पति चुनने की स्वतन्त्रता है, इसके अनुसार उसने जिसको योग्य समझा उसे अपना पति बना लिया। अब पर-दारा की आकांक्षा करना क्या किसी कुलीन के लिए शोभाप्रद है?"

दन्तवक्त्र ने कहा—"तुमने अपनी कन्या को स्वयंवर में दिया है, यह ठीक है पर मर्यादा का अतिक्रमण तो नहीं होना चाहिये। अतः तुम्हारी कन्या इस वर को छोड़कर किसी भी क्षत्रिय का वरण करे।"[1]

वसुदेव ने दन्तवक्त्र को सम्बोधित करते हुए कहा—"दन्तवक्त्र! जैसा तुम्हारा नाम टेढ़ा है वैसी ही टेढ़ी तुम बात भी कर रहे हो। क्या क्षत्रियों के लिये कला-कौशल की शिक्षा वर्जित है, जो तुम मेरे हाथ में पणव को देखने मात्र से ही समझ रहे हो कि मैं क्षत्रिय नहीं हूँ?"

इस पर दमघोष ने कहा—"अज्ञातवंश वाले को कन्या किसी भी दशा में नहीं दी जा सकती अतः राजकुमारी इसे छोड़कर अन्य किसी भी क्षत्रिय का वरण करे।"

विदुर द्वारा यह मत प्रकट करने पर कि इनसे इनके वंश के सम्बन्ध में पूछ लिया जाय; वसुदेव ने कहा—"क्यों कि सब विवाद में लगे हुए हैं अतः कुल-परिचय के लिए यह उपयुक्त समय नहीं है, अब तो मेरा बाहुबल ही मेरे कुल का परिचय देगा।"

[1] वसुदेव हिण्डी

इतना सुनते ही जरासन्ध ने क्रुद्ध-स्वर में कहा – "पकड़ लो राजा रुधिर को।"

कोशलपति ने भी अपनी सेना तैयार कर ली। स्वयम्वर में एकत्रित सब राजाओं ने मिलकर उन पर आक्रमण किया और भीषण संग्राम के पश्चात् कोशलपति को घेर लिया। यह देख अरिंजयपुर के विद्याधर-राजा 'दधिमुख' के रथ में आरूढ़ हो वसुदेव ने सबको ललकारा। वसुदेव के इस अदम्य साहस और तेज से राजा लोग बड़े विस्मित हुए और कहने लगे "ओह! कितना इसका साहस है जो सब राजाओं के समक्ष एकाकी युद्ध हेतु सन्नद्ध है।"

सब राजाओं को एक साथ वसुदेव पर आक्रमण करने के लिए उद्यत देख महाराज पाण्डु ने कहा – "यह क्षत्रियों का धर्म नहीं है कि अनेक मिलकर एक पर आक्रमण करें।"

महाराज पाण्डु से सहमति प्रकट करते हुए जरासंध ने भी निर्णायक स्वर में कहा – "हां, एक-एक राजा इसके साथ युद्ध करे, जो जीत जायगा उसही की रोहिणी पत्नी होगी।"

इस प्रकार युद्ध प्रारम्भ होने पर वसुदेव ने क्रमशः शत्रुंजय, दन्तवक्त्र और कालमुख जैसे महापराक्रमी राजाओं को अपने अद्भुत रणकौशल से पराजित कर दिया।

इन शक्तिशाली राजाओं को पराजित हुआ देख कर जरासन्ध ने महाराज समुद्रविजय से कहा – "आप इस शत्रु को पराजित कर सब क्षत्रियों की अनुमति से रोहिणी को प्राप्त करें।"

अन्ततोगत्वा महाराज समुद्रविजय शरवर्षा करते हुए वसुदेव की ओर बढ़े। वसुदेव ने समुद्रविजय के बाणों को काट गिराया, पर उन पर प्रहार नहीं किया।[1] इस पर समुद्रविजय कुपित हुए। उस समय वसुदेव ने अपना नामांकित बाण उनके चरणों में प्रेषित किया। वसुदेव के नामांकित तीर को देखकर समुद्रविजय चकित हुए, गौर से देखा और धनुष-बाण को एक ओर रख हर्षोन्मत्त हो वे वसुदेव की ओर बढ़े। वसुदेव भी शस्त्रास्त्र रखकर अपने बड़े भाई की ओर अग्रसर हुए।

समुद्रविजय ने अपने चरणों में झुकते हुए वसुदेव को बाहु-पाश में आबद्ध कर हृदय से लगा लिया। अक्षोभादि शेष आठ भाई और महाराज पाण्डु, दमघोष आदि भी हर्षोत्फुल्ल हो वसुदेव से मिले और कंस भी बड़े प्रेम से वसुदेव की सेवा में आ उपस्थित हुआ।

जरासन्ध आदि सब राजा कोशलेश्वर के भाग्य की सराहना करने लगे। इससे प्रसन्न हो कोशलपति रुधिर ने भी बड़े समारोह के साथ वसुदेव से रोहिणी

[1] वसुदेव हिण्डी।

का विवाह सम्पन्न किया। उत्सव की समाप्ति पर सब नरेश अपने-अपने नगरों को प्रस्थान कर गए, पर महाराजा रुधिर के आग्रह के कारण समुद्रविजय को एक वर्ष तक अरिष्टपुर में ही रहना पड़ा। कंस भी इस अवधि में वसुदेव के साथ ही रहा। कोशलेश के आग्रह को मान देते हुए समुद्रविजय ने वसुदेव को अरिष्टपुर में कुछ दिन और रहने की अनुमति प्रदान की और अन्त में विदा होते हुए समुद्रविजय ने वसुदेव से कहा – "कुमार ! तुम बहुत घूम चुके हो, अब सब कुलवधुओं को साथ लेकर शीघ्र ही घर आ जाना।"

कंस ने भी विदा होते समय वसुदेव से कहा – "देव सूरसेण राज्य आपका ही है, मैं वहां आप द्वारा रक्षित मात्र हूँ।"

वसुदेव और रोहिणी बड़े आनन्द के साथ अरिष्टपुर में रहे। वहां रहते हुए रोहिणी ने एक रात्रि में चार शुभ-स्वप्न देखे और समय पर चन्द्रमा के समान गौरवर्ण पुत्र को जन्म दिया। रोहिणी के इस पुत्र का नाम बलराम रखा गया।

तदनन्तर कुछ समय अरिष्टपुर में रहने के पश्चात् वसुदेव अपनी सामली, नीलयशा, मदनवेगा, प्रभावती, विजयसेना, गन्धर्वदत्ता, सोमश्री, धनश्री, कपिला, पद्मा, अश्वसेना, पोंडा, रत्तवती, प्रियंगुसुंदरी, बन्धुमती, प्रियदर्शना, केतुमती, भद्रमित्रा, सत्यरक्षिता, पद्मावती, पद्मश्री, ललितश्री और रोहिणी – इन रानियों के साथ चलकर सोरियपुर आ पहुँचे।

कुछ समय पश्चात् कंस वसुदेव के पास आया और बड़े ही अनुनय-विनय के साथ प्रार्थना कर उन्हें सपरिवार मथुरा ले गया। वसुदेव भी मथुरा के राज-प्रासादों में बड़े आनन्द के साथ रहने लगे।[1]

वसुदेव-देवकी विवाह और कंस को वचन-दान

एक दिन कंस की राय से महाराज वसुदेव देवक राजा की पुत्री देवकी को वरण करने के लिए मृत्तिकावती नगरी की ओर चले। बीच में ही उन्हें नेम-नारद मिले। वसुदेव ने उनसे देवकी के बारे में पूछा तो नारद ने उसके रूप, गुण और शील की बड़ी प्रशंसा की। यह सुनकर वसुदेव ने नेम-नारद से कहा – "आर्य ! जैसा देवकी का वर्णन आपने मेरे सामने किया है वैसे ही देवकी के सामने मेरा परिचय भी रखना।"

"एवमस्तु" कह कर नारद वहां से राजा देवक के यहां गये और देवकी के सामने वसुदेव के रूप, गुण की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

वसुदेव कंस के साथ मृत्तिकावती पहुँचे और कंस द्वारा वसुदेव के गुणवर्णन से प्रभावित होकर देवक ने शुभ दिन में वसुदेव के साथ देवकी का विवाह कर दिया।[2]

---

[1] वसुदेव हिण्डी।

[2] कंसेण तस्स दिन्ना, पित्तिय धूया य देवकी णामं। [च० म० पु० च० पृ० १८३]

वसुदेव के सम्मान में देवक ने बहुत सा धन, दास, दासी और कोटि गायों का गोकुल, जो कि नन्द को प्रिय था, दहेज रूप में अर्पित किया। बड़ी ऋद्धि के साथ देवकी को लेकर वसुदेव वहां से चलकर मथुरा पहुँचे। कंस भी उस मंगल महोत्सव में वसुदेव के साथ मथुरा पहुँचा और विनयपूर्वक वसुदेव से बोला कि देव ! इस खुशी के अवसर पर मुझे भी मुंहमांगा उपहार दीजिये।

वसुदेव के 'हां' कहने पर हर्षित हो कंस ने देवकी के सात गर्भ मांगे। मैत्री के वश सहज भाव से बिना किसी अनिष्ट की आशंका के वसुदेव ने कंस की बातें मानलीं।

कंस के चले जाने पर वसुदेव को मालूम हुआ कि अतिमुक्तक कुमार श्रमण ने कंस-पत्नी जीवयशा द्वारा उन्हें देवकी का आनन्दवस्त्र दिखाकर उपहास किये जाने पर[1] क्रुद्ध हो कर कहा था – "जिस पर प्रसन्न हो तू नाचती है, उस देवकी का सातवां पुत्र तेरे पति और पिता का घातक होगा।"

कंस ने श्रमण के इसी शाप से भयभीत हो कर उक्त वरदान की याचना की है। वसुदेव ने मन ही मन विचार किया – "क्षत्रिय कभी अपने वचन से पीछे नहीं लौटते। मैंने शुद्ध मन से जब एक बार कंस को गर्भदान का वचन दे दिया है तो फिर इस वचन का निर्वाह करना ही होगा, भले ही इसके लिए बड़ी से बड़ी विपत्ति का सामना क्यों न करना पड़े।"[2]

विवाह के पश्चात् देवकी ने क्रमशः छः बार गर्भ धारण किये पर प्रसवकाल में ही देवकी के वे छः पुत्र सुलसा गाथापत्नी के यहां तथा सुलसा के छः मृत पुत्र देवकी के यहां हरिणैगमेषी देव ने अपनी देवमाया द्वारा अज्ञात रूप से पहुँचा दिये। वे ही छः पुत्र वसुदेव ने अपनी प्रतिज्ञानुसार प्रसव के तुरन्त पश्चात् ही कंस को सौंपे और कंस ने उन्हें मृत समझकर फेंक दिया।

सातवीं बार जब देवकी ने गर्भ धारण किया तो सात महाशुभ-स्वप्न देख कर वह जागृत हुई और वसुदेव से स्वप्नों का हाल कह सुनाया। वसुदेव ने भी स्वप्नफल सुनाते हुए कहा – "देवि ! तुम एक महान् भाग्यशाली पुत्र को जन्म दोगी। यही तुम्हारा सातवां पुत्र अइमुत्त श्रमण के वचनानुसार कंस और जरासंध का विघातक होगा।"

---

[1] (क) आनन्दवस्त्रमेतत्ते, देवक्याः स्वसुरीक्ष्यताम् ॥

[हरिवंश पु० स० ३० श्लोक ३३]

(ख) जीवजसाए हसिओ, अइमुत्त मुणी य मत्ताए ॥४३॥
तेणय कोवावूरिय, हियएणं मुणिवरेण सा सत्ता।
जो देवतीय गब्भो, सो तुह पइणो विणासाय ॥४४॥

[च० म० पु० पृष्ठ १८३]

[2] वसुदेव हिण्डी।

देवकी स्वप्नफल सुनकर बड़ी प्रसन्न हुई और वसुदेव से एकान्त में बोली – "देव ! कृपा कर इस सातवें गर्भ की रक्षा करना, इसमें जो वचन-भंग का पाप होगा वह मुझे हो, पर एक पुत्र तो मेरा जीवित रहना ही चाहिए।"

वसुदेव ने देवकी को आश्वस्त किया। नव मास पूर्ण होने पर देवकी ने कमलदलसम श्याम कान्ति वाले महान् तेजस्वी बालक को जन्म दिया।

प्रसवकाल में देवकी की संतान का स्थानान्तरण न हो, इस शंका से कंस ने पहरेदार नियुक्त कर रखे थे। देवकी के जब पूर्ण काल में तेजस्वी पुत्ररत्न का जन्म हुआ उस समय दिव्य प्रभाव से पहरेदार निद्राधीन हो गये। ज्ञात कर्म होने पर वसुदेव जब बालक को गोकुल की ओर ले जाने लगे उस समय मन्द २ वर्षा होने लगी। देवता ने अदृश्य छत्र धारण किया और दोनों ओर दो दिव्य ज्योतियां जगमगाती हुई साथ-साथ चलने लगीं।

वसुदेव निरबाध अंधेरी रात में कृष्ण को लिए चल पड़े और यमुना नदी को सरलता से पार कर व्रज पहुँचे। वहां नन्द गोप की पत्नी यशोदा ने उसी समय एक बालिका को जन्म दिया था। यशोदा को बालक अर्पित किया और बालिका को लेकर वसुदेव तत्काल अपने भवन में लौट आये तथा देवकी के पास कन्या रख कर शीघ्र अपने शयनागार में चले गये। कंस की दासियां जागृत हुईं और सद्यःजाता उस बालिका को लेकर कंस की सेवा में उपस्थित हुईं। कंस भी अपना भय टला समझ कर प्रसन्न हुआ।[1]

कंस को देवकी की संतान के हाथों अपनी मृत्यु होने का भय था अतः वह नहीं चाहता था कि देवकी की कोई संतान जीवित बची रहे।

इसी कारण श्रीकृष्ण की सुरक्षा हेतु उनका लालन-पालन गोकुल में किया गया। बालक कृष्ण के अनेक अद्भुत शौर्य और साहसपूर्ण कार्यों से कंस को संदेह हो गया कि कहीं यही बालक बड़ा होने पर उसका प्राणान्त न कर दे, अतः उसने बालक कृष्ण को मरवा डालने के लिये अनेक षड्यन्त्र किये।

कंस ने अपने अनेक विश्वस्त मायावी मित्रों एवं सहायकों को छद्म वेष में गोकुल भेजा। बालक कृष्ण को मार डालने के लिये अनेक बार छल, प्रपंच-पूर्ण प्रयास किये गये पर हर बार श्रीकृष्ण को मारने का प्रयास करने वाले वे मायावी ही बलराम और कृष्ण द्वारा मार डाले गये।

अन्त में कंस ने मथुरा में अपने राजप्रासाद में मल्लयुद्ध का आयोजन किया और कृष्ण एवं बलराम को मारने के लिये मदोन्मत्त दो हाथियों व चाणूर तथा मुष्टिक नामक दो दुर्दान्त मल्लों को तैनात किया पर कृष्ण और बलराम ने उन दोनों मल्लों और मत्त हाथियों को मौत के घाट उतार दिया।

अपने षड्यन्त्र को विफल हुआ देखकर कंस बड़ा क्रुद्ध हुआ। उसने अपने योद्धाओं को आदेश दिया कि वे कृष्ण और बलराम को तत्काल मार डालें।

[1] वसुदेव हिण्डी के आधार पर।

तत्क्षण कंस के अनेक सैनिक कृष्ण और बलराम पर टूट पड़े। महाबली बलराम कंस के सैनिकों का संहार करने लगे और कृष्ण ने क्रुद्ध शार्दूल की तरह छलांग भर कर कंस को राजसिंहासन से पृथ्वी पर पटक कर पछाड़ डाला।

इस प्रकार कृष्ण ने कंस का वध कर डाला और कंस के अत्याचारों से त्रस्त प्रजा ने सुख की सांस ली।

कंस के वध से जरासंध का प्रकोप

कंस के मारे जाने पर महाराज समुद्रविजय ने उग्रसेन को कारागार से मुक्त कर अपने भाइयों तथा बलराम एवं कृष्ण के परामर्श से मथुरा के राजसिंहासन पर बिठाया। उग्रसेन ने भी अपनी पुत्री सत्यभामा का श्रीकृष्ण के साथ बड़ी धूमधाम से विवाह कर दिया।

अपने पति कंस की मृत्यु से क्रुद्ध हो जीवयशा यह कहती हुई राजगृह (कुसुमपुर)[1] की ओर प्रस्थान कर गयी कि बलराम कृष्ण और दशार्हों का संतति सहित सर्वनाश करके ही वह शान्त बैठेगी, अन्यथा अग्नि-प्रवेश कर आत्मदाह कर लेगी।

जीवयशा ने राजगृह पहुंचकर रोते-रोते अपने पिता जरासंध को मुनि अतिमुक्तक की भविष्यवाणी से लेकर कृष्ण द्वारा कंसवध तक का सारा विवरण कह सुनाया।

जरासंध सारा वृत्तान्त सुनकर अपनी पुत्री के वैधव्य से बड़ा दुखित हुआ। उसने जीवयशा को आश्वस्त करते हुए कहा – "पुत्री ! तू मत रो। अब तो सब ही यादवों की स्त्रियां रोवेंगी। मैं यादवों को मारकर पृथ्वी को यादव-विहीन कर दूंगा।"

कालकुमार द्वारा यादवों का पीछा और अग्नि-प्रवेश

अपनी पुत्री को आश्वस्त कर जरासंध ने अपने पुत्र एवं सेनापति कालकुमार को आदेश दिया कि वह पांच सौ राजाओं और एक प्रबल एवं विशाल सेना के साथ जाकर समस्त यादवों को मौत के घाट उतार दे।

नाम के अनुरूप ही सेनापति कालकुमार ने जरासंध के समक्ष प्रतिज्ञा की – "देव ! यादव लोग जहां भी गये होंगे उनको मारकर ही मैं लौटूंगा। अगर वे मेरे भय से अग्नि में भी प्रवेश कर गये होंगे तो मैं वहां भी उनका पीछा करूंगा।"

जब यादवों को अपने गुप्तचरों से यह पता चला कि कालकुमार टिड्डीदल के समान अपार सेना लेकर मथुरा की ओर बढ़ रहा है तो मथुरा और शौर्यपुर से १८ कोटि यादवों को अपनी चल-सम्पत्ति सहित साथ लेकर समुद्रविजय

[1] चउप्पन्न महापुरिस चरियं में कुसुमपुर को जरासंध की राजधानी बताया गया है। यथा...
कुसुमपुरे णयरे जरासंधो महाबलपरक्कमी राया। [पृ० १८१]

और उग्रसेन ने दक्षिण-पश्चिम समुद्र की ओर प्रयाण कर दिया। कल्पान्त कालीन विक्षुब्ध समुद्र की तरह कालकुमार की सेना यादवों का पीछा करती हुई बड़ी तेजी के साथ बढ़ने लगी और थोड़े ही समय में विन्ध्य पर्वत की उन उपत्यकाओं के पास पहुंच गयी जहां से थोड़ी ही दूरी पर समस्त यादवों ने पड़ाव डाल रक्खा था।

उस समय हरिवंश की कुलदेवी ने अपनी देव-माया से उस मार्ग पर एक ही द्वार वाला गगनचुम्बी पर्वत खड़ा कर दिया और उसमें अगणित चितायें जला दीं।

कालकुमार ने उस उत्तुंग गिरिराज की घाटी में अपनी सेना के साथ प्रवेश किया और देखा कि वहां अगणित चितायें धांय-धांय करती हुई जल रही हैं तथा एक बड़ी चिता के पास बैठी हुई एक बुढ़िया हृदयद्रावी करुण-विलाप कर रही है।

कालकुमार ने उस बुढ़िया से पूछा – "वृद्धे ! यह सब क्या है और तुम इस तरह फूट-फूटकर क्यों रो रही हो ?"

उसने सिसकियां भरते हुए उत्तर दिया – "देव ! त्रिखण्डाधिपति जरासंध के भय से समस्त यादव समुद्र की ओर भागे चले जा रहे थे। जब उन्हें यह सूचना मिली कि साक्षात् काल के समान कालकुमार एक प्रचण्ड सेना के साथ उनका संहार करने के लिये उनके पीछे – पवनवेग से बढ़ता हुआ आ रहा है तो अपने प्राणों की रक्षा का कोई उपाय न देख कर उन्होंने यहां चिताएं जला लीं और सबने धधकती चिताओं में प्रवेशकर आत्मदाह कर लिया है। दशों ही दशार्ह, बलदेव और कृष्ण भी इन चिताओं में जल मरे हैं। अतः अपने कुटुम्बियों के विनाश से दुखित होकर अब मैं भी अग्नि-प्रवेश कर रही हूं।"

यह कहकर वह महिला धधकती हुई उस भीषण चिता में कूद पड़ी और कालकुमार के देखते २ जलकर राख हो गयी।

यह देखकर कालकुमार ने अपने भाई सहदेव, यवन एवं साथ के राजाओं से कहा – "मैंने अपने पिता के समक्ष प्रतिज्ञा की थी कि यदि यादव आग में प्रविष्ट हो जायेंगे तो उनका पीछा करते हुए आग में से भी मैं उन्हें बाहर खींच-खींचकर मारूंगा। सब यादव मेरे डर से आग में कूद पड़े हैं तो अब मैं भी अपनी प्रतिज्ञा के निर्वाह हेतु आग में कूदूंगा और एक-एक यादव को आग में से घसीट-घसीटकर मारूंगा।"

यह कहकर कालकुमार हाथ में नंगी तलवार लिये हुए क्रोधावेश में परिणाम की चिंता किये बिना चिता की धधकती आग में प्रवेश कर गया और अपने बंधु-बांधवों एवं सैनिकों के देखते ही देखते जलकर भस्मीभूत हो गया।

जरासन्ध की सेना हाथ मलते हुए वापिस राजगृह की ओर लौट पड़ी।

द्वारिका नगरी का निर्माण

जब यादवों को कालकुमार के अग्निप्रवेश और जरासन्ध की सेना के लौट जाने की सूचना मिली तो वे प्रसन्नतापूर्वक समुद्रतट की ओर बढ़ने लगे। उन्होंने सौराष्ट्र प्रदेश में रैवत पर्वत के पास आकर अपना खेमा डाला।

वहां सत्यभामा ने भानु और भामर नामक दो युगल पुत्रों को जन्म दिया एवं कृष्ण ने दो दिन का उपवास कर लवण समुद्र के अधिष्ठाता सुस्थित देव का एकाग्रचित्त से ध्यान किया।

तृतीय रात्रि में सुस्थित देव ने प्रकट हो श्रीकृष्ण को पांचजन्य शंख और बलराम को सुघोष नामक शंख एवं दिव्य-रत्न और वस्त्रादि भेंट में दिये तथा कृष्ण से पूछा कि उसे किस लिए याद किया गया है?

श्रीकृष्ण ने कहा – "पहले के अर्द्धचक्रियों की द्वारिका नगरी को आपने अपने अंक में छुपा लिया है। अब कृपाकर वह मुझे फिर दीजिए।"

देव ने तत्काल उस स्थल से अपनी जलराशि को हटा लिया। शक्र की आज्ञा से वैश्रवण ने उस स्थल पर बारह योजन लम्बी और ९ योजन चौड़ी द्वारिकापुरी का एक अहोरात्र में ही निर्माण कर दिया। अपार धनराशि से भरे मणिखचित भव्य प्रासादों, सुन्दर वापी-कूप-तड़ागों और रमणीय उद्यानों एवं विस्तीर्ण राजपथों से सुशोभित दृढ़ प्राकारयुक्त तथा अनेक गोपुरों वाली द्वारिकापुरी में यादवों ने शुभ-मुहूर्त्त में प्रवेश किया और वे वहां महान् समृद्धियों का उपभोग करते हुए आनन्द से रहने लगे।

द्वारिका की स्थिति

द्वारिका के पूर्व में शैलराज रैवत, दक्षिण में माल्यवान पर्वत, पश्चिम में सौमनस पर्वत और उत्तर में गन्धमादन पर्वत था।[1] इस तरह चारों ओर से उत्तुंग एवं दुर्गम शैलाधिराजों से घिरी हुई वह द्वारिकापुरी प्रबल से प्रबल शत्रुओं के लिए भी अजेय और दुर्भेद्य थी।

बालक अरिष्टनेमि की अलौकिक बाललीलाएं

जरासन्ध के आतंक से जिस समय यादवों ने मथुरा और शौर्यपुर से निष्क्रमण कर अपने समस्त परिवार स्त्री, पुत्र, कलत्र आदि के साथ समुद्रतट की ओर प्रयाण किया उस समय भगवान् अरिष्टनेमि की आयु लगभग चार, साढ़े चार वर्ष की थी और वे भी अपने माता-पिता तथा बन्धु-बान्धवों के साथ थे।[2]

---

[1] तस्याः पुरो रैवतकोऽपाच्यामासीत्तु माल्यवान्।
सौमनसोऽद्रि प्रतीच्यामुदीच्यां गन्धमादनः ।।४१८।।
[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ८, सर्ग ५]

[2] त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ८, सर्ग ५, श्लोक १९५

यादवों के द्वारिका नगरी में बस जाने पर बालक अरिष्टनेमि दशों दशार्हों और राम-कृष्ण आदि को प्रमुदित करते हुए क्रमशः बड़े होने लगे। उनकी विविध बाल-लीलाएं बड़ी ही आकर्षक और अतिशय आनन्दप्रदायिनी होती थीं अतः उनके साथ खेलने की अद्भुत सुखानुभूति के लिये उनसे बड़ी वय के यादवकुमार भी अरिष्टनेमि के सुकोमल छोटे शरीर के अनुरूप अपना कद छोटा बनाने की चेष्टा करते हुए खेला करते थे।[1]

बालक अरिष्टनेमि की सभी बाल-लीलाएं और समस्त चेष्टाएं माता-पिता, परिजनों एवं नागरिकों को आश्चर्यचकित कर देने वाली होती थीं। यादव कुल के सभी राजकुमारों में बालक अरिष्टनेमि अतिशय प्रतिभाशाली, ओजस्वी एवं अनुपम शक्ति-सम्पन्न माने जाते थे। आपके हर कार्य और आपकी हर चेष्टा को देखकर देखने वाले बड़े प्रभावित हो जाते थे और उन्हें यह दृढ़ विश्वास हो गया था कि यह बालक आगे चलकर महान् प्रतापी महापुरुष होगा और संसार में अनेक महान् कार्य करेगा।

राजकीय समुचित लालन-पालन के पश्चात् ज्योंही अरिष्टनेमि कुछ बड़े हुए तो उन्हें योग्य आचार्य के पास विद्याभ्यास कराने की बात सोची गई। पर महाराज समुद्रविजय ने देखा कि बालक अरिष्टनेमि तो इस वय में भी स्वतः ही सर्व-विद्यासम्पन्न हैं, उन्हें क्या सिखाया जाये ? महापुरुषों में पूर्वजन्मों की संचित ऐसी अलौकिक प्रतिभा होती है कि वे संसार के उच्च से उच्च कोटि के विद्वानों को भी चमत्कृत कर देते हैं।

जिस प्रकार श्रीकृष्ण का बाल्यकाल गोकुल में और शेष प्रायः सारा जीवन भीषण संघर्षों में बीतने के कारण आचार्य संदीपन के पास शिक्षा-ग्रहण का उन्हें यथेष्ट समय नहीं मिला पर फिर भी वे सर्वकला-विशारद थे।

भगवान् अरिष्टनेमि तो जन्म से ही विशिष्ट मति, श्रुति एवं अवधिज्ञान के धारक थे। उन्हें भला संसार का कोई भी कलाचार्य या शिक्षाशास्त्री क्या सिखाता ?

जरासन्ध के दूत का यादव सभा में आगमन

यादवों के साथ द्वारिकापुरी में रहते हुए बलराम और कृष्ण ने अनेक राजाओं को वश में कर अपनी राज्यश्री का विस्तार किया। यादवों की समृद्धि और ऐश्वर्य की यशोगाथाएं देश के सुदूर प्रान्तों में भी गाई जाने लगीं।

जब जरासन्ध को ज्ञात हुआ कि उसके शत्रु यादवगण तो अतुल धनसम्पत्ति के साथ द्वारिका में देवोपम सुख भोग रहे हैं और उसका पुत्र कालकुमार व्यर्थ

[1] तन्वन्मुदं दशार्हाणां, भ्रात्रोश्च हलिकृष्णयोः।
अरिष्टनेमिर्भगवान्, ववृधे तत्र च क्रमात् ।।२।।
ज्यायांसोऽपि लघूभूय, चिक्रीडुः स्वामिना समम्।
सर्वेऽपि भ्रातरः क्रीड़ा शैलोद्यानादि भूमिषु ।।३।।
[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ८, सर्ग ६]

ही पतंगे की तरह छल-प्रपंच से अग्नि-प्रवेश द्वारा मारा गया तो उसने क्रुद्ध होकर एक दूत समुद्रविजय के पास द्वारिका भेजा।

दूत ने द्वारिका पहुँचकर यादवों की सभा में महाराज समुद्रविजय को सम्बोधित करते हुए जरासन्ध का उन लोगों के लिए लाया हुआ सन्देश सुनाया-

"मेरा सेनापति मारा गया उसकी तो मुझे चिन्ता नहीं है क्योंकि अपने स्वामी के लिये रणक्षेत्र में जूझने वाले सुभटों के लिये विजय या प्राणाहुति इन दो में से एक अवश्यंभावी है। पर अपने भुजबल और पराक्रम पर ही विश्वास करने वाले आप जैसे युद्धनीति-निपुण राजाओं के लिए इस प्रकार का छल-प्रपंच नितान्त अशोभनीय और निन्दाजनक है। आप लोगों ने युद्धनीति का उल्लंघन कर जो कपटपूर्ण व्यवहार कालकुमार के साथ किया है उसका फल भोगने के लिए उद्यत हो जाइये। त्रिखण्ड भरताधिपति महाराज जरासन्ध अपने कल्पान्त-कालोपम क्रोधानल में सब यादवों को भस्मीभूत कर डालने के लिए सदलबल आ रहे हैं। अब चाहे आप लोग समुद्र के उस पार चले जाओ, दुर्गम पर्वतों के शिखरों पर चढ़ जाओ, चाहे ईश्वर की भी शरण में चले जाओ, तो भी किसी दशा में कहीं पर भी आप लोगों के प्राणों का त्राण नहीं है। अब तो आप लोग यदि डर कर पाताल में भी प्रवेश कर जाओगे तो भी क्रुद्ध शार्दूल जरासन्ध तुम्हारा सर्वनाश किये बिना नहीं रहेगा।"

जरासन्ध के दूत के मुख से इस प्रकार की अत्यन्त कटु और धृष्टतापूर्ण बातें सुनकर अक्षोभ, अचल आदि दशार्हों, बलराम-कृष्ण, प्रद्युम्न, शाम्ब और सब यदुसिंहों के भुजदण्ड फड़क उठे; यहां तक कि त्रैलोक्यैकधीर, अथाह अम्बोधि-गम्भीर, किशोर अरिष्टनेमि की शान्त मुखमुद्रा पर भी हल्की सी लाली दृष्टिगोचर होने लगी। यादव योद्धाओं के हाथ अनायास ही अपने-अपने शस्त्रों पर जा पड़े।

महाराज समुद्रविजय ने इंगित मात्र से सबको शान्त करते हुए घनवत् गम्भीर स्वर में कहा – "दूत! यदि यादवों के विशिष्ट गुणों पर मुग्ध हो स्नेह के वशीभूत होकर किसी देवी ने तुम्हारे सेनापति को मार दिया तो इसमें यादवों ने कौनसा छल-प्रपञ्च किया?"

"यदि पीढ़ियों से चले आ रहे अपने परस्पर के प्रगाढ़ प्रेमपूर्ण सम्बन्धों को तोड़कर तेरा स्वामी सेना लेकर आ रहा है तो उसे आने दे। यादव भी भीरु नहीं हैं।"

भोज नरेश उग्रसेन ने कहा – "सुनो दूत! तुम दूत हो और हमारे घर आये हुए हो अतः यादव तुम्हें अवध्य समझकर क्षमा कर रहे हैं। अब व्यर्थ प्रलाप की आवश्यकता नहीं। जाओ और अपने स्वामी से कह दो कि जो कार्य प्रारम्भ कर दिया है उसे आप शीघ्र पूर्ण करो।"[1]

[1] चउवन महापुरुष चरियम् [पृ. १८९-९०]

उस समय की राजनीति

दूत के चले जाने के अनन्तर दशार्ह, बलराम-कृष्ण, भोजराज उग्रसेन, मन्त्रिपरिषद् और प्रमुख यादव मन्त्रणार्थ मन्त्रणाभवन में एकत्रित हुए। गुप्त मंत्रणा आरम्भ करते हुए समुद्रविजय ने मन्त्रणा-परिषद् के समक्ष यह प्रश्न रखा – "हमें इस प्रकार की अवस्था में शत्रु के साथ किस नीति का अवलम्बन करते हुए कैसा व्यवहार करना चाहिये ?"

भोजराज उग्रसेन ने कहा – "महाराज ! राजनीति-विशारदों ने साम, भेद, उपप्रदान (दाम) और दण्ड – ये चार नीतियां बताई हैं। जरासन्ध के साथ साम-नीति से व्यवहार करना अब पूर्णरूपेण व्यर्थ है क्योंकि अब वह हमारी ओर से किये गये मृदु से मृदुतर व्यवहार से भी छेड़े हुए भयानक काले नाग की तरह क्रुद्ध हो कर फूत्कार कर उठेगा।"

"दूसरी जो भेदनीति है उसका भी जरासन्ध पर प्रयोग किया जाना असंभव है क्योंकि मगधेश द्वारा अतिशय दान-मानादि से सुसमृद्ध एवं सम्मानित उसके समस्त सामन्त मगधपति के ऋण से उऋण होने के लिये उसके एक ही इंगित पर अपने सर्वस्व और प्राणों तक को न्यौछावर करने में अपना अहोभाग्य समझते हैं।"

"तीसरी उपप्रदान (दाम) नीति का तो जरासन्ध के विरुद्ध प्रयोग करना नितान्त असाध्य है। क्योंकि जरासन्ध ने अपनी अनुपम उदारता से अपने समस्त सामन्तों, अधिकारियों एवं सैनिकों तथा दास-दासियों को कंचन-कामिनी, मणि रत्नादि से पूर्ण वैभवसम्पन्न बना रखा है।"

"अतः चौथी दण्ड-नीति का अवलम्बन ही हमारे लिये उपादेय और श्रेयस्कर है।"

"इन चार नीतियों के अतिरिक्त नीति-निपुणों ने एक और उपाय भी बताया है कि अजेय प्रबल शत्रु से संघर्ष को टालने हेतु उसके समक्ष आत्म-समर्पण कर देना चाहिये अथवा अपने स्थान का परित्याग कर किसी अन्य स्थान की ओर पलायन कर जाना चाहिये।"

"पर ये दोनों प्रकार के हीन आचरण हमारे आत्म-सम्मान के घातक हैं और बलराम व कृष्ण जैसे पुरुषसिंह जब हमारे सहायक हैं, उस अवस्था में पलायन अथवा आत्म-समर्पण का प्रश्न ही नहीं उठता।"

"किन्तु दण्ड-नीति का अवलम्बन करते समय रण-नीति के इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का अक्षरशः पालन करना होगा कि युद्ध में उलझा हुआ व्यक्ति अन्तिम विजय तक प्राण-पण से जूझता रहे और एक क्षणभर के लिये भी सुख और विश्राम की आकांक्षा न करे।"

उग्रसेन की साहस और नीतिपूर्ण बातों का सभी सभासदों ने 'साधु-साधु' कहकर एक स्वर से समर्थन करते हुए कहा – "धन्य है आपकी नीतिकुशलता,

मार्मिक अभिव्यंजना और वीरोचित गौरव-गरिमा को। हम सब हृदय से आपका अभिनन्दन करते हैं।"

तदनन्तर सभी सभासद महाराज समुद्रविजय का अभिमत जानने के लिये उनकी ओर उत्कंठित हो देखने लगे।

महाराज समुद्रविजय ने गम्भीर स्वर में कहा – "महाराज उग्रसेन ने मानो मेरे ही मन की बात कह दी है। जिस प्रकार तीव्र ज्वर में सम अर्थात् ठंडी औषधि ज्वर के प्रकोप को भीषण रूप से बढ़ा देती है, उसी प्रकार अपने बल-दर्प से गर्वोन्मत्त शत्रु के प्रति किया गया साम – नीति का व्यवहार उसके दर्प को बढ़ाने वाला और अपनी भीरुता का द्योतक होता है।"

"भेद-नीति भी छल-प्रपञ्च, कुटिलता और वंचना से भरी होने के कारण गर्हित और निन्दनीय है अतः वह भी महापुरुषों की दृष्टि में हेय मानी गई है।"

"इसी तरह उपप्रदान की नीति भी आत्मसम्मान का हनन करने वाली व अपमानजनक है।"

"अतः अभिमानी जरासन्ध के गर्व को चूर-चूर करने के लिए हमें दण्ड-नीति का ही प्रयोग करना चाहिये और वह भी दुर्ग का आश्रय लेकर नहीं अपितु उसके सम्मुख जाकर उसकी सीमा पर उससे युद्ध करना चाहिये। क्योंकि दुर्ग का आश्रय लेकर शत्रु से लड़ने में संसार के सामने अपनी भीरुता प्रकट होने के साथ ही साथ अपने राज्य के बहुत बड़े भाग पर शत्रु का अधिकार हो जाता है।[1]

शत्रु के सम्मुख जाकर उसकी सीमा पर युद्ध करने की दशा में अपनी भीरुता के स्थान पर पौरुषता प्रकट होती है, अपने राज्य का समस्त भू-भाग अपने अधिकार में रहता है, शत्रु भी हमारे शौर्य एवं साहस से आश्चर्यचकित हो किंकर्त्तव्यविमूढ हो जाता है, अपनी प्रजा और सैन्यबल का साहस तथा मनोबल बढ़ता है और अपनी सीमा-रक्षक सेनाएं भी युद्ध में हमारी सहायता कर सकती हैं। दण्ड-नीति के इन सब गुणों को ध्यान में रखते हुए हमारे लिये यही श्रेयस्कर है कि हम अपने शत्रु को उसके सम्मुख जाकर युद्ध में परास्त करें।"

दोनों ओर युद्ध की तैयारियां

मन्त्रणा-परिषद् में उपस्थित सभी सदस्यों ने जयजयकार और हर्षध्वनि के साथ महाराज समुद्रविजय की मन्त्रणा को स्वीकार किया। शंख-ध्वनि और रणभेरी के नाद से समस्त गगनमण्डल गूंज उठा। मित्र राजाओं के पास तत्काल दूत भेज दिये गये। योद्धा रण-साज सजने लगे।

[1] चउवन महापुरुष चरियम् [पृ० १८४-८५]

शुभ मुहूर्त में यादवों की चतुरंगिणी प्रबल सेना ने रणक्षेत्र की ओर प्रलयकालीन आंधी की तरह प्रयाण कर दिया। आषाढ़ की घनघोर मेघघटा के गर्जन तुल्य 'घर-घर' रव से गगनमण्डल को गुँजाते हुए रथों के पहियों से, तरल तुरंग-सेना की टापों से और पदाति सेना के पाद-प्रहारों से उड़ी हुई धूलि के समूहों ने अस्ताचल पर अस्त होने वाले सूर्य को मध्याह्न-वेला में ही अस्तप्राय कर दिया।

इस तरह कूच पर कूच करती हुई यादवों की सेना कुछ ही दिनों में द्वारिका से ४५ योजन अर्थात् ३६० माइल (१८० कोस) दूर सरस्वती नदी के तटवर्ती सिनीपल्ली (सिणवल्लिया) नामक ग्राम के पास पहुंची और वहां रणक्षेत्र के लिये उपयुक्त समतल भूमि देख, वहां पर सैन्य-शिविरों का निर्माण करा समुद्रविजय ने सेना का पड़ाव डाल दिया।[1]

यादवों की सेना के पड़ाव से आगे अर्थात् सेनपल्ली ग्राम से ४ योजन की दूरी पर जरासन्ध की सेना पड़ाव डाले हुए थी।[2]

यादव सेना ने जिस समय सेनपल्ली में पड़ाव डाला उस समय अपने भ्रमणकाल में वसुदेव द्वारा उपकृत कतिपय विद्याधर-पति अपनी सेनाओं के साथ यादवों की सहायता के लिये वहां आये और उन्होंने समुद्रविजय को प्रणाम कर निवेदन किया – "आपके महामहिम यादव कुल में यों तो महापुरुष अरिष्टनेमि एकाकी ही समस्त विश्व का त्राण और विनाश करने में समर्थ हैं, कृष्ण और बलदेव जैसे अनुपम बलशाली व प्रद्युम्न, शाम्ब आदि करोड़ों योद्धा हैं, वहां हमारे जैसे लोग आपकी सहायता कर ही क्या सकते हैं। तथापि हम भक्तिवश इस अवसर पर आपकी सेवा में आ गये हैं, अतः आप हमें अपने सामन्त समझ कर आज्ञा दीजिये कि हम भी आपकी यथाशक्ति सेवा करें। कृपा कर आप वसुदेव को हमारा सेनापति रखिये और शाम्ब एवं प्रद्युम्न को वसुदेव की सहायतार्थ हमारे साथ रखिये।"

उन विद्याधरों ने समुद्रविजय से यह भी निवेदन किया "वैताढ्य गिरि के अनेक शक्तिशाली विद्याधर-राजा मगधराज जरासन्ध के मित्र हैं और वे जरासन्ध की इस युद्ध में सहायता करने के लिये अपनी सेनाओं के साथ आ रहे

---

[1] (क) कइवय पयाणएहिं च पत्ता सरस्सतीए तीरासण्णं सिणवल्लियाहियाणं गामं ति। तत्थ य समथल समरजोग्ग भूमिभागम्मि आवासियो समुद्दविजओ त्ति।
[चउवन म. पु. च. पृ. १८६]

(ख) पंच चत्वारिंशतं तु योजनानि स्वकात् पुरात्।
गत्वा तस्थौ सेनपल्ल्यां, ग्रामे संग्राम कोविदः।।
[त्रिषष्टि शलाका पु. च., पर्व ८, स. ७, श्लो. १९६]

[2] अर्वाग् जरासंध सैन्याच्चतुर्भिर्योजनैः स्थिते।
[त्रिषष्टि श. पु. च., प. ८, सं. ७, श्लो. १९७]

हैं। आप हमें आज्ञा दें कि हम उन विद्याधर पतियों को वैताढ्य गिरि पर ही युद्ध करके उलझाये रखें।"

समुद्रविजय ने कृष्ण की सलाह से वसुदेव, शाम्ब और प्रद्युम्न को विद्याधरों के साथ रहकर वैताढ्य गिरि के जरासन्ध-समर्थक विद्याधर राजाओं के साथ युद्ध करने का आदेश दिया। उस समय भगवान् अरिष्टनेमि ने अपनी भुजा पर जन्माभिषेक के समय देवताओं द्वारा बांधी गई अस्त्रों के प्रभाव का निराकरण करने वाली औषधि वसुदेव को प्रदान की।[1]

अमात्य हंस की जरासन्ध को सलाह

गुप्तचरों द्वारा यादवों की सेना के आगमन का समाचार सुन कर जरासन्ध के हंस नामक अमात्य ने जरासन्ध को समझाने का प्रयास करते हुए कहा—"त्रिखण्डाधिपते! अपने हित तथा अहित की मन्त्रणा के पश्चात् ही प्रारम्भ किया हुआ कार्य श्रेयस्कर होता है। बिना मन्त्रणा किये कार्य करने के फलस्वरूप कंस काल का ग्रास बन गया। याद कीजिये आपकी उपस्थिति में ही रोहिणी के स्वयंवर के समय अकेले वसुदेव ने सब राजाओं को पराजित कर दिया था। वसुदेव से भी बलिष्ठ समुद्रविजय ने अनेक बार आपकी सेनाओं की रक्षा की है। अब तो उनकी शक्ति में पहले से भी अधिक अभिवृद्धि हो चुकी है।"

"वसुदेव के पुत्र कृष्ण और बलराम दोनों ही अतिरथी हैं। इन दोनों का प्रवल प्रताप और ऐश्वर्य देखिये कि स्वयं वैश्रवण ने इनके लिये अलका सी अनुपम द्वारिकापुरी का निर्माण किया है। महाकाल के समान प्रबल पराक्रमी भीम और अर्जुन, बलराम और कृष्ण के समान बलवाले शाम्ब एवं प्रद्युम्न आदि अगणित अजेय योद्धा यादव-सेना में हैं। यादव-सेना के अन्यान्य वीरों की नाम पूर्वक गणना की आवश्यकता नहीं, अकेले अरिष्टनेमि को ही ले लीजिये। वे एकाकी केवल अपने ही भुजबल से समस्त पृथ्वी को जीतने में समर्थ हैं।"

"इधर आपकी सेना में सबसे उच्चकोटि के योद्धा शिशुपाल और रुक्मी हैं जिनका बल आप रुक्मिणी-हरण के समय देख चुके हैं कि किस तरह हलधर के हाथों वे पराजित हुए।"

"दुर्योधन और शकुनि कायरों की तरह केवल छल-बल ही जानते हैं अतः उनकी वीरों में कहीं गणना ही नहीं की जा सकती। कर्ण अथाह समुद्र में मुट्ठी भर शक्कर के समान है क्योंकि यादव सेना में एक करोड़ महारथी हैं।"

"हमारी सेना में केवल आप ही एक अतिरथी हैं जबकि यादव-सेना में श्री अरिष्टनेमि, कृष्ण और बलराम ये तीन अतिरथी हैं। अच्युतेन्द्र आदि सभी

[1] तदा च वसुदेवाय प्रददेऽरिष्टनेमिना।
जन्मस्नात्रे सुरैर्बद्धा, बद्धौषध्यस्त्रवारणी॥ —[त्रि. श. पु. च., पर्व ८, स. ७ – श्लो. २०६]

सुरेन्द्र जिनके चरणों में भक्तिपूर्वक सिर झुकाते हैं, भला उन अरिष्टनेमि के साथ युद्ध करने का दुस्साहस कौन कर सकता है।"[१]

"जिस दिन आपका प्रिय पुत्र कालकुमार कुलदेवी द्वारा छलपूर्वक मार दिया गया उसी दिन से आपका भाग्य आपसे विपरीत हो गया। नीति का अनुसरण करते हुए यादव शक्तिशाली होते हुए भी मथुरा से भागकर द्वारिका में जा बसे। अब भी कृष्ण स्वेच्छा से आपके साथ युद्ध करने नहीं आया है अपितु पूंछ पर पार्ष्णि-प्रहार कर जिस तरह भीषण काले विषधर को बिल से आकृष्ट किया जाता है उसी प्रकार वह आपके द्वारा आकृष्ट किया जाकर आपके सम्मुख आया है।"

"इतना सब कुछ हो जाने पर भी अभी समय है। आप यदि इसके साथ युद्ध नहीं करेंगे तो यह अपने आप ही द्वारिका की ओर लौट जायगा।"

हंस के मुख से इस कटु-सत्य को सुनकर जरासन्ध आग-बबूला हो गया और उसे तिरस्कृत करते हुए बोला – "दुष्ट ! तेरे मुख से शत्रु की प्रशंसा सुन कर ऐसा आभास होता है कि इन मायावी यादवों ने तुझे भेद-नीति से अपनी ओर मिला लिया है। मूर्ख ! तू शत्रु की सराहना करके मुझे डराने का व्यर्थ-प्रयास मत कर। आज तक कभी कहीं शृगालों की 'हुकी-हुकी' से सिंह डरा है। ये अकिंचन ग्वाले तेरे देखते ही देखते मेरी क्रोधाग्नि में जल कर भस्म हो जायेंगे।"

दोनों सेनाओं की व्यूह-रचना

तदनन्तर दोनों सेनाओं ने व्यूह-रचना आरम्भ की। जरासन्ध के सेनानियों ने चक्रव्यूह की रचना की। उस चक्रव्यूह में एक हजार आरे रखे गये। प्रत्येक आरे पर एक-एक नृपति, एक सौ हाथी, २ हजार रथी, पांच हजार अश्वारोही सैनिक और सोलह हजार प्रवल पराक्रमी, भीषण-संहारक शास्त्रास्त्रों से सुसज्जित पदाति-सैनिक तैनात किये गये। चक्रनाभि के चारों ओर नियत किये गये ११२५० राजाओं के बीच त्रिखण्डाधिपति जरासन्ध ने उस चक्रव्यूह की नाभि में इस भीषण युद्ध का संचालन करने के लिये मोर्चा सम्हाला।

मगधेश्वर की पीठ के पीछे की ओर गान्धार और सिन्धु जनपद की सेनाएं, दक्षिण-पार्श्व में दुर्योधन आदि १०० भाइयों की कौरव-सेनाएं, आगे की ओर मध्य-प्रदेश के सभी राजा और वाम-पार्श्व में अगणित भूपतियों की सेनाएं मोर्चा सम्हाले युद्ध के लिये तैयार खड़ी थीं।

चक्रव्यूह के इन एक हजार आरों की प्रत्येक संधि पर पांच सौ शकट-व्यूहों की रचना की गई। प्रत्येक शकट-व्यूह के मध्य में एक-एक नृपति उन शकट-व्यूहों

[१] नेमिः कृष्णो वलश्चातिरथाः परबले त्रयः। त्वमेक एव स्वबले बलयोर्महदन्तरम् ॥
अच्युताद्याः सुरेन्द्रा यं, नमस्कुर्वन्ति भक्तितः। तेन श्री नेमिना सार्धं, युद्धाय प्रोत्सहेत कः ॥
[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र प. ८ स. ७ श्लो. २२०-२१]

के समुचित संचालन के लिये नियत किये गये थे। उस चक्रव्यूह के चारों ओर विविध प्रकार के अभेद्य व्यूहों की रचना की गई।

इस प्रकार महाकाल के आन्त्रजाल की तरह विशाल, दुर्गम, दुर्भेद्य, अजेय और सुदृढ़ चक्रव्यूह की रचना सम्पन्न हो जाने पर जरासन्ध ने अनेक भीषण युद्धों को जीतने वाले विकट योद्धा कौशल-नरेश हिरण्यनाभ को चक्रव्यूह के सेनापति पद पर अभिषिक्त किया।

यादवों ने भी जरासन्ध के दुर्भेद्य चक्रव्यूह से टक्कर लेने में सक्षम, गरुड़ की तरह भीषण प्रहार करने वाले गरुड़-व्यूह की रचना की।

गरुड़ के शौण्ड-तुण्ड (चोंच) के आकार के गरुड़-व्यूह के अग्रभाग पर पचास लाख उद्भट यादव-योद्धाओं के साथ कृष्ण और बलराम सन्नद्ध थे। कृष्ण-बलराम के पृष्ठभाग पर जराकुमार, अनाधृष्टि आदि सभी वसुदेव-पुत्र अपने एक लाख रथी-योद्धाओं के साथ तैनात थे। इनके पीछे उग्रसेन अपने पुत्रों सहित एक करोड़ रथारोही सैनिकों के साथ डटे थे। उग्रसेन की सहायता के लिए अपने योद्धाओं सहित धर, सारण आदि यदुवीर, उग्रसेन के दक्षिण-पार्श्व में प्रबल प्रतापी स्वयं महाराज समुद्रविजय अपने भाइयों, पुत्रों और अगणित सैनिकों के साथ शत्रु सेना के लिए काल के समान प्रतीत हो रहे थे।

अतिरथी अरिष्टनेमि, तथा महारथी महानेमि, सत्यनेमि, दृढ़नेमि, सुनेमि, विजयसेन, मेघ, महीजय, तेजसेन, जयसेन, जय और महाद्युति ये समुद्रविजय के पुत्र उनके दोनों पार्श्व में एवं अनेकों नृपति पच्चीस लाख रथी-योद्धाओं के साथ परिपार्श्व में उनकी सहायतार्थ सन्नद्ध थे।

समुद्रविजय के वामपक्ष की ओर बलराम के पुत्र तथा धृतराष्ट्र के सौ पुत्रों का संहार करने के लिये कृत-संकल्प पाण्डवपुत्र युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव अपनी सेना के साथ भीषण संहारक शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित खड़े थे। पाण्डवों के पीछे की ओर २५ लाख रथारूढ़ सैनिकों के साथ सात्यकि आदि अनेकों महारथी तथा इनके पृष्ठ-भाग में ६० लाख रथी सैनिकों के साथ सिंहल, बर्बर, कम्बोज, केरल और द्रविड़ राज्यों के महिपाल अपनी सेनाओं के साथ नियुक्त किये गये।

विषधरों पर पंख फैला कर विद्युत् वेग से झपटते हुए गरुड़ की मुद्रा के आकार वाले इस गरुड़-व्यूह के दोनों पक्षों की रक्षार्थ भानु, भामर, भीरुक, असित, संजय, शत्रुंजय, महासेन, वृहद्ध्वज, कृतवर्मा आदि अनेकों महारथी शक्तिशाली अश्वारोहियों, रथारोहियों, गजारोहियों एवं पदाति योद्धाओं के साथ नियुक्त किये गये थे।

इस प्रकार स्वयं श्रीकृष्ण ने शत्रु पर भीषण प्रहार करने में गरुड़ के समान अत्यन्त शक्तिशाली अभेद्य गरुड़-व्यूह की रचना की।

महाराज समुद्रविजय ने कृष्ण के बड़े भाई अनाधृष्टि को जब यादव-सेना का सेनापति नियुक्त किया उस समय शंख आदि रणवाद्यों की ध्वनि एवं यादव-सेना के जय-घोषों से गगनमण्डल गूंज उठा। दोनों ओर के योद्धा भूखे मृगराज की तरह अपने २ शत्रुदल पर टूट पड़े।

भ्रातृ-स्नेह के कारण अरिष्टनेमि भी युद्ध के लिए रणांगण में जाने को तत्पर हुए। यह देखकर इन्द्र ने उनके लिए दिव्य शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित जैत्ररथ और अपने सारथी मातलि को भेजा। मातलि द्वारा प्रार्थना करने पर अरिष्टनेमि सूर्य के समान तेजस्वी रथ पर आरूढ़ हुए।[1]

दोनों व्यूहों के अग्रभाग पर स्थित दोनों पक्षों की रक्षक सेनाओं के योद्धा प्राणपण से अपने शत्रु का संहार करने में जुट गये। बड़ी देर तक भीषण संग्राम होता रहा पर उनमें से कोई भी अपने प्रतिपक्षी के व्यूह का भेदन नहीं कर सके।

अन्त में जरासन्ध के सैनिकों ने गरुड़-व्यूह की रक्षार्थ आगे की ओर लड़ती हुई यादव-सेना की सुदृढ़ अग्रिम रक्षापंक्ति को भंग करने में सफलता प्राप्त कर ली। उसी समय कृष्ण ने गरुड़-ध्वज को फहराते हुए अपने सैनिकों को स्थिर किया। तत्काल महानेमि, अर्जुन और अनाधृष्टि ने अपने-अपने शंखों के घोर निनाद के साथ क्रुद्ध हो जरासंध की अग्रिम सेना पर भीषण आक्रमण किया और प्रलय-पवन के वेग की तरह बढ़कर न केवल जरासंध के चक्रव्यूह की रक्षक सेनाओं का ही संहार किया अपितु चक्रव्यूह को भी तीन ओर से तोड़कर उसमें तीन बड़ी-बड़ी दरारें डाल दीं। ये तीनों महान् योद्धा प्रलयकाल की घनघोर घटाओं के समान शरवर्षा करते हुए शत्रु-सेना के अगणित उद्भट योद्धाओं को धराशायी करते हुए जरासन्ध के चक्रव्यूह में काफी गहराई तक घुस गये। इनके पीछे यादव-सेना की अन्य पंक्तियां भी चक्रव्यूह के अन्दर प्रवेशकर शत्रु-सैन्य का दलन करने लगी।[2]

---

[1] भ्रातृस्नेहाद्युयुत्सुं च शक्रो विज्ञाय नेमिनम्।
प्रैषीद्रथं मातलिनो, जैत्रं शस्त्रांचितं निजम् ॥२६१॥
सूर्योदयमिवातन्वन्, स रथो रत्नभासुरः।
उपानीतो मातलिनालंचक्रेऽरिष्टनेमिना ॥२६२॥

[2] उद्वेलित विक्षुब्ध समुद्र की तरह बढ़ती हुई जरासन्ध की विशाल सेना को अरिष्टनेमि द्वारा पराजित करने का आचार्य शीलांक ने चउवन महापुरिस चरियं में इस प्रकार वर्णन किया है :-

अहणवर तत्थ थक्कइ कढिणगुणप्पहर किणइयपउट्ठो।
तेल्लोक्कमंदिरक्खंभविब्भमोऽरिट्ठवरणेमी ॥११४॥

तओ आयण्णायड्ढिय चंडकोयंडमुक्कसरपसरेण लीहायड्ढियंव, तुलिय तेल्लोकधीर-मुण्णपयावेणं थंभियंव, अचिंतसत्तिसामत्थयामंतेण मोहियं-व, धरियं पराणीयं। एत्थावसरम्मिय एक्कपाससंगलन्तकुमारारुगयरामकेसवं, अण्णओ भीम अज्जुण-णउल-सहदेवाहिट्ठियजुहिट्ठिलं, अण्णओ भोयरायदोवव्वेयससहोदर-समुद्दविजयं पयट्टियं पहाणसमरं ति।

[च० म० पु० च०, पृष्ठ १८८]

महानेमि, अर्जुन और अनाधृष्टि निरन्तर जरासंध की सेना को अर्कतूल (आक की रूई) की तरह धुनते हुए आगे बढ़ने लगे। इन तीनों महारथियों ने शत्रु-सेना में प्रलय मचा दी। अर्जुन के गाण्डीव धनुष की टंकारों से जरासंध की सेना के हृदय धड़क उठे, उसके द्वारा की गई शरवर्षा से दिशाएं ढंक गईं और अंधकार सा छा गया। तीव्र वेग से शत्रु-सेना में बढ़ते हुए अर्जुन से युद्ध करने के लिए दुर्योधन अपनी सेना के साथ उसके सम्मुख आ खड़ा हुआ। अनाधृष्टि से रौधिर और महानेमि से रुक्मी युद्ध करने लगे।

इन छहों वीरों का बड़ा भीषण युद्ध हुआ, दुर्योधन रुक्मी और रौधिर की रक्षार्थ जरासन्ध के अनेक योद्धा मिलकर अर्जुन अनाधृष्टि और महानेमि पर शस्त्रास्त्रों से प्रहार करने लगे। महानेमि ने रुक्मी के रथ को चूर-चूर कर दिया और उसके सब शस्त्रास्त्रों को काटकर शस्त्र-विहीन कर दिया। शत्रुंजय आदि सात राजाओं ने देखा कि रुक्मी महानेमि के द्वारा काल के गाल में जाने ही वाला है तो वे सब मिलकर महानेमि पर टूट पड़े। शत्रुंजय द्वारा महानेमि पर चलाई गई भीषण ज्वाला-मालाकुला-अमोघ शक्ति को अरिष्टनेमि की अनुज्ञा प्राप्त कर मातलि ने महानेमि के बाण में वज्र आरोपित कर विनष्ट कर दिया।

इस तरह युद्ध भीषणतर होता गया। इस युद्ध में अर्जुन ने जयद्रथ और कर्ण को मार डाला। भीम ने दुर्योधन, दु:शासन आदि अनेक धृतराष्ट्र पुत्रों को मौत के घाट उतार दिया। महाबली भीम ने जरासन्ध की सेना के हाथियों को हाथियों से, रथों को रथों से और घोड़ों को घोड़ों से भिड़ाकर शत्रु-सेना का भयंकर संहार कर डाला।

युधिष्ठिर ने शल्य को, सहदेव ने शकुनि को रणक्षेत्र में हरा कर यमधाम पहुँचा दिया। महाराज समुद्रविजय के जयसेन और महींजय नामक दो पुत्र जरासन्ध के सेनापति हिरण्यनाभ से लड़ते हुए युद्ध में काम आये। सात्यकि ने भूरिश्रवा को मौत के घाट उतार दिया। महानेमि ने प्राग्ज्योतिषपति भगदत्त को और उसके मदोन्मत्त हस्ति-श्रेष्ठ को मार डाला।

यादव-सेना के सेनापति अनाधृष्टि ने जरासन्ध की सेना के सेनापति हिरण्यनाभ के साथ युद्ध करते हुए उसके धनुष के टुकड़े करके रथ को भी नष्ट कर डाला और उसे पदाति, केवल असिपाणि देख कर वे भी अपने रथ से तलवार लिये कूद पड़े। दोनों सेनाओं के सेनापतियों का अद्भुत असियुद्ध बड़ी देर तक होता रहा। अन्त में अनाधृष्टि ने अपनी तलवार से हिरण्यनाभ के सिर को धड़ से अलग कर दिया।

अपने सेनापति हिरण्यनाभ के मारे जाते ही जरासन्ध की सेना में हाहाकार और भगदड़ मच गई एवं यादव-सेना के जयघोषों से नभमण्डल प्रतिध्वनित हो उठा।

उस समय अंशुमाली अस्ताचल की ओट में अस्त हो चुके थे अतः दोनों सेनाएं अपने-अपने शिविरों की ओर लौट गई।

जरासंध ने अपने सेनानायकों और मन्त्रियों से मंत्रणा कर सेनापति के स्थान पर शिशुपाल को अभिषिक्त किया।

दूसरे दिन भी यादव-सेना ने गरुड़-व्यूह और जरासन्ध की सेना ने चक्रव्यूह की रचना की और दोनों सेनाएं रणक्षेत्र में आमने-सामने आ डटीं। रणवाद्यों और शंख-ध्वनि के साथ ही दोनों सेनाएं क्रुद्ध हो भीषण हुंकार करती हुई रणक्षेत्र में जूझने लगीं।

क्रुद्ध जरासन्ध धनुष की प्रत्यंचा से टंकार करता हुआ बलराम एवं कृष्ण की ओर वढ़ा। जरासन्ध-पुत्र युवराज यवन भी बड़े वेग से अक्रूरादि वसुदेव के पुत्रों पर शरवर्षा करता हुआ आगे बढ़ा। देखते ही देखते संग्राम बड़ा वीभत्स रूप धारण कर गया।

सारण कुमार ने तलवार के एक ही प्रहार से यवन कुमार का सिर काट गिराया। अपने पुत्र की मृत्यु से क्रुद्ध हो जरासन्ध यादव-सेना का भीषण रूप से संहार करने लगा। उसने बलराम के आनन्द आदि दश पुत्रों को बलि के बकरों की तरह निर्दयतापूर्वक काट डाला।

जरासन्ध द्वारा दश यदुकुमारों और अनेक योद्धाओं का संहार होते देखकर यादवों की सेना के पैर उखड़ गये। खिल-खिलाकर अट्टहास करते हुए शिशुपाल ने कृष्ण से कहा – "अरे कृष्ण ! यह गोकुल नहीं है, रणक्षेत्र है।"

शिशुपाल से कृष्ण ने कहा – "शिशुपाल ! अभी तू भी उनके पीछे-पीछे ही जाने वाला है।"

कृष्ण का यह वाक्य शिशुपाल के हृदय में तीर की तरह चुभ गया और उसने कृष्ण पर अनेक दिव्यास्त्रों की वर्षा के साथ-साथ गालियों की भी बर्षा प्रारम्भ कर दी।

कृष्ण ने शिशुपाल के धनुष, कवच और रथ की धज्जियां उड़ा दीं। जब शिशुपाल तलवार का प्रहार करने के लिए कृष्ण की ओर लपका तो कृष्ण ने उसके मुकुट, तलवार और सिर को काट कर पृथ्वी पर गिरा दिया।

अपने सेनापति शिशुपाल का अपने ही समक्ष वध होते देख कर जरासंध अत्यन्त क्रुद्ध हो विक्रान्त-काल की तरह अपने पुत्रों और राजाओं के साथ कृष्ण की ओर झपटा तथा यादवों से कहने लगा – "यादवों ! क्यों वृथा ही मेरे हाथ से मरना चाहते हो, अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है, यदि प्राणों का त्राण चाहते हो तो कृष्ण और बलराम – इन दोनों ग्वालों को पकड़ कर मेरे सम्मुख उपस्थित कर दो।"

जरासन्ध की इस बात को सुनते ही यादव योद्धा आँखों से आग और धनुषों से वाण बरसाते हुए जरासन्ध पर टूट पड़े। पर अकेले जरासन्ध ने ही तीव्र वाणों के प्रहारों से उन अगणित योद्धाओं को वेध डाला। यादव-सेना इधर-उधर भागने लगी।

जरासन्ध के २८ पुत्रों ने एक साथ बलराम पर आक्रमण किया। एकाकी बलराम ने उन सब जरासन्ध-पुत्रों के साथ घोर संग्राम किया और जरासन्ध के देखते ही देखते उन अट्ठाइसों ही जरासन्ध-पुत्रों को अपने हल द्वारा अपनी ओर खींच कर मूसल के प्रहारों से पीस डाला।

अपने पुत्रों का युगपद्विनाश देखकर जरासन्ध ने क्रोधाभिभूत हो बलराम पर गदा का भीषण प्रहार किया। गदा-प्रहार से घायल हो रुधिर का वमन करते हुए बलराम मूच्छित हो गये। बलराम पर दूसरी बार गदा-प्रहार करने के लिए जरासन्ध को आगे बढ़ते देख कर अर्जुन विद्युत् वेग से जरासन्ध के सम्मुख आ खड़ा हुआ और उससे युद्ध करने लगा।

बलराम की यह दशा देखकर कृष्ण ने क्रुद्ध हो जरासन्ध के सम्मुख ही उसके अवशिष्ट १९ पुत्रों को मार डाला।

यह देख जरासन्ध क्रोध से तिलमिला उठा। "यह बलराम तो मर ही जायेगा, इसे छोड़ कर अब इस कृष्ण को मारना चाहिये" यह कह कर वह कृष्ण की ओर झपटा।

"ओहो! अब तो कृष्ण भी मारा गया" सब ओर यही ध्वनि सुनाई देने लगी।

यह देख कर मातलि ने हाथ जोड़ कर अरिष्टनेमि से निवेदन किया- "त्रिलोकनाथ! यह जरासन्ध आपके सामने एक तुच्छ कीट के समान है। आपकी उपेक्षा के कारण यह पृथ्वी को यादवविहीन कर रहा है। प्रभो! यद्यपि आप जन्म से ही सावद्य (पापपूर्ण) कार्यों से पराङ्मुख हैं तथापि शत्रु द्वारा जो आपके कुल का विनाश किया जा रहा है, इस समय आपको उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। नाथ! अपनी थोड़ी सी लीला दिखाइये।"

अरिष्टनेमि का शौर्य-प्रदर्शन और कृष्ण द्वारा जरासंध-वध

मातलि की प्रार्थना सुन कर अरिष्टनेमि ने बिना किसी प्रकार की उत्तेजना के सहज भाव में ही पौरंदर शंख का घोष किया। उस शंख के नाद से दसों दिशाएं, सारा नभमण्डल और शत्रु कांप उठे, यादव आश्वस्त हो पुनः युद्ध में जूझने लगे।

अरिष्टनेमि की आज्ञा से मातलि ने रथ को भीषण वर्तुल-वात की तरह घुमाया। उसी समय अभिनव वारिदघटा की तरह अरिष्टनेमि ने जरासन्ध की सेना पर शरवर्षा आरम्भ की और शत्रु-सैन्य के रथों, ध्वजाओं, धनुषों और मुकुटों को उन्होंने शरवर्षा से चूर्ण-विचूर्ण कर डाला।

इस तरह प्रभु ने बहुत ही स्वल्प समय में एक लाख शत्रु-योद्धाओं को नष्ट कर डाला। प्रलयकाल के प्रखर सूर्य सदृश प्रचण्ड तेजस्वी प्रभु की ओर शत्रु आंख उठा कर भी नहीं देख सके।

प्रतिवासुदेव को केवल वासुदेव ही मारता है,– इस अटल नियम को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए अरिष्टनेमि ने जरासन्ध को नहीं मारा किन्तु अपने रथ को मनो-वेग से शत्रु-राजाओं के चारों ओर घुमाते हुए जरासन्ध की सेना को अवरुद्ध किये रखा।[1]

श्री अरिष्टनेमि के इस अत्यन्त अद्भुत, अलौकिक एवं चमत्कारपूर्ण ओज, तेज तथा शौर्य से यादवों की सेना में नवीन उत्साह एवं साहस भर गया और वह शत्रु-सेना पर पुनः भीषण प्रहार करने लगी।

गदा के घातक प्रहार का प्रभाव कम होते ही बलराम हल-मूसल सम्हाले शत्रु-सेना का संहार करने लगे। समस्त रण-क्षेत्र टूटे हुए रथों, मारे गये हाथियों, घोड़ों एवं काटे हुए मानव-मुण्डों और रुण्डों से पटा हुआ दृष्टिगोचर हो रहा था।

अपनी सेना के भीषण संहार से जरासन्ध तिलमिला उठा। उसने अपने रथ को श्रीकृष्ण की ओर बढ़ाया और अत्यन्त क्रुद्ध हो कहने लगा – "ओ ग्वाले! तू अभी तक गीदड़ की तरह केवल छल-बल पर ही जीवित है। कंस और कालकुमार को तूने कपट से ही मारा है। ले, अब मैं तेरे प्राणों के साथ ही तेरी माया का अन्त कर जीवयशा की प्रतिज्ञा को पूर्ण करता हूं।"

श्रीकृष्ण ने हंसते हुए कहा – "जरासन्ध! मैं तुम्हारी तरह आत्मश्लाघा करना तो नहीं जानता पर इतना बताये देता हूँ कि तुम्हारी पुत्री जीवयशा की प्रतिज्ञा तो उसके अग्नि-प्रवेश से ही पूर्ण होगी।"

श्रीकृष्ण के उत्तर से जरासन्ध की क्रोधाग्नि और भभक उठी। उसने अपने धनुष की प्रत्यंचा को आकर्णान्त खींचते हुए कृष्ण पर बाणों की वर्षा प्रारम्भ कर दी। कृष्ण उसके सब बाणों को बीच में ही काटते रहे। दोनों उत्कट योद्धा एक दूसरे पर भीषण शस्त्रों और दिव्यास्त्रों से प्रहार करते हुए युद्ध करने लगे। उन दोनों के तीव्रगामी भारी-भरकम रथों की घोर घरघराहट से नभोमण्डल फटने और धरती कांपने सी लगी।

कृष्ण पर अपने सब प्रकार के घातक और अमोघ शस्त्रास्त्रों का प्रयोग कर चुकने के पश्चात् जब जरासन्ध ने देखा कि उन दिव्यास्त्रों से कृष्ण का बाल भी बांका नहीं हुआ है तो उसने क्रुद्ध हो अपने अन्तिम अमोघ-शस्त्र चक्र को कृष्ण की ओर प्रेषित किया। ज्वाला-मालाओं को उगलता हुआ कल्पान्तकालीन सूर्य के समान दुर्निरीक्ष्य वह चक्ररत्न प्रलयकालीन मेघ की अमित घटाओं के समान गर्जना करता हुआ श्रीकृष्ण की ओर बढ़ा।

---

[1] आकृष्टाखण्डलधनुर्नवांभोद इव प्रभुः। ववर्ष सरधाराभिः परितस्त्रासयन्नरीन् ॥ ४२८
अभांक्षीत् क्ष्माभुजां लक्षं स्वाम्येकोऽपि किरीटिनाम्।
उद्भ्रान्तस्य महाम्बोधेः सानुमंतोऽपि के पुरः ॥ ४३१ ॥
परसैन्यानि रुद्ध्वास्थाच्छ्रीनेमिर्भ्रमयन् रथम्........४३३ ॥
[त्रिशष्टि श. पु. च. पर्व ८ स. ७]

उस समय समस्त यादव-सेना त्रस्त हो स्तब्ध सी रह गई। अर्जुन, बलराम, कृष्ण और अन्य यादव योद्धाओं ने चक्र को चकनाचूर कर डालने के लिए अमोघ दिव्यास्त्रों का प्रयोग किया पर सब निष्फल। चक्र कृष्ण की ओर बढ़ता ही गया। देखते ही देखतें चक्र ने अपने मध्य भाग के धुरि-स्थल से कृष्ण के वज्र-कपाटोपम वक्षःस्थल पर हल्का सा प्रहार[1] किया, मानो चिरकाल से बिछुड़ा मित्र अपने प्रिय मित्र से, छाती से छाती लगा मिल रहा हो। तदनन्तर वह चक्र कृष्ण की तीन बार प्रदक्षिणा कर उनके दक्षिण पार्श्व में उनके दक्षिण-स्कंध से कुछ ऊपर स्थिर हो गया[2] मानो भेद-नीति-कुशल कृष्ण ने उसे भेद-नीति से अपना बना लिया हो।

कृष्ण ने तत्काल अपने दाहिने हाथ की तर्जनी अंगुली पर चक्ररत्न को धारण किया और अनादिकाल से लोक में प्रचलित इस कहावत को चरितार्थ कर दिया कि पुण्यात्माओं के प्रभाव से दूसरों के शस्त्र भी उनके अपने हो जाते हैं।

आकाश की अदृश्य शक्तियों ने इस घोषणा के साथ कि "नवमें वासुदेव प्रकट हो गये हैं" कृष्ण पर गंधोदक और पुष्पों की वर्षा की।

करुणार्द्र कृष्ण ने जरासन्ध से कहा – "मगधराज! क्या यह भी मेरी कोई माया है? अब भी समय है कि तुम मेरे आज्ञावर्ती होकर अपने घर लौट जाओ और आनन्द के साथ अपनी सम्पदा का उपभोग करो। दुःख के मूल कारण मान को छोड़ दो।"

पर अभिमानी जरासन्ध ने बड़े गर्व के साथ कहा – "जरा मेरे चक्र को मेरी ओर चला कर तो देख।"

बस, फिर क्या था, कृष्ण ने चक्ररत्न को जरासन्ध की ओर घुमाया। उसने तत्काल जरासन्ध का सिर काट कर पृथ्वी पर लुढ़का दिया।

यादव विजयोल्लास में जयजयकार से दशों दिशाओं को गुंजाने लगे।

भगवान् अरिष्टनेमि ने भी अपने रथ की वर्तुलाकारगति से अवरुद्ध सब राजाओं को मुक्त कर दिया। उन सब राजाओं ने प्रभु-चरणों में नमस्कार करते हुए कहा – "करुणासिन्धो! जरासन्ध और हम लोगों ने अपनी मूढ़तावश स्वयं का सर्वनाश किया है। जिस दिन आप यदुकुल में अवतरित हुए उसी दिन से हमें समझ लेना चाहिए था कि यादवों को कोई नहीं जीत सकता। अस्तु, अब हम लोग आपकी शरण में हैं।"

---

[1] एत्य तुम्बेन तच्चक्रं कृष्णं वक्षस्यताडयत् ।।४५०।।

[त्रिशष्टि श. पु. च., प. ८, स. ७]

[2] तं च पयाहिणीकाऊण……पलग्गं केसवकरयलम्मि।

[चउवन्न महापुरिस चरियं, पृ० १८६]

अरिष्टनेमि उन सब राजाओं के साथ कृष्ण के पास पहुंचे। उन्हें देखते ही श्रीकृष्ण रथ से कूद पड़े और अरिष्टनेमि का प्रगाढ आलिंगन करने लगे। अरिष्टनेमि के कहने पर श्रीकृष्ण ने उन सब राजाओं के राज्य उन्हें दे दिये। समुद्रविजय के कहने से जरासन्ध के पुत्र सहदेव को मगध का चतुर्थांश राज्य दिया।

तदनन्तर पाण्डवों को हस्तिनापुर का, हिरण्यनाभ के पुत्र रुक्मनाभ को कोशल का और समुद्रविजय के पुत्र महानेमि को शौर्यपुर का तथा उग्रसेन के पुत्र धर को मथुरा का राज्य दिया।

सूर्यास्त के समय श्री अरिष्टनेमि की आज्ञा से मातलि ने सौधर्म स्वर्ग की ओर प्रस्थान किया और यादव-सेना अपने शिविर की ओर लौट पड़ी।

उसी समय तीन विद्याधरियों ने नभोमार्ग से आकर समुद्रविजय को सूचना दी कि जरासन्ध की सहायतार्थ इस युद्ध में सम्मिलित होने हेतु आने वाले वैताढ्यगिरि के विविध विद्याओं के बल से अजेय विद्याधर राजाओं को वसुदेव, प्रद्युम्न, शाम्ब और वसुदेव के मित्र विद्याधर राजाओं ने वहीं पर युद्ध में उलझाये रखा था। जरासन्ध की पराजय और मृत्यु के समाचार सुन कर जरासन्ध के समर्थक सभी विद्याधर राजा वसुदेव की चरण-शरण में आ गये। प्रद्युम्न एवं शाम्ब के साथ उन्होंने अपनी कन्याओं का विवाह कर दिया। अब वे सब यहां आ रहे हैं।

यादवों के शिविर में महाराज समुद्रविजय आदि सभी यादव-प्रमुख विद्याधरियों के मुख से वसुदेव आदि के कुशल-मंगल और शीघ्र ही आगमन के समाचार सुनकर बड़े प्रसन्न हुए। थोड़ी ही देर में वसुदेव, प्रद्युम्न, शाम्ब और मुकुटधारी अनेक विद्याधरपति वहां आ पहुँचे और सबने समुद्रविजय आदि पूज्यों के चरणों में सिर झुकाया।

यादव-सेना ने अपनी महान् विजय के उपलक्ष में बड़े ही समारोह के साथ आनन्दोत्सव मनाया। अपने इस आनन्दोत्सव की याद को चिरस्थायी बनाने के लिये यादवों ने अपने शिविर के स्थान पर सिनपल्ली ग्राम के पास सरस्वती नदी के तट पर आनन्दपुर नामक एक नगर बसाया।[1]

तदनन्तर तीन खण्ड की साधना करके श्रीकृष्ण समस्त यादवों और यादव-सेनाओं के साथ द्वारिकापुरी पहुँचे और सभी यादव वहां विविध भोगोपभोगों का आनन्दानुभव करते हुए बड़े सुख से रहने लगे।

महाराज समुद्रविजय, महारानी शिवादेवी और सभी यादव-मुख्यों ने कुमार अरिष्टनेमि से बड़े दुलार के साथ विवाह करने का अनेक बार अनुरोध

[1] ....तत्रानन्दपुरं चक्रे सिनपल्लीपदे पुरम् ॥ २६ ॥
[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ८, सर्ग ८,]

किया पर कुमार अरिष्टनेमि तो जन्म से ही संसार से विरक्त थे। उन्होंने हर बार विवाह के प्रस्ताव को गम्भीरतापूर्वक यह कहकर टाल दिया – "नारी वास्तव में भवभ्रमण के घोर दुःखसागर में गिराने वाली है। मैं संसार के भवचक्र में परिभ्रमण करते-करते बिल्कुल थक चुका हूँ, अब इस विकट भवाटवी में भटकने का मुझमें किंचित् मात्र भी सामर्थ्य नहीं है अतः मैं इस विवाह के चक्र से सदा कोसों दूर ही रहूंगा।" समुद्रविजयजी को कुमार को मनाने में सफलता नहीं मिली।

अरिष्टनेमि का अलौकिक बल

एक दिन कुमार अरिष्टनेमि यादव कुमारों के साथ घूमते हुए वासुदेव कृष्ण की आयुधशाला में पहुँच गये। उन्होंने वहां ग्रीष्मकालीन मध्याह्न के सूर्य के समान अतीव प्रकाशमान सुदर्शन चक्र, शेषनाग की तरह भयंकर शार्ङ्ग धनुष, कौमोदकी गदा, नन्दक तलवार और वृहदाकार पांचजन्य शंख को देखा।

कुमार अरिष्टनेमि को कौतुक से शंख की ओर हाथ बढ़ाते देख चारुकृष्ण नामक आयुधशाला-रक्षक ने कुमार को प्रणाम कर कहा – "यद्यपि आप श्रीकृष्ण के भ्राता हैं और निस्संदेह प्रबल पराक्रमी भी हैं फिर भी इस शंख को पूरना तो अलग रहा आप इसको उठाने में भी समर्थ नहीं हैं। इसको तो केवल श्रीकृष्ण ही उठा और बजा सकते हैं अतः आप इसे उठाने का वृथा प्रयास न कीजिये।"

रक्षक पुरुष की बात सुनकर कुमार अरिष्टनेमि ने मुस्कुराते हुए अनायास ही शंख को उठा अधर-पल्लवों के पास ले जाकर पूर (बजा) दिया।

प्रथम तो कुमार अरिष्टनेमि तीर्थंकर होने के कारण अनन्त शक्ति-सम्पन्न थे, फिर पूर्ण ब्रह्मचारी थे अतः उनके द्वारा पूरे गये पांचजन्य की ध्वनि से लवण समुद्र में भीषण उत्ताल तरंगें उठीं और उछल-उछल कर बड़े वेग के साथ द्वारिका के प्राकार से टकराने लगीं, द्वारिका के चारों ओर के नगाधिराजों के शिखर और द्वारिका के समग्र भव्य-भवन थर्रा उठे। औरों का तो ठिकाना ही क्या स्वयं श्रीकृष्ण और बलराम भी क्षुब्ध हो उठे। खम्भों से बँधे हाथी खम्भों को उखाड़, लोह शृंखलाओं को तोड़ चिंघाड़ते हुए इधर-उधर वेग से भागने लगे, द्वारिका के नागरिक उस शंख के अतिघोर निर्घोष से मूर्च्छित हो गये और शंख-निनाद के अत्यन्त सन्निकट होने के कारण शस्त्रागार के रक्षक तो मृतप्राय ही हो गये।

श्रीकृष्ण साश्चर्य सोचने लगे – "इस प्रकार इतने अपरिमित वेग से शंख बजाने वाला कौन हो सकता है? क्या कोई चक्रवर्ती प्रकट हो गया है अथवा इन्द्र पृथ्वी पर आया है? मेरे शंख के निर्घोष से तो सामान्य भूपति ही भौंचक्के होते हैं पर शंख के इस अद्भुत निर्घोष से तो मैं और बलराम भी क्षुब्ध हो गये।"

अलौकिक बल]

थोड़ी ही देर में आयुधशाला के रक्षक ने वहां आकर कृष्ण से निवेदन किया – "देव ! कुतूहलवश कुमार अरिष्टनेमि ने आयुधशाला में पांचजन्य शंख वजाया है। यह सुनकर कृष्ण बहुत विस्मित हुए पर उन्हें उस बात पर विश्वास नहीं हुआ। उसी समय कुमार अरिष्टनेमि वहां आ पहुंचे। कृष्ण ने अतिशय आश्चर्य, स्नेह एवं आदरयुक्त मनःस्थिति में अरिष्टनेमि को अपने अर्द्धसिंहासन पर पास बैठाया और बड़े दुलार से पूछा – "प्रिय भ्रात ! क्या तुमने पांचजन्य शंख वजाया था जिसके कारण कि सारा वातावरण अभी तक विक्षुब्ध हो रहा है ?"

कुमार अरिष्टनेमि ने सहज स्वर में उत्तर दिया – "हां भैया।"

कृष्ण ने स्नेहातिरेक से कुमार अरिष्टनेमि को अंक में भरते हुए कहा – "मुझे प्रसन्नता हो रही है कि मेरे छोटे भाई ने पाञ्चजन्य शंख को बजाया है। आज तक मेरी यह धारणा थी कि इसे मेरे अतिरिक्त कोई नहीं बजा सकता। कुमार ! अपन दोनों भाई व्यायामशाला में चलकर बल-परीक्षा करलें कि किसमें कितना अधिक बल है।"

कुमार अरिष्टनेमि ने सहज सरल स्वर में कहा – "जैसी आपकी इच्छा।"

यादव कुमारों से घिरे हुए दोनों नर-शार्दूल व्यायामशाला में पहुंचे।

सहज करुणार्द्र कुमार अरिष्टनेमि ने मन ही मन सोचा – "कहीं मेरी भुजाओं, वक्ष और जंघाओं के संघर्ष से मल्लयुद्ध में मेरे बल से अनभिज्ञ बड़े भाई कृष्ण को पीड़ा न हो जाय।" यह सोचकर उन्होंने कहा – "भैया ! भू-लुण्ठनादि क्रिया वाले इस ग्राम्य मल्लयुद्ध की अपेक्षा बाहु को झुकाने से भी बल का परीक्षण किया जा सकता है।"

श्रीकृष्ण ने कुमार अरिष्टनेमि से सहमति प्रकट करते हुए अपनी प्रचण्ड विशाल दाहिनी भुजा फैला दी और कहा – "कुमार ! देखें, इसे झुकाना।"

कुमार अरिष्टनेमि ने बिना प्रयास के सहज ही में कमल की कोमल डण्डी की तरह कृष्ण की भुजा को झुका दिया।

श्रीकृष्ण ने कहा – "अच्छा कुमार ! अब तुम अपनी भुजा फैलाओ।"

कुमार अरिष्टनेमि ने भी सहज-मुद्रा में अपनी भुजा फैलाई।

श्रीकृष्ण ने अपनी पूरी शक्ति लगाकर कुमार अरिष्टनेमि की भुजा को झुकाने का प्रयास किया पर वह किंचित् मात्र भी नहीं झुकी। अन्त में कृष्ण ने अपने दोनों वज्र-कठोर हाथों से कुमार अरिष्टनेमि की भुजा को कस कर पकड़ा और अपनी सम्पूर्ण शक्ति से अपने पैरों को भूमि से ऊपर उठा शरीर का सारा भार भुजा पर पटकते हुए बड़े जोर का झटका लगाया, वे कुमार अरिष्टनेमि की भुजा पकड़े अधर झूलने लगे पर कुमार की भुजा को नहीं झुका सके।

श्रीकृष्ण को कुमार का अपरिमित बल देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने कुमार की भुजा छोड़कर उन्हें हृदय से लगा लिया और बोले – "प्रिय अनुज ! मुझे तुम्हारे अलौकिक बल को देखकर इतनी प्रसन्नता हुई है कि जिस प्रकार मेरे भुजबल के सहारे बलराम सभी योद्धाओं को तुच्छ समझते हैं, उसी तरह मैं तुम्हारी शक्ति के भरोसे समस्त संसार के योद्धाओं को तृणवत् समझता हूँ।"

कुमार अरिष्टनेमि के चले जाने के अनन्तर कृष्ण ने बलराम से कहा– "भैया ! देखा आपने अपने छोटे भाई का बल ! मैं तो वृक्ष की डाल पर गोपवाल की तरह कुमार की भुजा पर लटक गया। इतना अपरिमित बल तो चक्रवर्ती और इन्द्र में भी नहीं होता। इतनी अमित शक्ति के होते हुए भी यह हमारा अनुज समग्र भरत के छः ही खण्डों को क्यों नहीं जीत लेता।

बलराम ने कहा – "चक्रवर्ती और इन्द्र से अधिक शक्तिशाली होते हुए भी कुमार स्वभाव से बिल्कुल शान्त हैं। उन्हें किंचित् मात्र भी राज्यलिप्सा नहीं है।"

फिर भी कृष्ण के मन का सन्देह नहीं मिटा। उस समय आकाशवाणी हुई कि ये बावीसवें तीर्थंकर हैं, बिना विवाह किये ब्रह्मचर्यावस्था में ही प्रव्रजित होंगे।

तदनन्तर कृष्ण ने अपने अन्तःपुर में जाकर कुमार अरिष्टनेमि को बुलाया और बड़े प्रेम से अपने साथ खाना खिलाया। कृष्ण ने अपने अन्तःपुर के रक्षकों को आदेश दिया कि कुमार अरिष्टनेमि को बिना रोक-टोक के समस्त अन्तःपुर में आने-जाने दिया जाय क्योंकि ये पूर्णरूपेण निर्विकार हैं।

कुमार अरिष्टनेमि सहज शान्त, भोगों से विमुख और निर्विकार भाव से सुखपूर्वक सर्वत्र विचरण करते। रुक्मिणी आदि सभी रानियां उनका बड़ा सम्मान रखतीं। कृष्ण उनके साथ ही खाते-पीते और क्रीड़ा करते हुए बड़े आनन्द से रहने लगे। कुमार नेमि पर कृष्ण का स्नेह दिन प्रति दिन बढ़ता ही गया।

एक दिन उन्होंने सोचा – "नेमि कुमार का विवाह कर इन्हें दाम्पत्य जीवन में सुखी देख सकूँ तभी मेरा राज्य, ऐश्वर्य एवं भ्रातृ-प्रेम सही माने में सार्थक हो सकता है और यह तभी संभव हो सकता है जब कि कुमार अरिष्टनेमि को भोग-मार्ग की ओर आकर्षित कर उनके मन में भोग-लिप्सा पैदा की जाय।"

यह सोचकर श्रीकृष्ण ने अपनी सब रानियों से कहा– "मैं कुमार अरिष्टनेमि को सब प्रकार से सुखी देखना चाहता हूँ। मेरी यह आन्तरिक अभिलाषा है कि किसी सुन्दर कन्या के साथ उनका विवाह कर दिया जाय और वे विवाहित जीवन का आनन्दोपभोग करें। पर कुमार सांसारिक भोगों के प्रति पूर्ण उदासीन हैं। अतः यह आवश्यक है कि विरक्त और भोगों से पराङ्मुख अरिष्टनेमि को हर संभव प्रयास कर विवाह करने के लिये राजी किया जाय।"

रुक्मिणी, सत्यभामा आदि रानियों ने श्रीकृष्ण की आज्ञा को सहर्ष शिरोधार्य करते हुए कहा – "महाराज ! बड़े-बड़े योगियों को भी योगमार्ग से विचलित कर देने वाली रमणियों के लिये यह कोई कठिन कार्य नहीं है। हम हमारे प्रिय देवर को विवाह करने के लिये अवश्य सहमत कर लेंगी।"

रुक्मिणी आदि का नेमिकुमार के साथ वसन्तोत्सव

श्रीकृष्ण के संकेतानुसार रुक्मिणी, सत्यभामा आदि ने वसंत-क्रीड़ा के निमित्त रेवताचल पर एक कार्यक्रम आयोजित किया। निर्विकार नेमिनाथ को भी अपने बड़े भाई कृष्ण द्वारा आग्रह करने पर वसन्तोत्सव में सम्मिलित होना पड़ा।

वसन्तोत्सव के प्रारम्भ में रुक्मिणी, सत्यभामा आदि रानियों ने विविध रंगों और सुगन्धियों से मिश्रित पानी पिचकारियों और डोलियों में भर-भर कर कृष्ण और नेमिनाथ पर बरसाना प्रारम्भ किया। कृष्ण ने भी उन्हें उन्हीं के द्वारा लाये गये पानी से शराबोर कर दिया।

कृष्ण द्वारा किये गये जलधारा प्रपात से विचलित होकर भी वे बार-बार कृष्ण को चारों ओर से घेर कर पद्मपराग मिश्रित जल की अनवरत धाराओं से भिगोती हुई खिलखिलाकर हंसतीं। किन्तु कृष्ण और रानियों की विभिन्न प्रकार की क्रीड़ाओं से नेमिकुमार आकृष्ट नहीं हुए। वे निर्विकार भाव से सारी लीला को देखते रहे, केवल अपनी भाभियों के विनम्र निवेदन का मान रखने कभी कभी उनके द्वारा उंडेले गये पानी के उत्तर में उन पर कुछ पानी उंडेल देते।

बड़ी देर तक विविध हासोल्लास से फाग खेला जाता रहा। वारिधाराओं की तीव्र बौछारों से सब के नेत्र लाल हो चुके थे। अब सभी रानियां मिल कर नेमिनाथ के साथ फाग खेलने लगीं। निर्विकार रूप से नेमिकुमार भी अपने पर अनेक बार पानी उंडेलने पर उत्तर-प्रत्युत्तर के रूप में एक दो बार उन पर पानी उछाल देते।

अपने प्रिय छोटे भाई नेमिकुमार को फाग खेलते देख कर कृष्ण अलग हो, सरोवर में जल-क्रीड़ा करने लगे। फिर क्या था, अब तो सभी सुन्दरियों ने आपस में सलाह कर नेमिनाथ को अपना मुख्य लक्ष्य बना लिया। वे उन्हें मोह, राग और भोग-मार्ग में आकर्षित कर वैवाहिक बन्धन में बांधने का दृढ़ संकल्प लिये नारी-लीला का प्रदर्शन करने लगीं।

सभी रानियां दिव्य वस्त्राभूषणादि से षोडश अलंकार किये रूप-लावण्य में सुरवधुओं को भी तिरस्कृत करती हुई चारुहासों, तीक्ष्ण-तिरछे चितवनों के कटाक्षों और हंसने-हंसाने, रूठने-मनाने आदि विविध मनोरम हावभावों से एवं नर-नारी के संगजन्य आनन्द को ही जीवन का सार प्रकट करने वाले अनुपम अभिनयों से कुमार के मन में मनसिज को जगाने एवं नारी के रमणीय कलेवर

की ओर उत्कट आकर्षण व स्पृहा पैदा करने में ऐसी जुट गईं मानों स्वयं पुष्पायुध ही सदलबल नेमिनाथ पर विजय पाने चढ़ आया हो।

पर इन सब हावभावों और कमनीय कटाक्षों का नेमिनाथ के मन पर कोई असर नहीं हुआ। प्रलयकाल के प्रचण्ड पवन के झोंकों में जैसे सुमेरु अचल-अडोल खड़ा रहता है उसी तरह उनका मन भी इस रंग भरे वातावरण में निर्विकार-निर्मल बना रहा।

अपनी असफलता से उत्तेजित हो उन रमणी-रत्नों ने अपने किन्नर-कण्ठों से वज्र-कठोर हृदय को भी गुदगुदा देने वाले मधुर प्रणय-गीत गाने आरंभ किये। पर जिन्होंने इस सार तत्त्व को जान लिया है कि – "सव्वं विलवियं गीयं, सव्वं नट्टं विडम्बियं" – उन प्रभु नेमिनाथ पर इस सब का क्या असर होने वाला था।

जब कृष्ण जल-क्रीड़ा कर सरोवर से बाहर निकले तो कृष्ण की सभी रानियां सरोवर तट के आजानु पानी में जल-क्रीड़ा करने लगीं और नेमिकुमार ने भी राजहंस की तरह सरोवर में प्रवेश किया। पर घुटनों तक के तटवर्ती पानी में स्नान करने लगे। रुक्मिणी ने रत्न-जटित चौकी बिछा उस पर नेमिकुमार को बिठाया और अपनी चुन्दरी से वह उनके शरीर को मलने लगीं। शेष सभी रानियां उनके चारों ओर एकत्रित हो गईं।

रानियों द्वारा नेमिनाथ को भोगमार्ग की ओर मोड़ने का यत्न

सत्यभामा बड़े ही मीठे शब्दों में कहने लगीं – "प्रिय देवर! आप सदा हमारी सब बातें शान्ति से सुन लिया करते हो इसलिए मैं आप से यह पूछना चाहती हूँ कि आपके बड़े भैया तो सोलह हजार रानियों के पति हैं, उनके छोटे भाई होकर आप कम से कम एक कन्या के साथ भी विवाह नहीं करते यह कैसी अजीब बात है? सौन्दर्य और लावण्य की दृष्टि से तीनों लोक में कोई भी आपकी तुलना नहीं कर सकता। युवावस्था में भी पदार्पण कभी के कर चुके हो फिर समझ में नहीं आता कि आपकी यह क्या स्थिति है? आपके माता-पिता, भाई और हम सब आपकी भाभियां, सब के सब आपसे प्रार्थना करते हैं, एक बार तो सब का कहना मान कर विवाह कर ही लो।"

"आप स्वयं विचार कर देखो – बिना जीवन-संगिनी के कुँआरे कितने दिन तक रह सकोगे? आखिर बोलो तो सही, क्या तुम काम-कला से अनभिज्ञ हो, नीरस हो अथवा पौरुष-विहीन हो? याद रखो कुमार! बिना स्त्री के तुम्हारा जीवन निर्जन वन में खिले सुन्दर-मनोहर सुरभिसंयुक्त पुष्प के समान निरर्थक ही रहेगा।"

"जिस प्रकार प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव ने पहले विवाह किया, फिर धर्म-तीर्थ की स्थापना की, उसी प्रकार आप भी पहले गृहस्थोचित सब कार्य सम्पन्न कर फिर समय पर यथारुचि ब्रह्मव्रत की साधना कर लेना। गृहस्थ-

जीवन में ब्रह्मचर्य अशुचि-स्थान में मन्त्रोच्चारण के समान है।[1] फिर आप ही के वंश में मुनि सुव्रत तीर्थंकर हुए। उन्होंने भी पहिले विवाहित होकर फिर मुनि-व्रत ग्रहण किया था। आपके पीछे होने वाले तीर्थंकर भी ऐसा ही करेंगे। फिर आप ही क्या ऐसे नये मुमुक्षु हैं जो पूर्व-पुरुषों के पथ को छोड़कर जन्म से ही स्त्री, भोग एवं विषयादि से पराङ्मुख हो रहे हो ?"

सत्यभामा ने तमक कर कहा – "ये मिठास से रास्ते आने वाले नहीं हैं। माता-पिता-भाई सब समझाते-समझाते हार गये, अब कड़ाई से काम लेना होगा। हम सबको मिल कर अब इन्हें पास के एक स्थान में बन्द कर देना चाहिए और जब तक ये हमारी बात मान नहीं लें तब तक छोड़ना ही नहीं चाहिए।"

रुक्मिणी ने कहा – "बहिन ! हमें अपने प्रिय सुकुमार देवर के साथ ऐसा कठोर व्यवहार नहीं करना चाहिए, हमें बड़े मीठे वचनों से नम्रतापूर्वक इन्हें विवाह के लिए राजी करना चाहिए।"

रुक्मिणी यह कह कर श्री नेमिकुमार के चरणों में झुक गई। श्रीकृष्ण की शेप सब रानियों ने भी नेमि के चरणों में अपने सिर झुका दिये और विवाह की स्वीकृति हेतु अनुनय-विनय करने लगीं।

यह देख कर कृष्ण आ गये और नेमिनाथ से बड़े ही मीठे वचनों से कहने लगे – "भाई ! अब तुम विवाह कर लो।"

इतने में अन्य यादवगण भी वहां आ पहुंचे और नेमिनाथ से कहने लगे – "कुमार ! अपने बड़े भाई का कहना मान लो और माता-पिता एवं अपने स्वजन-परिजन को प्रमुदित करो।"

इन सब के हठाग्रह को देख, नेमिकुमार ने मन ही मन विचार किया – "ओह ! कैसा इन लोगों का मोह है कि ये लोग केवल स्वयं ही संसार-सागर में नहीं डूब रहे हैं अपितु दूसरों को भी स्नेह-शिला से बांध कर भवार्णव में पटक रहे हैं। इनके आग्रह को देखते हुए यही उपयुक्त है कि इस समय मुझे केवल वचन मात्र से इनका कहना मान लेना चाहिए और समय आने पर अपना कार्य कर लेना चाहिए। ऐसा करने से गृह, कुटुम्ब आदि का परित्याग करने का कारण भी मेरे सम्मुख उपस्थित होगा।" यह सोच कर नेमि ने कहा – "हां ठीक है, ऐसा ही करेंगे।"[2]

नेमिकुमार की बात सुन कर कृष्ण और सभी यादव बड़े प्रसन्न हुए। श्रीकृष्ण सपरिवार द्वारिका में आकर नेमिनाथ के योग्य कन्या ढूंढ़ने का प्रयत्न

---

[1] समये प्रतिपद्येथा, ब्रह्मापि हि यथा रुचि।
गार्हस्थ्ये नोचितं ब्रह्म, मंत्रोद्गार इवाशुचौ ॥ १०५
[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्रं, पर्व ८, सर्ग ९]

[2] एयं चेव कीरंतं मज्झं पि परिच्चायकारणं भविस्सइ। किं कलिऊण परिहास पयारणा-पुव्वयं पि भणिऊण पडिवण्णं एवं चेव कीरइ। [चउवन्न महापुरिसचरियं, पृष्ठ १९२]

करने लगे। सत्यभामा ने कृष्ण से कहा – "मेरी अनुपम रूप-गुण-सम्पन्ना छोटी बहिन राजीमती पूर्णरूपेण नेमिकुमार के अनुरूप एवं योग्य है।"

यह सुन कर कृष्ण अति प्रसन्न हुए और उन्होंने तत्काल महाराज उग्रसेन के पास पहुंच कर अपने भाई नेमिकुमार के लिए उनकी पुत्री राजीमती की उनसे याचना की। उग्रसेन ने अपना अहोभाग्य समझते हुए प्रमुदित हो कृष्ण के प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लिया।

उग्रसेन द्वारा स्वीकृति मिलते ही कृष्ण महाराज समुद्रविजय के पास आये और उनकी सेवा में नेमिनाथ के लिए राजीमती की याचना, उग्रसेन द्वारा सहर्ष स्वीकृति आदि के सम्बन्ध में निवेदन किया।

समुद्रविजय ने हर्ष-गद्गद् स्वर में कहा – "कृष्ण! तुम्हारी पितृ-भक्ति एवं भ्रातृ-प्रेम बहुत ही उच्च कोटि के हैं। इतने दिनों से जो हमारी मनोभिलाषा केवल मन में ही मरी पड़ी थी उसे तुमने नेमिकुमार को विवाह करने हेतु राजी कर सजीव कर दिया है। पुत्र! बड़ी कठिनाई से नेमिकुमार ने विवाह करने की स्वीकृति दी है, अतः कालक्षेप उचित नहीं है।"

समुद्रविजय आदि ने नैमित्तिक को बुलाया और श्रावण शुक्ला ६ को विवाह का मुहूर्त्त निश्चित कर लिया।[1] श्रीकृष्ण ने भी द्वारिका नगरी के प्रत्येक पथ, वीथि, उपवीथि, अट्टालियों, गोपुर और घर-घर को रत्नमंचों, तोरणों आदि से खूब सजाया। बड़ी धूमधाम के साथ नेमिकुमार के विवाह की तैयारियां की गईं।

विवाह से एक दिन पहले दशों दशार्हों, बलभद्र, कृष्ण आदि ने अन्तःपुर की समस्त सुहागिनियों द्वारा गाये जा रहे मंगल-गीतों की मधुर ध्वनि के बीच नेमिनाथ को एक ऊंचे सिंहासन पर पूर्वाभिमुख बैठाया। अनेक सुगन्धित महार्घ्य, विलेपनादि के पश्चात् स्वयं बलराम और कृष्ण ने उन्हें सब प्रकार की औषधियों से स्नान कराया[2] और उनके हाथ पर कर-सूत्र (कंकण-डोरा) बांधा।

तदनन्तर श्रीकृष्ण उग्रसेन के राजप्रासाद में गये। वहां पर भी उन्होंने दुलहिन राजीमती के कर में उसी प्रकार मंगल-मृदु गीतों की स्वर-लहरियों के बीच उबटन-विलेपन-स्नानादि के पश्चात् कर-सूत्र बंधवाया और अपने भवन को लौटे।

दूसरे दिन भगवान् नेमिनाथ की बरात सजायी गई। महार्घ्य, सुन्दर श्वेत वस्त्र एवं बहुमूल्य मोतियों के आभूषण पहने, श्वेत छत्र तथा श्वेत चामरों से

---

[1] चउवन महापुरिस चरियं में उसी समय भगवान् अरिष्टनेमि द्वारा वार्षिक दान देना प्रारम्भ कर देने का उल्लेख है। यथा – "भयवं पुण तेणेव ववएसेण संवच्छरियं महा-दाउणं दाउमाढत्तो,........ [चउवन महापुरिस, चरियं, पृष्ठ १६२]

[2] सव्वोसहीहिं ण्हविओ कयकोउय मंगलो। [उत्तराध्ययन, अ० २२, गा. ६]

सुशोभित, कस्तूरी और गौशीर्ष चन्दन का विलेपन किये दूल्हा अरिष्टनेमि श्रीकृष्ण के सर्वश्रेष्ठ मस्त गन्धहस्ती पर आरूढ़ हुए ।[1]

नेमिकुमार के हाथी के आगे अनेकों देवोपम यादव कुमार घोड़ों पर सवार हो चल रहे थे। घोड़ों की हिनहिनाहट से सारा वायुमण्डल गूंज रहा था। नेमिकुमार के दोनों पार्श्व में मदोन्मत्त हाथियों पर बैठे हजारों राजा चल रहे थे और नेमिकुमार के हाथी के पीछे-पीछे दशों भाई दशार्ह, बलराम और कृष्ण हाथियों पर आरूढ़ थे। तथा उनके पीछे बहुमूल्य सुन्दर पालकियों में बैठी हुई राजरानियां, अन्तःपुर की व अन्य सुन्दर रमणियां मंगल-गीतों से वायुमण्डल में स्वर लहरियां पैदा करती हुई चल रही थीं। उच्च स्वर से किये जाने वाले मंगल पाठ से और विविध वाद्यों की कर्णप्रिय ध्वनि से सारा वातावरण बड़ा मृदु, मनोरम एवं मादक बन गया था। इस तरह बड़े ही ठाट-बाट के साथ नेमिकुमार की बारात महाराज उग्रसेन के प्रासाद की ओर बढ़ी। वर-यात्रा का दृश्य बड़ा ही सम्मोहक, मनोहारी और दर्शनीय था। सुन्दर, समृद्ध एवं सुसज्जित बरातियों के बीच दूल्हा नेमिकुमार संसार के सिरमौर, त्रैलोक्य चूडामणि की तरह सुशोभित हो रहे थे।

राजमार्ग के दोनों ओर वातायन, अट्टालिकाएं, गृहद्वार आदि द्वारिका की रमणियों के समूहों से खचाखच भरे थे। त्रिभुवन-मोहक दूल्हे नेमिकुमार को देखकर आबाल वृद्ध-नरनारी-वृन्द अपनी दृष्टि को सफल और जीवन को धन्य मानते हुए दूल्हे की भूरि-भूरि सराहना करने लगे।

इस तरह पौर-जनों के नयनों और मनों को आनन्दविभोर करते हुए नेमिनाथ की बरात उग्रसेन के भवन के पास आ पहुंची। बरात के आगमन के तुमुलनाद को सुनते ही राजीमती मेघ-गर्जन रव से मस्त हुई मयूरी की तरह परम प्रमुदित हो खड़ी हुई। सखियों ने वर को देखते ही दौड़कर राजीमती को घेर लिया और उसके भाग्य की सराहना करती हुई कहने लगीं – "राजदुलारी! तुम परम भाग्यवती हो जो श्री नेमिनाथ जैसा त्रैलोक्य-तिलक वर तुम्हारा पाणिग्रहण करेगा। नयनाभिराम वर आखिर तो यहां हमारे सामने आयेंगे ही पर हम अपनी वर-दर्शन की प्रबल उत्कण्ठा को रोक नहीं सकतीं, अतः सलोनी सखि! लज्जा का परित्याग कर शीघ्रता से चलो। हम सब अति कमनीय वर को गवाक्षों से देखलें।"

मनोभिलषित बात सुनकर सघन घन-घटा में चमचमाती हुई चंचल चपला सी राजीमती एक झरोखे की ओर बढ़ी और वहां से उसने रोम-रोम में झन-

---

[1] (क) मत्तं च गन्ध हत्थि वासुदेवस्स जेट्ठगं आरूढो सोहए अहियं, सिरे चूडामणि जहा।
[उत्तराध्ययन, अ० २२ गा० १०]

(ख) त्रिषष्टि शलाका पु० चरित्र में श्वेत घोड़ों के रथ पर आरूढ़ होने का उल्लेख है।
यथा :—आरुरोहारिष्टनेमिः स्यन्दन श्वेतवाजिनम्।। [पर्व ८, स० ९, श्लो० १४९]

झनाहट सी पैदा कर देने वाले साक्षात् कामदेव के समान ठाट-बाट से आते हुए नेमिकुमार को देखा। राजीमती निर्निमेश नयनों से अपने प्रियतम की रूप-सुधा का पान करती हुई विचारने लगी – "अहोभाग्य! मन से भी अचिन्त्य ऐसा त्रैलोक्य-मुकुटमणि नर-रत्न यदि मुझे मेरे प्राणनाथ के रूप में प्राप्त हो जायें तो मेरा जन्म सफल हो जाय। यद्यपि ये स्वतः मुझे अपनी जीवन-संगिनी बनाने की इच्छा लिये यहां आ रहे हैं फिर भी मेरे मन को धैर्य नहीं होता कि मैं अपने किन सुकृतों के फलस्वरूप इन्हें अपने प्राणनाथ के रूप में प्राप्त कर सकूंगी।"

इस प्रकार मन ही मन ऊहापोह में डूबी हुई राजकुमारी राजीमती की सहसा दाहिनी आंख और भुजा फड़कने लगी। अनिष्ट की आशंका से उसका हृदय धड़कने लगा और विकसित कमल के फूलों के समान सुन्दर नेत्रों से अश्रु-धाराएं बहाते हुए उसने अवरुद्ध कण्ठ से अपनी सखियों को अनिष्ट-सूचक अंगस्फुरण की बात कही।

सखियों ने उसे ढाढस बंधाते हुए कहा – "राजदुलारी! इस मंगलमय वेला में तुम अमंगल की आशंका क्यों कर रही हो? हमारी कुलदेवियां प्रसन्न हो तुम जैसी पुण्यशालिनी का सब तरह से कल्याण ही करेंगी। कुमारी! धैर्य रखो। अब तो कुछ ही क्षणों की देर है, बस अब तो तुम्हारे पाणि-ग्रहण के लिए वर आ ही चुका है।"

इधर राजीमती अनिष्ट की आशंका से सिसक-सिसक कर रोती हुई आंसू बहा रही थी और उसे उसकी सहेलियां धैर्य बंधा रही थीं। उधर आते हुए नेमिकुमार ने पशुओं के करुण क्रन्दन को सुन कर जानते हुए भी अपने सारथि (गज-वाहक) से पूछा – सारथे! यह किसका करुण क्रन्दन कर्णगोचर हो रहा है?

सारथि ने कहा – "स्वामिन्! क्या आपको पता नहीं कि आपके विवाहोत्सव के उपलक्ष में विविध भोज्य-सामग्री बनाने हेतु अनेकों बकरे, मेंढे तथा वन्य पशु-पक्षी लाये गये हैं। प्राणिमात्र को अपने प्राण परम प्रिय हैं अतः ये क्रन्दन कर रहे हैं।"

नेमिनाथ ने महावत को पशुओं के बाड़ों की ओर हाथी को बढ़ाने की आज्ञा दी। वहां पहुंच कर नेमिकुमार ने देखा कि अगणित पशुओं की गर्दनें और पैर रस्सियों से बंधे हुए हैं एवं अगणित पक्षी पिंजरों तथा जाल-पाशों में जकड़े म्लानमुख कांपते हुए दयनीय स्थिति में बन्द हैं।

आनन्ददायक नेमिकुमार को देखते ही पशु-पक्षियों ने अपनी बोली में अपनी करुण पुकार सुनानी प्रारम्भ की – "नाथ! हम दीन, दुःखी, असहायों की रक्षा करो।"

दयामूर्ति नेमिकुमार का करुण, कोमल हृदय द्रवीभूत हो गया और उन्होंने अपने सारथि को आज्ञा दी कि वह उन सब पशु-पक्षियों को तत्क्षण मुक्त कर दे। देखते ही देखते सब पशु-पक्षी मुक्त कर दिये गये। स्नेहपूर्ण दृष्टि से नेमिनाथ के

प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए पशु यथेप्सित स्थानों की ओर दौड़ पड़े और पक्षि-समूह पंख फैला कर अपने विविध कण्ठरवों से खुशी-खुशी नेमिनाथ की यशोगाथाएं गाते हुए अनन्त आकाश में उड़ते हुए तिरोहित हो गये।

पशु-पक्षियों को विमुक्त करने के पश्चात् नेमिनाथ ने अपने कानों के कुंडल-युगल, करधनी एवं समस्त आभूषण उतार कर सारथि को दे दिये[1] और अपना हाथी अपने प्रासाद की ओर मोड़ दिया। उनको लौटते देख यादवों पर मानो अनभ्र वज्रपात सा हो गया। माता शिवा महारानी, महाराज समुद्रविजय, श्रीकृष्ण-बलदेव आदि यादव-मुख्य अपने-अपने वाहनों से उतर पड़े और नेमिनाथ के सामने राह रोक कर खड़े हो गये।

आंखों से अनवरत अश्रुधारा बहाते हुए समुद्रविजय और माता शिवा ने बड़े दुलार से अनुनयपूर्वक कहा – "वत्स ! तुम अचानक ही इस मंगल-महोत्सव से मुख मोड़ कर कहां जा रहे हो ?"

विरक्त नेमिकुमार ने कहा – "अम्ब-तात ! जिस प्रकार ये पशु-पक्षी बन्धनों से बंधे हुए थे उसी प्रकार आप और हम सब भी कर्मों के प्रगाढ़ बन्धन में बन्धे हुए हैं। जिस प्रकार मैंने इन पशु-पक्षियों को बन्धनमुक्त कर दिया उसी प्रकार मैं अब अपने आपको कर्म-बन्धन से सदा-सर्वदा के लिए मुक्त करने हेतु कर्म-बन्धन काटने वाली शिव-सुख प्रदायिनी दीक्षा ग्रहण करूंगा।"

नेमिकुमार के मुख से दीक्षा-ग्रहण की बात सुनते ही माता शिवादेवी और महाराज समुद्रविजय मूर्च्छित हो गये एवं समस्त यादव-परिवार की आंखें रोते-रोते लाल हो गईं। श्रीकृष्ण ने सब को ढाढस बन्धाते हुए नेमिकुमार से कहा – "भ्रात ! तुम हमेशा हम सबके परम माननीय रहे हो, हर समय तुमने भी हमारा बड़ा मान रखा है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि तुम्हारा सौन्दर्य त्रैलोक्य में अनुपम है और तुम अभिनव यौवन के धनी हो, राजकुमारी राजीमती भी पूर्णरूपेण तुम्हारे ही अनुरूप है, ऐसी दशा में तुम्हारे इस असामयिक वैराग्य का क्या कारण है? अब रही पशु-पक्षियों की हिंसा की बात, तो उनको तुमने मुक्त कर दिया है। तुम्हारी इच्छा पूर्ण हो गई, अब माता-पिता और हम सब प्रियजनों के अभिलषित मनोरथ को पूर्ण करो।"

"साधारण मानव भी अपने माता-पिता को प्रसन्न रखने का पूरा प्रयास करता है, फिर आप तो महान् पुरुष हैं। आपको अपने इन 'शोक-सागर में डूबे हुए माता-पिता की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। जिस प्रकार आपने इन दीन पशु-पक्षियों को प्राणदान देकर प्रमुदित कर दिया उसी प्रकार इन प्रियबन्धु-

[1] सो कुण्डलाण जुयलं, सुत्तगं च महायसो।
आभरणाणि य सव्वाणि, सारहिस्स पणामए ॥२०॥
[उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २२, गाथा २०]

बान्धवों को भी अपनें विवाह के सुन्दर दृश्य का दर्शन करा कर प्रसन्न कर दीजिये।"

अरिष्टनेमि ने कहा – "चक्रपाणे! माता-पिता और आप सब सज्जनों के दुःख का कोई कारण मुझे दृष्टिगोचर नहीं होता। देव-मनुष्य-नरक और तिर्यंच गति में पुनः-पुनः जन्म-मरण के चक्कर में फंसा हुआ प्राणी अनन्त असह्य दुःख पाता है। यही मेरे वैराग्य का मुख्य कारण है। अनन्त जन्मों में अनन्त माता-पिता, पुत्र और बन्धु-बान्धवादि हो गये पर कोई किसी के दुःख को नहीं बंटा सका। अपने-अपने कृत-कर्मों के दारुण विपाक सभी को स्वयमेव भोगने पड़ते हैं। यदि पुत्रों को देखने से माता-पिता को आनन्दानुभव होता है तो महानेमि आदि मेरे भाई हैं अतः मेरे न रहने पर भी माता-पिता के इस आनन्द में किसी तरह की कमी नहीं आयेगी। हरे! मैं तो संसार के इस बिना ओर-छोर के पथ पर चलते २ अत्यन्त वृद्ध और निर्बल पथिक की तरह थककर चूर-चूर हो चुका हूँ अतः मैं असह्य दुःख का अनुभव कर रहा हूँ। मैं अपने लिए, आप लोगों के लिए और संसार के समस्त प्राणियों के लिए परम शान्ति का प्रशस्त मार्ग ढूंढने को लालायित हूँ। मैंने दृढ़ निश्चय कर लिया है कि अब इस अनन्त दुःख के मूलभूत कर्मों का समूलोच्छेद करके ही दम लूंगा। बिना संयम ग्रहण किये कर्मों को ध्वस्त कर देना संभव नहीं अतः मुझे अब निश्चित रूप से प्रव्रजित होना है। आप लोग वृथा ही बाधा न डालें।"

नेमिकुमार की बात सुनकर समुद्रविजय ने कहा – "वत्स! गर्भ में अवतीर्ण होने के समय से आज तक तुम ऐश्वर्यसम्पन्न रहे हो, तुम्हारा भोग भोगने योग्य यह सुकुमार शरीर ग्रीष्मकालीन घोर आतप, शिशिरकाल की ठिठुरा देने वाली ठंड, क्षुधा-पिपासा आदि असह्य दुःखों को सहने में किस तरह समर्थ होगा?"

नेमिकुमार ने कहा – "तात! जो लोग नर्कों के उत्तरोत्तर घोरातिघोर दुःखों को जानते हैं उनके सम्मुख आपके द्वारा गिनाये गये ये दुःख तो नगण्य और नहीं के बराबर हैं। तात! इन तपश्चरण सम्बन्धी दुःखों को सहने से कर्मसमूह जलकर भस्मावशेष हो जाते हैं एवं अक्षय-अनन्त सुखस्वरूप मोक्ष की प्राप्ति होती है पर विषयजन्य सुखों से नर्क के अनन्त दारुण दुःखों की प्राप्ति होती है। अतः आप स्वयं ही विचार कर फरमाइये कि मनुष्य को इन दोनों मार्गों में से कौनसा मार्ग चुनना चाहिए?"

नेमिकुमार के इस आध्यात्मिक तत्त्व से ओतप्रोत शाश्वत-सत्य उत्तर को सुनकर सब यदुश्रेष्ठ निरुत्तर हो गये। सबको यह दृढ़ विश्वास हो गया कि अब नेमिकुमार निश्चित रूप से प्रव्रजित होंगे। सबकी आंखें अजस्र अश्रुधाराएं प्रवाहित कर रही थीं। नेमिनाथ ने आत्मीयों की स्नेहमयी लोहश्रृंखलाओं के प्रगाढ़ बन्धनों को एक ही झटके में तोड़ डाला और सारथी को हाथी हांकने की आज्ञा दे तत्काल अपने निवासस्थान पर चले आये।

उपयुक्त अवसर देख लोकान्तिक देव प्राञ्जलिपूर्वक नेमिनाथ के समक्ष प्रकट हुए और उन्होंने प्रभु से प्रार्थना की – "प्रभो! अब धर्म-तीर्थ का प्रवर्तन कीजिये।" लोकान्तिक देवों को आश्वस्त कर प्रभु ने उन्हें ससम्मान विदा किया और इन्द्र की आज्ञा से जृम्भक देवों द्वारा द्रव्यों से भरे हुए भण्डार में से वर्ष भर दान देते रहे।

उधर अपने प्राणेश्वर नेमिकुमार के लौट जाने और उनके द्वारा प्रव्रजित होने के निश्चय का सम्वाद सुनते ही राजीमती वृक्ष से काटी गई लता की तरह निश्चेष्ट हो धरणी पर धड़ाम से गिर पड़ी। शोकाकुल सखियों ने सुगन्धित शीतल जल के उपचार और व्यजनादि से उसको होश में लाने का प्रयास किया तो होश में आते ही राजीमती बड़ा हृदयद्रावी करुण-विलाप करते हुए बोली – "कहां त्रिभुवनतिलक नेमिकुमार और कहां मैं हतभागिनी! मुझे तो स्वप्न में भी आशा नहीं थी कि नेमिकुमार जैसा नरशिरोमणि मुझे वर रूप में प्राप्त होगा। पर ओ निर्मोही! तुमने विवाह की स्वीकृति देकर मेरे मन में आशालता अंकुरित क्यों की और असमय में ही उसे उखाड़ कर क्यों फेंक दिया?"

"महापुरुष अपने वचन को जीवन भर निभाते हैं। यदि मैं आपको अपने अनुरूप नहीं जंची तो पहले मेरे साथ विवाह की स्वीकृति ही क्यों दी? जिस दिन आपने वचन से मुझे स्वीकार किया उसी दिन मेरा आपके साथ पाणिग्रहण हो चुका, उसके बाद यह विवाह-मण्डप-रचना और विवाह का समस्त आयोजन तो व्यर्थ ही किया गया। नाथ! मुझे सबसे बड़ा दुःख तो इस बात का है कि आप जैसे समर्थ महापुरुष भी वचन-भंग करेंगे तो सारी लौकिक मर्यादाएं विनष्ट हो जायेंगी। प्राणेश! इसमें आपका कोई दोष नहीं, मुझे तो यह सब मेरे ही किसी घोर पाप का प्रतिफल प्रतीत होता है। अवश्य ही मैंने पूर्व जन्म में किसी चिर-प्रणयी मिथुन का विछोह कर उसे विरह की बीभत्स ज्वाला में जलाया है। उसी जघन्य पाप के फलस्वरूप मैं हतभागिनी अपने प्राणाधार प्रियतम के करस्पर्श का भी सुखानुभव नहीं कर सकी।"

इस प्रकार पत्थर को भी पिघला देने वाले करुण-क्रन्दन से विह्वल राजीमती ने हृदय के हार एवं कर-कंकणों को तोड़कर टुकड़े २ कर डाला और अपने वक्षःस्थल पर अपने ही हाथों से प्रहार करने लगी।

सखियों ने राजीमती की यह अवस्था देखकर उसे समझाने का प्रयास करते हुए कहा – "नहीं, नहीं, राजदुलारी! ऐसा न करो, उस निर्दयी नेमि कुमार से तुम्हारा क्या सम्बन्ध है? उस मायावी से अब तुम्हें मतलब ही क्या है? वह तो लोक-व्यवहार से विमुख, गृहस्थ-जीवन से सदा डरने वाला और स्नेह से अनभिज्ञ केवल मानव-वसति में आ बसे बनवासी प्राणी की तरह है। सखि! यदि वह चातुर्य-गुणविहीन, निष्ठुर, स्वेच्छाचारी और तुम्हारा शत्रु चला गया है तो जाने दो। यह तो खुशी की बात है कि विवाह होने से पहले ही उसके लक्षण प्रकट हो गये। यदि विवाह कर लेने के पश्चात् इस तरह ममत्वहीन हो

जाता तो तुम्हारी दशा अन्धकूप में ढकेल देने जैसी हो जाती। सुभ्रू! अब तुम उस निष्ठुर को भूल जाओ। तुम अभी तक कुमारी हो क्योंकि उस नेमि कुमार को तो तुम केवल संकल्प मात्र से वाग्दान में ही दी गई हो। प्रद्युम्न, शाम्ब आदि एक से एक बढ़कर सुन्दर, सशक्त, सर्वगुणसम्पन्न अनेक यादव-कुमार हैं, उनमें से अपनी इच्छानुसार किसी एक को अपना वर चुन लो।"

इतना सुनते ही राजीमती क्रुद्धा बाघिनी की तरह अपनी सखियों पर गरज पड़ी – "हमारे निष्कलंक कुल पर काला धब्बा लगाने जैसी तुम यह कैसी बात करती हो? मेरे प्राणनाथ नेमि तीनों लोक में सर्वोत्कृष्ट नरश्रेष्ठ हैं, भला बताओ तो सही, कोई है ऐसा जो उनकी तुलना कर सके? क्षण भर के लिए मान लो अगर कोई है भी तो मुझे उससे क्या प्रयोजन, कन्या एक बार ही दी जाती है।"[1]

"वृष्णि कुमारों में से उनका ही मैंने अपने मन और वचन से वरण किया है और अपने गुरुजनों द्वारा भी उन्हें दी जा चुकी हूं, अतः मैं तो अपने प्रियतम नेमि कुमार की पत्नी हो चुकी। तीनों लोकवासियों में सर्वश्रेष्ठ मेरे उस वर ने आज मेरे साथ विवाह नहीं किया है तो मैं भी आज से सब प्रकार के भोगों को तिलाञ्जलि देती हूं। उन्होंने यद्यपि विवाह-विधि से मेरे कर का स्पर्श नहीं किया है पर मुझे व्रतदान देने में तो उनकी वाणी अवश्यमेव मेरे अन्तस्तल का स्पर्श करेगी।"

इस तरह काम-भोग के त्याग एवं व्रत-ग्रहण की दृढ़ प्रतिज्ञा से सहेलियों को चुप कर राजीमती अहर्निश भगवान् नेमिनाथ के ही ध्यान में निमग्न रहने लगी।

इधर भगवान् नेमिनाथ प्रतिदिन दान देते हुए अनेक रंकों को राव बना रहे थे। उन्हें अपने विशिष्ट ज्ञान और लोगों के मुख से राजीमती द्वारा की गई भोग-परित्याग की प्रतिज्ञा का पता चल गया था फिर भी वे पूर्णरूपेण ममत्व से निर्लिप्त रहे।

निष्क्रमणोत्सव एवं दीक्षा

वार्षिक दान सम्पन्न होने के पश्चात् मानवों, मानवेन्द्रों, देवों और देवेन्द्रों द्वारा भगवान् का निष्क्रमणोत्सव बड़े आनन्द और अलौकिक ठाट-बाट के साथ सम्पन्न किया गया। उत्तरकुरु नाम की रत्नमयी शिबिका पर भगवान् नेमिनाथ आरूढ़ हुए। निष्क्रमणोत्सव में देवों का सहयोग इस प्रकार बताया है—उस पालकी को देवताओं और राजा-महाराजाओं ने उठाया। सनत्कुमार प्रभु पर दिव्य छत्र किये हुए थे। शक्र और ईशानेन्द्र प्रभु के सम्मुख चँवर-व्यजन कर रहे थे। माहेन्द्र हाथ में नग्न-खड्ग धारण किये और ब्रह्मेन्द्र प्रभु के सम्मुख दर्पण लिए चल रहे थे। लान्तकेन्द्र पूर्ण-कलश लिये, शुक्रेन्द्र हाथ में स्वस्तिक धारण किये हुए और सहस्रार

---

[1] नेमिर्जगत्त्रयोत्कृष्टः कोऽन्यस्तत्सदृशो वरः।
सदृशो वास्तु किं तेन, कन्यादानं सकृत् खलु ॥२३१॥
[त्रिषष्टि शलाका पु० च०, प० ८, सर्ग ६]

धनुष की प्रत्यञ्चा पर बाण चढाये हुए प्रभु के आगे चल रहे थे। प्राणतेन्द्र श्रीवत्स, अच्युतेन्द्र, नन्द्यावर्त और चमरादि शेष इन्द्र विविध शस्त्र लिये साथ थे। भगवान् नेमि को दशों दशार्ह, मातृवर्ग और कृष्ण-बलराम आदि चारों ओर से घेरे हुए चल रहे थे।

इस प्रकार भगवान् नेमि के निष्क्रमणोत्सव का वह विशाल समूह राज-पथ से होता हुआ जब राजीमती के प्रासाद के पास पहुँचा तो एक वर्ष पुराना राजीमती का शोक भगवान् नेमिनाथ को देख कर तत्काल नवीन हो गया और वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ी।

देवों और मानवों के जन-सागर से घिरे हुए नेमिनाथ उज्जयंत पर्वत के परम रमणीय सहस्राम्र उद्यान में पहुंचे और वहां अशोक वृक्ष के नीचे शिबिका से उतर कर अपने सब आभरण उन्होंने उतार दिये। इन्द्र ने प्रभु द्वारा उतारे गये वे सब आभूषण श्रीकृष्ण को अर्पित किये। ३०० वर्ष गृहस्थ-पर्याय में रह कर श्रावण शुक्ला ६ के दिन पूर्वाह्न में चन्द्र के साथ चित्रा नक्षत्र के योग में तेले की तपस्या से प्रभु नेमिनाथ ने सुगन्धियों से सुवासित कोमल आकुंचित केसों का स्वयमेव पंचमुष्टि लोच किया।[1] शक्र ने प्रभु के केसों को अपने उत्तरीय में लेकर तत्काल क्षीर समुद्र में प्रवाहित किया। जब लुंचन कर प्रभु ने सिद्ध-साक्षी से संपूर्ण सावद्य-त्याग रूप प्रतिज्ञा-पाठ का उच्चारण किया तब इन्द्र-आज्ञा से देव एवं मानवों का सारा समुदाय पूर्ण शान्त-निस्तब्ध हो गया।

प्रभु ने १००० पुरुषों के साथ प्रव्रज्या ग्रहण की। उस समय क्षण भर के लिये नारकीय जीवों को भी सुख प्राप्त हुआ। दीक्षा ग्रहण करते ही प्रभु को मनःपर्यव नामक चौथा ज्ञान भी हो गया।

अरिष्टनेमि के दीक्षित होने पर वासुदेव श्रीकृष्ण ने आशीर्वचन रूप से कहा—"हे दमीश्वर! आप शीघ्र ही अपने ईप्सित मनोरथ को प्राप्त करें। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यग्चारित्र, तप, शान्ति और मुक्ति के मार्ग पर निरंतर आगे बढ़ते रहें।"[2]

प्रभु द्वारा मुनि-धर्म स्वीकार करने के पश्चात् समस्त देव और देवेन्द्र, दशों दशार्ह, बलराम-कृष्ण आदि प्रभु अरिष्टनेमि को वन्दन कर अपने-अपने स्थान को लौट गये।

पारणा

दूसरे दिन प्रातःकाल प्रभु नेमिनाथ ने सहस्राम्रवन-उद्यान से निकल कर 'गोष्ठ' में 'वरदत्त' नामक ब्राह्मण के यहां अष्टम-तप का परमान्न से पारणा

---

[1] अह से सुगन्धगन्धिए, तुरियं मउयकुंचिए।
सयमेव लुंचई केसे, पंचमुट्ठीहिं समाहिओ ॥२४॥ [उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २२]

[2] वासुदेवो य णं भणइ, लुत्तकेसं जिइन्दियं।
इच्छियमणोरहे तुरियं, पावेसू तं दमीसरा ॥२५॥ [उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २२]

किया। "अहो दानं, अहो दानम्" की दिव्य ध्वनि के साथ देवताओं ने दुन्दुभि बजाई, सुगन्धित जल, पुष्प, दिव्य-वस्त्र और सोनैयों की वर्षा, इस तरह पांच दिव्य वर्षा कर दान की महिमा प्रकट की।

तदनन्तर प्रभु नेमिनाथ ने अपने घातिक कर्मों का क्षय करने के दृढ़ संकल्प के साथ कठोर तप और संयम की साधना प्रारम्भ की और वहां से अन्य स्थान के लिए विहार कर दिया।

रथनेमि का राजीमती के प्रति मोह

अरिष्टनेमि के तोरण से लौट जाने पर भगवान् नेमिनाथ का छोटा भाई रथनेमि राजीमती को देखकर उस पर मोहित हो गया और वह नित्य नई, सुन्दर वस्तुओं की भेंट लेकर राजीमती के पास जाने लगा। रथनेमि के मनोगत कलुषित भावों को नहीं जानते हुए राजीमती ने यही समझ कर निषेध नहीं किया– "भ्रातृ-स्नेह के कारण मेरे लिए देवर आदर से भेंट लाता है तो मुझे भी इनका मान रखने के लिए इन वस्तुओं को ग्रहण कर लेना चाहिए।"

उन सौगातों की स्वीकृति का अर्थ रथनेमि ने यह समझा कि उस पर अनुराग होने के कारण ही राजीमती उसके हर उपहार को स्वीकार करती है। इस प्रकार उसकी दुराशा बलवती होने लगी और वह क्षुद्रबुद्धि प्रतिदिन राजीमती के घर जाने लगा। भावज होने के कारण वह रथनेमि के साथ बड़ा शिष्ट व्यवहार करती।

एक दिन एकान्त पा रथनेमि ने राजीमती से कहा – "मुग्धे! मैं तुम्हारे साथ विवाह करना चाहता हूं। इस अनुपम अमूल्य यौवन को व्यर्थ ही बरबाद मत करो। मेरे भैया भोगसुख से नितान्त अनभिज्ञ थे, इसी कारण उन्होंने तुम्हारी जैसी परम सुकुमार सुन्दरी का परित्याग कर दिया। खैर, जाने दो उस बात को। उनके द्वारा परित्याग करने से तुम्हारा क्या बिगड़ा, वे ही घाटे में रहे कि भोग-जन्य सुखों से पूर्णरूपेण वंचित हो गये। उनमें और मुझमें नभ-पाताल जितना अन्तर है। एक ओर तो वे इतने अरसिक कि तुम्हारे द्वारा प्रार्थना करने पर भी उन्होंने तुम्हारे साथ विवाह नहीं किया, दूसरी ओर मेरी गुण-ग्राहकता पर गम्भीरता से विचार करो कि मैं स्वयं तुम्हें अपनी प्राणेश्वरी, चिरप्रेयसी बनाने के लिए तुम्हारे सम्मुख प्रार्थना कर रहा हूँ।"[1]

रथनेमि की बात सुनकर राजीमती के हृदय पर बड़ा आघात लगा। कुछ क्षण के लिए वह अवाक् सी रह गई। उस सरल स्वभाव वाली विशुद्धहृदया राजीमती की समझ में अब आया कि वे सारे उपहार इस हीन भावना से ही भेंट किये गये थे। धर्मनिष्ठा राजीमती ने रथनेमि को अनेक प्रकार से समझाया

---

[1] प्रार्थ्यमानोऽपि नाभूत्ते, स वरो वरवर्णिनि।
अहं प्रार्थयमानस्त्वामस्मि पश्यान्तरं महत् ॥२६४॥ [त्रि० श० पु० च०, पर्व ८, सर्ग ६]

कि यशस्वी हरिवंशीय कुमार के मन में इस प्रकार के हीन विचारों का आना लज्जास्पद है पर उस भ्रष्ट-बुद्धि रथनेमि पर राजीमती के समझाने का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। उसने अपनी दुरभिलाषा को इसलिए नहीं छोड़ा कि निरन्तर के प्रेमपूर्ण व्यवहार से एक न एक दिन वह राजीमती को अपनी ओर आकर्षित करने में सफल हो सकेगा। इस प्रकार की आशा लिए उस दिन रथनेमि राजीमती से यह कह कर चला गया कि वह कल फिर आयेगा।

रथनेमि के चले जाने पर राजमती सोचने लगी कि यह संसार का कुटिल काम-व्यापार कितना घृणित है। कामान्ध और पथभ्रष्ट रथनेमि को सही राह पर लाने के लिए कोई न कोई प्रभावोत्पादक उपाय किया जाना चाहिए। वह बड़ी देर तक विचारमग्न रही और अन्त में उसने एक अद्भुत उपाय ढूंढ़ ही निकाला।

राजीमती ने दूसरे दिन रथनेमि के अपने यहां आने से पहले ही भरपेट दूध पिया और उसके आने के पश्चात् वमनकारक मदनफल को नासा-रन्ध्रों से छूकर सूंघा और रथनेमि से कहा कि शीघ्र ही एक स्वर्ण-थाल ले आओ। रथनेमि ने तत्काल राजीमती के सामने सुन्दर स्वर्ण-पात्र रख दिया। राजीमती ने पहले पिये हुए दूध का उस स्वर्ण-पात्र में वमन कर दिया और रथनेमि से गम्भीर दृढ़ स्वर में कहा – "देवर! इस दूध को पी जाओ।"

रथनेमि ने हकलाते हुए कहा – "क्या मुझे कुत्ता समझ रखा है जो इस वमन किये हुए दूध को पीने के लिए कह रही हो?"

राजीमती ने जिज्ञासा के स्वर में कहा – "रथनेमि! क्या तुम भी जानते हो कि यह वमन किया हुआ दूध पीने योग्य नहीं है?"

रथनेमि ने उत्तर दिया – "वाह खूब! केवल मैं ही क्या, मूर्ख से मूर्ख व्यक्ति भी वमन की हुई हर वस्तु को अपेय एवं अभक्ष्य जानता और मानता है।"

राजीमती ने कठोर स्वर में कहा – "अरे रथनेमि! यदि तुम यह जानते हो कि वमन की हुई वस्तु अपेय और अभोग्य है – खाने-पीने और उपभोग करने योग्य नहीं है तो फिर मेरा उपभोग करना क्यों चाहते हो? मैं भी तो वमन की हुई हूं। उन महान् अलौकिक पुरुष के भाई होकर भी तुम्हें अपनी इस घृणित इच्छा के लिए लज्जा नहीं आती? सावधान! भविष्य में कभी ऐसी गर्हित-घृणित और नारकीय आयु का बन्ध करने वाली बात मुंह से न निकालना।[1]"

राजीमती की इस युक्तिपूर्ण फटकार से रथनेमि बड़ा लज्जित हुआ। उसके मुंह से एक भी शब्द नहीं निकल सका। उसके सारे कलुषित मनोरथ मिट्टी में मिल गये और वह उन्मना हो अपना-सा मुंह लिए अपने घर को लौट

[1] तस्य भ्रातापि भूत्वा त्वं, कथमेवं चिकीर्षसि।
भातः परमिदं वादीर्नरकायुर्निबन्धनम् ॥२७२॥ [त्रि० श० पु० च०, पर्व ८, स० ९]

गया। उसने फिर कभी राजीमती के प्रासाद की ओर मुंह करने का भी साहस नहीं किया।

कुछ समय पश्चात् रथनेमि विरक्त हुए और दीक्षित होकर भगवान् नेमिनाथ की सेवा में रेवताचल की ओर निकल पड़े।

केवलज्ञान

प्रव्रज्या ग्रहण करने के बाद चौवन (५४) दिन तक विविध प्रकार के तप करते हुए प्रभु उज्जयंतगिरि-रेवतगिरि पधारे और वहीं अष्टम-तप से ध्यानस्थ हो गये। एक रात्रि की प्रतिमा से शुक्ल-ध्यान की अग्नि में मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि घाति-कर्मों का क्षय कर आश्विन कृष्णा अमावस्या को पूर्वाह्न काल में, चित्रा नक्षत्र के योग में उन्होंने केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति की।

समवसरण और प्रथम देशना

भगवान् अरिष्टनेमि को केवलज्ञान की प्राप्ति होते ही देवेन्द्रों के आसन चलायमान हुए। देवेन्द्र तत्क्षण अपने देव-देवी समाज के साथ रैवतक पर्वत पर सहस्राम्र वन में आये और भगवान् के चरणों में भक्तिसहित वन्दन कर उन्होंने अनुपम समवसरण की रचना की। उस समय सारा रेवताचल देव-देवियों की कमनीय कान्ति से जगमगा उठा। वहां के रक्षक यह सब अदृष्टपूर्व दृश्य देख कर बड़े विस्मित हुए और तत्क्षण कृष्ण के पास जाकर उन्हें अरिष्टनेमि के समवसरण एवं देव-देवियों के आगमन का सारा हाल कह सुनाया।

श्रीकृष्ण ने परम प्रसन्न हो उन रक्षक पुरुषों को साढ़े बारह करोड़ रौप्य मुद्राओं (रुपयों) का पारितोषिक प्रदान कर भगवान् नेमिनाथ के प्रति अपनी अपूर्व श्रद्धा और निष्ठा का परिचय दिया।

तदनन्तर श्रीकृष्ण अपने श्रेष्ठ हाथी पर आरूढ़ हो दशों दशार्हों, शिवा, रोहिणी और देवकी आदि माताओं तथा बलभद्र आदि भाइयों, एक करोड़ यादव कुमारों एवं समस्त अन्तःपुर और सोलह हजार राजाओं के साथ अर्द्धचक्री की समस्त समृद्धि से सुशोभित हो भगवान् नेमिनाथ के समवसरण की ओर चल पड़े। समवसरण को देखते ही श्रीकृष्ण आदि अपने २ वाहनों से उतर पड़े और राजचिह्नों को वहीं रखकर सबने समवसरण के उत्तर द्वार से भीतर प्रवेश किया। अष्ट महाप्रातिहार्यों से सुशोभित प्रभु एक अलौकिक स्फटिक सिंहासन पर पूर्वाभिमुख विराजमान थे। प्रभु का मुखारविन्द तीर्थंकर के विशिष्ट अतिशयों के कारण चारों ही दिशाओं में यथावत् समान रूप से दिख रहा था।

प्रभु की प्रदक्षिणा और भक्तिसहित विधिवत् वन्दना के पश्चात् श्रीकृष्ण और अन्य सब यथास्थान बैठ गये।

इन्द्र और श्रीकृष्ण ने बड़े भक्तिभाव से प्रभु की स्तुति की।

तदनन्तर प्रभु नेमिनाथ ने सबकी समझ में आने वाली भाषा में भव्यों के अज्ञान-तिमिर का विनाश कर ज्ञान-प्रकाश प्रकट करने वाली देशना दी।

तीर्थ-स्थापना

प्रभु की ज्ञान-विरागपूर्ण देशना सुन कर सर्वप्रथम 'वरदत्त' नामक नृपति ने संसार से विरक्त हो तत्क्षण प्रभु-चरणों में दीक्षित होने की प्रार्थना की। भगवान् नेमिनाथ ने भी योग्य समझ कर वरदत्त को दीक्षा दी।

उसी समय श्रीकृष्ण ने नमस्कार कर प्रभु से पूछा—"प्रभो! यों तो प्रत्येक प्राणी का आपके प्रति अनुराग है, पर राजीमती का आपके प्रति सबसे अधिक अनुराग क्यों है?"

उत्तर में प्रभु ने राजीमती के साथ अपने पूर्व के आठ भवों के सम्बन्धों का विवरण सुनाया। पूर्वभव के इस वृत्तान्त को सुन कर तीन राजाओं को जो समवसरण में आये हुए थे और पूर्वभवों में प्रभु के साथ रहे थे, तत्क्षण जाति-स्मरण ज्ञान हो गया और उन्होंने उसी समय प्रभु के पास श्रमण-दीक्षा स्वीकार कर ली। और भी अनेक मुमुक्षुओं ने प्रभु-चरणों में दीक्षा ग्रहण की। इस प्रकार प्रभु के उपदेश को सुन कर विरक्त हुए दो हजार क्षत्रियों ने वरदत्त के पश्चात् उसी समय प्रभु की सेवा में दीक्षा ग्रहण की। उन २००१ सद्यःदीक्षित साधुओं में से वरदत्त आदि ग्यारह (११) मुनियों को प्रभु ने उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप त्रिपदी का ज्ञान देकर गणधर-पदों पर नियुक्त किया। त्रिपदी के आधार पर उन मुनियों ने बारह अंगों की रचना की और गणधर कहलाये।

उसी समय यक्षिणी आदि अनेक राजपुत्रियों ने भी प्रभु-चरणों में दीक्षा ग्रहण की। प्रभु ने यक्षिणी आर्या को श्रमणी-संघ की प्रवर्तिनी नियुक्त किया।

दशों दशार्हों, उग्रसेन, श्रीकृष्ण, बलभद्र व प्रद्युम्न आदि ने प्रभु से श्रावक-धर्म स्वीकार किया।[1]

महारानी शिवादेवी, रोहिणी, देवकी और रुक्मिणी आदि अनेक महिलाओं ने प्रभु के पास श्राविका-धर्म स्वीकार किया।[2]

इस प्रकार प्रभु ने प्राणी मात्र के कल्याण के लिए साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका-रूप चतुर्विध तीर्थ की स्थापना की और तीर्थ-स्थापना के कारण प्रभु अरिष्टनेमि भाव-तीर्थंकर कहलाये।

राजीमती की प्रव्रज्या

उधर राजीमती अपने तन-मन की सुधि भूले रात दिन नेमिनाथ के चिंतन में ही डूबी रहने लगी। अपने प्रियतम के विरह में उसे एक एक दिन एक एक वर्ष के समान लम्बा लगता था।

---

[1] दशार्हा उग्रसेनश्च, वासुदेवश्च लांगली।
प्रद्युम्नाद्याः कुमाराश्च, श्रावकत्वं प्रपेदिरे ॥३७८॥

[2] शिवा रोहिणीदेवक्यो, रुक्मिण्याद्याश्च योषितः।
जगृहुः श्राविका-धर्ममन्याश्च स्वामिसन्निधौ ॥३७९॥

[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ८, सर्ग ९]

बारह मास तक अपलक प्रतीक्षा के बाद जब राजीमती ने भगवान् अरिष्टनेमि की प्रव्रज्या की बात सुनी तो हर्ष और आनन्द से रहित होकर स्तब्ध हो गई।[1] वह सोचने लगी – "धिक्कार है मेरे जीवन को जो मैं प्राणनाथ नेमिनाथ के द्वारा ठुकराई गई हूं। अब तो उन्हीं के मार्ग का अनुसरण करना मेरे लिए श्रेयस्कर है। उन्होंने प्रव्रज्या ग्रहण की है तो अब मेरे लिए भी प्रव्रज्या ही हितकारी है।"

किसी तरह माता-पिता की अनुमति लेकर उसने प्रव्रज्या का निश्चय किया एवं अपने सुन्दर-श्यामल बालों का स्वयमेव लुंचन कर धैर्य एवं दृढ़ निश्चय के साथ वह संयम मार्ग पर बढ़ चली। लुंचित केश वाली जितेन्द्रिया सुकुमारी राजीमती से वासुदेव श्रीकृष्ण आशीर्वचन के रूप में बोले – "हे कन्ये! जिस लक्ष्य से दीक्षित हो रही हो, उसकी सफलता के लिए घोर संसार-सागर को शीघ्रातिशीघ्र पार करना।[2] राजीमती ने दीक्षित होकर बहुत सी राजकुमारियों एवं अन्य सखियों को भी दीक्षा प्रदान की। शीलवती होने के साथ-साथ नेमिनाथ के प्रति धर्मानुराग से अभ्यास करते हुए राजीमती बहुश्रुता भी हो गई थीं।

भगवान् नेमिनाथ को चौपन दिन के छद्मस्थकाल के पश्चात् केवलज्ञान प्राप्त हुआ और वे रेवताचल पर विराजमान थे अतः साध्वी राजीमती अनेक साध्वियों के साथ भगवान् को वन्दन करने के लिए रेवतगिरि की ओर चल पड़ीं। अकस्मात् आकाश में उमड़-घुमड़ कर घटाएं घिर आईं और वर्षा होने लगी जिससे मार्गस्थ साध्वियां भीग गईं। वर्षा से बचने के लिए सब साध्वियां इधर-उधर गुफाओं में चली गईं। राजीमती भी पास की एक गुफा में पहुंची, जिसे आज भी लोग राजीमती-गुफा कहते हैं। उसको यह ज्ञात नहीं था कि इस गुफा में पहले से ही रथनेमि बैठे हुए हैं। उसने अपने भीगे कपड़े उतार कर सुखाने के लिए फैलाये।

रथनेमि का आकर्षण

नग्नावस्था में राजीमती को देख कर रथनेमि का मन विलचित हो उठा। उधर राजीमती ने रथनेमि को सामने ही खड़े देखा तो वह सहसा भयभीत हो गईं। उसको भयभीत और कांपती हुई देख कर रथनेमि बोले – "हे भद्रे! मैं वही तेरा अनन्योपासक रथनेमि हूं। हे सुरूपे! मुझे अब भी स्वीकार करो। हे चारुलोचने! तुम्हें किसी प्रकार का कष्ट नहीं होगा। संयोग से ऐसा सुअवसर हाथ आया है। आओ, जरा इन्द्रिय-सुखों का भोग करलें। मनुष्य-जन्म बहुत दुर्लभ है। अतः भुक्तभोगी होकर फिर जिनराज के मार्ग का अनुसरण करेंगे।

[1] सोऊण रायवरकन्ना, पवज्जं सा जिणस्स उ।
णीहासा य णिराणन्दा, सोगेण उ समुत्थिया ॥ [उत्तराध्ययन अ० २२, श्लो० २८]

[2] संसार सायरं घोरं, तर कन्ने लहुं लहुं। [उ० सू०, अ० २२]

रथनेमि को इस प्रकार भग्नचित्त और मोह से पथभ्रष्ट होते देख कर राजीमती ने निर्भय होकर अपने आपका संवरण किया और नियमों में सुस्थिर होकर कुल-जाति के गौरव को सुरक्षित रखते हुए वह बोली – "रथनेमि ! तुम तो साधारण पुरुष हो, यदि रूप से वैश्रमण देव और सुन्दरता में नलकूवर तथा साक्षात् इन्द्र भी आ जायं तो भी मैं उन्हें नहीं चाहूंगी, क्योंकि हम कुलवती हैं। नाग जाति में अगंधन कुल के सर्प होते हैं, जो जलती हुई आग में गिरना स्वीकार करते हैं किन्तु वमन किये हुए विष को कभी वापिस नहीं लेते। फिर तुम तो उत्तम कुल के मानव हो, क्या त्यागे हुए विषयों को फिर से ग्रहण करोगे ? तुम्हें इस विपरीत मार्ग पर चलते लज्जा नहीं आती ? रथनेमि तुम्हें धिक्कार है। इस प्रकार अंगीकृत व्रत से गिरने की अपेक्षा तो तुम्हारा मरण श्रेष्ठ है।"[1]

राजीमती की इस प्रकार हितभरी ललकार और फटकार सुन कर अंकुश से उन्मत्त हाथी की तरह रथनेमि का मन धर्म में स्थिर हो गया। उन्होंने भगवान् अरिष्टनेमि के चरणों में पहुंच कर, आलोचना-प्रतिक्रमण पूर्वक आत्मशुद्धि की और कठोर तपश्चर्या की प्रचण्ड अग्नि में कर्मसमूह को काष्ठ के ढेर की तरह भस्मसात् कर वे शुद्ध, बुद्ध एवं मुक्त हो गये। राजीमती ने भी भगवच्चरणों में पहुंच कर वंदन किया और तप-संयम का साधन करते हुए केवलज्ञान की प्राप्ति कर ली और अन्त में निर्वाण प्राप्त किया।

अरिष्टनेमि द्वारा अद्भुत रहस्य का उद्घाटन

धर्मतीर्थ की स्थापना के पश्चात् भगवान् अरिष्टनेमि भव्यजनों के अन्तर्मन को ज्ञान के प्रकाश से आलोकित करते हुए, कुमार्ग पर लगे हुए असंख्य लोगों को धर्म के सत्पथ पर आरूढ़ करते हुए, कनक-कामिनी और प्रभुता के मद में अन्धे बने राजाओं, श्रेष्ठियों और गृहस्थों को परमार्थ-साधना के अमृतमय उपदेश से मद-विहीन करते हुए कुसट्ट, आनर्त, कलिंग आदि अनेकों जनपदों में विचरण कर भद्दिलपुर नगर में पधारे।

भद्दिलपुर में भगवान् की भवभयहारिणी अमोघ देशना को सुनकर देवकी के ६ पुत्र अनीक सेन, अजित सेन, अनिहत ऋपु, देवसेन, शत्रुसेन और सारण ने, जो सुलसा गाथापत्नी के द्वारा पुत्र रूप में बड़े लाड़-प्यार से पाले गये थे, विरक्त हो भगवान् के चरणों में श्रमणदीक्षा ग्रहण की। इनका प्रत्येक का बत्तीस २ इभ्य कन्याओं के साथ पाणिग्रहण किया गया था, वैभव का इनके पास कोई पार नहीं था[2] पर भगवान् नेमिनाथ की देशना सुन कर ये विरक्त हो गये।

भद्दिलपुर से विहार कर भगवान् अरिष्टनेमि अनेकों श्रमणों के साथ द्वारिकापुरी पधारे। भगवान् के समवसरण के समाचार सुनकर श्रीकृष्ण भी

---

[1] धिरत्थु तेऽजसोकामी, जो तं जीविय कारणा।
वंतं इच्छसि आवेउं, सेयं ते मरणं भवे ॥७॥ [दशवैकालिक सूत्र, अ० २]

[2] अन्तगढ़ दसा वर्ग ३ अ० १ से ६

अपने समस्त यादव-परिवार और अन्तःपुर आदि के साथ भगवान् के समवसरण में आये। जिस प्रकार गंगा और यमुना नदियाँ बड़े वेग से बढ़ती हुई समुद्र में समा जाती हैं उसी तरह नर-नारियों की दो धाराओं के रूप में द्वारिकापुरी की सारी प्रजा भगवान् के समवसरण-रूप सागर में कुछ ही क्षणों में समा गई। भगवान् की भवोदधितारिणी वाणी सुन कर अगणित लोगों ने अपने कर्मों के गुरुतर भार को हल्का किया।

अनेकों भव्य-भाग्यवान् नर-नारियों ने दीक्षित हो प्रभु के चरणों की शरण ली। अनेकों व्यक्ति श्रावक-धर्म स्वीकार कर मुक्ति-पथ के पथिक बने और भवभ्रमण से विभ्रान्त अगणित व्यक्तियों के अन्तर में मिथ्यात्व के निविड़-तम तिमिर को ध्वस्त करने वाले सम्यक्त्व सूर्य का उदय हुआ।

धर्म-परिषद् में आये हुए श्रोताओं के, देशनानन्तर यथास्थान चले जाने के पश्चात् छट्ठ २ की निरन्तर तपस्या के कारण कृषकाय वे छहों मुनि अर्हन्त अरिष्टनेमि की अनुमति लेकर दो दिन के – छट्ठ तप के पारण हेतु दो-दो के संघाटक से भिक्षार्थ द्वारिकापुरी की ओर अग्रसर हुए।

इन मुनियों का प्रथम युगल विभिन्न कुलों में मधुकरी करता हुआ देवकी के प्रासाद में पहुँचा। राजहंसों के समान उन मुनियों को देखते ही देवकी ने उन्हें भक्तिपूर्वक प्रणाम किया और प्रेमपूर्वक विशुद्ध एषणीय आहार की भिक्षा दी। भिक्षा ग्रहण कर मुनि वहां से लौट पड़े।

मुनि-युगल की सौम्य आकृति, सदृश-वय, कान्ति और चाल ढाल को परीक्षात्मक सूक्ष्म दृष्टि से देखकर देवकी ने रोहिणी से कहा– "दीदी! देखो, देखो, इस वय में दुष्कर कठोर तपस्या से शुष्क एवं कृषकाय इन युवा-मुनियों को। इनका रूप, सौन्दर्य, लावण्य और सहज प्रफुल्लित मुखड़ा कितना अद्भुत है। दीदी! वह देखो, इनके सुकुमार तन पर कृष्ण के समान ही श्रीवत्स का चिह्न दिखाई दे रहा है।"

देवकी ने दीर्घ निःश्वास छोड़ते हुए शोकातिरेक से अवरुद्ध करुण स्वर में कहा– "दीदी! देव दुर्विपाक से यदि बिना कारण के शत्रु कंस ने मेरे छह पुत्रों को नहीं मारा होता तो वे भी आज इन मुनियों के समान वय और वपु वाले होते। धन्य है वह माता जिसके कि ये लाल हैं।"

देवकी के नयनों से अनवरत अश्रुधाराएं बह रही थीं।

देवकी का अन्तिम वाक्य पूरा ही नहीं हो पाया था कि उसने मुनि-युगल के दूसरे संघाटक को आते देखा। यह मुनि-युगल भी दिखने में पूर्णरूपेण प्रथम मुनि-युगल के समान था। इस संघाटक ने भी कृतप्रणामा देवकी से भिक्षा की याचना की। वही पहले के मुनियों का सा कण्ठ-स्वर देवकी के कर्णरन्ध्रों में गूंज उठा। वही नपे-तुले शब्द और वही कण्ठ-स्वर।

देवकी ने मन ही मन यह सोचते हुए कि पहले जो भिक्षा में इन्हें दिया गया, वह इनके लिये पर्याप्त नहीं होगा, इसलिए पुनः लौटे हैं, उसने बड़े आदर और हर्षोल्लास से मुनियों को पुनः प्रतिलाभ दिया। दोनों साधु भिक्षा लेकर चले गये।

उन दोनों साधुओं के जाने पर संयोगवश छोटे बड़े कुलों में मधुकरी के लिये घूमता हुआ तीसरा मुनि – संघाटक भी देवकी के यहां जा पहुँचा। यह युगल-जोड़ी भी पूर्ण रूप से भिक्षार्थ पहले आये हुए दोनों संघाटकों के मुनि-युगल से मिलती-जुलती थी।

देवकी ने पूर्ण सम्मान और बड़े प्रेम से उन्हें भिक्षा दी। मुनियों को भिक्षा देने के कारण देवकी का अन्तर्मन असीम आनन्द का अनुभव करते हुए इतना पुलकित हो उठा था कि वह स्नेहातिरेक और परा भक्ति के उद्रेक से अपने आपको सम्हाल भी नहीं पा रही थी। फिर भी अन्तर में उठे हुए एक कुतूहल और सन्देह का निवारण करने हेतु हर्षाश्रुओं से मुनि-युगल की ओर देखते हुए उसने कहा – "भगवन्! मन्दभाग्य वाले लोगों के आंगन में आप जैसे महान् त्यागियों के चरण-कमल दुर्लभ हैं। मेरा अहोभाग्य है कि आपने अपने पावन चरणकमलों से इस आंगन को पवित्र किया, पर मेरी शंका है कि द्वारिका में हजारों गुणानुरागी, सन्तसेवी कुलों को छोड़कर आप मेरे यहां तीन बार कैसे पधारे?"

अन्तगड़ सूत्र के अनुसार देवकी ने मुनि-युगल से कहा – "महाराज कृष्ण की देवपुरी सी द्वारिकानगरी में क्या श्रमण निर्ग्रन्थों को अटन करते भिक्षा-लाभ नहीं होता जिससे उन्हीं कुलों में दूसरी तीसरी बार वे प्रवेश करते हैं?"

देवकी की बात सुनकर मुनि समझ गये कि उनसे पूर्व उनके चारों भाइयों के दो संघाड़े भी यहां आ चुके हैं। उनमें से एक ने कहा – "देवकी! ऐसी बात नहीं है कि द्वारिकानगरी के विभिन्न कुलों में घूमकर भी भिक्षा नहीं मिलने से हम तीसरी बार तुम्हारे यहां भिक्षा को आये हैं। पर सही बात यह है कि हम एक ही मां के उदर से उत्पन्न हुए छः भाई हैं। वय और रूप की समानता से हम सब एक से प्रतीत होते हैं। कंस के द्वारा हम मार दिये जाते किन्तु हरिणैगमेषी देव ने भद्दिलपुर की मृतवत्सा सुलसा गाथापत्नी की भक्ति से प्रसन्न हो, हमें जन्म लेते ही सुलसा के प्रीत्यर्थ तत्काल उसके पुत्रों से बदल दिया[1]। सुलसा ने ही हमें पाल-पोसकर बड़ा किया और हम सब का पाणिग्रहण करवाया। बड़े होकर हमने भगवान् नेमिनाथ के मुखारविन्द से अपने कुल-परिवर्तन का पूरा वृत्तान्त सुना और एक ही जन्म में दो कुलों में उत्पन्न होने की घटना से हम छहों भाइयों को संसार से पूर्ण विरक्ति हो गई। कर्मों का कैसा विचित्र खेल है?

[1] जन्मजात छः पुत्रों के परिवर्तन की बात देवकी को भगवान् अरिष्टनेमि से ज्ञात हुई इस प्रकार का अन्तगड़ में उल्लेख है।

यह संसार असार है और विषयों का अन्तिम परिणाम घोर दुख है – यह सोचकर हम छहों भाइयों ने भगवान् नेमिनाथ के चरणों में दीक्षा ग्रहण करली।"

मुनि की बात समाप्त होते ही महारानी देवकी मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर पड़ी।

दासियों द्वारा शीतलोपचार से थोड़ी देर में देवकी फिर सचेत हुई और देवकी का मातृहृदय सागर की तरह हिलोरें लेने लगा। मुनियों को देखकर उसके स्तनों से दूध की और आँखों से अश्रुओं की धाराएं एक साथ बहने लगीं।

देवकी रोते-रोते अत्यन्त करुण स्वर में कहने लगी – "अहो! ऐसे पुत्र रत्नों को पाकर भी मैं परम अभागिन ही रही जो दुर्दैव ने मुझसे इनको छीन लिया। मेरी पुत्र-प्राप्ति तो बिल्कुल उस अभागे के समान है जो स्वप्न में अमूल्य रत्न प्राप्त कर धन-कुवेर बन जाता है किन्तु जगने पर कंगाल का कंगाल। कितनी दयनीय है मेरी स्थिति कि पहले तो मैं सजल उपजाऊ भूमि के फल-फूलों से लदे सघन सुन्दर तरुवर की तरह खूब फली-फूली किन्तु असमय में ही ऊसर भूमि की लता के समान ये मेरे अनुपम अमृतफल – मेरे पुत्र मुझसे विलग हो दूर गिर पड़े। परम भाग्यवती है वह नारी जिसने बाललीला के कारण धूलि-धूसरित इन सलोने शिशुओं के मुखकमल को अगणित बार बड़े प्यार से चूमा है।"

देवकी के इस अन्तस्तलस्पर्शी करुण विलाप को सुनकर मुनियों के सिवाय वहां उपस्थित सब लोगों की आँखें अश्रु-प्रवाह करने लगीं।[1]

बिजली की तरह यह समाचार सारी द्वारिका में फैल गया। नागरिकों के मुख से यह बात सुनकर वे चारों मुनि भी वहां लौट आये और छहों मुनि देवकी को समझाने लगे – "न कोई किसी की माता है और न कोई किसी का पिता अथवा पुत्र। इस संसार में सब प्राणी अपने-अपने कर्म-बन्धन से बंधे रहट में मृत्तिका-पात्र (घटी-घड़ली) की तरह जन्म-मरण के चक्कर में निरन्तर परिभ्रमण करते हुए भटक रहे हैं। प्राणी एक जन्म में किसी का पिता होकर दूसरे जन्म में उसका पुत्र हो जाता है और तदनन्तर फिर किसी जन्म में पिता बन जाता है। इसी तरह एक जन्म की माता दूसरे जन्म में पुत्री, एक जन्म का स्वामी दूसरे जन्म में दास बन जाता है। एक जन्म की माँ दूसरे जन्म में सिंहनी बनकर अपने पूर्व के प्रिय पुत्र को मार कर उसके मांस से अपनी भूख मिटाने लग जाती है। एक जन्म में एक पिता अपने पुत्र को बड़े दुलार से पाल-पोसकर बड़ा करता है, वही पुत्र भवान्तर में उस पिता का भयंकर शत्रु बनकर अपनी तीक्ष्ण तलवार से उसका सिर काट लेता है। जिस माँ ने अपनी कुक्षि से जन्म दिये हुए

[1] अन्तगड़ सूत्र में देवकी द्वारा पूछे जाने पर यह बात अरिहन्त नेमिनाथ ने कही है और वहीं पर देवकी का मुनियों के दर्शन से वात्सल्य उमड़ पड़ा और उसके स्तनों से दूध छूटने लगा एवं हर्षातिरेक से रोम-रोम पुलकित हो गये।

पुत्र को अपने स्तनों का दूध पिलाकर प्यार से पाला, कर्मवश भटकती हुई वही माँ अपने उस पुत्र से अनंग-क्रीड़ा करती हुई अपनी काम-पिपासा शान्त करती है। उसी तरह पिता अपने दुष्कर्मों से अभिभूत अपनी पुत्री से मदन-क्रीड़ा करता हुआ अपनी कामाग्नि को शान्त करता है – ऐसे अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं। यह है इस संसार की घृणित और विचित्र नट-क्रीड़ा, जिसमें प्राणी अपने ही किये कर्मों के कारण नट की तरह विविध रूप धारण कर भव-भ्रमण करता रहता है और पग-पग पर दारुण दुःखों को भोगता हुआ भी मोह एवं अज्ञानवश लाखों जीवों का घोर संहार करता हुआ मदोन्मत्त स्वेच्छाचारी हाथी की तरह दुःखानुबन्धी विषय-भोगों में निरन्तर प्रवृत्त होता रहता है। निविड़ कर्म-बन्धनों से जकड़े हुए प्राणी को माता-पिता-पुत्र-कलत्र सहज ही प्राप्त हो जाते हैं और वह मकड़ी की तरह अपने ही बनाये हुए भयंकर कुटुम्ब-जाल में फंसकर जीवन भर तड़फता एवं दुःखों से बिलबिलाता रहता है तथा अन्त में मर जाता है।"

"इस तरह पुनः पुनः जन्म ग्रहण करता और मरता है। संसार की इस दारुण भयावह स्थिति को देखकर हम लोगों को विरक्ति हो गई। हमने भगवान् नेमिनाथ के पास संयम ग्रहण कर लिया और संसार के इस दुःखदायक आवागमन के मूल कारण कर्म-बन्धनों को काटने में सतत प्रयत्नशील रहने लगे हैं।"[1]

इस परमाश्चर्योत्पादक वृत्तान्त को सुनकर वसुदेव, बलराम और कृष्ण आदि भी वहां आ पहुंचे। वसुदेव अपने सात पुत्रों के बीच ऐसे प्रतीत हो रहे थे मानो अपने सात नक्षत्रों के साथ स्वयं चन्द्रमा ही वहां आ उपस्थित हो गया हो। सबकी आंखों में आंसुओं की गंगा-यमुना मानो पूर्ण प्रवाह से बह रही थी, सबके हृदयों में स्नेह-सागर हिलोरें ले रहा था, सब विस्फारित नेत्रों से टकटकी लगाये साश्चर्य उन छहों मुनियों की ओर देख रहे थे, पर छहों मुनि शान्त, रागरहित, निर्विकार सहज मुद्रा में खड़े थे।

कृष्ण ने भावातिरेक के कारण अवरुद्ध कण्ठ से कहा – "हमारे इस अचिन्त्य अद्भुत मिलन से किसको आश्चर्य नहीं होगा? हा दुर्दैव! कंस के मारे जाने के पश्चात् भी हम उसके द्वारा पैदा किये गये विछोह के दावानल में अब तक जल रहे हैं। कैसी है यह विधि की विडम्बना कि एक ओर मैं त्रिखण्ड की राज्यश्री का उपभोग कर रहा हूँ और दूसरी ओर मेरे सहोदर छः भाई भिक्षान्न पर जीवन-निर्वाह कर रहे हैं।"[2]

"मेरे प्राणाधिक अग्रजो! आज हम सबका नया जन्म हुआ है। आओ! हम सातों सहोदर मिलकर इस अपार वैभव और राज्य-लक्ष्मी का उपभोग करें।"

---

[1] चउप्पन्न महापुरिस चरियं, पृ० १९६–१९७

[2] केरिसा वा मइ रिद्धिसमए भिक्खा भोइणो तुब्भे ? किंवा समेहणा रज्जेण ?
[चउप्पन्न महापुरिस चरियं, पृ० १९७]

वसुदेव आदि सभी उपस्थित यादवों ने श्रीकृष्ण की बात का बड़े हर्ष के साथ अनुमोदन करते हुए उन मुनियों से राज्य-वैभव का उपभोग करने की प्रार्थना की।

मुनियों ने कहा – "व्याध के जाल में एक बार फंसकर उस जाल से निकला हुआ हरिण जिस प्रकार फिर कभी जाल के पास तक नहीं फटकता उसी तरह विषय-भोगों के दारुण जाल से निकलकर अब हम उनमें नहीं फंसना चाहते। जन्म लेकर, एक बार मिले हुए मर कर बिछुड़ जाते हैं, तत्त्ववेत्ताओं के लिये यही तो वैराग्य का मुख्य कारण होता है पर हमने तो एक ही जन्म में दो जन्म का प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया है फिर हमें क्यों नहीं विरक्ति होती ? सब प्रकार के स्नेह-बन्धनों को काटना ही तो साधुओं का चरम लक्ष्य है फिर हम लोग स्नेह-पाश को दुःख-मूल समझते हुए इन काटे हुए स्नेह-बन्धनों को पुनः जोड़ने का विचार ही क्यों करेंगे ? हम तो इस स्नेह-बन्धन से मुक्त हो चुके हैं।"

"कर्मवश भवार्णव में डूबे हुए प्राणी को पग-पग पर वियोग का दारुण दुःख भोगना पड़ता है। अज्ञानवश मोहजाल में फंसा हुआ प्राणी यह नहीं सोचता कि इन्द्रियों के विषय भयंकर काले सर्प की तरह सर्वनाश करने वाले हैं। लक्ष्मी ओस-बिन्दु के समान क्षण-विध्वंसिनी है, अगाध समुद्र में गिरे हुए रत्न की तरह यह मनुष्य-जन्म पुनः दुर्लभ है अतः मनुष्य-जन्म पाकर सब दुःखों के मूलभूत कर्म-बन्ध को काटने का प्रत्येक समझदार व्यक्ति को प्रयत्न करना चाहिये।"[1]

इस प्रकार अपने माता-पिता आदि को प्रतिबोध देकर वे छहों साधु भगवान् नेमिनाथ की सेवा में लौट गये।

शोकसंतप्त देवकी भगवान् के समवसरण में पहुँची और त्रिकालदर्शी प्रभु नेमिनाथ ने कर्मविपाक की दारुणता बताते हुए अपने अमृतमय उपदेश से उसकी शोक-ज्वाला को शान्त किया।[2]

अनीकसेन आदि छहों मुनियों ने चौदह पूर्व का ज्ञान उपार्जित किया और बीस वर्ष का संयम पालन कर वे एक मास की संलेखना से काल प्राप्त कर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गये।

अन्तगड़ सूत्र में मुनियों द्वारा देवकी को उपदेश करने के स्थान पर इस तरह का उल्लेख है कि कृष्ण के अनुरूप उन छः मुनियों को देख कर देवकी विचार-सागर में निमग्न हो सोचने लगी – "पोलासपुर में मुनि अतिमुक्त कुमार ने मुझे कहा था कि तुम समान रूप वाले आठ सुन्दर पुत्रों को जन्म दोगी। भारतवर्ष में दूसरी कोई माँ वैसे पुत्रों को जन्म नहीं देगी। तो क्या मुनि की वह बात मिथ्या है ?"

---

[1] चउवन महापुरिस चरियं।

[2] तओ तमायण्णिऊण देवतीए वियलियो सोयप्पसरो। [चउवन महापुरिस चरियं, पृ० १९८]

देवकी अपनी इस शंका का निवारण करने हेतु भगवान् अरिष्टनेमि के समवसरण में पहुँची।

अरिहंत अरिष्टनेमि ने उसके मनोगत भावों को जान कर कहा – "देवकी! तुमने जो छः मुनि देखे हैं वे सुलसा के नहीं, अपितु तुम्हारे ही पुत्र हैं। हरिणैंगमेषी देव ने इन्हें तत्काल प्रसव के समय ही सुलसा को उसके मृत पुत्रों से बदल कर सौंप दिया, अतः ये वहां वृद्धि पाये हैं।"

अंतगड़ सूत्र से मिलता-जुलता हुआ वर्णन त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र में निम्न प्रकार से उपलब्ध होता है :–

सर्वज्ञ प्रभु के वचन सुनकर देवकी ने हर्षविभोर हो तत्काल उन छहों मुनियों को वन्दन करते हुए कहा – "मुझे प्रसन्नता है कि आखिर मुझे अपने पुत्रों को देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। यह भी मेरे लिये हर्ष का विषय है कि मेरी कुक्षि से उत्पन्न हुए एक पुत्र ने उत्कृष्ट कोटि का विशाल साम्राज्य प्राप्त किया है और शेष छहों पुत्रों ने मुक्ति का सर्वोत्कृष्ट साम्राज्य प्राप्त कराने वाली मुनि-दीक्षा ग्रहण की है। पर मेरा हृदय इस संताप की भीषण ज्वाला से संतप्त हो रहा है कि तुम सातों सुन्दर पुत्रों के शैशवावस्था के लालन-पालन का अति मनोरम आनन्द मैंने स्वल्पमात्र भी अनुभव नहीं किया।"

देवकी को शान्त करते हुए करुणासागर प्रभु अरिष्टनेमि ने कहा – "देवकी! तुम व्यर्थ का शोक छोड़ दो। अपने पूर्व-भव में तुमने अपनी सपत्नी के सात रत्नों को चुरा लिया था और उसके द्वारा बार-बार मांगने पर भी उसे नहीं लौटाया। अन्त में उसके बहुत कुछ रोने-धोने पर उसका एक रत्न लौटाया और शेष छः रत्न तुमने अपने पास ही रखे। तुम्हारे उसी पाप का यह फल है[1] कि तुम्हारे छः पुत्र अन्यत्र पाले गये और श्रीकृष्ण ही एक तुम्हारे पास हैं।

क्षमामूर्ति महामुनि गज सुकुमाल

भगवान् के समवसरण से लौटकर देवकी अपने प्रासाद में आ गई। पर भगवान् के मुख से छः मुनियों के रहस्य को जान कर उसका अन्तर्मन पुत्र-स्नेह से विकल हो उठा और उसके हृदय में मातृ-स्नेह हिलोरें लेने लगा।

वह यह सोच कर चिन्तामग्न हो गई कि ७ पुत्रों की जननी होकर भी मैं कितनी हतभागिनी हूँ कि एक भी स्तनंधय पुत्र को गोद में लेकर स्तनपान नहीं करा पाई, मीठी-मीठी लोरियाँ गाकर अपने एक भी शिशु पर मातृ-स्नेह नहीं उँडेल सकी और एक भी पुत्र की शैशवावस्था की तुतलाती हुई मीठी बोली का श्रवणों से पान कर आनन्दविभोर न हो सकी। इस प्रकार विचार करती हुई वह अथाह

---

[1] सपत्न्या सप्त रत्नानि, त्वमाहार्षीः पुरा भवे।
दत्त्वाश्चार्पितं तस्या, रत्नमेकं पुनस्त्वया॥
[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ८, सर्ग १०, श्लोक ११५]

शोकसागर में गोते लगाने लगी। उसने चिन्ता ही चिन्ता में खाना-पीना छोड़ दिया।

माता को उदास देख कर कृष्ण के मन में चिन्ता हुई। उन्होंने माता की मनोव्यथा समझी और उसे आश्वस्त किया।

देवकी के मनोरथ की पूर्ति हेतु कृष्ण ने तीन दिन का निराहार तप कर देव का स्मरण किया। एकाग्र मन का चिन्तन इन्द्र-महेन्द्र का भी हृदय हर लेता है, फलस्वरूप हरिणैगमेषी का आसन डोलायमान हुआ। वह आया।

देव के पूछने पर कृष्ण ने कहा – "मैं अपना लघु भाई चाहता हूँ।"

देव ने कहा – "देवलोक से निकल कर एक जीव तुम्हारे सहोदर भाई के रूप में उत्पन्न होगा पर बाल भाव से मुक्त होकर तरुण अवस्था में प्रवेश करते ही वह अर्हन्त अरिष्टनेमि के पदारविन्द की शरण ले मुण्डित हो दीक्षित होगा।"

कृष्ण बड़े प्रसन्न हुए, उन्होंने सोचा – "माता की मनोभिलाषा पूर्ण होगी, मेरे लघु भाई होगा।"



प्रसन्न मुद्रा में कृष्ण ने आकर देवकी से सारी घटना कह सुनाई। कालान्तर में देवकी ने गर्भधारण किया और सिंह का शुभ-स्वप्न देखकर जागृत हुई। स्वप्नफल को जानकर महाराज वसुदेव और देवकी आदि सब प्रसन्न हुए। जन्म होने पर बालक का, गजतालू के समान कोमल होने से, गज सुकुमाल नाम रखा। द्वितीया के चन्द्र की तरह सुखपूर्वक बढ़ते हुए गज सुकुमाल तरुण-भोग समर्थ हुए।

द्वारिकानगरी में सोमिल नाम का एक ब्राह्मण रहता था, जो वेद-वेदांग का पारगामी था। उसकी भार्या सोमश्री से उत्पन्न सोमा नामकी एक कन्या थी। किसी दिन सभी अलंकारों से विभूषित हो सोमा कन्या स्वर्णकंदुक से राजमार्ग में खेल रही थी।

उस समय अरहा अरिष्टनेमि द्वारिका के सहस्राम्र उद्यान में पधारे हुए थे। अतः कृष्ण वासुदेव गज सुकुमाल के साथ गजारूढ़ हो प्रभु-वन्दन को निकले। मार्ग में उन्होंने उत्कृष्ट रूपलावण्य युक्त सर्वांग सुन्दरी सोमा कन्या को देखा। सोमा के रूप से विस्मित होकर कृष्ण ने राजपुरुषों को आदेश दिया – "जाओ, सोमिल ब्राह्मण से मांग कर इस सोमा कन्या को उसकी अनुमति से अन्तःपुर में पहुँचा दो। यह गज सुकुमाल की भार्या बनाई जायगी।"

श्रीकृष्ण फिर नगरी के मध्य होकर सहस्राम्र उद्यान में पहुँचे और वन्दन कर भगवान् की देशना सुनने लगे।

धर्म कथा की समाप्ति पर कृष्ण लौट गये किन्तु गज सुकुमाल शान्त भाव से चिन्तन करते रहे। गज सुकुमाल ने खड़े होकर भगवान् से कहा – "मैं आपकी वाणी पर श्रद्धा एवं प्रतीति करता हूँ, मेरी इच्छा है कि मातापिता से पूछ कर आपके पास श्रमण धर्म स्वीकार करूं।"

राजभवन में आकर गज सुकुमाल ने माता देवकी से निवेदन किया। देवकी अश्रुतपूर्व अपने लिए वज्रकठोर इस वचन को सुन कर मूर्च्छित हो गई।

ज्ञात होते ही श्रीकृष्ण आये और गज सुकुमाल को दुलार से गोद में लेकर बोले – "तुम मेरे प्राणप्रिय लघु सहोदर हो, मैं अपना सर्वस्व तुम पर न्यौछावर करता हूँ अतः अर्हंत अरिष्टनेमि के पास प्रव्रज्या ग्रहण मत करो, मैं द्वारवती नगरी के महाराज पद पर तुम्हें अभिषिक्त करता हूँ।"

गज सुकुमाल ने कहा– "अम्म-तात ! ये मनुष्य के काम भोग मलवत् छोड़ने योग्य हैं। आगे पीछे मनुष्य को इन्हें छोड़ना ही होगा। इसलिए मैं चाहता हूँ कि आपकी अनुमति पाकर अरिहन्त अरिष्टनेमि के चरणों में प्रव्रज्या लेकर स्व-पर का कल्याण करूं।"

विविध युक्ति-प्रयुक्तियों से समझाने पर भी जब गज सुकुमाल संसार के बन्धन में रहने को तैयार नहीं हुए तब इच्छा न होते हुए भी मातापिता और कृष्ण ने कहा – "वत्स ! हम चाहते हैं कि अधिक नहीं तो कम से कम एक दिन के लिये ही सही, तू राज्य लक्ष्मी का उपभोग अवश्य कर।"

श्रीकृष्ण ने गज सुकुमाल का राज्याभिषेक किया, किन्तु गज सुकुमाल अपने निश्चय पर अडिग रहे।

बड़े समारोह से गज सुकुमाल का निष्क्रमण हुआ। अर्हंत अरिष्टनेमि के चरणों में दीक्षित होकर गज सुकुमाल अणगार बन गये।

दीक्षित होकर दोपहर के समय उसी दिन वे अर्हंत अरिष्टनेमि के पास आये और तीन बार प्रदक्षिणापूर्वक वन्दन कर बोले– "भगवन् ! आपकी आज्ञा हो तो मैं महाकाल श्मशान में एक रात्रि की प्रतिमा ग्रहण कर रहना चाहता हूँ।"

भगवान् की अनुमति पाकर गज सुकुमाल ने प्रभु को वन्दन-नमस्कार किया और सहस्राम्र वन उद्यान से भगवान् के पास से निकलकर महाकाल श्मशान में आये, स्थंडिल की प्रतिलेखना की और फिर थोड़ा शरीर को झुका कर दोनों पैर संकोच कर एक रात्रि की महाप्रतिमा में ध्यानस्थ हो गये।

उधर सोमिल ब्राह्मण जो यज्ञ की समिधा – लकड़ी आदि के लिए नगर के बाहर गया हुआ था, समिधा, दर्भ, कुश और पत्ते लेकर लौटते समय महाकाल श्मशान के पास से निकला। सन्ध्या के समय वहां गज सुकुमाल मुनि को ध्यानस्थ देखते ही पूर्वजन्म के वैर की स्मृति से वह क्रुद्ध हुआ और उत्तेजित हो बोला – "अरे इस गज सुकुमाल ने मेरी पुत्री सोमा को बिना दोष के काल-प्राप्त दशा में छोड़कर प्रव्रज्या ग्रहण की है अतः मुझे गज सुकुमाल से बदला लेना चाहिए।"

ऐसा सोच कर उसने चहुं ओर देखा और गीली मिट्टी लेकर गज सुकुमाल मुनि के सिर पर मिट्टी की पाज बांधकर जलती हुई चिता में से केसू के फूल के समान लाल-लाल ज्वाला से जाज्वल्यमान अंगार मस्तक पर रख दिये।

पाप मानव को निर्भय नहीं रहने देता। सोमिल भी भयभीत होकर हटा और छुपता हुआ दबे पांवों अपने घर चला गया।

गज सुकुमाल मुनि के शरीर में उन अंगारों से भयंकर वेदना उत्पन्न हुई जो असह्य थी, पर मुनि ने मन से भी सोमिल ब्राह्मण से द्वेष नहीं किया। शान्त मन से सहन करते रहे। ज्यों-ज्यों श्मशान की सनसनाती वायु से मुनि के मस्तक पर अग्नि की ज्वाला तेज होती गई और सिर की नाड़ियें, नसें तड़-तड़कर टूटने लगीं, त्यों-त्यों मुनि के मन की निर्मल ज्ञान-धारा तेज होने लगी। शास्त्रीय शब्दज्ञान अति अल्प होने पर भी मुनि का आत्मज्ञान और चरित्रबल उन्नत था। दीक्षा के प्रथम दिन बिना पूर्वाभ्यास के ही भिक्षु प्रतिमा की इस कठोर साधना पर अग्रसर होना ही उनके उन्नत-मनोबल का परिचायक था। शुक्ल-ध्यान से चारित्र के सर्वोच्च शिखर पर चढ़कर उन्होंने वीतराग वाणी को पूर्णरूपेण हृदयंगम कर लिया। वे तन्मय हो गये, स्व-पर के भेद को समझ लेने से उनका अन्तर्मन गूंज रहा था कि शरीर के जलने पर मेरा कुछ भी नहीं जल रहा है क्योंकि मैं अजर, अमर, अविनाशी हूँ। मुझे न अग्नि जला सकती, न शस्त्र काट सकते और न भौतिक सुख-दुःखों के ये झोंके ही हिला सकते हैं। मैं सदा अच्छेद्य, अभेद्य और अदाह्य हूँ। यह सोमिल जो अपना पुराना ऋण ले रहा है वह मेरा कुछ नहीं बिगाड़ता, वह तो उल्टे मेरे ऋणमुक्त होने में सहायता कर रहा है। अतः ऋण चुकाने में दुःख, चिन्ता, क्षोभ और आनाकानी का कारण ही क्या है?

कितना साहसपूर्ण विचार है। गज सुकुमाल चाहते तो सिर को थोड़ा-सा झुकाकर उस पर रखे अंगारों को एक हल्के झटके से ही नीचे गिरा सकते थे पर वे महामुनि अर्हत् अरिष्टनेमि के उपदेश से जड़-चेतन के पृथक्त्व को समझकर सच्चे स्थितप्रज्ञ एवं अन्तर्द्रष्टा राजर्षि बन चुके थे। नमी राजर्षि ने मिथिला को जलते देखकर कहा था –

"मिहिलाए डज्झमाणिए न मे डज्झइ किंचणं"

परन्तु गज सुकुमाल ने तो अपने शरीर के उत्तमांग को जलते हुए देखकर भी निर्वात प्रदेश-स्थित दीपशिखा की तरह अचल-अकम्प ध्यान से अडोल रहकर बिना बोले ही यह बता दिया –

"डज्झमाणे सरीरम्मि, न मे डज्झइ किंचणं"

धन्य है उस वीर साधक के अदम्य धैर्य और निश्चल मनोवृत्ति को। राग-द्वेष रहित होकर उसने उत्कृष्ट अध्यवसायों की प्रबल आग में समस्त कर्मसमूह को अन्तर्मुहूर्त में ही भस्मावशेष कर केवलज्ञान और केवलदर्शन के साथ शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, निरंजन, निराकार, सच्चिदानन्द शिवस्वरूप मुक्ति की प्राप्ति करली। कोटि-कोटि जन्मों की तपस्याओं से भी दुष्प्राप्य मोक्ष को उन्होंने एक दिन से भी कम की सच्ची साधना से प्राप्त कर यह सिद्ध कर दिया कि

मानव की भावपूर्ण उत्कट साधना और लगन के सामने सिद्धि कोई दूर एवं दुष्प्राप्य नहीं है।

गज सुकुमाल के लिए कृष्ण की जिज्ञासा

दूसरे दिन प्रातःकाल कृष्ण महाराज गज पर आरूढ़ हो भगवान् नेमिनाथ को वन्दन करने निकले। वन्दन के पश्चात् जब उन्होंने गज सुकुमाल मुनि को नहीं देखा तो पूछा – "भगवन्! मेरा छोटा भाई गज सुकुमाल मुनि कहां है?"

भगवान् ने कहा – "कृष्ण! मुनि गज सुकुमाल ने अपना कार्य सिद्ध कर लिया है।"

कृष्ण बोले – "भगवन्, यह कैसे?"

इस पर अरिहंत अरिष्टनेमि ने सारी घटना कह सुनाई। कृष्ण ने रोष में आकर कहा – "प्रभो! वह कौन है, जिसने गज सुकुमाल को अकाल में ही जीवन रहित कर दिया?"

भगवान् ने कृष्ण को उपशान्त करते हुए कहा – "कृष्ण! तुम रोष मत करो, उस पुरुष ने गज सुकुमाल को सिद्धि प्राप्त करने में सहायता प्रदान की है। द्वारवती से आते समय जैसे तुमने ईंट उठा कर वृद्ध ब्राह्मण की सहायता की वैसे ही उस पुरुष ने गज सुकुमाल के लाखों भवों के कर्मों को क्षय करने में सहायता प्रदान की है।"

जब श्रीकृष्ण ने उस पुरुष के सम्बन्ध में जानने का विशेष आग्रह किया तब श्री नेमिनाथ ने कहा – "द्वारिका लौटते समय जो तुम्हें अपने सम्मुख देख कर भूमि पर गिर पड़े, वही गज सुकुमाल का प्राणहारी है।"

कृष्ण त्वरा में भगवान् को वन्दन कर द्वारिका की ओर चल पड़े।

जब सोमिल को यह मालूम हुआ कि कृष्ण भगवान् नेमिनाथ के दर्शन एवं वन्दन के लिए गये हैं तो वह मारे भय के थर-थर कांपने लगा। उसने सोचा – "सर्वज्ञ भगवान् नेमिनाथ से कृष्ण को मेरे अपराध के सम्बन्ध में पता चल जायेगा और कृष्ण अपने प्राणप्रिय छोटे भाई की हत्या के अपराध में मुझे दारुण प्राणदण्ड देंगे।"

यह सोच कर सोमिल अपने प्राण बचाने के लिए अपने घर से भाग निकला। संयोगवश वह उसी मार्ग से आ निकला जिस मार्ग से श्रीकृष्ण लौट रहे थे। गजारूढ़ श्रीकृष्ण को अपने सम्मुख देखते ही सोमिल आतंकित हो भूमि पर गिर पड़ा और मारे भय के वह तत्काल वहीं पर मर गया।

अरिहंत अरिष्टनेमि ने गज सुकुमाल जैसे राजकुमार को क्षमावीर बनाकर उनका उद्धार किया। गज सुकुमाल की संयमसाधना से यादव-कुल में व्यापक प्रभाव फैल गया और इसके फलस्वरूप अनेक कर्मवीर राजकुमारों ने धर्मवीर बन कर आत्म-साधना के मार्ग में आदर्श प्रस्तुत किया।

नेमिनाथ के मुनिसंघ में सर्वोत्कृष्ट मुनि

भगवान् नेमिनाथ के साधु-संघ में यों तो सभी साधु घोर तपस्वी और दुष्कर करणी करने वाले थे फिर भी उन सब मुनियों में ढंढण मुनि का स्थान स्वयं भगवान् नेमिनाथ द्वारा सर्वोत्कृष्ट माना गया है।

वासुदेव श्रीकृष्ण की 'ढंढणा' रानी के आत्मज 'ढंढण कुमार' भगवान् नेमिनाथ का धर्मोपदेश सुन कर विरक्त हो गये। उन्होंने पूर्ण यौवन में अपनी अनेक सद्यःपरिणीता सुन्दर पत्नियों और ऐश्वर्य का परित्याग कर भगवान् नेमिनाथ के पास मुनि-दीक्षा ग्रहण की। इनकी दीक्षा के समय श्रीकृष्ण ने बड़ा ही भव्य निष्क्रमणोत्सव किया।

मुनि ढंढण दीक्षित होकर सदा प्रभु नेमिनाथ की सेवा में रहे। सहज विनीत और मृदु स्वभाव के कारण वे थोड़े ही दिनों में सबके प्रिय और सम्मान-पात्र बन गये। कठिन संयम और तप की साधना करते हुए उन्होंने शास्त्रों का भी अध्ययन किया। कुछ काल व्यतीत होने पर ढंढण मुनि के पूर्व-संचित अन्तराय-कर्म का उदय हुआ। उस समय वे कहीं भी भिक्षा के लिए जाते तो उन्हें किसी प्रकार की भिक्षा नहीं मिलती। उनका अन्तराय-कर्म इतनी भयंकरता के साथ उदित हुआ कि उनके साथ भिक्षार्थ जाने वाले साधुओं को भी कहीं से भिक्षा प्राप्त नहीं होती और ढंढण मुनि एवं उनके साथ गये हुए साधुओं को खाली हाथ लौटना पड़ता। यह क्रम कई दिन तक चलता रहा।

एक दिन साधुओं ने भगवान् नेमिनाथ को वन्दन करने के पश्चात् पूछा-"भगवन्! यह ढंढण ऋषि आप जैसे त्रिलोकीनाथ के शिष्य हैं, महाप्रतापी अर्द्धचक्री कृष्ण के पुत्र हैं पर इन्हें इस नगर के बड़े-बड़े श्रेष्ठियों, धर्मनिष्ठ श्रावकों एवं परम उदार गृहस्थों के यहां से किंचित् मात्र भी भिक्षा प्राप्त नहीं होती। इसका क्या कारण है?"

मुनियों के प्रश्न का उत्तर देते हुए प्रभु नेमिनाथ ने कहा - "ढंढण अपने पूर्व भव में मगध प्रान्त के 'धान्यपुर' ग्राम में 'पारासर' नाम का ब्राह्मण था। वहां राजा की ओर से वह कृषि का आयुक्त नियुक्त किया गया। स्वभावतः कठोर होने से वह ग्रामीणों के द्वारा राज्य की भूमि में खेती करवाता और उनको भोजन के समय भोजन आ जाने पर भी खाने की छुट्टी नहीं देकर काम में लगाये रखता। भूखे, प्यासे और थके हुए बैलों एवं हालियों से पृथक् २ एक-एक हलाई (हल द्वारा भूमि को चीरने की रेखा) निकलवाता। अपने उस दुष्कृत के फल-स्वरूप इसने घोर अन्तराय-कर्म का बन्ध किया। वही पारासर मर कर अनेक भवों में भ्रमण करता हुआ ढंढण के रूप में जन्मा है। पूर्वकृत अन्तराय-कर्म के उदय से ही इसको सम्पन्न कुलों में चाहने पर भी भिक्षा नहीं मिलती।"

भगवान् के मुखारविन्द से यह सब सुन कर ढंढण मुनि को अपने पूर्वकृत दुष्कृत के लिए बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उसने प्रभु को नमस्कार कर यह अभिग्रह

किया "मैं अपने दुष्कर्म को स्वयं भोग कर काटूँगा और कभी दूसरे के द्वारा प्राप्त हुआ भोजन ग्रहण नहीं करूँगा।"

अन्तराय के कारण ढंढण को कहीं से भिक्षा मिलती नहीं और दूसरों द्वारा लाया गया आहार उन्हें अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार लेना था नहीं, इसके परिणामस्वरूप ढंढण मुनि को कई दिन तक निरन्तर निराहार तपस्या हो गई। फिर भी वे समभाव से तप और संयम की साधना अविचल भाव से करते रहे।

एक दिन श्रीकृष्ण ने समवसरण में ही पूछा – "भगवन् ! आपके इन सभी महान् मुनियों में कठोर साधना करने वाले कौनसे मुनि हैं ?"

भगवान् ने फरमाया – "हरे ! सभी मुनि कठोर साधना करने वाले हैं पर इन सबमें ढंढण दुष्कर करणी करने वाला है। उसने काफी लम्बा काल अलाभ-परिषह को समभाव से सहते हुए अनशन-पूर्वक बिताया है। उसके मन में किंचित्मात्र भी ग्लानि नहीं अतः यह सर्वोत्कृष्ट तपस्वी मुनि है।"

कृष्ण यह सुन कर बड़े प्रसन्न हुए और देशना के पश्चात् भगवान् नेमिनाथ को वन्दन कर मन ही मन ढंढण मुनि की प्रशंसा करते हुए अपने राज-प्रासाद की ओर लौटे। उन्होंने द्वारिका में प्रवेश करते ही ढंढण मुनि को गोचरी जाते हुए देखा। कृष्ण तत्काल हाथी से उतर पड़े और बड़ी भक्ति से उन्होंने ढंढण ऋषि को नमस्कार किया।

एक श्रेष्ठि अपने द्वार पर खड़ा-खड़ा यह सब देख रहा था। उसने सोचा कि धन्य है यह मुनि जिनको कृष्ण ने हाथी से उतर कर श्रद्धावनत हो बड़ी भक्ति के साथ वन्दन किया है।

संयोग से ढंढण भी भिक्षाटन करते हुए उस श्रेष्ठि के मकान में भिक्षार्थ चले गये। सेठ ने बड़े आदर के साथ ढंढण मुनि के पात्र में लड्डू बहराये। ढंढण मुनि भिक्षा लेकर प्रभु की सेवा में पहुँचे और वन्दन कर उन्होंने प्रभु से पूछा–"प्रभो ! क्या मेरा अन्तराय कर्म क्षीण हो गया है जिससे कि मुझे आज भिक्षा मिली है ?"

प्रभु ने फरमाया – "ढंढण मुने ! तुम्हारा अन्तराय कर्म अभी क्षीण नहीं हुआ है। हरि के प्रभाव से यह भिक्षा तुम्हें मिली है। हरि ने तुम्हें प्रणाम किया इससे प्रभावित हो श्रेष्ठि ने तुम्हें यह भिक्षा दी है।"

चिरकाल से उपोसित ढंढण ने अपने मन में भिक्षा के प्रति राग का लेश भी पैदा नहीं होने दिया। "यह भिक्षा अपनी लब्धि नहीं अपितु पर-प्राप्ति है अतः मुझे इसे एकान्त निर्जीव भूमि में परिष्ठापित कर देना चाहिये" यह सोच कर ढंढण ऋषि स्थंडिल भूमि में उस भिक्षा को परठने चल पड़े। उन्होंने एकान्त में पहुँच कर भूमि को रजोहरण से परिमार्जित किया और वहां भिक्षान्न परठने लगे। उस समय उनके अन्तस्तल में शुभ भावों का उद्रेक हुआ। वे स्थिर

ध्यान से सोचने लगे – "ओह ! उपार्जित कर्मों को क्षय करना कितना दुस्साध्य है। प्राणी मोह में फँसकर दुष्कृत करते समय यह नहीं सोचता कि इन दुष्कृतों का परिणाम मुझे एक न एक दिन भोगना ही पड़ेगा।"

इस प्रकार विचार करते २ उनका चिन्तन शुभ-ध्यान की उच्चकोटि पर पहुँच गया। शुक्ल-ध्यान की इस प्रक्रिया में उनके चारों घातिक-कर्म नष्ट हो गये और उन्हें केवलज्ञान, केवलदर्शन की प्राप्ति हो गई। तत्क्षण गगनमण्डल देव दुन्दुभियों की ध्वनि से गूँज उठा।

समस्त लोकालोक को हस्तामलक के समान देखने वाले मुनि ढंढण स्थंडिल भूमि से प्रभु की सेवा में लौटे और भगवान् नेमिनाथ को वन्दन कर वे प्रभु की केवली-परिषद् में बैठ गये।

ढंढण मुनि ने केवल अन्तराय ही नहीं, चारों घाती कर्मों का क्षयकर केवलज्ञान प्राप्त किया और फिर सकल कर्म क्षय कर सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो गये।

भगवान् अरिष्टनेमि के समय का महान् आश्चर्य

श्रीकृष्ण का यादवों की ही तरह पाण्डवों के प्रति भी पूर्ण वात्सल्य था। वे सबके सुख-दुःख में सहायक होकर सब की प्रतिपालना करते। श्रीकृष्ण की छत्रछाया में पाण्डव इन्द्रप्रस्थ में बड़े आनन्द से राज्यश्री का उपभोग कर रहे थे।

एक समय नेमिनारद इन्द्रप्रस्थ नगर में आये और महारानी द्रौपदी के भव्य प्रासाद में जा पहुँचे। पाण्डवों ने नारद का सत्कार किया पर द्रौपदी ने नारद को अविरति समझ कर विशेष आदर-सत्कार नहीं दिया। नारद क्रुद्ध हो मन ही मन द्रौपदी का कुछ अनिष्ट करने की सोचते हुए वहां से चले गये।

वे यह भली प्रकार जानते थे कि पाण्डवों पर श्रीकृष्ण की असीम कृपा के कारण भरतखण्ड में कृष्ण के भय से कोई द्रौपदी की ओर आँख उठाकर भी नहीं देख सकता अतः द्रौपदी के लिये अनिष्टप्रद कुछ प्रपञ्च खड़ा करने की उधेड़-बुन में वे धातकी खण्ड द्वीप के भरत क्षेत्र की अमरकंका नगरी में स्त्रीलम्पट पद्मनाभ राजा के राज-प्रासाद में पहुँचे।

राजा पद्म ने राजसिंहासन से उठकर नारद का बड़ा सत्कार किया और उन्हें अपने अन्तःपुर में ले गया। उसनें वहां अपनी सात सौ (७००) परम सुन्दरी रानियों की ओर इंगित करते हुए नारद से गर्व सहित पूछा – "महर्षे ! आपने विभिन्न द्वीप-द्वीपान्तरों के राज-प्रासादों और बड़े-बड़े अवनिपतियों के अन्तःपुरों को देखा है पर क्या कहीं इस प्रकार की चारुहासिनी, सर्वांगसुन्दरी स्त्रियों में रत्नतुल्य रमणियां देखी हैं ?

अपने अभीप्सित कार्य के सम्पादन का उचित अवसर समझ कर नारद बोले[1] – "राजन् ! तुम कूपमण्डूक की तरह बात कर रहे हो। जम्बूद्वीपस्थ

[1] ज्ञाता धर्मकथा, ११६

भरतखण्ड के हस्तिनापुराधिप पाण्डवों की महारानी द्रौपदी के सामने तुम्हारी ये सब रानियां दासियां सी लगती हैं।" यह कहकर नारद वहां से चल दिये।

द्रौपदी को प्राप्त करने हेतु पद्मनाभ ने तपस्यापूर्वक अपने मित्र देव की आराधना की और देव के प्रकट होने पर उससे द्रौपदी को लाने की प्रार्थना की। देव ने पद्मनाभ से कहा – "द्रौपदी पतिव्रता है। वह पांडवों के अतिरिक्त किसी भी पुरुष को नहीं चाहती। फिर भी तुम्हारी प्रीति हेतु मैं उसे ले आता हूं।"

यह कहकर देव हस्तिनापुर पहुंचा और अवस्वापिनी विद्या से द्रौपदी को प्रगाढ़ निद्राधीन कर पद्मनाभ के पास ले आया।

निद्रा खुलने पर सारी स्थिति देख कर द्रौपदी बड़ी चिन्तित हुई। उसे चिन्तित देख पद्मनाभ ने कहा – "सुन्दरि! किसी प्रकार की चिन्ता मत करो। मैं धातकीखण्ड द्वीप की अमरकंका नगरी का नरेश्वर पद्मनाभ हूँ। तुम्हें अपनी पट्टमहिषी बनाने हेतु मैंने तुम्हें यहाँ मँगवाया है।"

द्रौपदी ने क्षणभर में ही अपनी जटिल स्थिति को समझ लिया और बड़ा दूरदर्शितापूर्ण उत्तर दिया – "राजन्! भरतखण्ड में कृष्ण वासुदेव मेरे रक्षक हैं, वे यदि छः मास के भीतर मेरी खोज करते हुए यहां नहीं आयेंगे तो मैं तुम्हारे निर्देशानुसार बात करूंगी।[1]

यहाँ किसी दूसरे द्वीप के किसी आदमी का पहुँचना अशक्य है, यह समझ कर कुटिल पद्मनाभ ने द्रौपदी की बात मान ली और द्रौपदी को कन्याओं के अन्तःपुर में रख दिया। वहां द्रौपदी आयंबिल तप करते हुए रहने लगी।[2]

प्रातःकाल होते ही पाण्डवों ने द्रौपदी को न पाकर उसे ढूंढ़ने के सब प्रयास किये पर द्रौपदी का कहीं पता न चला। लाचार हो उन्होंने कुन्ती के माध्यम से श्रीकृष्ण को निवेदन किया।

कृष्ण भी यह सुन कर क्षणभर विचार में पड़ गये। उसी समय नारद स्वयं द्वारा उत्पन्न किये गये अनर्थ का कौतुक देखने वहां आ पहुँचे। कृष्ण द्वारा द्रौपदी का पता पूछने पर नारद ने कहा कि उन्होंने धातकीखण्ड द्वीप की अमरकंका नगरी के राजा पद्मनाभ के रणवास में द्रौपदी जैसा रूप देखा है।

नारद की बात सुन कर कृष्ण ने पाण्डवों एवं सेना के साथ मागध तीर्थ की ओर प्रयाण किया और वहां अष्टम तप से लवण समुद्र के अधिष्ठाता सुस्थित देव का चिंतन किया। सुस्थित यह कहते हुए उपस्थित हुआ – "कहिये! मैं आपकी क्या सेवा करूं?"

[1] ज्ञाता धर्म कथा, १।१६
[2] वही।

कृष्ण ने कहा – "पद्मनाभ ने सती द्रौपदी का हरण कर लिया है, इसलिए ऐसा उपाय करो जिससे वह लाई जा सके।"

सुस्थित देव ने कहा – "पद्मनाभ के एक मित्र देव ने द्रौपदी का हरण कर उसे सौंपा है, उसी प्रकार मैं द्रौपदी को वहां से आपके पास ले आऊँ अथवा आप आज्ञा दें तो पद्मनाभ को सदलबल समुद्र में डुबो दूँ और द्रौपदी आपको सौंप दूँ।"

श्रीकृष्ण ने कहा – "इतना कष्ट करने की आवश्यकता नहीं। हमारे छहों के रथ लवण सागर को निर्बाध गति से पार कर सकें, ऐसा प्रबन्ध कर दो। हम खुद ही जाकर द्रौपदी लायें, यह हमारे लिए शोभनीय कार्य होगा।"

सुस्थित देव ने श्रीकृष्ण की इच्छानुसार प्रबन्ध कर दिया और छहों रथ स्थल की तरह विस्तीर्ण लवणोदधि को पार कर अमरकंका पहुँच गये।

कृष्ण ने अपने सारथि दारुक को पद्मनाभ के पास भेज कर द्रौपदी को लौटाने को कहलवाया[1] पर पद्मनाभ यह सोचकर कि ये छह आदमी मेरी अपार सेना के सामने क्या कर पायेंगे, युद्ध के लिए सन्नद्ध हो आ डटा।

पाण्डवों की इच्छानुसार कृष्ण ने पहले पाण्डवों को पद्मनाभ से युद्ध करने की अनुमति दी, पर वे पद्मनाभ के अपार सैन्यबल से पराजित हो कृष्ण के पास लौट आये।

तदनन्तर श्रीकृष्ण ने पांचजन्य शंख का महाभयंकर घोष किया और सार्ङ्ग-धनुष की टंकार लगाई तो पद्मनाभ की दो तिहाई सेना नष्टप्राय हो तितर-बितर हो गई और भय से थर-थर कांपता हुआ पद्मनाभ एक तिहाई अपनी बची-खुची भयत्रस्त सेना के साथ अपने नगर की ओर भाग खड़ा हुआ।

पद्मनाभ ने नगर के अन्दर पहुँच कर अपने नगरद्वार के लोह-कपाट बन्द कर दिये और रणवास में जा छुपा।

इधर श्रीकृष्ण ने नृसिंहरूप धारण कर एक हत्थल (हस्ततल) के प्रहार से ही नगर के लोह-कपाटों को चूर्ण कर दिया और वे सिंह-गर्जना करते हुए पद्मनाभ के राज-प्रासाद की ओर बढ़ चले। उनकी सिंह-गर्जना से सारी अमरकंका हिल उठी और शत्रुओं के दिल दहल गये।

साक्षात् महाकाल के समान अपनी ओर झपटते श्रीकृष्ण को देख कर पद्मनाभ द्रौपदी के चरणों में जा गिरा और प्राण भिक्षा मांगते हुए गिड़गिड़ाकर कहने लगा – "देवि ! क्षमा करो, मैं तुम्हारी शरण में हूँ, इस कराल कालोपम केशव से मेरी रक्षा करो।"

द्रौपदी ने कहा – "यदि प्राणों की कुशल चाहते हो तो स्त्री के कपड़े पहन कर मेरे पीछे-पीछे चले आओ।"

[1] ज्ञाता धर्म कथा १।१६

कांपते हुए पद्मनाभ ने तत्काल अबला नारी का वेष बनाया और द्रौपदी को आगे कर उसके पीछे-पीछे जा उसने श्रीकृष्ण के चरणों में नमस्कार किया। शरणागतवत्सल कृष्ण ने उसे अभयदान दिया और द्रौपदी को पाण्डवों के पास ले आये।[1]

तदनन्तर द्रौपदी सहित वे सब छह रथों पर आरूढ़ हो जिस पथ से आये थे उसी पथ से लौट पड़े।

उस समय धातकीखण्ड की चम्पानगरी के पूर्णभद्र उद्यान में वहां के तीर्थंकर मुनिसुव्रत के समवसरण में बैठे हुए धातकीखण्ड के वासुदेव कपिल ने कृष्ण द्वारा किये गये शंखनाद को सुन कर जिनेन्द्र प्रभु से प्रश्न किया – "प्रभो! मेरे शंखनाद के समान यह किसका शंखनाद कर्णगोचर हो रहा है?"

द्रौपदी-हरण का सारा वृत्तान्त सुनाते हुए सर्वज्ञ प्रभु मुनिसुव्रत ने कहा – "कपिल! जम्बूद्वीपस्थ भरत क्षेत्र के त्रिखण्डाधिपति वासुदेव कृष्ण द्वारा किया हुआ यह शंख-निनाद है।"

कपिल ने कहा – "भगवन्! मुझे उस अतिथि का स्वागत करना चाहिए।"

भगवान् मुनिसुव्रत ने कहा – "कपिल जिस तरह दो तीर्थंकर और दो चक्रवर्ती एक जगह नहीं मिल सकते उसी प्रकार दो वासुदेव भी नहीं मिल सकते। हां तुम कृष्ण की श्वेत-पीत ध्वजा के अग्रभाग को देख सकोगे।"[2]

भगवान् से यह सुन कर कपिल वासुदेव श्रीकृष्ण वासुदेव से मिलने की इच्छा लिये कृष्ण के रथ के पहियों का अनुसरण करता हुआ त्वरित गति से समुद्रतट की ओर बढ़ा और उसने समुद्र में जाते हुए कृष्ण के रथ की श्वेत और पीत वर्ण की ध्वजाओं के अग्रभाग देखे। उसने अपने शंख में इस आशय की ध्वनि को पूरित कर शंखनाद किया – "यह मैं कपिल वासुदेव आपसे मिलने की उत्कंठा लिये आया हूँ। कृपा कर लौटिये।"

---

[1] साप्यूचे मां पुरस्कृत्य, स्त्रीवेशं विरचय्य च।
प्रयाहि शरणं कृष्णं, तथा जीवसि नान्यथा ॥६१॥
इत्युक्तः स तथा चक्रे, नमस्चक्रे च शार्ङ्गिणम्।
शरण्यो वासुदेवोऽपि मा भैषीरित्युवाच तम् ॥६२॥
[त्रिषष्टि शलाका पु० चरित्र, पर्व ८, सर्ग १०]

[2] तए णं मुणि सुव्वए अरहा कविलं वासुदेवं एवं वयासी, णो खलु देवाणुप्पिया एवं भूयं वा ३ जण्णं अरिहंता वा अरहंतं पासंति, चक्कवटी वा चक्कवट्टिं पासंति..........वासुदेवा वा वासुदेवं पासन्ति। तह वि य णं तुमं कण्हस्स वासुदेवस्स लवणसमुद्दं मज्झंमज्झेणं वी ईवयमाणस्स सेया पीयाइं धयग्गाइं पासिहिसि। [ज्ञाता धर्म कथा, सूत्र १, अध्याय १६]

श्रीकृष्ण ने भी शंख-निनाद से ही उत्तर दिया – "हम बहुत दूर निकल आये हैं। अब आप कुछ न कहिये।"[1]

शंख-ध्वनि से कृष्ण का उत्तर पा कपिल अमरकंका नगरी पहुंचा। उसने पद्मनाभ की भर्त्सना कर उसे निर्वासित कर दिया एवं उसके पुत्र को अमरकंका के राजसिंहासन पर आसीन किया।

इधर लवण समुद्र पार कर कृष्ण ने पाण्डवों से कहा – "मैं सुस्थित देव को धन्यवाद देकर आता हूं तब तक आप लोग गंगा के उस पार पहुंच जाइये।"

पाण्डवों ने नाव में बैठ कर गंगा के प्रबल प्रवाह को पार किया और परस्पर यह कहते हुए कि आज श्रीकृष्ण के बल को देखेंगे – कि वे गंगा के इस अतितीव्र प्रवाह को कैसे पार करते हैं, नाव को वहीं रख लिया।[2]

सुस्थित देव से विदा हो कृष्ण गंगा तट पर आये और वहां नाव न देख कर एक हाथ से घोड़ों सहित रथ को पकड़े दूसरे हाथ से तैरते हुए गंगा को पार करने लगे। पर गंगा के प्रवाह के बीचोंबीच पहुंचते २ वे थक गये और सोचने लगे कि बिना नाव के पाण्डवों ने गंगा नदी पार कर ली, वे बड़े सशक्त हैं। कृष्ण के मन में यह विचार उत्पन्न होते ही गंगा के प्रवाह की गति धीमी पड़ गई और उन्होंने सहज ही गंगा को पार कर लिया।

गंगा के तीर पर पहुंचते ही कृष्ण ने पाण्डवों से प्रश्न किया – "आप लोगों ने गंगा को कैसे पार कर लिया?"

पाण्डवों ने उत्तर दिया – "नाव से।"

कृष्ण ने पूछा – "फिर, आप लोगों ने मेरे लिए नाव क्यों नहीं भेजी?"

पाण्डवों ने हँसते हुए कहा – "आपके बल की परीक्षा करने के लिए।"

कृष्ण उस उत्तर से अतिक्रुद्ध हो बोले – "मेरे बल की परीक्षा क्या अभी भी अवशेष रह गई थी? अथाह-अपार लवण समुद्र को पार करने और अमरकंका की विजय प्राप्त करने के बाद भी आप लोगों को मेरा बल ज्ञात नहीं हुआ।"

यह कहते हुए कृष्ण ने लौह-दण्ड से पाण्डवों के रथों को चकनाचूर कर डाला और उन्हें अपने राज्य से बाहर चले जाने का आदेश दिया।

---

[1] कपिलो विष्णुरेषोऽहमुत्कस्त्वां द्रष्टुमागतः।
तद्बलस्वेत्यक्षराढ्यं, शंखं दध्मौ स शार्ङ्गभृत् ॥७२॥
आगमाम वयं दूरं त्वया वाच्यं न किंचन।
इति व्यक्ताक्षरध्वानं, शंखं कृष्णोऽप्यपूरयत् ॥७३॥
[त्रिषष्टि शलाका पु. चरित्र, पर्व ८, सर्ग १०]

[2] द्रक्ष्यामोऽद्य बलं विष्णोर्नौरत्रैव विधार्यताम्।
[त्रिषष्टि शलाका पु० च०, पर्व ८, सर्ग १०, श्लो. ७६]

तदनन्तर श्रीकृष्ण अपनी सेना के साथ द्वारिका की ओर चल पड़े और पाँचों पाण्डव द्रौपदी सहित हस्तिनापुर आये। उन्होंने माता कुन्ती से सारा वृतान्त कह सुनाया।

सारा वृत्तान्त सुन कर कुन्ती द्वारिका पहुँची और श्रीकृष्ण से कहने लगी – "कृष्ण ! तुम्हारे द्वारा निर्वासित मेरे पुत्र कहाँ रहेंगे क्योंकि इस भरतार्द्ध में तो तिल रखने योग्य भूमि भी ऐसी नहीं है जो तुम्हारी न हो।"

कृष्ण ने कहा – "दक्षिण सागर के तट के पास पाण्डु-मथुरा[1] नामक नया नगर बसा कर आपके पुत्र वहाँ रहें।"

कुन्ती के लौटने पर पाण्डवों ने दक्षिण समुद्र के तट के पास पाण्डु-मथुरा बसाई और वहाँ रहने लगे।[2]

उधर श्रीकृष्ण ने हस्तिनापुर के राजसिंहासन पर अपनी बहिन सुभद्रा के पौत्र एवं अभिमन्यु के पुत्र परीक्षित को अभिषिक्त किया।[3]

जिस स्थान पर कृष्ण ने क्रुद्ध हो पाण्डवों के रथों को तोड़ा था वहाँ कालान्तर में 'रथमर्दन' नामक नगर बसाया गया।[4]

द्वारिका का भविष्य

भगवान् अरिष्टनेमि भारतवर्ष के अनेक प्रान्तों में अपने अमोघ अमृतमय उपदेशों से भव्य प्राणियों का उद्धार करते हुए द्वारिका पधारे। भगवान् के पधारने का समाचार सुन कर कृष्ण-बलराम अपने समस्त राज परिवार के साथ समवसरण में गये और भगवान् को वन्दन कर यथास्थान बैठ गये। द्वारिका और उसके आसपास की बस्तियों का जनसमूह भी समवसरण में उमड़ पड़ा।

---

[1] (क) तं गच्छंतु णं पंच पंडवा दाहिणिल्लवेयालिं तत्थ पंडु महुरं निवेसंतु.........

[ज्ञाता धर्म कथा, १।१६]

(ख) कृष्णोऽप्यूचे दक्षिणाब्धे रोधस्यभिनवां पुरीम्।
निवेश्य पाण्डुमथुरां, वसन्तु तव सूनवः ॥६१॥

[त्रिषष्टि श. पु. चरित्र, पर्व ८, सर्ग १०]

[2] ....पंडु महुरं नगरं निवेसंति।

[ज्ञाता० १।१६]

[3] कृष्णोऽपि हस्तिनापुरेऽभिषिषेच परीक्षितम्। ......

[त्रिषष्टि श. पु. च., पर्व ८, सर्ग १०, श्लो. ६३]

[4] ....लोहदण्डं परामुसइ पंचण्हं पंडवाणं रहे सुचूरेइ, निव्विसए आणवेइ......तत्थ णं रहमद्दणे नामं कोड्डे निविट्ठे।

[ज्ञाता धर्म कथा, सु. १, अ. १६]

देशना के पश्चात् कृष्ण ने सविधिवन्दन कर प्रांजलिपूर्वक भगवान् से पूछा[१] – "भगवन् ! सुरपुर के समान इस द्वारिका का, इस विशाल और समृद्ध यदुवंश का तथा मेरा अन्त कालवश स्वतः ही होगा या किसी निमित्त से, किसी दूसरे व्यक्ति के हाथ से होगा।"

भगवान् ने कृष्ण के प्रश्न का उत्तर देते हुए फरमाया – "कृष्ण ! घोर तपस्वी परासर के पुत्र ब्रह्मचारी परिव्राजक द्वैपायन को शाम्ब आदि यादव-कुमार सुरापान से मदोन्मत्त हो निर्दयतापूर्वक मारेंगे। इससे क्रुद्ध हो द्वैपायन यादवों के साथ ही साथ द्वारिका को जलाने का निदान कर देव होगा और वह यादवों सहित द्वारिका नगरी को जला कर राख कर डालेगा। तुम्हारा प्राणान्त तुम्हारे बड़े भाई जराकुमार के बाण से कौशाम्बी वन में होगा।"[२]

त्रिकालदर्शी सर्वज्ञ प्रभु के उत्तर को सुनकर सभी श्रोता स्तब्ध रह गये। सबकी घृणादृष्टि जराकुमार पर पड़ी। जराकुमार आत्मग्लानि से बड़ा खिन्न हुआ। उसने तत्काल उठ कर प्रभु को प्रणाम किया और अपने आपको इस घोर कलंकपूर्ण पातक से बचाने के लिए केवल धनुष-बाण ले द्वारिका से प्रस्थान कर वनवासी बन गया।

लोगों के मुख से प्रभु अरिष्टनेमि द्वारा कही गई बात सुन कर द्वैपायन परिव्राजक भी द्वारिका एवं द्वारिकावासियों की रक्षार्थ नगर से दूर वन में रहने लगा।

बलराम के सारथि व भाई सिद्धार्थ ने भावी द्वारिकादाह की बात सुन कर संसार से विरक्त हो प्रभु के पास दीक्षा ग्रहण की। बलराम ने भी उसे यह कहते हुए दीक्षा-ग्रहण करने की अनुमति दी कि देव होने पर वह समय पर प्रतिबोध देने अवश्य आवे। मुनि-धर्म स्वीकार कर सिद्धार्थ ने छः मास की घोर तपस्या की और आयु पूर्ण कर देव हो गया।

द्वारिका की रक्षार्थ मद्य-निषेध

श्रीकृष्ण ने भी द्वारिका, यादवों एवं प्रजाजनों की रक्षार्थ द्वारिका में कड़ी मद्य-निषेधाज्ञा घोषित करवाई कि जो भी कोई सुरापान करेगा उसे कड़े से कड़ा दण्ड दिया जायगा। "न रहेगा बांस न बजेगी बांसुरी" इस कहावत को चरितार्थ करते हुए कृष्ण ने सुरा को सब अनर्थों का मूल समझ कर द्वारिका के समस्त मद्यपात्रों को द्वारिका से कुछ दूर कदम्ब वन में पर्वत की कादम्बरी गुफा के शिलाखण्डों पर फिंकवा दिया। प्रत्येक नागरिक के मन में द्वारिका के प्रति

---

[१] चउवन महापुरिस चरियं में बलदेव द्वारा प्रश्न किये जाने का उल्लेख है। यथा – "लद्धाव-सरेण य पुच्छियं बलदेवेणं जहाभगवं केच्चिराउकालाओ इमीए णयरीए अवसाणं भवि-स्सइ ? कुओ वा सयासाओ वासुदेवस्स य ?"

[चउवन महापुरिस चरियं, पृ. १९८]

[२] त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ८, सर्ग ११, श्लो. ३ से ६

प्रगाढ़ प्रेम था अतः उसे विनाश से बचाने के लिए समस्त प्रजाजन द्वारिका से सुरा का नाम तक मिटा देने का दृढ़ संकल्प लिए अगणित मद्यपात्रों को ले जाकर कादम्बरी गुफा की चट्टानों पर पटकने में जुट गये।

श्रीकृष्ण ने प्रमुख नागरिकों को और विशेषतः समस्त क्षत्रिय-कुमारों को इस निषेधाज्ञा का पूर्णरूप से पालन करने के लिए सावधान किया कि वे जीवन भर कभी मद्यपान न करें क्योंकि मद्य बुद्धि को विलुप्त करने वाला और सब अनर्थों का मूल है।

इस आज्ञा के साथ ही साथ श्रीकृष्ण ने यह भी घोषणा करवा दी कि अलका सी इस सुन्दर द्वारिकापुरी का सुरा, अग्नि एवं द्वैपायन के निमित्त से विनाश हो उससे पूर्व जो भी भगवान् नेमिनाथ के चरणों में दीक्षित होना चाहें उन्हें वे सब प्रकार से हार्दिक सहयोग देने के लिए सहर्ष तत्पर हैं।

श्रीकृष्ण की इस उदार घोषणा से उत्साहित हो अनेक राजाओं, रानियों, राजकुमारों एवं नागरिकों ने संसार को निस्सार और दुःख का सागर समझकर भगवान् अरिष्टनेमि के पास मुनि-धर्म स्वीकार किया।

कुछ ही समय पश्चात् शाम्बकुमार का एक सेवक किसी कार्यवश कादम्बरी गुफा की ओर जा पहुँचा। वैशाख की कड़ी धूप के कारण प्यास लगने पर इधर-उधर पानी की तलाश करता हुआ वह एक शिलाकुण्ड के पास गया और अपनी प्यास बुझाने हेतु उसमें से पानी पीने लगा। प्रथम चुल्लू के आस्वादन से ही उसे पता चल गया कि कुण्ड में पानी नहीं अपितु परम स्वादिष्ट मदिरा है।

द्वारिकावासियों ने जो सुरापात्र वहां शिलाओं पर पटके थे वह सुरा बह कर उस शिलाकुण्ड में एकत्रित हो गई थी। सुगन्धित विविध पुष्पों के कुण्ड में झड़कर गिरने से वह मदिरा बड़ी ही सुगन्धित और सुस्वादु हो गई थी।

शाम्ब के सेवक ने जी भर वह स्वादु सुरा पी और अपने पास की केतली भी उससे भर ली। द्वारिका लौट कर उस सेवक ने मदिरा की केतली शाम्ब को भेंट की। शाम्ब सायंकाल में उस सुस्वादु सुरा का रसास्वादन कर उस सुरा की सराहना करते हुए बार-बार अपने सेवक से पूछने लगे कि इतनी स्वादिष्ट सुरा वह कहां से लाया है?

सेवक से सुराकुण्ड का पता पाकर शाम्ब दूसरे दिन कई युवा यदु-कुमारों के साथ कादम्बरी गुफा के पास उस कुण्ड पर गया। उन यादव-कुमारों ने उस कादम्बरी मदिरा को बड़े ही चाव के साथ खूब छक कर पिया और नशे में झूमने लगे।

अचानक उनकी दृष्टि उस पर्वत पर ध्यानस्थ द्वैपायन ऋषि पर पड़ी। नशे में चूर शाम्ब उसे देखते ही उस पर यह कहते हुए टूट पड़ा – "यह स्वान

हमारी प्यारी द्वारिका और यादव कुल का नाश करेगा। अरे! इसे इसी स
मार दिया जाय, फिर यह मरा हुआ किसे मारेगा ?"[1]

बस, फिर क्या था वे सभी मदान्ध यादव-कुमार द्वैपायन पर लातों, घूंसों और पत्थरों की वर्षा करने लगे और उसे अधमरा कर भूमि पर पटक द्वारिका में आ अपने २ घरों में जा घुसे।

श्रीकृष्ण को अपने गुप्तचरों से इस घटना का पता चला तो वे कुमारों के इस क्रूर कृत्य पर बड़े क्रुद्ध हुए। बलराम को साथ ले कृष्ण द्वैपायन के पास पहुँचे और कुमारों की दुष्टता के लिए क्षमा मांगते हुए वार-बार उसे शान्त करने का पूर्ण रूप से प्रयास करने लगे।

द्वैपायन का क्रोध किसी तरह शान्त नहीं हुआ। उसने कहा-"कृष्ण जिस समय मुझे निर्दयतापूर्वक मार रहे थे उस समय मैं निदान कर चुका हूँ तुम दोनों भाइयों को छोड़ कर सब यादवों और नागरिकों को द्वारिका के स ही जला कर खाक कर दूँगा। तुम दोनों के सिवा द्वारिका का कोई कुत्ता भी नहीं बच पायेगा।"[2]

श्रीकृष्ण द्वारा रक्षा के उपाय

हताश हो बलराम और कृष्ण द्वारिका लौट आये और द्वैपायन द्वा द्वारिकावासियों सहित द्वारिकादाह का निदान करने की बात द्वारिका के घर घर में फैल गई। श्रीकृष्ण ने दूसरे दिन द्वारिका में घोषणा करवा दी, "आज से सब द्वारिकावासी अपना अधिकाधिक समय व्रत, उपवास, स्वाध्याय, ध्या आदि धार्मिक कृत्यों को करते हुए बितायें।"

श्रीकृष्ण के निर्देशानुसार सब द्वारिकावासी धार्मिक कार्यों में जुट गये

उन्हीं दिनों भगवान् अरिष्टनेमि रैवतक पर्वत पर पधारे। श्रीकृष्ण बलराम के पीछे-पीछे द्वारिका के नागरिक भगवान् के अमृतमय उपदेश को के लिए रैवतक पर्वत की ओर उमड़ पड़े। मोहान्धकार को मिटाने वाले भग के प्रवचनों को सुन कर शाम्ब, प्रद्युम्न, सारण, उन्मुक, निसढ़ आदि अ यादव-कुमारों और रुक्मिणी जाम्बवती आदि अनेकों स्त्रीरत्नों ने विरक्त हो चरणों में श्रमण-दीक्षा स्वीकार की।

---

[1] शाम्बो वभाषे स्वानित्थमयं मे नगरिं कुलम्।
हन्ता तद्धन्यतामेष, हनिष्यति हतः कथम् ॥२८॥
[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ८, सर्ग ११]

[2] तम्रो दीवायरणेण भरिणयं—कण्ह ! मया पहम्ममारणेण पइण्णा पडिवण्णा जहा-तुमे म परं दुवे वि ण अण्णस्स सुणयमेत्तस्स वि जन्तुणो मोक्खो,.........
[चउवन महापुरिस चरियं, पृष्ठ १

श्रीकृष्ण द्वारा किये गये एक प्रश्न के उत्तर में भगवान् अरिष्टनेमि ने फरमाया – "आज से बारहवें वर्ष में द्वैपायन द्वारिका को भस्मसात् कर देगा।"

श्रीकृष्ण की चिन्ता और प्रभु द्वारा आश्वासन

भगवान् अरिष्टनेमि के मुखारविन्द से अपने प्रश्न का उत्तर सुनते ही श्रीकृष्ण की आंखों के सामने द्वारिकादाह का भावी बीभत्स-दारुण-दुखान्त दृश्य साकार हो मंडराने लगा। वे सोचने लगे–"धनपति कुबेर की देखरेख में विश्वकर्मा द्वारा स्वर्ण-रजत एवं मणि-माणिक्य, हीरों, पन्नों आदि अमूल्य रत्नों से निर्मित इस धरा का साकार स्वर्ग सा यह नगर आज से बारहवें वर्ष में सुरों और सुररमणियों से स्पर्द्धा करने वाले समस्त नागरिकों सहित जला कर भस्मसात् कर दिया जायगा।"

उनकी अन्तर्व्यथा असह्य हो उठी, उनके हृदयपटल पर संसार की नश्वरता का, जीवन, राज्यलक्ष्मी व ऐश्वर्य की क्षणभंगुरता का अमिट चित्र अंकित हो गया। वे सोचने लगे – "धन्य हैं महाराज समुद्रविजय, धन्य हैं जालि, मयालि, प्रद्युम्न, शाम्ब, रुक्मिणी, जाम्बवती आदि जिन्होंने भोगों एवं भवनादि की भंगुरता के तथ्य को समझ कर त्याग-मार्ग अपना लिया। उन्हें अब द्वारिकादाह का ज्वाला-प्रलय नहीं देखना पड़ेगा। ओफ्! मैं अभी तक त्रिखण्ड के विशाल साम्राज्य और ऐश्वर्य में मूर्च्छित हूँ।"

अन्तर्यामी भगवान् अरिष्टनेमि से श्रीकृष्ण की अन्तर्वेदना छुपी न रही। उन्होंने कहा – "त्रिखण्डाधिप वासुदेव! निदान की लोहार्गला के कारण त्रिकाल में भी यह संभव नहीं कि कोई भी वासुदेव प्रव्रज्या ग्रहण करे। निदान का यही अटल नियम है अतः तुम प्रव्रज्या ग्रहण न कर सकने की व्यर्थ चिन्ता न करो। आगामी उत्सर्पिणीकाल में इसी भरत क्षेत्र में तुम भी मेरी तरह बारहवें तीर्थंकर बनोगे[1] और बलराम भी तुम्हारे उस तीर्थकाल में सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होंगे।"

---

[1] (क) एएसिणं चउव्वीसाए तित्थकराणं पुव्वभविया चउव्वीसं नामदेज्जा भविस्संति तं जहा सेणिए सुपास·········कण्ह······· [समवायांग सूत्र, सूत्र २१४]

(ख) च्युत्वा भाव्यत्र भरते गंगाद्वार पुरेशितुः। जितशत्रोः सुतोऽर्हंस्त्वं द्वादशो नामतोऽममः॥ [त्रिषष्टि श. पु. चरित्र, पर्व ८, सर्ग ११, श्लो. ५२]

(ग) अरहा अरिट्ठणेमी कण्हं वासुदेवं एवं वयासी मा णं तुमं देवाणुप्पिया ओह्य-जाव झियाहि·······तुमं······बारसमे अममे नामं अरहा भविस्ससि············

[अंतगड दशा]

भगवान् के इन परम आह्लादकारी वचनों को सुन कर श्रीकृष्ण आनन्द-विभोर हो पुलकित हो उठे। बड़ी ही श्रद्धा से उन्होंने प्रभु को वन्दन किया और द्वारिका लौट आये। उन्होंने पुनः द्वारिका में घोषणा करवाई – "द्वारिका का दाह अवश्यंभावी है अतः जो भी व्यक्ति प्रभु-चरणों में प्रव्रजित हो मुनि-धर्म स्वीकार करना चाहता है वह अपने आश्रितों के निर्वाह, सेवा-शुश्रूषा आदि की सब प्रकार की चिन्ताओं का परित्याग कर बड़ी खुशी के साथ प्रव्रज्या ग्रहण कर सकता है। मुनि-धर्म स्वीकार करने की इच्छा रखने वालों को मेरी ओर से पूर्णरूपेण अनुमति है। उनके आश्रितों के भरण-पोषण आदि का सारा भार मैं अपने कंधों पर लेता हूं।" उन्होंने द्वारिकावासियों को निरन्तर धर्म की आराधना करते रहने की सलाह दी।

श्रीकृष्ण की इस घोषणा से पद्मावती आदि अनेकों राज्य परिवार की महिलाओं, कई राजकुमारों और अन्य अनेकों स्त्री-पुरुषों ने प्रबुद्ध एवं विरक्त हो प्रभु चरणों में दीक्षा ग्रहण की। श्रीकृष्ण ने शासन और धर्म की अत्युत्कृष्ट भावना से सेवा की और इस तरह उन्होंने तीर्थंकर गोत्र का उपार्जन किया।

इस प्रकार अनेक भव्य प्राणियों को मुक्तिपथ का पथिक बना प्रभु अरिष्टनेमि वहां से अन्य स्थान के लिए विहार कर गये।

उधर द्वैपायन निदानपूर्वक आयुष्य पूर्ण कर अग्निकुमार देव हुआ और अपने वैर का स्मरण कर वह क्रुद्ध हो द्वारिका को भस्मसात् कर डालने की इच्छा से द्वारिका पहुँचा। पर उस समय सारी द्वारिका तपोभूमि बनी हुई थी। समस्त द्वारिकावासी आत्म-चिन्तन, धर्माराधन और प्रसिद्ध आयम्बिल (आचाम्ल) तप की साधना में निरत थे, अनेकों नागरिक चतुर्थ भक्त, षष्टम भक्त और अष्टम भक्त किये हुए थे अतः धर्म के प्रभाव से अभिभूत हो वह द्वारिकावासियों का कुछ भी अनिष्ट नहीं कर सका और हताश हो लौट गया। द्वारिका को जलाने के लिए वह सदा छिद्रान्वेषण और उपयुक्त अवसर की टोह में रहने लगा।

द्वैपायन द्वारा द्वारिकादाह

इस प्रकार द्वैपायन निरन्तर ग्यारह वर्ष तक द्वारिका को दग्ध करने का अवसर देखता रहा पर द्वारिकावासियों की निरन्तर धर्माराधना के कारण ऐसा अवसर नहीं मिला।

इधर द्वारिकावासियों के मन में यह धारणा बलवती होती गई कि उनके निरन्तर धर्माराधन और कठोर तपस्या के प्रभाव से उन्होंने द्वैपायन के प्रभाव को नष्ट कर उसे जीत लिया है अतः अब काय-क्लेश की आवश्यकता नहीं है।

इस विचार के आते ही कुछ लोग स्वेच्छापूर्वक सुरा, मांसादिक का सेवन करने लगे। "गतानुगतिको लोकः" इस उक्ति के अनुसार अनेक द्वारिकावासी धर्माराधन एवं तप-साधना के पथ का परित्याग कर अनर्थंकर-पथ में प्रवृत्त होने लगे।

द्वैपायन के जीव अग्निकुमार ने तत्काल यह रन्ध्र देख द्वारिका पर प्रलय ढाना प्रारम्भ कर दिया। अग्नि की भीषण वर्षा से द्वारिका में सर्वत्र प्रचण्ड ज्वालाएँ भभक उठीं। अशनिपात एवं उल्कापात से धरती धूजने लगी। द्वारिका के प्राकार, द्वार और भव्य-भवन भूलुण्ठित होने लगे। कृष्ण और बलराम के चक्र व हल आदि सभी रत्न विनष्ट हो गये। समस्त द्वारिका देखते ही देखते ज्वाला का सागर बन गई। रमणियों, किशोरों, बच्चों और वृद्धों के करुण-क्रन्दन से आकाश फटने लगा, बड़े अनुराग और प्रेम से पोषित किये गये सुगौर सुन्दर और पुष्ट अगणित मानव-शरीर कपूर की पुतलियों की तरह जलने लगे। भागने का प्रयास करने पर भी कोई द्वारिकावासी भाग नहीं सका। अग्निकुमार द्वारा जो जहाँ था वहीं स्तंभित कर दिया गया।

श्रीकृष्ण और बलराम ने वसुदेव, देवकी और रोहिणी को एक रथ में बठाकर रथ चलाना चाहा पर हजार प्रयत्न करने पर भी घोड़ों ने एक डग तक आगे नहीं बढ़ाया। हताश हो कृष्ण और बलदेव ने रथ को स्वयं खींचना प्रारम्भ किया पर एक विशाल द्वार से कृष्ण और बलराम के निकलते ही वह द्वार भयंकर शब्द करता हुआ रथ पर गिर पड़ा।

द्वैपायन देव ने कहा – "कृष्ण-बलराम ! मैंने पहले ही कह दिया था कि आप दोनों भाइयों को छोड़कर और कोई बचा नहीं रह सकेगा।"

वसुदेव, देवकी और रोहिणी ने कहा – "पुत्रो ! हमें बचाने का तुम पूरा प्रयास कर चुके हो, कर्मगति बलीयसी है, हम अब प्रभु-शरण लेते हैं। तुम दोनों भाई कुशलपूर्वक जाओ।"

कृष्ण और बलराम बड़ी देर तक वहाँ खड़े रहे। सब ओर से स्त्रियों की चीत्कारें, बच्चों एवं वृद्धों के करुण-क्रन्दन और जलते हुए नागरिकों की पुकारें उनके कानों के द्वार से हृदय में गूंज रही थी – "कृष्ण हमारी रक्षा करो,

हलधर हमें बचाओ।" पर दोनों भाई हाथ मलते ही खड़े रह गये, कुछ भी न कर सके। संभवतः इन नरशार्दूलों ने अपने जीवन में पहली ही बार विवशता का यह दुःखद अनुभव किया था।

सारी द्वारिका जल गई और भू-स्वर्ग-द्वारिका के स्थान पर धधकती आग का दरिया हिलोरें ले रहा था।

अन्ततोगत्वा असह्य अन्तर्व्यथा से संतप्त हो कृष्ण और बलदेव वहां से चल दिये।

शोकातुर कृष्ण ने बलराम से पूछा – "भैया! अब हमें किस ओर जाना है? प्रायः सभी नृपवर्ग अपने मन में हमारे प्रति शत्रुतापूर्ण भावना रखते हैं।"

बलराम ने कहा – दक्षिण दिशा में पाण्डव-मथुरा की ओर।

श्रीकृष्ण ने कहा – "बलदाउ भैया! मैंने पाण्डवों को निर्वासित कर उनका अपकार किया है।"

बलराम बोले – "उन पर तुम्हारे उपकार असीम हैं? इसके अतिरिक्त पाण्डव बड़े सज्जन और हमारे सम्बन्धी हैं। इस विपन्नावस्था में हमें वे बड़े स्नेह, सौहार्द और सम्मान के साथ रखेंगे।"

कृष्ण ने भी "अच्छा" कहते हुए अपने बड़े भाई के प्रस्ताव से सहमति प्रकट की और दोनों भाइयों ने दक्षिणापथ की ओर प्रयाण किया।

शत्रु राजाओं से संघर्षों और मार्ग की अनेक कठिनाइयों का दृढ़तापूर्वक सामना करते हुए कई दिनों बाद दोनों भाई अत्यन्त दुर्गम कोशाम्बी वन में जा पहुँचे। वहां पिपासाकुल हो कृष्ण ने अपने ज्येष्ठ भाई बलदेव से कहा – "आर्य! मैं प्यास से इतना व्याकुल हूँ कि इस समय एक डग भी आगे बढ़ना मेरे लिए असंभव है। कहीं से ठंडा जल लाकर पिलाओ तो अच्छा है।"

बलदेव तत्क्षण कृष्ण को एक वृक्ष की छाया में बैठा कर पानी लाने के लिए चल पड़े।

बलदेव की विरक्ति और कठोर संयम-साधना

पिपासाकुल कृष्ण पीताम्बर ओढ़े बांयें घुटने पर दाहिना पैर रखे छाया में लेटे हुए थे। उसी समय शिकार की टोह में जराकुमार उधर से निकला और पीताम्बर ओढ़े लेटे हुए कृष्ण पर हरिण के भ्रम से बाण चला दिया।[1] बाण

---

[1] श्रीमद्भागवत में जरा नामक व्याध द्वारा श्रीकृष्ण के पादतल में बाण का प्रहार करने का उल्लेख है :-

मुसलावशेषायःखण्डकृतेषुर्लुब्धको जरा।
मृगास्याकारं तच्चरणं, विव्याध मृगशंकया ॥३३॥

[श्रीमद्भागवत, स्कंध ११, अ० ३०]

कृष्ण के दाहिने पादतल में लगा। कृष्ण ने ललकारते हुए कहा – "सोते हुए मुझ पर इस तरह तीर का प्रहार करने वाला कौन है ? मेरे सामने आये।"

कृष्ण के कण्ठ-स्वर को पहचान कर जराकुमार तत्क्षण कृष्ण के पास आया और उसने रोते हुए कहा – "मैं तुम्हारा हतभाग्य बड़ा भाई जराकुमार हूँ। तुम्हारे प्राणों की रक्षा हेतु वनवासी होकर भी दुर्दैव से मैं तुम्हारे प्राणों का ग्राहक बन गया।"

कृष्ण ने संक्षेप में द्वारकादाह, यादवकुल-विनाश आदि का वृत्तान्त सुनाते हुए जराकुमार को अपनी कौस्तुभमणि दी और कहा – "हमारे यादव-कुल में केवल तुम्हीं बचे हो, अतः पाण्डवों को यह मणि दिखा कर तुम उनके पास ही रहना। शोक का त्याग कर शीघ्र ही यहाँ से चले जाओ बलराम आने ही वाले हैं। उन्होंने यदि तुम्हें देख लिया तो तत्क्षण मार डालेंगे।"

कृष्ण के समझाने पर जराकुमार ने पाण्डव-मथुरा की ओर प्रस्थान कर दिया।

प्यास के साथ बाण की तीव्र वेदना से व्यथित श्रीकृष्ण बलदेव के आने से पूर्व ही एक हजार वर्ष की आयु पूर्ण कर जीवनलीला समाप्त कर गये।

थोड़ी ही देर में शीतल जल लेकर ज्योंही बलदेव पहुँचे और दूर से ही कृष्ण को लेटे देखा तो उन्हें निद्राधीन समझ कर उनके जगने की प्रतीक्षा करते रहे। बड़ी इन्तजार के बाद भी जब कृष्ण को जगते नहीं देखा तो बलदेव ने पास आकर कृष्ण को सम्बोधित करते हुए कहा – "भाई ! जगो बहुत देर हो गई।"

पर कृष्ण की ओर से कोई उत्तर न पा उन्होंने पीताम्बर हटाया। कृष्ण के पादतल में घाव देखते ही वे क्रुद्ध सिंह की तरह दहाड़ने लगे – "अरे कौन है वह दुष्ट जिसने सोते हुए मेरे प्राणप्रिय भाई पर प्रहार किया है ? वह नराधम मेरे सम्मुख आये, मैं अभी उसे यमधाम पहुँचाये देता हूँ।"

बलदेव बड़ी देर तक जंगल में इधर-उधर घातक को खोजने लगे। पर कृष्ण पर प्रहार करने वाले का कहीं पता न चलने पर वे पुनः कृष्ण के पास लौटे और शोकाकुल हो करुण विलाप करते हुए बार बार कृष्ण को जगाने लगे और भीषण वन की काली अन्धेरी रात में कृष्ण के पास बैठे-बैठे करुण विलाप करते रहे।

अन्त में सूर्योदय होने पर बलराम ने कृष्ण को सम्बोधित करते हुए कहा – "भाई ! उठो, महापुरुष होकर भी आज तुम साधारण पुरुष की तरह इतने अधिक कैसे सोये हो ? उठो, सूर्योदय हो गया, अब यहाँ सोने से क्या होगा ? चलो आगे चलें।"

यह कह कर बलराम ने अपने भाई के प्रति प्रबल अनुराग और मोह के कारण निर्जीव कृष्ण के तन को भी सजीव समझ कर अपने कन्धे पर उठाया

ग्रौर ऊबड़-खाबड़ दुर्गम भूमि पर यत्र-तत्र स्खलित होते हुए भी आगे की ओर चल पड़े। इस तरह वे विना विश्राम किये कृष्ण के पार्थिव शरीर को कन्धे पर उठाये, करुण-क्रन्दन करते हुए बीहड़ वनों में निरन्तर इधर-उधर घूमते रहे।

बलराम को इस स्थिति में देखकर उनके सारथि सिद्धार्थ का जीव जो भगवान् नेमिनाथ के चरणों में दीक्षित हो संयमसाधना कर आयु पूर्ण होने पर देव हो गया था, बड़ा चिन्तित हुग्रा। उसने सोचा – "ग्रहो ! कर्म की परिणति कैसी दुर्निवार है। त्रिखण्डाधिपति कृष्ण ग्रौर बलराम की यह अवस्था ? मेरा कर्त्तव्य है कि मैं बलदेव को जाकर समझाऊँ।"

इस प्रकार सोचकर देव ने विभिन्न प्रकार के दृष्टान्तों से बलराम को समझाने का प्रयत्न किया।

उसने बढ़ई का वेष बना कर जिस पथ पर बलदेव जा रहे थे उसी पथ में आगे बढ़ विकट पर्वतीय ऊँचे मार्ग को पार कर समतल भूमि में चकनाचूर हुए रथ को ठीक करने का उपक्रम प्रारम्भ किया। जब बलदेव उसके पास पहुँचे तो उन्होंने बढ़ई से कहा – "क्यों व्यर्थ प्रयास कर रहे हो ? दुर्लंघ्य पर्वतीय विकट मार्ग को पार करके जो रथ समतल भूमि में टूट गया वह अब भला क्या काम देगा ?"

बढ़ई बने देव ने ग्रवसर देख तत्काल उत्तर दिया – "महाराज ! वे कृष्ण तीन सौ साठ (३६०) भीषण युद्धों में नहीं मरे ग्रौर ग्रन्त में विना किसी युद्ध के ही मारे गये, वे जीवित हो जायेंगे तो मेरा यह विकट दुर्लंघ्य गिरि-मार्ग को पार कर समतल भूमि में टूटा हुग्रा रथ क्यों नहीं ठीक होगा ?"

"कौन कहता है कि मेरा प्राणप्रिय भाई कृष्ण मर गया है ? यह तो प्रगाढ़ निद्रा में सोता हुग्रा है। तुम महामूढ़ हो।" बलदेव गरज कर बोले और पथ पर आगे की ग्रोर बढ़ गये।

देव उसी पथ पर आगे पहुँच गया ग्रौर माली का रूप बनाकर मार्ग में ही निर्जल भूमि की एक शिला पर कमल उगाने का उपक्रम करने लगा।

वहाँ पहुँचने पर बलदेव ने उसे देख कर कहा – "क्या पागल हो गये हो जो निर्जल स्थल में ग्रौर वह भी पाषाण-शिला पर कमल लगा रहे हो। भला शिला पर भी कभी कमल उगा है ?"

माली बने देव ने कहा – "महाराज ! मृत कृष्ण जीवित हो जायेंगे तो यह कमल भी इस शिला पर खिल जायगा।"

बलदेव क्रोधपूर्वक वही ग्रपना उपरोक्त उत्तर दोहराते हुए आगे बढ़ गये।

देव ने भी ग्रपना प्रयास नहीं छोड़ा ग्रौर वह राह पर आगे पहुँच कर सूखे हुए वृक्ष के ग्रवशेष ठूंठ को पानी से सींचने लगा।

बलदेव ने जब उसे जले हुए सूखे ठूंठ को पानी से सींचते हुए देखा तो कहने लगे – "अरे तुम विक्षिप्त तो नहीं हो गये हो, यह जला हुआ ठूंठ भी कहीं जल सींचने से हरा हो सकता है ?"

उस छद्म-वेषधारी देव ने कहा– "महाराज ! जब मरे हुए कृष्ण जीवित हो सकते हैं तो यह जला हुआ वृक्ष क्यों नहीं हरा होगा ?"

बलराम भृकुटि-विभंग से उसे देखते हुए आगे बढ़ गये।

देव भी आगे पहुँच गया और एक मृत बैल के मुँह के पास घास और पानी रख कर उसे खिलाने-पिलाने की चेष्टा करने लगा।

जब बलदेव उस स्थान पर पहुँचे तो यह सब देख कर बोले – "भले मनुष्य ! तुम में कुछ बुद्धि भी है या नहीं ? मरा जानवर भी कहीं खाता पीता है ?"

किसान बने हुए उस देव ने कहा – "पृथ्वीनाथ ! मृत कृष्ण भोजन पानी ग्रहण करेंगे तो यह बैल भी अवश्यमेव घास चरेगा और पानी पीयेगा।"

इस पर बलराम कुछ नहीं बोले और मार्ग पर आगे बढ़ गये।

इस प्रकार उस देव ने विविध उपायों से बलदेव को समझाने का प्रयास किया तब अन्त में बलदेव के मन में यह विचार आया – "क्या सचमुच कंसकेशि-निषूदन केशव अब नहीं रहे ? क्या जरासन्ध जैसे प्रबल पराक्रमी शत्रु का प्राण-हरण करने वाले मेरे भैया कृष्ण परलोकगमन कर चुके हैं, जिस कारण कि ये सब लोग एक ही प्रकार की बात कह रहे हैं ?"

उसी समय उपयुक्त अवसर समझ कर देव अपने वास्तविक स्वरूप में बलदेव के समक्ष प्रकट हुआ और कहने लगा – "बलदेव ! मैं वही आपका सारथि सिद्धार्थ हूँ। भगवान् की कृपा से संयम-साधना कर मैं देव बना हूँ। आपने मुझे मेरी दीक्षा के समय कहा था कि सिद्धार्थ ! यदि देव बन जाओ तो मुझे प्रतिबोध देने हेतु अवश्य आना। आपके उस वचन को याद करके आया हूँ। महाराज ! यह ध्रुव सत्य और संसार का अपरिवर्तनीय अटल नियम है कि जो जन्म ग्रहण करता है वह एक न एक दिन अवश्य मरता है। सच बात यह है कि श्रीकृष्ण अब नहीं रहे। आप जैसे महान् और समर्थ सत्पुरुष भी इस अपरिहार्य मृत्यु से विचलित हो मोह और शोक के शिकार हो जायेंगे तो साधारण व्यक्तियों की क्या स्थिति होगी ? स्मरण है आपको, प्रभु नेमिनाथ ने द्वारिकादाह के लिये पहले ही फरमा दिया था। वह भीषण लोमहर्षक काण्ड श्रीकृष्ण और आपके देखते-देखते हो गया।"

"जो बीत चुका उसका शोक व्यर्थ है। अब आप अणगार-धर्म को ग्रहण कर आत्मोद्धार कीजिए जिससे फिर कभी प्रिय-वियोग का दारुण दुःख सहना ही नहीं पड़े।

सिद्धार्थ की बातों से बलदेव का व्यामोह दूर हुआ। उन्होंने ससम्मान श्रीकृष्ण के पार्थिव शरीर का अन्त्येष्टि संस्कार किया।

उसी समय भगवान् अरिष्टनेमि ने बलराम की दीक्षा ग्रहण करने की अन्तर्भावना जान कर अपने एक जंघाचारण मुनि को बलराम के पास भेजा। बलराम ने आकाश-मार्ग से आये हुए मुनि को प्रणाम किया और तत्काल उनके पास दीक्षा ग्रहण कर श्रमण-धर्म स्वीकार किया[1] और कठोर तपस्या की ज्वाला में अपने कर्मसमूह को इंधन की तरह जलाने लगे।

कालान्तर में उन हलायुध मुनि ने परम संवेग और वैराग्य भाव से षष्ठम, अष्टम, मासक्षमणादि तप करते हुए गुरु-आज्ञा से एकल विहार स्वीकार किया। वे ग्राम नगरादि में विचरण करते हुए जिस स्थान पर सूर्य अस्त हो जाता वहीं रात भर के लिए निवास कर लेते।

किसी समय मासोपवास की तपस्या के पारण हेतु बलराम मुनि ने एक नगर में भिक्षार्थ प्रवेश किया। उनका तप से शुष्क शरीर भी अप्रतिहत सौन्दर्य-युक्त था। धूलि-धूसरित होने पर भी उनका तन बड़ा मनोहर, कान्तिपूर्ण और लुंचितकेश-सिर भी बड़ा मनोहर प्रतीत हो रहा था। बलराम के अद्भुत रूप-सौन्दर्य से आकृष्ट नगर का सुन्दरी-मण्डल भिक्षार्थ जाते हुए महर्षि बलदेव को देख कुलमर्यादा को भूल कर उनके प्रति हाव-भाव बताने लगा। कूप-तट पर एक पुर-सुन्दरी ने तो मुनि की ओर एकटक देखते हुए कुए से जल निकालने के लिए कलश के बदले अपने शिशु के गले में ही रज्जु डाल दी। वह अपने शिशु को कुए में डाल ही रही थी कि पास ही खड़ी एक अन्य स्त्री ने उसे – "अरे क्या अनर्थ कर रही है" यह कह कर सावधान किया।[2]

लोक-मुख से यह बात सुनकर महामुनि बलराम ने सोचा – "अहो कैसी मोह की छलना है जिसके वशीभूत हो हमारे जैसे मुण्डित सिर वालों के पीछे भी ये ललनाएँ ऐसा कार्य करती हैं। पर इनका क्या दोष, मेरे ही पूर्वकृत कर्मों की परिणति से पुद्गलों का ऐसा परिणमन है। ऐसी दशा में अब भिक्षा हेतु नगर या ग्राम में मुझे प्रवेश नहीं करना चाहिए। आज से मैं वन में ही निवास करूंगा।"

ऐसा विचार कर मुनि बलराम बिना भिक्षा ग्रहण किये ही वन की ओर लौट गये और तुंगियागिरी के गहन वन में जाकर घोर तपस्या करने लगे।

शत्रु राजाओं ने हलधर का एकाकी वनवास जान कर उन्हें मारने की तैयारी की, परन्तु सिद्धार्थ देव की रक्षा-व्यवस्था से वे वहाँ नहीं पहुँच सके।

---

[1] (क) ताव य णहंगणाओ तमुद्देसं समागओ भयवओ सयासाओ एक्को विज्जाहर समणो। दट्ठूण य तं....... पडिवण्णा रामेण तस्सन्तिए दिक्खा।
[चउवन महापुरिस चरियं, पृष्ठ २०४]

(ख) दीक्षां जिघृक्षुं रामं च, ज्ञात्वा श्री नेम्यपि द्रुतम्।
विद्याधरमुनिं [illegible] ॥३६॥ [त्रि. श. पु. च., ८।१२]

[2] ....हा! हयासि त्ति हयासे! भणमाणेण संबोहिया [चउवन म. पु. च., पृ. २०५]

मुनि बलराम वन में शान्त भाव से तप का आराधन करने लगे।

उनके तपः प्रभाव से वन्य प्राणी सिंह और मृग परस्पर का वैर भूल उनके निकट बैठे रहते। एक दिन वे सूर्य की ओर मुंह किये कायोत्सर्ग मुद्रा में ध्यानस्थ खड़े थे। उस समय कोई वन-छेदक वृक्ष काटने हेतु उधर आया और उसने मुनि को देख कर भक्ति सहित प्रणाम किया। तपस्वी मुनि को धन्य-धन्य कहते हुए पास के वृक्षों में से एक वृक्ष को काटने में जुट गया।

भोजन के समय अधकटे वृक्ष के नीचे छाया में वह भोजन करने बैठा। उसी समय अवसर देख मुनि शास्त्रोक्त विधि से चले। शुभ अध्यवसाय से एक हरिण भी यह सोच कर कि अच्छा धर्म-लाभ होगा, महामुनि का पारणा होगा, मुनि के आगे-आगे चला।

वृक्ष काटने वाले ने ज्योंही मुनि को देखा तो वह बड़ा प्रसन्न हुआ और बड़ी श्रद्धा, भक्ति एवं प्रेम के साथ मुनि को अपने भोजन में से भिक्षा देने लगा। 'काकतालीय' न्याय से उसी समय बड़े तीव्र वेग से वायु का झोंका आया और वह अधकटा विशाल वृक्ष मुनि बलराम, उस श्रद्धावनत सुथार और हरिण पर गिर पड़ा। शुभ अध्यवसाय में मुनि बलराम, सुथार और हरिण तीनों एक साथ काल कर ब्रह्मलोक-पंचम कल्प में देव रूप से उत्पन्न हुए।

मुनि की तपस्या के साथ हरिण और सुथार की भावना भी बड़ी उच्च-कोटि की रही। मृग ने बिना कुछ दिये शुभ-भावना के प्रभाव से पंचम स्वर्ग की प्राप्ति कर ली।[1]

महामुनि थावच्चापुत्र

द्वारिका के समृद्धिशाली श्रेष्ठिकुलों में थावच्चापुत्र का प्रमुख स्थान था। इनकी अल्पायु में ही इनके पिता के दिवंगत हो जाने के कारण कुल का सारा कार्यभार थावच्चा गाथा-पत्नी चलाती रही। उसने अपने कुल की प्रतिष्ठा और धाक उसी प्रकार जमाये रखी जैसी कि श्रेष्ठि ने जमाई थी। थावच्चा गाथा-पत्नी की लोक में प्रसिद्धि होने के कारण उसके पुत्र की भी (थावच्चापुत्र की भी) थावच्चापुत्र के नाम से ही प्रसिद्धि हो गई।

गाथा-पत्नी ने बड़े लाड-प्यार से अपने पुत्र थावच्चापुत्र का लालन-पालन किया और ८ आठ वर्ष की आयु में उन्हें एक योग्य आचार्य के पास शिक्षा ग्रहण करने के लिए रखा। कुशाग्रबुद्धि थावच्चापुत्र ने विनयपूर्वक अपने कलाचार्य के पास विद्याध्ययन किया और सर्वकलानिष्णात हो गये।

---

[1] (क) ......सुभभावणोवगयमाणसा य समुप्पण्णा बम्भलोयकप्पम्मि.......

[चउवन महा. पु. चरियं, पृ. २०६]

(ख) ते त्रयस्तरुणा तेन, पतितेन हता मृताः।
पद्मोत्तरविमानान्तर्ब्रह्मलोकेऽभवन् सुराः ॥७०॥

[त्रिषष्टि शलाका पु. च., पर्व ८, सर्ग ११]

गाथा-पत्नी ने अपने इकलौते पुत्र का युवावस्था में पदार्पण करते ही बड़ी धूमधाम से बत्तीस इभ्यकुल की सर्वगुणसम्पन्न सुन्दर कन्याओं के साथ पाणिग्रहण कराया। थावच्चापुत्र पहले ही विपुल सम्पत्ति के स्वामी थे फिर कन्यादान के साथ प्राप्त सम्पदा के कारण उनकी समृद्धि और अधिक वृद्धिगत हो गई। वे बड़े आनन्द के साथ गार्हस्थ्य-जीवन के भोगों का उपभोग करने लगे।

एक बार भगवान् अरिष्टनेमि अठारह हजार श्रमण और चालीस हजार श्रमणियों के धर्मपरिवार सहित विविध ग्राम-नगरों को अपने पावन चरणों से पवित्र करते हुए रैवतक पर्वत के नन्दन उद्यान में पधारे।

प्रभु के शुभागमन के सुसम्वाद को पाकर श्रीकृष्ण वासुदेव ने अपनी सुधर्मसभा की कौमुदी घंटी बजवाई और द्वारिकावासियों को प्रभुदर्शन के लिए शीघ्र ही समुद्यत होने की सूचना दी। तत्काल दशों दशार्ह, समस्त यादव-परिवार और द्वारिका के नागरिक स्नानानन्तर सुन्दर वस्त्राभूषणों से अलंकृत हो भगवान् के समवसरण में जाने के लिए कृष्ण के पास आये।

श्रीकृष्ण भी अपने विजय नामक गन्धहस्ती पर आरूढ़ हो दशों दशार्हों, परिजनों, पुरजनों, चतुरंगिणी सेना और वासुदेव की सम्पूर्ण ऋद्धि के साथ द्वारिका के राजमार्गों पर अग्रसर होते हुए भगवान् के समवसरण में पहुँचे। थावच्चा कुमार भी इस विशाल जनसमुदाय के साथ समवसरण में पहुँचा।

अत्यन्त प्रियदर्शी, नयनाभिराम एवं मनोहारी भगवान् के दर्शन करते ही सबके नयन-कमल और हृदय-कुमुद विकसित हो गये। सबने बड़ी श्रद्धा और भक्तिपूर्वक भगवान् को वन्दन किया और यथोचित स्थान ग्रहण किया।

भगवान् की अघदलहारिणी देशना सुनने के पश्चात् श्रोतागण अपने २ आध्यात्मिक उत्थान के विविध संकल्पों को लिए अपने २ घर की ओर लौट गये।

थावच्चापुत्र भी भगवान् को वन्दन कर अपनी माता के पास पहुँचा और माता को प्रणाम कर कहने लगा – "अम्बे! मुझे भगवान् अरिष्टनेमि के अमोघ प्रवचन सुन कर बड़ी प्रसन्नता हुई है। मेरी इच्छा संसार के विषय-भोगों से विरत हो गई है। मैं जन्म-मरण के बन्धनों से सदा-सर्वदा के लिए छुटकारा पाने हेतु प्रभु की चरण-शरण में प्रव्रज्या ग्रहण करना चाहता हूँ।

अपने पुत्र की बात सुन कर गाथा-पत्नी थावच्चा अवाक् रह गई मानो उस पर अनभ्र वज्र गिरा हो। उसने अपने पुत्र को त्याग-मार्ग में आने वाले घोर कष्टों से अवगत कराते हुए गृहस्थ-जीवन में रह कर ही यथाशक्ति धर्म-साधना करते रहने का आग्रह किया पर थावच्चा कुमार के अटल निश्चय को देख कर अन्त में उसने अपनी आन्तरिक इच्छा नहीं होते हुए भी उसे प्रव्रज्या लेने की अनुमति प्रदान की।

गाथा-पत्नी ने बड़ी धूमधाम के साथ अपने पुत्र का अभिनिष्क्रमणोत्सव करने का निश्चय किया। वह अपने कुछ आत्मीयों के साथ श्रीकृष्ण के प्रासाद

में पहुँची और बहुमूल्य भेंट अर्पित कर उसने कृष्ण से निवेदन किया – "राज-राजेश्वर ! मेरा इकलौता पुत्र थावच्चा कुमार प्रभु अरिष्टनेमि के पास श्रमण-दीक्षा स्वीकार करना चाहता है। मेरी महती आकांक्षा है कि मैं बड़े ठाट के साथ उसका निष्क्रमणोत्सव करूं। अतः आप कृपा कर छत्र, चंवर और मुकुट प्रदान कीजिये।"

श्रीकृष्ण ने कहा – "देवानुप्रिये ! तुम्हें इसकी किंचित्मात्र भी चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं। मैं स्वयं तुम्हारे पुत्र का निष्क्रमणोत्सव करूंगा।"

कृष्ण की बात से गाथा-पत्नी आश्वस्त हो अपने घर लौट आई। श्रीकृष्ण भी अपने विजय नामक गन्धहस्ती पर आरूढ़ हो चतुरंगिणी सेना के साथ थावच्चा गाथा-पत्नी के भवन पर गये और थावच्चापुत्र से बड़े मीठे वचनों में बोले – "देवानुप्रिय ! तुम मेरे बाहुबल की छत्रछाया में बड़े आनन्द के साथ सांसारिक भोगों का उपभोग करो। मेरी छत्रछाया में रहते हुए तुम्हारी इच्छा के विपरीत सिवा वायु के तुम्हारे शरीर का कोई स्पर्श तक भी नहीं कर सकेगा। तुम सांसारिक सुखों को ठुकरा कर व्यर्थ ही क्यों प्रव्रजित होना चाहते हो ?"

थावच्चापुत्र ने कहा – "देवानुप्रिय ! यदि आप मृत्यु और बुढ़ापे से मेरी रक्षा करने का दायित्व अपने ऊपर लेते हों तो मैं दीक्षित होने का विचार त्याग कर बेखटके सांसारिक सुखों को भोगने के लिए तत्पर हो सकता हूँ। वास्तव में मैं इस जन्म-मरण से इतना उत्पीड़ित हो चुका हूँ कि गला फाड़ कर रोने की इच्छा होती है। त्रिखण्डाधिपते ! क्या आप यह उत्तरदायित्व लेते हैं कि जरा और मरण मेरा स्पर्श नहीं कर सकेंगे ?"

श्रीकृष्ण बड़ी देर तक थावच्चापुत्र के मुख की ओर देखते ही रहे और अन्त में अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए उन्होंने कहा – "जन्म, जरा और मरण तो दुर्निवार्य हैं। अनन्तबली तीर्थंकर और महान् शक्तिशाली देव भी इनका निवारण करने में असमर्थ हैं। इनका निवारण तो केवल कर्म-मल का क्षय करने से ही संभव है।"

थावच्चापुत्र ने कहा – "हरे ! मैं इस जन्म, जरा और मृत्यु के दुःख को मूलतः विनष्ट करना चाहता हूँ जो बिना प्रव्रज्या-ग्रहण के संभव नहीं अतः मैं प्रव्रजित होना चाहता हूँ।"

परम विरक्त थावच्चापुत्र के इस ध्रुव-सत्य उत्तर से श्रीकृष्ण बड़े प्रभावित हुए। उन्होंने तत्काल द्वारिका में घोषणा करवा दी कि थावच्चापुत्र अर्हत् अरिष्टनेमि के पास प्रव्रजित होना चाहते हैं। उनके साथ जो कोई राजा, युवराज, देवी, रानी, राजकुमार, ईश्वर, तलवर, कौटुम्बिक, माण्डविक, इभ्य, श्रेष्ठि, सेनापति या सार्थवाह दीक्षित होना चाहते हों तो कृष्ण वासुदेव उन्हें सहर्ष आज्ञा प्रदान करते हैं। उनके आश्रित-जनों के योग-क्षेम का सम्पूर्ण दायित्व कृष्ण लेते हैं।"

श्रीकृष्ण की इस घोषणा को सुन कर थावच्चापुत्र के प्रति असीम अनुराग रखने वाले उग्र-भोगवंशीय व इभ्य, श्रेष्ठि, सेनापति आदि एक हजार पुरुष दीक्षित होने हेतु तत्काल वहाँ आ उपस्थित हुए।

स्वयं श्रीकृष्ण ने जलपूर्ण चांदी-सोने के घड़ों से थावच्चापुत्र के साथ-साथ उन एक हज़ार दीक्षार्थियों का अभिषेक किया और उन सब को बहुमूल्य सुन्दर वस्त्राभूषणों से अलंकृत कर एक विशाल पालकी में बिठा उनका दीक्षा-महोत्सव किया।

निष्क्रमणोत्सव की शोभायात्रा में सबसे आगे विविध वाद्यों पर मन को मुग्ध करने वाली मधुर धुन बजाते हुए वादकों की कतारें, उनके पीछे वाद्य-ध्वनि के साथ-साथ पदक्षेप करती हुई वासुदेव की सेना, नाचते हुए तरल तुरंगों की सेना, फिर मेघगर्जना सा 'घर-घर' रव करती रथसेना, चिंघाड़ते हुए दीर्घ-दन्त, मदोन्मत्त हाथियों की गजसेना और तदनन्तर एक हजार एक दीक्षार्थियों की देवविमान सी सुन्दर विशाल पालकी, उनके पीछे श्रीकृष्ण, दशार्ह, यादव कुमार और उनके पीछे लहराते हुए सागर की तरह अपार जन-समूह।

समुद्र की लहरों की तरह द्वारिका के विस्तीर्ण स्वच्छ राजपथ पर अग्रसर होता हुआ निष्क्रमणोत्सव का यह जलूस समवसरण की ओर बढ़ा। समवसरण के छत्रादि दृष्टिगोचर होते ही दीक्षार्थी पालकी से उतरे।

श्रीकृष्ण थावच्चापुत्र को आगे लिये प्रभु के पास पहुँचे और तीन प्रदक्षिणापूर्वक उन्हें वन्दन किया। थावच्चापुत्र ने भगवान् को वन्दन किया और एक हजार पुरुषों के साथ सब आभूषणों को उतार स्वयमेव पंचमुष्टि लुंचन कर प्रभु नेमिनाथ के पास मुनि-दीक्षा ग्रहण की।

दीक्षित होकर थावच्चापुत्र ने भगवान् अरिष्टनेमि के स्थविरों के पास चौदह पूर्वों एवं एकादश अंगों का अध्ययन किया और चतुर्थ भक्तादि तपस्या से अपने कर्म-मल को साफ करने लगे।

अर्हंत् अरिष्टनेमि ने थावच्चाकुमार की आत्मनिष्ठा, तपोनिष्ठा, तीक्ष्ण बुद्धि और हर तरह योग्यता देखकर उनके साथ दीक्षित हुए एक हजार मुनियों को उनके शिष्य रूप में प्रदान किया और उन्हें भारत के विभिन्न जनपदों में विहार कर जन-कल्याण करने की आज्ञा दी। अणगार थावच्चापुत्र ने प्रभु-आज्ञा को शिरोधार्य कर भारत के सुदूर प्रान्तों में अप्रतिहत विहार किया एवं धर्म का प्रचार करते हुए अनेक भव्यों का उद्धार किया।

अनेक जनपदों में विहार करते हुए थावच्चापुत्र अपने एक हजार शिष्यों के साथ एक समय शैलकपुर पधारे। वहां आपके तात्विक एवं विरक्तिपूर्ण उपदेश को सुनकर 'शैलक' जनपद के नरपति 'शैलक राजा' ने अपने पंथक आदि पाँच सौ मन्त्रियों के साथ श्रावक-धर्म स्वीकार किया।

इस प्रकार अनेकों धर्मपथ से भूले-भटके लोगों को सत्पथ पर अग्रसर करते हुए थावच्चापुत्र सौगन्धिका नगरी पधारे।

सौगन्धिका नगरी में अरणगार थावच्चापुत्र के पधारने से कुछ दिनों पहले वेद-वेदांग और सांख्यदर्शन के पारगामी गैरुक वस्त्रधारी शुक नामक प्रकाण्ड विद्वान् परिव्राजकाचार्य आये थे। शुक के उपदेश से सौगन्धिका नगरी का सुदर्शन नामक प्रतिष्ठित श्रेष्ठि बड़ा प्रभावित हुआ और शुक द्वारा प्रतिपादित शौचधर्म को स्वीकार कर वह शुक का उपासक बन गया था।

अरणगार थावच्चापुत्र के सौगन्धिका नगरी में पधारने की सूचना मिलते ही सुदर्शन सेठ और सौगन्धिका नगरी के निवासी उनका धर्मोपदेश सुनने गये। उपदेश-श्रवण के पश्चात् सुदर्शन ने थावच्चापुत्र से धर्म एवं आध्यात्मिक ज्ञान सम्बन्धी अनेक प्रश्न किये। थावच्चापुत्र के युक्तिपूर्ण और सारगर्भित उत्तर से सुदर्शन के सब संशय दूर हो गये और उसने थावच्चा पुत्र से श्रावक-धर्म अंगीकार किया।

किसी अन्य स्थान पर विचरण करते हुए शुक परिव्राजक को जब सुदर्शन के श्रमणोपासक बनने की सूचना मिली तो वे सौगन्धिका नगरी आये और सुदर्शन के घर पहुँचे।

किन्तु सुदर्शन से पूर्व की तरह अपेक्षित वन्दन, सत्कार, सम्मान न पाकर शुक ने उससे उस उदासीनता और उपेक्षा का कारण पूछा।

सुदर्शन ने खड़े हो हाथ जोड़कर उत्तर दिया – "विद्वन्! मैंने अरणगार थावच्चापुत्र से जीवाजीवादि तत्त्वों का वास्तविक स्वरूप समझ कर विनयमूलक धर्म स्वीकार कर लिया है।"

परिव्राजकाचार्य शुक ने सुदर्शन से पूछा – "तेरे वे धर्माचार्य कहाँ हैं?"

सुदर्शन ने उत्तर दिया – "वे नगर के बाहर नीलाशोक उद्यान में विराजमान हैं।"

शुक ने कहा – "मैं अभी तुम्हारे धर्म-गुरु के पास जाता हूँ और उनसे सैद्धान्तिक, तात्त्विक, धर्म सम्बन्धी और व्याकरण विषयक जटिल प्रश्न पूछता हूँ। अगर उन्होंने मेरे सब प्रश्नों का संतोषप्रद उत्तर दिया तो मैं उनको नमस्कार करूंगा अन्यथा उन्हें अकाट्य युक्तियों और नय-प्रमाण से निरुत्तर कर दूंगा।"

यह कह कर परिव्राड्राज शुक अपने एक हजार परिव्राजकों और सुदर्शन सेठ के साथ नीलाशोक उद्यान में अनगार थावच्चापुत्र के पास पहुंचे। उसने उनके समक्ष अनेक जटिल प्रश्न रखे।

अरणगार थावच्चापुत्र ने उसके प्रत्येक प्रश्न का प्रमाण नय एवं युक्तिपूर्ण ढंग से हृदयग्राही स्पष्ट उत्तर दिया। शुक को उन उत्तरों से पूर्ण संतोष के साथ वास्तविक बोध हुआ। उसने थावच्चा पुत्र से प्रार्थना की कि वे उसे धर्मोपदेश दें।

अणगार थावच्चापुत्र से हृदयस्पर्शी धर्मोपदेश सुन कर शुक ने धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझा और तत्काल अपने एक हजार परिव्राजकों के साथ पंचमुष्टि-लुंचन कर उनके पास श्रमण-दीक्षा स्वीकार की तथा अणगार थावच्चा-पुत्र के पास चौदह पूर्व एवं एकादश अंगों का अध्ययन कर स्वल्प समय में ही अध्यात्मविद्या का वह पारगामी बन गया। थावच्चापुत्र ने शुक को सब तरह से योग्य समझ कर आज्ञा दी कि वह अपने एक हजार शिष्यों के साथ भारतवर्ष के सन्निकट व सुदूर प्रदेशों में विचरण कर भव्य प्राणियों को धर्म-मार्ग पर आरूढ़ करे।

अपने गुरु थावच्चा पुत्र की आज्ञा शिरोधार्य कर महामुनि शुक ने अपने एक हजार अणगारों के साथ अनेक प्रदेशों में धर्म का प्रचार किया। थावच्चा-पुत्र के श्रमणोपासक शैलकपुर के महाराजा शैलक ने भी शुक के उपदेश से प्रभा-वित हो पंथक आदि अपने पांच सौ मन्त्रियों के साथ श्रमण-दीक्षा स्वीकार की।

थावच्चापुत्र ने अनेक वर्षों की कठोर संयम-साधना, धर्म-प्रसार और अनेक प्राणियों का कल्याण कर अन्त में पुण्डरीक पर्वत पर आकर एक मास की संलेखना की और केवलज्ञान प्राप्त कर निर्वाण-पद प्राप्त किया।

थावच्चापुत्र के शिष्य शुक और प्रशिष्य शैलक राजर्षि ने भी कालान्तर में पुण्डरीक पर्वत पर एक मास की संलेखना कर निर्वाण प्राप्त किया।

शैलक राजर्षि कठोर तपस्या और अन्तप्रान्त अननुकूल आहार के कारण भयंकर व्याधियों से पीड़ित हो गये थे। यद्यपि वे रोगोपचार के समय प्रमादी और शिथिलाचारी हो गये थे पर कुछ ही समय पश्चात् अपने शिष्य पंथक के प्रयास से सम्हल गये और अपने शिथिलाचार का प्रायश्चित्त कर तप-संयम की कठोर साधना द्वारा स्वपर-कल्याण-साधन में लग गये। जैसा कि ऊपर वर्णन किया जा चुका है वे अन्त में आठों कर्मों का क्षय कर निर्वाण को प्राप्त हुए।

इस प्रकार थावच्चामुनि आदि इन पच्चीस सौ (२५००) श्रमणों ने अरिहंत अरिष्टनेमि के शासन की शोभा बढ़ाते हुए अपनी आत्मा का कल्याण किया।

अरिष्टनेमि का द्वारिका-विहार और भव्यों का उद्धार

भगवान् नेमिनाथ अप्रतिबद्ध विहारी थे। वीतरागी व केवली होकर भी वे एक स्थान पर स्थिर नहीं रहे। उन्होंने दूर-दूर तक विहार किया। सौराष्ट्र की भूमि उनके विहार, विचार और प्रचार से आज भी पूर्ण प्रभावित है। यद्यपि उनके वर्षावास का निश्चित पता नहीं चलता फिर भी इतना निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उनका विहार-क्षेत्र अधिकांशतः द्वारिका रहा है। वासुदेव कृष्ण की भक्ति और पुरवासी जनों की श्रद्धा से द्वारिका उस समय का धार्मिक केन्द्र सा प्रतीत होता है। भगवान् नेमिनाथ का बार-बार द्वारिका पधारना भी इसका प्रमाण है।

एक समय की बात है कि जब भगवान् द्वारिका के नन्दन वन में विराजे हुए थे, उस समय अन्धकवृष्णि के समुद्र, सागर, गंभीर, स्तिमित, अचल, कम्पित, अक्षोभ, प्रसेन और विष्णु आदि दश पुत्रों ने राज्यवैभव छोड़ कर प्रभु के चरणों में प्रव्रज्या ग्रहण की। दूसरी बार हिमवंत, अचल, धरण, पूरण आदि वृष्णि-पुत्रों के भी इसी भांति प्रव्रजित होने का उल्लेख मिलता है। तीसरी बार प्रभु के पधारने पर वसुदेव और धारिणी के पुत्र सारण कुमार ने दीक्षा ग्रहण की। सारणकुमार की पचास पत्नियां थीं पर प्रभु की वाणी से विरक्त होकर उन्होंने सब भोगों को ठुकरा दिया। बलदेव पुत्र सुमुख, दुर्मुख, कूपक, और वसुदेव पुत्र दारुक एवं अनाधृष्टि की प्रव्रज्या भी द्वारिका में ही हुई प्रतीत होती है। फिर वसुदेव और धारिणी के पुत्र जालि, मयालि, उपयालि, पुरुषसेन, वारिषेण तथा कृष्ण के नन्दन प्रद्युम्न एवं जाम्बवती के पुत्र साम्बकुमार, वैदर्भीकुमार अनिरुद्ध तथा समुद्रविजय के सत्यनेमि, दृढ़नेमि ने तथा कृष्ण की अन्य रानियों ने भी द्वारिका में ही दीक्षा ग्रहण की थी। रानियों के अतिरिक्त मूलश्री और मूलदत्ता नाम की दो पुत्रवधुओं की दीक्षा भी द्वारिका में ही हुई थी। इन सबसे ज्ञात होता है कि कृष्ण वासुदेव के परिवार में सभी लोग भगवान् अरिष्टनेमि के प्रति अटूट श्रद्धा रखते थे।

पाण्डवों का वैराग्य और मुक्ति

श्रीकृष्ण के अन्तिम आदेश का पालन करते हुए जब जराकुमार पाण्डवों के पास पाण्डव-मथुरा[1] में पहुँचा तो उसने श्रीकृष्ण द्वारा प्रदत्त कौस्तुभ मणि पाण्डवों को दिखाई और रोते-रोते द्वारिकादाह, यदुवंश के सर्वनाश और अपने द्वारा हरिण की आशंका से चलाये गये बाण के प्रहार से श्रीकृष्ण के निधन आदि की सारी दुःखद घटनाओं का विवरण उन्हें कह सुनाया।

जराकुमार के मुख से हृदयविदारक शोक-समाचार सुन कर पांचों पाण्डव और द्रौपदी आदि शोकाकुल हो विलख-विलख कर रोने लगे। अपने परम सहायक और अनन्य उपकारक श्रीकृष्ण के निधन से तो उन्हें वज्रप्रहार से भी अधिक आघात पहुँचा। उन्हें सारा विश्व शून्य सा लगने लगा। उन्हें संसार के जंजाल भरे क्रिया-कलापों से सर्वथा विरक्ति हो गई।

घट-घट के मन की बात जानने वाले अन्तर्यामी प्रभु अरिष्टनेमि ने पाण्डवों की संयम-साधना की आन्तरिक इच्छा को जान कर तत्काल अपने चरमशरीरी चार ज्ञान के धारक स्थविर मुनि धर्मघोष को ५०० मुनियों के साथ पाण्डवमथुरा भेजा।[2] पाण्डवमथुरा में ज्योंही स्थविर धर्मघोष के आने का

---

[1] ......केणइ कालंतरेण संपत्तो दाहिण महुरं।   [च. म. पु. च., पृ. २०५]

[2] तान् प्रविव्रजिषून्ज्ञात्वा, श्रीनेमिः प्राहिणोन्मुनिम्।
धर्मघोषं चतुर्ज्ञानं, मुनिपञ्चशतीयुतम् ॥६२॥
[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ८, सर्ग १२]

समाचार पाण्डवों ने सुना तो वे सपरिवार मुनि को वन्दन करने गये और उनके उपदेश से आत्मशुद्धि को ही सारभूत समझ कर युधिष्ठिर आदि पांचों भाइयों ने वसुदेव पुत्र जराकुमार[1] को पाण्डव-मथुरा का राज्य दे धर्मघोष के पास श्रमण-दीक्षा स्वीकार की।

महारानी द्रौपदी भी आर्या सुव्रता के पास दीक्षित हो गई।

दीक्षित होने के पश्चात् पांचों पाण्डवों और सती द्रौपदी ने क्रमशः चौदह पूर्व और एकादश अंगों का अध्ययन करने के साथ-साथ बड़ी घोर तपस्याएं कीं। कठोर संयम और तप की तीव्र अग्नि में अपने कर्मसमूह को भस्मसात् करते हुए जिस समय युधिष्ठिर, भीम आदि पांचों पाण्डव-मुनि ग्रामानुग्राम विचरण कर रहे थे उस समय उन्होंने सुना कि अरिहंत अरिष्टनेमि सौराष्ट्र प्रदेश में अनेक भव्य जीवों का उद्धार करते हुए विचर रहे हैं तो पांचों मुनियों के मन में भगवान् के दर्शन एवं वन्दन की तीव्र उत्कण्ठा हुई। उन्होंने अपने गुरु से आज्ञा प्राप्त कर सौराष्ट्र की ओर विहार किया। पांचों मुनि मास, अर्द्धमास की तपस्या करते हुए सौराष्ट्र की ओर बढ़ते हुए एक दिन उज्जयन्तगिरि से १२ योजन दूर हस्तकल्प[2] नगर के बाहर सहस्राम्रवन में ठहरे।

युधिष्ठिर मुनि को उसी स्थान पर छोड़ कर भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव मास-तप के पारण हेतु नगर में भिक्षार्थ गये। भिक्षार्थ घूमते समय उन्होंने सुना कि भगवान् नेमिनाथ उज्जयन्तगिरि पर एक मास की तपस्यापूर्वक ५३५ साधुओं के साथ चार अघाती कर्मों का क्षय कर निर्वाण प्राप्त कर चुके हैं। चारों मुनि यह सुन कर बड़े खिन्न हुए और तत्काल ही सहस्राम्रवन में लौट आये।

युधिष्ठिर के परामर्शानुसार पूर्वगृहीत आहार का परिष्ठापन कर पांचों मुनि शत्रुंजय पर्वत पर पहुँचे और वहां उन्होंने संलेखना की।

अनेक वर्षों की संयम-साधना कर युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव ने २ मास की संलेखना से आराधना कर कैवल्य की उपलब्धि के पश्चात् अजरामर निर्वाण-पद प्राप्त किया।

आर्या द्रौपदी भी अनेक वर्षों तक कठोर संयम-तप की साधना और एक मास की संलेखना में काल कर पंचम कल्प में महर्द्धिक देव-रूप से उत्पन्न हुई।[3]

---

१ (क) जारेयं न्यस्य ते राज्ये........।

[त्रिषष्टि श. पु. च., ८।१२, श्लोक ९३]

(ख) ....सयलसामन्ताणं समत्थिऊण णिवेसियो नियय रज्जे जराकुमारो।

[च. म. पु. च., पृष्ठ २०१]

(ग) ज्ञाता धर्म कथा में पाण्डुसेन को राज्य देने का उल्लेख है।

२ अस्माद् द्वादशयोजनानि स गिरिर्नेमि प्रगे वीक्ष्य तत्.......।

[त्रिषष्टि श. पु. च., ८।१२, श्लो. १२६]

३ ज्ञाता धर्म कथांग १।१६।

धर्म-परिवार

भगवान् अरिष्टनेमि के संघ में निम्न धर्म-परिवार था :-

गणधर एवं गण	–	ग्यारह (११) वरदत्त आदि गणधर एवं ११ ही गण[1]
केवली	–	एक हजार पांच सौ (१५००)
मनःपर्यवज्ञानी	–	एक हजार (१०००)
अवधिज्ञानी	–	एक हजार पांच सौ (१५००)
चौदह पूर्वधारी	–	चार सौ (४००)
वादी	–	आठ सौ (८००)
साधु	–	अठारह हजार (१८०००)
साध्वी	–	चालीस हजार (४००००)
श्रावक	–	एक लाख उन्हत्तर हजार (१६९०००)
श्राविका	–	तीन लाख छत्तीस हजार (३३६०००)
अनुत्तरगति वाले	–	एक हजार छः सौ (१६००)

एक हजार पांच सौ (१५००) श्रमण और तीन हजार (३०००) श्रमणियां, इस प्रकार प्रभु के कुल चार हजार पांच सौ अन्तेवासी सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए।

परिनिर्वाण

कुछ कम सात सौ वर्ष की केवलीचर्या के बाद प्रभु ने जब आयुकाल निकट समझा तो उज्जयंतगिरि पर पांच सौ छत्तीस साधुओं के[2] साथ एक मास का अनशन ग्रहण कर आषाढ़ शुक्ला अष्टमी को चित्रा नक्षत्र के योग में मध्य-रात्रि के समय आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय इन चार अघाति-कर्मों का क्षय कर निषद्या आसन से वे सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हुए। अरिहन्त अरिष्टनेमि तीन सौ वर्ष कुमार अवस्था में रहे, चौवन दिनों तक छद्मस्थ रूप से साधनारत रहे और कुछ कम सात सौ वर्ष केवली रूप में विचरे। इस तरह प्रभु की कुल आयु एक हजार वर्ष की थी।

ऐतिहासिक परिपार्श्व

आधुनिक इतिहासज्ञ भगवान् महावीर और भगवान् पार्श्वनाथ को ही अब तक ऐतिहासिक पुरुष मान रहे थे परन्तु कुछ वर्षों के तटस्थ एवं निष्पक्ष अनुसंधान से यह प्रमाणित हो गया है कि अरिहन्त अरिष्टनेमि भी ऐतिहासिक

---

[1] (क) अरिष्टनेमेरेकादश नेमिनाथस्याष्टादशेति केचिन्मन्यन्ते।
[प्रवचन सारोद्धार, पूर्व भाग, द्वार १५, पृष्ठ ८६ (२)]

(ख) अरहओणं अरिट्ठनेमिस्स अट्ठारस गणा, अट्ठारस गणहरा हुत्था ।।१७५।।
[कल्प० ७ स०]

[2] आव० निर्युक्ति, गाथा ३३० पृ० २१४ प्रथम।

पुरुष थे। प्रसिद्ध कोषकार डॉ० नगेन्द्रनाथ बसु, पुरातत्वज्ञ डॉ० फूहर्र, प्रोफेसर वारनेट, कर्नल टॉड, मिस्टर करवा, डॉ० हरिसन, डॉ० प्राणनाथ विद्यालंकार, डॉ० राधाकृष्णन् आदि अनेक विज्ञों ने धारणा व्यक्त की है कि अरिष्टनेमि एक ऐतिहासिक पुरुष रहे हैं।

ऋग्वेद में अरिष्टनेमि शब्द बार-बार प्रयुक्त हुआ है।[1] महाभारत में तार्क्ष्य शब्द अरिष्टनेमि के पर्यायवाची रूप में प्रयुक्त हुआ है।[2] उन तार्क्ष्य अरिष्टनेमि ने राजा सगर को जो मोक्ष सम्बन्धी उपदेश दिया है[3] उसकी तुलना जैन धर्म के मोक्ष सम्बन्धी मन्तव्यों से की जा सकती है। तार्क्ष्य अरिष्टनेमि ने सगर से कहा – "सगर! संसार में मोक्ष का सुख ही वास्तविक सुख है किन्तु धन, धान्य, पुत्र, कलत्र एवं पशु आदि में आसक्त मूढ़ मनुष्य को इसका यथार्थ ज्ञान नहीं होता। जिसकी बुद्धि विषयों में अनुरक्त एवं मन अशान्त है ऐसे जनों की चिकित्सा अत्यन्त कठिन है। स्नेह-बन्धन में बँधा हुआ मूढ़ मोक्ष पाने के योग्य नहीं हैं।"

ऐतिहासिक दृष्टि से स्पष्ट है कि सगर के समय में वैदिक लोग मोक्ष में विश्वास नहीं करते थे, एतदर्थ यह उपदेश किसी वैदिक ऋषि का नहीं हो सकता। ऋग्वेद में भी तार्क्ष्य अरिष्टनेमि की स्तुति की गई है। इसके लिए विशेष पुष्ट प्रमाण की आवश्यकता है "लंकावतार" के तृतीय परिवर्तन में बुद्ध के अनेक नामों में अरिष्टनेमि का नाम भी आया है। वहां लिखा हैं कि एक ही वस्तु के अनेक नाम होने की तरह बुद्ध के भी असंख्य नाम हैं। लोग इन्हें तथागत, स्वयंभू, नायक, विनायक, परिणायक, बुद्ध, ऋषि, वृषभ, ब्राह्मण, ईश्वर, विष्णु, प्रधान, कपिल, भूतान्त, भास्कर, अरिष्टनेमि आदि नामों से पुकारते हैं। यह उल्लेख इससे पूर्व अरिष्टनेमि का होना प्रमाणित करता है। 'ऋषि-भासित सुत्त' में अरिष्टनेमि और कृष्ण-निरूपित पैंतालीस अध्ययन हैं, उनमें बीस अध्ययनों के प्रत्येक बुद्ध अरिष्टनेमि के तीर्थकाल में हुए थे। उनके द्वारा निरूपित अध्ययन अरिष्टनेमि के अस्तित्व के स्वयंसिद्ध प्रमाण हैं। ऋग्वेद के अतिरिक्त वैदिक साहित्य के अन्यान्य ग्रन्थों में भी अरिष्टनेमि का उल्लेख हुआ है। इतना ही नहीं तीर्थंकर अरिष्टनेमि का प्रभाव भारत के बाहर विदेशों में भी पहुंचा प्रतीत होता है। कर्नल टॉड के शब्द हैं – "मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में चार बुद्ध या मेधावी महापुरुष हुए हैं। उनमें पहले आदिनाथ और दूसरे नेमिनाथ थे। नेमिनाथ ही स्केन्डोनेविया निवासियों के प्रथम "ओडिन" और चीनियों के प्रथम "फो" देवता थे।" धर्मानन्द कौशाम्बी ने घोर आंगिरस को नेमिनाथ माना है।

---

[1] ऋग्वेद: १।१४।८६।६।१।२४।१८०।१०।३।४।५३।१७।१०।१२।१७८।१। मथुरा १९६०

[2] महाभारत का शान्ति पर्व २८८।४।।२८८।५।६।

[3] सगर चक्रवर्ती से भिन्न, यह कोई अन्य राजा सगर होना चाहिए।

प्रसिद्ध इतिहासज्ञ डॉ० राय चौधरी ने अपने "वैष्णव धर्म के प्राचीन इतिहास" में अरिष्टनेमि को कृष्ण का चचेरा भाई लिखा है, किन्तु उन्होंने इससे अधिक जैन ग्रन्थों में वर्णित अरिष्टनेमि के जीवन वृत्तान्त का कोई उल्लेख नहीं किया। इसका कारण यह हो सकता है कि अपने ग्रन्थ में डॉ० राय चौधरी ने कृष्ण के ऐतिहासिक व्यक्ति होने के सम्बन्ध में उपलब्ध प्रमाणों का संकलन किया है। अतः उनकी दृष्टि उसी ओर सीमित रही है।[1]

प्रभास पुराण में भी अरिष्टनेमि और कृष्ण से सम्बन्धित इस प्रकार का उल्लेख है।[2] यजुर्वेद में स्पष्ट उल्लेख है – "अध्यात्मवेद को प्रकट करने वाले संसार के सब जीवों को सब प्रकार से यथार्थ उपदेश देने वाले और जिनके उपदेश से जीवों की आत्मा बलवान् होती है, उन सर्वज्ञ अरिष्टनेमि के लिए आहुति समर्पित है।"[3]

इनके अतिरिक्त अथर्ववेद के मांडुक्य प्रश्न और मुंडक में भी अरिष्टनेमि का नाम आया है।

महाभारत में विष्णु के सहस्र नामों का उल्लेख है। उनमें "शूरः शौरिर्जनेश्वरः" पद व्यवहृत हुआ है।

इन श्लोकों का अन्तिम चरण ध्यान देने योग्य है। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में जयपुर में टोडरमल नामक एक जैन विद्वान् हुए हैं। उन्होंने "मोक्ष मार्ग प्रकाश" नामक अपने ग्रन्थ में 'जनेश्वर' के स्थान पर 'जिनेश्वर' लिखा है। दूसरी बात यह है कि इसमें श्रीकृष्ण को 'शौरिः' लिखा है। आगरा जिले में वटेश्वर के पास शोरिपुर नामक स्थान है। जैन ग्रन्थों के अनुसार आरम्भ में यहीं पर यादवों की राजधानी थी। यहीं से यादवगण भाग कर द्वारिकापुरी पहुंचे थे। यहीं पर भगवान् अरिष्टनेमि का जन्म हुआ था, अतः उन्हें 'शौरि' भी कहा है, और वे जिनेश्वर तो थे ही।

उपर्युक्त तथ्यों से स्पष्ट होता है कि भगवान् अरिष्टनेमि निस्संदेह एक ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। अब तो आजकल के विद्वान् भी उन्हें ऐतिहासिक पुरुष मानने लगे हैं।

वैदिक साहित्य में अरिष्टनेमि और उनका वंश-वर्णन

संसार के प्रायः सभी प्राचीन और अर्वाचीन इतिहासज्ञों का अभिमत है कि श्रीकृष्ण एक ऐतिहासिक महापुरुष हो गये हैं। ऐसी स्थिति में श्रीकृष्ण

---

[1] जैन साहित्य का इतिहास, पूर्व पीठिका, पृ. १७० से।

[2] अशोकस्तारणस्तारः, शूरः शौरिर्जनेश्वरः ॥५०॥
कालनेमिनिहा वीरः शूरः शौरिर्जनेश्वरः ॥८२॥

[3] वाजस्यनु प्रसव बभूवे मा च विश्वा भुवनानि सर्वतः, स नेमिराजा परियाति विद्वान् प्रजां पुष्टिं वर्द्धमानो अस्मै स्वाहा ॥ [वाजसनेयि माध्यंदिन शुक्ल यजुर्वेद संहिता अ० ९ मंत्र २५। यजुर्वेद सातवलेकर संस्करण (वि० सं० १९८४)]

के ताऊ के सुपुत्र भगवान् अरिष्टनेमि को ऐतिहासिक महापुरुष स्वीकार करने में कोई दो राय नहीं हो सकतीं और न इस सम्बन्ध में किसी प्रकार के विवाद की ही गुंजायश रहती है।

फिर भी आज तक यह प्रश्न इतिहासज्ञों के समक्ष अनबूझी पहेली की तरह उपस्थित रहा है कि वैदिक परम्परा के ग्रन्थों में जहां कि यादववंश का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है वहां अरिष्टनेमि का कहीं उल्लेख है अथवा नहीं।

इस प्रहेलिका को हल करने के लिये इतिहास के विद्वानों ने समय-समय पर कई प्रयास किये पर उनकी शोध के केन्द्रबिन्दु संभवतः श्रीमद्भागवत और महाभारत ही रहे अतः इस पहेली के समाधान में उन्हें पर्याप्त सफलता नहीं मिल सकी। फलतः अन्यत्र सूक्ष्म अन्वेषण एवं गहन गवेषणा के अभाव में इस अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथ्य की वास्तविक स्थिति के ज्ञान से संसार को वंचित ही रहना पड़ा।

इस तथ्य के सम्बन्ध में यह धूमिल एवं अस्पष्ट स्थिति हमें बहुत दिनों से खलती रही है। हमने वैदिक परम्परा के अनेक ग्रन्थों में इस पहेली के हल को ढूंढ़ने का अनवरत प्रयास किया और अन्ततोगत्वा वेदव्यास प्रणीत 'हरिवंश' को गहराई से देखा तो यह उलझी हुई गुत्थी स्वतः सुलझ गई और भारतीय इतिहास का एक धूमिल तथ्य स्पष्टतः प्रकट हो गया।

हरिवंश में महाभारतकार वेदव्यास ने श्रीकृष्ण और अरिष्टनेमि का चचेरे भाई होना स्वीकार किया है। इस विषय से सम्बन्धित 'हरिवंश' के मूल श्लोक इस प्रकार हैं :-

बभूवुस्तु यदोः पुत्राः, पंच देवसुतोपमाः।
सहस्रदः पयोदश्च, क्रोष्टा नीलांऽजिकस्तथा ॥१॥

[हरिवंश पर्व १, अध्याय ३३]

अर्थात् महाराज यदु के सहस्रद, पयोद, क्रोष्टा, नील और अंजिक नाम के देवकुमारों के तुल्य पांच पुत्र हुए।

गान्धारी चैव माद्री च, क्रोष्टोर्भार्ये बभूवतुः।
गान्धारी जनयामास, अनमित्रं महाबलम् ॥१॥
माद्री युधाजितं पुत्रं, ततोऽन्यं देवमीढुषम् ॥
तेषां वंशस्त्रिधाभूतो, वृष्णीनां कुलवर्द्धनः ॥२॥

[हरिवंश, पर्व १, अध्याय ३४]

अर्थात् क्रोष्टा की माद्री नाम की दूसरी रानी से युधाजित् और देवमीढुष नामक दो पुत्र हुए।

माद्र्याः पुत्रस्य जज्ञाते, सुतौ वृष्ण्यन्धकावुभौ ।
जज्ञाते तनयौ वृष्णेः, स्वफल्कश्चित्रकस्तथा ।।३।।

[वही]

क्रोष्टा के बड़े पुत्र युधाजित् के वृष्णि और अन्धक नामक दो पुत्र हुए। वृष्णि के दो पुत्र हुए, एक का नाम स्वफल्क और दूसरे का नाम चित्रक था।

....।

अक्रूरः सुषुवे तस्माच्छ्वफल्काद् भूरिदक्षिणः ।।११।।

अर्थात् स्वफल्क के अक्रूर नामक महादानी पुत्र हुए।

चित्रकस्याभवन् पुत्राः, पृथुर्विपृथुरेव च ।
अश्वग्रीवोऽश्वबाहुश्च, सुपार्श्वकगवेषणौ ।।१५।।
अरिष्टनेमिरश्वश्च, सुधर्माधर्मभृत्तथा ।
सुबाहुर्बहुबाहुश्च, श्रविष्ठाश्रवणे स्त्रियौ ।।१६।।

[हरिवंश, पर्व १, अध्याय ३४]

चित्रक के पृथु,[1] विपृथु, अश्वग्रीव, अश्वबाहु, सुपार्श्वक, गवेषण, अरिष्टनेमि, अश्व, सुधर्मा, धर्मभृत्, सुबाहु और बहुबाहु नामक बारह पुत्र तथा श्रविष्ठा व श्रवणा नाम की दो पुत्रियां हुईं।

श्री अरिष्टनेमि के वंशवर्णन के साथ-साथ श्रीकृष्ण के वंश का वर्णन भी 'हरिवंश' में वेदव्यास ने इस प्रकार किया है :

अश्मक्यां जनयामास, शूरं वै देवमीढुषः ।
महिष्यां जज्ञिरे शूराद्, भोज्यायां पुरुषा दश ।।१७।।
वसुदेवो महाबाहु पूर्वमानकदुंदुभिः ।
....।।१८।।
देवभागस्ततो जज्ञे, तथा देवश्रवा पुनः ।
अनाधृष्टि कनवको, वत्सवानथ गृंजिमः ।।२१।।
श्यामः शमीको गण्डूषः, पंच चास्य वरांगनाः ।
पृथुकीर्ति पृथा चैव, श्रुतदेवा श्रुतश्रवाः ।।२२।।
राजाधिदेवी च तथा, पंचैते वीरमातरः ।
....।।२३।।

[हरिवंश, पर्व १, अ० ३४]

[1] श्रीमद्भागवत में वृष्णि के दो पुत्रों का नाम स्वफल्क और चित्ररथ (चित्रक) दिया है। चित्ररथ (चित्रक) के पुत्रों का नाम देते हुए 'पृथुर्विपृथु धन्याद्याः' दूसरे पाठ में 'पृथुर्विदूरथाद्याश्च' इतना ही उल्लेख कर केवल तीन और दो पुत्रों के नाम देने के पश्चात् आदि-आदि लिख दिया है।

[श्रीमद्भागवत, नवम स्कन्ध, अ० २४, श्लोक १८]

वसुदेवाच्च देवक्यां, जज्ञे शौरि महायशाः ।
.... ॥७॥

[हरिवंश, पर्व १, अ० ३५]

अर्थात् यदु के क्रोष्टा, क्रोष्टा के दूसरे पुत्र देवमीढुष के पुत्र शूर तथा शूर के वसुदेव आदि दश पुत्र तथा पृथुकीर्ति आदि पांच पुत्रियां हुईं। वसुदेव की देवकी नाम की रानी से श्रीकृष्ण का जन्म हुआ।

इस प्रकार वैदिक परम्परा के मान्य ग्रन्थ 'हरिवंश' में दिये गये यादववंश के वर्णन से भी यह सिद्ध होता है कि श्रीकृष्ण और श्री अरिष्टनेमि चचेरे भाई थे और दोनों के परदादा युधाजित् और देवमीढुष सहोदर थे।

दोनों परम्पराओं में अन्तर इतना ही है कि जैन परम्परा के साहित्य में अरिष्टनेमि के पिता समुद्रविजय को वसुदेव का बड़ा सहोदर माना गया है; जब कि 'हरिवंश पुराण' में चित्रक और वसुदेव को चचेरे भाई माना है। संभव है कि चित्रक (श्रीमद्भागवत के अनुसार चित्ररथ) समुद्रविजय का ही अपर नाम रहा हो।

पर दोनों परम्पराओं में श्री अरिष्टनेमि और श्रीकृष्ण को चचेरे भाई मानने में कोई दो राय नहीं हैं।

दोनों परम्पराओं के नामों की असमानता लम्बे अतीत में हुए ईति, भीति, दुष्काल, अनेकों घोर युद्ध, गृह-कलह, विदेशी आक्रमण आदि अनेक कारणों से हो सकती है।

किन्तु जैन साहित्य ने तीर्थंकरों के सम्बन्ध में जो विवरण आगमों और इतिहास-ग्रन्थों में संजोये रखा है, उसे प्रामाणिक मानने में कोई संदेह की गुंजायश नहीं रहती।

इतना ही नहीं 'हरिवंश' में श्रीकृष्ण की प्रमुख महारानी सत्यभामा की मझली बहिन व्रतिनी-दृढ़व्रता का भी उल्लेख है[1], जिसके विवाह होने का वहां कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। दृढ़व्रता, इस गुण-निष्पन्न नाम से सम्भव है कि वह राजीमती के लिये ही संकेत हो, कारण कि राजीमती से बढ़कर व्रतिनी अथवा दृढ़व्रता उस समय के कन्यारत्नों में और कौन हो सकती है जिसने केवल वाग्दत्ता होते हुए भी तोरण से अपने वर के लौट जाने पर आजीवन अविवाहित रहने का प्रण कर दृढ़ता के साथ महाव्रतों का पालन किया।

इतिहासप्रेमियों के विचारार्थ व पाठकों की सुविधा के लिये श्रीकृष्ण व श्री अरिष्टनेमि से सम्बन्धित यदुकुल के तुलनात्मक वंशवृक्ष यहां दिये जा रहे हैं।

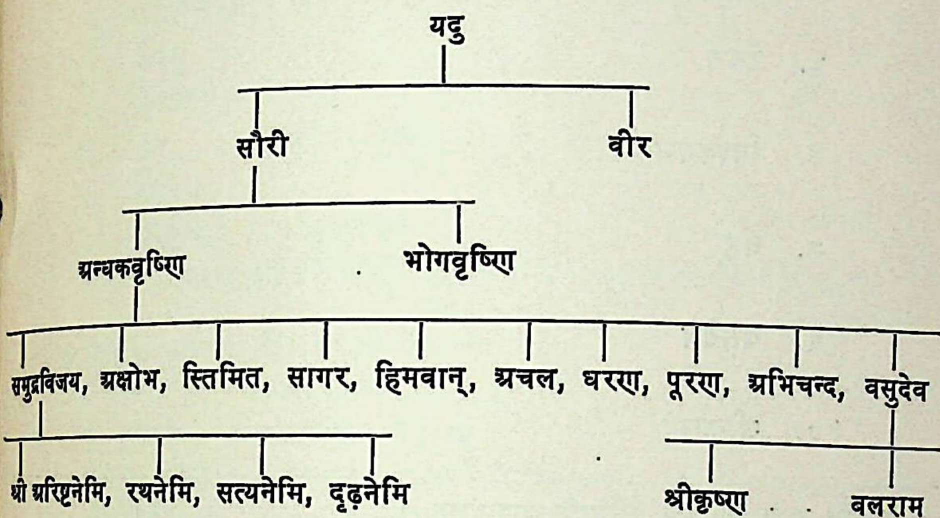
---

[1] सत्यभामोत्तमा स्त्रीणां, व्रतिनी च दृढ़व्रता।

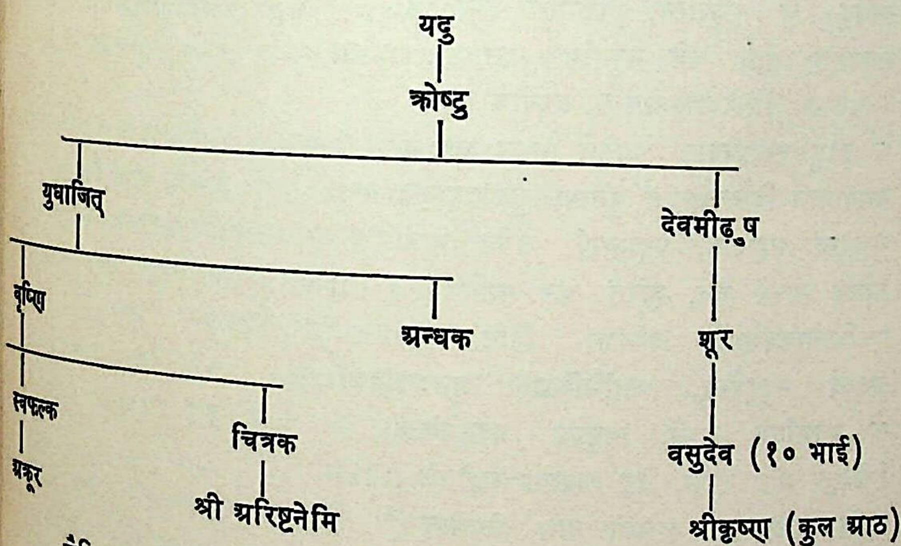
[हरिवंश पर्व, अ० ३८, श्लोक ४०]

भगवान् अरिष्टनेमि और श्रीकृष्ण के जैन व वैदिक परम्परा के अनुसार वंशवृक्ष :—

जैन परम्परा



वैदिक परम्परा



वैदिक परम्परा की ही दूसरी मान्यता के अनुसार यादव वंशवृक्ष :—

हर्यश्व

१. यदु

२. माधव

३. सत्वत

४. भीम
|
५. अन्धक
|
६. रैवत
|
७. विश्वगर्भ
|
८. वसु
|
९. वसुदेव
|
१०. श्रीकृष्ण[१]

---

[१] आसीद् राजा मनोर्वंशे, श्रीमानिक्ष्वाकुसंभवः ।
हर्यश्व इति विख्यातो, महेन्द्रसम विक्रमः ।।१२।।
तस्यैव च सुवृत्तस्य, पुत्रकामस्य धीमतः ।
मधुमत्यां सुतो जज्ञे, यदुर्नाम महायशाः ।।४४।।
[हरिवंश, पर्व २, अध्याय ३७]
स तासु नागकन्यासु, कालेन महता नृपः ।
जनयामास विक्रान्तान्पंच पुत्रान् कुलोद्वहान् ।। १ ।।
मुचुकुन्दं महाबाहुं, पद्मवर्णं तथैव च ।
माधवं सारसं चैव, हरितं चैव पार्थिवम् ।। २ ।।
एवमिक्ष्वाकुवंशात्तु यदुवंशो विनिःसृतः ।
चतुर्धा यदुपुत्रैस्तु, चतुर्भिर्भिद्यते पुनः ।।३५।।
स यदुर्माधवे राज्यं, विसृज्य यदुपुंगवे ।
त्रिविष्टपं गतो राजा, देहं त्यक्त्वा महीतले ।।३६।।
बभूव माधवसुतः सत्वतो नाम वीर्यवान् ।
.... ।।३७।।
सत्वतस्य सुतो राजा, भीमो नाम महानभूत् ।
.... ।।३८।।
.... ।
अन्धको नाम भीमस्य, सुतो राज्यमकारयत् ।।४३।।
अन्धकस्य सुतो जज्ञे, रैवतो नाम पार्थिवः ।
ऋक्षोऽपि रैवतान्जज्ञे, रम्ये पर्वतमूर्धनि ।।४४।।
रैवतस्यात्मजो राजा, विश्वगर्भो महायशाः ।
बभूव पृथिवीपालः पृथिव्यां प्रथितः प्रभुः ।।४६।।

वैदिक परम्परा की ही तीसरी मान्यता के अनुसार यादव वंशवृक्ष[1]

१. यदु
२. क्रोष्टा
३. वृजिनिवान्
४. उषंगु
५. चित्ररथ
६. शूर ...(छोटा पुत्र)
७. वसुदेव
८. श्रीकृष्ण ...(वासुदेव)

वैदिक परम्परा की ही चौथी मान्यता के अनुसार यादव वंशवृक्ष[2]

तस्य तिसृषु भार्यासु, दिव्यरूपासु केशवः ।
चत्वारो जज्ञिरे पुत्रा, लोकपालोपमाः शुभाः ।।४७।।
वसुर्वभ्रुः सुषेणश्च, सभाक्षश्चैव वीर्यवान् ।
यदु प्रवीराः प्रख्याता, लोकपाला इवापरे ।।४८।।
वसोस्तु कुन्ति विषये, वसुदेवः सुतो विभुः ।
.... ।।५०।।
एष 'ते स्वस्य वंशस्य, प्रभवः संप्रकीर्तितः ।
श्रुतो मया पुरा कृष्ण, कृष्णद्वैपायनान्तिकात् ।।५२।।

[हरिवंश, पर्व २, अध्याय ३८]

[1] बुधात् पुरुरवश्चापि, तस्मादायुर्भविष्यति ।
नहुषो भविता तस्माद्, ययातिस्तस्य चात्मजः ।।२७।।
यदुस्तस्मान्महासत्वाः, क्रोष्टा तस्माद् भविष्यति ।
क्रोष्टुश्चैव महान् पुत्रो, वृजिनिवान् भविष्यति ।।२८।।
वृजिनिवतश्च भविता उषंगुरपराजितः ।
उषंगोर्भविता पुत्रः, शूरश्चित्ररथस्तथा ।।२९।।
तस्य त्ववरजः पुत्रः शूरो नाम भविष्यति ।
.... ।।३०।।
स शूरः क्षत्रियश्रेष्ठो, महावीर्यो महायशाः ।
स्ववंश विस्तरकरं, जनयिष्यति मानदः ।।३१।।
वसुदेव इति ख्यातं, पुत्रमानकदुन्दुभिम् ।
तस्य पुत्रश्चतुर्बाहुर्वासुदेवो भविष्यति ।।३२।।

[महाभारत, अनुशासन पर्व, अध्याय १४७]

[2] ययातेर्देवयान्यां तु, यदुर्ज्येष्ठोऽभवत् सुतः ।
यदोरभूदन्ववाये, देवमीढ़ इति स्मृतः ।। ६ ।।
यादवस्तस्य तु सुतः, शूरस्त्रैलोक्यसम्मतः ।
शूरस्य शौरिर्नृवरो, वसुदेवो महायशाः ।। ७ ।।

[महाभारत, द्रोणपर्व, अध्याय १४४]

१. यदु
२. ... (इनके वंश में देवमीढ़ नाम से विख्यात एक यादव हो गये हैं)[1]
३. देवमीढ़
४. शूर
५. वसुदेव
६. श्रीकृष्ण

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती

भगवान् अरिष्टनेमि के निर्वाण के पश्चात् और भगवान् पार्श्वनाथ के जन्म से पूर्व के मध्यकाल में अर्थात् भगवान् अरिष्टनेमि के धर्म-शासन में इस अवसर्पिणी काल का भारतवर्ष का अन्तिम चक्रवर्ती सम्राट् ब्रह्मदत्त हुआ। ब्रह्मदत्त का जीवन एक ओर अमावस्या की दुखद, बीभत्स अन्धेरी रात्रि की तरह भीषण दुःखों से भरपूर; और दूसरी ओर शरद पूर्णिमा की सुखद सुहावनी चटक-चांदनी से भरी हुई रात्रि की तरह सांसारिक सुखों से ओतप्रोत रहा। इसके साथ ही साथ ब्रह्मदत्त के चक्रवर्ती-जीवन के बाद के एवं पहले के भव दारुण से दारुणतम दुःखों के केन्द्र रहे।

ब्रह्मदत्त के ये भव भीषण भवाटवी के और भवभ्रमण की भयावहता के वास्तविक चित्र प्रस्तुत करते हैं। उनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है:-

काम्पिल्य नगर के पांचालपति ब्रह्म की महारानी चुलनी ने गर्भधारण के पश्चात् चक्रवर्ती के शुभजन्मसूचक चौदह महास्वप्न देखे। समय पर महारानी चुलनी ने तपाये हुए सोने के समान कान्ति वाले परम तेजस्वी पुत्ररत्न को जन्म दिया।

ब्रह्म नृपति को इस सुन्दर-तेजस्वी पुत्र का मुख देखते ही ब्रह्म में रमण (आत्मरमण) के समान परम आनन्द की अनुभूति हुई इसलिये बालक का नाम ब्रह्मदत्त रखा गया। माता-पिता और स्वजनों को अपनी बाललीलाओं में आनन्दित करता हुआ बालक ब्रह्मदत्त शुक्लपक्ष की द्वितीया के चन्द्र की तरह बढ़ने लगा।

काशी-नरेश कटक, हस्तिनापुर के राजा कणेरुदत्त, कोशलेश्वर दीर्घ और चम्पापति पुष्पचूलक ये चार नरेश्वर काम्पिल्याधिपति ब्रह्म के अन्तरंग मित्र थे। इन पांचों मित्रों में इतना घनिष्ठ प्रेम था कि वे पांचों राज्यों की राजधानियों में क्रमशः एक-एक वर्ष साथ ही रहा करते थे। निश्चित क्रम के अनुसार वे पांचों मित्र वर्षभर साथ-साथ रहने के लिये काम्पिल्यपुर में एकत्रित हुए। आमोद-प्रमोद के साथ पांचों मित्रों को काम्पिल्यपुर में रहते हुए काफी समय बीत गया।

[1] इससे यह प्रतीत होता है कि सम्भवतः यहां एक, दो या इससे अधिक भी कुछ राजाओं का नामोल्लेख नहीं किया गया है। [सम्पादक]

एक दिन अचानक ही महाराजा ब्रह्म का देहावसान हो गया। शोक सन्तप्त परिजन, पुरजन और काशीपति आदि चारों मित्र राजाओं ने ब्रह्म का अन्त्येष्टि-संस्कार किया। उस समय ब्रह्मदत्त की आयु केवल बारह वर्ष की थी अतः काशीपति आदि चारों नृपतियों ने मन्त्रणा कर यह निश्चय किया कि जब तक ब्रह्मदत्त युवा नहीं हो जाय तब तक एक-एक वर्ष के लिये उन चारों मित्रों में से एक नरेश काम्पिल्यपुर में ब्रह्मदत्त का और काम्पिल्य के राज्य का प्रहरी की तरह संरक्षक बन कर रहे।

इस सर्वसम्मत निर्णय के अनुसार प्रथम वर्ष के लिये कोशलनरेश दीर्घ को ब्रह्मदत्त और उसके राज्य का संरक्षक नियुक्त किया गया और शेष तीनों राजा अपनी २ राजधानी को लौट गये।

कोशलपति दीर्घ बड़ा विश्वासघातक निकला। शनैःशनैः उसने न केवल काम्पिल्य के कोष और राज्य पर ही अपना कब्जा किया अपितु अपने दिवंगत मित्र की पत्नी चुलना को भी कामवासना के जाल में फँसा कर अपना मुंह काला कर लिया और कोशल एवं काम्पिल्य के यशस्वी राजवंशों के उज्ज्वल भाल पर कलंक का काला टीका लगा दिया।

कुलशील को तिलांजलि दे दीर्घ और चुलना यथेप्सित कामकेलि करते हुए एक दूसरे पर पूर्ण आसक्त हो व्यभिचार के घृणित गर्त में गहरे डूबते गये।

चतुर प्रधानामात्य धनु उन दोनों के पापपूर्ण आचरण से बड़ा चिन्तित हुआ। उसने यह सोचकर कि ये दोनों कामवासना के कीट किसी भी समय बालक ब्रह्मदत्त के प्राणों के ग्राहक बन सकते हैं। अतः उसने अपने पुत्र वरधनु के माध्यम से कुमार ब्रह्मदत्त को पूर्ण सतर्क रहने की सलाह दी और अपने पुत्र को अहर्निश कुमार के साथ रहने की आज्ञा दी।

मन्त्री-पुत्र वरधनु से अपनी माता के व्यभिचारिणी होने की बात सुनकर ब्रह्मदत्त वज्राहत सा तिलमिला उठा। सिंह-शावक की तरह अत्यन्त क्रुद्ध हो वह गुर्राने लगा। एक कोकिल और काक को साथ-साथ बांध कर दीर्घ और चेलना के केलिसदन के द्वार पर जाकर बड़ी क्रोधपूर्ण मुद्रा में ब्रह्मदत्त बार-बार तीव्र स्वर में कहने लगा – "ओ नीच कौए! तेरी यह धृष्टता कि इस कोकिल के साथ केलि कर रहा है? तुम दोनों का प्राणान्त कर मैं तुम्हारी इस दुष्टता का दण्ड दूंगा।"

कुमार की इस आक्रोशपूर्ण व्याजोक्ति को सुनकर दीर्घ उसके अन्तर्द्वन्द्व को भांप गया। उसने चुलना से कहा – "देखा प्रिये! यह कुमार मुझे कौआ और तुम्हें कोकिल बताकर हम दोनों को मारने की धमकी दे रहा है?"

कामासक्ता चुलना ने यह कह कर बात टाल दी – "यह अभी निरा बालक है इसकी बालचेष्टाओं से तुम्हें नहीं डरना चाहिये।"

बालक ब्रह्मदत्त के अन्तर में दीर्घ और अपनी माता के पापाचार के प्रति विद्रोह का ज्वालामुखी फट चुका था। वह बालक बालकेलियों को भूल रात-दिन उन दोनों को उनके दुराचार के लिये येन-केन-प्रकारेण सबक सिखाने की उधेड़-बुन में लग गया।

दूसरे दिन ब्रह्मदत्त एक राजहंसिनी और बगुले को साथ-साथ बांध कर दीर्घ और चुलना को दिखाते हुए आक्रोश भरे तीव्र स्वर में बार-बार कहने लगा-"यह महा अधम बगुला इस राजहंसिनी के साथ सहवास कर रहा है। इस निकृष्ट पापाचार को कोई भी कैसे सहन कर सकता है ? मैं इन्हें अवश्य ही मौत के घाट उतारूंगा।"

कुमार ब्रह्मदत्त के इस इंगित और आक्रोशपूर्ण उद्गारों को सुनकर दीर्घ को पूर्ण विश्वास हो गया कि ब्रह्मदत्त की ये चेष्टाएँ केवल बालचेष्टाएं नहीं हैं, वरन् उसके अन्तर में प्रतिशोध की भीषण ज्वालाएं भभक उठी हैं। उसने चुलना से कहा – "देवि ! देख रही हो तुम्हारे इस पुत्र की करतूतें ? यह तुम्हें हंसिनी और मुझे बगुला समझ कर हम दोनों को मारने का दृढ़ संकल्प कर चुका है। यह थोड़ा बड़ा हुआ नहीं कि हम दोनों का बड़ा प्रबल शत्रु और घातक हो जायगा। यह निश्चित समझो कि तुम्हारी मृत्यु के लिए साक्षात् काल ही तुम्हारे पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ है। अतः तुम्हारा और मेरा इसी में हित है कि राजसिंहासनारूढ़ होने से पहले ही इस जहरीले काले नाग को कुचल दिया जाय। हम दोनों का वियोग नहीं होगा तो तुम और भी पुत्रों को जन्म दे सकोगी। अतः इस प्राणहारी पुत्र-मोह का परित्याग कर इसका प्राणान्त कर दो।"

अन्त में कामान्धा चुलना पिशाचिनी की तरह अपने पुत्र के प्राणों की प्यासी हो गई। लोकापवाद से बचने के लिये उन दोनों ने कुमार ब्रह्मदत्त का विवाह कर सुहागरात्रि के समय वर-वधू को लाक्षागृह में सुलाकर भस्मसात् कर डालने का षड्यन्त्र रचा।

ब्रह्मदत्त के लिये उसके मातुल पुष्पचूल नृपति की पुत्री पुष्पवती को वाग्दान में प्राप्त किया गया और विवाह की बड़ी तेजी के साथ तैयारियां होने लगीं।

प्रधानामात्य धनु पूर्ण सतर्क था और रात दिन दीर्घ और चुलना की हर गतिविधि पर पूरा-पूरा ध्यान रखता था। उसने इस गुप्त षड्यंत्र का पता लगा लिया और वर-वधू के प्राणों की रक्षा का उपाय सोचने लगा।

उसने दीर्घ नृपति से बड़ी नम्रतापूर्वक निवेदन किया – "महाराज ! मेरा पुत्र प्रधानामात्य के पदभार को सम्भालने के पूर्ण योग्य हो चुका है और मैं जरा-ग्रस्त हो जाने के कारण राज्य-संचालन के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्यों में भी अब अपेक्षित तत्परता से दौड़धूप करने में असमर्थ हूँ। मैं अब दान-धर्मादि पुण्य कार्यों में अपना शेष जीवन व्यतीत करना चाहता हूँ। अतः प्रार्थना है कि मुझे प्रधानामात्य के कार्यभार से कृपा कर मुक्त कीजिये।"

कुटिल दीर्घ ने सोचा कि यदि इस प्रत्युत्पन्नमती, अनुभवी, राजनीति-निष्णात को राज-कार्यों से अवकाश दे दिया गया तो यह कोई न कोई अचिन्त्य उत्पात खड़ा कर मेरी सभी दुरभिसन्धियों को चौपट कर देगा।

उसने प्रकट में बड़े मधुर स्वर में कहा – "मन्त्रिवर ! आप जैसे विलक्षण बुद्धि वाले योग्य मंत्री के बिना तो हमारा राज्य एक दिन भी नहीं चल सकता क्योंकि आप ही तो इस राज्य की धुरी हैं। कृपया आप मंत्रिपद पर बने रहकर दान आदि धार्मिक कृत्य करते रहिये।"

चतुर प्रधान मंत्री धनु ने दीर्घ के प्रति पूर्ण स्वामिभक्ति का प्रदर्शन करते हुए अंजलिबद्ध हो उसकी आज्ञा को शिरोधार्य किया और गंगा नदी के तट पर विशाल यज्ञमण्डप का निर्माण करवाया। राज्य के सम्पूर्ण कार्यों को देखते हुए उसने गंगातट पर अन्नदान का महान् यज्ञ प्रारम्भ किया। वह यज्ञमण्डप में प्रतिदिन हजारों लोगों को अन्न-पानादि से तृप्त करने लगा।

इस अन्नयाग के व्याज से उसने अपने विश्वस्त पुरुषों द्वारा बड़ी तेजी से यज्ञमण्डप से लाक्षागृह तक एक सुरंग का निर्माण करवा लिया और अपने गुप्तचर के द्वारा पुष्पचूल को दीर्घ और चुलना के भीषण षड्यंत्र से अवगत करा बड़ी चतुराई से चाल चलने की सलाह दी।

विवाह की तिथि से पूर्व ही कन्यादान की विपुल बहुमूल्य सामग्री के साथ बड़े समारोहपूर्वक कन्या काम्पिल्य नगर के राज-प्रासाद में पहुँच गई।

अपूर्व महोत्सव और बड़ी धूमधाम के साथ ब्रह्मदत्त का विवाह सम्पन्न हुआ। सुहागरात्रि के लिये देवमन्दिर की तरह सजाये गये लाक्षागृह में वर-वधू को पहुँचा दिया गया।

स्वच्छन्द विषयानन्द लूटने के लोभ में कामान्ध बनी माँ ने अपने पुत्र को और अपनी समझ में अपने सहोदर की पुत्री को मौत के मुंह में ढकेल कर –

ऋणकर्त्ता पिता शत्रुः, माता च व्यभिचारिणी।
भार्या रूपवती शत्रुः, पुत्रः शत्रुरपण्डितः॥

इस सनातन नीति-श्लोक के द्वितीय चरण को चरितार्थ कर दिया।

मन्त्री-पुत्र वरधनु भी शरीर की छाया की तरह राजकुमार के साथ ही उस लाक्षागृह में प्रविष्ट हो गया।

धनु की दूरदर्शिता और नीति-निपुणता के कारण किसी को किंचित्मात्र भी शंका करने का अवसर नहीं मिला कि वधू वास्तव में राजा पुष्पचूल की पुत्री पुष्पवती नहीं, अपितु उसी के समान स्वरूप वाली सर्वतो अनुरूपिणी दासीपुत्री है।

अन्त में अर्द्धरात्रि के समय दीर्घ और चुलना की दुरभिसन्धि को कार्यरूप में परिणत किया गया। लाक्षागृह लपलपाती हुई लाल लाल ज्वाल-मालाओं का गगनचुम्बी शिखर सा बन गया।

ब्रह्मदत्त वरधनु द्वारा सारी स्थिति से अवगत हो उसके साथ सुरंग-द्वार में प्रवेश कर गंगातट के यज्ञमण्डप में जा पहुँचा। तीव्र गति वाले सजे-सजाये दो घोड़ों पर ब्रह्मदत्त एवं वरधनु को बैठा अज्ञात सुदूर प्रदेश के लिये उन्हें विदा कर प्रधानामात्य धनु स्वयं भी किसी निरापद स्थान की ओर पलायन कर गया।

जो अतीत में बड़े लाड़-प्यार से राजसी ठाट-बाट में पला और जो भविष्य में सम्पूर्ण भारतवर्ष के समस्त छहों खण्डों की प्रजा का पालक प्रतापी चक्रवर्ती सम्राट् बनने वाला है वही ब्रह्मदत्त अपने प्राणों को बचाने के लिये घने, भयावने, अगम्य अरण्यों में अर्द्धरात्रि में अनाथ की तरह अज्ञात स्थान की ओर अन्धाधुन्ध भागा जा रहा था।

पवन-वेग से निरन्तर सरपट भागते हुए घोड़ों ने काम्पिल्यपुर को पचास योजन पीछे छोड़ दिया पर अनवरत तीव्र गति से इतनी लम्बी दौड़ के कारण दोनों घोड़ों के फेफड़े फट गये और वे धराशायी हो चिरनिद्रा में सो गये।

ब्रह्मदत्त और वरधनु ने अब तक पराये पैरों पर भाग कर पचास योजन पथ पार किया था। अब वे अपने प्राणों को बचाने के लिये अपने पैरों के बल बेतहाशा भागने लगे। भागते-भागते उनके श्वास फूल गये फिर भी क्योंकि अपने प्राण सबको अति प्रिय हैं अतः वे भागते ही रहे। अन्ततोगत्वा वे बड़ी कठिनाई से कोष्ठक नामक ग्राम के पास पहुँचे।

वरधनु गाँव में पहुँचा और एक हज्जाम को साथ लिये लौटा। ब्रह्मदत्त ने नाई से अपना सिर मुण्डित करवा काला परिधान पहन महान् पुण्य और प्रताप के द्योतक श्रीवत्स चिह्न को ढंक लिया। वरधनु ने उसके गले में अपना यज्ञोपवीत डाल दिया।

इस तरह वेश बदलकर वे ग्राम में घुसे। एक ब्राह्मण उन्हें अपने घर ले गया और बड़े सम्मान एवं प्रेम के साथ उन्हें भोजन करवाया।

भोजनोपरान्त गृहस्वामिनी ब्राह्मणी ब्रह्मदत्त के मस्तक पर अक्षतों की वर्षा करती हुई अपनी परम सुन्दरी पुत्री को साथ लिये ब्रह्मदत्त के सम्मुख हाथ जोड़े खड़ी हो गई। दोनों मित्र एक-दूसरे का मुँह देखते ही रह गये।

वरधनु ने कृत्रिम आश्चर्यद्योतक स्वर में कहा – "देवि! इस अनाड़ी भिक्षुक को अप्सरा सी अपनी यह कन्या देकर क्यों गजब ढा रही हो! तुम्हारा यह कृत्य तो गौ को भेड़िये के गले में बांधने के समान मूर्खतापूर्ण है।"

गृहस्वामी ब्राह्मण ने उत्तर दिया – "सौम्य! भस्मी रमा लेने से भी कहीं भाग्य छुपाया जा सकता है? मेरी इस सर्वोत्तम गुण-सम्पन्न पुत्री बन्धुमती का पति इन पुण्यशाली कुमार के अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकता क्योंकि इस कन्या के चक्रवर्ती की पत्नी होने का योग है। निमित्तज्ञों ने मुझे इस कन्या के वर की जो पहिचान बताई है उस महाभाग को मैंने आज सौभाग्य से प्राप्त कर

लिया है। उन्होंने जो पहिचान बताई वह भी मैं आपको बताए देता हूं। निष्णात निमित्तज्ञों ने मुझे कहा था कि जो व्यक्ति अपने 'श्रीवत्स चिह्न' को वस्त्र से छुपाये हुए तुम्हारे घर आकर भोजन करे उसी के साथ इस कन्या का विवाह कर देना। यह देखिये वस्त्र से ढका होने पर भी यह श्रीवत्स का चिह्न चमक रहा है।"

दोनों मित्र आश्चर्यचकित हो गये। ब्रह्मदत्त का बन्धुमती के साथ विवाह हो गया। प्रलयानिल के दारुण दुखद अन्धड़ में उड़ने के पश्चात् मानो ब्रह्मदत्त ने मादक मन्द मलयानिल के मधुर झोंके का अनुभव किया, दम घोंट देने वाले दुखों की कालरात्रि के पश्चात् मानो पूर्णिमा की सुखद श्वेत चांदनी उसकी आंखों के समक्ष थिरक उठी। एक रात्रि के सुख के बाद फिर दुख का दरिया।

दिनमणि के उदय होते-होते दीर्घराज के दुख ने उसे फिर आ धर दबाया। दोनों कोष्ठक ग्राम से भागे पर देखा कि दीर्घ के सैनिक दानवों की तरह सब रास्तों को रोके खड़े हैं। यह देख दोनों मित्र वन्य मृगों की तरह प्राण बचाने के लिए घने वनों की झाड़ियों में छुपते हुए भाग रहे थे। उस समय 'छिद्रेष्वनर्था: बहुली भवन्ति' इस उक्ति के अनुसार ब्रह्मदत्त को जोर की प्यास लगी और मारे प्यास के उसके प्राण-पंखेरू उड़ने लगे।

ब्रह्मदत्त ने एक वृक्ष की ओट में बैठते हुए कहा – "वरधनु ! मारे प्यास के अब एक डग भी नहीं चला जाता। कहीं न कहीं से शीघ्र ही पानी लाओ।"

वरधनु "अभी लाया", कह कर पानी लाने दौड़ा। वह पानी लेकर लौट ही रहा था कि दीर्घराज के घुड़सवारों ने उसे आ घेरा और "कहां है ब्रह्मदत्त ? बता कहां है ब्रह्मदत्त ?" कहते हुए वरधनु को निर्दयतापूर्वक पीटने लगे।

ब्रह्मदत्त ने देखा, पिटा जाता हुआ वरधनु उसे भाग जाने का संकेत कर रहा है। घोर दारुण दुखों से पीड़ित प्यासे ब्रह्मदत्त ने देखा उसके प्राणों के प्यासे दुष्ट दीर्घ के सैनिक यमदूत की तरह उसके सिर पर खड़े हैं। वह घने वृक्षों और झाड़ियों की ओट में घुस कर भागने लगा। कांटों से बिंध कर उसका सारा शरीर लहूलुहान हो गया, प्यास से पीड़ित, प्राणों के भय से पीड़ित, प्रिय साथी के करालकाल के गाल में पड़ जाने के शोक से पीड़ित, अथक थकान से केवल पांव ही नहीं रोम-रोम पीड़ित, कोई पारावार ही नहीं था पीड़ाओं का, फिर भी प्राणों के जाने के भय से भयभीत भागा ही चला जा रहा था ब्रह्मदत्त – क्योंकि प्राण सबको अत्यन्त प्यारे हैं।

जब निरन्तर तीन दिन तक भागते २ दुख और पीड़ा चरम सीमा तक पहुंच चुके तो परिवर्तन अवश्यंभावी था।

अत्यन्त दुखी अवस्था में पहुंचे ब्रह्मदत्त ने वन में एक तापस को देखा। वह उसे अपने आश्रम में कुलपति के पास ले गया।

कुलपति ने ब्रह्मदत्त के धूलिधूसरित तन की तेजस्विता और वक्ष:स्थल पर श्रीवत्स का लांछन देख साश्चर्य उससे उस दशा में वन में आने का कारण पूछा।

ब्रह्मदत्त से सारा वृत्तान्त सुनते ही आश्रम के कुलपति ने उसे अपने हृदय से लगाते हुए कहा – "कुमार ! तुम्हारे पिता महाराज ब्रह्म मेरे बड़े भाई के तुल्य थे। इस आश्रम को तुम अपना घर ही समझो और बड़े आनन्द से यहां रहो।"

ब्रह्मदत्त वहां रहता हुआ कुलपति के पास विद्याध्ययन करने लगा। कुलपति ने कुशाग्रबुद्धि ब्रह्मदत्त को सब प्रकार की शस्त्रास्त्र विद्याओं का अध्ययन कराया और उसे धनुर्वेद, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र व वेद-वेदांग का पारंगत विद्वान् बना दिया।

अब वह प्रलम्ब बाहु, उन्नत तेजस्वी भाल, विशाल वक्ष, वृषस्कन्ध, पुष्ट-मांसल पेशियों से शरीर की सात धनुष ऊंचाई वाला पूर्ण युवा हो चुका था। उसके रोम-रोम से तेज और ओज टपकने लगे।

एक दिन ब्रह्मदत्त कुछ तपस्वियों के साथ कन्द, मूल, फल-फूलादि लेने जंगल में निकल पड़ा। वन में प्रकृति-सौन्दर्य का निरीक्षण करते हुए उसने हाथी के तुरंत के पद-चिह्न देखे। यौवन का मद उस पर छा गया। हाथी को छकाने के लिए उसके भुजदण्ड फड़क उठे। तापसों द्वारा मना किये जाने पर भी हाथी के पद-चिह्नों का अनुसरण करता हुआ वह उन तपस्वियों से बहुत दूर निकल गया।

अन्ततोगत्वा उसने अपनी सूंड से एक वृक्ष को उखाड़ते हुए मदोन्मत्त जंगली हाथी को देखा और उससे जा भिड़ा। हाथी क्रोध से चिंघाड़ता हुआ ब्रह्मदत्त पर झपटा। ब्रह्मदत्त ने अपने ऊपर लपकते हुए हाथी के सामने अपना उत्तरीय फेंका और ज्योंही हाथी अपनी सूंड ऊंची किये हुए उस वस्त्र की ओर दौड़ा त्योंही ब्रह्मदत्त अवसर देख उछला और हाथी के दांतों पर पैर रख पीठ पर सवार हो गया।

इस प्रकार हाथी से वह बड़ी देर तक क्रीड़ाएं करता रहा। उसी समय काली मेघ-घटाएं घुमड़ पड़ीं और मूसलाधार वृष्टि होने लगी। वर्षा से भीगता हुआ हाथी चिंघाड़ कर भागा। प्रत्युत्पन्नमति ब्रह्मदत्त एक विशाल वृक्ष की शाखा को पकड़ कर वृक्ष पर चढ़ गया। वर्षा कुछ मन्द पड़ी पर घनी मेघ-घटाओं के कारण दिशाएं धुंधली हो चुकी थीं।

ब्रह्मदत्त वृक्ष से उतर कर आश्रम की ओर बढ़ा पर दिग्भ्रान्त हो जाने के कारण दूसरे ही वन में निकल गया। इधर उधर भटकता हुआ वह एक नदी के पास आया। उस नदी को भुजाओं से तैर कर उसने पार किया और नदी-तट के पास ही उसने एक उजड़ा हुआ ग्राम देखा। ग्राम में आगे बढ़ते हुए उसने बांसों की एक घनी झाड़ी के पास एक तलवार और ढाल पड़ी देखी। उसकी मांसल भुजाएं अभी और श्रम करना चाहती थीं। उसने तलवार म्यान से बाहर कर बांसों की झाड़ी को काटना प्रारम्भ किया कि बांसों की झाड़ी को काटते-काटते उसने देखा कि उसकी तलवार के वार से कटा एक मनुष्य का मस्तक एवं धड़ उसके

सम्मुख तड़फड़ा रहे हैं। उसने ध्यान से देखा तो पता चला कि कोई व्यक्ति बांस पर उल्टा लटके किसी विद्या की साधना कर रहा था। उसे बड़ी आत्मग्लानि हुई कि उसने व्यर्थ ही साधना करते हुए एक युवक को मार दिया है।

पश्चात्ताप करता हुआ ज्योंही वह आगे बढ़ा तो उसने एक रमणीय उद्यान में एक भव्य भवन देखा। कुतूहलवश वह उस भवन की सीढ़ियों पर चढ़ने लगा। ऊपर चढ़ते हुए उसने देखा कि ऊपर के एक सजे हुए कक्ष में कोई अपूर्व सुन्दरी कन्या पलंग पर चिंतित मुद्रा में बैठी है। आश्चर्य करते हुए वह उस बाला के पास पहुँचा और पूछने लगा – "सुन्दरि ! तुम कौन हो और इस निर्जन भवन में एकाकिनी शोकमग्न मुद्रा में क्यों बैठी हो ?"

अचानक एक तेजस्वी युवक को सम्मुख देखते ही वह अबला भयविह्वल हो गई और भयाक्रान्त जिज्ञासा के स्वर में बोली – "आप कौन हैं ? आपके यहां आने का प्रयोजन क्या है ?"

ब्रह्मदत्त ने उसे निर्भय करते हुए कहा – "सुभ्रु ! मैं पांचाल-नरेश ब्रह्म का पुत्र ब्रह्मदत्त हूँ........."

ब्रह्मदत्त अपना वाक्य पूरा भी नहीं कर पाया था कि वह कन्या उसके पैरों में गिर कर कहने लगी – "कुमार ! मैं आपके मामा पुष्पचूल की पुष्पवती नामक पुत्री हूँ, जिसे वाग्दान में आपको दिया गया था। मैं आपसे विवाह की बड़ी ही उत्कण्ठा से प्रतीक्षा कर रही थी कि नाट्योन्मत्त नामक विद्याधर अपने विद्याबल से मेरा हरण कर मुझे यहां ले आया। वह दुष्ट मुझे अपने वश में करने के लिए पास ही की बांसों की झाड़ी में किसी विद्या की साधना कर रहा है। मेरे चिर अभिलषित प्रिय ! अब मैं आपकी शरण में हूँ। आप ही मेरी मझधार में डूबती हुई जीवन-तरणि के कर्णधार हो।"

कुमार ने उसे आश्वस्त करते हुए कहा – "वह विद्याधर अभी-अभी मेरे हाथों अज्ञान में ही मारा गया है। अब मेरी उपस्थिति में तुम्हें किसी प्रकार का भय नहीं है।"

तदनन्तर ब्रह्मदत्त और पुष्पवती गान्धर्व विधि से विवाह के सूत्र में बंध गये और इस प्रकार चिर-दुःख के पश्चात् फिर सुख के झूले में झूलने लगे।

शहद की बिन्दु के समान मधुर सुख की वह एक रात्रि मधुरालाप और प्रणयकेलि में कुछ क्षणों के समान ही कट गई। फिर प्रिय-वियोग की वेला आ पहुँची।

गगन में घनरव के समान घोष को सुन कर पुष्पवती ने कहा – "प्रियतम ! विद्याधर नाट्योन्मत्त की खण्डा और विशाखा नाम की दो बहिनें आ रही हैं। इन अबलाओं से तो कोई भय नहीं, पर अपने प्रिय सहोदर की मृत्यु का समाचार पा ये अपने विविध विद्याओं से सशक्त विद्याधर बन्धुओं को ले आईं तो अनर्थ हो जायगा। अतः आप थोड़ी देर के लिए छिप जाइये। मैं बातों ही बातों में इन

दोनों के अन्तर में आपके प्रति आकर्षण उत्पन्न करने का प्रयास करती हूं। यदि उनकी क्रोधाग्नि को शान्त होते न देखा तो मैं श्वेत पताका को हिलाकर आपको यहां से भाग जाने का संकेत करूंगी और यदि वे मेरे द्वारा वर्णित आपके अलौकिक गुण सौन्दर्यादि पर आसक्त हो गईं तो मैं लाल पताका को फहराऊंगी उस समय आप निश्शंक हो हमारे पास चले आना।"

यह कह कर पुष्पवती उन विद्याधर कन्याओं की अगवानी के लिए चली गई। कुमार एकटक उस ओर देखता रहा। उसने देखा कि संकट की सूचक श्वेत-पताका हिल रही है। ब्रह्मदत्त वहां से वन की ओर चल पड़ा।

एक विस्तीर्ण सघन वन को पार करने पर उसने स्वच्छ जल से भरे एक बड़े जलाशय को देखा। मार्ग की थकान मिटाने हेतु वह उसमें कूद पड़ा और जी भर जल-क्रीड़ा करने के उपरान्त तैरता हुआ दूसरे तट पर जा पहुँचा।

वहां उसने पास ही के एक लता-कुञ्ज में फूल चुनती हुई एक अत्यन्त सुकुमार सर्वांग-सुन्दरी कन्या को देखा। ब्रह्मदत्त निर्निमेष दृष्टि से उसे देखता ही रह गया क्योंकि उसने इतनी रूपराशि धरातल पर कभी नहीं देखी थी। वह अनुपम सुन्दरी भी तिरछी चितवन से उस पर अमृत वर्षा सी करती हुई मन्द-मन्द मुस्कुरा रही थी। ब्रह्मदत्त ने देखा कि वह वनदेवी सी बाला उसी की ओर इंगित करते हुए अपनी सखी से कुछ कह रही है। उसने यह भी देखा कि उस पर विस्फारित नेत्रों से एकबारगी ही अमृत की दोहरी धारा बहा कर खुशी से मस्त मयूर सी नाचती हुई वह लता-कुञ्ज में अदृश्य हो गई। उसे पुनः देखने के लिए ब्रह्मदत्त की आंखें बड़ी बेचैनी से उसी लता-कुञ्ज पर न मालूम कितनी देर तक अटकी रहीं, इसका उसे स्वयं को ज्ञान नहीं।

एकदम उसके पास ही में हुई नूपुर की झंकार से उसकी तन्मयता जब टूटी तो ताम्बूल, वस्त्र और आभूषण लिए उस सुन्दरी सी दासी को अपने संमुख खड़े पाया।

दासी ने कहा – "अभी थोड़ी ही देर पहले आपने जिन्हें देखा था उन राजकुमारीजी ने अपनी इष्ट सिद्धि हेतु ये चीजें आपके पास भेजी हैं और मुझे यह भी आदेश दिया है कि मैं आपको उनके पिताजी के मंत्री के घर पहुँचा दूं।"

ब्रह्मदत्त वनों के वनचरों जैसे जीवन से ऊब चुका था अतः प्रसन्न होते हुए वह दासी के पीछे-पीछे चल पड़ा।

राजकीय अतिथि के रूप में उसका खूब अतिथि-सत्कार हुआ और वहां के राजा ने अपनी पुत्री श्रीकान्ता का उसके साथ बड़ी धूमधाम के साथ विवाह कर दिया। ब्रह्मदत्त एक बार फिर दुःखी से सुखी बन गया। वह वहां कुछ दिन बड़े आमोद-प्रमोद के साथ आनन्दमय जीवन बिताता रहा।

श्रीकान्ता का पिता वसन्तपुर का राजा था पर गृह-कलह के कारण वह वहां से भाग कर चौर-पल्ली का राजा बन गया। वह लूट-पाट से अपने कुटुम्ब

और आश्रितों का पालन-पोषण करता था। एक दिन उसने अपनी पल्ली के खूंख्वार लुटेरों के साथ किसी गांव को लूटने के लिए प्रयाण किया। गांव की लूट के समय ब्रह्मदत्त का बिछुड़ा हुआ साथी वरधनु भी उससे आ मिला। बड़े लम्बे समय के बाद मिलने के कारण दोनों ने एक दूसरे का वृत्तान्त पूछा।

वरधनु ने कहा – "कुमार! मैं आपके लिए पानी ला रहा था उस समय मुझे दीर्घ के सैनिकों ने निर्दयता से पीटना प्रारम्भ कर दिया और आपके बारे में पूछने लगे। मैंने रोते हुए कहा कि कुमार को तो सिंह खा गया है। इस पर उन्होंने जब उस स्थान को बताने को कहा तो मैंने उन्हें इधर से उधर भटकाते हुए आपको भाग जाने का संकेत किया। आपके भाग जाने पर मैं आश्वस्त हुआ और मैंने मौन ही साध ली। उन दुष्टों ने मुझे बड़ी निर्दयता से मारा और मैं अधमरा हो गया। मैं असह्य यातना से तिलमिला उठा और मौका पा मैंने उन लोगों की नजर बचा मूर्च्छित होने की गोली अपने मुंह में रख ली। उस गोली के प्रभाव से मैं निश्चेष्ट हो गया और वे मुझे मरा हुआ समझ हताश हो लौट गये। उनके जाते ही मैंने अपने मुख में से उस गोली को निकाल लिया और आपको इधर-उधर ढूंढ़ने लगा पर आपका कहीं पता नहीं चला। पिताजी के एक मित्र से पिताजी के भाग निकलने और माता को दीर्घ द्वारा दुःख दिये जाने का वृत्तान्त सुन कर मैंने माता को काम्पिल्यपुर से किसी न किसी तरह ले आने का दृढ़ संकल्प किया। बड़े नाटकीय ढंग से मैं माता को वहां से ले आया और उसे पिताजी के एक अन्तरंग मित्र के पास छोड़ कर आपको इधर-उधर ढूंढ़ने लगा। अन्त में मैंने आज महान् सुकृत के फल की तरह आपको पा ही लिया।"

ब्रह्मदत्त ने भी दीर्घकालीन दुःख के पश्चात् थोड़ी सुख की झलक फिर घोर दुःख भरे अपने सुख-दुःख के घटनाचक्र का वृत्तान्त वरधनु को सुनाया।

ब्रह्मदत्त अपनी बात पूरी भी नहीं कह पाया था कि उन्हें दीर्घराज के सैनिकों के बड़े दल के आने की सूचना मिली। वे दोनों अन्धेरे गिरि-गह्वरों की ओर दौड़ पड़े। अनेकों विकट वनों और पहाड़ों में भटकते २ वे दोनों कौशाम्बी नगरी पहुँचे।

कौशाम्बी के उद्यान में उन्होंने देखा कि उस नगर के सागरदत्त और बुद्धिल नामक दो बड़े श्रेष्ठि एक-एक लाख रुपये दांव पर लगा अपने कुक्कुटों को लड़ा रहे हैं। दोनों श्रेष्ठियों के कुक्कुटों की बड़ी देर तक मनोरंजक झड़पें होती रहीं पर अन्त में अच्छी जाति का होते हुए भी सागरदत्त का मुर्गा बुद्धिल के मुर्गे से हार कर मैदान छोड़ भागा।

सागरदत्त एक लाख का दाँव हार चुका था। ब्रह्मदत्त को सागरदत्त के अच्छी नस्ल के कुक्कुट की हार से आश्चर्य हुआ। उसने बुद्धिल के कुक्कुट को पकड़ कर अच्छी तरह देखा और उसके पंजों में लगी सूई की तरह तीक्ष्ण लोहे की पतली कीलों को निकाल फेंका।

दोनों कुक्कुट पुनः मैदान में उतारे गये पर इस बार सागरदत्त के कुक्कुट ने बुद्धिल के कुक्कुट को कुछ ही क्षणों में पछाड़ डाला।

हारे हुए दाँव को जीत कर सागरदत्त बड़ा प्रसन्न हुआ और कुमार के प्रति आभार प्रकट करते हुए उन दोनों मित्रों को अपने घर ले गया। सागरदत्त ने अपने सहोदर की तरह उन्हें अपने यहां रखा।

बुद्धिल की बहिन रत्नवती उद्यान में हुए कुक्कुट-युद्ध के समय ब्रह्मदत्त को देखते ही उस पर अनुरक्त हो गई। रत्नवती बड़ी ही चतुर थी। उसने अपने प्रियतम को प्राप्त करने का पूरा प्रयास किया। पहले उसने ब्रह्मदत्त के नाम से अंकित एक कीमती हार अपने सेवक के साथ ब्रह्मदत्त के पास भेजकर उसके मन में तीव्र उत्कण्ठा उत्पन्न कर दी और तत्पश्चात् अपनी विश्वस्त वृद्धा परिचारिका के साथ अपनी प्रीति का संदेश भेजा।

ब्रह्मदत्त भी रत्नवती के अनुपम रूप एवं गुणों की प्रशंसा सुन उसके पास जाने को व्याकुल हो उठा पर दीर्घ के अनुरोध पर कौशाम्बी का राजा ब्रह्मदत्त और वरधनु की सारे नगर में खोज करवा रहा था। इस कारण उसे अपने साथी वरधनु के साथ सागरदत्त के तलगृह में छिपे रहना पड़ा।

अर्द्धरात्रि के समय ब्रह्मदत्त और वरधनु सागरदत्त के रथ में बैठ कर कौशाम्बी से निकले। नगर के बाहर बड़ी दूर तक उन्हें पहुँचा कर सागरदत्त अपने घर लौट गया। ब्रह्मदत्त और वरधनु आगे की ओर बढ़े। वे थोड़ी ही दूर चले होंगे कि उन्होंने एक पूर्णयौवना सुन्दर कन्या को शस्त्रास्त्रों से सजे रथ में बैठे देखा।

उस सुन्दरी ने सहज आत्मीयता के स्नेह से सने स्वर में पूछा – "आप दोनों को इतनी देर कहां हो गई ? मैं तो आपकी बड़ी देर से यहाँ प्रतीक्षा कर रही हूँ।"

कुमार ने आश्चर्य से पूछा – "कुमारिके ! हमने तुम्हें पहले कभी नहीं देखा ? हम कौन हैं, यह तुम कैसे जानती हो ?"

रथारूढ़ा कुमारी ने अपना परिचय देते हुए कहा – "कुमार ? मैं बुद्धिल की बहिन रत्नवती हूं। मैंने बुद्धिल और सागरदत्त के कुक्कुट-युद्ध में जिस दिन आपके प्रथम दर्शन किये तभी से मैं आपसे मिलने को लालायित थी – अपनी चिर-अभिलाषा को पूर्ण करने हेतु यहाँ उपस्थित हूं ! इस चिर-विरहिणी अपनी दासी को अपनी सेवा में ग्रहण कर अनुगृहीत कीजिये।"

रत्नवती की बात सुनते ही दोनों मित्र उसके रथ पर बैठ गये। वरधनु ने अश्वों की रास सम्हाल ली।

ब्रह्मदत्त ने रत्नवती से पूछा – "अब किस ओर चलना होगा ?"

रत्नवती ने कहा – "मगधपुर में मेरे पितृव्य धनावह श्रेष्ठि के घर।"

वरधनु ने रथ को मगधपुरी की ओर बढ़ाया। तरल तुरंगी की वायुवेग सी गति से दौड़ता हुआ रथ कौशांबी की सीमा पार कर भीषण वन में पहुंचा। मार्ग में डाकूदल से संघर्ष, वरधनु से वियोग आदि संकटों के बाद ब्रह्मदत्त राजगृह पहुँचा। राजगृह के बाहर तापसाश्रम में रत्नवती को छोड़कर वह नगर में पहुँचा। राजगृह में विद्याधर नाट्योन्मत्त की खण्डा एवं विशाखा नाम की दो विद्याधर कन्याओं के साथ गान्धर्व विवाह सम्पन्न हुआ और दूसरे दिन वह श्रेष्ठि धनावह के घर पहुँचा। धनावह ब्रह्मदत्त को देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ और उसने रत्नवती के साथ उसका विवाह कर दिया। धनावह ने कन्यादान के साथ-साथ अतुल धन-सम्पत्ति भी ब्रह्मदत्त को दी।

ब्रह्मदत्त रत्नवती के साथ बड़े आनन्द से राजगृह में रहने लगा पर अपने प्रिय मित्र वरधनु का वियोग उसके हृदय को शल्य की तरह पीड़ित करता रहा। उसने वरधनु को ढूंढ़ने में किसी प्रकार की कोर-कसर नहीं रखी पर हर संभव प्रयास करने पर भी उसका कहीं पता नहीं चला तो ब्रह्मदत्त ने वरधनु को मृत समझ कर उसके मृतक-कर्म कर ब्राह्मणों को भोजन के लिये आमन्त्रित किया।

सहसा वरधनु भी ब्राह्मणों के बीच आ पहुँचा और बोला – "मुझे जो भोजन खिलाया जायेगा, वह साक्षात् वरधनु को ही प्राप्त होगा।"

अपने अनन्य सखा को सम्मुख खड़ा देख ब्रह्मदत्त ने उसे अपने बाहुपाश में जकड़कर हृदय से लगा लिया और हर्षातिरेक से बोला – "लो! अपने पीछे किये जाने वाले भोजन को खाने के लिये स्वयं यह वरधनु का प्रेत चला आया है।"

सब खिलखिला कर हंस पड़े। शोकपूर्ण वातावरण क्षणभर में ही सुख और आनन्द के वातावरण में परिणत होगया।

ब्रह्मदत्त द्वारा यह पूछने पर कि वह एकाएक रथ पर से कहां गायब होगया, वरधनु ने कहा – "दस्युओं से युद्धजन्य श्रमातिरेक से आप प्रगाढ़ निद्रा में सो गये। उस समय कुछ लुटेरों ने रथ पर पुनः आक्रमण किया। मैंने बाणों की बौछार कर उन्हें भगा दिया पर वृक्ष की ओट में छुपे एक चोर ने मुझ पर निशाना साध कर तीर मारा और मैं तत्क्षण पृथ्वी पर गिर पड़ा और झाड़ियों में छुप गया। चोरों के चले जाने पर झाड़ियों में से रेंगता हुआ धीरे-धीरे उस गांव में आ पहुँचा जहां आप ठहरे हुए थे। ग्राम के ठाकुर से आपके कुशल समाचार विदित हो गये और अपने प्रेत-भोजन को ग्रहण करने मैं स्वयं आपकी सेवा में उपस्थित हो गया।"

दोनों मित्र राजगृह में आनन्दपूर्वक रहने लगे पर अब उन पर काम्पिल्य के राजसिंहासन से दीर्घ को हटाने की धुन सवार हो चुकी थी।

दोनों मित्र एक दिन वसन्त-महोत्सव देखने निकले। सुन्दर वसन्ती परिधान और अमूल्य आभूषण पहने खुशी में झूमती हुई राजगृह की तरुणियां और विविध सुन्दर वस्त्राभूषणों एवं चम्पा-चमेली की सुगन्धित फूलमालाओं से सजे खुशी से अठखेलियां करते हुए राजगृह के तरुण रमणीय उद्यान में मादक मधु-महोत्सव का आनन्द लूट रहे थे।

उसी समय राजगृह की राजकीय हस्तिशाला से एक मदोन्मत्त हाथी लौह श्रृंखलाओं और हस्ती-स्तम्भ को तोड़कर मद में झूमता हुआ मधु-महोत्सव के उद्यान में आ पहुँचा। उपस्थित लोगों में भगदड़ मच गई, त्राहि-त्राहि की पुकारों और कुसुम-कली सी कमनीय सुकुमार तरुणियों की भय-त्रस्त चीत्कारों से नन्दन वन सा रम्य उद्यान यमराज का क्रीड़ास्थल बन गया।

वह मस्त गजराज एक मधुबाला सी सुन्दर सुगौर बाला की ओर झपटा और उसे अपनी सूंड में पकड़ लिया। सब के कलेजे धक् होगये।

ब्रह्मदत्त विद्युत् वेग से उछल कर हाथी के सम्मुख सीना तान कर खड़ा हो गया और उसके अन्तस्तल पर तीर की तरह चुभने वाले कर्कश स्वर में उसे ललकारने लगा।

हाथी उस कन्या को छोड़ अपनी लम्बी सूँड और पूंछ से आकाश को विलोडित करता हुआ ब्रह्मदत्त की ओर झपटा। हस्ति-युद्ध का मर्मज्ञ कुमार हाथी को इधर-उधर नचाता-कुदाता उसे भुलावे में डालता रहा और फिर बड़ी तेजी से कूदकर हाथी के दांतों पर पैर रखते हुए उसकी पीठ पर जा बैठा।

हाथी थोड़ी देर तक चिंघाड़ता हुआ इधर से उधर अन्धाधुन्ध भागता रहा पर अन्त में कुमार ने हाथी को वश में करने वाले गूढ़ सांकेतिक अद्भुत शब्दों के उच्चारण से उसे वश में कर लिया।

वसंतोत्सव में सम्मिलित हुए सभी नर-नारी जो अब तक श्वास रोके, चित्रलिखित से खड़े महामृत्यु का खेल देख रहे थे, हाथी को वश में हुआ जानकर जयघोष करने लगे। तरुणों और तरुणियों ने अपने गलों में से फूलमालाएं उतार-उतार कर कुमार पर पुष्पवर्षा प्रारम्भ कर दी। उस समय कुमार वसन्ती फूलों और फूलमालाओं से लदा इतना मनोहर प्रतीत हो रहा था मानो मधु-महोत्सव की मादकता पर मुग्ध हो मस्ती से झूमता हुआ स्वयं मधुराज ही उस मदोन्मत्त हाथी पर आ बैठा हो।

कुमार स्वेच्छानुसार हाथी को हांकता हुआ हस्तिशाला की ओर अग्रसर हुआ। हजारों हर्षविभोर युवक जयघोष करते हुए उसके पीछे-पीछे चल रहे थे।

कुमार ने उस हाथी को हस्तिशाला में ले जाकर स्तम्भ से बांध दिया। गगनभेदी जयघोषों को सुनकर मगधेश्वर भी हस्तिशाला में आ पहुँचे। सुकुमार देव के समान सुन्दर कुमार के अलौकिक साहस को देखकर मगधेश्वर अत्यन्त विस्मित हुआ और उसने अपने मन्त्रियों और राज्यसभा के सदस्यों की ओर

देखते हुए साश्चर्य जिज्ञासा के स्वर में पूछा – "सूर्य के समान तेजस्वी और शुक्र के समान शक्तिशाली यह मनमोहक युवक कौन है ?"

नगरश्रेष्ठि धनावह से ब्रह्मदत्त का परिचय पाकर मगधपति बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने अपनी पुत्री पुण्यमानी का ब्रह्मदत्त के साथ बड़े हर्षोल्लास, धूमधाम और ठाट-बाट से विवाह कर दिया।

राजगृही नगरी कई दिनों तक महोत्सवपुरी बनी रही। राजकीय दामाद के सम्मान में मन्त्रियों, श्रेष्ठियों और गण्य-मान्य नागरिकों की ओर से भव्य-भोजों का आयोजन किया गया।

जिस कुमारी को वसन्तोत्सव के समय ब्रह्मदत्त ने हाथी से बचाया था वह राजगृह के वैश्रवण नामक धनाढ्य श्रेष्ठि की श्रीमती नाम की पुत्री थी। श्रीमती ने उसी दिन प्रण कर लिया था कि जिसने उसे हाथी से बचाया है उसी से विवाह करेगी अन्यथा जीवनभर अविवाहित रहेगी।

ब्रह्मदत्त को जब श्रीमती पर मां से भी अधिक स्नेह रखने वाली एक वृद्धा से श्रीमती के प्रण का पता चला तो उसने विवाह की स्वीकृति दे दी। वैश्रवण श्रेष्ठि ने बड़े समारोहपूर्वक अपनी कन्या श्रीमती का ब्रह्मदत्त के साथ पाणिग्रहण करा दिया।

मगधेश के मन्त्री सुबुद्धि ने भी अपनी पुत्री नन्दा का वरधनु के साथ विवाह कर दिया।

थोड़े ही दिनों में ब्रह्मदत्त की यशोगाथाएं भारत के घर-घर में गाई जाने लगीं। कुछ दिन राजगृह में ठहर कर ब्रह्मदत्त और वरधनु युद्ध के लिये तैयारी करने हेतु वाराणसी पहुंचे।

वाराणसी-नरेश ने जब अपने प्रिय मित्र ब्रह्म के पुत्र ब्रह्मदत्त के आगमन का समाचार सुना तो वह प्रेम से पुलकित हो उसका स्वागत करने के लिये स्वयं ब्रह्मदत्त के सम्मुख आया और बड़े सम्मान के साथ उसे अपने राज-प्रासाद में ले गया।

वाराणसी-पति कटक ने अपनी कन्या कटकवती का ब्रह्मदत्त के साथ विवाह कर दिया और दहेज में अपनी शक्तिशालिनी चतुरंगिनी सेना दी।

ब्रह्मदत्त के वाराणसी आगमन का समाचार सुनकर हस्तिनापुर के नृपति कणेरुदत्त, चम्पानरेश पुष्पचूलक, प्रधानामात्य धनु और भगदत्त आदि अनेक राजा अपनी-अपनी सेनाओं के साथ वाराणसी नगरी में आगये। सभी सेनाओं को सुसंगठित कर वरधनु को सेनापति के पद पर नियुक्त किया और ब्रह्मदत्त ने दीर्घ पर आक्रमण करने के लिये सेना के साथ काम्पिल्यपुर की ओर प्रयाण किया।

दीर्घ ने सैनिक अभियान का समाचार सुनकर वाराणसी-नरेश कटक के पास दूत भेजा और कहलाया कि 'वे दीर्घ के साथ अपनी बाल्यावस्था से चली आई अटूट मैत्री न तोड़ें।

भूपति कटक ने उस दूत के साथ दीर्घ को कहलवाया – "हम पाँचों मित्रों में सहोदरों के समान प्रेम था। स्वर्गीय काम्पिल्येश्वर ब्रह्म का पुत्र और राज्य तुम्हें धरोहर के रूप में रक्षार्थ सौंपे गये थे। सौंपी हुई वस्तु तो डाकिनी भी नहीं खाती पर दीर्घ तुमने जैसा घृणित और क्षुद्र पापाचरण किया है वैसा तो अधम से अधम चांडाल भी नहीं कर सकता। अतः तेरा काल बनकर ब्रह्मदत्त आ रहा है, युद्ध या पलायन में से एक कार्य चुन लो।"

दीर्घ भी बड़ी शक्तिशाली सेना ले ब्रह्मदत्त के साथ युद्ध करने के लिये रणक्षेत्र में आ डटा। दोनों सेनाओं के बीच भयंकर युद्ध हुआ। दीर्घ की उस समय के रणनीति-कुशल शक्तिशाली योद्धाओं में गणना की जाती थी। उसने ब्रह्मदत्त और उसके सहायकों की सेनाओं को अपने भीषण प्रहारों से प्रारम्भ में छिन्न-भिन्न कर दिया। अपनी सेनाओं को भय-विह्वल देख ब्रह्मदत्त क्रुद्ध हो कृतान्त की तरह दीर्घ की सेना पर भीषण शस्त्रास्त्रों से प्रहार करने लगा। ब्रह्मदत्त के असह्य पराक्रम के सम्मुख दीर्घ की सेना भाग खड़ी हुई। ब्रह्मदत्त ने दण्डनीति के साथ-साथ भेदनीति से भी काम लिया और दीर्घ के अनेक योद्धाओं को अपनी ओर मिला लिया।

अन्त में दीर्घ और ब्रह्मदत्त का द्वन्द्व-युद्ध हुआ। दोनों एक-दूसरे पर घातक से घातक शस्त्रास्त्रों के प्रहार करते हुए बड़ी देर तक द्वन्द्व-युद्ध करते रहे पर जय-पराजय का कोई निर्णय नहीं हो सका। दोनों ने एक-दूसरे के अमोघास्त्रों को अपने पास पहुँचने से पहले ही काट डाला। दोनों योद्धा एक-दूसरे के लिये अजेय थे।

एक पतित पुरुषाधम में भी इतना पौरुष और पराक्रम होता है यह दीर्घ के अद्भुत युद्ध-कौशल को देखकर दोनों ओर की सेनाओं के योद्धाओं को प्रथम बार अनुभव हुआ। दोनों ओर के सैनिक चित्रलिखित से खड़े दोनों विकट-योद्धाओं का द्वन्द्व-युद्ध देख रहे थे।

दर्शकों को सहसा यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि आषाढ़ की घनघोर मेघ-घटाओं के समान गम्भीर ध्वनि करता हुआ, प्रलयकालीन अनल की तरह जाज्वल्यमान ज्वालाओं को उगलता हुआ, भीषण उल्कापात-का-सा दृश्य प्रस्तुत करता हुआ, अपनी अदृष्टपूर्व तेज चमक से सबकी आंखों को चकाचौंध करता हुआ एक चक्ररत्न अचानक प्रकट हुआ और ब्रह्मदत्त की तीन प्रदक्षिणा कर उसके दक्षिण पार्श्व में मुण्ड हस्त मात्र की दूरी पर आकाश में अधर स्थित हो गया।

ब्रह्मदत्त ने अपने दाहिने हाथ की तर्जनी पर चक्र को धारण कर घुमाया और उसे दीर्घ की ओर प्रेषित किया। क्षण भर में ही घृणित पापाचरणों और भीषण षड्यन्त्रों का उत्पत्तिकेन्द्र दीर्घ का मस्तक उसके कालिमा-कलुषित धड़ से चक्र द्वारा अलग किया जाकर पृथ्वी पर लुढ़क गया।

पापाचार की पराजय और सत्य की विजय से प्रसन्न हो सेनाओं ने जय-घोषों से दिशाओं को कंपित कर दिया।

बड़े समारोहपूर्वक ब्रह्मदत्त ने काम्पिल्यपुर में प्रवेश किया।

चुलनी अपने पतित पापाचार के लिए पश्चात्ताप करती हुई ब्रह्मदत्त के नगर-प्रवेश से पूर्व ही प्रव्रजित हो अन्यत्र विहार कर गई।

प्रजाजनों और मित्र-राजाओं ने बड़े ही आनन्दोल्लास और समारोह के साथ ब्रह्मदत्त का राज्याभिषेक महोत्सव सम्पन्न किया।

इस तरह ब्रह्मदत्त निरन्तर सोलह वर्ष तक कभी विभिन्न भयानक जंगलों में भूख-प्यास आदि के दुःख भोगता हुआ और कभी भव्य-प्रासादों में सुन्दर रमणी-रत्नों के साथ आनन्दोपभोग करता हुआ अपने प्राणों की रक्षा के लिए पृथ्वी-मण्डल पर घूमते रह कर अन्त में भीषण संघर्षों के पश्चात् अपने पैतृक राज्य का अधिकारी हुआ।

काम्पिल्यपुर के राज्य सिंहासन पर बैठते ही उसने बन्धुमती, पुष्पवती, श्रीकान्ता, खण्डा, विशाखा, रत्नवती, पुण्यमानी, श्रीमती और कटकवती इन नवों ही अपनी पत्नियों को उनके पितृ-गृहों से बुला लिया।

ब्रह्मदत्त छप्पन वर्ष तक माण्डलिक राजा के पद पर रह कर राज्य-सुखों का उपभोग करता रहा और तदनन्तर बहुत बड़ी सेना लेकर भारत के छह खण्डों की विजय के लिए निकल पड़ा। सम्पूर्ण भारत खण्ड की विजय के अभियान में उसने सोलह वर्ष तक अनेक लड़ाइयां लड़ीं और भीषण संघर्षों के बाद वह सम्पूर्ण भारत पर अपनी विजय-वैजयन्ती फहरा कर काम्पिल्यपुर लौटा।

वह चौदह रत्नों, नवनिधि और चक्रवर्ती की सब समृद्धियों का स्वामी बन गया।

नवनिधियों से चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त को सब प्रकार की यथेप्सित भोग सामग्री इच्छा करते ही उपलब्ध हो जाती थी। देवेन्द्र के समान सांसारिक भोगों का उपभोग करते हुए बड़े आनन्द के साथ उसका समय व्यतीत हो रहा था।

एक दिन ब्रह्मदत्त अपनी रानियों, परिजनों एवं मंत्रियों से घिरा हुआ अपने रंगभवन में बैठा मधुर संगीत और मनोहारी नाटकों से मनोरंजन कर रहा था। उस समय एक दासी ने ब्रह्मदत्त की सेवा में एक बहुत ही मनोहर पुष्प-स्तवक प्रस्तुत किया जिस पर सुगन्धित फूलों से हंस, मृग, मयूर, सारस, कोकिल आदि की बड़ी सुन्दर और सजीव आकृतियां गुंफित की हुई थीं। उच्च कोटि की कलाकृति के प्रतीक परम मनोहारी उस पुष्प-कन्दुक को विस्मय और कौतुक से देखते-देखते ब्रह्मदत्त के हृदय में धुंधली सी स्मृति जागृत हुई कि इस तरह के अलौकिक कलापूर्ण पुष्प-स्तवक पर अंकित नाटक उसने कहीं देखे हैं। ऊहापोह, एकाग्र चिन्तन और स्मृति पर अधिक जोर देने से उसके स्मृति-पटल पर सौधर्मकल्प में पद्मगुल्म विमान के देव का पूर्व भव स्पष्ट अंकित हो गया। उसे उसी समय जाति-स्मरण ज्ञान हो गया और अपने पूर्व के पांच भव यथावत् दिखने लगे। ब्रह्मदत्त तत्क्षण मूर्छित हो पृथ्वी पर गिर पड़ा।

यह देख साम्राज्ञियों, अमात्यों और आत्मियों पर मानों वज्रपात हो गया। विविध शीतलोपचारों से बड़ी देर में ब्रह्मदत्त की मूर्च्छा टूटी पर अपने पूर्व भवों को याद कर वह बार-बार मूर्च्छित हो जाता। आत्मियों द्वारा मूर्च्छा के कारण बार-बार पूछने पर भी उसने अपने पूर्व भवों की स्मृति का रहस्य प्रकट नहीं किया और यही कहता रहा कि यों ही पित्तप्रकोप से मूर्च्छा आ जाती है।

ब्रह्मदत्त एकान्त में निरन्तर यही सोचता रहा कि वह अपने पूर्व भवों के सहोदर से कहां, कब और कैसे मिल सकता है। अन्त में एक उपाय उसके मस्तिष्क में आया। उसने अपने विशाल साम्राज्य के प्रत्येक गांव और नगर में घोषणा करवा दी कि जो इस गाथाद्वय के चतुर्थ पद की पूर्ति कर देगा उसे वह अपना आधा राज्य दे देगा। वे गाथाएं इस प्रकार थीं :–

दासा दसण्णए आसी, मिया कालिंजरे णगे।
हंसा मयंग तीराए, सोवागा कासिभूमिए।।
देवा य देवलोयम्मि, आसि अम्हे महिड्ढिया।
....

आधे राज्य की प्राप्ति की आशा में प्रत्येक व्यक्ति ने इस समस्या-पूर्ति का पूरा प्रयास किया और यह डेढ़ गाथा जन-जन की जिह्वा पर मुखरित हो गई।

एक दिन चित्त नामक एक महान् तपस्वी श्रमण ग्राम नगरादि में विचरण करते हुए काम्पिल्यनगर के मनोरम उद्यान में आये और एकान्त में कायोत्सर्ग कर ध्यानावस्थित हो गये। अपने कार्य में व्यस्त उस उद्यान का माली उपरोक्त तीन लाइनें बार-बार गुनगुनाने लगा। माली के कंठ से इस डेढ़ गाथा को सुन कर चित्त मुनि के मन में भी संकल्प-विकल्प ऊहापोह उत्पन्न हुआ और उन्हें भी जातिस्मरण ज्ञान हो गया। वे भी अपने पूर्व-जन्म के पांच भवों को अच्छी तरह से देखने लगे। उन्होंने समस्या-पूर्ति करते हुए मालाकार को निम्नलिखित आधी गाथा कण्ठस्थ करवा दी :–

इमा णो छट्ठिया जाई, अण्णमण्णेहिं जा वीणा।।

माली ने इसे कंठस्थ कर खुशी-खुशी ब्रह्मदत्त के समक्ष जाकर समस्या-पूर्ति कर दोनों गाथाएं पूरी सुना दीं। सुनते ही राजा पुनः मूर्च्छित हो गया। यह देख कर ब्रह्मदत्त के अंगरक्षक यह समझकर कि इस माली के इन कठोर वचनों के कारण राजाधिराज मूर्च्छित हुए हैं, उस माली को पीटने लगे। राज्य पाने की आशा से आया हुआ माली ताड़ना पाकर स्तब्ध रह गया और बार-बार कहने लगा– "मैं निरपराध हूँ, मैंने यह कविता नहीं बनाई है। मुझे तो उद्यान में ठहरे हुए एक मुनि ने सिखाई है।"

थोड़ी ही देर में शीतलोपचारों से ब्रह्मदत्त पुनः स्वस्थ हुआ। उसने राज-पुरुषों को शान्त करते हुए माली से पूछा – "भाई! क्या यह चौथा पद तुमने बनाया है?"

माली ने कहा – "नहीं पृथ्वीनाथ ! यह रचना मेरी नहीं। उद्यान में आये हुए एक तपस्वी मुनि ने यह समस्या-पूर्ति की है।"

ब्रह्मदत्त ने प्रसन्न हो मुकुट के अतिरिक्त अपने सब आभूषण उद्यानपाल को पारितोषिक के रूप में दे दिये और अपने अन्तःपुर एवं पूर्ण ऐश्वर्य के साथ मनोरम उद्यान में पहुंचा। चित्त मुनि को देखते ही ब्रह्मदत्त ने उनके चरणों पर मुकुट-मणियों से प्रकाशमान अपना मस्तक झुका दिया। उसके साथ ही साम्राज्ञियों, सामन्तों आदि के लाखों मस्तक भी झुक गये। पूर्व के अपने पांच भवों का भ्रातृस्नेह ब्रह्मदत्त के हृदय में हिलोरें लेने लगा। उसकी आंखों से अविरल अश्रु-धाराएं बहने लगीं। पूर्व स्नेह को याद कर वह फूट-फूटकर रोने लगा।

मुनि के अतिरिक्त सभी के विस्फारित नेत्र सजल हो गये। राजमहिषी पुष्पवती ने साश्चर्य ब्रह्मदत्त से पूछा – "प्राणनाथ ! चक्रवर्ती सम्राट् होकर आज आप सामान्य जन की तरह करुण विलाप क्यों कर रहे हैं?"

ब्रह्मदत्त ने कहा – "महादेवि ! यह महामुनि मेरे भाई हैं।"

पुष्पवती ने साश्चर्य प्रश्न किया – "यह किस तरह महाराज?"

ब्रह्मदत्त ने गद्गद स्वर में कहा – "यह तो मुनिवर के मुखारविन्द से ही सुनो।"

साम्राज्ञियों के विनय भरे अनुरोध पर मुनि चित्त ने कहना प्रारम्भ किया – "इस संसार-चक्र में प्रत्येक प्राणी कुम्भकार के चक्र पर चढ़े हुए मृत्पिण्ड की तरह जन्म, जरा और मरण के अनवरत क्रम से अनेक प्रकार के रूप धारण करता हुआ अनादिकाल से परिभ्रमण कर रहा है। प्रत्येक प्राणी अन्य प्राणी से माता, पिता, पुत्र, सहोदर, पति, पत्नी आदि स्नेहपूर्ण सम्बन्धों से बँधकर अनन्त वार बिछुड़ चुका है।"

"संक्षेप में यही कहना पर्याप्त होगा कि यह संसार वास्तव में संयोग-वियोग, सुख-दुख और हर्ष-विषाद का संगमस्थल है। स्वयं अपने ही बनाये हुए कर्मजाल में मकड़ी की तरह फँसा हुआ प्रत्येक प्राणी छटपटा रहा है। कर्मवश नट की तरह विविध रूप बनाकर भव-भ्रमण में भटकते हुए प्राणी के अन्य प्राणियों के साथ इन विनाशशील पिता, पुत्र, भाई आदि सम्बन्धों का कोई पारावार ही नहीं है।"

"हम दोनों भी पिछले पांच भवों में सहोदर रहे हैं। पहले भव में श्रीदह ग्राम के शाण्डिल्यायन ब्राह्मण की जसमती नामक दासी के गर्भ से हम दोनों दास के रूप में उत्पन्न हुए। वह ब्राह्मण हम दोनों भाइयों से दिन भर कसकर श्रम करवाता। एक दिन उस ब्राह्मण ने कहा कि यदि कृषि की उपज अच्छी हुई तो वह हम दोनों का विवाह कर देगा। इस प्रलोभन से हम दोनों भाई और भी अधिक कठोर परिश्रम से बिना भूख-प्यास आदि की चिन्ता किये रात-दिन जी तोड़ कर काम करने लगे।"

"एक दिन शीतकाल में हम दोनों भाई खेत में कार्य कर रहे थे कि अचानक आकाश काली मेघ-घटाओं से छा गया और मूसलाधार पानी बरसने लगा। ठंड से ठिठुरते हुए हम दोनों भाई खेत में ही एक विशाल वटवृक्ष के तने के पास बैठ गये। वर्षा थमने का नाम नहीं ले रही थी और चारों ओर जल ही जल हष्टिगोचर हो रहा था। क्रमशः सूर्यास्त हुआ और चारों ओर घोर अन्धकार ने अपना एकछत्र साम्राज्य फैला दिया। दिन भर के कठिन श्रम से हमारा रोम-रोम दर्द कर रहा था, भूख बुरी तरह सता रही थी, उस पर शीतकालीन वर्षा की तीर-सी चुभने वाली शीत लहरों से ठिठुरे हुए हम दोनों भाइयों के दांत बोलने लगे।"

"वटवृक्ष के कोटर में सो जाने की इच्छा से हमने अन्धेरे में इधर-उधर टटोलना प्रारम्भ किया तो भयंकर विषधर ने हम दोनों को डंस लिया। हम दोनों भाई अनाथावस्था में असहाय छटपटाते रहे। विष का प्रभाव बढ़ा और हम दोनों भाई एक-दूसरे से सटे हुए कीट-पतंग की तरह कराल काल के ग्रास बन गये।"

"तदनन्तर हम दोनों कालिंजर पर्वत पर एक हरिणी के गर्भ से हरिण-युगल के रूप में उत्पन्न हुए। क्रमशः हम युवा हुए और दोनों भाई अपनी मां के साथ वन में चौकड़ियाँ भरते हुए इधर से उधर विचरण करने लगे। एक दिन हम दोनों प्यास से व्याकुल हो वेत्रवती नदी के तट पर अपनी प्यास बुझाने गये। पानी में मुँह भी नहीं दे पाये थे कि हम दोनों को निशाना बनाकर एक शिकारी ने एक ही तीर से बींध दिया। कुछ क्षण छटपटाकर हम दोनों पञ्चत्व को प्राप्त हुए।"

"उसके पश्चात् हम दोनों मयंग नदी के तट पर स्थित सरोवर में एक हंसिनी के उदर से हंस-युगल के रूप में उत्पन्न हुए और सरोवर में क्रीड़ा करते हुए हम युवा हुए। एक पारधी ने हम दोनों को एक साथ एक जाल में फंसा लिया और गर्दन तोड़-मरोड़ कर हमें मार डाला।"

"हंसों की योनि के पश्चात् हम दोनों काशी जनपद के वाराणसी नगर के बड़े समृद्धिशाली भूतदिन्न नामक चाण्डाल की पत्नी अह्निका (अणहिया) के गर्भ से युगल सहोदर के रूप में उत्पन्न हुए। मेरा नाम चित्र और इनका (ब्रह्मदत्त का) नाम संभूत रखा गया। बड़े लाड़-प्यार से हम दोनों भाइयों का लालन-पालन किया गया। जिस समय हम ८ वर्ष के हुए, उस समय काशीपति अमितवाहन ने अपने नमूची[1] नामक पुरोहित को किसी अपराध के कारण मौत के घाट उतारने के लिए गुप्त रूप से हमारे पिता को सौंपा।"

हमारे पिता ने पुरोहित नमूची से कहा – "यदि तुम मेरे इन दोनों पुत्रों को सम्पूर्ण कलाओं में निष्णात करना स्वीकार कर लो तो मैं तुम्हें गृहतल में

[1] चउवन्न महापुरिस चरियं में पुरोहित का नाम 'सच्च' दिया हुआ है। [पृष्ठ २१५]

प्रच्छन्न रूप से सुरक्षित रखूंगा। अन्यथा तुम्हारे प्राण किसी भी दशा में नहीं बच सकते।"

"अपने प्राणों की रक्षार्थ पुरोहित ने हमारे पिता की शर्त स्वीकार कर ली और वह हमें पढ़ाने लगा।"

"हमारी माता पुरोहित के स्नान, पान भोजनादि की स्वयं व्यवस्था करती थी। कुछ ही समय में पुरोहित और हमारी माता एक दूसरे पर आसक्त हो विषय-वासना के शिकार हो गये। हम दोनों भाइयों ने विद्या-अध्ययन के लोभ में यह सब जानते हुए भी अपने पिता को उन दोनों के अनुचित सम्बन्ध के विषय में सूचना नहीं दी। निरन्तर अध्ययन कर हम दोनों भाई सब कलाओं में निष्णात हो गये।"

"अन्त में एक दिन हमारे पिता को पुरोहित और हमारी माता के पापाचरण का पता चल गया और उन्होंने पुरोहितजी को मार डालने का निश्चय कर लिया पर हम दोनों ने अपने उस उपाध्याय को चुपके से वहां से भगा दिया। वह पुरोहित भाग कर हस्तिनापुर चला गया और वहां सनत्कुमार चक्रवर्ती का मंत्री बन गया।"

"हम दोनों भाई वाराणसी के बाजारों, चौराहों और गलीकूंचों में लय-ताल पर मधुर संगीत गाते हुए स्वेच्छापूर्वक घूमने लगे। हमारी सुमधुर स्वर-लहरियों से पुर-जन विशेषतः रमणियां आकृष्ट हो मन्त्रमुग्ध सी दौड़ी चली आतीं। यह देख वाराणसी के प्रमुख नागरिकों ने काशीनरेश से कह कर हम दोनों भाइयों का नगर-प्रवेश निषिद्ध करवा दिया। हम दोनों भाइयों ने मन मसोस कर नगर में जाना बन्द कर दिया।"

"एक दिन वाराणसी नगर में कौमुदी-महोत्सव था। सारा नगर हंसी-खुशी के मादक वातावरण में झूम उठा। हम दोनों भाई भी महोत्सव का आनन्द लूटने के लोभ का संवरण नहीं कर सके और लोगों की दृष्टि से छिपते हुए शहर में घुस पड़े और हम दोनों ने नगर में घुस कर महोत्सव के मनोरम दृश्य देखे।"

"एक जगह संगीत-मण्डली का संगीत हो रहा था। हठात् हम दोनों भाइयों के कण्ठों से अज्ञात में ही स्वरलहरियां निकल पड़ीं। जिस-जिस के कर्णरन्ध्रों में हमारी मधुर संगीत-ध्वनि पहुँची वही मन्त्रमुग्ध सा हमारी ओर आकृष्ट हो दौड़ पड़ा। हम दोनों भाई तन्मय हो गा रहे थे। हमारे चारों ओर हजारों नर-नारी एकत्रित हो गये और हमारा मनमोहक संगीत सुनने लगे।"

"सहसा भीड़ में से किसी ने पुकार कर कहा – 'अरे! ये तो वही चाण्डाल के छोकरे हैं जिनका राजाज्ञा से नगर-प्रवेश निषिद्ध है।"

"बस, फिर क्या था, हम दोनों भाइयों पर थप्पड़ों, लातों, मुक्कों और भगने पर लाठियों व पत्थरों की वर्षा होने लगी। हम दोनों अपने प्राणों की रक्षा के लिए प्राण-पण से भाग रहे थे और नागरिकों की भीड़ हमारे पीछे भागती

हुई हम पर पत्थरों की इस तरह वर्षा कर रही थी मानो हम मानववेषधारी पागल कुत्ते हों ।"

"हम दोनों नागरिकों द्वारा कुटते-पिटते शहर के बाहर आ गये। तब कहीं क्रुद्ध जनसमूह ने हमारा पीछा छोड़ा। फिर भी हम जंगल की ओर बेतहाशा भागे जा रहे थे। अन्त में हम एक निर्जन स्थान में रुके और यह सोच कर कि ऐसे तिरस्कृत पशुतुल्य जीवन से तो मर जाना अच्छा है, हम दोनों भाइयों ने पर्वत से गिर कर आत्महत्या करने का निश्चय कर लिया।"

"आत्महत्या का दृढ़ निश्चय कर हम दोनों भाई एक विशाल पर्वत के उच्चतम शिखर की ओर चढ़ने लगे। पर्वत शिखर पर चढ़ कर हमने देखा कि एक मुनि शान्त मुद्रा में ध्यानस्थ खड़े हैं। मुनि के दर्शन करते ही हम दोनों ने शान्ति का अनुभव किया। हम मुनि के पास गये और उनके चरणों पर गिर पड़े।"

"तपस्वी ने थोड़ी ही देर में ध्यान समाप्त होने पर आंखें खोलीं और हमें पूछा – "तुम कौन हो और इस गिरिशिखर पर किस प्रयोजन से आये हो?"

"हमने अपना सारा वृत्तान्त यथावत् सुनाते हुए कहा कि इस जीवन से ऊबे हुए हम पर्वतशिखर से कूद कर आत्महत्या करने के लिए यहां आये हैं।"

"इस पर करुणार्द्र मुनि ने कहा – "इस प्रकार आत्म-हत्या करने से तो तुम्हारे ये पार्थिव शरीर ही नष्ट होंगे। दुःखमय जीवन के मूल कारण जो तुम्हारे जन्मान्तरों के अर्जित कर्म हैं वे तो ज्यों के त्यों विद्यमान रहेंगे। शरीर का त्याग ही करना चाहते हो तो सुरलोक और मुक्ति के सुख देने वाले तपश्चरण से अपने शरीर का पूरा लाभ उठा कर फिर शरीर-त्याग करो। तपस्या की आग में तुम्हारे पूर्व-संचित अशुभ कर्म तो जल कर भस्म होंगे ही, पर इसके साथ-साथ शुभ कर्मों को भी तुम उपार्जित कर सकोगे।"

"मुनि का हितपूर्ण उपदेश हमें बड़ा युक्तिसंगत और रुचिकर लगा और हम दोनों भाइयों ने तत्क्षण उनके पास मुनि धर्म स्वीकार कर लिया। दयालु मुनि ने सब शास्त्रों का हमें अध्ययन कराया। हमने षष्टम-अष्टम भक्त, मास-क्षमण आदि तपस्याएं कर अपने शरीरों को सुखा डाला।"

"विभिन्न क्षेत्रों में विचरण करते हुए हम दोनों एक दिन हस्तिनापुर पहुँचे और नगर के बाहर एक उद्यान में कठोर तपश्चरण करने लगे।"

"एकदा मास-क्षमण के पारण के दिन संभूत मुनि भिक्षार्थ हस्तिनापुर नगर में गये। राजपथ पर नमूची ने संभूत मुनि को पहिचान लिया और यह सोच कर कि यह कहीं मेरे पापाचरण का भण्डाफोड़ न कर दे मुनि को नगर से बाहर ढकेलने के लिए राजपुरुषों को आदेश दिया। नमूची का आदेश पाकर राजपुरुष घोर तपश्चरण से क्षीणकाय संभूत ऋषि पर तत्काल टूट पड़े और उन्हें निर्दयता-

पूर्वक पीटने लगे।[1] मुनि शान्तभाव से उद्यान की ओर लौट पड़े। इस पर भी जब नमूची के सेवकों ने पीटना बन्द नहीं किया तो मुनि क्रुद्ध हो गये। उनके मुख से भीषण आग की लपटें उगलती हुई तेजोलेश्या प्रकट हुई। विजली की चमक के समान चकाचौंध कर देने वाली अग्निज्वालाओं से सम्पूर्ण गगनमण्डल लाल हो गया।[2] सारे नगर में 'त्राहि-त्राहि' मच गई। झुण्ड के झुण्ड भयभीत नगरनिवासी आकर मुनि के चरणों में सिर झुकाने लगे। सनत्कुमार चक्रवर्ती भी वहां पहुँचा और सम्भूत मुनि के चरणों में मस्तक झुका कर उन्हें शान्त होने की प्रार्थना करने लगा। पर मुनि का कोप शान्त नहीं हुआ। तेजोलेश्या की ज्वालाएं भीषण रूप धारण करने लगीं।"

"सारे नभमण्डल को अग्निज्वालाओं से प्रदीप्त देख कर मैं भी घटना-स्थल पर पहुँचा और मैंने शीघ्र ही अपने भाई को शान्त किया।"

"पश्चात्ताप के स्वर में संभूत ने कहा – 'ओफ्! मैंने बहुत बुरा किया[3]' और वे मेरे पीछे-पीछे चल दिये। क्षण भर में ही अग्निज्वालाएं तिरोहित हो गईं।"

"हम दोनों भाई उद्यान में लौटे और हमने विचार किया – इस नश्वर शरीर के पोषण हेतु हमें भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। हम निरीह-निर्मोही साधुओं को आहार एवं इस शरीर से क्या प्रयोजन है? ऐसा विचार कर हम दोनों भाइयों ने संलेखना कर चारों प्रकार के आहार का जीवन भर के लिए परित्याग कर दिया।"

"उधर चक्रवर्ती सनत्कुमार ने अपराधी का पता लगाने के लिए अपने अधिकारियों को आदेश देते हुए कहा – 'मेरे राज्य में मुनि को कष्ट देने का किसने दुस्साहस किया? इसी समय उसे मेरे सम्मुख प्रस्तुत किया जाय।"

"तत्क्षण नमूची अपराधी के रूप में प्रस्तुत किया गया।"

"सनत्कुमार ने क्रुद्ध हो कर्कश स्वर में कहा – "जो साधुओं की सत्कार-सम्मानादि से पूजा नहीं करता वह भी मेरे राज्य में दण्डनीय है, इस दुष्ट ने तो महात्मा को ताड़ना कर बड़ा कष्ट पहुंचाया है। इसे चोर की तरह रस्सों से बांध कर सारे नगर में घुमाया जाय और मेरी उपस्थिति में मुनियों के समक्ष

---

[1] चउप्पन्न महापुरिस चरियं में स्वयं पुरोहित द्वारा मुनि को पीटने का उल्लेख है। यथा –
.........पुरोहियेण। 'अमंगलं' ति कलिऊण दढं कसप्पहारेण ताड़िओ।
[पृष्ठ २१६]

[2] तेजोलेश्योल्ललासाथ, ज्वालापटलमालिनी।
तडिन्मण्डलसंकीर्णामिव द्यामभितन्वती ॥७२॥
[त्रिषष्टि शलाका पु. च., पर्व ६, सर्ग १]

[3] 'अहो दुक्कयं कयं' ति भणंतो उट्ठिओ तप्पएसाओ।
[चउप्पन्न म. पुरिस च., पृ० २१६]

प्रस्तुत किया जाय। मैं इसे कठोर से कठोर दण्ड दूंगा ताकि भविष्य में कोई भी इस प्रकार का अधर्मपूर्ण दुस्साहस न कर सके।"

"नमूची को रस्सों से बांध कर सारे नगर में घुमाया गया। सनत्कुमार अपने अनुपम ऐश्वर्य के साथ हमारे पास आया और रस्सों से बंधे हुए नमूची को हमें दिखाते हुए बोला – 'पूज्यवर! आपका यह अपराधी प्रस्तुत है। आज्ञा दीजिये, इसे क्या दण्ड दिया जाय?"

"हमने चक्रवर्ती को उसे मुक्त कर देने को कहा। तदनुसार सनत्कुमार ने भी उसे तत्काल मुक्त कर अपने नगर से बाहर निकलवा दिया।"

"उसी समय सनत्कुमार की चौसठ हजार राजमहिषियों के साथ पट्टमहिषि सुनन्दा हमें वन्दन करने के लिए आई।[1] मुनि संभूत के चरणों में नमस्कार करते समय स्त्री-रत्न सुनन्दा के भौंरों के समान काले-घुंघराले, सुगन्धित लम्बे बालों की सुन्दर लटी का संभूत के चरणों से स्पर्श हो गया।[2] विधिवत् वन्दन के पश्चात् चक्रवर्ती अपने समस्त परिवार सहित लौट गया।"

"हम दोनों साधु समाधिपूर्वक साथ-साथ ही अपनी आयु पूर्ण कर सौधर्म कल्प के नलिनी गुल्म (पद्मगुल्म) नामक विमान में देव हुए। वहाँ हम दोनों दिव्य सुखों का उपभोग करते रहे। देव आयु पूर्ण होने पर मैं पुरिमताल नगर के महान् समृद्धिशाली गुणपुञ्ज नामक श्रेष्ठि की पत्नी नन्दा के गर्भ से उत्पन्न हुआ और युवा होने पर भी विषय-सुखों में नहीं उलझा और एक मुनि के पास धर्मोपदेश सुनकर प्रव्रजित हो गया। संयम का पालन करते हुए अनेक क्षेत्रों में विचरण करता हुआ मैं इस उद्यान में आया और उद्यान-पालक के मुख से वे गाथाएं सुनकर मुझे जाति-स्मरण ज्ञान हो गया। इस छट्ठे जन्म में हम दोनों भाइयों का वियोग किस कारण से हुआ इसका मुझे पता नहीं।"[3]

यह सुनकर सब श्रोता स्तब्ध रह गये और साश्चर्य विस्फारित नेत्रों से कभी मुनिवर की ओर एवं कभी ब्रह्मदत्त की ओर देखने लगे।

---

[1] चउप्पन्न महापुरिस चरियं में, किसी दूसरे मुनि को, जो उस उद्यान में ठहरे हुए थे, चक्रवर्ती की रानियों का वन्दन हेतु आने का उल्लेख है। [पृष्ठ २१६]

[2] तस्याश्चालकसंस्पर्शं, संभूतमुनिरन्वभूत्।
रोमांचितश्च सद्योऽभूच्छलान्वेषी हि मन्मथः ॥६६॥
[त्रिषष्टि श. पु. च., पर्व ६, सर्ग १]

[3] (क) ता ण याणामि छट्ठीए जातीए विओओ कहमम्ह जाओ त्ति।
[चउप्पन्न महापुरिस चरियं, पृष्ठ २१७]

(ख) त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र में संभूत द्वारा किये गये निदान का चित्त को उसी समय पता चल जाने और चित्त द्वारा संभूत को निदान न करने के सम्बन्ध में समझाने का उल्लेख है किन्तु उत्तराध्ययन सूत्र के अध्याय १३ की गाथा २८ और २९ से स्पष्ट है कि चित्त को संभूत के निदान का ज्ञान नहीं था

ब्रह्मदत्त ने कहा – "महामुने ! इस जन्म में हम दोनों भाइयों के बिछुड़ जाने का कारण मुझे मालूम है। चक्रवर्ती सनत्कुमार के अद्भुत ऐश्वर्य और उसके सुनन्दा आदि स्त्रीरत्नों के अनुपम रूप-लावण्य को देखकर मैंने तत्क्षण निदान कर लिया था कि यदि मेरी इस तपस्या का कुछ फल है तो मुझे भी चक्रवर्ती के सम्पूर्ण ऐश्वर्य की प्राप्ति हो। मैंने अपने इस अध्यवसाय की अन्तिम समय तक आलोचना निन्दा नहीं की[1] अतः सौधर्म देवलोक की आयुष्य पूर्ण होने पर उस निदान के कारण मैं छह खण्ड का अधिपति बन गया और देवताओं के समान यह महान् ऋद्धि मुझे प्राप्त हो गई। मेरे इस विशाल राज्य एवं ऐश्वर्य को आप अपना ही समझिये। अभी आपकी इस युवावस्था में विषय-सुखों और सांसारिक भोगों के उपभोग करने का समय है। आप मेरे पाँच जन्मों के सहोदर हैं अतः यह समस्त साम्राज्य आपके चरणों में समर्पित है। आइये ! आप स्वेच्छापूर्वक सांसारिक सुखों का यथारुचि उपभोग कीजिये और जब सुखोपभोग से सब इन्द्रियां तृप्त हो जायं तब वृद्धावस्था में संयम लेकर आत्मकल्याण की साधना कर लेना। तपस्या से भी आखिर सब प्रकार की समृद्धि, ऐश्वर्य और भोगोपभोगों की प्राप्ति होती है, जो आपके समक्ष सब उपस्थित हैं फिर आपको तपस्या करने की क्या आवश्यकता है ? महान् पुण्यों के प्रकट होने से मुझे आपके दर्शन हुए हैं। कृपा कर इच्छानुसार इस ऐश्वर्य का आनन्द लीजिये, यह सब कुछ आपका ही है।"

मुनि चित्त ने कहा – "चक्रवर्तिन् ! इस निस्सार संसार में केवल धर्म ही सारभूत है। शरीर, यौवन, लक्ष्मी, ऐश्वर्य, समृद्धि और बन्धु-बान्धव, ये सब जल-बुदबुद के समान क्षण-विध्वंसी हैं। तुमने षट्खण्ड की साधना कर बहिरंग शत्रुओं पर विजय प्राप्त करली, अब मुनिधर्म अंगीकार कर काम क्रोधादि अन्तरंग शत्रुओं को भी जीत लो जिससे कि तुम्हें मुक्ति का अनन्त शाश्वत सुख प्राप्त हो सके।"

"प्रगाढ़ स्नेह के कारण तुम मुझे अपने ऐश्वर्य का उपभोग करने के लिये आग्रहपूर्वक आमन्त्रित कर रहे हो पर मैंने तो प्राप्त संपत्ति का भी परित्याग कर संयम ग्रहण किया है, क्योंकि मैं समस्त विषय-सुखों को विषवत् घातक और त्याज्य समझता हूँ।"

"तुम स्वयं यथावत् यह अनुभव कर रहे हो कि हम दोनों ने दास, मृग, हंस और मातंग के भवों में कितने दारुण दुःख देखे एवं तपश्चरण के प्रभाव से सौधर्म कल्प के दिव्य सुखों का उपभोग किया। पुण्य के क्षीण हो जाने से हम देवलोक

---

[1] हत्थिणपुरम्मि चित्ता, दट्ठूणं नरवइं महिड्ढियं।
कामभोगेसु गिद्धेणं, नियाणमसुहं कडं ॥२८॥
तस्स मे अपडिकन्तस्स, इमं एयारिसं फलं।
जाणमाणो वि जं धम्मं, कामभोगेसु मुच्छिओ ॥२९॥
[उत्तराध्ययन सूत्र, अध्ययन १३]

से गिरकर इस पृथ्वी पर उत्पन्न हुए हैं। यदि तुमने इस अलभ्य मानव-जन्म का मुक्तिपथ की साधना में उपयोग नहीं किया तो और भी अधोगतियों में असह्य दुःख उठाते हुए तुम्हें भव-भ्रमण करना पड़ेगा।"

"इस आर्य धरा पर श्रेष्ठ कुल में तुमने मानव-जन्म पाया है। इस अमूल्य मानव-जन्म को विषय-सुखों में व्यर्थ ही बिताना अमृत को कण्ठ में न उतार कर पैर धोने के उपयोग में लेने के समान है। राजन् ! तुम यह सब जान-बूझकर भी बालक की तरह अनन्त दुःखदायी इन्द्रिय-सुख में क्यों लुब्ध हो रहे हो?"

ब्रह्मदत्त ने कहा – "भगवन् ! जो आपने कहा है वह शतप्रतिशत सत्य है। मैं भी जानता हूँ कि विषयासक्ति सब दुःखों की जननी और सब अनर्थों की मूल है किन्तु जिस प्रकार गहरे दलदल में फँसा हुआ हाथी चाहने पर भी उससे बाहर नहीं निकल सकता उसी प्रकार मैं भी निदान से प्राप्त इन कामभोगों के कीचड़ में बुरी तरह फँसा हुआ हूँ अतः मैं संयम ग्रहण करने में असमर्थ हूँ।"

चित्त ने कहा – "राजन् ! यह दुर्लभ मनुष्य-जीवन तीव्र गति से बीतता चला जा रहा है, दिन और रात्रियां दौड़ती हुई जा रही हैं। ये काम-भोग भी जिनमें तुम फँसे हुए हो सदा बने रहने वाले नहीं हैं। जिस प्रकार फलविहीन वृक्ष को पक्षी छोड़कर चले जाते हैं उसी प्रकार ये काम-भोग एक दिन तुम्हें अवश्य छोड़ देंगे।"

अपनी बात समाप्त करते हुए मुनि ने कहा – "राजन् ! निदान के कारण तुम भोगों का पूर्णतः परित्याग करने में असमर्थ हो पर तुम प्राणिमात्र के साथ मैत्री रखते हुए परोपकार के कार्यों में तो संलग्न रहो जिससे कि तुम्हें दिव्य सुख प्राप्त हो सकें।"

यह कहकर मुनि चित्त वहां से अन्यत्र विहार कर गये। उन्होंने अनेक वर्षों तक संयम का पालन करते हुए कठोर तपस्या की आग में समस्त कर्मों को भस्मसात् कर अन्त में शुद्ध-बुद्ध हो निर्वाण प्राप्त किया।

मुनि के चले जाने के पश्चात् ब्रह्मदत्त अपनी चक्रवर्ती की ऋद्धियों और राज्यश्री का उपभोग करने लगा। भारत के छह ही खण्डों के समस्त भूपति उसकी सेवा में सेवक की तरह तत्पर रहते थे। वह दुराचार का कट्टर विरोधी था।

एक दिन ब्रह्मदत्त युवनेश्वर (यूनान के नरेश) से उपहार में प्राप्त एक अत्यन्त सुन्दर घोड़े पर आरूढ़ हो उसके वेग की परीक्षा के लिये काम्पिल्यपुर के बाहर घूमने को निकला। चाबुक की मार पड़ते ही घोड़ा बड़े वेग से दौड़ा और ब्रह्मदत्त द्वारा रोकने का प्रयास करने पर भी नहीं रुका और अनेक नदी, नालों एवं वनों को पार करता हुआ दूर के एक घने जंगल में जा रुका।

उस वन में सरोवर के तट पर उसने एक सुन्दर नागकन्या को किसी जार के साथ संभोग करते देखा और इस दुराचार को देख कर वह क्रोध से तिलमिला

उठा। उसने स्वैर और स्वैरिणी को अपने चाबुक से धुनते हुए उनकी चमड़ी उखेड़ दी।

थोड़ी ही देर में ब्रह्मदत्त के अंगरक्षक अश्व के पदचिह्नों का अनुसरण करते हुए वहां आ पहुँचे और वे भी उनके साथ काम्पिल्यपुर लौट आये।

उधर उस स्वैरिणी नागकन्या ने चाबुक की चोटों से लहूलुहान अपना तन अपने पति नागराज को बताते हुए करुण पुकार की – "नाथ! आज तो आपकी प्राणप्रिया को कामुक ब्रह्मदत्त ने मार ही डाला होता। मैं अपनी सखियों के साथ वन-विहार एवं जल-क्रीड़ा के पश्चात् लौट रही थी कि मुझे उस स्त्री-लम्पट ने देखा और वह मेरे रूप-लावण्य पर मुग्ध हो मेरे पातिव्रत्य धर्म को नष्ट करने के लिये उद्यत हो गया। मेरे द्वारा प्रतीकार करने पर मुझे निर्दयता-पूर्वक चाबुक से पीटने लगा। मैंने बार-बार आपका नाम बताते हुए उससे कहा कि मैं महान् प्रतापी नागराज की पतिव्रता प्रेयसी हूँ पर वह अपने चक्रवर्तित्व के घमण्ड में आपसे भी नहीं डरा और मुझ पतिपरायणा अबला को तब तक पीटता ही रहा जब तक कि मैं अधमरी हो मूर्च्छित नहीं हो गई।"

यह सुन कर नागराज प्रकुपित हो ब्रह्मदत्त का प्राणान्त कर डालने के लिये प्रच्छन्न रूप से उसके शयनागार में प्रविष्ट हुआ। उस समय रात्रि हो चुकी थी और ब्रह्मदत्त पलंग पर लेटा हुआ था।

उस समय राजमहिषी ने ब्रह्मदत्त से प्रश्न किया – "स्वामिन्! आज आप अश्वारूढ़ हो अनेक अरण्यों में घूम आये हैं, क्या वहाँ आपने कोई आश्चर्यजनक वस्तु भी देखी?"

उत्तर में ब्रह्मदत्त ने नागकन्या के दुष्चरित्र और अपने द्वारा उसकी पिटाई किए जाने की सारी घटना सुना दी। यह त्रिया-चरित्र सुनकर छिपे हुए नागराज की आंखें खुल गईं।

उसी समय ब्रह्मदत्त शारीरिक शंका-निवारणार्थ शयन-कक्ष से बाहर निकला तो उसने कान्तिमान नागराज को साञ्जलि मस्तक झुकाये अपने सामने खड़े देखा।

अभिवादन के पश्चात् नागराज ने कहा – "नरेश्वर! जिस पुंश्चली नागकन्या को आपने दण्ड दिया उसका मैं पति हूँ। उसके द्वारा आप पर लगाये गये असत्य आरोप से क्रुद्ध हो मैं आपके प्राण लेने आया था पर आपके मुंह से वास्तविक तथ्य सुनकर आप पर मेरा प्रकोप परम प्रीति में परिवर्तित हो गया है। दुराचार का दमन करने वाली आपकी दण्ड-नीति से मैं अत्यधिक प्रभावित और प्रसन्न हूँ, कहिये मैं आपकी क्या सेवा करूं?"

ब्रह्मदत्त ने कहा – "नागराज! मैं यह चाहता हूँ कि मेरे राज्य में पर-स्त्रीगमन, चोरी और अकाल-मृत्यु का नाम तक न रहे।"

"ऐसा ही होगा", यह कहते हुए नागराज बोला – "भारतेश ! आपकी परोपकारपरायणता प्रशंसनीय है । अब आप कोई निज हित की बात कहिये।"

ब्रह्मदत्त ने कहा – "नागराज ! मेरी अभिलाषा है कि मैं प्राणिमात्र की भाषा को समझ सकूं ।"

नागराज बोला – "राजन् ! मैं वास्तव में आप पर बहुत ही अधिक प्रसन्न हूँ इसलिये यह अदेय विद्या भी आपको देता हूँ पर इस विद्या के अटल और कठोर नियम को आप सदा ध्यान में रखें कि किसी प्राणी की वोली को समझ कर यदि आपने किसी और के सम्मुख उसे प्रकट कर दिया तो आपके सिर के सात टुकड़े हो जायेंगे ।"

ब्रह्मदत्त ने सावधानी रखने का आश्वासन देते हुए नागराज के प्रति आभार प्रकट किया और नागराज भी ब्रह्मदत्त का अभिवादन करते हुए तिरोहित हो गया ।

एक दिन ब्रह्मदत्त अपनी अतीव प्रिया महारानी के साथ प्रसाधन-गृह में बैठा हुआ था । उस समय नर-घरोली और नारी-घरोली अपनी वोली में बात करने लगे । गर्भिणी घरोली अपने पति से कह रही थी कि वह उसके दोहद की पूर्ति के लिये ब्रह्मदत्त का अंगराग ला दे । नर-घरोली उससे कह रहा था – "क्या तुम मुझसे ऊब चुकी हो, जो जानबूझ कर मुझे मौत के मुंह में ढकेल रही हो ?"

ब्रह्मदत्त घरोली दम्पत्ति की बात समझ कर सहसा अट्टहास कर हंस पड़ा । रानी ने अकस्मात् हँसने का कारण पूछा ।

ब्रह्मदत्त जानता था कि यदि उसने उस रहस्य को प्रकट कर दिया तो तत्काल मर जायगा, अतः वह बड़ी देर तक अनेक प्रकार की बातें बना कर उसे टालता रहा । रानी को निश्चय हो गया कि उस हँसी के पीछे अवश्य ही कोई बड़ा रहस्य छिपा हुआ है और उसके स्वामी उससे उसे छिपा रहे हैं । रानी ने नारीहठ का आश्रय लेते हुए दृढ़ स्वर में कहा – "महाराज ! आप अपनी प्राण-प्रिया से भी कुछ छिपा रहे हैं, यह मुझे इस जीवन में पहली ही वार अनुभव हुआ है । यदि आप मुझे हँसी का सही कारण नहीं बतायेंगे तो मैं इसी समय अपने प्राण दे दूंगी ।"

ब्रह्मदत्त ने कहा – "महारानी ! मैं तुमसे कुछ भी छिपाना नहीं चाहता पर केवल यही एक ऐसा रहस्य है कि यदि इसे मैंने प्रकट कर दिया तो तत्काल मेरे प्राण निकल जायेंगे ।"

रानी ने ब्रह्मदत्त की बात पर अविश्वास करते हुए निश्चयात्मक स्वर में कहा – "यदि ऐसा हुआ तो आपके साथ ही साथ मैं भी अपने प्राण दे दूंगी पर इस हँसी का कारण तो मालूम करके ही रहूँगी ।"

रानी में अत्यधिक आसक्ति होने के कारण ब्रह्मदत्त ने रानी के साथ मरघट में जा चिता चुनवाई और रहस्य को प्रकट करने के लिये उद्यत हो गया।

नारी में आसक्ति के कारण अकाल-मृत्यु के लिये तैयार हुए ब्रह्मदत्त को समझाने के लिए उसकी कुलदेवी ने देवमाया से एक गर्भवती बकरी और बकरे का रूप बनाया।

बकरी ने अपनी बोली में बकरे से कहा – "स्वामिन् ! राजा के घोड़े को चराने के लिये जो हरी-हरी जौ की पूलियां पड़ी हुई हैं उनमें से एक पूली लाओ जिसे खाकर मैं अपना दोहला पूर्ण करूँ।"

बकरे ने कहा – "ऐसा करने पर तो मैं राज-पुरुषों द्वारा मार डाला जाऊंगा।"

बकरी ने हठपूर्वक कहा – "यदि तुम जौ की पूली नहीं लाओगे तो मैं मर जाऊंगी।"

बकरे ने कहा – "तू मर जायगी तो मैं दूसरी बकरी को अपनी पत्नी बना लूंगा।"

बकरी ने कहा – "इस राजा के प्रेम को भी तो देखो कि अपनी पत्नी के स्नेह में जान-बूझ कर मृत्यु का आलिंगन कर रहा है।"

बकरे ने उत्तर दिया – "अनेक पत्नियों का स्वामी होकर भी ब्रह्मदत्त एक स्त्री के हठ के कारण पतंगे की मौत मरने की मूर्खता कर रहा है, पर मैं इसकी तरह मूर्ख नहीं हूँ।"

बकरे की बात सुन कर ब्रह्मदत्त को अपनी मूर्खता पर खेद हुआ और अपने प्राण बचाने वाले बकरे के गले में अपना अमूल्य हार डाल कर राजप्रासाद की ओर लौट गया तथा आनन्द के साथ राज्यश्री का उपभोग करने लगा।

चक्रवर्ती की राज्यश्री का उपभोग करते हुए जब ५८४ वर्ष बीत चुके उस समय उसका पूर्व-परिचित एक ब्राह्मण उसके पास आया। ब्रह्मदत्त ने परिचय पाकर उसको बड़ा आदर-सम्मान दिया।

भोजन के समय ब्राह्मण ने ब्रह्मदत्त से कहा – "राजन् ! जो भोजन आपके लिये बना है उसी भोजन को खाने की मेरी अभिलाषा है।"

ब्रह्मदत्त ने कहा – "ब्रह्मन् ! वह आपके लिये दुष्पाच्य और उन्मादकारी होगा।"

ब्रह्महठ के सामने ब्रह्मदत्त को हार माननी पड़ी और उसने उस ब्राह्मण तथा उसके परिवार के सब सदस्यों को अपने लिये बनाया हुआ भोजन खिला दिया।

रात्रि होते ही उस अत्यन्त गरिष्ठ और उत्तेजक भोजन ने अपना प्रभाव प्रकट करना प्रारम्भ किया। अदम्य कामाग्नि ब्राह्मण-परिवार के रोम-रोम से प्रस्फुटित होने लगी। कामोन्माद में अन्धा ब्राह्मण परिवार मां, बहिन, बेटी, पुत्रवधू, पिता, पुत्र, भाई आदि अगम्य सम्बन्धों को भूल गया। उस ब्राह्मण ने

और उसके पुत्र ने अपने परिवार की सब स्त्रियों के साथ पशु की तरह काम-क्रीड़ा करते हुए सारी रात्रि व्यतीत की।

प्रातःकाल होते ही जब उस भोजन का प्रभाव कुछ कम हुआ तो ब्राह्मण-परिवार का कामोन्माद थोड़ा शान्त हुआ और परिवार के सभी सदस्य अपने घृणित दुष्कृत्य से लज्जित हो एक दूसरे से कतराते हुए अपना मुंह छुपाने लगे।

"अरे ! इस दुष्ट राजा ने अपने दूषित अन्न से मेरे सारे परिवार को घोर पापाचार में प्रवृत्त कर पतित कर दिया।" यह कहता हुआ ब्राह्मण अपने पाशविक कृत्य से लज्जित हो नगर के बाहर चला गया।

वन में निरुद्देश्य इधर-उधर भटकते हुए ब्राह्मण ने देखा कि एक चरवाहा पत्थर के छोटे-छोटे ढेलों को गिलोल से फेंक कर वटवृक्ष के कोमल और कच्चे पत्ते पृथ्वी पर गिरा कर अपनी बकरियों को चरा रहा है।

गड़रिये की अचूक और अद्भुत निशानेबाजी को देख कर ब्राह्मण ने सोचा कि इसके द्वारा ब्रह्मदत्त से अपने वैर का बदला लिया जा सकता है। ब्राह्मण ने उस गड़रिये को धन दिया और कहा – "नगर में राजमार्ग पर श्वेत छत्र-चंवरधारी जो व्यक्ति हाथी की सवारी किये निकले उसकी आंखें एक साथ दो पत्थर की गोलियों के प्रहार से फोड़ देना।"

"अपने कृत्य के दुष्परिणाम का विचार किये बिना ही गड़रिये ने नगर में जाकर गजारूढ़ हो राजपथ से निकलते हुए ब्रह्मदत्त की दोनों आंखें एक साथ गिलोल से दो गोलियां फेंक कर फोड़ डालीं[1]।"

"तत्क्षण राजपुरुषों द्वारा गड़रिया पकड़ लिया गया। उससे यह ज्ञात होने पर कि इस सारे दुष्कृत्य का सूत्रधार वही ब्राह्मण है जिसे गत दिवस भोजन कराया गया था, ब्रह्मदत्त बड़ा क्रुद्ध हुआ। उसने उस ब्राह्मण को परिवार सहित मरवा डाला। फिर भी अन्धे ब्रह्मदत्त का क्रोध शान्त नहीं हुआ। वह बार-बार सारी ब्राह्मण जाति को ही कोसने लगा एवं नगर के सारे ब्राह्मणों और अपने पुरोहितों तक को चुन-चुन कर उसने मौत के घाट उतार दिया।"

अपने अन्धे कर दिये जाने की बात से प्रतिपल उसकी क्रोधाग्नि उग्ररूप धारण करती गई। उसने अपने मंत्री को आदेश दिया कि अगणित ब्राह्मणों की आखें निकलवा कर बड़े थाल में उसके सम्मुख रख दी जायँ। मन्त्री ने आंखों के समान श्लेष्मपुंज चिकने लेसवा-लसोड़ा (गूंदे) के गुठली निकले फलों से

---

[1] 'केण उण उवाएण पच्चु (पच्च) वयारो णखइणो कीरई ?" त्ति झायमाणेण इओ बहूहि अ (उ) वयरियव्व विण्णासेहिं गुलियाधणुविक्खेवणिउणो वयंसो। कयसव्वो-वाइसयस्स य साहिओ णिययाहिप्पाओ। तेणावि पडिवण्णं सरहसं।
[चउव्वन्न महापुरिस चरियं, पृ० २४३]

बड़ा थाल भर कर अन्धे ब्रह्मदत्त के सम्मुख रखवा दिया[1]। गूंदों को ब्राह्मणों की आंखें समझ कर ब्रह्मदत्त अतिशय आनन्दानुभव करते हुए कहता – "ब्राह्मणों की आंखों से थाल को बहुत अच्छी तरह भरा गया है।"

वह एक क्षण के लिये भी उस थाल को अपने पास से नहीं हटाता। रात दिन बार-बार उसका स्पर्श कर परम संतोष का अनुभव करता।

इस प्रकार ब्रह्मदत्त ने अपनी आयु के अन्तिम सोलह वर्ष निरन्तर अति तीव्र आर्त्त और रौद्र ध्यान में विताये एवं सात सौ वर्ष की आयु पूर्ण होने पर[2] अपनी पट्टमहिषी कुरुमती के नाम का बार-बार उच्चारण करता हुआ मर कर सातवीं नर्क में चला गया।

प्राचीन इतिहास की एक भग्न कड़ी

बारहवें चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त का जैन आगमों और ग्रन्थों से कतिपय अंशों में मिलता-जुलता वर्णन वेदव्यास रचित महाभारत पुराण और हरिवंश पुराण में भी उपलब्ध होता है।

ब्रह्मदत्त के जीवन की कतिपय घटनाएं जिनके सम्बन्ध में जैन और वैदिक परम्पराओं के साहित्य में समान मान्यता है उन्हें तुलनात्मक विवेचन हेतु यहां दिया जा रहा है :–

(१) ब्रह्मदत्त पांचाल जनपद के काम्पिल्यनगर में निवास करता था।

वैदिक परम्परा :– काम्पिल्ये ब्रह्मदत्तस्य, त्वन्तःपुरनिवासिनी।

(महाभारत, शा० प०, अ० १३९, श्लो० ५)

ब्रह्मदत्तश्च पांचाल्यो, राजा बुद्धिमतां वरः।

(वही, अ० २२४, श्लो० २९)

जैन परम्परा :–

'अत्थि इहेव जंबुद्दीवे भारहे वासे णिरंतरं.......पंचालाहिहाणो जणवओ। तत्थ य.......कंपिल्लं णाम णयरं। तम्मि.......बम्भयत्तो णाम चक्कवट्टी।'

(चउवन्न महापुरिस चरियं, पृ० २१०)

---

[1] मंतिणा वि मुणिऊण तस्स कम्मवसत्तणओ तिव्वमज्झवसायविसेसं घेत्तूणं लेसुरुडयतरुणो वहवे फलट्ठिया पक्खिविऊण थालम्मि णिवेइया पुरओ।

[2] (क) यातेषु जन्मदिवसोऽथ समा शतेषु, सप्तस्वसौ कुरुमतीत्यसकृद्ब्रुवाणः।
हिंसानुबन्धिपरिणामफलानुरूपां, तां सप्तमीं नरकलोकभुवं जगाम॥

[त्रिषष्टि श. पु. चरित्र, पर्व ९, सर्ग १, श्लो. ६००]

(ख) 'चउव्वन्न महापुरिस चरियं' में ब्रह्मदत्त की ७१६ वर्ष की आयु बताई गई है। यथा – ...अइक्कंताइं कइवयदिणाणि सत्तवाससयाइं सोलसुत्तराइं।

[चउव्वन्न महापुरिस चरियं, पृष्ठ २४४]

(२) ब्रह्मदत्त के जीव ने पूर्व भव में एक राजा की ऋद्धि देखकर यह निदान किया था – "यदि मैंने कोई सुकृत, नियम और तपश्चरण किया है तो उस सबके फलस्वरूप मैं भी ऐसा राजा बनूं।"

वैदिक परम्परा :–

स्वतन्त्रश्च विहंगोऽसौ, स्पृहयामास तं नृपम्।
दृष्ट्वा यान्तं श्रियोपेतं, भवेयमहमीदृशः ॥४३॥
यद्यस्ति सुकृतं किंचित्तपो वा नियमोऽपि वा।
खिन्नोऽस्मि ह्युपवासेन, तपसा निष्फलेन च ॥४४॥

(हरिवंश, पर्व १, अ० २३)

जैन परम्परा :–

'सलाहणीओ चक्कवट्टिविहवो ममंपि एस संपज्जउ त्ति जइ इमस्स तवस्स सामत्थमत्थि' त्ति हियएण चिंतिऊण कयं णियाणं त्ति। परिणयं छक्खंडभरहाहिवत्तणं।

(चउवन्न महापुरिस चरियं, पृ० २१७)

(३) ब्रह्मदत्त को जातिस्मरण-ज्ञान (पूर्वजन्म का ज्ञान) हुआ इसका दोनों परम्पराओं में निमित्तभेद को छोड़ कर समान वर्णन है।

वैदिक परम्परा :–

तच्छ्रुत्वा मोहमगमद्, ब्रह्मदत्तो नराधिपः।
सचिवश्चास्य पांचाल्यः, कण्डरीकश्च भारत ॥२२॥
ततस्ते तत्सरः स्मृत्वा, योगं तमुपलभ्य च।
ब्राह्मणं विपुलैरर्थैर्भोगैश्च समयोजयन् ॥२५॥

जैन परम्परा :–

'समुप्पण्णो मणम्मि वियप्पो-अण्णया वि मए एवं विहसंगीओवलक्खिवाणाइयविहि दिट्ठउव्वा, एयं च सिरिदामकुसुमगंडं ति। एवं च परिचिंतयंतेण सोहम्मसुरकप्पे पउमगुम्मे विमाणे सुरविलासिणीकलिज्जमाणणाइयविही दिट्ठा। सुमरिओ अत्तणो पुव्वभवो। तओ मुच्छावसमउलमाणलोयणो सुकुमारत्तणणीसहवेविरसरीरो तक्खणं चेव धरायलम्मि णिवडिओ त्ति।'

(चउवन्न महापुरिस चरियं, पृ० २११)

(४) ब्रह्मदत्त के पूर्वभवों का वर्णन दोनों परम्पराओं द्वारा एक दूसरे से काफी मिलता जुलता दिया गया है।

वैदिक परम्परा :–

सप्त व्याधाः दशार्णेषु, मृगा कालिंजरे गिरौ।
चक्रवाकाः शरद्वीपे, हंसा सरसि मानसे ॥२०॥

तेऽभिजाता कुरुक्षेत्रे, ब्राह्मणा वेदपारगाः ।
प्रस्थिताः दीर्घमध्वानं, यूयं किमवसीदथ ॥२१॥

(हरिवंश, पर्व १, अध्याय २५)

जैन परम्परा :–

दासा दसण्णे आसी, मिया कालिंजरे नगे ।
हंसा मयंगतीराए सोवागा कासिभूमिए ॥६॥
देवा य देवलोयम्मि, आसी अम्हे महिड्ढिया ।
इमा णो छट्ठिया जाई अन्नमन्नेण जा विणा ॥७॥

(उत्तराध्ययन सूत्र, अ० १३)

(५) ब्रह्मदत्त का विवाह एक ब्राह्मण कन्या के साथ हुआ था इस सम्बन्ध में भी दोनों परम्पराओं की समान मान्यता है ।

वैदिक परम्परा :–

ब्रह्मदत्तस्य भार्या तु, देवलस्यात्मजाभवत् ।
असितस्य हि दुर्धर्षा, सन्मतिर्नाम नामतः ॥२६॥

(हरिवंश, पर्व १, अ० २३)

जैन परम्परा :–

ताव य एक दियवरमंदिराओ पेसिएण णिग्गंतूण दासचेड़एण भणिया अम्हे एह भुंजह त्ति।.........भोयणावसाणम्मि....................................
तओ तम्मि चेव दिणे जहाविहववित्थरेण वत्तं पाणिग्गहणं ।

(चउवन्न महापुरिस चरियं, पृ० २२१)

(६) ब्रह्मदत्त पशु-पक्षियों की भाषा समझता था, इस बात का उल्लेख दोनों परम्पराओं में है ।

वैदिक परम्परा :–

ततः पिपीलिकारुतं, स शुश्राव नराधिपः ।
कामिनीं कामिनस्तस्य, याचतः क्रोशतो भृशम् ॥३॥
श्रुत्वा तु याच्यमानां तां, क्रुद्धां सूक्ष्मां पिपीलिकाम् ।
ब्रह्मदत्तो महाहासमकस्मादेव चाहसत् ॥४॥
तथा श्लोक ७ से १० ।

[हरिवंश, पर्व १, अ० २४]

जैन परम्परा :–

गृहगोलं गृहगोला, तत्रोवाचानय प्रिय ।
राज्ञोऽङ्गरागमेतं मे, पूर्यते येन दोहदः ॥५५२॥

प्रत्यूचे गृहगोलोऽपि, कार्यं किं मम नात्मना।
भाषां ज्ञात्वा तयोरेवं, जहास वसुधाधिपः ।।५५३।।
[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ६, सर्ग १]

इसके अतिरिक्त वैदिक परम्परा में पूजनिका नाम की एक चिड़िया के द्वारा ब्रह्मदत्त के पुत्र की आँखें फोड़ डालने का उल्लेख है तो जैन परम्परा के ग्रन्थों में ब्रह्मदत्त के परिचित एक ब्राह्मण के कहने से अचूक निशाना मारने वाले किसी गड़रिये द्वारा स्वयं ब्रह्मदत्त की आँखें फोड़ने का उल्लेख है।

इन कतिपय समान मान्यताओं के होते हुए भी ब्रह्मदत्त के राज्यकाल के सम्बन्ध में दोनों परम्पराओं के ग्रन्थों में बड़ा अन्तर है।

हरिवंश में महाभारतकाल से बहुत पहले ब्रह्मदत्त के होने का उल्लेख है;[1] पर इसके विपरीत जैन परम्परा के आगम व अन्य ग्रन्थों में पाण्डवों के निर्वाण के बहुत काल पश्चात् ब्रह्मदत्त के होने का उल्लेख है।

जैन परम्परा के आगमों और प्राचीन ग्रन्थों में प्रत्येक तीर्थंकर, चक्रवर्ती बलदेव, वासुदेव और प्रतिवासुदेव के पूरे जीवनचरित्र के साथ-साथ इन सब का काल उपलब्ध होता है। इसके साथ ही एक उल्लेखनीय बात यह है कि इन त्रेसठ श्लाघ्य पुरुषों का जो समय एक आगम में दिया गया है, वही समय अन्य आगमों एवं सभी प्राचीन ग्रन्थों में दिया हुआ है। अतः ऐसी दशा में जैन परम्परा के साहित्य में दिये गये इनके जीवनकाल के सम्बन्ध में विशेष शंका की गुंजायश नहीं रह जाती।

भारतवर्ष की इन दो अत्यन्त प्राचीन परम्पराओं के मान्य ग्रन्थों में जो अधिकांशतः समानता रखने वाला ब्रह्मदत्त का वर्णन उपलब्ध है उसके सम्बन्ध में इतिहासज्ञों द्वारा खोज की जाय तो निश्चित रूप से यह भारतीय प्राचीन इतिहास की शृंखला को जोड़ने में सहायक सिद्ध हो सकता है।

---

[1] प्रतीपस्य तु राजर्षेस्तुल्यकालो नराधिप।
पितामहस्य मे राजन्, बभूवेति मया श्रुतम् ।।११।।
ब्रह्मदत्तो महाभागो, योगी राजर्षिसत्तमः।
रुतज्ञः सर्वभूतानां, सर्वभूतहिते रतः ।।१२।।

भगवान् श्री पार्श्वनाथ

भगवान् अरिष्टनेमि (नेमिनाथ) के पश्चात् तेवीसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ हुए। आपका समय ईसा से पूर्व नवमीं-दशवीं शताब्दी है। आप भगवान् महावीर से दो सौ पचास वर्ष पूर्व हुए। ऐतिहासिक शोध के आधार पर आज के ऐतिहासिक विषय के विद्वान् भगवान् पार्श्वनाथ को ऐतिहासिक पुरुष मानने लगे हैं।

मेजर जनरल फर्लांग ने ऐतिहासिक शोध के पश्चात् लिखा है – "उस काल में सम्पूर्ण उत्तर भारत में एक ऐसा अतिव्यवस्थित, दार्शनिक, सदाचार एवं तप-प्रधान धर्म अर्थात् जैनधर्म अवस्थित था, जिसके आधार से ही ब्राह्मण एवं बौद्धादि धर्मों के संन्यासमार्ग बाद में विकसित हुए। आर्यों के गंगा-तट एवं सरस्वती-तट पर पहुंचने से पूर्व ही लगभग बाईस प्रमुख सन्त अथवा तीर्थंकर जैनों को धर्मोपदेश दे चुके थे, जिनके बाद पार्श्व हुए और उन्हें अपने उन समस्त पूर्व तीर्थंकरों का अथवा पवित्र ऋषियों का ज्ञान था, जो बड़े-बड़े समयान्तरों को लिये हुए पहले हो चुके थे। उन्हें उन अनेकों धर्मशास्त्रों का भी ज्ञान था जो प्राचीन होने के कारण पूर्व या पुराण कहलाते थे और जो सुदीर्घकाल से मान्य मुनियों, वानप्रस्थों या वनवासी साधुओं की परम्परा में मौखिक द्वार से प्रवाहित होते आ रहे थे।[1]

डॉ० हर्मन जैकोबी जैसे लब्धप्रतिष्ठ पश्चिमी विद्वान् भी भगवान् पार्श्वनाथ को ऐतिहासिक पुरुष मानते हैं। उन्होंने जैनागमों के साथ ही बौद्ध पिटकों के प्रकाश में यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि पार्श्वनाथ ऐतिहासिक व्यक्ति थे।[2]

डॉ० हर्मन जैकोबी के प्रस्तुत कथन का समर्थन अन्य अनेकों इतिहासविज्ञों ने भी किया है। डॉ० 'वासम' के अभिमतानुसार भगवान् महावीर बौद्ध पिटकों में बुद्ध के प्रतिस्पर्द्धी के रूप में उट्टंकित किये गये हैं एतदर्थ उनकी ऐतिहासिकता में सन्देह नहीं रह जाता।[3]

---

[1] भारतीय इतिहास : एक दृष्टि : डॉ० ज्योतिप्रसाद, पृष्ठ १४६

[2] The Sacred Books of the East Vol. XLV, Introduction, page 21 "That Parsva was a historical person, is now admitted by all as very probable,..........."

[3] The Wonder that was India (A. L. Basham B. A., Ph.D., F. R. A. S.) Reprinted 1956, P. 287-288 :–

"As he (Vardhaman Mahavira) is referred to in the Buddhist Scriptures as one of the Buddha's chief opponents, his historicity is beyond doubt...Parswa was remembered as twenty-third of the twenty-four great teachers or Tirthankaras (Ford makers) of the Jaina faith."

डॉ० चार्ल शार्पेंटियर ने लिखा है – "हमें इन दो बातों का भी स्मरण रखना चाहिये कि जैन धर्म निश्चितरूपेण महावीर से प्राचीन है। उनके प्रख्यात पूर्वगामी पार्श्व प्रायः निश्चितरूपेण एक वास्तविक व्यक्ति के रूप में विद्यमान रह चुके हैं; एवं परिणामस्वरूप मूल सिद्धान्तों की मुख्य बातें महावीर से बहुत पहले सूत्र-रूप धारण कर चुकी होंगी।"[1]

भगवान् पार्श्वनाथ के पूर्व धार्मिक स्थिति

भगवान् पार्श्वनाथ के उपदेशों की विशिष्टता समझने के लिये उस समय की देश की धार्मिक स्थिति कैसी थी, यह समझना आवश्यक है। उपलब्ध वैदिक साहित्य के परिशीलन से ज्ञात होता है कि ई० ९वीं सदी से पूर्व ऋग्वेद के अन्तिम मंडल की रचना हो चुकी थी। मंडल के नासदीय[2] सूक्त, हिरण्यगर्भसूक्त[3] तथा पुरुषसूक्त[4] प्रभृति से प्रमाणित होता है कि उस समय देश में तत्त्व-जिज्ञासाएं उद्भूत होने लगीं और उन पर गम्भीर चिंतन चलने लगे थे। उपनिषद्काल में ये जिज्ञासाएं इतनी प्रबल हो चुकी थीं कि उनके चिन्तन-मनन के लिये विद्वानों की सभाएं की जाने लगीं। उनमें राजा, ऋषि, ब्राह्मण और क्षत्रिय समान रूप से भाग लेते थे। उनमें जगत् के मूलभूत तत्त्वों के सम्बन्ध में गम्भीर चिन्तन कर सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये जिनको 'पराविद्या' कहा गया। उनमें गार्ग्यायण, जनक, भृगु, वारुणि, उद्दालक और याज्ञवल्क्य आदि पराविद्या के प्रमुख आचार्य थे। इनके विचारों में विविधता थी। आत्मविषयक चिन्तन में गति बढ़ने पर सहज-स्वाभाविक था कि यज्ञ-यागादि क्रियाकाण्ड में रुचि कम हो, कारण कि मोक्ष-प्राप्ति के लिये यज्ञ आदि क्रियाओं का किसी प्रकार का उपयोग नहीं। गहन चिन्तन-मनन के पश्चात् विचारकों ने यज्ञ-यागादि कर्मकाण्ड को 'अपराविद्या' और मोक्षदायक आत्मज्ञान को 'पराविद्या' की संज्ञा देकर 'अपराविद्या' से 'पराविद्या' को श्रेष्ठ बतलाया।

कठोपनिषद् में तो यहां तक कहा गया कि :–

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो, न मेधया वा बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥
[१/२/२३]

इस प्रकार की विचारधाराएं आगे बढ़ीं तो वेदों के अपौरुषेयत्व और अनादित्व पर आक्षेप आने लगा। ये विचारक एकान्त, शान्त वन-प्रदेशों में

[1] The Uttaradhyana Sutra, Introduction, Page 21:–
"We ought also to remember both the Jain religion is certainly older than Mahavira, his reputed predecessor Parshva having almost certainly existed as a real person, and that consequently, the main points of the original doctrine may have been codified long before Mahavira."

[2] ऋग्वेद १०।१२९

[3] वही १०।१२१

[4] वही १०।९०

ब्रह्म, जगत् और आत्मा आदि अतीन्द्रिय विषयों पर चिन्तन किया करते। ये अधिकांशतः मौन रहते, अतः मुनि कहलाये। वेदों में भी ऐसे वातरशना तत्व-चिन्तकों को ही मुनि[१] कहा गया है।

इन वनवासियों का जीवन-सिद्धान्त तपस्या, दान, आर्जव, अहिंसा और सत्य था। छान्दोग्योपनिषद्[२] में श्री कृष्ण को घोर अंगिरस ऋषि ने यज्ञ की यही सरल विधि बतलाई थी और उनकी दक्षिणा भी यही थी। गीता[३] के अनुसार इन भावनाओं की उत्पत्ति ईश्वर से बताई गई है।

उस समय एक ओर इस प्रकार का ज्ञान-यज्ञ चल रहा था तो दूसरी ओर यज्ञ के नाम पर पशुओं की बलि चढ़ा कर देवों को प्रसन्न करने का आयोजन भी खुल कर होता था। जब लोक-मानस कल्याणमार्ग का निर्णय करने में दिग्मूढ़ होकर किसी विशिष्ट नेतृत्व की अपेक्षा में था ऐसे ही समय में भगवान् पार्श्वनाथ का भारत की पुण्यभूमि वाराणसी में उत्तरण हुआ। उनका करुणाकोमल मन प्राणिमात्र को सुख-शान्ति का प्रशस्त मार्ग दिखाना चाहता था। उन्होंने अनुकूल समय में यज्ञ-याग की हिंसा का प्रबल विरोध किया और आत्मध्यान, इन्द्रियदमन पर जनता का ध्यान आकर्षित किया। आधुनिक इतिहासलेखकों की कल्पना है कि हिंसामय यज्ञ का विरोध करने से यज्ञप्रेमी उनके कट्टर विरोधी हो गये। उनके विरोध के फलस्वरूप भगवान् पार्श्वनाथ को अपना जन्मस्थान छोड़कर अनार्य देश को अपना उपदेश-क्षेत्र बनाना पड़ा।[४] वास्तव में ऐसी बात नहीं है। यज्ञ का विरोध भगवान् महावीर के समय में भगवान् पार्श्वनाथ के समय से भी उग्र रूप से किया गया था फिर भी वे अपने जन्मस्थान और उसके आसपास धर्म का प्रचार करते रहे। ऐसी स्थिति में पार्श्वनाथ का अनार्य प्रदेश में भ्रमण भी विरोध के भय से नहीं किन्तु सहज धर्म-प्रचार की भावना से ही होना संगत प्रतीत होता है।

पूर्वभव की साधना

अन्यान्य तीर्थंकरों की तरह भगवान् पार्श्वनाथ ने भी पूर्वभव की साधना के फलस्वरूप ही तीर्थंकर-पद की योग्यता प्राप्त की थी। कोई भी आत्मा एका-एक पूर्ण विकास नहीं कर लेता। जन्मजन्मान्तर की करणी और साधना से ही विशुद्धि प्राप्त कर वह मोक्षयोग्य स्थिति प्राप्त करता है। भगवान् पार्श्व का साधनारम्भकाल दश भव पूर्व से बतलाया हैं जिसका विस्तृत परिचय 'चउवन

---

[१] भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ० १४–१६।

[२] छान्दोग्योपनिषद्, ३।१७।४–६

[३] अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावाः भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥
[गीता १०।५]

[४] हिस्टोरिकल बिगिनिंग आफ जैनिज्म, पृ० ७८।

महापुरिस चरियम्', 'त्रिषष्टि शलाका पुरिष चरित्र' आदि में दृष्टव्य है। यहां उनका नामोल्लेख कर आठवें भव से जहां तीर्थंकर-गोत्र का वन्ध किया, संक्षिप्त परिचय दिया जाता है। जैसे प्रथम मरुभूति और कमठ का भव, दूसरा हाथी का भव, तीसरा सहस्रार देव का, चौथा किरणदेव विद्याधर का, पांचवां अच्युत देव का, छट्ठा वज्रनाभ का, सातवां ग्रैवेयक देव का, आठवां स्वर्णबाहु का, नवमां प्राणतदेव का और दशवां पार्श्वनाथ का।

इन्होंने स्वर्णबाहु के अपने आठवें भव में तीर्थंकर-गोत्र उपार्जित करने के बीस बोलों की साधना की और तीर्थंकर-गोत्र का उपार्जन किया, जिसका संक्षिप्त वृत्तान्त इस प्रकार है :—

वज्रनाभ का जीव देवलोक से च्युत हो पूर्व-विदेह में महाराज कुलिश-बाहु की धर्मपत्नी सुदर्शना की कुक्षि से चक्रवर्ती के सब लक्षणों से युक्त सुवर्ण-बाहु के रूप में उत्पन्न हुआ। सुवर्णबाहु के युवा होने पर महाराज कुलिशबाहु ने योग्य कन्याओं से उनका विवाह कर दिया और उन्हें राजपद पर अभिषिक्त कर वे स्वयं दीक्षित होगये।

राजा होने के पश्चात् सुवर्णबाहु एक दिन घोड़े पर सवार होकर प्रकृति-दर्शन के लिये वन की ओर निकले। घोड़ा बेकाबू हो गया और उन्हें एक गहन वीहड़ वन में ले गया। उनके सब साथी पीछे रह गये। एक सरोवर के पास घोड़े के खड़े होने पर राजा घोड़े से नीचे उतरे। उन्होंने सरोवर में जलपान किया और घोड़े को एक वृक्ष से बांधकर वन-विहार के लिये निकल पड़े। घूमते हुए सुवर्णबाहु एक आश्रम के पास पहुंचे जिसमें कि आश्रमवासी तापस रहते थे। राजा ने देखा कि उस आश्रम के कुसुम-उद्यान में कुछ युवा कन्यायें क्रीड़ा कर रही हैं। उनमें से एक अति कमनीय सुन्दरी को देख कर सुवर्णबाहु का मन उस कन्या के प्रति आकृष्ट हो गया और वे उस कन्या के सौन्दर्य को अपलक देखने लगे। कन्या के ललाट पर किये गये चन्दनादि के लेप और सुवासित हार से उसके मुख पर भौंरे मंडराने लगे। कन्या द्वारा बार बार हटाये जाने पर भी भौंरे अधिकाधिक संख्या में उसके मुखमण्डल पर मंडराने लगे, इससे घबड़ा कर कन्या सहसा चिल्ला उठी। इस पर सुवर्णबाहु ने अपनी चादर के छोर से भौंरों को हटा कर कन्या को भयमुक्त कर दिया।

सुवर्णबाहु के इस अयाचित साहाय्य से क्रीड़ारत सभी कन्याएं प्रभावित हुईं और राजकुमारी का परिचय देते हुए बोलीं – "यह राजा खेचरेन्द्र की राजकुमारी पद्मा हैं। अपने पिता के देहान्त के कारण राजमाता रत्नावली के साथ यह यहां गाल्व ऋषि के आश्रम में सुरक्षा हेतु आई हुई हैं। यहां कल एक दिव्यज्ञानी ने आकर रत्नावली से कहा – "तुम चिन्ता न करो, तुम्हारी कन्या को चक्रवर्ती सुवर्णबाहु जैसे योग्य पति की प्राप्ति होगी। आज वह बात सत्य सिद्ध हुई है।"

आश्रम के संचालक गालव ऋषि ने जब सुवर्णबाहु के आने की वात सुनी तो महारानी रत्नावली को साथ लेकर वे भी वहां आये और अतिथिसत्कार के पश्चात् सुवर्णबाहु के साथ पद्मा का गांधर्व-विवाह कर दिया। इस समय राजा सुवर्णबाहु का सैन्यदल और पद्मा का भाई पद्मोत्तर भी वहां आगये। पद्मोत्तर के आग्रह से सुवर्णबाहु कुछ समय तक वहां रहे और फिर अपने नगर को लौट आये।

राज्य का उपभोग करते हुए सुवर्णबाहु के यहां चक्ररत्न प्रगट हुआ। उसके प्रभाव से षट्खंड की साधना कर सुवर्णबाहु चक्रवर्ती सम्राट् बन गये।[1]

एक दिन पुराणपुर के उद्यान में तीर्थंकर जगन्नाथ का समवशरण हुआ। सुवर्णबाहु ने सहस्रों नर-नारियों को समवशरण की ओर जाते देख कर द्वारपाल से इसका कारण पूछा और जब उन्हें तीर्थंकर जगन्नाथ के पधारने की बात मालूम हुई तो हर्षित होकर वे भी सपरिवार उन्हें वन्दन करने गये। तीर्थंकर जगन्नाथ के दर्शन और समवशरण में आये हुए देवों को बार बार स्मरण कर सुवर्णबाहु बहुत प्रभावित हुए और उन्हें वीतराग-जीवन की महिमा पर चिन्तन करते हुए जातिस्मरण हो आया।[2] फलतः पुत्र को राज्य सौंप कर उन्होंने तीर्थंकर जगन्नाथ के पास दीक्षा ग्रहण की एवं उग्र तपस्या करते हुए गीतार्थ होगये। मुनि सुवर्णबाहु ने तीर्थंकर गोत्र उपार्जित करने के अर्हद्भक्ति आदि बीस साधनों में से अनेक की सम्यक्रूप से आराधना कर तीर्थंकरगोत्र का वंध किया।[3] तपस्या के साथ साथ उनकी प्रतिज्ञा बड़ी बढ़ी-चढ़ी थी। एक वार वे विहार करते हुए क्षीरगिरि के पास क्षीरवर्ण नामक वन में आए और सूर्य के सामने दृष्टि रख कर कायोत्सर्गपूर्वक आतापना लेने खड़े हो गये। उस समय कमठ का जीव जो सप्तम नर्क से निकल कर उस वन में सिंह रूप से उत्पन्न हुआ था, अपने सामने सुवर्णबाहु मुनि को खड़े देख कर क्रुद्ध हो गर्जना करता हुआ उन पर झपट पड़ा।

मुनि सुवर्णबाहु ने कायोत्सर्ग पूर्ण किया और अपनी आयु निकट समझ कर संलेखनापूर्वक अनशन कर वे ध्यानावस्थित हो गये।

सिंह ने पूर्वभव के वैर के कारण मुनि पर आक्रमण किया और उनके शरीर को चीरने लगा पर मुनि सर्वथा शान्त और अचल रहे। समभाव के साथ आयु पूर्ण कर वे महाप्रभ नाम के विमान में बीस सागर की स्थिति वाले देव हुए।

सिंह भी मर कर चौथी नर्कभूमि में दश सागर की स्थिति वाले नारक-जीव के रूप में उत्पन्न हुआ। नारकीय आयु पूर्ण करने के पश्चात् कमठ का जीव दीर्घकाल तक तिर्यंग् योनि में अनेक प्रकार के कष्ट भोगता रहा।

---

[1] त्रिषष्टि शलाका पु० च० ६।२१
[2] चउ. म. पु. च., पृ. २५५
[3] चउवन्न महापुरिस चरियं, पृ० २५६

विविध ग्रन्थों में पूर्वभव

पद्मचरित्र के अनुसार पार्श्वनाथ की पूर्वजन्म की नगरी का नाम साकेता और पूर्वभव का नाम आनन्द था और उसके पिता का नाम वीतशोक डामर था। रविसेन ने पार्श्वनाथ को वैजयन्त स्वर्ग से अवतरित माना है, जबकि तिलोय-पण्णत्ती और कल्पसूत्र में पार्श्वनाथ के प्राणत कल्प से आने का उल्लेख है।

जिनसेन का आदि पुराण और गुणभद्र का उत्तर पुराण पद्मचरित्र के पश्चात् की रचनाएं हैं।

उत्तरपुराण और पासनाह चरिउं में पार्श्वनाथ के पूर्वभव का वर्णन प्रायः समान है।

आचार्य हेमचन्द्र के त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र और लक्ष्मी वल्लभ की उत्तराध्ययन सूत्र की टीका के तेवीसवें अध्ययन में भी पूर्वभवों का वर्णन प्राप्त होता है।

पश्चाद्वर्ती आचार्यों द्वारा पार्श्वनाथ की जीवनगाथा स्वतन्त्र प्रबन्ध के रूप में भी ग्रथित की गई है। श्वेताम्बर परम्परा में पहले पहल श्री देवभद्र सूरि ने सिरि पासनाह चरिउं के नाम से एक स्वतन्त्र प्रबन्ध लिखा। उसमें निर्दिष्ट पूर्वभवों का वर्णन प्रायः वही है जो गुणभद्र के उत्तर पुराण में उल्लिखित है। केवल परम्परा की दृष्टि से कुछ स्थलों में भिन्नता पाई जाती है, जो श्वेताम्बर परम्परा के उत्तरवर्ती ग्रन्थों में भी स्वीकृत है। देवभद्र सूरि के अनुसार मरुभूति अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् खिन्न मन रहने लगे एवं हरिश्चन्द्र नामक मुनि के द्वारा दिये गये उपदेश का अनुसरण करके अपने घरबार, यहां तक कि अपनी पत्नी के प्रति भी वे सर्वथा उदासीन रहने लगे। इसके परिणामस्वरूप उनकी पत्नी वसुन्धरी का कमठ नामक किसी व्यक्ति के प्रति आकर्षण हो गया। कमठ और अपनी पत्नी के पापाचरण की कहानी मरुभूति को कमठ की पत्नी वरुणा से ज्ञात हुई। मरुभूति ने इसकी सच्चाई को जानने के लिये नगर के बाहर जाने का ढोंग किया। रात्रि में याचक के वेष में लौटकर उसी स्थान पर ठहरने की अनुमति पा ली। वहां उसने कमठ और वसुन्धरी को मिलते देखा।[1]

जन्म और मातापिता

चैत्र कृष्णा चतुर्थी के दिन विशाखा नक्षत्र में स्वर्णबाहु का जीव प्राणत देवलोक से बीस सागर की स्थिति भोग कर च्युत हुआ और भारतवर्ष की प्रसिद्ध नगरी वाराणसी के महाराज अश्वसेन की महारानी वामा की कुक्षि में मध्यरात्रि के समय गर्भरूप से उत्पन्न हुआ। माता वामादेवी चौदह शुभ-स्वप्नों को मुख में प्रवेश करते देखकर परम प्रसन्न हुई और पुत्र-रत्न की सुरक्षा के लिए सावधानी-पूर्वक गर्भ का धारण-पालन करती रही। गर्भकाल के पूर्ण होने पर पौष

[1] पासनाह चरिउं, पद्मकीर्त्ति विरचित, प्रस्तावना, पृष्ठ ३१

कृष्णा[1] दशमी के दिन मध्यरात्रि के समय विशाखा नक्षत्र से चन्द्र का योग होने पर आरोग्ययुक्त माता ने सुखपूर्वक पुत्र-रत्न को जन्म दिया। तिलोयपन्नत्ती में भगवान् नेमिनाथ के जन्मकाल से ८४ हजार छह सौ ५० वर्ष बीतने पर भगवान् पार्श्वनाथ का जन्म लिखा है।[2] प्रभु के जन्म से घर-घर में आमोद-प्रमोद का मंगलमय वातावरण प्रसरित हुआ और क्षणभर के लिए समग्र लोक में उद्योत हो गया।

समवायांग और आवश्यक निर्युक्ति में पार्श्व के पिता का नाम आससेण (अश्वसेन) तथा माता का नाम वामा लिखा है। उत्तरकालीन अनेक ग्रन्थकारों ने भी यही नाम स्वीकृत किये हैं।

आचार्य गुणचन्द्र और पुष्पदन्त ने (उत्तरपुराण और महापुराण में) पिता का नाम विश्वसेन और माता का नाम ब्राह्मी लिखा है। वादिराज ने पार्श्वनाथ चरित्र में माता का नाम ब्रह्मदत्ता लिखा है। तिलोयपन्नत्ती में पार्श्व की माता का नाम वर्मिला भी दिया है। अश्वसेन का पर्यायवाची हयसेन नाम भी मिलता है। मौलिक रूप से देखा जाय तो इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। गुण, प्रभाव और बोलचाल की दृष्टि से व्यक्ति के नाम में भिन्नता होना आश्चर्य की बात नहीं है।

वंश एवं कुल

भगवान् पार्श्वनाथ के कुल और वंश के सम्बन्ध में समवायांग आदि मूल आगम में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं प्राप्त होता। केवल आवश्यक निर्युक्ति में कुछ संकेत मिलता है, वहां बाईस तीर्थंकरों को काश्यपगोत्रीय और मुनिसुव्रत एवं अरिष्टनेमि को गौतमगोत्रीय बतलाया है। पर देवभद्र सूरि के "पार्श्वनाथ चरित्र" और त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र में अश्वसेन भूप को इक्ष्वाकुवंशी[3] माना गया है। काश्यप और इक्ष्वाकु एकार्थक होने से कहीं इक्ष्वाकु के स्थान पर काश्यप कहते हैं। पुष्पदन्त ने पार्श्व को उग्रवंशीय कहा है।[4] तिलोयपन्नत्ती में भी आपका वंश उग्रवंश बतलाया है। और आजकल के इतिहासज्ञ विद्वान् पार्श्व को उरग या नागवंशी भी कहते हैं।

नामकरण

पुत्रजन्म की खुशी में महाराज अश्वसेन ने दश दिनों तक मंगल-महोत्सव मनाया और बारहवें दिन नामकरण करने के लिए अपने सभी स्वजन एवं

---

[1] उत्तरपुराण में दशमी के स्थान पर एकादशी को विशाखा नक्षत्र में जन्म माना गया है।

[2] पण्णासाधियछस्सयचुलसी-दिसहस्स-वस्सपरिवत्ते।
ऐमि जिणुप्पत्तीदो, उप्पत्ती पासणाहस्स। ति. प., ४।५७६।पृ. २१४

[3] तस्यामिक्ष्वाकुवंश्योऽभूदश्वसेनो महीपतिः। [त्रि०श०पु०च०, प. ६, स. ३, श्लो० १४]

[4] महापुराण – ९४।२२।२३

मित्र-वर्ग को आमन्त्रित कर बोले – "बालक के गर्भस्थ रहते समय इसकी माता ने अंधेरी रात में भी पास (पार्श्व) में चलते हुए सर्प को देख कर मुझे सूचित किया और अपनी प्राणहानि से मुझे बचाया अतः इस बालक का नाम पार्श्वनाथ रखना चाहिए।" इस निश्चय के अनुसार बालक का नाम पार्श्वनाथ रखा गया।[1]

उत्तरपुराण के अनुसार इन्द्र ने बालक का नाम पार्श्वनाथ रखा।[2]

बाललीला

नीलोत्पल कमल सी कान्ति वाले श्री पार्श्व बाल्यकाल से ही परम मनोहर और तेजस्वी प्रतीत होते थे। अतुल बल-वीर्य के धारक प्रभु १००८ शुभ लक्षणों से विभूषित थे। सर्प-लांछन वाले पार्श्व कुमार बालभाव में अनेक राजकुमारों और देवकुमारों के साथ क्रीड़ा करते हुए उडुगण में चन्द्र की तरह चमक रहे थे।

पार्श्वकुमार की बाल्यकाल से ही प्रतिभा और बुद्धिकौशल को देख कर महारानी वामा और महाराज अश्वसेन परम संतुष्ट थे।

गर्भकाल से ही प्रभु मति, श्रुति और अवधिज्ञान के धारक तो थे ही फिर बाल्यकाल पूर्ण कर जब यौवन में प्रवेश करने लगे तो आपकी तेजस्विता और अधिक चमकने लगी। आपके पराक्रम और साहस की द्योतक एक घटना इस प्रकार है :–

पार्श्व की वीरता और विवाह

महाराज अश्वसेन एक दिन राजसभा में बैठे हुए थे कि सहसा कुशस्थल नगर से एक दूत आया और बोला – "कुशस्थल के भूपति नरवर्मा जो बड़े धर्म-

---

१ (क) सामण्णं सव्वे जाणका पासका य सव्व भावाणं, विसेसो माता अन्धारे सप्पं पासति, रायाणं भणाति-हत्थं विलएह सप्पो जाति, किह एस दीसति ? दीवएणं पलोइओ दिट्ठो।

[आवश्यक चूर्णि, उत्तर भाग, पृष्ठ ११]

(ख) गर्भस्थितेऽस्मिन्जननी, कृष्णनिश्यपि पार्श्वतः।
सर्पन्तं सर्पमद्राक्षीत्, सद्यः पत्युः शशंस च ॥
स्मृत्वा तदेष गर्भस्य, प्रभाव इति निर्णयन्।
पार्श्व इत्यभिधां सूनोरश्वसेननृपोऽकरोत् ॥

[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ६, सर्ग ३, श्लो. ४२]

(ग) पासोवसप्पेण सुविणयंमि सप्पं पलोइत्था........

[सिरि पासनाह चरिउं, गाथा ११, प्र. ३, पृष्ठ १४०]

२ जन्माभिषेककल्याणपूजानिर्वृत्यनन्तरम्।
पार्श्वाभिधानं कृत्वास्य, पितृभ्यां तं समर्पयन् ॥

[उत्तरपुराण, पर्व ७३, श्लोक ९२]

प्रेमी, साधु-महात्माओं के परम उपासक थे उन्होंने संसार को तृणवत् त्याग कर जैन-श्रमण-दीक्षा स्वीकार की और उनके पुत्र प्रसेनजित इस समय राज्य का संचालन कर रहे हैं। उनकी पुत्री प्रभावती ने जब से आपके पुत्र पार्श्वकुमार के अनुपम रूप की महिमा सुनी तभी से वह इन पर मुग्ध है। उसने यह प्रतिज्ञा कर रखी है कि मैं पार्श्वनाथ के अतिरिक्त अन्य किसी का भी वरण नहीं करूंगी।

मातापिता भी कुमारी की इस पसंद से प्रसन्न थे किन्तु कलिंग देश के यवन नामक राजा ने जब यह सुना तो उसने कुशस्थल पर चढ़ाई कर दी और भरी सभा में यह घोषणा की – "मेरे रहते हुए प्रभावती को ब्याहने वाला पार्श्व कौन है ?"

ऐसा कह कर उसने एक विशाल सेना के साथ कुशस्थल नगर पर घेरा डाल दिया। उसका कहना है कि या तो प्रभावती दो या युद्ध करो। कुशस्थल के महाराज प्रसेनजित बड़े असमंजस में हैं। उन्होंने मुझे सारी स्थिति से आपको अवगत करने के लिए आपकी सेवा में भेजा है। अब आगे क्या करना है, इसमें देव ही प्रमाण हैं।"

दूत की बात सुन कर महाराज अश्वसेन क्रोधावेश में बोले – "अरे ! उस पामर यवनराज की यह हिम्मत जो मेरे रहते हुए तुम लोगों पर आक्रमण करे। मैं कुशस्थल के रक्षण की अभी व्यवस्था करता हूँ।"

यह कह कर महाराज अश्वसेन ने युद्ध की भेरी बजवा दी। क्रीड़ांगण में खेलते हुए पार्श्वकुमार ने जब रणभेरी की आवाज सुनी तो वे पिता के पास आये और प्रणाम कर पूछने लगे – "तात ! यह कैसी तैयारी है ? आप कहां जा रहे हैं ? मेरे रहते आपके जाने की क्या आवश्यकता है ? छोटे-मोटे शत्रुओं को तो मैं ही शिक्षा दे सकता हूँ। कदाचित् आप सोचते होंगे कि यह बालक है, इसको खेल से क्यों वंचित रखा जाय परन्तु महाराज क्षत्रियपुत्र के लिए युद्ध भी एक खेल ही है। मुझे इसमें कोई विशेष श्रम प्रतीत नहीं होता।"

पुत्र के इन साहस भरे वचनों को सुन कर महाराज अश्वसेन ने उन्हें सहर्ष कुशस्थल जाने की अनुमति प्रदान कर दी। पार्श्वकुमार ने गजारूढ़ हो चतुरंगिणी सेना के साथ शुभमुहूर्त में वहां से प्रयाण किया। प्रभु के प्रयाण करने पर शक्र का सारथि सहयोग हेतु आया और विनयपूर्वक नमस्कार कर बोला – "भगवन् ! क्रीड़ा की इच्छा से आपको युद्ध के लिए तत्पर देख कर इन्द्र ने मेरे साथ सांग्रामिक रथ भेजा है। आपकी अपरिमित शक्ति को जानते हुए भी इन्द्र ने अपनी भक्ति प्रकट की है।"

कुमार पार्श्वनाथ ने भी कृपा कर धरातल से ऊपर चलने वाले उस रथ पर आरोहण किया[1] और कुछ ही दिनों में कुशस्थल पहुँच कर युद्ध की घोषणा करवा दी। उन्होंने पहले यवनराज के पास अपना दूत भेज कर कहलाया कि

[1] त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ९, सर्ग ३, श्लोक ११७–१२०।

राजा प्रसेनजित ने महाराज अश्वसेन की शरण ग्रहण की है। इसलिए कुशस्थल को घेराबन्दी से मुक्त कर दो। अन्यथा महाराज अश्वसेन के कोप-भाजन बनने से तुम्हारा भला नहीं है।

दूत की बात सुनकर यवनराज ने आवेश में आकर कहा – "जाओ अपने स्वामी पार्श्व को कह दो कि यदि वह अपनी कुशल चाहता है तो बीच में न पड़े। ऐसा न हो कि हमारे क्रोध की आग में पड़ने से उस बालक को असमय में ही प्राण गंवाना पड़े।"

दूत के मुख से यवनराज की बात सुनकर करुणासागर पार्श्वकुमार ने यवनराज को समझाने के लिये दूत को दूसरी बार और भेजा।

दूत ने दुबारा जाकर यवनराज से फिर कहा – "स्वामी ने तुम पर कृपा करके पुनः मुझे भेजा है न कि किसी प्रकार की कमजोरी के कारण। तुम्हारा इस ही में भला है कि उनकी आज्ञा को स्वीकार कर लो।"

दूत की बात सुनकर यवनराज के सैनिक उठे और जोर-जोर से कहने लगे – "अरे ! अपने स्वामी के साथ क्या तुम्हारी कोई शत्रुता है जिससे तुम उन्हें युद्ध में ढकेल रहे हो ?"

सैनिकों को रोक कर वृद्ध मन्त्री बोला – "सैनिको ! स्वामी के प्रति द्रोह यह दूत नहीं अपितु तुम लोग कर रहे हो। पार्श्व की महिमा तुम लोग नहीं जानते, वह देवों, दानवों और मानवों के पूजनीय एवं महान् पराक्रमी हैं। इन्द्र भी उनकी शक्ति के सामने सिर झुकाते हैं अतः सबका हित इस ही में है कि पार्श्वनाथ की शरण स्वीकार कर लो।"

मन्त्री की इस स्व-परहितकारिणी शिक्षा से यवनराज भी प्रभावित हुआ और पार्श्वनाथ का वास्तविक परिचय प्राप्त कर उनकी सेवा में पहुँचा। विशाल सेना से युक्त प्रभु के अद्भुत पराक्रम को देखकर उसने सविनय अपनी भूल स्वीकार करते हुए क्षमा-याचना की। पार्श्वनाथ ने भी उसको अभय कर विदा कर दिया।

उसी समय कुशस्थल का राजा प्रसेनजित प्रभावती को लेकर पार्श्वकुमार के पास पहुँचा और बोला – "महाराज ! जिस प्रकार आपने हमारे नगर को पावन कर दुष्टों के आक्रमण से बचाया है उसी प्रकार हमारी प्राणाधिका पुत्री प्रभावती का पाणिग्रहण कर हमें अनुगृहीत कीजिये।"

इस पर पार्श्वनाथ बोले – "राजन् ! मैं पिता की आज्ञा से आपके नगर की रक्षा करने के लिये आया हूँ न कि आपकी कन्या के साथ विवाह करने। अतः इस विषय में वृथा आग्रह न करिये।"[1] यह कहकर पार्श्वनाथ अपनी सेना सहित वाराणसी की ओर चल पड़े।

---

[1] ताताज्ञया त्रातुमेव, त्वामायाताः प्रसेनजित् ।
भवतः कन्यकामेतामुद्वोढु न पुनर्वयम् ।।
[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ६, सर्ग ३, श्लो. १८८]

प्रसेनजित भी अपनी पुत्री प्रभावती सहित पार्श्वकुमार के साथ-साथ वाराणसी आये और महाराज अश्वसेन को सारी स्थिति से अवगत कराते हुए उन्होंने निवेदन किया – "आपकी छत्र-छाया में हम सबका सब तरह से कुशल-मंगल है, केवल एक ही चिन्ता है और वह भी आपकी दया से ही दूर होगी। मेरी एक प्रभावती नाम की कन्या है उसे मेरे आग्रह से पार्श्वकुमार के लिये स्वीकार किया जाय।"

महाराज अश्वसेन ने कहा – "राजन्! कुमार सर्वदा संसार से विरक्त रहता है, न मालूम कब क्या करले फिर भी तुम्हारे आग्रह से इस समय बलात् भी कुमार का विवाह करा दूंगा।"

तदनन्तर महाराज अश्वसेन प्रसेनजित के साथ पार्श्वकुमार के पास आये और बोले – "कुमार! प्रसेनजित की सर्वगुणसम्पन्ना पुत्री प्रभावती से विवाह कर लो।"

पिता के वचन सुनकर पार्श्वकुमार बोले – "तात! मैं मूल से ही अपरिग्रही हो संसारसागर को पार करूंगा, अतः संसार चलाने हेतु इस कन्या से विवाह कैसे करूं?"

महाराज अश्वसेन ने आग्रह भरे स्वर में कहा – "तुम्हारी ऐसी भावना है तो समझ लो कि तुमने संसारसागर पार कर ही लिया। वत्स! एक बार हमारा मनोरथ पूर्ण करदो, फिर विवाहित होकर समय पर तुम आत्म-साधन कर लेना।[1]

अंत में पिता के आग्रह को टालने में असमर्थ पार्श्वकुमार ने भोग्य कर्मों का क्षय करने हेतु पितृ-वचन स्वीकार किया और प्रभावती के साथ विवाह कर लिया।[2]

भगवान् पार्श्व के विवाह के विषय में आचार्यों का मतभेद

त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र और चउपन्न महापुरिस चरियं में पार्श्व के विवाह का जिस प्रकार का वर्णन मिलता है, उस प्रकार का वर्णन तिलोयपन्नत्ती, पद्मचरित्र, उत्तरपुराण, महापुराण और वादीराजकृत पार्श्व चरित में नहीं मिलता। देवभद्र कृत पासनाह चरियं और त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र में यवन के आत्मसमर्पण के पश्चात् विवाह का वर्णन हुआ है किन्तु पद्मकीर्ति ने विवाह का प्रसंग उठाकर भी विवाह होने का प्रसंग नहीं दिया है। वहां पर यवनराज के साथ पार्श्व के युद्ध का विस्तृत वर्णन है।

---

[1] संसारोऽपि त्वयोत्तीर्णो, एव यस्येदृशं मनः।
कृतोद्वाहोऽपि तज्जात, समये स्वार्थमाचरे ॥२०६॥
[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ६, स० ३]

[2] इत्थं पितृवचः पार्श्वोऽप्युल्लंघयितुमक्षमः।
भोग्यं कर्म क्षपयितुमुदुवाह प्रभावतीम्। ॥२१०॥
[वही]

मूल आगम समवायांग और कल्पसूत्र में विवाह का वर्णन नहीं है। श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा के कुछ प्रमुख ग्रन्थों में यह उल्लेख मिलता है कि वासुपूज्य, मल्ली, नेमि, पार्श्व और महावीर तीर्थंकर कुमार अवस्था में दीक्षित हुए और उन्नीस (१९) तीर्थंकरों ने राज्य किया। इसी आधार पर दिगम्बर परम्परा इन्हें अविवाहित मानती है। श्वेताम्बर परम्परा के आचार्यों का मन्तव्य है कि कुमारकाल का अभिप्राय यहां युवराज अवस्था से है। जैसा कि शब्दरत्न-कोष और वैजयन्ती में भी कुमार का अर्थ युवराज किया है।[1]

पार्श्व को विवाहित मानने वालों की दृष्टि में वे पिता के आग्रह से विवाह करने पर भी भोग-जीवन से अलिप्त रहे और तरुण एवं समर्थ होकर भी उन्होंने राज्यपद स्वीकार नहीं किया। इसी कारण से उन्हें कुमार कहा गया है। किन्तु दूसरे आचार्यों की दृष्टि में वे अविवाहित रहने के कारण कुमार कहे गये हैं। यही मतभेद का मूल कारण है।

नाग का उद्धार

लोकानुरोध से पार्श्वनाथ ने प्रभावती के साथ वन, उद्यान आदि क्रीड़ा में कितने ही दिन बिताये।[2]

एक दिन प्रभु पार्श्वनाथ राजभवन के झरोखे में बैठे हुए कुतूहल से वाराणसी पुरी की छटा निहार रहे थे। उस समय उन्होंने सहस्रों नर-नारियों को पत्र-पुष्पादि के रूप में अर्चा की सामग्री लिये बड़ी उमंग से नगर के बाहर जाते देखा।

जब उन्होंने इस विषय में अनुचर से जिज्ञासा की तो ज्ञात हुआ कि नगर के उपवन में कमठ नाम के एक बहुत बड़े तापस आये हुए हैं। वे बड़े तपस्वी हैं और सदा पंचाग्नि-तप करते हैं। यह मानव-समुदाय उन्हीं की सेवा-पूजा के लिये जा रहा है।

अनुचर की बात सुनकर कुमार भी कुतूहलवश तापस को देखने चल पड़े। वहां जाकर उन्होंने देखा कि तापस धूनी लगाये पंचाग्नि-तप तप रहा है। उसके चारों ओर अग्नि जल रही है और मस्तक पर सूर्य तप रहा है। झुण्ड के झुण्ड भक्त लोग जाते हैं और विभूति का प्रसाद लेकर अपने आपको धन्य और कृत-कृत्य मानते हैं। तपस्वी के सिर की फैली हुई लम्बी जटाओं के बीच लाल-लाल आंखें डरावनी-सी प्रतीत हो रही थीं।

---

[1] कुमारो युवराजेऽश्ववाहके बालके शुके। — शब्दरत्न समन्वय कोष, पृ० २९६
कुमारस्स्याद्वहे बाले वरणेऽश्वानुचारके ।।२८।।
युवराजे च... — वैजयन्ती कोष, पृ० २९६

[2] जनोपरोधादुद्यानक्रीड़ा शैलादिषु प्रभुः।
रममाणस्तया सार्धं, वासरानत्यवाहयत् ।।२९१।।
[त्रिषष्टि श० पु. च., पर्व ९, स. ३]

पार्श्वकुमार ने अपने अवधिज्ञान से जाना कि धूनी में जो लक्कड़ पड़ा है, उसमें एक बड़ा नाग (उत्तरपुराण के अनुसार नाग-नागिन का जोड़ा) जल रहा है।[1] उसके जलने की तीव्र आशंका से कुमार का हृदय दया से द्रवित हो गया। वे मन ही मन सोचने लगे – "अहो कैसा अज्ञान है, तप में भी दया नहीं।"

पार्श्वकुमार ने कमठ से कहा – "धर्म का मूल दया है, वह आग के जलाने में किस तरह संभव हो सकती है? क्योंकि अग्नि प्रज्वलित करने से सब प्रकार के जीवों का विनाश होता है।[2] अहो! यह कैसा धर्म है जिसमें कि धर्म की मूल दया ही नहीं? विना जल के नदी की तरह दया-शून्य धर्म निस्सार है।"

पार्श्वकुमार की बात सुनकर तापस आग-बबूला हो वोल उठा – "कुमार! तुम धर्म के विषय में क्या जानते हो? तुम्हारा काम हाथी-घोड़ों से मनोविनोद करना है। धर्म का मर्म तो हम मुनि लोग ही जानते हैं। इतनी बढ़कर वात करते हो तो क्या इस धूनी में कोई जलता हुआ जीव वता सकते हो?"

यह सुनकर राजकुमार ने सेवकों को अग्निकुण्ड में से लक्कड़ निकालने की आज्ञा दी। लक्कड़ आग से बाहर निकालकर सावधानीपूर्वक चीरा गया तो उसमें से जलता हुआ एक सांप बाहर निकला। भगवान् ने सर्प को पीड़ा से तड़पते हुए देखकर सेवक से नवकार मन्त्र सुनवाया और पच्चक्खाण दिलाकर उसे आर्त-रौद्र-रूप दुर्ध्यान से बचाया। शुभ भाव से आयु पूर्ण कर नाग भी नाग जाति के भवन वासी देवों में धरणेन्द्र नाम का इन्द्र हुआ।[3]

---

[1](क) तत्थ पुलइयो इसीसि डज्झमाणो एको महाणागो।
तओ भयवयाणियपुरिसवयणेण दवाविओ से पंचणमोक्कारो पच्चखाणं च॥
[चउपन्न म० पु० चरियं, पृ० २६२]

(ख) नागी नागश्च तच्छेदात्, द्विधा खण्डमुपागतौ॥
[उत्तरपुराण, पर्व ७३, श्लोक १०३]

(ग) सुमहानुरगस्तस्मात् सहसा निर्जगाम च॥२२४॥
[त्रिषष्टि शलाका पु० च०, पर्व ६, सर्ग ३]

[2](क) धम्मस्स दयामूलं, सा पुण पज्जालणे कहं सिहिणो।
[सिरि पासनाह चरिउं, ३। १६६]

[3] तत्रैषह्यमानस्य, महाहेर्भगवान्नृभिः।
अदापयन् नमस्कारान्, प्रत्याख्यानं च तत्क्षणम्॥२२५॥
नागः समाहितः सोऽपि, तत्प्रतीयेष शुद्धधीः।
वीक्ष्यमाणो भगवता, कृपामधुरया दृशा॥२२६॥
नमस्कारप्रभावेण, स्वामिनो दर्शनेन च।
विपद्य धरणो नाम, नागराजो बभूव सः॥२२७॥
[त्रिषष्टि-शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ६, सर्ग ३]

इस तरह प्रभु की कृपा से नाग का उद्धार हो गया। पार्श्वकुमार के ज्ञान और विवेक की सब लोग मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करने लगे।

इधर तापस की प्रतिष्ठा कम होगई और लोग उसे धिक्कारने लगे। तापस मन ही मन पार्श्वकुमार पर बहुत जलने लगा पर कुछ कर न सका। अन्त में अज्ञान-तप से आयु पूर्ण कर वह असुर-कुमारों में मेघमाली नाम का देव हुआ।

वैराग्य और मुनि-दीक्षा

तीर्थंकर स्वयंबुद्ध (स्वतः बोधप्राप्त) होते हैं, इस बात को जानते हुए भी कुछ आचार्यों ने पार्श्वनाथ के चरित्र का चित्रण करते हुए उनके वैराग्य में बाह्य कारणों का उल्लेख किया है। जैसे 'चउपन महापुरुष चरियं' के कर्ता आचार्य शीलांक, 'सिरि पास नाह चरियं' के रचयिता, देव भद्र सूरि और 'पार्श्व चरित्र' के लेखक भावदेव तथा हेम विजयगणि ने भित्तिचित्रों को देखने से वैराग्य होना बतलाया है। इनके अनुसार उद्यान में घूमने को गये हुए पार्श्वकुमार को नेमिनाथ के भित्तिचित्र देखने से वैराग्य उत्पन्न हुआ। उत्तरपुराण के अनुसार नाग-उद्धार की घटना वैराग्य का कारण नहीं होती क्योंकि उस समय पार्श्वकुमार सोलह वर्ष से कुछ अधिक वय के थे। जब पार्श्वकुमार तीस वर्ष की आयु प्राप्त कर चुके तब अयोध्या के भूपति जयसेन ने उनके पास दूत के माध्यम से एक भेंट भेजी। जब पार्श्वकुमार ने अयोध्या की विभूति के लिए पूछा तो दूत ने पहले आदिनाथ का परिचय दिया और फिर अयोध्या के अन्य समाचार बतलाये। ऋषभदेव के त्याग-तपोमय जीवन की बात सुनकर पार्श्व को जाति-स्मरण हो आया। यही वैराग्य का कारण बताया गया है, किन्तु पद्मकीर्ति के अनुसार नाग की घटना इकतीसवें वर्ष में हुई और यही पार्श्व के वैराग्य का मुख्य कारण बनी। महापुराण में पुष्पदन्त ने भी नाग की मृत्यु को पार्श्व के वैराग्यभाव का कारण माना है।

किन्तु आचार्य हेमचन्द्र और वादिराज ने पार्श्व की वैराग्योत्पत्ति में बाह्य कारण को निमित्त न मानकर स्वभावतः ही ज्ञानाभाव से विरक्त होना माना है?

शास्त्रीय दृष्टि से विचार करने पर भी यही पक्ष समीचीन और युक्ति-संगत प्रतीत होता है। शास्त्र में लोकान्तिक देवों द्वारा तीर्थंकरों को निवेदन करने का उल्लेख आता है, वह भी केवल मर्यादा-रूप ही माना गया है, कारण कि संसार में बोध पाने वालों की तीन श्रेणियां मानी गई हैं - (१) स्वयंबुद्ध (२) प्रत्येक बुद्ध और (३) बुद्धबोधित। इनमें तीर्थंकरों को स्वयंबुद्ध कहा है - वे किसी गुरु आदि से बोध पाकर विरक्त नहीं होते। किसी एक बाह्यनिमित्त को पाकर बोध पाने वाले प्रत्येक बुद्ध और ज्ञानवान् गुरु से बोध पाने वाले को बुद्ध-बोधित कहते हैं। तीन ज्ञान के धनी होने से तीर्थंकर स्वयंबुद्ध होते हैं अतः इनका बाह्यकारण-सापेक्ष वैराग्य मानना ठीक नहीं।

पार्श्वनाथ सहज-विरक्त थे। तीस वर्ष तक गृहस्थ जीवन में रहकर भी वे काम-भोग में आसक्त नहीं हुए।

भगवान् पार्श्व ने भोग्य कर्मों के फलभोगों को क्षीण समझ कर जिस समय संयम ग्रहण करने का संकल्प किया उस समय लोकान्तिक देवों ने उपस्थित होकर प्रार्थना की – "भगवन्! धर्मतीर्थ को प्रकट करें।"[1] तदनुसार भगवान् पार्श्वनाथ वर्षभर स्वर्ण-मुद्राओं का दान कर पौष कृष्णा एकादशी को दिन के पूर्व भाग में देवों, असुरों एवं मानवों के साथ वाराणसी नगरी के मध्यभाग से निकले और आश्रमपद उद्यान में पहुँच कर अशोक वृक्ष के नीचे विशाला शिविका से उतरे। वहां भगवान् ने अपने ही हाथों आभूषणादि उतार कर पंच-मुष्टि लोच किया और तीन दिन के निर्जल उपवास–अष्टम-तप से विशाखा नक्षत्र में तीन सौ पुरुषों के साथ गृहवास से निकलकर सर्वसावद्य-त्याग रूप अणगार-धर्म स्वीकार किया। प्रभु को उसी समय चौथा मनः पर्यवज्ञान हो गया।

प्रथम पारणा

दीक्षा-ग्रहण के दूसरे दिन आश्रमपद उद्यान से विहार कर प्रभु कोपकटक सन्निवेश में पधारे। वहां धन्य नामक गृहस्थ के यहां आपने परमान्न-खीर से अष्टमतप का पारणा किया। देवों ने पंच-दिव्यों की वर्षा कर दान की महिमा प्रकट की। आचार्य गुणभद्र ने 'उत्तरपुराण' में गुल्मखेट नगर के राजा धन्य[2] के यहां अष्टम-तप का पारणा होना लिखा है। पद्मकीर्ति ने अष्टम-तप के स्थान पर आठ उपवास से दीक्षित होना लिखा है जो विचारणीय है।

अभिग्रह

दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् भगवान् ने यह अभिग्रह किया "तिरासी (८३) दिन का छद्मस्थ-काल का मेरा साधना-समय है, उस पूरे समय में शरीर से ममत्व हटा कर मैं पूर्ण समाधिस्थ रहूँगा। इस अवधि में देव, मनुष्य और पशु-पक्षियों द्वारा जो भी उपसर्ग उत्पन्न होंगे उनको अविचल भाव से सहन करता रहूँगा।"

---

[1] इतश्च पार्श्वो भगवान्, कर्मभोगफलं निजम्।
उपभुक्तं हरिज्ञाय, प्रव्रज्यायां दधौ मनः ॥२३१॥
भावज्ञा इव तत्कालमेत्य लोकान्तिकामराः।
पार्श्वं विज्ञापयामासुर्नाथ तीर्थं प्रवर्तय: ॥२३२॥
[त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व ९, सर्ग ३]

[2] गुल्मखेटपुरं कायस्थित्यर्थं समुपेयिवान् ॥१३२॥
तत्र धनाख्य भूपालः श्यामवर्णोऽष्ट मंगलैः
प्रतिगृह्याशनं शुद्धं, दत्वाप्त...र्चितम् ॥१३३॥ [उत्तरपुराण, पर्व ७३]

भ. पार्श्वनाथ की साधना और उपसर्ग

वाराणसी से विहार करते हुए उपरोक्त अभिग्रहानुसार भगवान् शिवपुरी नगर पधारे और कौशाम्बवन में ध्यानस्थ हो खड़े होगये।[1] यहां पूर्वभव को स्मरण कर धरणेन्द्र आया और धूप से रक्षा करने के लिये भगवान् पर छत्र कर दिया।[2] कहते हैं उसी समय से उस स्थान का नाम 'अहिछत्र' प्रसिद्ध हो गया।

फिर विहार करते हुए प्रभु एक नगर के पास तापसाश्रम पहुंचे और सायंकाल हो जाने के कारण वहीं एक वटवृक्ष के नीचे कायोत्सर्ग कर खड़े हो गये।

सहसा कमठ के जीव ने, जो मेघमाली असुर बना था, अपने ज्ञान से प्रभु को ध्यानस्थ खड़े देखा तो पूर्वभव के वैर की स्मृति से वह भगवान् पर बड़ा क्रुद्ध हुआ। वह तत्काल सिंह, चीता, मत्त हाथी, आशुविष वाला बिच्छू और सांप आदि के रूप बनाकर भगवान् को अनेक प्रकार के कष्ट देने लगा। तदनन्तर उसने बीभत्स वैताल का रूप धारण कर प्रभु को अनेक प्रकार से डराने-धमकाने का प्रयास किया परन्तु भगवान् पार्श्वनाथ पर्वतराज की तरह अडोल एवं निर्मम भाव से सब कुछ सहते रहे।

मेघमाली अपनी इन करतूतों की विफलता से और अधिक क्रुद्ध हुआ। उसने वैक्रिय-लब्धि की शक्ति से घनघोर मेघघटा की रचना की। भयंकर गर्जन और विद्युत् की कड़कड़ाहट के साथ मूसलधार वर्षा होने लगी। दनादन ओले गिरने लगे, वन्य-जीव भय के मारे त्रस्त हो इधर-उधर भागने लगे। देखते ही देखते सारा वन-प्रदेश जलमय हो गया। प्रभु पार्श्व के चारों ओर पानी भर गया और वह चढ़ते-चढ़ते घुटनों, कमर और गर्दन तक पहुँच गया। नासाग्र तक पानी आ जाने पर भी भगवान् का ध्यान भंग नहीं हुआ।[3] जबकि थोड़ी ही देर में भगवान् का सारा शरीर पानी में डूबने ही वाला था तब धरणेन्द्र का आसन कम्पित हुआ।[4] उसने अवधिज्ञान से देखा तो, पता चला "मेरे परम उपकारी भगवान् पार्श्वनाथ इस समय घोर कष्ट से घिरे हुए हैं।" यह देख कर वह बहुत ही क्षुब्ध हुआ और पद्मावती, वैरोट्या आदि देवियों के साथ तत्काल दौड़कर प्रभु की सेवा में पहुंचा। धरणेन्द्र ने प्रभु को नमस्कार किया और उनके चरणों के नीचे दीर्घनाल युक्त कमल की रचना की एवं प्रभु के शरीर को सप्तफणों से

---

१ सिवनयरीए वहिया, कोसंबवणे ट्ठिओ य पड़िमाए
[पासनाह चरियं, ३। पृ. १८७]

२ ....पहुणो उवरिं धरइ छत्तं।
[वही पृ० १८८]

३ अवगण्णियासेसोवसग्गस्स य लग्गं नासियाविवरं जाव सलिलं।
[चउवन्न म. पु. चरियं, पृ. २६७]

४ एत्थावसरम्मि य चलियमासणं धरणराइणो।
[वही]

छत्र[1] से अच्छी तरह ढक दिया। भगवान् देव-कृत उस कमलासन पर समाधि-लीन राजहंस की तरह शोभा पा रहे थे।

वीतराग भाव में पहुँचे भगवान् पार्श्वनाथ कमठासुर की उपसर्ग लीला और धरणेन्द्र की भक्ति, दोनों पर समदृष्टि रहे। उनके हृदय में न तो कमठ के प्रति द्वेष था और न धरणेन्द्र के प्रति अनुराग। वे मेघमाली के उपसर्ग से किंचित्मात्र भी क्षुब्ध नहीं हुए। इतने पर भी मेघमाली क्रोधवश वर्षा करता रहा तब धरणेन्द्र को अवश्य रोष आया और वह गरज कर बोला – "दुष्ट! तू यह क्या कर रहा है? उपकार के बदले अपकार का पाठ तूने कहां पढ़ा है? जिन्होंने तुम्हें अज्ञानगर्त से निकाल कर समुज्वल सुमार्ग का दर्शन कराया उनके प्रति कृतघ्न होकर उनको ही उपसर्ग-पीड़ा से पीड़ित करने का प्रयास कर रहा है। तुम्हें नहीं मालूम कि ऐसी महान् आत्मा की अवज्ञा व आशातना अग्नि को पैर से दबाने के समान दुःखप्रद है। इनका तो कुछ भी नहीं बिगड़ेगा, किन्तु तेरा सर्वनाश हो जायगा। भगवान् तो दयालु हैं पर मैं इस तरह सहन नहीं करूँगा।

धरणेन्द्र की बात सुनकर मेघमाली भयभीत हुआ और प्रभु की अविचल क्षान्ति एवं धरणेन्द्र की भक्ति से प्रभावित होकर उसने अपनी माया तत्काल समेट ली। प्रभु के चरणों में सविनय क्षमा-याचना कर वह अपने स्थान को चला गया। धरणेन्द्र भी भक्ति-विभोर हो पार्श्व की सेवा-भक्ति कर वहां से अपने स्थान को चला गया।

उपसर्ग पर विजय प्राप्त कर भगवान् अपनी अखण्ड साधना में रत रहे। इस तरह अनेक स्थलों में विचरण करते हुए प्रभु वाराणसी के बाहर आश्रमपद नामक उद्यान में पधारे और उन्होंने छद्मस्थकाल की तिरासी रातें पूर्ण कीं।

केवलज्ञान

छद्मस्थ दशा की तिरासी रात्रियां[2] पूर्ण होने के पश्चात् चौरासीवें दिन प्रभु वाराणसी के निकट आश्रमपद उद्यान में धातकी वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ खड़े हो गये। अष्टम तप के साथ शुक्लध्यान के द्वितीय चरण में मोह कर्म का क्षय कर आपने सम्पूर्ण घातिक कर्मों पर विजय प्राप्त की और केवलज्ञान, केवलदर्शन

---

[1] [क] सिरिपासणाह चरियं में सात फणों का छत्र करने का उल्लेख है। यथा–......
सत्तसंखफारफणाफल गमयं......
[ख] चउवन्न महापुरिस चरियं में सहस्रफण का उल्लेख है। यथा :– विरइयं भयवओ उवरिं फणसहस्सायवत्तं। [पृ०, २६७]

[2] दिगम्बर परम्परा में प्रभु का छद्मस्थकाल चार मास और उपसर्गकर्त्ता का नाम शंबर माना गया है। हेमचन्द्र ने 'दीक्षादिनादतिगतेषु तु दिनेषु चतुरशीतौ '८४ दिन लिखा है।
–सम्पादक

की उपलब्धि की ।[1] जिस समय आपको केवलज्ञान हुआ उस समय चैत्र कृष्णा चतुर्थी के दिन विशाखा नक्षत्र में चन्द्र का योग था ।

पद्मकीर्ति ने कमठ द्वारा उपस्थित किये गये उपसर्ग के समय प्रभु को केवलज्ञान होना माना है जबकि अन्य श्वेताम्बर आचार्यों ने कुछ दिनों बाद। तिलोयपण्णत्ती ने चार मास के बाद केवली होना माना है पर सबने केवलज्ञान-प्राप्ति का दिन चैत्र कृष्णा चतुर्थी और विशाखा नक्षत्र ही मान्य किया है।

भगवान् पार्श्वनाथ को केवलज्ञान की उपलब्धि होने की सूचना पा कर महाराज अश्वसेन वन्दन करने आये और देव-देवेन्द्रों ने भी हर्षित मन से आकर केवलज्ञान की महिमा प्रकट की । उस समय सारे संसार में क्षण भर के लिये प्रद्योत हो गया था ।

देशना और संघ-स्थापना

केवलज्ञान की उपलब्धि के बाद भगवान् ने जगजीवों के हितार्थ धर्म-उपदेश दिया । आपने प्रथम देशना में फरमाया – "मानवो ! अनादिकालीन इस संसार में जड़ और चेतन ये दो ही मुख्य पदार्थ हैं । इनमें जड़ तो चेतनाशून्य होने के कारण केवल ज्ञातव्य है । उसका गुण-स्वभाव चेतन द्वारा ही प्रकट होता है। चेतन ही एक ऐसा द्रव्य है जो ज्ञाता, द्रष्टा, कर्त्ता, भोक्ता एवं प्रमाता हो सकता है । यह प्रत्येक के स्वानुभव से प्रत्यक्ष है । कर्म के सम्बन्ध से आत्म-चन्द्र की ज्ञान किरणें आवृत्त हो रही हैं, उनको ज्ञान-वैराग्य की साधना से प्रकट करना ही मानव का प्रमुख धर्म है । सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र ही आवरण-मुक्ति का सच्चा मार्ग है, जो श्रुत और चारित्र धर्म के भेद से दो प्रकार का है । कर्मजन्य आवरण और बन्धन काटने का एकमात्र मार्ग धर्म-साधन है। बिना धर्म के जीवन शून्य व सारहीन है अतः धर्म की आराधना करो।

चारित्र धर्म आगार और अनगार के भेद से दो प्रकार का है । चार महाव्रत रूप अनगार-धर्म मुक्ति का अनन्तर कारण है और देश-विरति रूप आगार-धर्म परम्परा से मुक्ति दिलाने वाला है । शक्ति के अनुसार इनका आराधन कर परम तत्त्व की प्राप्ति करना ही मानव-जीवन का चरम और परम लक्ष्य है।

इस प्रकार त्याग-वैराग्यपूर्ण प्रभु की वाणी सुन कर महाराज अश्वसेन विरक्त हुए और पुत्र को राज्य देकर स्वयं प्रव्रजित हो गये । महारानी वामा देवी, प्रभावती आदि कई नारियों ने भी भगवान् की देशना से प्रबुद्ध हो आर्हती-दीक्षा स्वीकार की । प्रभु के ओजपूर्ण उपदेश से प्रभावित हो कर शुभदत्त आदि वेदपाठी विद्वान् भी प्रभु की सेवा में दीक्षित हुए और पार्श्व प्रभु से त्रिपदी का ज्ञान पाकर वे चतुर्दश पूर्वों के ज्ञाता एवं गणधर पद के अधिकारी बन गये। इस प्रकार पार्श्वनाथ ने चतुर्विध संघ की स्थापना की और भावतीर्थंकर कहलाये।

[1] कल्पसूत्र में छट्ठ तप का उल्लेख है ।

पार्श्व के गणधर

समवायांग और कल्पसूत्र में पार्श्वनाथ के आठ गणधर बतलाये हैं[1] जबकि आवश्यक निर्युक्ति एवं तिलोयपन्नत्ती आदि ग्रन्थों में दश गणधरों का उल्लेख है।[2] इस संख्याभेद के सम्बन्ध में कल्पसूत्र के टीकाकार उपाध्याय श्री विनय विजय ने लिखा है कि दो गणधर अल्पायु वाले थे[3] अतः सूत्र में आठ का ही निर्देश किया गया है।

केवलज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् जब भगवान् का प्रथम समवशरण हुआ, सहस्रों नर-नारियों ने प्रभु की त्याग-वैराग्यपूर्ण वाणी को श्रवण कर श्रमण-दीक्षा ग्रहण की। उनमें आर्य शुभदत्त आदि विद्वानों ने प्रभु से त्रिपदी का ज्ञान प्राप्त कर चौदह पूर्व की रचना की और गणनायक-गणधर कहलाये।

श्री पासनाह चरिउं के अनुसार गणधरों का परिचय निम्न प्रकार है :–

(१) शुभदत्त – ये भगवान् पार्श्वनाथ के प्रथम गणधर थे। इनकी जन्मस्थली क्षेमपुरी नगरी थी। पिता का नाम धन्य एवं माता का नाम लीलावती था। सम्भूति मुनि के पास इन्होंने श्रावकधर्म ग्रहण किया और माता-पिता के परलोकवासी होने पर संसार से विरक्त होकर बाहर निकल गये और आश्रमपद उद्यान में आये, जहां कि भगवान् पाश्वनाथ का प्रथम समवशरण हुआ। भगवान् की देशना सुनकर उन्होंने प्रव्रज्या ग्रहण की और वे प्रथम गणधर बन गये।

(२) आर्यघोष – पार्श्वनाथ के दूसरे गणधर का नाम आर्यघोष था। ये राजगृह नगर के निवासी अमात्यपुत्र थे। जिस समय भगवान् को केवलज्ञान हुआ, वे अपने स्नेही साथियों के साथ वहां आये और दीक्षा लेकर गणधर पद के अधिकारी हो गये।

(३) वशिष्ठ – भगवान् पार्श्वनाथ के तीसरे गणधर वशिष्ठ हुए। ये कम्पिलपुर के अधीश्वर महाराज महेन्द्र के पुत्र थे। बाल्यावस्था से ही इनकी रुचि प्रव्रज्या ग्रहण करने की ओर रही। संयोग पाकर भगवान् पार्श्वनाथ के प्रथम समवशरण में उपस्थित हुए और वहीं संयम ग्रहण करके तीसरे गणधर बन गये।

---

[1] पासस्सणं अरहओ पुरिसादाणीयस्स अट्ठगणा, गणहरा हुत्था तंजहा :
सुभेय, अज्जघोसेय, वसिट्ठे बंभयारि य।
सोमे सिरिहरे चेव, वीरभद्दे जसे विया ॥

[2] आर्यदत्त, आर्यघोषो वशिष्ठो ब्रह्मनामकः।
सोमश्च श्रीधरो वारिषेणो भद्रयशो जयः ॥
विजयश्चेति नामानो, दशैते पुरुषोत्तमाः। पास. च. ५।४३७।३८

[3] द्वौ अल्पायुष्कत्वादि कारणान्नोक्तौ इति टिप्पणके व्याख्यातम्।
[कल्पसूत्र, सुबोधिका टीका, पृष्ठ ३८१]

(४) आर्यब्रह्म – भगवान् पार्श्वनाथ के चौथे गणधर आर्यब्रह्म हुए। ये सुरपुर नगर के महाराजा कनककेतु के पुत्र थे। इनकी माता शान्तिमती थी। भगवान् पार्श्वनाथ को केवलज्ञान होने पर ये भी अपने साथियों सहित वंदन करने उनके पास पहुंचे और देशना श्रवण कर प्रव्रजित हो गये।

(५) सोम – भगवान् पार्श्वनाथ के पांचवें गणधर सोम थे। क्षिति-प्रतिष्ठित नगर के महाराजा महीधर के ये पुत्र थे। इनकी माता का नाम रेवती था। युवावस्था प्राप्त होने पर "चम्पकमाला" नाम की कन्या के साथ इनका पाणिग्रहण हुआ। इनके हरिशेखर नाम का पुत्र हुआ, जो चार वर्ष की उम्र में ही निधन को प्राप्त हो गया। पुत्र की मृत्यु एवं पत्नी चम्पकमाला की लम्बी रुग्णता तथा निधन-लीला से इनको संसार से विरक्ति हो गई और भगवान् पार्श्वनाथ के प्रवचन से प्रभावित होकर संयममार्ग में प्रव्रजित हो गये।

(६) आर्य श्रीधर – भगवान् पार्श्वनाथ के छठे गणधर आर्य श्रीधर हुए। इनके पिता का नाम नागबल एवं माता का महासुन्दरी था। युवावस्था प्राप्त होने पर महाराजा प्रसेनजित की पुत्री राजमती के साथ इनका पाणिग्रहण हुआ। सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए उनको किसी दिन एक श्रेष्ठि पुत्र के द्वारा पूर्वजन्म की भगिनी के समाचार सुनाये गये। समाचार सुनकर इनको जातिस्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ और संसार से विरक्ति हो गई। एक दिन ये अपने माता-पिता से दीक्षा की अनुमति देने का आग्रह कर रहे थे कि सहसा अन्तःपुर में कोलाहल मच गया। अपने छोटे भाई के असमय में ही आकस्मिक निधन का समाचार मिला। इससे इनकी वैराग्यभावना और प्रबल हो गई। भगवान् पार्श्वनाथ का संयोग पाकर ये भी दीक्षित हो गये।

(७) वारिसेन – ये भगवान् के सातवें गणधर थे। ये विदेह राज्य की राजधानी मिथिला के निवासी थे। इनके पिता का नाम नमिराजा तथा माता का यशोधरा था। पूर्वजन्म के संस्कारों के कारण वारिसेन प्रारम्भ से ही संसार से विरक्त थे। उनके अन्तर्मन में प्रव्रज्या ग्रहण करने की प्रबल इच्छा जागृत हो रही थी। माता-पिता की आज्ञा ग्रहण कर वे अपने साथी राजपुत्रों के साथ भगवान् पार्श्वनाथ के समवशरण में पहुंचे। उनकी वीतरागता भरी देशना श्रवण की और प्रव्रज्या ग्रहण कर गणधर बन गये।

(८) भद्रयश – भगवान् के आठवें गणधर भद्रयश हुए। इनके पिता का नाम समरसिंह और माता का पद्मा था। किसी समय मत्तकुंज नामक उद्यान में गये। वहां उन्होंने एक व्यक्ति को नुकीली कीलों से वेष्टित देखा। करुणा से दयार्द्र होकर उन्होंने उसकी वे नुकीली कीलें शरीर से निकालीं और जब उन्हें यह ज्ञात हुआ कि उनके भाई ने ही पूर्वजन्म के वैर के कारण उसकी यह दशा की है तो उनको संसार की इस स्वार्थपरता के कारण विरक्ति हो गई। वे अपने कई साथियों के साथ भगवान् पार्श्वनाथ की सेवा में दीक्षित होकर गणधर पद के अधिकारी बने।

(९), (१०) जय एवं विजय – इसी तरह जय एवं विजय क्रमशः भगवान् के नवमें एवं दसवें गणधर के रूप में विख्यात हुए। ये दोनों श्रावस्ती नगरी के रहने वाले सहोदर थे। परस्पर इनमें अत्यन्त स्नेह था। एक बार उन्हें स्वप्न आया कि उनका आयुष्य अत्यल्प है। इससे विरक्त होकर दोनों भाई प्रव्रज्या ग्रहण करने हेतु भगवान् पार्श्वनाथ की सेवा में पहुंचे और दीक्षित होकर गणधर पद के अधिकारी बने।

पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म

भगवान् पार्श्वनाथ के धर्म को चातुर्याम धर्म भी कहते हैं। तत्कालीन ऋजु एवं प्राज्ञजनों को लक्ष्य कर पार्श्वनाथ ने जिस चारित्र-धर्म की शिक्षा दी, वह चातुर्याम – चार व्रत के रूप में थी। यथा :- (१) सर्वथा प्राणातिपात विरमण–हिंसा का त्याग, (२) सर्वथा मृषावाद विरमण–असत्य का त्याग, (३) सर्वथा अदत्तादान विरमण–चौर्य-त्याग और (४) सर्वथा बहिद्धादान विरमण अर्थात् परिग्रह-त्याग। इस प्रकार चातुर्याम धर्म को आत्म-साधना का पुनीत मार्ग बतलाया।

यम का अर्थ दमन करना कहा गया है। चार प्रकार से आत्मा का दमन करना, अर्थात् उसे नियन्त्रित रखना ही चातुर्याम धर्म का मर्म है। इसमैं हिंसा आदि चार पापों की विरति होती है। इन चारों में ब्रह्मचर्य का पृथक् स्थान नहीं है। इसका मतलब यह नहीं कि पार्श्वनाथ की श्रमण-परम्परा में ब्रह्मचर्य उपेक्षित था अथवा ब्रह्मचर्य की साधना कोई गौण मानी गई हो। ब्रह्मचर्य-पालन भी और व्रतों की तरह परम प्रधान और अनिवार्य था किन्तु पार्श्वनाथ के संत विज्ञ थे अतः वे स्त्री को भी परिग्रह के अन्तर्गत समझकर बहिद्धादान में ही स्त्री और परिग्रह दोनों का अन्तर्भाव कर लेते थे। क्योंकि बहिद्धादान का अर्थ बाह्य वस्तु का आदान होता है। अतः धन-धान्य आदि की तरह स्त्री भी बाह्य वस्तु होने से दोनों का वहिद्धादान में अन्तर्भाव माना गया है।

कुछ लेखक चातुर्याम धर्म का उद्‌गम वेदों एवं उपनिषदों से बतलाते हैं पर वास्तव में चातुर्यम धर्म का उद्‌गम वेदों या उपनिषदों से बहुत पहले श्रमण संस्कृति में हो चुका था। इतिहास के विद्वान् धर्मानन्द कौशाम्बी ने भी इस बात को मान्य किया है। उनके अनुसार चातुर्यम का मूल पहले के ऋषि-मुनियों का तपोधर्म माना गया है। वे ऋषि-मुनि संसार के दुःखों और मनुष्य-मनुष्य के बीच होने वाले असद्‌व्यवहार से ऊबकर अरण्य में चले जाते एवं चार प्रकार की तपश्चर्या करते थे। उनमें से एक तप अहिंसा या दया का होता था। पानी की एक बूंद को भी कष्ट न देने की साधना आखिर तपश्चर्या नहीं तो और क्या थी? उन पर असत्य वोलने का अभियोग लग ही नहीं सकता था, क्योंकि वे जनशून्य अरण्य में एकान्त, शान्त स्थान में निवास करते तथा फल-मूलों द्वारा जीवन-निर्वाह चलाते थे। चोरी के लिये भी उन्हें न तो कोई आवश्यकता थी और न निकट

सम्पर्क में चित्ताकर्षक परकीय सामग्री थी। अतः वे जगत् में रहकर भी एक तरह से संसार से अलिप्त थे। वे या तो नग्न रहते थे या फिर इच्छा हुई तो वल्कल पहनते थे। इसलिये यह स्पष्ट है कि वे पूर्णरूपेण अपरिग्रह व्रत का पालन करते थे, परन्तु इन यामों का वे प्रचार नहीं करते थे, अतः ब्राह्मणों के साथ उनका विवाद कभी नहीं हुआ। परन्तु पार्श्व ने भिक्षोपजीवी वनकर लोगों को इसकी शिक्षा दी जिससे ब्राह्मणों के यज्ञ अप्रिय होने लगे।[1]

ब्राह्मण-संस्कृति में अहिंसादि व्रतों का मूल नहीं है, क्योंकि वैदिक परम्परा में पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा की प्रधानता है। संन्यास परम्परा का वहां कोई प्रमुख स्थान नहीं है। अतः विशुद्ध अध्यात्म पर आधारित संन्यास-परम्परा श्रमण-परम्परा की ही देन हो सकती है। आज जो वैदिक परम्परा के पुराणों स्मृतियों तथा उपनिषदों में जो व्रतों एवं महाव्रतों के उल्लेख उपलब्ध होते हैं वे सभी भगवान् पार्श्वनाथ के उत्तरकालीन हैं। इसलिये पूर्वकालीन व्रत-व्यवस्था को उत्तरकाल से प्रभावित कहना उचित नहीं। डॉ० हरमन जेकोबी ने भ्रांतिवश इनका स्रोत ब्राह्मण-संस्कृति को माना है, संभव है उन्होंने बोधायन के आधार पर ऐसी कल्पना की है।

विहार और धर्म प्रचार

केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् भगवान् पार्श्वनाथ कहां-कहां विचरे और किस वर्ष किस नगर में चातुर्मास किया, इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता फिर भी सामान्य रूप से उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर समझा जाता है कि महावीर की तरह भगवान् पार्श्वनाथ का भी सुदूर प्रदेशों में विहार एवं धर्म प्रचार हुआ हो। काशी-कोशल से नेपाल तक प्रभु का विहार-क्षेत्र रहा है। भक्त, राजा और उनकी कथाओं से यह मानना उचित प्रतीत होता है कि भगवान् पार्श्वनाथ ने कुरु, काशी, कोशल, अवन्ति, पौण्ड्र, मालव, अंग, वंग, कलिंग, पांचाल, मगध, विदर्भ, दशार्ण, सौराष्ट्र, कर्नाटक, कोंकण, मेवाड़, लाट, द्राविड़, कच्छ, काश्मीर, शाक, पल्लव, वत्स और आभीर आदि विभिन्न क्षेत्रों में विहार किया।

दक्षिण कर्णाटक, कोंकण, पल्लव, और द्रविड़ आदि उस समय अनार्य क्षेत्र माने जाते थे। शाक भी अनार्य देश था परन्तु भगवान् पार्श्वनाथ व उनके निकट परम्परा के श्रमण वहां पहुंचे थे। शाक्य भूमि नेपाल की उपत्यका में है वहां भी पार्श्व के अनुयायी थे।[2] महात्मा बुद्ध के काका स्वयं भगवान् पार्श्वनाथ के श्रावक थे, जो शाक्य देश में भगवान् का विहार होने से ही संभव हो सकता है। सिकन्दर महान् और चीनी यात्री के समय में उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्त एवं अफगानिस्तान में विशाल संख्या में जैन मुनियों के पाये जाने का जो उल्लेख

१ "पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म" धर्मानन्द कौशाम्बी, पृ० १७-१८
२ सकलकीर्ति, पार्श्वनाथ चरित्र २३, १८-१९/९५/९६-८५

मिलता है वह तभी संभव हो सकता है जबकि वह क्षेत्र भगवान् पार्श्वनाथ का विहारस्थल माना जाय।[1]

सात सौ ई० में चीनी यात्री ह्वेनत्सांग ने तथा उसके भी पूर्व सिकन्दर ने मध्य एशिया के "कियारिशि" नगर में बहुसंख्यक निग्रन्थ संतों को देखा था। अतः यह अनुमान से सिद्ध होता है कि मध्य एशिया के समरकन्द, वल्ल आदि नगरों में जैन धर्म उस समय प्रचलित था। आधुनिक खोज से यह प्रमाणित हो चुका है कि पार्श्वनाथ के धर्म का उपदेश सम्पूर्ण आर्यावर्त में व्याप्त था। पार्श्वनाथ एक बार ताम्रलिप्त से चलकर कोपकटक पहुंचे थे और उनके वहां आहार ग्रहण करने से वह धन्यकटक कहलाने लगा। आजकल वह "कोपारि" कहा जाता है। इन प्रदेशों में भगवान् पार्श्वनाथ की मान्यता आज भी वनी हुई है। बिहार के रांची और मानभूमि आदि जिलों में हजारों मनुष्य आज भी केवल पार्श्वनाथ की उपासना करते हैं और उन्हीं को अपना इष्टदेव मानते हैं। वे आज सराक (श्रावक) कहलाते हैं।

लगभग सत्तर (७०) वर्ष तक भगवान् पार्श्वनाथ ने देश-देशान्तर में विचरण किया और जैन धर्म का प्रचार किया।

भगवान् पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता

भगवान् पार्श्वनाथ ऐतिहासिक पुरुष थे, यह आज ऐतिहासिक तथ्यों से असंदिग्ध रूप से प्रमाणित हो चुका है। जैन साहित्य ही नहीं, बौद्ध साहित्य से भी भगवान् पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता प्रमाणित है।

बौद्ध साहित्य के उल्लेखों के आधार पर बुद्ध से पहले निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय का अस्तित्व प्रमाणित करते हुए डॉ० जेकोबी ने लिखा है—"यदि जैन और बौद्ध सम्प्रदाय एक से ही प्राचीन होते, जैसा कि बुद्ध और महावीर की समकालीनता तथा इन दोनों को इन दोनों संप्रदायों का संस्थापक मानने से अनुमान किया जाता है तो हमें आशा करनी चाहिये कि दोनों ने ही अपने अपने साहित्य में अपने प्रतिद्वन्द्वी का अवश्य ही निर्देश किया होता, किन्तु बात ऐसी नहीं है। बौद्धों ने तो अपने साहित्य में, यहां तक कि त्रिपटकों में भी निर्ग्रंथों का बहुतायत से उल्लेख किया है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि बौद्ध निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय को एक प्रमुख सम्प्रदाय मानते थे, किन्तु निर्ग्रन्थों की धारणा इसके विपरीत थी और वे अपने प्रतिद्वन्द्वी की उपेक्षा तक करते थे। इससे हम इस निर्णय पर पहुंचते हैं कि बुद्ध के समय निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय कोई नवीन स्थापित संप्रदाय नहीं था। यही मत पिटकों का भी जान पड़ता है।[2]

मज्झिम निकाय के महासिंहनाद सूत्र में बुद्ध ने अपनी कठोर तपस्या का वर्णन करते हुए तप के चार प्रकार बतलाये हैं, जो इस प्रकार हैं:—'(१)

---

[1] पार्श्वनाथ चरित्र सर्ग १५-७६-८५

[2] इण्डियन एन्टीक्वेरी, जिल्द ९, पृ० १६०।

तपस्विता, (२) रुक्षता, (३) जुगुप्सा और (४) प्रविविक्तता। इनका अर्थ है तपस्या करना, स्नान नहीं करना, जल की बूंद पर भी दया करना और एकान्त स्थान में रहना। ये चारों तप निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय में होते थे। स्वयं भगवान् महावीर ने इनका पालन किया था और अन्य निर्ग्रंथों के लिये इनका पालन आवश्यक था।

बौद्ध साहित्य दीर्घ निकाय में अजातशत्रु द्वारा भगवान् महावीर और उनके शिष्यों को चातुर्याम-युक्त कहलाया है। यथा :–

"भंते ! मैं निगन्ठ नातपुत्र के पास भी गया और उनसे श्रामण्यफल के विषय में पूछा। उन्होंने चातुर्याम संवरवार बतलाया और कहा, निगण्ठ चार संवरों से युक्त होता है, यथा: – (१) वह जल का व्यवहार वर्जन करता है जिससे कि जल के जीव न मरें, (२) सभी पापों का वर्जन करता है, (३) पापों के वर्जन से धुत-पाप होता है और (४) सभी पापों के वर्जन से लाभ रहता है।"

पर जैन साहित्य की दृष्टि से यह पूर्णतया सिद्ध है कि भगवान् महावीर की परम्परा पंच महाव्रत रूप रही है, फिर भी उसे चातुर्याम रूप से कहना इस बात की ओर संकेत करता है कि बौद्धभिक्षु पार्श्वनाथ की परम्परा से परिचित रहे हैं और उन्होंने महावीर के धर्म को भी उसी रूप में देखा है। हो सकता है बुद्ध और उनके अनुयायी विद्वानों को श्रमण भगवान् महावीर की परम्परा में जो आन्तरिक परिवर्तन हुआ उसका पता न चला हो। बुद्ध के पूर्व की यह चातुर्याम परम्परा भगवान् पार्श्वनाथ की ही देन थी। इससे यह प्रमाणित होता है कि बुद्ध पार्श्वनाथ के धर्म से परिचित थे।[1]

बौद्ध वाङ्मय के प्रकांड पंडित धर्मानन्द कौशाम्बी ने लिखा है[2] :– "निर्ग्रंथों के श्रावक 'वप्प' शाक्य के उल्लेख से स्पष्ट है कि निर्ग्रंथों का चातुर्याम धर्म शाक्य देश में प्रचलित था, परन्तु ऐसा उल्लेख कहीं नहीं मिलता कि उस देश में निर्ग्रंथों का कोई आश्रम हो। इससे ऐसा लगता है कि निर्ग्रंथ श्रमण बीच-बीच में शाक्य देश में जाकर अपने धर्म का उपदेश करते थे। शाक्यों में आलार-कालाम के श्रावक अधिक थे, क्योंकि उनका आश्रम कपिलवस्तु नगर में ही था। आलार के समाधिमार्ग का अध्ययन गौतम बोधिसत्व ने बचपन में ही किया। फिर गृहत्याग करने पर वे प्रथमत: आलार के ही आश्रम में गये और उन्होंने योगमार्ग का आगे अध्ययन प्रारम्भ किया। आलार ने उन्हें समाधि की सात सीढ़ियां दिखाईं। फिर वे उद्रक रामपुत्र के पास गये और उससे समाधि की आठवीं सीढ़ी सीखी परन्तु इतने ही से उन्हें संतोष नहीं हुआ क्योंकि उस समाधि से मानव-मानव के बीच होने वाले विवाद का अन्त होना संभव नहीं था। तब बोधिसत्व "उद्रक रामपुत्र" का आश्रम छोड़कर राजगृह चले गये। वहां के श्रमण-सम्प्रदाय में उन्हें शायद निर्ग्रंथों का चातुर्याम-संवर ही विशेष

[1] मज्झिम निकाय महासिंहनाद सुत्त, पृ० ४८–५०।
[2] चातुर्याम (धर्मानन्द कौशाम्बी)

पसंद आया क्योंकि आगे चलकर उन्होंने जिस आर्य अष्टांगिक मार्ग का प्रवर्तन किया उसमें चातुर्याम का समावेश किया गया है।"

भ० पार्श्वनाथ का धर्म-परिवार

पुरुषादानीय भगवान् पार्श्वनाथ के संघ में निम्न धर्म परिवार था :-

गणधर एवं गण	– शुभदत्त आदि आठ गणधर और आठ ही गण
केवली	– एक हजार (१,०००)
मनः पर्यवज्ञानी	– साढे सातसौ (७५०)
अवधिज्ञानी	– एक हजार चार सौ (१४००)
चौदह पूर्वधारी	– साढे तीन सौ (३५०)
वादी	– छह सौ (६००)
अनुत्तरोपपातिक मुनि	– एक हजार दो सौ (१२००)
साधु	– आर्यदिन्न आदि सोलह हजार (१६०००)
साध्वी	– पुष्पचूला आदि अड़तीस हजार (३८०००)
श्रावक	– सुनन्द आदि एक लाख चौसठ हजार (१६४०००)
श्राविका	– नन्दिनी आदि तीन लाख सत्तावीस हजार (३२७०००)[१]

भगवान् पार्श्वनाथ के शासन में एक हजार साधुओं और दो हजार साध्वियों ने सिद्धिलाभ किया। यह तो मात्र व्रतधारियों का ही परिवार है। इनके अतिरिक्त लाखों सम्यग्दृष्टि वनकर प्रभु के भक्त वने।

परिनिर्वाण

कुछ कम सत्तर वर्ष तक केवलीचर्या से विचर कर जब भगवान् ने अपना आयुकाल निकट समझा तब वे वाराणसी से आमलकप्पा होकर सम्मेतशिखर पधारे और तेतीस साधुओं के साथ एक मास का अनशन कर शुक्लध्यान के तृतीय और चतुर्थ चरण का आरोहण किया। फिर प्रभु ने श्रावण शुक्ला अष्टमी को विशाखा नक्षत्र में चन्द्र का योग होने पर योग-मुद्रा में खड़े ध्यानस्थ आसन से वेदनीय आदि कर्मों का क्षय किया और वे सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हुए।

श्रमण परम्परा और पार्श्व

श्रमण-परम्परा भारतवर्ष की बहुत प्राचीन धार्मिक परम्परा है। मन और इन्द्रिय से तप करने वाले श्रमण कहलाते हैं। जैन आगमों एवं ग्रंथों[२] में श्रमण

---

[१] कल्पसूत्र.......सूत्र १५७। (ख) ३ लाख ७७ हजार श्राविका [त्रि. श. पु. च. १।४।३१५]

[२] निग्गंथा, सक्क, तावस, गेरुय, आजीव पंचहा समणा।
तम्मिय निग्गंथा ते, जे जिणसासणभवा मुणिणो ।।३८
सक्काय सुगय सिस्सा, जे जडिला ते उ तावसा गीता।
जे धाउरत्तवत्था, तिदंडिणो गेरुया तेउ ।।३९
जे गोसालकमयमणुसरंति भन्नंति तेउ आजीवा।
समणत्तणेण भुवणे, पंच वि पत्ता पसिद्धिमिमं ।।४० [प्रवचन सारोद्धार, द्वार ९४]

पांच प्रकार के बतलाए हैं, यथा – (१) निग्रन्थ, (२) शाक्य, (३) तापस, (४) गेरुअ और (५) आजीवक। इनमें जैन श्रमणों को निग्रन्थ श्रमण कहा गया है। सुगतशिष्य-बौद्धों को शाक्य और जटाधारी वनवासी पाखंडियों को तापस कहा गया है। गेरुए वस्त्र वाले त्रिदण्डी को गेरुक या परिव्राजक तथा गोशालकमती को आजीवक कहा गया है। ये पांचों श्रमण रूप से लोक में प्रसिद्ध हुए हैं।

श्रमण परम्परा की नींव ऋषभदेव के समय में ही डाली गई थी, जिसका कि श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थों में भी उल्लेख हैं।[१] वृहदारण्यक उपनिषद् एवं वाल्मीकि रामायण में भी[२] श्रमण शब्द का प्रयोग हुआ है। त्रिपिटक साहित्य में भी "निग्रंथ" शब्द का स्थान-स्थान पर उल्लेख आया है। डॉ० हरमन जेकोबी ने त्रिपिटक साहित्य के आधार पर यह प्रमाणित किया है कि बुद्ध के पूर्व निग्रंथ सम्प्रदाय विद्यमान था। "अंगुत्तर निकाय" में "बप्प" नाम के शाक्य को निग्रंथ श्रावक बतलाया है जो महात्मा बुद्ध का चाचा था। इससे सिद्ध होता है कि बुद्ध से पहले या उसके बाल्यकाल में शाक्य देश में निग्रन्थ धर्म का प्रचार था। भगवान् महावीर बुद्ध के समकालीन थे। उनको निग्रन्थ धर्म का प्रवर्तक मानना युक्तिसंगत नहीं लगता। अतः यह प्रमाणित होता है कि इनके पूर्ववर्ती तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ ही श्रमण परम्परा के प्रवर्तक थे।

उपरोक्त आधार से आधुनिक इतिहासकार पार्श्वनाथ को निग्रन्थ सम्प्रदाय के प्रवर्तक मानते हैं। वास्तव में निग्रन्थ धर्म का प्रवर्तन पार्श्वनाथ से भी पहले का है। पार्श्वनाथ को जैन धर्म का प्रवर्तक मानने का प्रतिवाद करते हुए डॉ० हर्मन जेकोबी ने लिखा है: –

"यह प्रमाणित करने के लिए कोई आधार नहीं है कि पार्श्वनाथ जैन धर्म के संस्थापक थे। जैन परम्परा ऋषभ को प्रथम तीर्थंकर (आदि-संस्थापक) मानने में सर्वसम्मति से एकमत है। इस पुष्ट परम्परा में कुछ ऐतिहासिकता भी हो सकती है जो उन्हें (ऋषभ को) प्रथम तीर्थंकर मान्य करती है।"[3]

डॉ० राधाकृष्णन के अनुसार यह असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि जैन धर्म का अस्तित्व वर्द्धमान और पार्श्वनाथ से बहुत पहले भी था।[४]

भगवान् पार्श्वनाथ का व्यापक प्रभाव

भगवान् पार्श्वनाथ की वाणी में करुणा, मधुरता और शान्ति की त्रिवेणी एक साथ प्रवाहित होती थी। परिणामतः जन-जन के मन पर उनकी वाणी का

१ The Sacred book of the East Vol. XXII, Introduction page 24. Jecoby

२ बालकाण्ड सर्ग १४ श्लोक २२।

3 Indian Antigwary Vol. IX, page 163 :
But there is nothing to prove that Parsva was a founder of Jainism. Jain tradition is unanimous in making Rishabh, the first Tirthankara, as the founder. There may be some Historical tradition which makes him the first Tirthankara.

४ Indian Philosophy Vol. I Page 281. Radhakrishnan.

मंगलकारी प्रभाव पड़ा, जिससे हजारों ही नहीं लाखों लोग उनके अनन्य भक्त बन गये।

पार्श्वनाथ के कार्यकाल में तापस परम्परा का प्राबल्य था। लोग तप के नाम पर जो अज्ञान-कष्ट चला रहे थे, प्रभु के उपदेश से उसका प्रभाव कम पड़ गया। अधिक संख्या में लोगों ने आपके विवेकयुक्त तप से नवप्रेरणा प्राप्त की। आपके ज्ञान-वैराग्यपूर्ण उपदेश से तप का सही रूप निखर आया।

'पिप्पलाद' जो उस समय का एक मान्य वैदिक ऋषि था, उसके उपदेशों पर भी आपके उपदेश की प्रतिछाया स्पष्ट रूप से झलकती है।[१] उसका कहना था कि प्राण या चेतना जब शरीर से पृथक् हो जाती है तब वह शरीर नष्ट हो जाता है। वह निश्चित रूप से भगवान् पार्श्वनाथ के, 'पुद्गलमय शरीर से जीव के पृथक् होने पर विघटन' इस सिद्धान्त की अनुकृति है। 'पिप्पलाद' की नवीन दृष्टि से निकले हुए ईश्वरवाद से प्रमाणित होता है कि उनकी विचारधारा पर पार्श्व का स्पष्ट प्रभाव है।

प्रख्यात ब्राह्मण ऋषि 'भारद्वाज' जिनका अस्तित्व बौद्ध धर्म से पूर्व है, पार्श्वनाथ-काल में वे एक स्वतन्त्र मुण्डक संप्रदाय के नेता थे।[२] बौद्धों के अंगुत्तर निकाय में उनके मत की गणना मुण्डक श्रावक के नाम से की गई है।[३] जैन 'राजवार्त्तिक' ग्रन्थ में उन्हें क्रियावादी आस्तिक के रूप में बताया गया है।[४] मुण्डक मत के लोग वन में रहने वाले, पशु-यज्ञ करने वाले तापसों तथा गृहस्थ-विप्रों से अपने आपको पृथक् दिखाने के लिए सिर मुंडा कर भिक्षावृत्ति से अपना उदर-पोषण करते थे किन्तु वेद से उनका विरोध नहीं था।[५] उनके इस मत पर पार्श्वनाथ के धर्मोपदेश का प्रभाव दिखाई देता है। यही कारण है कि एक विद्वान् ने उसकी परिगणना जैन सम्प्रदाय के अन्तर्गत की है, पर उनकी जैन सम्प्रदाय में परिगणना युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होती।

नचिकेता जो कि उपनिषद्कालीन एक वैदिक ऋषि थे, उनके विचारों पर भी पार्श्वनाथ की स्पष्ट छाप दिखाई पड़ती है। वे भारद्वाज के समकालीन थे तथा ज्ञान-यज्ञ को मानते थे। उनकी मान्यता के मुख्य अंग थे :– इन्द्रिय-निग्रह, ध्यानवृद्धि, आत्मा के अनीश्वर स्वरूप का चिन्तन तथा शरीर और आत्मा का पृथक् बोध। इसी तरह "प्रबुद्ध कात्यायन" जो कि महात्मा बुद्ध से पूर्व हुए थे तथा जाति से ब्राह्मण थे, उनकी विचारधारा पर भी पार्श्व के मन्तव्यों का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। वे शीत जल में जीव मान कर उसके उपयोग

---

१ Cambridge History of India, part I, page 180.
२ Bilongs of the Boudha, Part II, page 22.
३ वातरशनाह्वा..........
४ धर्मान्दर्शयितुकामो..........
५ बृहदारण्यकोपनिषद्, ४।३।२२

को धर्मविरुद्ध मानते थे, जो पार्श्वनाथ की श्रमण-परम्परा से प्राप्त है। उनकी कुछ अन्य मान्यताएं भी पार्श्वनाथ की मान्यताओं से मेल खाती हैं।

'अजितकेशकम्बल' भी पार्श्व-प्रभाव से अछूते दिखाई नहीं देते। यद्यपि उन्होंने पार्श्व के सिद्धान्त को विकृत रूप से प्रकट किया था फिर भी वे वैदिक क्रियाकाण्ड के कट्टर विरोधी थे।

भारत की तो बात ही क्या इससे बाहर के देशों पर भी पार्श्व के प्रभाव की झलक स्पष्ट दिखाई देती है। ई. पू. ५८० में उत्पन्न यूनानी दार्शनिक 'पाइथोगोरस' जो स्वयं महावीर और बुद्ध के समकालीन थे, जीवात्मा के पुनर्जन्म तथा कर्म-सिद्धान्त में विश्वास करते थे। इतना ही नहीं मांसप्रेमी जातियों को भी वे सभी प्रकार की हिंसा तथा मांसाहार से विरत रहने का उपदेश देते थे। यहां तक कि कतिपय वनस्पतियों को भी वे धार्मिक दृष्टि से अभक्ष्य मानते थे। वे पूर्वजन्म के वृत्तान्त को भी स्मृति से बताने का दावा करते थे और आत्मा की तुलना में देह को हेय और नश्वर समझते थे।

उपर्युक्त विचारों का बौद्ध और ब्राह्मण धर्म से कोई सादृश्य नहीं जबकि जैन धर्म के साथ उनका अद्‌भुत सादृश्य है। ये मान्यताएं उस काल में प्रचलित थीं जबकि महावीर और बुद्ध अपने-अपने धर्मों का प्रचलन प्रारम्भ ही कर रहे थे। अतः पाईथोगोरस आदि दार्शनिक पार्श्वनाथ के उपदेशों से किसी न किसी तरह प्रभावित रहे हैं, ऐसा प्रतीत होता है।

बुद्ध पर पार्श्व-मत का प्रभाव

बुद्ध के जीवन-दर्शन से यह बात साफ झलकती है कि उन पर भगवान् पार्श्व के आचार-विचार का गहरा प्रभाव पड़ा था। शाक्य देश जो कि नेपाल की उपत्यका में है और जहां कि बुद्ध का जन्म हुआ था, वहां पार्श्वानुयायी संतों का आना-जाना बना रहता था। और तो क्या, उनके राजघराने पर भी पार्श्व की वाणी का स्पष्ट प्रभाव था। बुद्ध के चाचा भी पार्श्व-मतावलम्बी थे। इन सबसे सिद्ध होता है कि बचपन में बुद्ध के कोमल अन्तःकरण में संसार की असारता एवं त्याग-वैराग्य के जो अंकुर जगे उनके बीज भगवान् पार्श्व के उपदेश रहे हों तो कोई आश्चर्य नहीं।

गृह-त्याग के पश्चात् बुद्ध की चर्या पर जब दृष्टिपात करते हैं तो यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि वे ज्ञानार्जन के लिए विभिन्न स्थानों पर घूमते रहे किन्तु उन्हें आत्मबोध या सच्ची शान्ति कहीं प्राप्त नहीं हुई। जब वे उद्रकराम पुत्र का आश्रम छोड़ कर राजगृह आए तो वहां के निग्रन्थ श्रमण सम्प्रदाय में उन्हें निग्रंथों का चातुर्याम संवर अत्यधिक पसन्द आया। क्योंकि आगे चल कर उन्होंने जिस आर्य अष्टांगिक मार्ग का आविष्कार किया, उसमें चातुर्याम का समावेश किया गया है।[1]

[1] "पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म" पृ० २८।

वाद में केवल चार यामों से ही काम चलने वाला नहीं, ऐसा जान कर उन्होंने उसमें समाधि एवं प्रज्ञा को भी जोड़ दिया। शीलस्कन्ध बुद्ध धर्म की नींव है। शील के बिना अध्यात्म मार्ग में प्रगति पाना असंभव है। पार्श्वनाथ के चातुर्याम का सन्निवेश शीलस्कन्ध में किया गया है और उस ही की रक्षा एवं अभिवृद्धि के लिए समाधित-प्रज्ञा की आवश्यकता है।[1]

आकंखेय सुत्त (मज्झिम निकाय) पढ़ने से पता चलता है कि बुद्ध ने शील को कितना महत्त्व दिया है। अतः यह स्पष्ट है कि बुद्ध ने पार्श्वनाथ के चारों यामों को पूर्णतया स्वीकार किया था। उन्होंने उन यामों में आलारकलाम की समाधि और अपनी खोजी हुई चार आर्य-सत्यरूपी प्रज्ञा को जोड़ दिया और उन यामों को तपश्चर्या एवं आत्मवाद से पृथक् कर दिया।

बुद्ध ने तपश्चर्या का त्याग कर दिया जो कि उन दिनों साधु वर्ग में अत्यधिक प्रचलित थी, अतः लोग उन्हें और उनके शिष्यों को विलासी (मौजी) कहते थे। इस सम्बन्ध में 'दीर्घनिकाय' के पासादिक सुत्त में भगवान् बुद्ध चुन्द से कहते हैं–"अपन सब पर तपश्चर्या की कमी से आक्षेप रूप में आने वाले मौजों के बारे में तुम आक्षेप करने वाले लोगों से कहना–"हिंसा, स्तेय, असत्य और भोगोपभोग (काम सुखल्लिकानुयोग) ये चार मौजें हीन-गंवार, पृथक्-जन-सेवित, अनार्य एवं अनर्थकारी हैं[2]–अर्थात् इनके विपरीत चतुर्याम पालन ही सच्ची तपस्या है और हम सब इस आर्य-सिद्धान्त को अच्छी तरह समझते और पालते हैं।"

कहा जाता है कि बुद्ध के न सिर्फ विचारों पर ही जैन धर्म की छाप पड़ी थी बल्कि संन्यास धारण के बाद "छः वर्षों तक जैन श्रमण के रूप में उन्होंने जीवन व्यतीत किया था।[3]

जैन साहित्यकार कहते हैं कि श्री पार्श्वनाथ भगवान् के तीर्थ में सरयू नदी के तटवर्ती पलाश नामक नगर में पिहिताश्रव साधु का शिष्य बुद्धकीर्ति मुनि हुआ जो बहुश्रुत या बड़ा भारी शास्त्रज्ञ था। परन्तु मछलियों का आहार करने से वह ग्रहण की हुई दीक्षा से भ्रष्ट हो गया और रक्ताम्बर (लाल वस्त्र) धारण करके उसने एकान्त मत की प्रवृत्ति की। "फल, दही, दूध, शक्कर आदि के समान मांस में भी जीव नहीं है, अतएव उसकी इच्छा करने और भक्षण करने में कोई पाप नहीं है। जिस प्रकार जल एक द्रव द्रव्य अर्थात् तरल या बहने वाला पदार्थ है उसी प्रकार शराब है वह त्याज्य नहीं है।" इस प्रकार की घोषणा से उसने संसार में पापकर्म की परिपाटी

---

[1] पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म, पृ० ३०।
[2] पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म, पृ० ३१।
[3] जैन सूत्र (एस. बी. ई.) भाग १, पृ० ३६३ और रत्नकरण्ड श्रावकाचार १।१०

चलाई। एक पाप करता है और दूसरा उसका फल भोगता है, ऐसे सिद्धान्त की कल्पना कर लोगों को अपना अनुयायी बना कर वह मृत्यु को प्राप्त हुआ।[1]

पार्श्वभक्त राजन्यवर्ग

पार्श्वनाथ की वाणी का ऐसा प्रभाव था कि उससे बड़े-बड़े राजा महाराजा भी प्रभावित हुए विना नहीं रह सके। व्रात्य क्षत्रिय सब जैन धर्म के ही उपासक थे। पार्श्वनाथ के समय में कई ऐसे राज्य थे जिनमें पार्श्वनाथ ही इष्टदेव माने जाते थे।

डॉ० ज्योति प्रसाद के अनुसार उनके समय में पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण भारत के विभिन्न भागों में अनेक प्रबल नाग-सत्ताएं राजतन्त्रों अथवा गणतन्त्रों के रूप में उदित हो चुकी थीं और उन लोगों के इष्टदेव पार्श्वनाथ ही रहे प्रतीत होते हैं। उनके अतिरिक्त मध्य एवं पूर्वी देशों के अधिकांश व्रात्य क्षत्रिय भी पार्श्व के उपासक थे। लिच्छवी आदि आठ कुलों में विभाजित वैशाली और विदेह के शक्तिशाली वज्जिगण में तो पार्श्व का धर्म ही लोकप्रिय धर्म था। कलिंग के शक्तिशाली राजा "करकंडु" जो कि एक ऐतिहासिक नरेश थे, तीर्थंकर पार्श्वनाथ के ही तीर्थ में उत्पन्न हुए थे और उनके उपासक उस युग के आदर्श नरेश थे। राजपाट का त्याग कर जैन मुनि के रूप में उन्होंने तपस्या की और सद्गति प्राप्त की, ऐसा उल्लेख है। इनके अतिरिक्त पांचाल नरेश दुर्मुख या द्विमुख, विदर्भ नरेश भीम और गान्धार नरेश नागजित् या नागाति, तीर्थंकर पार्श्व के समसामयिक नरेश थे।[2]

---

[1] सिरि पासणाहतित्थे, सरयूतीरे पलास णयरत्थो।
पिहियासवस्स सिस्सो महासुवो बुड्ढकित्तिमुणी ॥६
तिमिपूरणासणेहिं अहिगय पवज्जाओ परिब्भट्टो।
रत्तंबरं धरित्ता पवट्टियं तेण एयंतं ॥७
मंसस्स णत्थि जीवो जहा फले दहिय, दुद्ध, सक्करए।
तम्हा तं वंछित्ता तं भक्खंतो ण पाविट्ठो ॥८॥
मज्जं ण वज्जणिज्जं दवदव्वं जह जलं तहा एदं।
इदिलोए घोसित्ता पवट्टियं सव्वसावज्जं ॥९॥
अण्णो करेदि कम्मं अण्णो त्तं भुंजदीदि सिद्धंतं।
परिकप्पिऊण णूणं वसिकिच्चा णिरयमुववण्णौ ॥१०॥ दर्शनसार।
[भगवान् महावीर और बुद्ध पृ० ४८-४९]

[2] भारतीय इतिहास में जैन धर्म का योगदान।

भगवान् पार्श्वनाथ के शिष्य ज्योतिर्मण्डल में

निरयावलिका सूत्र के पुष्पिता नामक तृतीय वर्ग के प्रथम तथा द्वितीय अध्ययनों में क्रमशः ज्योतिषियों के इन्द्र 'चन्द्र' और सूर्य का तथा तृतीय अध्ययन में शुक्र महाग्रह का वर्णन है, जो इस प्रकार है :-

एक समय जब भगवान् महावीर राजगृह नगर के गुणशिलक नामक उद्यान में पधारे हुए थे, उस समय ज्योतिष्चक्र का इन्द्र 'चन्द्र' भी प्रभुदर्शन के लिए समवशरण में उपस्थित हुआ। प्रभु को वन्दन करने के पश्चात् उसने प्रभु-भक्ति से आनन्दविभोर हो जिन शासन की प्रभावना हेतु समवशरण में उपस्थित चतुर्विध-संघ एवं अपार जनसमूह के समक्ष अपनी वैक्रियशक्ति से अगणित देव-देवी समूहों को प्रकट कर बड़े मनोहारी, अत्यन्त सुन्दर एवं अत्यद्भुत अनेक दृश्य प्रस्तुत किये। अलौकिक नटराज के रूप में चन्द्र द्वारा प्रदर्शित आश्चर्यजनक दृश्यों को देख कर परिषद् चकित हो गई।

चन्द्र के अपने स्थान को लौट जाने के अनन्तर गौतम गणधर ने प्रभु से पूछा—"भगवन्! ये चन्द्रदेव पूर्वजन्म में कौन थे? इस प्रकार की ऋद्धि इन्हें किस कारण मिली है?"

भगवान् महावीर ने फरमाया—"पूर्वकाल में श्रावस्ती नगरी का निवासी अंगति नाम का एक सुसमृद्ध, उदार, यशस्वी, राज्य, प्रजा एवं समाज द्वारा सम्मानित गाथापति था।"

"किसी समय भगवान् पार्श्वनाथ का श्रावस्ती के कोष्टक चैत्य में शुभागमन हुआ। विशाल जनसमूह के साथ अंगति गाथापति भी भगवान् पार्श्वनाथ के समवशरण में पहुँचा और प्रभु के उपदेशामृत से आप्यायित एवं संसार से विरक्त हो प्रभु की चरणशरण में श्रमण बन गया।"

"अंगति अणगार ने स्थविरों के पास एकादश अंगों का अध्ययन कर कठोर तपश्चरण किया। उसने अनेक चतुर्थ, षष्ठ, अष्टम, दशम, द्वादश, मासार्द्ध एवं मासक्षमण आदि उग्र तपस्याओं से अपनी आत्मा को भावित किया।"

"संयम के मूल गुणों का उसने पूर्ण रूपेणपालन किया पर कभी बयालीस दोषों में से किसी दोषसहित आहार-पानी का ग्रहण कर लेना, ईर्या आदि समितियों की अराधना में कभी प्रमाद कर बैठना, अभिग्रह ग्रहण कर लेने पर उसका पूर्ण रूप से पालन न करना, शरीर चरण आदि का बार-बार प्रक्षालन करना इत्यादि संयम के उत्तर गुणों की विराधना के कारण अंगति अणगार विराधित-चरित्र वाला बन गया।"

"उसने संयम के उत्तर गुणों के अतिचारों की आलोचना नहीं की और अंत में पन्द्रह दिन के संथारे से आयु पूर्ण होने पर वह अंगति अणगार ज्योतिषियों का इन्द्र अर्थात् एक पल्योपम और एक लाख वर्ष की स्थिति वाला चन्द्रदेव बना। तप और संयम के प्रभाव से उन्हें यह ऋद्धि मिली है।"

गणधर गौतम ने पुनः प्रश्न किया – "भगवन् ! अपनी देव-आयु पूर्ण होने पर चन्द्र कहां जायेंगे ?"

भगवान् महावीर ने कहा – "गौतम ! यह चन्द्रदेव आयुष्यपूर्ण होने पर महाविदेश क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्ध, बुद्ध एवं मुक्त होगा।"

इसी प्रकार उपरोक्त सूत्र के द्वितीय अध्ययन में ज्योतिषिमण्डल के इन्द्र सूर्य और उनके पूर्वभव का वर्णन किया गया है कि राजगृह नगर के गुणशिलक चैत्य में भगवान् महावीर के पधारने पर सूर्य भी प्रभु के समवशरण में उपस्थित हुआ।

चन्द्र की तरह सूर्य ने भी प्रभु वन्दन के पश्चात् परिषद् के समक्ष वैक्रियशक्ति के अद्भुत चमत्कार प्रदर्शित किये और अपने स्थान को लौट गया।

गौतम गणधर द्वारा सूर्य के पूर्वभव का वृत्तान्त पूछने पर भगवान् महावीर ने फरमाया कि श्रावस्ती नगरी का सुप्रतिष्ठ नामक गाथापति भी अंगति गाथापति के ही समान समृद्धिशाली, उदार, राज्य तथा प्रजा द्वारा सम्मानित एवं कीर्तिशाली था।

सुप्रतिष्ठ गाथापति भी भगवान् पार्श्वनाथ के श्रावस्ती-आगमन पर धर्मदेशना सुनने गया और संसार से विरक्त हो प्रभु-चरणों में दीक्षित हो गया। उसने भी अंगति की ही तरह उग्र तपस्याएं की, संयम के मूल गुणों का पूर्णरूपेण पालन किया, संयम के उत्तरगुणों की विराधना की और अन्त में वह संयम के अतिचारों की आलोचना किये बिना ही संलेखनापूर्वक काल कर सूर्यदेव बना।

देवायुष्य पूर्ण होने पर वह महाविदेह क्षेत्र में जन्म ग्रहण कर तप-संयम की साधना से सिद्धि प्राप्त करेगा।

श्रमणोपासक सोमिल

निरयावलिका सूत्र के तृतीय वर्ग के तीसरे अध्ययन में शुक्र महाग्रह का निम्नलिखित कथानक दिया हुआ है –

"श्रमण भगवान् महावीर एक बार राजगृह नगर के गुणशिलक उद्यान में पधारे। प्रभु के आगमन की सूचना पाकर नर-नारियों का विशाल समूह बड़े हर्षोल्लास के साथ भगवान् के समवशरण में पहुंचा।

उस समय शुक्र भी वहां आया और भगवान् को वन्दन करने के पश्चात् उसने अपनी वैक्रियशक्ति से अगणित देव उत्पन्न कर अनेक प्रकार के आश्चर्योत्पादक दृश्यों का धर्म परिषद् के समक्ष प्रदर्शन किया। तदनन्तर प्रभु को भक्तिभाव से वन्दन नमन कर अपने स्थान को लौट गया।"

गणधर गौतम के प्रश्न के उत्तर में शुक्र का पूर्वभव बताते हुए भगवान् महावीर ने कहा—"भगवान् पार्श्वनाथ के समय में वाणारसी नगरी में वेद-वेदांग का पारंगत सोमिल नामक ब्राह्मण रहता था।

एक समय भगवान् पार्श्वनाथ का वाणारसी नगरी के आम्रशाल वन में आगमन सुनकर सोमिल ब्राह्मण भी विना छात्रों को साथ लिए उनको वन्दन करने गया। सोमिल ने पार्श्व प्रभु से अनेक प्रश्न पूछे और अपने सव प्रश्नों का सुन्दर एवं समुचित उत्तर पाकर वह परम सन्तुष्ट हुआ और भगवान् पार्श्वनाथ से बोध पाकर श्रावक वन गया।

कालान्तर में असाधुदर्शन और मिथ्यात्व के उदय से सोमिल के मन में विचार उत्पन्न हुआ कि यदि वह अनेक प्रकार के उद्यान लगाये तो बड़ा श्रेयस्कर होगा। अपने विचारों को साकार बनाने के लिए सोमिल ने आम्रादि के अनेक आराम लगवाये।

कालान्तर में आध्यात्मिक चिन्तन करते हुए उसके मन में तापस वनने की उत्कट भावना जगी। तदनुसार उसने अपने मित्रों और जातिवन्धुओं को अशन-पानादि से सम्मानित कर उनके समक्ष अपने ज्येष्ठ पुत्र को कुटुम्ब का भार सौंप दिया। तदनन्तर अनेक प्रकार के तापसों को लोहे की कड़ाहियां, कलछू तथा ताम्बे के पात्रों का दान कर वह दिशाप्रोक्षक तापसों के पास प्रव्रजित हो गया।

तापस होकर सोमिल ब्राह्मण छट्ठ-छट्ठ की तपस्या और दिशा-चक्रवाल से सूर्य की आतापना लेते हुए विचरने लगा।

प्रथम पारण के दिन उसने पूर्व दिशा का पोषण किया और सोम लोकपाल की अनुमति से उसने पूर्व दिशा के कन्द-मूलादि ग्रहण किये।

फिर कुटिया पर आकर उसने क्रमशः वेदि का निर्माण, गंगा-स्नान और विधिवत् हवन किया। इस सब कर्मकाण्ड को सम्पन्न करने के पश्चात् सोमिल ने पारणा किया।

इसी प्रकार सोमिल ने द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ पारण क्रमशः दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा में किये।

एक रात्रि में अनित्य जागरण करते हुए उसके मन में विचार उत्पन्न हुआ कि वह तापसों से पूछ कर उत्तर दिशा में महाप्रस्थान करे, काष्ठमुद्रा से मुंह वांध कर मौनस्थ रहे और चलते-चलते जिस किसी भी जगह स्खलित हो जाय अथवा गिर जाय उस जगह से उठे नहीं, अपितु वहीं पड़ा रहे।

प्रातःकाल तापसों से पूछ कर सोमिल ने अपने संकल्प के अनुसार उत्तर दिशा की ओर प्रस्थान कर दिया। चलते-चलते अपराह्नकाल में वह एक अशोक वृक्ष के नीचे पहुंचा। वहां उसने वांस की छाव रक्खी और मज्जन एवं वलि-वैश्वदेव करके काष्ठमुद्रा से मुंह वांधे वह मौनस्थ हो गया। अर्द्धरात्रि के समय एक देव ने आकर उससे कहा – "सोमिल तेरी प्रव्रज्या ठीक नहीं है।"

सोमिल ने देव की वात का कोई उत्तर नहीं दिया। देव ने उपरोक्त वाक्य दो तीन वार दोहराया। पर सोमिल ने उसकी वात पर कोई ध्यान नहीं दिया और मौन रहा। अन्त में देव वहां से चला गया।

सोमिल निरन्तर उत्तर दिशा की ओर आगे बढ़ता रहा और दूसरे, तीसरे व चौथे दिन के अपराह्नकाल में क्रमशः सप्तपर्ण, अशोक और वटवृक्ष के नीचे उपरोक्त विधि से कर्मकाण्ड सम्पन्न कर एवं काष्ठमुद्रा से मुख बांध कर प्रथम रात्रि की तरह उसने तीनों रात्रियां व्यतीत कीं।

तीनों ही मध्यरात्रियों में उपरोक्त देव सोमिल के समक्ष प्रकट हुआ और उसने वही उपरोक्त वाक्य "सोमिल तेरी प्रव्रज्या ठीक नहीं है, दुष्प्रव्रज्या है" दो तीन बार दोहराया।

सोमिल ने हर बार देव की बात पर कोई ध्यान नहीं दिया और मौनस्थ रहा।

उत्तर दिशा में अग्रसर होते हुए सोमिल पांचवें दिन की अन्तिम वेला में एक गूलर वृक्ष के नीचे पहुंचा और वहां अपनी कावड़ रख, वेदिनिर्माण, गंगा-मज्जन, शरक एवं अरणि से अग्निप्रज्वालन और दैनिक यज्ञ से निवृत्त होकर काष्ठमुद्रा से मुंह बांध कर मौनस्थ हो गया।

मध्यरात्रि में फिर वही देव सोमिल के समक्ष प्रकट होकर कहने लगा-"सोमिल तुम्हारी यह प्रव्रज्या दुष्प्रव्रज्या है।"

सोमिल फिर भी मौन रहा।

सोमिल के मौन रहने पर देव ने दूसरी बार अपनी बात दोहराई। इस बार भी सोमिल ने अपना मौन भंग नहीं किया।

देव ने तीसरी बार फिर कहा-"सोमिल! तेरी यह प्रव्रज्या दुष्प्रव्रज्या है।"

इस पर सोमिल ने अपना मौन तोड़ते हुए देव से पूछा-"देवानुप्रिय! आप बतलाइये कि मेरी यह प्रव्रज्या दुष्प्रव्रज्या किस प्रकार है?"

उत्तर में देव ने कहा-"सोमिल! तुमने अर्हंत् पार्श्व के समक्ष पांच अणुव्रत, सात शिक्षाव्रत, इस तरह बारह व्रत वाला श्रावकधर्म स्वीकार किया था। उनका तुमने त्याग कर दिया और दिशाप्रोक्षक तापस बन गये हो। यह तुम्हारी दुष्प्रव्रज्या है। मैंने बार-बार तुम्हें समझाया फिर भी तुम नहीं समझे।"

सोमिल ने पूछा-"देव! मेरी सुप्रव्रज्या कैसे हो सकती है?"

"सोमिल! यदि तुम पूर्ववत् श्रावक के बारह व्रत धारण करो तो तुम्हारी प्रव्रज्या सुप्रव्रज्या हो सकती है।" यह कहकर देव सोमिल को नमस्कार कर तिरोहित हो गया।

तदनन्तर सोमिल देव के कथनानुसार स्वतः ही पूर्ववत् श्रावकधर्म स्वीकार कर बेला, तेला, चोला, अर्द्धमास, मास आदि की घोर तपश्चर्याओं के आचरण से श्रमणोपासक-पर्याय का पालन करता हुआ बहुत वर्षों तक विचरण करता रहा।

अन्त में १५ दिन की संलेखना से आत्मा को भावित करता हुआ पूर्वकृत दुष्कृत की आलोचना किये बिना आयुष्य पूर्ण कर वह शुक्र महाग्रह रूप से दे

हुआ। कठोर तप और श्रमणोपासकधर्म के पालन के कारण इसे यह ऋद्धि प्राप्त हुई है।"

गौतम ने पुनः प्रश्न किया – "भगवन्! यह शुक्रदेव आयुष्य पूर्ण होने पर कहां जायगा?"

भगवान् महावीर ने कहा – "गौतम! देवायु पूर्ण होने पर यह शुक्र महाविदेह क्षेत्र में जन्म ग्रहण करेगा और वहां प्रव्रजित हो सकल कर्मों का क्षय कर निर्वाण प्राप्त करेगा।"

यहां पर सोमिल का काष्ठमुद्रा से मुख बांध कर मौन रहना विचारणीय एवं शोध का विषय है। जैन दर्शन के अतिरिक्त अन्य दर्शनों में कहीं भी मुख बांधने का विधान उपलब्ध नहीं होता। ऐसी स्थिति में निरयावलिका में सोमिल द्वारा काष्ठमुद्रा से मुंह बांधना प्रमाणित करता है कि प्राचीन समय में जैनेतर धार्मिक परम्पराओं में काष्ठमुद्रा से मुख बांधने की परम्परा थी और पार्श्वनाथ के समय में जैन परम्परा में भी मुखवस्त्रिका बांधने की परम्परा थी। अन्यथा देव सोमिल को काष्ठमुद्रा का परित्याग करने का परामर्श अवश्य देता।

जहां तक हमारा अनुमान है जैन साधु की मुखवस्त्रिका का तापस सम्प्रदाय पर भी अवश्य प्रभाव पड़ा होगा। काष्ठमुद्रा से मुंह बांधने वाली परम्परा का परिचय देते हुए राजशेखर ने षड्दर्शन प्रकरण में कहा है –

वीटेति भारते ख्याता, दारवी मुखवस्त्रिका।
दयानिमित्तं भूतानां मुखनिश्वासरोधिका ।।
घ्राणादनुप्रयातेन, श्वासेनैकेन जन्तवः।
हन्यन्ते शतशो ब्रह्मन्नणुमात्राक्षरवादिना ।।

ऐतिहासिक तथ्य की गवेषणा करने वाले विद्वानों को इस पर तटस्थ दृष्टि से गम्भीर विचार कर तथ्य प्रस्तुत करना चाहिए। इसके साथ ही जो मुखवस्त्रिका को अर्वाचीन और शास्त्र के पन्नों की थूंक से रक्षा के लिए ही मानते हैं उन विद्वानों को तटस्थता से इस पर पुनर्विचार करना चाहिये।

बहुपुत्रिका देवी के रूप में पार्श्वनाथ की आर्या

निरयावलिका सूत्र के तृतीय वर्ग के चतुर्थ अध्याय में बहुपुत्रिका देवी के सम्बन्ध में निम्नलिखित रूप से विवरण दिया गया है –

एक समय राजगृह नगर के गुणशिलक उद्यान में भगवान् महावीर के पधारने पर विशाल जनसमुदाय प्रभु के दर्शन व वन्दन को गया। उस समय सौधर्मकल्प की ऋद्धिशालिनी बहुपुत्रिका देवी भी भगवान् को वन्दन करने हेतु समवशरण में उपस्थित हुई। देशनाश्रवण और प्रभुवन्दन के पश्चात् उस देवी ने अपनी दाहिनी भुजा फैला कर १०८ देवकुमारों, बाईं भुजा से १०८ देवकुमारियों तथा अनेक छोटी-बड़ी उम्र के पोगण्ड एवं वयस्क अगणित बच्चे-बच्चियों को

प्रकट कर बड़ी ही अद्भुत एवं मनोरंजक नाट्यविधि का प्रदर्शन किया ... अपने स्थान को लौट गई।

गौतम गणधर ने भगवान् महावीर स्वामी से साश्चर्य पूछा – "भगवन्! यह बहुपुत्रिका देवी पूर्वभव में कौन थी और इसने इस प्रकार की अद्भुत ... किस प्रकार प्राप्त की है?"

भगवान् ने कहा – "पूर्व समय की बात है कि वाणारसी नगरी में ... नामक एक अतिसमृद्ध सार्थवाह रहता था। उसकी पत्नी सुभद्रा बड़ी सुन्दर और सुकुमार थी। अपने पति के साथ दाम्पत्य जीवन के सभी प्रकार के ... का उपभोग करते हुए अनेक वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी सुभद्रा ने एक भी सन्तान को जन्म नहीं दिया क्योंकि वह बन्ध्या थी।

संतति के अभाव में अपने आपको बड़ी अभागिन, अपने स्त्रीत्व और ... जीवन को निन्दनीय, अकिंचन और विडम्बनापूर्ण मानती हुई वह विचारने ... कि वे माताएं धन्य हैं, उन्हीं स्त्रियों का स्त्री-जीवन सफल और सारभूत है जिनकी कुक्षि से उत्पन्न हुए कुसुम से कोमल बच्चे कर्णप्रिय 'मां' के मधुर सम्बोधन से सम्बोधित करते हुए, संततिवात्सल्य के कारण दूध से भरे माताओं के स्तनों ... दुग्धपान करते हुए, गोद, आंगन और घर भर को अपनी मनोमुग्धकारिणी वालकेलियों से सुशोभित करते और अपनी माताओं एवं परिजनों को हर्षविभोर कर देते हैं।

इस तरह सुभद्रा गाथापत्नी अपने बन्ध्यत्व से अत्यन्त दुखित हो रात दिन चिन्ता में घुलने लगी।

एक दिन भगवान् पार्श्वनाथ की शिष्या सुव्रता की आर्याओं का एक संघाटक वाणारसी के विभिन्न कुलों में मधुकरी करता हुआ सुभद्रा के घर पहुंचा। सुभद्रा ने बड़े सम्मान के साथ उन साध्वियों का सत्कार करते हुए उन्हें अपनी सन्ततिविहीनता का दुखड़ा सुना कर उनसे सन्तान उत्पन्न होने का उपाय पूछा।

आर्या ने उत्तर में कहा – "देवानुप्रिये! हम श्रमणियों के लिए इस प्रकार का उपाय बताना तो दूर रहा, ऐसी बात सुनना भी वर्जित है। हम तो तुम्हें ... दुःखविनाशक वीतरागधर्म का उपदेश सुना सकती हैं। सुभद्रा द्वारा धर्मश्रवण की रुचि प्रकट किये जाने पर आर्या ने उसे सांसारिक भोगोपभोगों की विडम्बना बताते हुए वीतराग द्वारा प्ररूपित त्यागमार्ग का महत्त्व समझाया।

आर्याओं के मुख से धर्मोपदेश सुन कर सुभद्रा ने संतोष एवं प्रसन्नता का अनुभव करते हुए श्राविकाधर्म स्वीकार किया और अन्ततोगत्वा कालान्तर में संसार से विरक्त हो अपने पति की आज्ञा प्राप्त कर वह आर्या सुव्रता के पास प्रव्रजित हो गई।

साध्वी बनने के पश्चात् आर्या सुभद्रा कालान्तर में लोगों के बालकों को देख कर मोहोदय से उन्हें बड़े प्यार और दुलार के साथ खेलाने लगी। वह उन बालकों के लिए अंजन, विलेपन, खिलौने, प्रसाधन एवं खिलाने-पिलाने की सामग्री लाती, स्नान-मन्जन, अंजन, बिंदी, प्रसाधन आदि से उन बच्चों को सजाती, मोदक आदि खिलाती और उनकी बाल-क्रीड़ाओं को बड़े प्यार से देख कर अपने आपको पुत्र-पौत्रवती समझती हुई अपनी संततिलिप्सा को शान्त करने का प्रयास करती।

आर्या सुव्रता ने यह सब देख कर उसके इस आचरण को साधुधर्म से विरुद्ध बताते हुए उसे ऐसा न करने का आदेश दिया पर सुभद्रा अपने उस असाधु आचरण से बाज न आई। सुव्रता द्वारा और अधिक कहे जाने पर सुभद्रा अलग उपाश्रय में चली गई। वहां निरंकुश हो जाने के कारण वह पासत्था, पासत्थ-विहारिणी,उसन्ना, उसन्नविहारिणी, कुशीला, कुशील-विहारिणी, संसत्ता, संसत्त-विहारिणी एवं स्वच्छन्दा, स्वच्छन्दविहारिणी बन गई।

इस प्रकार शिथिलाचारपूर्वक श्रामण्यपर्याय का बहुत वर्षों तक पालन करने के पश्चात् अंत में आर्या सुभद्रा मासार्द्ध की संलेखना से बिना आलोचना किये ही आयुष्य पूर्ण कर सौधर्म कल्प में बहुपुत्रिका देवी रूप से उत्पन्न हुई।"

गौतम ने प्रश्न किया – "भगवन् ! इस देवी को बहुपुत्रिका किस कारण कहा जाता है ?"

भगवान् महावीर ने कहा – "यह देवी जब-जब सौधर्मेन्द्र के पास जाती है तो अपनी वैक्रियशक्ति से अनेक देवकुमारों और देवकुमारियों को उत्पन्न कर उनको साथ लिए हुए जाती है अतः इसे बहुपुत्रिका के नाम से सम्बोधित किया जाता है।"

गौतम ने पुनः प्रश्न किया – "भगवन् ! सौधर्म कल्प की आयुष्य पूर्ण होने के पश्चात् यह बहुपुत्रिका देवी कहां उत्पन्न होगी ?"

भगवान् महावीर ने फरमाया – "सौधर्म कल्प से च्यवन कर यह देवी भारत के विभेल सन्निवेश में सोमा नाम की ब्राह्मण पुत्री के रूप में उत्पन्न होगी। उसका पिता अपने भानजे राष्ट्रकूट नामक युवक के साथ सोमा का विवाह करेगा। पूर्वभव की अत्युत्कट पुत्रलिप्सा के कारण सोमा प्रतिवर्ष युगल बालक-बालिका को जन्म देगी और इस प्रकार विवाह के पश्चात् सोलह वर्षों में वह बत्तीस बालक-बालिकाओं की माता बन जायगी। अपने उन बत्तीस बालक-बालिकाओं के क्रंदन, चीख-पुकार, सार-सम्हाल, मल-मूत्र-वमन को साफ करने आदि कार्यों से वह इतनी तंग आ जायगी कि बालक-बालिकाओं के मल-मूत्र से सने अपने तन-वदन एवं कपड़ों तक को साफ नहीं कर पायेगी।

जहां वह सुभद्रा सार्थवाहिनी के भव में संतान के लिए छटपटाती रहती थी वहां अपने आगामी सोमा के भव में संतति से ऊब कर वन्ध्या स्त्रियों को धन्य और अपने आपको हतभागिनी मानेगी।

कालान्तर में सोमा सांसारिक जीवन को विडम्बनापूर्ण समझ कर सु... नाम की किसी आर्या के पास प्रव्रजित हो जायगी और घोर तपस्या कर एक म... की संलेखनापूर्वक काल कर शक्रेन्द्र के सामानिक देव रूप में उत्पन्न होगी। देवभव पूर्ण होने पर महाविदेह क्षेत्र में मनुष्य होकर बहुपुत्रिका का जीव ... संयम की साधना से निर्वाणपद प्राप्त करेगा।"

भगवान् पार्श्वनाथ की साध्वियां विशिष्ट देवियों के रूप में

भगवान् पार्श्वनाथ के उपदेशों से प्रभावित हो समय-समय पर ... जराजीर्ण कुमारिकाओं ने पार्श्व प्रभु की चरणशरण ग्रहण कर प्रव्रज्या ... इस प्रकार के वर्णन निरयावलिका और ज्ञाताधर्म कथा सूत्रों में उपलब्ध होते हैं।

उन आख्यानों से तत्कालीन सामाजिक स्थिति पर, भगवान् पार्श्वनाथ की अत्यधिक लोकप्रियता और उनके नाम के साथ 'पुरुषादानीय' विशेषण प्रयु... किये जाने के कारणों पर काफी अच्छा प्रकाश पड़ता है अतः उन उपाख्यानों को यहां संक्षेप में दिया जा रहा है।

निरयावलिका सूत्र के पुष्पचूलिका नामक चौथे वर्ग में श्री, ह्री, धी, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी, इलादेवी, सुरादेवी, रसदेवी और गन्धदेवी नाम की दस देवियों के दश अध्ययन हैं।

प्रथम अध्ययन में श्रीदेवी के सम्बन्ध में वर्णन किया गया है कि एक समय भगवान् महावीर राजगृह नगर के गुणशील नामक उद्यान में पधारे। उस समय सौधर्म कल्प के श्री अवतंसक विमान की महती ऋद्धिशालिनी श्रीदेवी ... भगवान् महावीर के दर्शन करने के लिए समवशरण में आई।

श्रीदेवी ने अपने नाम-गोत्र का उच्चारण कर प्रभु को प्रांजलिपूर्वक आदक्षिणा-प्रदक्षिणा के साथ वन्दन कर समवशरण में अपनी उच्चकोटि की वैक्रियलब्धि द्वारा अत्यन्त मनोहारी एवं परम अद्भुत नाट्यविधि का प्रदर्शन किया। तदनन्तर वह भगवान् महावीर को वन्दन कर अपने देवलोक को लौट गई।

गौतम गणधर द्वारा किये गये प्रश्न के उत्तर में भगवान् महावीर ने श्रीदेवी का पूर्वजन्म बताते हुए फरमाया – "गौतम! राजा जितशत्रु के राज्यकाल में सुदर्शन नामक एक समृद्ध गाथापति राजगृह नगर में निवास करता था। उसकी पत्नी का नाम प्रिया और इकलौती पुत्री का नाम भूता था। कन्या भूता का विवाह नहीं हुआ और वह जराजीर्ण हो वृद्धावस्था को प्राप्त हो गई। बुढ़ापे के कारण उसके स्तन और नितम्ब शिथिल हो गये थे।

एक समय पुरुषादानीय अर्हत् पार्श्व राजगृह नगर में पधारे। नगरनिवासी हर्षविभोर हो प्रभुदर्शन के लिए गये। वृद्धकुमारिका भूता भी अपने माता-पिता की आज्ञा लेकर भगवान् के समवशरण में पहुँची और पार्श्वनाथ के उपदेश को सुन कर एवं हृदयंगम करके बड़ी प्रसन्न हुई।

उसने वन्दन के पश्चात् प्रभु से हाथ जोड़ कर कहा – "प्रभो ! मैं निर्ग्रंथ प्रवचन पर श्रद्धा रखती हूँ और उसके आराधन के लिये समुद्यत हूँ। अपने माता-पिता की आज्ञा प्राप्त कर मैं आपके पास प्रव्रजित होना चाहती हूँ।"

प्रभु पार्श्वनाथ ने कहा – "देवानुप्रिये ! जिस प्रकार तुम्हें सुख हो वैसा ही करो।"

घर लौट कर भूता कन्या ने अपने माता-पिता के समक्ष दीक्षा ग्रहण करने की इच्छा प्रकट कर उनसे आज्ञा प्राप्त कर ली।

सुदर्शन गाथापति ने बड़े समारोह के साथ दीक्षा-महोत्सव आयोजित किया और एक हजार पुरुषों द्वारा उठाई जाने वाली सुन्दर पालकी में भूता को बिठा कर दिशाओं को प्रतिध्वनित करने वाली विविध वाद्यों की ध्वनि के बीच स्वजन-परिजन सहित शहर के मध्यभाग के विस्तीर्ण राजपथ से वह गुण-शील चैत्य के पास पहुँचा।

तीर्थंकर पार्श्वनाथ के अतिशयों को देखते ही भूता कन्या शिबिका से उतरी। गाथापति सुदर्शन और उसकी पत्नी प्रिया अपनी पुत्री भूता को आगे कर प्रभु के पास पहुँचे और प्रदक्षिणापूर्वक वन्दन, नमस्कार के पश्चात् कहने लगे – "भगवन् ! यह भूता दारिका हमारी इकलौती पुत्री है, जो हमें अत्यन्त प्रिय है। यह संसार के जन्म-मरण के भय से उद्विग्न हो आपकी सेवा में प्रव्रज्या ग्रहण करना चाहती है। अतः हम आपको यह शिष्यारूपी भिक्षा समर्पित करते हैं। प्रभो ! अनुग्रह कर आप इस भिक्षा को स्वीकार कीजिये।"

भगवान् पार्श्वनाथ ने कहा – "देवानुप्रियो ! जैसी तुम्हारी इच्छा हो।"

तदनन्तर वृद्धकुमारिका भूता ने हृष्टतुष्ट हृदय से ईशान कोण में जाकर आभूषण उतारे और वह पुष्पचूला आर्या के पास प्रव्रजित हो गई।

उसके बाद कालान्तर में वह भूता आर्या शरीरबाकुशिका (अपने शरीर की अत्यधिक सार-सम्हाल करने वाली) हो गई और अपने हाथों, पैरों, शिर, मुँह आदि को बार-बार धोती रहती। जहाँ कहीं, सोने बैठने और स्वाध्याय आदि के लिये उपयुक्त स्थान निश्चित करती तो उस स्थान को पहले पानी से छिड़कती और फिर उस स्थान पर सोती, बैठती अथवा स्वाध्याय करती थी।

यह देख कर आर्या पुष्पचूला ने उसे बहुतेरा समझाया कि साध्वी के लिये शरीरबाकुशिका होना उचित नहीं है अतः इस प्रकार के आचरण के लिये वह आलोचना करे और भविष्य में ऐसा कभी न करे पर भूता आर्या ने पुष्पचूला की बात नहीं मानी। वह अकेली ही अलग उपाश्रय में रहने लगी और स्वतन्त्र होकर पूर्ववत् शरीरबाकुशिका ही बनी रही।

तत्पश्चात् भूता आर्या ने अनेक चतुर्थ, षष्ठ और अष्टमभक्त आदि तप कर के अपनी आत्मा को भावित किया और संलेखनापूर्वक, अपने शिथिलाचार की

आलोचना किये बिना ही, आयुष्य पूर्ण होने पर वह सौधर्म कल्प के श्री अवतंसक विमान में देवी हुई और इस प्रकार वह ऋद्धि उसे प्राप्त हुई।

देवलोक में एक पल्योपम की आयुष्य भोग कर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेगी और वहां वह सिद्ध-बुद्ध-मुक्त होगी।

श्रीदेवी की ही तरह ह्री आदि ६ देवियों ने भी भगवान् महावीर के दर्शन, वन्दन हेतु समवशरण में उपस्थित हो अपनी अत्यन्त आश्चर्यजनक वैक्रियलब्धि द्वारा मनोहारी दृश्यों का प्रदर्शन किया और प्रभु को वन्दन कर क्रमशः अपने स्थान को लौट गईं।

उन ६ देवियों के पूर्वभव सम्बन्धी गौतम की जिज्ञासा का समाधान करते हुए श्रमण भगवान् महावीर ने फरमाया कि वे ६ ही देवियां अपने समान नाम वाले गाथापति दम्पतियों की पुत्रियां थीं। वृद्धावस्था को प्राप्त हो जाने तक उनका विवाह नहीं हुआ अतः वे वृद्धा-वृद्धकुमारिका, जीर्णा-जीर्णकुमारिका के विशेषणों से सम्बोधित की गई हैं। उन सभी वृद्धकुमारिकाओं ने भूता वृद्धकुमारिका की तरह भगवान् पार्श्वनाथ के उपदेशों से प्रभावित हो प्रवर्तिनी पुष्पचूला के पास दीक्षा ग्रहण कर अनेक प्रकार की तपस्याएं कीं पर शरीरबाकुशिका बन जाने के कारण संयम की विराधिकाएं हुईं। अपनी प्रवर्तिनी पुष्पचूला द्वारा समझाने पर भी वे नहीं मानीं और स्वतन्त्र एकलविहारिणी हो गईं। अन्त समय में संलेखना कर अपने शिथिलाचार की आलोचना किये बिना ही मर कर सौधर्म कल्प में ऋद्धिशालिनी देवियां हुईं। देवलोक की आयुष्य पूर्ण होने पर ये सब महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होंगी और अन्त में वहां निर्वाण प्राप्त करेंगी।

इसी प्रकार ज्ञाताधर्मकथा सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के १० वर्गों में कुल मिला कर २०६ जराजीर्ण वृद्धकुमारिकाओं द्वारा प्रभु पार्श्वनाथ के पास प्रव्रजित होने का निम्न क्रम से उल्लेख है –

प्रथम वर्ग में चमरेन्द्र की पांच (५) अग्रमहिषियां।
दूसरे वर्ग में बलीन्द्र की पांच (५) अग्रमहिषियां।
तीसरे वर्ग में नव निकाय के नौ दक्षिणेन्द्रों में से प्रत्येक की छः-छः अग्रमहिषियों के हिसाब से कुल ५४ अग्रमहिषियां।
चौथे वर्ग में उत्तर के नव निकायों के उत्तरेन्द्रों की ५४ अग्रमहिषियां।
पांचवें वर्ग में व्यन्तर के ३२ दक्षिणेन्द्रों की ३२ देवियां।
छट्ठे वर्ग में व्यन्तर के ३२ उत्तरेन्द्रों की ३२ देवियां।
सातवें वर्ग में चन्द्र की ४ अग्रमहिषियां।
आठवें वर्ग में सूर्य की चार (४) अग्रमहिषियां।
नवमें वर्ग में शकेन्द्र की ८ अग्रमहिषियां और
दशवें वर्ग में ईशानेन्द्र की आठ (८) अग्रमहिषियां।

प्रथम वर्ग में चमरेन्द्र की काली, राई, रयणी, विज्जू और मेघा इन ५ अग्रमहिषियों के कथानक दिये हुए हैं।

प्रथम काली देवी ने भगवान् महावीर को राजगृह नगर में विराजमान देख कर भक्तिपूर्वक सविधि वन्दन किया और फिर अपने देव-देवीगण के साथ प्रभु की सेवा में आकर सुर्याभ देव की तरह अपनी वैक्रियशक्ति से नाट्यकला का प्रदर्शन किया और अपने स्थान को लौट गई।

गौतम गणधर द्वारा उसके पूर्वभव की पृच्छा करने पर प्रभु ने फरमाया – "जम्बू द्वीप के भारतवर्ष की आमलकल्पा नाम की नगरी में काल नामक गाथापति की काल श्री भार्या की कुक्षि से काली बालिका का जन्म हुआ। वह वृद्ध वय की हो जाने तक भी कुमारी ही रही इसलिए उसे वृद्धा-वृद्धकुमारी, जुन्ना-जुन्नकुमारी कहा गया है।

आमलकल्पा नगरी में किसी समय भगवान् पार्श्वनाथ का शुभागमन हुआ।

भगवान् का आगमन जान कर काली भी प्रभुवन्दन के लिए समवशरण में गई और वहां प्रभु के मुखारविन्द से धर्मोपदेश सुन कर संसार से विरक्त हो गई। उसने अपने घर लौट कर मातापिता के समक्ष प्रव्रज्या ग्रहण करने की इच्छा प्रकट की और मातापिता की आज्ञा प्राप्त होने पर वह भगवान् पार्श्वनाथ के पास प्रव्रजित हो गई। स्वयं पुरुषादानीय भगवान् पार्श्वनाथ ने उसे पुष्पचूला आर्या को शिष्या रूप में सौंपा। आर्या काली एकादश अंगों की ज्ञाता होकर चतुर्थ, षष्ट, अष्टभक्तादि तपस्या से आत्मा को भावित करती हुई विचरने लगी।

अन्यदा आर्या काली शरीरबाकुशिका होकर बार-बार अपने अंग-उपांगों को धोती और बैठने, सोने आदि के स्थान को पानी से छींटा करती। पुष्पचूला आर्या द्वारा मना किये जाने पर भी उसने शरीर बाकुशिकता का शिथिलाचार नहीं छोड़ा और अलग उपाश्रय में रह कर स्वतन्त्र रूप से विचरने लगी।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र से अलग रहने के कारण उसे पासत्था, पासत्थ विहारिणी, उसन्ना, उसन्नविहारिणी आदि कहा गया। वर्षों चारित्र का पालन कर एक पक्ष की संलेखना से अन्त में वह बिना आलोचना किये ही काल कर चमरचंचा राजधानी में काली देवी के रूप में चमरेन्द्र की अग्रमहिषी हुई। चमरचंचा से च्यव कर काली महाविदेह में उत्पन्न होगी और वहां अन्त में मुक्ति प्राप्त करेगी।"

काली देवी की ही तरह रात्रि, रजनी, विद्युत् और मेघा नाम की चमरेन्द्र की अग्रमहिषियों ने भी भगवान् महावीर के समवशरण में उपस्थित हो प्रभु को वन्दन करने के पश्चात् अपनी वैक्रियलब्धियों का चमत्कारपूर्ण प्रदर्शन किया।

गौतम गणधर के प्रश्न के उत्तर में भगवान् महावीर ने उनके पूर्वभव बताते हुए फरमाया कि ये चारों देवियां अपने पूर्वभव में आमलकल्पा नगरी के अपने समान नाम वाले गाथापति दम्पतियों की पुत्रियां थीं और जराजीर्ण

वृद्धाएं हो जाने तक भी उनका विवाह नहीं हुआ था। भगवान् पार्श्वनाथ के उपदेश से विरक्त हो उन्होंने काली की तरह प्रव्रज्या ग्रहण की, विविध तपस्याएं कीं, शरीर बाकुशिका बनीं, श्रमणी संघ से अलग हो स्वतन्त्रविहारिणी बनीं और अन्त में बिना अपने शिथिलाचार की आलोचना किये ही संलेखना कर वे चमरेन्द्र की अग्रमहिषियां बनीं।

ये रात्रि आदि चारों देवियां भी देवीआयुष्य पूर्ण होने पर महाविदेह क्षेत्र में एक भव कर मुक्त होंगी।

ज्ञाताधर्म कथा सूत्र के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के दूसरे वर्ग में वर्णित शुंभा, निशुंभा, रंभा, निरंभा और मदना नाम की बलीन्द्र की पांचों अग्रमहिषियों ने भी भगवान् महावीर के समवशरण में उपस्थित हो काली देवी की तरह अपनी अद्भुत वैक्रियशक्ति का प्रदर्शन किया।

उन देवियों के अपने स्थान पर लौट जाने के अनन्तर गणधर गौतम के प्रश्न के उत्तर में भगवान् महावीर ने उनके पूर्वभव बताते हुए फरमाया कि वे सब अपने पूर्वभवों में सावत्थी नगरी में अपने समान नाम वाले गाथापति दम्पतियों की पुत्रियां थीं।

तीसरे वर्ग में वर्णित नवनिकायों के ९ ही दक्षिणेन्द्रों की छः-छः के हिसाब से कुल ५४ अग्रमहिषियाँ – इला, सतेरा, सोयामणि आदि – अपने पूर्वभव में वाणारसी नगरी के अपने समान नाम वाले गाथापति दम्पतियों की पुत्रियां थीं।

इसी प्रकार चौथे वर्ग में उल्लिखित उत्तर के नवनिकायों के ९ भूतानन्द आदि उत्तरेन्द्रों की ५४ अग्रमहिषियां भगवान् महावीर के समवशरण में उपस्थित हुईं। भगवान् को वन्दन करने के पश्चात् क्रमशः उन्होंने भी काली देवी की तरह अपनी अद्भुत वैक्रियशक्ति का परिषद् के समक्ष अत्यद्भुत चमत्कार प्रदर्शित किया।

गणधर गौतम द्वारा उन ५४ देवियों के पूर्वभव के सम्बन्ध में प्रश्न करने पर भगवान् महावीर ने फरमाया – "गौतम ये ५४ ही उत्तरेन्द्रों की अग्रमहिषियां अपने पूर्वजन्म में चम्पा नगरी के निवासी अपने समान नाम वाले मातापिताओं की रूपा, सुरूपा, रूपांसा, रूपकावती, रूपकान्ता, रूपप्रभा, आदि नाम की पुत्रियां थीं। ये सभी वृद्धकुमारियां थीं। जराजीर्ण हो जाने पर भी इन सबका विवाह नहीं हुआ था। भगवान् पार्श्वनाथ के चम्पानगरी में पधारने पर इन सब वृद्ध-कुमारिकाओं ने उनके उपदेश से प्रभावित हो प्रवर्तिनी सुव्रता के पास संयम ग्रहण किया। इन सबने कठोर तपस्या करके संयम के मूल गुणों का पूर्णरूपेण पालन किया। लेकिन शरीरबाकुशिका होकर संयम के उत्तर गुणों की यह सब विराधिकायें बन गईं। बहुत वर्षों तक संयम और तप की साधना से इन्होंने चारित्र का पालन किया और अन्त में संलेखनापूर्वक आयुष्य पूर्ण कर अपने

चारित्र के उत्तर गुणों के दोषों की आलोचना नहीं करने के कारण उत्तरेन्द्र की अग्रमहिषियां हुईं।

पंचम वर्ग में दक्षिण के व्यन्तरेन्द्रों की ३२ अग्रमहिषियों का वर्णन है। कमला, कमलप्रभा, उत्पला, सुदर्शना, रूपवती, बहुरूपा, सुरूपा, सुभगा, पूर्णा, बहुपुत्रिका, उत्तमा, भार्या, पद्मा, वसुमती, कनका, कनकप्रभा, बडेसा, केतुमती, नइरसेणा, रईप्रिया, रोहिणी, नमिया, ह्री, पुष्पवती, भुजगा, भुजगावती, महाकच्छा, अपराजिता, सुघोषा, विमला, सुस्सरा, सरस्वती, इन सब देवियों ने भी काली की ही तरह भगवान् महावीर के समवशरण में उपस्थित हो अपनी वैक्रियशक्ति का प्रदर्शन किया।

गौतम द्वारा इनके पूर्वभव के सम्बन्ध में जिज्ञासा करने पर महावीर ने कहा – "ये बत्तीसों देवियां पूर्वभव में नागपुर निवासी अपने समान नाम वाले गाथापति दम्पतियों की पुत्रियां थीं। ये भी जीवनभर अविवाहित रहीं। जब ये वृद्ध कन्यायें – जीर्ण कन्यायें हो चुकी थीं उस समय नागपुर में भगवान् पार्श्वनाथ का आगमन सुन कर ये भी भगवान् के समवशरण में पहुंचीं। और उनके उपदेश से विरक्त हो सुव्रता आर्या के पास प्रव्रजित हो गईं। इन्होंने अनेक वर्ष तक संयम का पालन किया और अनेक प्रकार की उग्र तपस्यायें कीं। किन्तु शरीरबाकुशिका हो जाने के कारण इन्होंने संयम के उत्तर गुणों की विराधना की और अन्त समय में बिना संयम के अतिचारों की आलोचना किये संलेखनापूर्वक काल धर्म को प्राप्त हो ये दक्षिणेन्द्रों की अग्रमहिषियां बनीं।

षष्ट वर्ग में निरूपित व्यन्तर जाति के महाकाल आदि ३२ उत्तरेन्द्रों की देवियां अपने पूर्वभव में साकेतपुर के अपने समान नाम वाले गाथापति दम्पतियों की पुत्रियां थीं। इन्होंने भी भगवान् पार्श्वनाथ के उपदेशों से विरक्त हो आर्या सुव्रता के पास प्रव्रज्या ग्रहण की। अनेक वर्षों तक इन सबने संयम एवं तप की साधना की किन्तु संयम के उत्तर गुणों की विराधिकाएं होने के कारण बिना आलोचना किये ही संलेखनापूर्वक आयुष्य पूर्ण कर महाकाल आदि ३२ उत्तरेन्द्रों की अग्रमहिषियां बनीं।

सप्तम वर्ग में उल्लिखित सूरप्रभा, आतपा, अर्चिमाली और प्रभंकरा नाम की सूर्य की ४ अग्रमहिषियां अपने पूर्वभव में अरक्खुरी नगरी के अपने समान नाम वाले गाथापति दम्पतियों की पुत्रियां थीं।

अष्टम वर्ग में वर्णित चन्द्रप्रभा, ज्योत्स्नाभा, अर्चिमाली और प्रभंगा नाम की चन्द्र की चार अग्रमहिषियां अपने पूर्वभव में मथुरा के अपने समान नाम वाले गाथापति दम्पतियों की पुत्रियां थीं।

नवम वर्ग में वर्णित पद्मा, शिवा, सती, अंजु, रोहिणी, नवमिया, अचला और अच्छरा नाम की सौधर्मेन्द्र की ८ अग्रमहिषियों के पूर्वभव बताते हुए प्रभु महावीर ने फरमाया कि पद्मा और शिवा श्रावस्ती नगरी के, सती और अंजु

हस्तिनापुर के, रोहिणी और नवमिया कम्पिलपुर के तथा अचला और अच्छरा साकेतपुर के अपने समान नाम वाले गाथापतियों की पुत्रियां थीं।

दशम वर्ग में वर्णित ईशानेन्द्र की कृष्णा तथा कृष्णराजि अग्रमहिषियां वाराणसी, रामा और रामरक्खिया राजगृह नगर, वसु एवं वसुदत्ता श्रावस्ती नगरी, तथा वसुमित्रा और वसुंधरा नाम की अग्रमहिषियां कोशाम्बी के अपने समान नाम वाले गाथापति दम्पतियों की पुत्रियां थीं।

दूसरे वर्ग से दशम वर्ग तक में वर्णित ये सभी २०१ देवियां अपने अपने पूर्वभव में जीवन भर अविवाहित रहीं। जराजीर्ण वृद्धावस्था में इन सभी वृद्ध-कुमारियों ने भगवान् पार्श्वनाथ के उपदेशों से विरक्त हो श्रमणीधर्म स्वीकार किया। ग्यारह अंगों की ज्ञाता होकर इन सबने अनेक प्रकार की तपस्याएं कीं पर कालान्तर में ये सबकी सब शरीरबाकुशिका हो साध्विसंघ से पृथक् हो स्वतन्त्रविहारिणियां एवं शिथिलाचारिणियां बन गईं और अन्त में अपने अपने शिथिलाचार की आलोचना किये बिना ही संलेखनापूर्वक कालकवलिताएं हो उपरिवर्णित इन्द्रों एवं सूर्य तथा चन्द्र की अग्रमहिषियां बनीं।

भगवान् पार्श्वनाथ का व्यापक और अमिट प्रभाव

वीतरागता और सर्वज्ञता आदि आत्मिक गुणों की सब तीर्थंकरों में समानता होने पर भी संभव है पार्श्वनाथ में कोई विशेषता रही हो जिससे कि वे अधिकाधिक लोकप्रिय हो सके।

जैन साहित्य के अन्तर्गत स्तुति, स्तोत्र और मंत्रपदों से भी ज्ञात होता है कि वर्तमान अवसर्पिणी काल के चौबीस तीर्थंकरों में से भगवान् पार्श्वनाथ की स्तुति के रूप में जितने मंत्र या स्तोत्र उपलब्ध होते हैं उतने अन्य के नहीं हैं।

भगवान् पार्श्वनाथ की भक्ति से ओतप्रोत अनेक महात्माओं एवं विद्वानों द्वारा रचित प्रभु पार्श्वनाथ की महिमा से पूर्ण कई महाकाव्य, काव्य, चरित्र, अगणित स्तोत्र आदि और देश के विभिन्न भागों में प्रभु पार्श्व के प्राचीन भव्य कलाकृतियों के प्रतीक विशाल मन्दिरों का बाहुल्य, ये सब इस बात के पुष्ट प्रमाण हैं कि भगवान् पार्श्वनाथ के प्रति धर्मनिष्ठ मानवसमाज पीढ़ियों से कृतज्ञ और श्रद्धावनत रहा है।

आगमों में अन्यान्य तीर्थंकरों का 'अरहा' विशेषण से ही उल्लेख किया गया है। जैसे – 'मल्ली अरहा', 'उसभेणं अरहा', 'सीयलेणं अरहा', 'संतिस्सणं अरहओ'[1] आदि। पर पार्श्वनाथ का परिचय देते समय आगमों में लिखा गया है – 'पासेणं अरहा पुरिसादाणीए' 'पासस्सणं अरहओ पुरिसादाणिअस्स'।[2] इससे प्रमाणित होता है कि आगमकाल में भी भगवान् पार्श्वनाथ की कोई

[1] समवायांग व कल्पसूत्र आदि।

[2] समवायांग सूत्र, समवाय ३८ व कल्पसूत्र आदि।

खास विशिष्टता मानी जाती थी। अन्यथा उनके नाम से पहले विशेषण के रूप में 'अरहा अरिट्ठनेमी' की तरह 'पासेणं अरहा' केवल इतना ही लिखा जाता।

'पुरुषादानीय' का अर्थ होता है पुरुषों में आदरपूर्वक नाम लेने योग्य। महावीर के विशिष्ट तप के कारण जैसे उनके नाम के साथ 'समणे भगवं महावीरे' लिखा जाता है वैसे ही पार्श्वनाथ के नाम के साथ अंग-शास्त्रों में 'पुरिसादाणी' विशेषण दिया गया है। अतः इस विशेषण के जोड़ने का कोई न कोई विशिष्ट कारण अवश्य होना चाहिये।

वह कारण यह हो सकता है कि पूर्वोक्त २२० देवों और देवियों के प्रभाव से जनता अत्यधिक प्रभावित हुई हो। देवियों एवं देवताओं की आश्चर्यजनक विपुल ऋद्धि और अत्यन्त अद्भुत शक्ति के प्रत्यक्षदर्शी विभिन्न नगरों के विशाल जनसमूहों ने जब उन देवताओं और देवियों के पूर्वभव के सम्बन्ध में त्रिकालदर्शी, सर्वज्ञ, तीर्थंकर भगवान् महावीर के मुखारविन्द से यह सुना कि ये सभी देव और देवियां भगवान् पार्श्वनाथ के अन्तेवासी और अन्तेवासिनियाँ थीं तो निश्चित रूप से भगवान् पार्श्वनाथ के प्रति उस समय के जनमानस में प्रगाढ़ भक्ति और अगाध श्रद्धा का घर कर लेना सहज स्वाभाविक ही था।

इसके साथ ही साथ अपने नीरस नारिजीवन से ऊबी हुई उन दो सौ सोलह (२१६) वृद्धकुमारिकाओं ने भगवान् पार्श्वनाथ की कृपा से महती देवीऋद्धि प्राप्त की अतः सहज ही यह अनुमान लगाया जा सकता है कि देवियां बन कर उन्होंने निश्चित रूप से जिनशासन की प्रभावना के अनेक कार्य किये होंगे और उस कारण भारत का मानवसमाज निश्चित रूप से भगवान् पार्श्वनाथ का विशिष्ट उपासक बन गया होगा।

भगवान् पार्श्वनाथ के कृपाप्रसाद से ही तापस की धूनी में जलता हुआ नाग और नागिन का जोड़ा धरणेन्द्र और पद्मावती बना तथा भगवान् पार्श्वनाथ के तीन शिष्य क्रमशः सूर्यदेव, चन्द्रदेव और शुक्रदेव बने।

श्रद्धालु भक्तों की यह निश्चित धारणा है कि इन देवियों, देवों और देवेन्द्रों ने समय-समय पर शासन की प्रभावना की है। इसका प्रमाण यह है कि धरणेन्द्र और पद्मावती के स्तोत्र आज भी प्रचलित हैं।

भद्रबाहु के समय में संघ को संकटकाल में पार्श्वनाथ का स्तोत्र ही दिया गया था। सिद्धसेन जैसे पश्चाद्वर्ती आचार्यों ने भी पार्श्वनाथ की स्तुति से ही शासनप्रभावना की।

इन वृद्धकुमारिकाओं के आख्यानों से उस समय की सामाजिक स्थिति का भी दिग्दर्शन होता है कि सामाजिक रूढ़ियों अथवा अन्य किन्हीं कारणों से उस समय समृद्ध परिवारों को भी अपनी कन्याओं के लिये योग्य वरों का मिलना बड़ा दूभर था। भगवान् पार्श्वनाथ ने जीवन से निराश ऐसे परिवारों के समक्ष साधना का प्रशस्त मार्ग प्रस्तुत कर तत्कालीन समाज को बड़ी राहत प्रदान की।

इन सब आख्यानों से सिद्ध होता है कि भगवान् पार्श्वनाथ ने उस समय के मानवसमाज को सच्चे सुख की राह बता एवं उलझी हुई जटिल समस्याओं को सुलझा कर मानवसमाज की अत्यधिक भक्ति और प्रगाढ़ प्रीति प्राप्त की और अपने अमृतोपम प्रभावशाली उपदेशों से जनमन पर ऐसी अमिट छाप लगाई कि हजारों वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी प्रभु पार्श्वनाथ की परम्परागत छाप आज के जनमानस पर भी स्पष्टत: दिखाई दे रही है।

इसके अतिरिक्त भगवान् पार्श्वनाथ के विशिष्ट प्रभाव का एक कारण उनका प्रबल पुण्यातिशय एवं अधिष्ठाता देव-देवियों का सान्निध्य भी हो सकता है।

भगवान् पार्श्वनाथ ने केवलज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् अपने दीर्घकाल के विहार में अनार्य देशों में भ्रमण कर अनार्यजनों को भी अधिकाधिक संख्या में धर्मानुरागी बनाया हो तो यह भी उनकी लोकप्रियता का विशेष कारण हो सकता है। जैसा कि भगवान् पार्श्वनाथ के विहारक्षेत्रों के सम्बन्ध में अनेक आचार्यों द्वारा किये गये वर्णनों से स्पष्ट प्रतीत होता है।

पार्श्व ने कुमारकाल में प्रसेनजित् की सहायता की और राजा यवन को अपने प्रभाव से झुकाया। संभव है वह यवनराज भी आगे चल कर भगवान् पार्श्वनाथ के उपदेशों से अत्यधिक प्रभावित हुआ हो और उसके फलस्वरूप अनार्य कहे जाने वाले उस समय के लोग भी अधिकाधिक संख्या में धर्ममार्ग पर आरूढ़ हुए हों और इस कारण भगवान् पार्श्वनाथ आर्य एवं अनार्यजगत् में अधिक आदरणीय और लोकप्रिय हो गये हों।

भगवान् पार्श्वनाथ की आचार्य परम्परा

यह एक सामान्य नियम है कि किन्हीं भी तीर्थंकर के निर्वाण के पश्चात् जब तक दूसरे तीर्थंकर द्वारा अपने धर्म-तीर्थ की स्थापना नहीं कर दी जाती तब तक पूर्ववर्ती तीर्थंकर का ही धर्म-शासन चलता रहता है और उनकी आचार्य परम्परा भी उस समय तक चलती रहती है।

इस दृष्टि से मध्यवर्ती तीर्थंकरों के शासन में असंख्य आचार्य हुए हैं पर उन आचार्यों के सम्बन्ध में प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध नहीं होने के कारण उनका परिचय नहीं दिया जा सका है।

तेवीसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ का वर्तमान जैन धर्म के इतिहास से बड़ा निकट का सम्बन्ध है और भगवान् महावीर के शासन से उनका अन्तरकाल भी २५० वर्ष का ही माना गया है तथा कल्पसूत्र के अनुसार भगवान् पार्श्वनाथ की जो दो प्रकार की अन्तकड़ भूमि बतलाई गई है उसमें उनकी युगान्तकृत भूमि में चौथे पुरुषयुग (आचार्य) तक मोक्ष-गमन माना गया है[1] अत:

पार्श्वनाथ की आचार्य परम्परा का उल्लेख यहाँ किया जाना ऐतिहासिक दृष्टि से आवश्यक है।

उपकेशगच्छ-चरितावली में भगवान् पार्श्वनाथ की आचार्य परम्परा का जो परिचय दिया गया है वह संक्षेप में इस प्रकार है :–

१. आर्य शुभदत्त

भगवान् पार्श्वनाथ के निर्वाण के पश्चात् उनके प्रथम पट्टधर गणधर शुभदत्त हुए। उन्होंने चौबीस वर्ष तक आचार्यपद पर रहते हुए श्रमणसंघ का बड़ी कुशलता से नेतृत्व किया और धर्म का उपदेश करते रहे।

भगवान् पार्श्वनाथ के निर्वाण के चौबीस वर्ष पश्चात् आर्य हरिदत्त को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर आर्य शुभदत्त मोक्ष पधारे।

२. आर्य हरिदत्त

भगवान् पार्श्वनाथ के द्वितीय पट्टधर आर्य हरिदत्त हुए। पार्श्वनिर्वाण संवत् २४ से ९४ तक आप आचार्यपद पर रहे।

श्रमण बनने से पूर्व हरिदत्त ५०० चोरों के नायक थे। गणधर शुभदत्त के शिष्य श्री वरदत्त मुनि को एक बार जंगल में ही अपने ५०० शिष्यों के साथ रुकना पड़ा। उस समय चोर-नायक हरिदत्त अपने ५०० साथी चोरों के साथ मुनियों के पास इस आशा से गया कि उनके पास जो भी धन-सम्पत्ति हो वह लूट ली जाय। पर वरदत्त मुनि के पास पहुँचने पर ५०० चोरों और चोरों के नायक को धन के स्थान पर उपदेश मिला। मुनि वरदत्त के उपदेश से हरिदत्त अपने ५०० साथियों सहित दीक्षित हो गये और इस तरह जो चोरों के नायक थे वे ही हरिदत्त मुनिनायक और धर्मनायक बन गये।

गुरुसेवा में रह कर मुनि हरिदत्त ने बड़ी ही लगन के साथ ज्ञान-संपादन किया और अपनी कुशाग्रबुद्धि के कारण एकादशांगी के पारगामी विद्वान् हो गये। इनकी योग्यता से प्रभावित हो आचार्य शुभदत्त ने उन्हें अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया।

आचार्य हरिदत्त अपने समय के बड़े प्रभावशाली आचार्य हुए हैं। आपने "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" इस मत के कट्टर समर्थक और प्रबल प्रचारक, उद्भट विद्वान् लोहित्याचार्य को शास्त्रार्थ द्वारा राज्यसभा में पराजित कर 'अहिंसा परमो धर्मः' की उस समय के जनमानस पर धाक जमा दी थी।

सत्य के पुजारी लोहित्याचार्य अपने एक हजार शिष्यों सहित आचार्य हरिदत्तसूरि के पास दीक्षित हो गये और उनकी आज्ञा लेकर दक्षिण में अहिंसा-धर्म का प्रचार करने के लिए निकल पड़े। आपने प्रतिज्ञा की कि जिस तरह अज्ञानवश उन्होंने हिंसा-धर्म का प्रचार किया था उससे भी शतगुणित वेग से वे अहिंसाधर्म का प्रचार करेंगे। अपने संकल्प के अनुसार उन्होंने अपनी प्रतिज्ञा को निरन्तर धर्मप्रचार द्वारा कार्यरूप में परिणत कर बताया।

कहा जाता है कि लौहित्याचार्य ने दक्षिण में लंका तक जैन धर्म का प्रचार किया। बौद्ध भिक्षु धेनुसेन ने ईसा की पांचवीं शताब्दी में लंका के इतिहास से सम्बन्ध रखने वाला 'महावंश काव्य' नामक पाली भाषा का एक काव्य लिखा था। उस काव्य में ईस्वी सन् पूर्व ५४३ से ३०१ वर्ष तक की लंका की स्थिति का वर्णन करते हुए धेनुसेन ने लिखा है कि सिंहलद्वीप के राजा 'पनुगानय' ने लगभग ई० सन् पूर्व ४३७ में अपनी राजधानी अनुराधापुर में स्थापित की और वहां निग्रंथ मुनियों के लिए 'गिरी' नामक एक स्थान सुरक्षित छोड़ रक्खा।

इससे सिद्ध होता है कि सुदूर दक्षिण में उस समय जैन धर्म का प्रचार और प्रसार हो चुका था।

इस प्रकार आचार्य हरिदत्त के नेतृत्व में उस समय जैन धर्म का दूर-दूर तक प्रभाव फैल गया था।

आचार्य हरिदत्त ने ७० वर्ष तक धर्म का प्रचार कर समुद्रसूरि को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया और अन्त में पार्श्वनिर्वाण संवत् ६४ में मुक्ति के अधिकारी हुए।

३. आर्य समुद्रसूरि

भगवान् पार्श्वनाथ के तीसरे पट्टधर आर्य समुद्रसूरि हुए। पार्श्व सं० ६४ से १६६ तक ये भी जिनशासन की सेवा करते रहे। इन्होंने विविध देशों में घूम-घूम कर धर्म का प्रचार किया। आप चतुर्दश पूर्वधारी और यज्ञवाद से होने वाली हिंसा के प्रबल विरोधी थे। आपके आज्ञावर्ती विदेशी नामक एक मुनि जो बड़े प्रतिभाशाली और प्रकाण्ड विद्वान् थे, एक बार विहार करते हुए उज्जयिनी पधारे। कहा जाता है कि आपके त्याग-विरागपूर्ण उपदेश से प्रभावित हो उज्जयिनी के राजा जयसेन और रानी अनंग सुन्दरी ने अपने प्रिय पुत्र केशी के साथ जैन श्रमण-दीक्षा अंगीकार की। उपकेशगच्छ-पट्टावली के अनुसार बालर्षि केशी जातिस्मरण के साथ-साथ चतुर्दश पूर्व तक श्रुतज्ञान के धारक थे।

इन्हीं केशी श्रमण ने आचार्य समुद्रसूरि के समय में यज्ञवाद के प्रचारक मुकुंद नामक आचार्य को शास्त्रार्थ में पराजित किया था।

अन्त में आचार्य समुद्रसूरि ने अपना अन्तिम समय निकट देख केशी को आचार्यपद पर नियुक्त किया और पार्श्व सं० १६६ में सकल कर्मों का क्षय कर निर्वाण-पद प्राप्त किया।

४. आर्य केशी श्रमण

भगवान् पार्श्वनाथ के चौथे पट्टधर आचार्य केशी श्रमण हुए जो बड़े ही प्रतिभाशाली, बालब्रह्मचारी, चौदह पूर्वधारी और मति, श्रुति एवं अवधिज्ञान के धारक थे।

कहा जाता है कि आपने बड़ी योग्यता के साथ श्रमणसंघ के संगठन को सुदृढ़ बना कर विद्वान् श्रमणों के नेतृत्व में पांच-पांच सौ (५००-५००) साधुओं की ६ टुकड़ियों को पांचाल, सिन्धु-सौवीर, अंग-बंग, कलिंग, तेलंग, महाराष्ट्र, काशी-कोशल, सूरसेन, अवन्ती, कोंकण आदि प्रान्तों में भेज कर और स्वयं ने एक हजार साधुओं के साथ मगध प्रदेश में रह कर सारे भारत में जैन धर्म का प्रचार और प्रसार किया। पार्श्व सम्वत् १६६ से २५० तक आपका कार्यकाल बताया गया है।

आपने ही अपने अमोघ उपदेश से श्वेताम्बिका के महाराज 'प्रदेशी' को घोर नास्तिक से परम आस्तिक बनाया। राजा प्रदेशी ने आपके पास श्रावक-धर्म स्वीकार किया और अपने राज्य की आय का चतुर्थ भाग दान में देता हुआ वह सांसारिक भोगों से विरक्त हो छट्ठ-छट्ठ-भक्त की तपस्यापूर्वक आत्मकल्याण में जुट गया।

अपने पति को राज्य-व्यवस्था के कार्यों से उदासीन देख कर रानी सूरिकान्ता ने स्वार्थवश अपने पुत्र सूरिकान्त को राजा बनाने की इच्छा से महाराज प्रदेशी को उनके तेरहवें छट्ठ-भक्त के पारणे के समय विषाक्त भोजन खिला दिया। प्रदेशी ने भी विष का प्रभाव होते ही सारी स्थिति समझ ली किन्तु रानी के प्रति किसी प्रकार की दुर्भावना नहीं रखते हुए समाधिपूर्वक प्राणोत्सर्ग किया और सौधर्मकल्प में ऋद्धिमान् सूर्याभ देव बना।

आचार्य केशिकुमार पार्श्वनिर्वाण संवत् १६६ से २५० तक, अर्थात् चोरासी (८४) वर्ष तक आचार्यपद पर रहे और अन्त में स्वयंप्रभ सूरि को अपना उत्तराधिकारी बना कर मुक्त हुए।

इस प्रकार भगवान् पार्श्वनाथ के चार पट्टधर भगवान् पार्श्वनाथ के निर्वाण बाद के २५० वर्षों के समय में मुक्त हुए।

अनेक विद्वान् आचार्य केशिकुमार और कुमार केशिश्रमण को, जिन्होंने गौतम गणधर के साथ हुए सम्वाद से प्रभावित हो सावत्थी नगरी में पंच महाव्रत रूप श्रमणधर्म स्वीकार किया, एक ही मानते हैं पर उनकी यह मान्यता समीचीन विवेचन के पश्चात् संगत एवं शास्त्रसम्मत प्रतीत नहीं होती।

शास्त्र में केशी नाम के दो मुनियों का परिचय उपलब्ध होता है। एक तो प्रदेशी राजा को प्रतिबोध देने वाले केशिश्रमण और दूसरे गौतम के साथ संवाद के पश्चात् चातुर्यामधर्म से पंचमहाव्रत रूप श्रमणधर्म स्वीकार करने वाले केशिकुमार श्रमण। इन दोनों में से भगवान् पार्श्वनाथ के चौथे पट्टधर कौनसे केशिश्रमण थे, यह यहां एक विचारणीय प्रश्न है।

आचार्य राजेन्द्रसूरि ने अपने अभिधान राजेन्द्र-कोष में दो स्थान पर केशि-श्रमण का परिचय दिया है। उन्होंने इस कोष के भाग प्रथम, पृष्ठ २०१ पर 'अजरिणय कण्णिया' शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुए केशिश्रमण के लिए निर्ग्रन्थी-पुत्र, कुमारावस्था में प्रव्रजित एवं युगप्रवर्तक आचार्य होने का उल्लेख किया है और आगे चल कर इसी कोष के भाग ३, पृष्ठ ६६६ पर 'केशी' शब्द की व्युत्पत्ति में उपरोक्त तथ्यों की पुष्टि करते हुए लिखा है :-

"केससंस्पृष्टशुक्रपुद्गलसम्पर्काज्जाते निग्रन्थी पुत्रे, (स च यथा जातस्तथा 'अजरिणकन्निया' शब्दे प्रथम भागे १०१ पृष्ठे दर्शितः) स च कुमार एव प्रव्रजितः पार्श्वापत्यीयश्चतुर्ज्ञानी अनगारगुणसम्पन्नः सूर्याभदेव-जीवं पूर्वभवे प्रदेशी नामानं राजानं प्रबोधयदिति। रा० नि०। ध० र०। (तद्वर्णकविशिष्टं 'पएसि' शब्दे वक्ष्यते गोयमकेसिज्ज शब्दे गौतमेन सहास्य संवादो वक्ष्यते)"

इस प्रकार राजेन्द्रसूरि ने केशिश्रमण आचार्य को ही प्रदेशी प्रतिबोधक, चार ज्ञान का धारक और गौतम गणधर के साथ संवाद करने वाला केशी बता कर एक ही केशिश्रमण के होने की मान्यता प्रकट की है।

उपकेशगच्छ चरित्र में केशिकुमार श्रमण को उज्जयिनी के महाराज जयसेन व रानी अनंग सुन्दरी का पुत्र, आचार्य समुद्रसूरि का शिष्य, पार्श्वनाथ की आचार्य परम्परा का चतुर्थ पट्टधर, प्रदेशी राजा का प्रतिबोधक तथा गौतम गणधर के साथ संवाद करने वाला बताया गया है।

एक ओर उपकेशगच्छ पट्टावली में निग्रन्थीपुत्र केशी का कहीं कोई उल्लेख नहीं किया गया है तो दूसरी ओर अभिधान राजेन्द्र-कोष में उज्जयिनी के राजा जयसेन के पुत्र केशी का कोई जिक्र नहीं किया गया है।

पर दोनों ग्रन्थों में केशिश्रमण को भगवान् पार्श्वनाथ का चतुर्थ पट्टधर आचार्य, प्रदेशी का प्रतिबोधक तथा गौतम गणधर के साथ संवाद करने वाला मान कर एक ही केशिश्रमण के होने की मान्यता का प्रतिपादन किया है।

'जैन परम्परा नो इतिहास' नामक गुजराती पुस्तक के लेखक मुनि दर्शन-विजय आदि ने भी समान नाम वाले दोनों केशिश्रमणों को अलग न मान कर एक ही माना है।

इसके विपरीत 'पार्श्वनाथ की परम्परा का इतिहास' नामक पुस्तक में दोनों केशिश्रमणों का भिन्न-भिन्न परिचय नहीं देते हुए भी आचार्य केशी और केशिकुमार श्रमण को अलग-अलग मान कर दो केशिश्रमणों का होना स्वीकार किया गया है।[1]

---

[1] भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा का इतिहास (पूर्वार्द्ध) पृ० ४८

इस सम्बन्ध में वास्तविक स्थिति यह है कि प्रदेशी राजा को प्रतिबोध देने वाले आचार्य केशी और गौतम गणधर के साथ सम्वाद के पश्चात् पंच महाव्रत-धर्म स्वीकार करने वाले केशिकुमार श्रमण एक न होकर अलग-अलग समय में दो केशिश्रमण हुए हैं।

आचार्य केशी जो कि भगवान् पार्श्वनाथ के चौथे पट्टधर और श्वेताम्बिका के महाराज प्रदेशी के प्रतिबोधक माने गये हैं, उनका काल उपकेशगच्छ पट्टावली के अनुसार पार्श्व – निर्वाण संवत् १६६ से २५० तक का है। यह काल भगवान् महावीर की छद्मस्थावस्था तक का ही हो सकता है।

इसके विपरीत श्रावस्ती नगरी में दूसरे केशिकुमार श्रमण और गौतम गणधर का सम्मिलन भगवान् महावीर के केवलीचर्या के पन्द्रह वर्ष बीत जाने के पश्चात् होता है।

इस प्रकार प्रथम केशिश्रमण का काल भगवान् महावीर के छद्मस्थ-काल तक का और दूसरे केशिकुमार श्रमण का महावीर की केवलीचर्या के पन्द्रहवें वर्ष के पश्चात् तक का ठहरता है।

इसके अतिरिक्त रायप्रसेणी सूत्र में प्रदेशिप्रतिबोधक केशिश्रमण को चार ज्ञान का धारक बताया गया है[1] तथा जिन केशिकुमार श्रमण का गौतम गणधर के साथ श्रावस्ती में संवाद हुआ, उन केशिकुमार श्रमण को उत्तराध्ययन सूत्र में तीन ज्ञान का धारक बताया गया है।[2]

ऐसी दशा में प्रदेशिप्रतिबोधक, चार ज्ञानधारक केशिश्रमण जो महावीर के छद्मस्थकाल में हो सकते हैं, उनका महावीर के केवलीचर्या के पन्द्रह वर्ष व्यतीत हो जाने के पश्चात् तीन ज्ञानधारक के रूप में गौतम के साथ मिलना किसी भी तरह युक्तिसंगत और संभव प्रतीत नहीं होता।

रायप्रसेणी और उत्तराध्ययन सूत्र में दिये गये दोनों केशिश्रमणों के परिचय के समीचीन मनन के अभाव में और समान नाम वाले इन दोनों श्रमणों के समय का सम्यक्रूपेण विवेचनात्मक पर्यवेक्षण न करने के कारण ही कुछ विद्वानों द्वारा दोनों को एक ही केशिश्रमण मान लिया गया है।

---

[1] इच्चेए णं पदेसी ! अहं तव चउव्विहेणं नाणेणं इमेयारूवं अब्भत्थियं जाव समुप्पनं जाणामि। [रायपसेणी]

[2] तस्स लोगपईवस्स, आसी सीसे महायसे।
केसी कुमार समणे, विज्जाचरण पारगे ॥२॥
ओहिनाण सुए बुद्धे, सीससंघसमाउले।
गामाणुगामं रीयन्ते, सावत्थिं नगरिमागए ॥३॥
[उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २३]

उपरोक्त तथ्यों से यह निर्विवादरूप से सिद्ध हो जाता है कि प्रदेशिप्रतिबोधक, चार ज्ञानधारी केशिश्रमण आचार्य समुद्रसूरि के शिष्य एवं पार्श्वपरंपरा के मोक्षगामी चतुर्थ आचार्य थे, न कि गौतम गणधर के साथ संवाद करनेवाले तीन ज्ञानधारक केशिकुमार श्रमण। दोनों एक न होकर भिन्न २ हैं। एक का निर्वाण पार्श्वनाथ के शासन में हुआ जबकि दूसरे का महावीर के शासन में।

भगवान् महावीर

प्रवर्तमान अवसर्पिणी काल में भरतक्षेत्र के चौबीसवें एवं अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर हुए। घोरातिघोर परीषहों को भी अतुल धैर्य, अलौकिक साहस, सुमेरुतुल्य अविचल दृढ़ता, अथाह सागरोपम गम्भीरता एवं अनुपम समभाव के साथ सहन कर प्रभु महावीर ने अभूतपूर्व सहनशीलता, क्षमा एवं अद्भुत घोर तपश्चर्या का संसार के समक्ष एक नवीन कीर्तिमान प्रतिष्ठापित किया।

भगवान् महावीर न केवल एक महान् धर्मसंस्थापक थे अपितु वे महान् लोकनायक, धर्मनायक, क्रान्तिकारी सुधारक, सच्चे पथ-प्रदर्शक, विश्वबन्धुत्व के प्रतीक, विश्व के कर्णधार और प्राणिमात्र के परमप्रिय हितचिन्तक भी थे।

'सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं न मरीजिउं' इस दिव्यघोष के साथ उन्होंने न केवल मानवसमाज को अपितु पशुओं तक को भी अहिंसा, दया और प्रेम का पाठ पढ़ाया। धर्म के नाम पर यज्ञों में खुले आम दी जाने वाली क्रूर पशुवलि के विरुद्ध जनमत को आन्दोलित कर उन्होंने इस घोर पापपूर्ण कृत्य को सदा के लिये समाप्तप्राय कर असंख्य प्राणियों को अभयदान दिया।

यही नहीं, भगवान् महावीर ने रुढ़िवाद, पाखण्ड, मिथ्याभिमान और वर्णभेद के अन्धकारपूर्ण गहरे गर्त में गिरती हुई मानवता को ऊपर उठाने का अथक प्रयास भी किया। उन्होंने प्रगाढ़ अज्ञानान्धकार से आच्छन्न मानव-हृदयों में अपने दिव्य ज्ञानालोक से ज्ञान की किरणें प्रस्फुटित कर विनाशोन्मुख मानव-समाज को न केवल विनाश से बचाया अपितु उसे सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र की रत्नत्रयी का अक्षय पाथेय दे मुक्तिपथ पर अग्रसर किया।

भगवान् महावीर ने विश्व को सच्चे समाजवाद, साम्यवाद, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का प्रशस्त मार्ग दिखा कर अमरत्व की ओर अग्रसर किया, जिसके लिये मानव-समाज उनका सदा-सर्वदा ऋणी रहेगा।

भगवान् महावीर का समय ईसा पूर्व छठी शताब्दी माना गया है, जो कि विश्व के सांस्कृतिक एवं धार्मिक इतिहास में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। ई० पूर्व छठी शताब्दी में जबकि भारत में भगवान् महावीर ने और उनके समकालीन महात्मा बुद्ध ने अहिंसा का उपदेश देकर धार्मिक एवं सांस्कृतिक क्रान्ति का सूत्रपात किया, लगभग उसी समय चीन में लाओत्से और कांग्फ्यूत्सी, यूनान में पाइथोगोरस, अफलातून और सुकरात, ईरान में जरथुष्ट, फिलिस्तीन में जिरेमियां और इजकिल आदि महापुरुष अपने-अपने क्षेत्र में सांस्कृतिक एवं धार्मिक क्रान्ति के सूत्रधार बने।

रूढ़िवाद और अन्धविश्वासों का विरोध कर उन सभी महापुरुषों ने जनता को सही दिशा में बढ़ने का मार्ग-दर्शन किया और उन्हें शुद्ध चिन्तन की तीव्रतम प्रेरणा दी। समाज की तत्कालीन कुरीतियों में युगान्तरकारी परिवर्तन प्रस्तुत कर वे सही अर्थ में युगपुरुष बने। इस सम्बन्ध में उन्होंने अपने ऊपर आने वाली आपदाओं का डट कर मुकाबला किया और प्रतिशोधात्मक परीषहों के आगे वे रत्ती भर भी नहीं झुके।

भगवान् महावीर का इन युगपुरुषों में सबसे उच्च, प्रमुख और बहुत ही सम्माननीय स्थान है। विश्वकल्याण के लिये उन्होंने धर्ममयी-मानवता का जो आदर्श प्रस्तुत किया वह अनुपम और अद्वितीय है।

महावीरकालीन देश-दशा

भगवान् पार्श्वनाथ के २५० वर्ष पश्चात् भगवान् श्री महावीर[1] चौबीसवें तीर्थंकर के रूप में भारत-वसुधा पर उत्पन्न हुए। उस समय देश और समाज की दशा काफी विकृत हो चुकी थी। खास कर धर्म के नाम पर सर्वत्र आडंबर का ही बोलबाला था। पार्श्वकालीन तपसंयम और धर्म के प्रति रुचि मंद पड़ गई थी। ब्राह्मण संस्कृति के बढ़ते हुए वर्चस्व में श्रमण संस्कृति दबी जा रही थी। यज्ञ-याग और बाह्य क्रिया-काण्ड को ही धर्म का प्रमुख रूप माना जाने लगा था। यज्ञ में घृत, मधु ही नहीं अपितु प्रकटरूप में पशु भी होमे जाते और उसमें अधर्म नहीं, धर्म माना जाता था। डंके की चोट कहा जाता था कि भगवान् ने यज्ञ के लिये ही पशुओं की रचना की है।[2] वेदविहित यज्ञ में की जाने वाली हिंसा, हिंसा नहीं प्रत्युत अहिंसा है।[3]

धार्मिक क्रियाओं और संस्कृति-संरक्षण का भार तथाकथित ब्राह्मणों के ही आधीन था। वे चाहे विद्वान् हों या अविद्वान्, सदाचारी हों या दुराचारी, अग्नि के समान सदा पवित्र और पूजनीय माने जाते थे।[4] मनुष्य और ईश्वर के

---

१ (क) "पास जिणाओ य होइ वीरजिणो, अड्ढाइज्जसयेहिं गयेहिं चरिमो समुप्पन्नो।
आवश्यक निर्युक्ति (मलय), पृ० २४१, गाथा १७
(ख) आवश्यक चूर्णि, गा० १७, पृ० २१७

२ यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः। मनुस्मृति ५।२२।३९

३ यज्ञार्थं पशवः सृष्टाः, स्वयमेव स्वयंभुवा।
यज्ञस्य भूत्यै सर्वस्य, तस्माद् यज्ञे वधोऽवधः॥
या वेदविहिता हिंसा, नियतास्मिंश्चराचरे।
अहिंसामेव तां विद्याद्, वेदाद् धर्मो हि निर्बभौ॥
[मनुस्मृति, ५।२२।३९।४४]

४ अविद्वांश्चैव विद्वांश्च, ब्राह्मणो दैवतं महत्।
प्रणीतश्चाप्रणीतश्च, यथाग्निर्दैवतं महत्॥
श्मशानेष्वपि तेजस्वी, पावको नैव दुष्यति।
हूयमानश्च यज्ञेषु, भूय एवाभिवर्द्धते॥
एवं यद्यप्यनिष्टेषु, वर्तन्ते सर्वकर्मसु।
सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्याः परमं दैवतं हि तत्॥
[मनुस्मृति, ९।३१७।३१८।३१९]

बीच सम्बन्ध जोड़ने की सारी शक्ति उन्हीं के आधीन समझी जाती थी। वे जो कुछ कहते वह अकाट्य समझा जाता और इस तरह हिंसा भी धर्म का एक प्रमुख अंग माना जाने लगा। वर्ण-व्यवस्था और जातिवाद के बन्धन में मानव-समाज इतना जकड़ा हुआ और उलझा हुआ था कि निम्नवर्ग के व्यक्तियों को अपनी सुख-सुविधा और कल्याण-साधन में भी किसी प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं थी।

समाज में यद्यपि अमीर और गरीब का वर्ग-संघर्ष नहीं था फिर भी गरीबों के प्रति अमीरों की वत्सलता का स्रोत सूखता जा रहा था। ऊंच-नीच का मिथ्याभिमान मानवता को व्यथित और क्षुब्ध कर रहा था। जाति-पूजा और वेष-पूजा ने गुण-पूजा को भुला रखा था।

निम्नवर्ग के लोग उच्चजातीय लोगों के सामने अपने सहज मानवीय भाव भी भलीभांति व्यक्त नहीं कर पाते थे। कई स्थानों पर तो ब्राह्मणों के साथ शूद्र चल भी नहीं सकते थे। शिक्षा-दीक्षा और वेदादि शास्त्र-श्रवण पर द्विजातिवर्ग का एकाधिपत्य था। शूद्र लोग वेद की ऋचाएं न सुन सकते थे, न पढ़ सकते थे और न बोल ही सकते थे। स्त्रीसमाज को भी वेद-पठन का अधिकार नहीं था।[1] शूद्रों के लिए वेद सुनने पर कानों में शीशा भरने, बोलने पर जीभ काटने और ऋचाओं को कण्ठस्थ करने पर शरीर नष्ट कर देने का कठोर विधान था। इतना ही नहीं उनके लिए प्रार्थना की जाती कि उन्हें बुद्धि न दें, यज्ञ का प्रसाद न दें और व्रतादि का उपदेश भी नहीं दें।[2] स्त्री जाति को मात्र दासी मान कर हीन दृष्टि से देखा जाता था और उसे किसी भी स्थिति में स्वतन्त्रता का अधिकार नहीं था।[3]

राजनैतिक दृष्टि से भी यह समय उथल-पुथल का था। उसमें स्थिरता व एकरूपता नहीं थी। कई स्थानों पर प्रजातन्त्रात्मक गणराज्य थे, जिनमें नियमित रूप से प्रतिनिधियों का चुनाव होता था। जो प्रतिनिधि राज्य-मंडल या सांथागार के सदस्य होते, वे जनता के व्यापक हितों का भी ध्यान रखते थे। तत्कालीन गणराज्यों में लिच्छवी गणराज्य सबसे प्रबल था। इसकी राजधानी वैशाली थी। महाराजा चेटक इस गणराज्य के प्रधान थे। महावीर स्वामी की माता त्रिशला इन्हीं महाराज चेटक की बहिन थीं। काशी और कोशल के प्रदेश

[1] न स्त्रीशूद्रौ वेदमधीयेताम्।

[2] (क) वेदमुपशृण्वतस्तस्य जतुभ्यां श्रोत्रः प्रतिपूरणमुच्चारणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेदः।

[गौतम धर्म सूत्र, पृ० १६५]

(ख) न शूद्राय मतिं दद्यान्नोच्छिष्टं न हविष्कृतम्।
न चास्योपदिशेद्धर्मं, न चास्य, व्रतमादिशेत्॥ [वशिष्ठ स्मृति १८।१२।१३]

[3] न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति।

[वशिष्ठ स्मृति]

भी इसी गणराज्य में शामिल थे। इनकी व्यवस्थापिका-सभा "वज्जियन राज-संघ" कहलाती थी।

लिच्छवी गणराज्य के अतिरिक्त शाक्य गणराज्य का भी विशेष महत्व था। इसकी राजधानी 'कपिलवस्तु' थी। इसके प्रधान महाराजा शुद्धोदन थे, जो गौतम बुद्ध के पिता थे। इन गणराज्यों के अलावा मल्ल गणराज्य, जिसकी राजधानी कुशीनारा और पावा थी, कोल्य गणराज्य, आम्लकप्पा के बुलि-गण, पिप्पलिवन के मोरीयगण आदि कई छोटे-मोटे गणराज्य भी थे। इन गण-राज्यों के अतिरिक्त मगध, उत्तरी कोशल, वत्स, अवन्ति, कलिंग, अंग, वंग आदि कतिपय स्वतन्त्र राज्य भी थे।[1] इन गणराज्यों में परस्पर मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध थे। इस तरह उस समय विभिन्न गण एवं स्वतन्त्र राज्यों के होते हुए भी तथाकथित निम्नवर्ग की दशा अत्यन्त चिन्तनीय बनी हुई थी। ब्राह्मण-प्रेरित राजन्यवर्गों के उत्पीड़न से जनसाधारण में क्षोभ और विषाद का प्राबल्य था।

इन सब परिस्थितियों का प्रभाव उस समय विद्यमान पार्श्वनाथ के संघ पर भी पड़े बिना नहीं रहा। श्रमणसंघ की स्थिति प्रतिदिन क्षीण होने लगी। मति-बल में दुर्बलता आने लगी तथा अनुशासन की अतिशय मृदुता में आचार-व्यवस्था में शिथिलता दिखाई देने लगी। फिर भी कुछ विशिष्ट मनोबल वाले श्रमण इस विषम स्थिति में भी अपने मूलस्वरूप को टिकाये हुए थे। वे याज्ञिकी हिंसा का विरोध और अहिंसा का प्रचार भी करते थे पर उनका बल पर्याप्त नहीं था। फिर साधना का लक्ष्य भी बदला हुआ था। धर्म-साधन का हेतु निर्वाण-मुक्ति के बदले मात्र अभ्युदय – स्वर्ग रह गया था। यह चतुर्थकाल की समाप्ति का समय था। फलतः जन-मन में धर्मभाव की रुचि कम पड़ती जा रही थी। ऐसे विषम समय में जन-समुदाय को जागृत कर, उसमें सही भावना भरने और सत्यमार्ग बताने के लिए ज्योतिर्धर भगवान् महावीर का जन्म हुआ।

पूर्वभव की साधना

जैन धर्म यह नहीं मानता कि कोई तीर्थंकर या महापुरुष ईश्वर का अंश होकर अवतार लेता है। जैन शास्त्रों के अनुसार हर आत्मा परमात्मा बनने की योग्यता रखती है और विशिष्ट क्रिया के माध्यम से उसका तीर्थंकर या भगवान् रूप से उत्तार – जन्म होता है। किन्तु ईश्वर कर्ममुक्त होने से पुनः मानव रूप में अवतार – जन्म नहीं लेते। हां, स्वर्गीय देव मानवरूप में अवतार ले सकते हैं। मानव सत्कर्म से भगवान् हो सकता है। इस प्रकार नर का नारायण होना अर्थात् ऊपर चढ़ना यह उत्तार है। अतः जैन धर्म अवतारवादी नहीं उत्तारवादी है। भगवान् महावीर के जीव ने नयसार के भव में सत्कर्म का बीज डाल कर क्रमशः सिंचन करते हुए तीर्थंकर-पद की प्राप्ति की जो इस प्रकार है –

[1] मि० ह्रीस डैविड्स-बुद्धिस्ट इंडिया, पृ० २३

किसी समय प्रतिष्ठानपुर का ग्रामचिन्तक नयसार, राजा के आदेश से वन में लकड़ियों के लिये गया हुआ था। एकदा मध्याह्न में वह खाने बैठा ही था कि उसी समय वन में मार्गच्युत कोई तपस्वी मुनि उसे दृष्टिगोचर हुए। उसने भूख-प्यास से पीड़ित उन मुनि को भक्तिपूर्वक निर्दोष आहार-प्रदान किया और उन्हें गाँव का सही मार्ग बतलाया। मुनि ने भी नयसार को उपदेश देकर आत्म-कल्याण का मार्ग समझाया। फलस्वरूप उसने वहाँ सम्यक्त्व प्राप्त कर भव-भ्रमण को परिमित कर लिया।

दूसरे भव में वह सौधर्म कल्प में देव हुआ और तीसरे भव में भरत-पुत्र मरीचि के रूप में उत्पन्न हुआ। चौथे भव में ब्रह्मलोक में देव, पाँचवें भव में कौशिक ब्राह्मण, छठे भव में पुष्यमित्र ब्राह्मण, सातवें भव में सौधर्म देव, आठवें भव में अग्निद्योत, नौवें भव में द्वितीय कल्प का देव, दशवें भव में अग्निभूति ब्राह्मण, ग्यारहवें भव में सनत्कुमार देव, बारहवें भव में भारद्वाज, तेरहवें भव में महेन्द्रकल्प का देव, चौदहवें भव में स्थावर ब्राह्मण, पन्द्रहवें भव में ब्रह्मकल्प का देव, और सोलहवें भव में युवराज विशाखभूति का पुत्र विश्वभूति हुआ। संसार की कपट-लीला देखकर इन्हें विरक्ति हो गई। मुनि बन कर उन्होंने घोर तपस्या की और अन्त में अपरिमित बलशाली बनने का निदान कर काल किया। सत्रहवां भव महाशुक्र देव का करके इन्होंने अठारहवें भव में त्रिपृष्ठ वासुदेव के रूप से जन्म ग्रहण किया।

एक दिन त्रिपृष्ठ वासुदेव के पिता प्रजापति के पास प्रतिवासुदेव अश्वग्रीव का सन्देश आया कि शालि-क्षेत्र पर शेर के उपद्रव से कृषकों की रक्षा करने के लिये उनको वहां जाना है। महाराज प्रजापति कृषकों की रक्षा के लिये प्रस्थान कर ही रहे थे कि राजकुमार त्रिपृष्ठ ने आकर उन्हें कहा – "पिताजी! आप क्यों जाते हैं? उस अकिंचन शेर के लिये तो हम बच्चे ही पर्याप्त हैं।" इस तरह त्रिपृष्ठ कुमार राजा की आज्ञा लेकर उपद्रव के स्थान पर पहुंचे और खेत के रखवालों से बोले – "भाई! यहां कैसे और कब तक रहना है?"

रक्षकों ने कहा – "जब तक शालि-धान्य पक नहीं जाता तब तक सेना सहित घेरा डाल कर यहीं रहना है[1] और शेर से रक्षा करनी है।"

इतने समय तक यहाँ कौन रहेगा, ऐसा विचार कर त्रिपृष्ठ ने शेर के रहने का स्थान पूछा और सशस्त्र रथारूढ़ हो गुफा पर पहुंच कर गुफास्थित शेर को ललकारा। सिंह भी उठा और भयंकर दहाड़ करता हुआ अपनी मांद से बाहर निकला।

उत्तम पुरुष होने के कारण त्रिपृष्ठ ने शेर को देख कर सोचा – "यह तो पैदल और शस्त्ररहित निहत्था है, फिर मैं रथारूढ़ एवं शस्त्र से सुसज्जित हो इस पर आक्रमण करूं, यह कैसे न्यायसंगत होगा? मुझे भी रथ से नीचे उतर कर बराबरी से मुकाबला करना चाहिये।"

[1] त्रि. श. पु. च., १ प०, १० स०, श्लोक १४०

ऐसा सोच कर वह रथ से नीचे उतरा और शस्त्र फेंक कर सिंह के सामने तन कर खड़ा हो गया। सिंह ने ज्यों ही उसे बिना शस्त्र के सामने खड़े देखा तो सोचने लगा – "अहो ! यह कितना धृष्ट है, रथ से उतर कर एकाकी मेरी गुफा पर आ गया है। इसे मारना चाहिये। ऐसा सोच सिंह ने आक्रमण किया। त्रिपृष्ट ने साहसपूर्वक छलांग भर कर शेर के जबड़े दोनों हाथों से पकड़ लिये और जीर्ण वस्त्र की तरह शेर को अनायास ही चीर डाला। दर्शक कुमार का साहस देख कर स्तब्ध रह गये और कुमार के जय-घोषों से गगन गूंज उठा।[1]

अश्वग्रीव ने जब कुमार त्रिपृष्ठ के अद्भुत शौर्य की यह कहानी सुनी तो उसे कुमार के प्रबल शौर्य से बड़ी ईर्ष्या हुई। उसने कुमार को अपने पास बुलवाया और कुमार के न आने पर नगर पर चढ़ाई कर दी। दोनों में खूब जम कर युद्ध हुआ। त्रिपृष्ठ की शक्ति के सम्मुख अश्वग्रीव ने जब अपने शस्त्रों को निस्तेज देखा तो उसने चक्र-रत्न चलाया किन्तु त्रिपृष्ठ ने चक्र-रत्न को पकड़ कर उस ही के द्वारा अश्वग्रीव का शिर काट डाला और स्वयं प्रथम वासुदेव बना।

एक दिन त्रिपृष्ठ के राजमहल में कुछ संगीतज्ञ आये और अपने मधुर संगीत की स्वर-लहरी से उन्होंने श्रोताओं को मुग्ध कर लिया। राजा ने सोते समय शय्यापालकों से कहा – "मुझे जब नींद आ जाय तो गाना बन्द करवा देना।" किन्तु शय्यापालक संगीत की माधुरी से इतने प्रभावित हुए कि राजा के सो जाने पर भी वे संगीत को बन्द नहीं करा सके। रात के अवसान पर जब राजा की नींद भंग हुई तो उसने संगीत चालू देखा।

क्रोध में भर कर त्रिपृष्ठ शय्यापालक से बोले – "गाना बन्द नहीं करवाया ?" उसने कहा – "देव ! संगीत की मीठी तान में मस्त होकर मैंने गायकों को नहीं रोका।" त्रिपृष्ठ ने आज्ञाभंग के अपराध से रुष्ट हो शय्यापालक के कानों में शीशा गरम करवा कर डाल दिया।

इस घोर कृत्य से उस समय त्रिपृष्ठ ने निकाचित कर्म का बंध किया और मर कर सप्तम नरक में नेरइया रूप से उत्पन्न हुआ।[2] यह महावीर के जीव का उन्नीसवां भव था। बीसवें भव में सिंह और इक्कीसवें भव में चतुर्थ नरक का नेरइया हुआ। बाइसवें प्रियमित्र (पोट्टिल) चक्रवर्ती के भव में दीर्घकाल तक राज्य-शासन करके पोट्टिलाचार्य के पास संयम स्वीकार किया और करोड़ वर्ष तक तप-संयम की साधना की। तेवीसवें भव में महाशुक्र कल्प में देव हुआ और चौवीसवें भव में नन्दन राजा के भव में तीर्थंकरगोत्र का बंध किया, जो इस प्रकार है :-

छत्रा नगरी के महाराज जितशत्रु के पुत्र नन्दन ने पोट्टिलाचार्य के उपदेश से राजसी वैभव और काम-भोग छोड़ कर दीक्षा ग्रहण की। चौवीस लाख वर्ष

---

१ एकेन पाणिनोर्ध्वौष्ठमपरेणाधरं पुनः। धृत्वा त्रिपृष्ठस्तं सिंहं जीर्णवस्त्रमिवाद्रणात्। पुष्पाभरण वस्त्राणि......। त्रि० श० पु० च० १०।१।१४१-१५०

२ त्रि. श० पु० च० १०।१।१७८ से १८१।

तक इन्होंने संसार में भोग-जीवन विताया और फिर एक लाख वर्ष की संयम-पर्याय में निरन्तर मास-मास की तपस्या करते रहे और कर्मशूर से धर्मशूर बनने की कहावत चरितार्थ की। इस लाख वर्ष के संयमजीवन में इन्होंने ग्यारह लाख साठ हजार मास-खमण किये। सब का पारण-काल तीन हजार तीन सौ तैंतीस वर्ष, तीन मास और उन्तीस दिनों का हुआ। तप-संयम और अर्हत् आदि की भक्ति करते हुए इन्होंने तीर्थंकर-नामकर्म का बन्ध किया एवं अन्त में दो मास का अनशन कर समाधिभाव में आयु पूर्ण की। पच्चीसवें भव में प्राणत स्वर्ग के पुष्पोत्तर विमान में देवरूप से उत्पन्न हुए।

समवायांग सूत्र के अनुसार प्राणत स्वर्ग से च्यवन कर नन्दन का जीव देवानन्दा की कुक्षि में उत्पन्न हुआ इसे भगवान् का छब्बीसवां भव और देवानन्दा की कुक्षि से त्रिशला देवी की कुक्षि में शक्राज्ञा से हरिणैगमेषी देव द्वारा गर्भ-परिवर्तन किया गया इसे भगवान् का सत्ताईसवां भव माना गया है। क्रमशः दो गर्भों में आगमन को पृथक्-पृथक् भव मान लिया गया है।

इस सम्बन्ध में समवायांग सूत्र का मूल पाठ व श्री अभय देव सूरी द्वारा निर्मित वृत्ति का पाठ इस प्रकार है :—

"समणे भगवं महावीरे तित्थगरभवग्गहणाओ छट्ठे पोटिल्ल भवग्गहणे एगं वास कोडिं सामण्ण परियागं……"

[समवायांग, समवाय १३४, पत्र ९८ (१)]

"समणेत्यादि यतो भगवान् पोट्टिलाभिधान राजपुत्रो बभूव, तत्र वर्षकोटिं प्रव्रज्यां पालितवानित्येको भवः, ततो देवोऽभूदिति द्वितीयः, ततो नन्दनाभिधानो राजसूनुः छत्राग्रनगर्यां जज्ञे इति तृतीयः, तत्र वर्षलक्षणं सर्वदा मासक्षपणेन तपस्तप्त्वा दशमदेवलोके पुष्पोत्तरवरविजयपुण्डरीकाभिधाने विमाने देवोऽभवदिति चतुर्थस्ततो ब्राह्मणकुण्डग्रामे ऋषभदत्तब्राह्मणस्य भार्याया देवानन्दाभिधानाया कुक्षावुत्पन्न इति पञ्चमस्ततस्तस्नयसितितमे दिवसे क्षत्रियकुण्डग्रामे नगरे सिद्धार्थ-महाराजस्य त्रिषलाभिधानभार्यायां कुक्षाविन्द्रवचनकारिणा हरिनैगमेषिनाम्ना देवेन संहृतस्तीर्थंकरतया च जातः इति षष्ठः, उक्तभवग्रहणं हि विना नान्यद्भव-ग्रहणं षष्ठं श्रूयते भगवत इत्येतदेव षष्ठभवग्रहणतया व्याख्यातं, यस्माच्च भव-ग्रहणादिदं षष्ठं तदप्येतस्मात् षष्ठमेवेति सुष्ठूच्यते तीर्थंकर भवग्रहणात् षष्ठे पोट्टिलभवग्रहणे इति।"

[समवायांग, अभयदेववृत्ति, पत्र ९८]

आचार्य हेमचन्द्र सूरि कृत त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, आचार्य गुण चन्द्रगणि कृत श्री महावीर चरियं, आवश्यक निर्युक्ति और आवश्यकमलयगिरि-वृत्ति में पोट्टिल (प्रियमित्र चक्रवर्ती) से पहले बावीसवां भव मानव के रूप में

उत्पन्न होनें का उल्लेख कर देवानन्दा के गर्भ में उत्पन्न होने और त्रिशला के गर्भ में सहारण इन दोनों को भगवान् महावीर का सत्ताईसवां भव माना है। पर मूल आगम समवायांग के उपर्युक्त उद्धरण के समक्ष इस प्रकार की अन्य किसी मान्यता को स्वीकार करने का कोई प्रश्न ही पैदा नहीं होता।

दिगम्बर परम्परा में भगवान् महावीर के ३३ भवों का वर्णन है।[1]

इतिहास-प्रेमियों की सुविधा हेतु एवं पाठकों की जानकारी के लिये श्वेताम्बर और दिगम्बर इन दोनों परम्पराओं की मान्यता के अनुसार भगवान् महावीर के भव यहाँ दिये जा रहे हैं :–

श्वेताम्बर-मान्यता	दिगम्बर-मान्यता
१. नयसार ग्राम चिन्तक	१. पुरुरवा भील
२. सौधर्मदेव	२. सौधर्म देव
३. मरीचि	३. मरीचि
४. ब्रह्म स्वर्ग का देव	४. ब्रह्म स्वर्ग का देव
५. कौशिक ब्राह्मण (अनेक भव)	५. जटिल ब्राह्मण
६. पुष्यमित्र ब्राह्मण	६. सौधर्म स्वर्ग का देव
७. सौधर्मदेव	७. पुष्यमित्र ब्राह्मण
८. अग्निद्योत	८. सौधर्म स्वर्ग का देव
९. द्वितीय कल्प का देव	९. अग्निसह ब्राह्मण
१०. अग्निभूति ब्राह्मण	१०. सनत्कुमार स्वर्ग का देव
११. सनत्कुमारदेव	११. अग्निमित्र ब्राह्मण
१२. भारद्वाज	१२. माहेन्द्र स्वर्ग का देव
१३. महेन्द्रकल्प का देव	१३. भारद्वाज ब्राह्मण
१४. स्थावर ब्राह्मण	१४. माहेन्द्र स्वर्ग का देव
१५. ब्रह्मकल्प का देव	त्रस स्थावर योनि के असंख्य भव
१६. विश्वभूति	१५. स्थावर ब्राह्मण
१७. महाशुक्र का देव	१६. माहेन्द्र स्वर्ग का देव
१८. त्रिपृष्ठ नारायण	१७. विश्वनन्दी
१९. सातवीं नरक	१८. महाशुक्र स्वर्ग का देव
२०. सिंह	१९. त्रिपृष्ठ नारायण
२१. चतुर्थ नरक (अनेक भव)	२०. सातवीं नरक का नारकी
२२. पोट्टिल (प्रियमित्र) चक्रवर्ती	२१. सिंह
२३. महाशुक्रकल्प का देव	२२. प्रथम नरक का नारकी
२४. नन्दन	२३. सिंह
२५. प्राणत देवलोक	२४. प्रथम स्वर्ग का देव

[1] गुणभद्राचार्य रचित उत्तरपुराण, पर्व ७४, पृ० ४४४

२६. देवानन्दा के गर्भ में	२५. कनकोज्वल राजा
२७. त्रिशला की कुक्षि से भगवान् महावीर	२६. लान्तक स्वर्ग का देव
	२७. हरिषेण राजा
	२८. महाशुक्र स्वर्ग का देव
	२९. प्रियमित्र चक्रवर्ती
	३०. सहस्रार स्वर्ग का देव
	३१. नन्द राजा
	३२. अच्युत स्वर्ग का देव
	३३. भगवान् महावीर

दोनों परम्पराओं में भगवान् के पूर्वभवों के नाम एवं संख्या में भिन्नता होने पर भी इस मूल एवं प्रमुख तथ्य को एकमत से स्वीकार किया गया है कि अनन्त भवभ्रमण के पश्चात् सम्यग्दर्शन की उपलब्धि तथा कर्मनिर्जरा के प्रभाव से नयसार का जीव अभ्युदय और आत्मोन्नति की ओर अग्रसर हुआ। दुष्कृतपूर्ण कर्मबन्ध से उसे पुनः एक बहुत लम्बे काल तक भवाटवी में भटकना पड़ा और अन्त में नन्दन के भव में अत्युत्कट चिन्तन, मनन एवं भावना के साथ-साथ उच्चतम कोटि के त्याग, तप, संयम, वैराग्य, भक्ति और वैयावृत्य के आचरण से उसने महामहिमापूर्ण सर्वोच्चपद तीर्थंकर-नामकर्म का उपार्जन किया।

भगवान् महावीर के पूर्वभवों की जो यह संख्या दी गई है उसमें नयसार के भव से महावीर के भव तक के सम्पूर्ण भव नहीं आये हैं। दोनों परम्पराओं की इस सम्बन्ध में समान मान्यता है कि ये २७ भव केवल प्रमुख-प्रमुख भव हैं। इन सत्ताईस भवों के बीच में भगवान् के जीव ने अन्य अगणित भवों में भ्रमण किया।

देवानन्दा द्वारा स्वप्न-दर्शन

प्राणत स्वर्ग से निकल कर छब्बीसवें भव में नयसार का जीव ब्राह्मण-कुण्ड ग्राम के ब्राह्मण ऋषभदत्त की जलंधर गोत्रीया पत्नी देवानन्दा की कुक्षि में गर्भरूप से उत्पन्न हुआ। उस समय आषाढ़ शुक्ला षष्ठी तिथि और अर्द्धरात्रि के समय उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र से चन्द्र का योग था। देवानन्दा ने चौदह मंगलकारी शुभस्वप्न देखे और ऋषभदत्त के पास आकर विनम्र शब्दों में स्वप्न-दर्शन की जानकारी प्रदान की।

देवानन्दा द्वारा स्वप्न-दर्शन की बात सुनकर ऋषभदत्त बोले—"अयि देवानुप्रिये! तुमने बहुत ही अच्छे स्वप्न देखे हैं। ये स्वप्न शिव और मंगलरूप हैं। विशेष बात यह है कि नौ मास और साढ़े सात रात्रि-दिवस बीतने पर तुम्हें पुण्यशाली पुत्र की प्राप्ति होगी। वह पुत्र शरीर से सुन्दर, सुकुमार, अच्छे लक्षण, व्यन्जन, सद्गुणों से युक्त और सर्वप्रिय होगा। जब वह बाल्यकाल पूर्ण कर यौवनावस्था को प्राप्त होगा तो वेद-वेदाङ्गादि का पारंगत विद्वान्, बड़ा

शूरवीर और महान् पराक्रमी होगा। ऋषभदत्त के मुख से स्वप्नफल सुन कर देवानन्दा बड़ी प्रसन्न हुई तथा योग्य आहार-विहार और अनुकूल आचार से गर्भ का परिपालन करने लगी।

इन्द्र का अवधिज्ञान से देखना

उसी समय देवपति शक्रेन्द्र ने सम्पूर्ण जम्बूद्वीप को अवधिज्ञान से देखते हुए श्रमण भगवान् महावीर को देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षि में उत्पन्न हुए देखा। वे प्रसन्न होकर सिंहासन पर से उठकर पादपीठ से नीचे उतरे और मणिजटित पादुकाओं को उतार कर बिना सिले एक शाटक-वस्त्र से उत्तरासन (मुंह की यतना) किये और अंजलि जोड़े हुए तीर्थंकर के सम्मुख सात आठ पैर आगे चले तथा बायें घुटने को ऊपर उठाकर एवं दाहिने घुटने को भूमि पर टिका कर उन्होंने तीन बार सिर झुकाया और फिर कुछ ऊंचे होकर, दोनों भुजाओं को संकोच कर, दशों अंगुलियां मिलाये अंजलि जोड़कर वंदन करते हुए वे बोले—"नमस्कार हो अर्हन्त भगवान्! यावत् सिद्धिगति नाम स्थान प्राप्त को। फिर नमस्कार हो श्रमण भगवान् महावीर! धर्मतीर्थ की आदि करने वाले चरम-तीर्थंकर को।" इस प्रकार भावी तीर्थंकर को नमस्कार करके इन्द्र पूर्वाभिमुख हो सिंहासन पर बैठ गये।[1]

इन्द्र की चिन्ता और हरिणैगमेषी को आदेश

इन्द्र ने जब अवधिज्ञान से देवानन्दा की कुक्षि में भगवान् महावीर के गर्भरूप से उत्पन्न होने की बात जानी तो उनके मन में यह विचार उत्पन्न हुआ—"अर्हत्, चक्रवर्ती, बलदेव और वासुदेव सदा उग्रकुल आदि विशुद्ध एवं प्रभावशाली वंशों में ही जन्म लेते आये हैं, कभी अंत, प्रान्त, तुच्छ या भिक्षुक कुल में उत्पन्न नहीं हुए और न भविष्य में होंगे। चिरन्तन काल से यही परम्परा रही है कि तीर्थंकर आदि उग्रकुल, भोग कुल प्रभृति प्रभावशाली वीरोचित कुलों में ही उत्पन्न होते हैं। फिर भी प्राक्तन कर्म के उदय से श्रमण भगवान् महावीर देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षि में उत्पन्न हुए हैं, यह अनहोनी और आश्चर्यजनक बात है। मेरा कर्त्तव्य है कि तथाविध अन्त आदि कुलों से उनका उग्र आदि विशुद्ध कुल-वंश में साहरण करवाऊं।" ऐसा सोचकर इन्द्र ने हरिणैगमेषी देव को बुलाया और उसे श्रमण भगवान् महावीर को सिद्धार्थ राजा की पत्नी त्रिशला के गर्भ में साहरण करने का आदेश दिया।[2]

हरिणैगमेषी द्वारा गर्भापहार

इन्द्र का आदेश पाकर हरिणैगमेषी प्रसन्न हुआ और "तथास्तु देव!" कह कर उसने विशेष प्रकार की क्रिया से कृत्रिम रूप बनाया। उसने ब्राह्मणकुण्ड

---

[1] (क) आव० भाष्य,० गा० ५८,५६ पत्र २५६

(ख) कल्पसूत्र, सू० २१

ग्राम में आकर देवानन्दा को निद्रावश करके बिना किसी प्रकार की वाधा-पीड़ा के महावीर के शरीर को करतल में ग्रहण किया एवं त्रिशला क्षत्रियाणी की कुक्षि में लाकर रख दिया तथा त्रिशला का गर्भ लेकर देवानन्दा की कूख में बदल दिया[1] और उसकी निद्रा का अपहरण कर चला गया।

आचारांग सूत्र के भावना अध्ययन में कब और किस तरह गर्भपरिवर्तन किया, इसका उल्लेख इस प्रकार किया गया है :–

"जम्बूद्वीप के दक्षिणार्द्ध भरत में, दक्षिण ब्राह्मणकुंडपुर सन्निवेश में कोडालसगोत्रीय उसभदत्त ब्राह्मण की जालंधर गोत्र वाली देवानन्दा ब्राह्मणी की कुक्षि में सिंहअर्भक की तरह भगवान् महावीर गर्भरूप से उत्पन्न हुए। उस समय श्रमण भगवान् महावीर तीन ज्ञान के धारक थें। श्रमण भगवान् महावीर को हितानुकम्पी देव ने जीतकल्प समझ कर, वर्षाकाल के तीसरे मास अर्थात् पांचवें पक्ष में, आश्विन कृष्णा त्रयोदशी को जब चन्द्र का उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के साथ योग था, बयासी अहोरात्रियां बीतने पर तयासीवीं रात्रि में दक्षिण ब्राह्मणकुंडपुर सन्निवेश से उत्तर क्षत्रिय कुण्डपुर सन्निवेश में ज्ञात-क्षत्रिय, काश्यप गोत्रीय सिद्धार्थ की वशिष्ठ गोत्रीया क्षत्रियाणी त्रिशला के यहां अशुभ पुद्गलों को दूर कर शुभ पुद्गलों के साथ गर्भ को उसकी कुक्षि में रखा। और जो त्रिशला क्षत्रियाणी का गर्भ था उसको दक्षिण-ब्राह्मणकुण्डपुर सन्निवेश में ब्राह्मण ऋषभदत्त की पत्नी देवानन्दा की कूख में स्थापित किया।[2]

गर्भापहार-विधि

भगवती सूत्र में हरिणैगमेषी द्वारा जिस प्रकार गर्भ-परिवर्तन किया जाता है उसकी चर्चा की गई है। इन्द्रभूति गौतम ने जिज्ञासा करते हुए भगवान् महावीर से पूछा – "प्रभो ! हरिणैगमेषी देव जो गर्भ का परिवर्तन करता है वह गर्भ से गर्भ का परिवर्तन करता है या गर्भ से लेकर योनि द्वारा परिवर्तन करता है अथवा योनिद्वार से निकाल कर गर्भ में परिवर्तन करता है या योनि से योनि में परिवर्तन करता है ?"

उत्तर में कहा गया – "गौतम ! गर्भाशय से लेकर हरिणैगमेषी दूसरे गर्भ में नहीं रखता किन्तु योनि द्वारा निकाल कर बाधा-पीड़ा न हो, इस तरह गर्भ को हाथ में लिए दूसरे गर्भाशय में स्थापित करता है। गर्भपरिवर्तन में माता को पीड़ा इस कारण नहीं होती कि हरिणैगमेषी देव में इस प्रकार की लब्धि है कि वह गर्भ को सूक्ष्म रूप से नख या रोमकूप से भी भीतर प्रविष्ट कर सकता है।" जैसा कि कल्पसूत्र में कहा है :–

[1] आचारांग सूत्र
[2] आचारांग सूत्र

"हरिणैगमेषी ने देवानन्दा ब्राह्मणी के पास आकर पहले श्रमण भगवान् महावीर को प्रणाम किया और फिर देवानन्दा को परिवार सहित निद्राधीन कर अशुभ पुद्गलों का अपहरण किया और शुभ पुद्गलों का प्रक्षेप कर प्रभु की अनुज्ञा से श्रमण भगवान् महावीर को बाधा-पीड़ा रहित दिव्य प्रभाव से करतल में लेकर त्रिशला क्षत्रियाणी की कुक्षि में गर्भ रूप से साहरण किया।'

[कल्पसूत्र, सू० २७]

गर्भापहार असंभव नहीं आश्चर्य है

वास्तव में ऐसी घटना अद्भुत होने के कारण आश्चर्यजनक हो सकती है पर असंभव नहीं। आचार्य भद्रबाहु ने भी कहा है – "गर्भपरिवर्तन जैसी घटना लोक में आश्चर्यभूत है जो अनन्त अवसर्पिणी काल और अनन्त उत्सर्पिणी काल व्यतीत होने पर कभी-कभी होती है।"

दिगम्बर परम्परा ने गर्भापहरण के प्रकरण को विवादास्पद समझ कर मूल से ही छोड़ दिया है। पर श्वेताम्बर परम्परा के मूल सूत्रों और टीका, चूर्णि आदि में इसका स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध होता है। श्वेताम्बर आचार्यों का कहना है कि तीर्थंकर का गर्भहरण आश्चर्यजनक घटना हो सकती है पर असंभव नहीं। समवायांग सूत्र के ८३ वें समवाय में गर्भपरिवर्तन का उल्लेख मिलता है। स्थानांग सूत्र के पांचवें स्थान में भी भगवान् महावीर के पंचकल्याणकों में उत्तरा-फाल्गुनी नक्षत्र में गर्भपरिवर्तन का स्पष्ट उल्लेख है। स्थानांग सूत्र के १०वें स्थान में दश आश्चर्य गिनाये गये हैं। उनमें गर्भ-हरण का दूसरा स्थान है। वे आश्चर्य इस प्रकार है :–

उवसग्ग[1], गब्भहरणं[2], इत्थितित्थं[3] अभाविया-परिसा[4]।
कण्हस्स अवरकंका[5], उत्तरणं चंद-सूराणं[6]॥
हरिवंसकुलुप्पत्ती[7] चमरुप्पातो[8] त अट्ठसयसिद्धा[9]।
अस्संजतेसु पूआ[10], दस वि अणंतेण कालेण॥

[स्थानांग भा. २, सूत्र ७७७, पत्र ५२३-२]

१. उपसर्ग :– श्रमण भगवान् महावीर के समवशरण में गोशालक ने सर्वानुभूति और सुनक्षत्र मुनि को तेजोलेश्या से भस्म कर दिया। भगवान् पर भी तेजोलेश्या का उपसर्ग किया। यह प्रथम आश्चर्य है।

२. गर्भहरण :– तीर्थंकर का गर्भहरण नहीं होता, पर श्रमण भगवान् महावीर का हुआ। यह दूसरा आश्चर्य है। जैनागमों की तरह वैदिक परंपरा में भी गर्भ-परिवर्तन की घटना का उल्लेख है। वसुदेव की संतानों को कंस जब नष्ट कर देता था तब विश्वात्मा विष्णु योगमाया को आदेश देते हैं कि देवकी का

गर्भ रोहिणी के उदर में रखा जाय। विश्वात्मा के आदेश से योगमाया ने देवकी के गर्भ को रोहिणी के उदर में स्थापित किया।[1]

३. स्त्री-तीर्थंकर :— सामान्य रूप से तीर्थंकरपद पुरुष ही प्राप्त करते हैं, स्त्री नहीं। वर्तमान अवसर्पिणी काल में १९वें तीर्थंकर मल्ली भगवती स्त्री रूप से उत्पन्न हुए अतः आश्चर्य है।

४. अभाविता परिषद् :— तीर्थंकर का प्रथम प्रवचन अधिक प्रभावशाली होता है, उसे श्रवण कर भोगमार्ग के रसिक प्राणी भी त्यागभाव स्वीकार करते हैं। किन्तु भगवान् महावीर की प्रथम देशना में किसी ने चारित्र स्वीकार नहीं किया, वह परिषद् अभावित रही, यह आश्चर्य है।

५. कृष्ण का अमरकंका गमन :— द्रौपदी की गवेषणा के लिये श्रीकृष्ण धातकीखण्ड की अमरकंका नगरी में गये और वहां के कपिल वासुदेव के साथ शंखनाद से उत्तर-प्रत्युत्तर हुआ। साधारणतया चक्रवर्त्ती एवं वासुदेव अपनी सीमा से बाहर नहीं जाते पर कृष्ण गये, यह आश्चर्य की बात है।

६. चन्द्र-सूर्य का उतरना :— सूर्य चन्द्रादि देव भगवान् के दर्शन को आते हैं पर मूल विमान से नहीं। किन्तु कौशाम्बी में भगवान् महावीर के दर्शन हेतु चन्द्र-सूर्य अपने मूल विमान से आये।[2] महावीर चरियं के अनुसार चन्द्र-सूर्य भगवान् के समवशरण में आये, जबकि सती मृगावती भी वहां बैठी थी। रात होने पर भी उसे प्रकाश से ज्ञात नहीं हुआ और वह भगवान् की वाणी सुनने में वहीं बैठी रही। चन्द्र-सूर्य के जाने पर जब वह अपने स्थान पर गई तब चन्दनबाला ने उपालम्भ दिया। मृगावती को आत्मालोचन करते-करते केवलज्ञान हो गया।[3] यह भगवान् की केवली-चर्या के चौबीसवें वर्ष की घटना है।

---

[1] गच्छ देवि व्रजं भद्रे, गोपगोभिरलंकृतम्।
रोहिणी वसुदेवस्य, भार्यास्ते नन्दगोकुले।
अन्याश्च कंससंविग्नाः, विवरेषु वसन्ति हि ॥७॥
देवक्या जठरे गर्भं, शेषाख्यं धाम मामकम्।
तत् सन्निकृष्य रोहिण्या, उदरे सन्निवेशय ॥८॥

[श्रीमद्भागवत, स्कंध १०, अध्याय २]

[2] आव० निर्युक्ति में प्रभु की छद्मस्थावस्था में संगम देव द्वारा घोर परीषह देने के बाद कौशाम्बी में चन्द्र-सूर्य का मूल विमान से आगमन लिखा है। कोसंबि चंद सूरो अरणं''' ....। आव नि० दी०, गा० ५१८, पत्र १०५

[3] साहावियाइं पच्चक्ख दिस्समाणाणि आरुहेउण।
ओयरिया भत्तीए वंदणवडियाए ससिसूरा ॥९॥
तेसिं विमाणनिम्मल मऊह निवहप्पयासिए गयणे।
जायं निसिंपि लोगो अवियाणंतो सुणइ धम्मं ॥१०॥
नवरं नाउं समयं चंदणबाला पवत्तिणी नमिउं।
सामि समणीहिं समं निययावासं गया सहसा ॥११॥
सा पुण मिगावई जिणकहाए वक्खित्तमाणसा धणियं।
एगागिणी चियट्ठिया दिणंति काऊण ओसरणे ॥१२॥

[महावीर चरियं (गुणचन्द्र), प्रस्ताव ८, पत्र १७५]

७. हरिवंश कुलोत्पत्ति :– हरि और हरिणीरूप युगल को देखकर एक देव को पूर्वजन्म के वैर की स्मृति हो आई। उसने सोचा "ये दोनों यहां भोग-भूमि में सुख भोग रहे हैं और आयु पूर्ण होने पर देवलोक में जायेंगे। अतः ऐसा यत्न करूं कि जिससे इनका परलोक दुखमय हो जाय।" उसने देव शक्ति से उनकी दो कोस की ऊंचाई को सौ धनुष कर दिया,[1] आयु भी घटाई और दोनों को भरतक्षेत्र की चम्पानगरी में लाकर छोड़ दिया। वहां के भूपति का वियोग होने से 'हरि' को अधिकारियों द्वारा राजा बना दिया गया। कुसंगति के कारण दोनों ही दुर्व्यसनी हो गये और फलतः दोनों मरकर नरक में उत्पन्न हुए। इस युगल से हरिवंश की उत्पत्ति हुई।

युगलिक नरक में नहीं जाते पर ये दोनों हरि और हरिणी नरक में गये। यह आश्चर्य की बात है।

८. चमर का उत्पात :– पूरण तापस का जीव असुरेन्द्र के रूप में उत्पन्न हुआ। इन्द्र बनने के पश्चात् उसने अपने ऊपर शक्रेन्द्र को सिंहासन पर दिव्य-भोगों का उपभोग करते हुए देखा और उसके मन में विचार हुआ कि इसकी शोभा को नष्ट करना चाहिए। भगवान् महावीर की शरण लेकर उसने सौधर्म देवलोक में उत्पात मचाया। इस पर शक्रेन्द्र ने क्रुद्ध हो उस पर वज्र फेंका। चमरेन्द्र भयभीत हो भगवान् के चरणों में आ गिरा। शक्रेन्द्र भी चमरेन्द्र को भगवान् महावीर की चरण-शरण में जानकर बड़े वेग से वज्र के पीछे आया और अपने फेंके हुए वज्र को पकड़ कर उसने चमर को क्षमा प्रदान कर दी।

चमरेन्द्र का इस प्रकार अरिहंत की शरण लेकर सौधर्म देवलोक में जाना आश्चर्य है।

९. उत्कृष्ट अवगाहना के १०८ सिद्ध :– भगवान् ऋषभदेव के समय में ५०० धनुष की अवगाहना वाले १०८ सिद्ध हुए। नियमानुसार उत्कृष्ट अवगाहना वाले दो[2] ही एक साथ सिद्ध होने चाहिये पर ऋषभदेव और उनके पुत्र आदि १०८ एक समय में साथ सिद्ध[3] हुए, यह आश्चर्य की बात है।

१०. असंयत पूजा :– संयत ही वंदनीय-पूजनीय होते हैं पर नौवें तीर्थंकर सुविधिनाथ के शासन में श्रमण-श्रमणी के अभाव में असंयति की ही पूजा हुई, अतः यह आश्चर्य माना गया है।

---

[1] कुणतिय से दिव्वप्पभावेण धणुसयं उच्चत्तं ।। वसु० हिं०, पृ० ३५७

[2] उक्कोसोगाहणाए य सिज्झंते जुगवं दुवे उ० । ३६

[3] रिसहो रिसहस्स सुया, भरहेण विवज्जिया नवनवई ।
अट्ठेव भरहस्स सुया, सिद्धिगया एग समयम्मि ।।
[उत्तराध्ययन, अ० ३६, गा० ५३]

वैज्ञानिक दृष्टि से गर्भापहार

भारतीय साहित्य में वर्णित गर्भापहार जैसी कितनी ही बातों को लोग अब तक अविश्वसनीय मानते रहे हैं पर विज्ञान के अन्वेषण ने उनमें से बहुत कुछ प्रत्यक्ष कर दिखाया है। गुजरात वर्नाक्यूलर सोसायटी द्वारा प्रकाशित "जीवन विज्ञान" (पृष्ठ ४३) में एक आश्चर्यजनक घटना प्रकाशित की गई है जो इस प्रकार है :-

"एक अमेरिकन डॉक्टर को एक भाटिया-स्त्री के पेट का ऑपरेशन करना था। वह गर्भवती थी अतः डॉक्टर ने एक गर्भिणी बकरी का पेट चीर कर उसके पेट का बच्चा बिजली की शक्ति से युक्त एक डिब्बे में रखा और उस औरत के पेट का बच्चा निकाल कर बकरी के गर्भ में डाल दिया। औरत का ऑपरेशन कर चुकने के बाद डॉक्टर ने पुनः औरत का बच्चा औरत के पेट में रख दिया और बकरी का बच्चा बकरी के पेट में रख दिया। कालान्तर में बकरी और स्त्री ने जिन बच्चों को जन्म दिया वे स्वस्थ और स्वाभाविक रहे।"

'नवनीत' की तरह अन्य पत्रों में भी इस प्रकार के अनेक वृत्तान्त प्रकाशित हुए हैं, जिनसे गर्भापहरण की बात संभव और साधारण सी प्रतीत होती है।

त्रिशला के यहाँ

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है जिस समय हरिणैगमेषी देव ने इन्द्र की आज्ञा से महावीर का देवानन्दा की कुक्षि से त्रिशला की कुक्षि में साहरण किया, उस समय वर्षाकाल के तीसरे मास अर्थात् पांचवें पक्ष का आश्विन कृष्णा त्रयोदशी का दिन था। देवानन्दा के गर्भ में बयासी (८२) रात्रियां बिता चुकने के पश्चात् तयासीवीं रात्रि में चन्द्र के उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र के साथ योग के समय भगवान् महावीर का देवानन्दा की कुक्षि से त्रिशलादेवी की कुक्षि में साहरण किया गया।

गर्भसाहरण के पश्चात् देवानन्दा यह स्वप्न देखकर कि उसके चौदह मंगलकारी शुभस्वप्न उसके मुखमार्ग से बाहर निकल गये हैं, तत्क्षण जाग उठी। वह शोकाकुल हो बारम्बार विलाप करने लगी कि किसी ने उसके गर्भ का अपहरण कर लिया है।[1]

उधर त्रिशला रानी को उसी रात उन चौदह महामंगलप्रद शुभस्वप्नों के दर्शन हुए। वह जागृत हो महाराज सिद्धार्थ के पास गईं और उसने अपने स्वप्न सुनाकर बड़ी मृदु-मंजुल वाणी में उनसे स्वप्नफल की पृच्छा की।

महाराज सिद्धार्थ ने निमित्त-शास्त्रियों को ससम्मान बुलाकर उनसे उन चौदह स्वप्नों का फल पूछा।

---

[1] (क) महावीर चरित्रम् (गुणचन्द्र सूरि), पत्र २१२ (२)।
(ख) त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व १०, सर्ग २, श्लोक २७ और २८

निमित्तज्ञों ने शास्त्र के प्रमाणों से बताया – "इस प्रकार के मांगलिक शुभस्वप्नों में से तीर्थंकर अथवा चक्रवर्ती की माता चौदह महास्वप्न देखती है। वासुदेव की माता सात महास्वप्न, बलदेव की माता चार महास्वप्न तथा माण्डलिक की माता एक शुभस्वप्न देखकर जागृत होती है। महारानी त्रिशला देवी ने चौदह शुभस्वप्न देखे हैं अतः इनको तीर्थंकर अथवा चक्रवर्ती जैसे किसी महान् भाग्यशाली पुत्ररत्न का लाभ होगा। निश्चित रूप से इनके ये स्वप्न परम प्रशस्त और महामंगलकारी हैं।"

स्वप्नपाठकों की बात सुनकर महाराज सिद्धार्थ परम प्रमुदित हुए और उन्होंने उनको जीवनयापन योग्य प्रीतिदान देकर सत्कार एवं सम्मान के साथ विदा किया। महारानी त्रिशला भी योग्य आहार-विहार और मर्यादित व्यवहारों से गर्भ का सावधानीपूर्वक प्रतिपालन करती हुई परमप्रसन्न मुद्रा में रहने लगीं।

महारानी त्रिशलादेवी ने जिस समय भगवान् महावीर को अपने गर्भ में धारण किया उसी समय से तृजृंभक देवों ने इन्द्र की आज्ञा से पुरातन निधियां लाकर महाराज सिद्धार्थ के राज्य-भण्डार को हिरण्य-सुवर्ण आदि से भरना प्रारम्भ कर दिया और समस्त ज्ञातकुल की विपुल धन-धान्यादि ऋद्धियों से महती अभिवृद्धि होने लगी।[1]

महावीर का गर्भ में अभिग्रह

भगवान् महावीर जब त्रिशला के गर्भ में थे तब उनके मन में विचार आया कि उनके हिलने-डुलने से माता अतिशय कष्टानुभव करती हैं। यह विचार कर उन्होंने हिलना-डुलना बन्द कर दिया। किन्तु गर्भस्थ जीव की हलन-चलनादि क्रिया को बन्द देख कर माता बहुत घबराईं। उनके मन में शंका होने लगी कि उनके गर्भ का किसी ने हरण कर लिया है अथवा वह मर गया है या गल गया है। इसी चिन्ता में वह उदास और व्याकुल रहने लगीं। माता की उदासी से राज-भवन का समस्त आमोद-प्रमोद एवं मंगलमय वातावरण शोक और चिन्ता में परिणत हो गया। गर्भस्थ महावीर ने अवधिज्ञान द्वारा मां की यह करुणावस्था और राजभवन की विषादमयी स्थिति देखी तो वे पुनः अपने अंगोपांग हिलाने-डुलाने लगे जिससे मां का मन फिर प्रसन्नता से नाच उठा और राजभवन में हर्ष का वातावरण छा गया। मां के इस प्रबल स्नेहभाव को देख कर महावीर ने गर्भकाल में ही यह अभिग्रह धारण किया – "जब तक

[1] जद्दिवसं च भयवं······तिसला देवीए उदरकमलमइगओ तद्दिवसाओऽवि सुरवइवयणेणं तिरियजंभगा देवा विविहाइं महानिहाणाइं सिद्धत्थनरिंदभुवणंमि भुज्जो-भुज्जो पक्खिवंति, तंपि नायकुलं धणेणं धन्नेणं······बाढमभिवड्ढइ······

[महावीर चरित्र (गुणचन्द्र), पत्र ११४ (१)]

मेरे माता-पिता जीवित रहेंगे तब तक मैं मुंडित होकर दीक्षा-ग्रहण नहीं करूंगा।"[1]

जन्म-महिमा

प्रशस्त दोहद और मंगलमय वातावरण में गर्भकाल पूर्ण कर नौ मास और साढ़े सात दिन बीतने पर चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को मध्यरात्रि के समय उत्तराफाल्गुनि नक्षत्र में त्रिशला क्षत्रियाणी ने सुखपूर्वक पुत्ररत्न को जन्म दिया। प्रभु के जन्मकाल में सभी ग्रह उच्च स्थान में आये हुए थे। समस्त दिशाएं परम सौम्य, प्रकाशपूर्ण और अत्यन्त मनोहर प्रतीत हो रही थीं। धन-धान्य की समृद्धि एवं सुख-सामग्री की अभिवृद्धि के कारण जन-जीवन बड़ा प्रमोदपूर्ण था। गगन-मण्डल से देवों ने पंचदिव्यों की वर्षा की।

प्रभु के जन्म लेते ही समस्त लोक में अलौकिक उद्योत और शान्ति का वातावरण व्याप्त हो गया। प्रभु का मंगलमय जन्ममहोत्सव मनाने वाले देव-देवियों के आगमन से सम्पूर्ण गगनमण्डल एक अपूर्व मृदु-मंजुल रव से मुखरित हो उठा।

इन्द्र ने प्रभु को सुमेरुपर्वत पर लेजाकर प्रभु का जन्ममहोत्सव किया। उस समय शक्र के मन में शंका उत्पन्न हुई कि नवजात प्रभु का कुसुम सा सुकोमल नन्हा सा वपु अभिषेक-कलशों के जलप्रपात को किस प्रकार सहन कर सकेगा ?

प्रभु ने इन्द्र की इस शंका का निवारण करने हेतु अपने वामपाद के अंगुष्ठ से सुमेरु को दबाया। इसके परिणामस्वरूप गिरिराज के उत्तुंग शिखर झंझावात से झकझोरित वेत्रवन की तरह प्रकंपित हो उठे।

शक्र को अवधिज्ञान से जब यह ज्ञात हुआ कि यह सब प्रभु के अनन्त बल की माया है तो उसने नतमस्तक हो प्रभु से क्षमायाचना की।[2]

जन्माभिषेक का महोत्सव सानन्द सम्पन्न होने के पश्चात् इन्द्र ने प्रभु को माता त्रिशला के पास शय्या पर सुला दिया।

श्वेताम्बर परम्परा के आचार्य विमल सूरि ने 'पउम चरियम्' में[3] और दिगम्बर परम्परा के आचार्य जिनसेन ने 'आदि पुराण' में[4] यह मान्यता अभिव्यक्त की है कि प्रत्येक तीर्थंकर के गर्भावतरण के छह मास पूर्व से ही देवगण तीर्थंकर के माता-पिता के राजप्रासाद पर रत्नों की वृष्टि करना प्रारम्भ कर देते हैं।

---

[1] (क) आव० भाष्य० गा० ५८।५९। पत्र २५६
(ख) कल्पसूत्र, सूत्र ९१

[2] त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व १०, सर्ग २, श्लोक ६० से ६४

[3] छम्मासेण जिणवरो, होही गब्भम्मि चवणकालाओ।
पाडेइ रयणवुट्ठी, धणओ मासाणि पण्णरस ॥ [पउम चरिउं, ३, श्लोक ६७]

[4] षड्भिर्मासैरथैतस्मिन्, स्वर्गादवतरिष्यति।
रत्नवृष्टिं दिवो देवाः, पातयामासुरादरात् ॥ [आदि पुराण, १२, श्लोक ८४]

आचार्य हेमचन्द्र और गुणचन्द्र आदि ने तीर्थंकर के गर्भावतरण के प... तृजृंभक देवों द्वारा शक्राज्ञा से तीर्थंकरों के पिता के राज्य-कोषों को नि... निधियों से परिपूर्ण करने और उनके जन्म के समय रत्नादि की वृष्टि क... उल्लेख किया है।

पुत्रजन्म की खुशी में महाराज सिद्धार्थ ने राज्य के बन्दियों... से मुक्त किया और याचकों एवं सेवकों को मुक्तहस्त हो प्रीतिदान... दिन तक बड़े हर्षोल्लास के साथ भगवान् का जन्मोत्सव मनाया... नगर में बहुत दिनों तक आमोद-प्रमोद का वातावरण छाया रहा।

जन्मस्थान

महावीर की जन्मस्थली के सम्बन्ध में इतिहासज्ञ विद्वानों... कुछ विद्वान् आगम साहित्य में उल्लिखित 'वेसालिय' शब्द... इनकी जन्मस्थली वैशाली मानते हैं। क्योंकि पाणिनीय व्याक... 'विशालायां भवः' इस अर्थ में छ प्रत्यय होकर 'वेसालिय' शब्द ब... अर्थ है वैशाली में उत्पन्न होने वाला।

कुछ विद्वानों के मतानुसार भगवान् का जन्मस्थान 'कुंडनपु... के अनुसार क्षत्रियकुंड। क्षत्रियकुंड के सम्बन्ध में भी विद्वानों में... है। कुछ इसे मगध देश में मानते हैं तो कुछ इसे विदेह में। ... कल्पसूत्र में महावीर को विदेहवासी कहा गया है।[1] डॉ० हर्मनजे... का अर्थ विदेहवासी किया है।[2] परन्तु 'विदेह जच्चे' का अर्थ दे... चाहिये, क्योंकि 'जच्चे' जात्यः का अर्थ उत्कृष्ट होता है। कल... अनुवादक वसंतकुमार चट्टोपाध्याय ने इसी मत का समर्थन किया है... परम्परा के ग्रन्थों से भी इसी धारणा का समर्थन होता है। वहां कु... कुंड की अवस्थिति जम्बूद्वीप के भारतवर्ष में विदेह के अन्तर्गत...

---

१ नाए नायपुत्ते, नायकुलचन्दे, विदेहे-विदेहदिन्ने, विदेहजच्चे [कल्प...

२ सेक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट, सेक्ट २२, पृ० २५६

३ वसंतकुमार लिखते हैं – दक्ष, दक्षप्रतिज्ञ, आदर्श रूपवान्, वालीन, भद्रक, ज्ञातीपुत्र, ज्ञाती कुलचन्द्र, विदेह, विदेह दत्तात्मज, वैदेहश्रेष्ठ, वैदेह सुकुमार... महावीर त्रिश वत्सर विदेह देशे काटाइयां, माता पितार देवत्व प्राप्ति ह... महत्तर गणेर अनुमति लइया स्वप्रतिज्ञा समाप्त करिया छिलेन। कल... कलकत्ता वि० वि० १९५३ ई०

४ (क) विक्रमी पांचवीं सदी के आचार्य पूज्यपाद दशभक्ति में लिखते हैं... तनयो, भारतवास्ये विदेह कुंडपुरे। पृ० ११६

(ख) विक्रमी आठवीं सदी के आचार्य जिनसेन हरिवंश पुराण, खण्ड... लिखते हैं:

भरतेऽस्मिन् विदेहाख्ये, विषये भवनांगणे।
राज्ञः कुण्डपुरेशस्य, वसुधारापतत् पृथुः ॥ २।२५२। उत्तरार्द्ध

...त्र में 'वेसालिय' शब्द होने के कारण वैशाली से भगवान् का सम्बन्ध प्रायः ...भी इतिहास-लेखकों ने माना है, किन्तु उस सम्बन्ध का अर्थ जन्मस्थान मानना ...क नहीं। मुनि कल्याण विजयजी ने कुंडपुर को वैशाली का उपनगर लिखा है, ...कि विजयेन्द्रसूरि के अनुसार कुंडपुर वैशाली का उपनगर नहीं बल्कि एक ...तन्त्र नगर माना गया है। मालूम होता है दोनों ने दृष्टिभेद से ऐसा उल्लेख ...या हो और इसी दृष्टि से ब्राह्मणकुंडग्राम-नगर और क्षत्रियकुंडग्राम नगर ...खा गया हो। ये दोनों पृथक्-पृथक् बस्ती के रूप में होकर भी इतने नजदीक ...कि उनको कुंडपुर के सन्निवेश मानना भी अनुचित नहीं समझा गया।

दोनों की स्थिति के विषय में भगवती सूत्र के नववें उद्देशगत प्रकरण से ...छा प्रकाश मिलता है। वहां ब्राह्मणकुंड ग्राम से पश्चिम दिशा में क्षत्रियकुंड ... और दोनों के मध्य में बहुशाल चैत्य बतलाया गया है।[1] जैसाकि—

एक बार भगवान् महावीर ब्राह्मणकुंड के बहुशाल चैत्य में पधारे, तब ...यकुंड के लोग सूचना पाकर वंदन करने को जाने लगे। लोगों को जाते हुए ...कर राजकुमार जमालि भी वंदन को निकले और क्षत्रियकुंड के मध्य से होते ...ब्राह्मणकुण्ड के बहुशाल चैत्य में जहां भगवान् महावीर थे, वहां पहुँचे। ... साथ पांच सौ क्षत्रियकुमारों के दीक्षित होने का वर्णन बतलाता है कि ...क्षत्रियों की बड़ी बस्ती थी। संभव है, बढ़ते हुए विस्तार के कारण ही ...ी ग्राम-नगर कहा गया हो।

डॉ. हारनेल ने महावीर का जन्मस्थान कोल्लाग सन्निवेश होना लिखा ...र यह ठीक नहीं। उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध किया जा चुका है कि भगवान् ...ीर का जन्मस्थान कुंडपुर के अन्तर्गत क्षत्रियकुंड ग्राम है, मगध या अंग ...हीं। इन सब उल्लेखों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भगवान् ...ीर का जन्म मगध या अंग देश में न हो कर विदेह में हुआ था।

कुछ विद्वानों का कहना है कि महावीर के जन्मस्थान के सम्बन्ध में शास्त्र ... उल्लेख हैं, उनमें कुंडपुर शब्द ही आया है, क्षत्रियकुंड नहीं। आवश्यक ...क में कुंडपुर या कुंडग्राम का उल्लेख है।[2] और आचारांग सूत्र में ...कुंडपुर भी आता है। वास्तव में बात यह है कि दोनों स्थानों में कोई ... अन्तर नहीं है। कुण्डपुर के ही उत्तर भाग को क्षत्रियकुंड और दक्षिण

तस्सणं माहणकुंडग्गामस्स णयरस्स पच्चत्थिमेणं एत्थणं खत्तियकुंडग्गामे नामं नयरे होत्था। भ० ९।३३। सूत्र ३८३। पत्र ४६१

जाव एगाभिमुहे खत्तियकुंडग्गामं नयरं मज्झंमज्झेणं निगच्छइ, निगच्छित्ता जेणेव माहणकुंडगामे नयरे जेणेव बहुसालए चेइए। भ०श० ९।३३ सूत्र ३८३। पत्र ४६१।

अह चेत्तसुद्ध पक्खस्स, तेरसी पुव्वरत्त कालम्मि हत्थुत्तराहिं जाओ, कुंडग्गामे महावीरो ॥६१ भा०॥ आ.नि.पृ. २५६

आवश्यक नि० ३९४।१८०...

भाग को ब्राह्मणकुंड कहा गया है। आचारांग सूत्र से भी यह प्रमाणित हो कि वहां दक्षिण में ब्राह्मणकुंड सन्निवेश और उत्तर में क्षत्रियकुंडपुर सन्नि था।[१] क्षत्रियकुंड में "ज्ञातृ" क्षत्रिय रहते थे, इस कारण बौद्ध ग्रन्थों "ज्ञातिक" अथवा "नातिक" नाम से भी इसका उल्लेख किया गया है। ज्ञा की बस्ती होने से इसको ज्ञातृग्राम भी कहा गया है। "ज्ञातृक" को अवस्थि 'वज्जी' देश के अन्तर्गत वैशाली और कोटिग्राम के बीच बताई गई है। उनके अनुसार कुंडपुर क्षत्रियकुंड अथवा "ज्ञातृक" वज्जि विदेह देश के अन्तर्गत था महापरिनिव्वान सुत्त के चीनी संस्करण में इस नातिक की स्थिति और भी स्पष्ट कर दी गई है। वहां इसे वैशाली से सात ली अर्थात् १३/२ मील दूर बताया गया है।[२]

वैशाली आजकल बिहार प्रान्त के मुजफ्फरपुर (तिरहुत) डिविजन में 'वनियां वसाढ़' के नाम से प्रसिद्ध है। और वसाढ़ के निकट जो वासुकुंड है, वहां पर प्राचीन कुंडपुर की स्थिति बताई जाती है।

उपर्युक्त प्रमाणों और ऐतिहासिक आधारों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् महावीर का जन्म वैशाली के कुंडपुर (क्षत्रियकुंड) सन्निवेश में हुआ था। यह 'कुंडपुर' वैशाली का उपनगर नहीं किन्तु एक स्वतन्त्र नगर था।

महावीर के मातापिता

ज्ञातृ-वंशीय महाराज सिद्धार्थ भगवान् महावीर के पिता और महारानी त्रिशला माता थीं। डॉ० हार्नेल और जैकोबी सिद्धार्थ को राजा नहीं मान कर एक प्रतिष्ठित उमराव या सरदार मानते हैं, जो कि शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर उपयुक्त नहीं जंचता। शास्त्रों में भगवान् महावीर को महान् राजा के कुल का कहा गया है। यदि सिद्धार्थ साधारण क्षत्रिय सरदार मात्र होते तो राजा शब्द का प्रयोग उनके लिये नहीं किया जाता।

शास्त्रों में आये हुए सिद्धार्थ के साथ 'क्षत्रिय' शब्द के प्रयोग से सिद्धार्थ को क्षत्रिय सरदार मानना ठीक नहीं क्योंकि कल्पसूत्र में "तएणं से सिद्धत्थे राया" आदि रूप से उनको राजा भी कहा गया है। इतना ही नहीं उनके में बताया गया है कि वे मुकुट, कुण्डल आदि से विभूषित "नरेन्द्र" "महावीर चरित्र" में भी "सिद्धत्थो य नरिंदो" ऐसा उल्लेख मिलता है। प्र

---

१ दाहिण माहणकुंडपुर सन्निवेसाओ उत्तर खत्तिय कुंडपुर सन्निवेसंसि नायाणं खत्ति सिद्धत्थस्स... ।।आचा० भावना अ० १५

२ (क) Sino Indian Studies vol. I, part 4, page 195, July 1945.
(ख) Comparative studies "The parinivvan Sutta and its C version, by Faub.
(ग) ली, दूरी नापने का एक पैमाना है। कनिंघम के अनुसार १ ली / बराबर होती है। एन्शियेन्ट जोग्राफी आफ इण्डिया।

साहित्य अथवा लोकव्यवहार में नरेन्द्र शब्द का प्रयोग साधारण सरदार या उमराव के लिये न होकर राजा के लिये ही होता आया है। साथ ही सिद्धार्थ के साथ गणनायक आदि राजकीय अधिकारियों का होना भी शास्त्रों में उल्लिखित है। निश्चित रूप से इस प्रकार के अधिकारी किसी राजा के साथ ही हो सकते हैं।

दूसरी बात क्षत्रिय का अर्थ गुण-कर्म विभाग से तथाकथित वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत आने वाली युद्धप्रिय क्षत्रिय जाति नहीं अपितु राजा भी होता है। जैसे कि अभिधान चिन्तामणि में लिखा है :– 'क्षत्रं तु क्षत्रियो राजा, राजन्यो बाहुसंभवः'।[1]

महाकवि कालिदास ने भी रघुवंश महाकाव्य में राजा दिलीप के लिये जो कि क्षत्रिय कुलोद्भव थे, लिखा है :–

'क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः,
क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः।'

वस्तुतः विपत्ति से बचाने वाले के लिये रूढ़ "क्षत्रिय" शब्द राजा का भी पर्यायवाची हो सकता है, केवल साधारण क्षत्रिय का नहीं।

डॉ० हार्नेल और जैकोबी ने सिद्धार्थ को राजा मानने में जो आपत्ति की है, उसका एकमात्र कारण यही दिखाई देता है कि वैशाली के चेटक जैसे प्रमुख राजाओं की तरह उस समय उनका विशिष्ट स्थान नहीं था, फिर भी राजा तो वे थे ही। बड़े या छोटे जो भी हों, सिद्धार्थ उन सभी सुख-साधनों से सम्पन्न थे जो कि एक राजा के रूप में किसी को प्राप्त हो सकते हैं। इस तरह सिद्धार्थ को राजा मानना उचित ही है, इसमें किसी प्रकार की कोई बाधा दिखाई नहीं देती।

सिद्धार्थ की तरह त्रिशला के साथ भी क्षत्रियाणी शब्द देख कर इस प्रकार की उठने वाली शंका का समाधान उपर्युक्त प्रमाण से हो जाता है। वैशाली जैसे शक्तिशाली राज्य की राजकुमारी और उस समय के महान् प्रतापी राजा चेटक की सहोदरा त्रिशला का किसी साधारण क्षत्रिय से विवाह कर दिया गया हो यह नितान्त असंभव सा प्रतीत होता है। क्षत्रियाणी की तरह श्वेताम्बर, दिगम्बर दोनों परम्परा के ग्रन्थों में देवी रूप से भी त्रिशला का उल्लेख किया गया है। अतः उसे रानी समझने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। महावीर चरियं[2], त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र[3] और दशभक्ति ग्रन्थ[4] इसके लिये द्रष्टव्य हैं।

---

[1] अभिधान चिन्तामणि, काण्ड ३, श्लो० ५२७

[2] (क) तस्स घरे तं साहर, तिसला देवीए कुच्छिंसि ।५१। [महावीर चरियं, पृ. २८]
(ख) सिद्धत्थो य नरिंदो, तिसला देवी य रायलोओ य।६८। [महावीर चरियं ३३]

[3] ददार त्रिशला देवी, मुदिता गर्भमद्भुतम् ।३३।
देव्या पार्श्वे च भगवत्प्रतिरूपं निधाय सः ।५५।
उवाच त्रिशला देवी, सदने नरत्वमागमः ।१४१। [त्रिषष्टि शलाका, प० १०, सर्ग २]

[4] देव्यां प्रियकारिण्यां सुस्वप्नान् संप्रदर्श्य विभुः ।४। [दशभक्ति, पृ० ११६]

सिद्धार्थ को इक्ष्वाकुवंशी और गोत्र से काश्यप कहा गया है। कल्पसूत्र और आचारांग में सिद्धार्थ के तीन नाम बताये गये हैं: (१) सिद्धार्थ, (२) श्रेयांस और (३) यशस्वी।[१] त्रिशला वासिष्ठ गोत्रीया थीं, उनके भी तीन नाम उल्लिखित हैं – (१) त्रिशला, (२) विदेहदिन्ना और (१) प्रियकारिणी। वैशाली के राजा चेटक की बहिन होने से ही इसे विदेहदिन्ना कहा गया है।

नामकरण

दश दिनों तक जन्म-महोत्सव मनाये जाने के बाद राजा सिद्धार्थ ने मित्रों और बन्धुजनों को आमन्त्रित कर स्वादिष्ट भोज्य पदार्थों से उन सबका सत्कार करते हुए कहा – "जबसे यह शिशु हमारे कुल में आया है तबसे धन, धान्य, कोष, भण्डार, बल, वाहन आदि समस्त राजकीय साधनों में अभूतपूर्व वृद्धि हुई है, अतः मेरी सम्मति में इसका 'वर्द्धमान'[२] नाम रखना उपयुक्त जंचता है।" उपस्थित लोगों ने राजा की इच्छा का समर्थन किया। फलतः त्रिशलानन्दन का नाम वर्द्धमान रखा गया। आपके बाल्यावस्था के कतिपय वीरोचित अद्भुत कार्यों से प्रभावित होकर देवों ने गुण-सम्पन्न दूसरा नाम 'महावीर' रखा।

त्याग-तप की साधना में विशिष्ट श्रम करने के कारण शास्त्र में आपको 'श्रमण' भी कहा गया है। विशिष्ट ज्ञानसम्पन्न होने से 'भगवान्' और ज्ञातृकुल में उत्पन्न होने से 'ज्ञातपुत्र' आदि विविध नामों से भी आपका परिचय मिलता है। भद्रबाहु ने कल्पसूत्र में आपके तीन नाम बताये हैं। यथा :– माता-पिता के द्वारा 'वर्द्धमान', सहज प्राप्त सद्बुद्धि के कारण 'समण' अथवा शारीरिक व बौद्धिक शक्ति से तप आदि की साधना में कठिन श्रम करने से 'श्रमण' और परीषहों में निर्भय-अचल रहने से देवों द्वारा 'महावीर' नाम रखा गया।[3]

संगोपन और बालक्रीड़ा

महावीर का लालन-पालन राजपुत्रोचित सुसम्मान के साथ हुआ। इनकी सेवा-शुश्रूषा के लिए पांच परम दक्ष धाइयां नियुक्त की गईं, जो कि अपने-अपने कार्य को यथासमय विधिवत् संचालन करतीं। उनमें से एक का काम दूध पिलाना, दूसरी का स्नान-मंडन कराना, तीसरी का वस्त्रादि पहनाना, चौथी का क्रीड़ा कराना और पांचवीं का काम गोद में खिलाना था।

बालक महावीर की बालक्रीड़ाएं केवल मनोरंजक ही नहीं अपितु शिक्षाप्रद एवं बलवर्द्धक भी होती थीं। एक बार आप समवयस्क साथियों के साथ राजभवन के उद्यान में 'संकुली' नामक खेल खेल रहे थे। उस समय इनकी अवस्था आठ वर्ष के लगभग थी पर साहस और निर्भयता में कोई कमी नहीं थी।

---

[१] कल्पसूत्र, १०५।१०६ सूत्र। आचारांग भावनाध्ययन

[२] कल्पसूत्र, सूत्र १०३

[3] कल्पसूत्र, १०४

कुमार की निर्भयता देख कर एक बार देवपति शक्र ने देवों के समक्ष उनकी प्रशंसा करते हुए कहा – "भरत क्षेत्र में बालक महावीर बाल्यकाल में ही इतने साहसी और पराक्रमी हैं कि देव-दानव और मानव कोई भी उन्हें पराजित नहीं कर सकता।"

इन्द्र के इस कथन पर एक देव को विश्वास नहीं हुआ और वह परीक्षा के लिए महावीर के क्रीड़ा-प्रांगण में आया।

संकुली खेल की यह रीति है कि किसी वृक्ष-विशेष को लक्षित कर सभी क्रीड़ारत बालक उस ओर दौड़ते हैं। जो बालक सबसे पहले उस वृक्ष पर चढ़ कर उतर आता है वह विजयी माना जाता है और पराजित बालक के कन्धे पर सवार होकर वह उस स्थान तक जाता है जहां से कि दौड़ प्रारम्भ होती है।

परीक्षक देव विकट विषधर सर्प का रूप बना कर वृक्ष के तने पर लिपट गया और फूत्कार करने लगा। महावीर उस समय पेड़ पर चढ़े हुए थे। उस भयंकर सर्प को देखते ही सभी बालक डर के मारे इधर-उधर भागने लगे किन्तु महावीर तनिक भी विचलित नहीं हुए। उन्होंने भागने वाले साथियों से कहा – "तुम सब भागते क्यों हो ? यह छोटा सा प्राणी अपना क्या बिगाड़ने वाला है ? इसके तो केवल मुंह ही है, हम सब के पास तो दो हाथ, दो पैर, एक मुख, मस्तिष्क और बुद्धि आदि बहुत से साधन हैं। आओ, इसे पकड़ कर अभी दूर फेंक आयें।"

यह सुन कर सभी बच्चे एक साथ बोल उठे – "महावीर, भूल से भी इसको छूना नहीं, इसके काटने से आदमी मर जाता है।" ऐसा कह कर सब बच्चे वहां से भाग गये। महावीर ने निःशंक भाव से बायें हाथ से सर्प को पकड़ा और रज्जु की तरह उठा कर उसे एक ओर डाल दिया।[1]

महावीर द्वारा सर्प के हटाये जाने पर पुनः सभी बालक वहां चले आये और तिंदुसक खेल खेलने लगे। यह खेल दो-दो बालकों में खेला जाता है। दो बालक एक साथ लक्षित वृक्ष की ओर दौड़ते हैं और दोनों में से जो वृक्ष को पहले छू लेता है, उसे विजयी माना जाता है। इस खेल का नियम है कि विजयी बालक पराजित पर सवार होकर मूल स्थान पर आता है।[2] परीक्षार्थी देव भी बालक का रूप बना कर खेल की टोली में सम्मिलित हो गया और खेलने लगा। महावीर ने उसे दौड़ में पराजित कर वृक्ष को छू लिया। तब नियमानुसार पराजित बालक को सवारी के रूप में उपस्थित होना पड़ा। महावीर उस पर आरूढ़ होकर

---

[1] (क) चेडरूवेहिं समं सुंकलिकडएण अभिरमति।

[आ. चू., पृ. २४६ पूर्वभाग]

(ख) स्मित्वा रज्जुमिवोत्क्षिप्य, तं चिक्षेप क्षितौ विभुः। त्रि. पु. च, १०।२।१०७ श्लो.

[2] तस्स तेसु रुक्खेसु जो पढमं विलग्गति, जो पच्छं ओलुग्गति सो चेड रूवाणि वाहेति॥ आव० चू० भा० १, पत्र २४६

नियत स्थान पर आने लगे तो देव ने उनको भयभीत करने और अपहरण करने के लिए सात ताड़ के बराबर ऊंचा और भयावह शरीर बना कर डराना प्रारम्भ किया। इस अजीब दृश्य को देख कर सभी बालक घबरा गये परन्तु महावीर पूर्ववत् निर्भय चलते रहे। उन्होंने ज्ञान-बल से देखा कि यह कोई मायावी जीव हमसे वंचना करना चाहता है। ऐसा सोच कर उन्होंने उसकी पीठ पर साहसपूर्वक ऐसा मुष्टि-प्रहार किया कि देव उस आघात से चीख उठा और गेंद की तरह उसका फूला हुआ शरीर दब कर वामन हो गया।[1] उस देव का मिथ्याभिमान चूर-चूर हो गया। देव ने बालक महावीर से क्षमायाचना करते हुए कहा- "वर्द्धमान! इन्द्र ने जिस प्रकार आपके पराक्रम की प्रशंसा की वह अक्षरशः सत्य सिद्ध हुई। वास्तव में आप वीर ही नहीं, महावीर हैं।" इस प्रकार महावीर की वीरता, धीरता और सहिष्णुता बचपन से ही अनुपम थी।

तीर्थंकर का अतुल बल

भगवान् महावीर जन्म से ही अतुल बली थे। उनके बल की उपमा देते हुए कहा गया है कि—बारह सुभटों का बल एक वृषभ में, वृषभ से दश गुना बल एक अश्व में, अश्व से बारह गुना बल एक महिष में, महिष से पन्द्रह गुना बल एक गज में, पांच सौ गजों का बल एक केशरीसिंह में, दो हजार सिंहों का बल एक अष्टापद में, दश लाख अष्टापदों का बल एक बलदेव में, बलदेव से दुगुना बल एक वासुदेव में, वासुदेव से द्विगुणित बल एक चक्रवर्ती में, चक्रवर्ती से लाख गुना बल एक नागेन्द्र में, नागेन्द्र से करोड़ गुना बल एक इन्द्र में और इन्द्र से अनन्त गुना अधिक बल तीर्थंकर की एक कनिष्ठा अंगुली में होता है। सचमुच तीर्थंकर के बल की तुलना किसी से नहीं की जा सकती। उनका बल जन्म-जन्मान्तर की करणी से संचित होता है। उनका शारीरिक संहनन वज्र-ऋषभनाराच और संस्थान समचतुरस्र बताया गया है।

महावीर और कलाचार्य

महावीर जब आठ वर्ष के हुए तब माता-पिता ने शुभ मुहूर्त देख कर उनको अध्ययन के लिये कलाचार्य के पास भेजा। माता-पिता को उनके जन्मसिद्ध तीन ज्ञान और अलौकिक प्रतिभा का परिज्ञान नहीं था। उन्होंने परम्परानुसार पण्डित को प्रथम श्रीफल आदि भेंट किये और वर्द्धमान कुमार को सामने खड़ा किया। जब देवेन्द्र को पता चला कि महावीर को कलाचार्य के पास लेजाया जा रहा है तो उन्हें आश्चर्य हुआ कि तीन ज्ञानधारी को अल्पज्ञानी-जन क्या पढ़ायेगा।

---

[1] (क) स व्यरंसीद्वर्धनाम्न, यावत्तावन्महौजसा।
आहत्य मुष्टिना पृष्ठे, स्वामिना वामनीकृतः। त्रि. पु. च., १०।२।श्लो. २१७
(ख) आव. चू. १ भा., पृ. २४६

उसी समय वे निमेषार्ध में विद्या-गुरु और जनसाधारण को प्रभु की योग्यता का ज्ञान कराने के लिये एक वृद्ध ब्राह्मण के रूप में वहां प्रकट हुए और महावीर से व्याकरण सम्बन्धी अनेक जटिल प्रश्न पूछने लगे। महावीर द्वारा दिये गये युक्तिपूर्ण यथार्थ उत्तरों को सुन कर कलाचार्य सहित सभी उपस्थित जन चकित हो गये। पंडित ने भी अपनी कुछ शंकाएं बालक महावीर के सामने रखीं और उनका सम्यक् समाधान पा कर अवाक् रह गया।

जब पंडित बालक वर्द्धमान की ओर साश्चर्य देखने लगा तो वृद्ध ब्राह्मण रूपधारी इन्द्र ने कहा – "पंडितजी ! यह साधारण बालक नहीं, विद्या का सागर और सकल शास्त्रों का पारंगामी महापुरुष है।" जातिस्मरण और जन्म से तीन ज्ञान युक्त होने के कारण ये सब विद्याएं जानते हैं। वृद्ध ब्राह्मण ने महावीर के तत्कालीन प्रश्नोत्तरों का संग्रह कर 'ऐन्द्र व्याकरण' की रचना की।[1]

महाराज सिद्धार्थ और माता त्रिशला महावीर की इस असाधारण योग्यता को देख कर परम प्रसन्न हुए और बोले – "हमें पता नहीं था कि हमारा कुमार इस प्रकार का 'गुरूणां गुरुः' है।"

यशोदा से विवाह

बाल्यकाल पूर्ण कर जब वर्द्धमान युवावस्था में आये तब राजा सिद्धार्थ और रानी त्रिशला ने वर्द्धमान – महावीर के मित्रों के माध्यम से उनके सम्मुख विवाह की बात चलाई। राजकुमार महावीर भोग-जीवन जीना नहीं चाहते थे क्योंकि वे सहज-विरक्त थे। अतः पहले तो उन्होंने इस प्रस्ताव का विरोध किया और अपने मित्रों से कहा – 'प्रिय मित्रो ! तुम जो विवाह के लिये आग्रह कर रहे हो, वह मोह-वृद्धि का कारण होने से भव-भ्रमण का हेतु है। फिर भोग में रोग का भय भी भुलाने की वस्तु नहीं है। माता-पिता को मेरे वियोग का दुख न हो इस लिये दीक्षा लेने हेतु उत्सुक होते हुए भी मैं अब तक दीक्षा नहीं ले रहा हूं।"

जिस समय वर्द्धमान और उनके मित्रों में परस्पर इस प्रकार की बात हो ही रही थी कि माता त्रिशलादेवी वहां आ पहुंचीं। भगवान् ने खड़े होकर माता के प्रति आदर प्रदर्शित किया। माता त्रिशला ने कहा – "वर्द्धमान ! मैं जानती हूं कि तुम भोगों से विरक्त हो, फिर भी हमारी प्रबल इच्छा है कि तुम योग्य राज-कन्या से पाणिग्रहण करो।"

अन्ततोगत्वा माता-पिता के आग्रह के सामने महावीर को झुकना पड़ा

[1] अन्नया अधितअट्ठवासजाते.........तप्पभिति च णं ऐंद्रं व्याकरणं संवृत्तं,
[आवश्यक चूर्णि, भाग १, पृ० २४८]

और वसंतपुर के महासामन्त समरवीर की प्रिय पुत्री यशोदा[1] के साथ शुभ-मुहूर्त में उनका पाणिग्रहण सम्पन्न हुआ। सच है, भोगकर्म तीर्थंकर को भी नहीं छोड़ते।

गर्भकाल में ही माता के स्नेहाधिक्य को देख कर महावीर ने अभिग्रह कर रखा था कि जब तक माता-पिता जीवित रहेंगे, वे दीक्षा ग्रहण नहीं करेंगे। माता-पिता को प्रसन्न रखने के इस अभिग्रह के कारण ही महावीर को विवाह-बन्धन में बंधना पड़ा।

भगवान् महावीर के विवाह के सम्बन्ध में कुछ विद्वान् शंकाशील हैं। श्वेताम्बर परम्परा के आगम आचारांग, कल्पसूत्र और आवश्यक निर्युक्ति आदि सभी ग्रन्थों में विवाह की चर्चा है। पर दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में यह स्वीकृत नहीं है। माता-पिता का विवाह के लिये अत्याग्रह और विभिन्न राजाओं द्वारा अपनी कन्याओं के लिये प्रार्थना एवं जितशत्रु की पुत्री यशोदा के लिये सानुनय निवेदन उन ग्रन्थों में भी मिलता है। भगवान् महावीर विवाहित थे या नहीं, इस शंका का आधार शास्त्र में प्रयुक्त 'कुमार' शब्द है। उसका सही अर्थ समझ लेने पर समस्या का सरलता से समाधान हो सकता है। दोनों परम्पराओं में वासुपूज्य, मल्ली, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर इन पांच तीर्थंकरों को 'कुमार प्रव्रजित' कहा है। कुमार का अर्थ अकृत-राज्य और अविवाहित दोनों मान लिया जाय जैसा कि एकविंशतिस्थान प्रकरण[2] की टीका में लिखा है, तो सहज ही समाधान हो सकता है।

दिगम्बर परम्परा के तिलोयपन्नत्ती, हरिवंशपुराण और पद्मपुराण[3] में भी पांच तीर्थंकरों के कुमार रहने और शेष तीर्थंकरों के राज्य करने का उल्लेख मिलता है। लोक प्रकाश में स्पष्ट रूप से लिखा है कि मल्लिनाथ और नेमिनाथ के भोग-कर्म शेष नहीं थे अतः उन्होंने बिना विवाह किये ही दीक्षा ग्रहण की।[4]

---

१ उम्मुक्क बालभावो कमेण अह जोव्वणं अणुपत्तो।
भोगसमत्थं णाउं, अम्मापियरो उ वीरस्स। ७८
तिहि रिक्खम्मि पसत्थे, महन्त सामंत कुलप्पसूयाए।
कारेन्ति पाणिग्गहणं, जसोयवर रायकण्णाए। ७९
[आ० नि० भा०, पृ० २५६]

२ एकविंशतिस्थान प्रकरण में कहा है: 'वसुपुज्ज, मल्ली, नेमी, पासो, वीरो कुमार पव्वइया। रज्जं काउं सेसा, मल्ली नेमी अपरिणीया।' ३४। वासुपूज्य, मल्ली, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर कुमार अवस्था में प्रव्रजित हुए। शेष तीर्थंकरों ने राज्य किया। मल्लीनाथ और नेमिनाथ ये दो अविवाहित प्रव्रजित हुए।

३ कुमाराः निर्गता गेहात्, पृथिवीपतयोऽपरे ।। पद्म० पु०, २०।६७

४ अभोगफलकर्माणौ, मल्लिनेमिजिनेश्वरौ।
निरीयतुरनुद्वाहौ, कृतोद्वाहापरे जिनाः।१००४। लोक० प्रकाश, सर्ग ३२, पृष्ठ ५२४

'कुमार' शब्द का अर्थ, एकान्ततः कुंआरा-अविवाहित नहीं होता। कुमार का अर्थ युवराज, राजकुमार भी होता है।[१] इसी लिये आवश्यक निर्युक्ति दीपिका में 'न य इच्छिअभिसेया, कुमार वासंमि पव्वइया' अर्थात् राज्याभिषेक नहीं करने से कुमारवास में प्रव्रज्या लेना माना है।

मातापिता का स्वर्गवास

राजसी भोग के अनुकूल साधन पाकर भी ज्ञानवान् महावीर उनसे अलिप्त थे। वे संसार में रह कर भी कमलपत्र की तरह निर्लेप थे। उनके संसारवास का प्रमुख कारण था कृतकर्म का उदयभोग और बाह्य कारण था माता-पिता का अतुल स्नेह। महावीर के मातापिता भगवान् पार्श्वनाथ के श्रमणोपासक थे। बहुत वर्षों तक श्रावक-धर्म का परिपालन कर जब अन्तिम समय निकट समझा तो उन्होंने आत्मा की शुद्धि के लिए अर्हंत्, सिद्ध एवं आत्मा की साक्षी से कृत पाप के लिए पश्चात्ताप किया और दोषों से हट कर यथायोग्य प्रायश्चित्त स्वीकार किया तथा डाभ के संथारे पर बैठ कर चतुर्विध आहार का त्याग कर, संथारा ग्रहण किया और फिर अपश्चिम मरणान्तिक संलेखना से भूषित शरीर वाले काल के समय में काल कर अच्युत कल्प (बारहवें स्वर्ग) में देव रूप से उत्पन्न हुए।[२] वे स्वर्ग से च्युत हो महाविदेह में उत्पन्न होंगे और सिद्धि प्राप्त करेंगे।

त्याग की ओर

मातापिता के स्वर्गवासी हो जाने पर महावीर की गर्भकालीन प्रतिज्ञा पूर्ण हो गई। उस समय वे २८ वर्ष के थे। प्रतिज्ञा पूर्ण होने से उन्होंने अपने ज्येष्ठ भ्राता नन्दिवर्धन आदि स्वजनों के सम्मुख प्रव्रज्या की भावना व्यक्त की। किन्तु नन्दिवर्धन इस बात को सुन कर बहुत दुःखी हुए और बोले – "अभी माता-पिता के वियोगजन्य दुःख को तो हम भूल ही नहीं पाये कि इसी बीच तुम भी प्रव्रज्या की बात कहते हो। यह तो घाव पर नमक छिड़कने जैसा है। अतः कुछ काल के लिए ठहरो, फिर प्रव्रज्या लेना। तब तक हम शोकरहित हो जायं।"[३]

---

[१] (क) कुमारो युवराजेऽश्ववाहके वालके शुके। शब्दरत्न सम० कोष, पृ० २६८
(ख) युवराजः कुमारो भर्तृदारकः। अभि० चि०, काण्ड २, श्लोक २४६, पृ० १३६
(ग) कुमार–सन, बॉय, यूथ, ए बॉय बिलो फाइव, ए प्रिन्स। आप्टे संस्कृत, इंग्लिश डि०, पृ० ३६३।
(घ) युवराजस्तु कुमारो भर्तृदारकः ।। अमरकोष, कांड १, नाट्यवर्ग, श्लोक १२, पृ० ७५।

[२] समणस्सणं भगवओ महावीरस्स अम्मापियरो पासावच्चिज्जा, समणोवासगा यावि होत्था।.........अच्चुएकप्पे देवताए उववण्णा।......महाविदेहवासे चरिमेणं।
[आवश्यक चू., १ भा., पृ. २४६]

[३] अच्छह कंचिकालं, जाव अम्हे विसोगाणि जाताणि। आचा. २।१५। (भावना)

भगवान् ने अवधिज्ञान से देखा कि इन सब का इतना प्रबल स्नेह है कि इस समय मेरे प्रव्रजित होने पर ये सब भ्रान्तचित्त हो जायेंगे और कई तो प्राण भी छोड़ देंगे। ऐसा सोच कर उन्होंने कहा – "अच्छा, तो मुझे कब तक ठहरना होगा?" इस पर स्वजनों ने कहा – "कम से कम अभी दो वर्ष तक तो ठहरना ही चाहिए।" महावीर ने उन सब की बात मान ली और बोले – "इस अवधि में मैं आहारादि अपनी इच्छानुसार करूंगा।" स्वजनों ने भी सहर्ष यह बात स्वीकार की।

दो वर्ष से कुछ अधिक काल तक महावीर विरक्तभाव से घर में रहे, पर सचित्त जल और रात्रि-भोजन का उपयोग नहीं किया। ब्रह्मचर्य का भी पालन किया।[1] टीकाकार के उल्लेखानुसार महावीर ने इस अवधि में प्राणातिपात की तरह असत्य, कुशील और अदत्त आदि का भी परित्याग कर रखा था। वे पाद-प्रक्षालन आदि क्रियाएं भी अचित्त जल से ही करते थे। भूमि-शयन करते एवं क्रोधादि से रहित हो एकत्वभाव में लीन रहते।[2] इस प्रकार एक वर्ष तक वैराग्य की साधना कर प्रभु ने वर्षीदान प्रारम्भ किया। प्रतिदिन एक करोड़ आठ लाख स्वर्णमुद्राओं का दान करते हुए उन्होंने वर्ष भर में तीन अरब अठ्यासी करोड़ एवं अस्सी लाख स्वर्णमुद्राओं का दान किया।

तीस वर्ष की आयु होने पर ज्ञात-पुत्र महावीर की भावना सफल हुई। उस समय लोकान्तिक देव अपनी नियत मर्यादा के अनुसार आये और महावीर को निम्न प्रकार से निवेदन करने लगे – "भगवन्! दीक्षा ग्रहण कर समस्त जीवों के हितार्थ धर्मतीर्थ का प्रवर्तन कीजिये।"

भगवान् महावीर ने भी अपने ज्येष्ठ भ्राता नन्दिवर्धन और चाचा सुपार्श्व आदि की अनुमति प्राप्त कर दीक्षा की तैयारी की। नन्दिवर्धन ने भगवान् के निष्क्रमण की तैयारी के लिए अपने कौटुम्बिक पुरुषों को आदेश दिया – "एक हजार आठ सुवर्ण, रूप्य आदि के कलश तैयार करो।"

आचारांग के अनुसार श्रमण भगवान् महावीर के अभिनिष्क्रमण के अभिप्राय को जान कर चार प्रकार के देव और देवियों के समूह अपने-अपने विमानों से सम्पूर्ण ऋद्धि और कान्ति के साथ आये और उत्तर क्षत्रियकुण्ड सन्निवेश में उतरे। वहां उन्होंने वैक्रियशक्ति से सिंहासन की रचना की। सबने मिल कर महावीर को सिंहासन पर पूर्वाभिमुख बैठाया। उन्होंने शतपाक एवं सहस्रपाक

---

[1] (क) अविसाहिए दुवेवासे सीतोदगमभोच्चा णिक्खंते, अफासुगं आहारं राइभत्तं च अणाहारेंतो अविसाहिए दुते वासे, सीतोदं अभोच्चा णिक्खंते [आव. चूर्णि, पृ. २४६]

(ख) आचा., प्र. ६, अ. ११.।

[2] (क) आचा. प्र. टीका, पृ. २७५। समिति

(ख) वंभयारी असंजमवावाररहितो ठिओ, ण य फासुगेण विण्हातो, हत्थपादसोयणं तु फासुगेणं आयमणं च।......णाय बंधवेहिंवि अतिणेहं कतवं। आव. चू. १, पृ. २४६

तेल से महावीर का अभ्यंगन किया और स्वच्छ जल से मज्जन कराया। गन्ध-काषाय वस्त्र से शरीर पोंछा और गौशीर्ष चन्दन का लेपन किया। भार में हल्के और मूल्यवान् वस्त्र एवं आभूषण पहनाये। कल्पवृक्ष की तरह समलंकृत कर देवों ने वर्द्धमान (महावीर) को चन्द्रप्रभा नामक शिविका में आरूढ़ किया। मनुष्यों, इन्द्रों और देवों ने मिल कर शिविका को उठाया।

राजा नंदिवर्धन गजारूढ़ हो चतुरंगिणी सेना के साथ भगवान् महावीर के पीछे-पीछे चल रहे थे। प्रभु की पालकी के आगे घोड़े, दोनों ओर हाथी और पीछे रथ चल रहे थे।

इस प्रकार विशाल जन-समूह से घिरे प्रभु क्षत्रियकुण्ड ग्राम के मध्यभाग से होते हुए ज्ञातृ-खण्ड-उद्यान में आये और अशोक वृक्ष के नीचे शिविका से उतरे। आभूषणों एवं वस्त्रों को हटा कर प्रभु ने अपने हाथ से पंच-मुष्टि लोच किया। वैश्रमण देव ने हंस के समान श्वेत वस्त्र में महावीर के वस्त्रालंकार ग्रहण किये। शक्रेन्द्र ने विनयपूर्वक वज्रमय थाल में प्रभु के लुंचित केश ग्रहण किये तथा "अनुजानासि" कह कर तत्काल क्षीरसागर में उनका विसर्जन किया।

दीक्षा

उस समय हेमन्त ऋतु का प्रथम मास, मृगशिर कृष्णा दशमी तिथि का समय, सुव्रत दिवस, विजय नामक मुहूर्त और चतुर्थ प्रहर में उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र था। ऐसे शुभ समय में निर्जल वेले की तपस्या से प्रभु ने दीक्षा ग्रहण की। शक्रेन्द्र के आदेश से दीक्षा प्रसंग पर बजने वाले वाद्य भी बन्द हो गये और सर्वत्र शान्ति छा गई।[1]

प्रभु ने देव-मनुष्यों की विशाल परिषद् के समक्ष सिद्धों को नमस्कार करते हुए यह प्रतिज्ञा की – "सव्वं मे अकरणिज्जं पावं कम्मं"। अब से मेरे लिए सब पाप-कर्म अकरणीय हैं अर्थात् मैं इसके बाद किसी भी प्रकार के पाप-कार्य में प्रवृत्ति नहीं करूंगा। यह कहते हुए प्रभु ने सामायिक चारित्र स्वीकार किया। उन्होंने प्रतिज्ञा की – "करेमि सामाइयं सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि"। आज से सम्पूर्ण सावद्यकर्म का तीन करण और तीन योग से त्याग करता हूं।"

जिस समय प्रभु ने यह प्रतिज्ञा स्वीकार की उस समय देव-मनुष्यों की सम्पूर्ण परिषद् चित्रलिखित सी रह गई। सभी देव और मनुष्य शान्त एवं निर्निमेष-नेत्रों से उस नयनाभिराम दृश्य को देख रहे थे जो राग पर त्याग की विजय के रूप में उन सबके सामने प्रत्यक्ष था।

महावीर के सामने सुख-साधनों की कोई कमी नहीं थी और न कमी थी चाहने वालों की, प्यार और सत्कार करने वालों की, फिर भी सब कुछ ठुकरा

[1] (क) 'दिव्वो मणुस्सघोसो, तुरियणिणाओ य सक्कवयणेणं।'
खिप्पामेव णिलुक्को, जाहे पडिवज्जइ चरित्तं।१। आचा. भा.।
(ख) आवश्यक चूर्णि, प्रथम भाग, पृ० २६२

कर वे साधना के कंटकाकीर्ण पथ पर बढ़ चले। चारित्र ग्रहण करते ही भगवान् को मनःपर्यवज्ञान हो गया। इससे ढाई द्वीप और दो समुद्र तक के समनस्क प्राणियों के मनोगत भावों को महावीर जानने लगे।

महावीर का अभिग्रह और विहार

सबको विदा कर प्रभु ने निम्न अभिग्रह धारण किया :-

"आज से साढ़े बारह वर्ष पर्यंत, जब तक केवलज्ञान उत्पन्न न हो तब तक मैं देह की ममता छोड़ कर रहूंगा अर्थात् इस बीच में देव, मनुष्य या तिर्यंच जीवों की ओर से जो भी उपसर्ग-कष्ट उत्पन्न होंगे, उनको समभावपूर्वक सम्यक्-रूपेण सहन करूंगा।[1] अभिग्रह ग्रहण के पश्चात् उन्होंने ज्ञातखण्ड उद्यान से विहार किया। उस समय वहां उपस्थित सारा जनसमूह जाते हुए प्रभु को तब तक देखता रहा जब तक कि वे उसकी आंखों से ओझल नहीं हो गये। भगवान् संध्या के समय मुहूर्त भर दिन शेष रहते कूर्मारग्राम पहुंचे,[2] तथा वहां ध्याना-वस्थित हो गये।

कई आचार्यों की मान्यता है कि साधना मार्ग में प्रविष्ट होकर जब भगवान् ने विहार किया तो मार्ग में एक वृद्ध ब्राह्मण मिला जो वर्षीदान के समय नहीं पहुंच सका था। कुछ न कुछ मिलेगा, इस आशा से वह भगवान् के पास पहुंचा। भगवान् ने उसकी करुणाजनक स्थिति देख कर कंधे पर रखे हुए देवदूष्य वस्त्र में से आधा फाड़ कर उसको दे दिया। कल्पसूत्र मूल या अन्य किसी शास्त्र में इसका उल्लेख नहीं मिलता। आचारांग और कल्पसूत्र में १३ मास के बाद देवदूष्य का गिरना लिखा है, पर आधा ब्राह्मण को देने का उल्लेख नहीं है। चूर्णि, टीका आदि में ब्राह्मण को आधा देवदूष्य वस्त्र देने का उल्लेख अवश्य मिलता है।

प्रथम उपसर्ग और प्रथम पारणा

जिस समय भगवान् कुर्मारग्राम के बाहर स्थाणु की तरह अचल ध्यानस्थ खड़े थे, उस समय एक ग्वाला अपने बैलों सहित वहां आया। उसने महावीर के पास बैलों को चरने के लिये छोड़ दिया और गाय दूहने के लिये स्वयं पास के गांव में चला गया। पशु-स्वभाव से बैल चरते-चरते वहां से बहुत दूर कहीं निकल गये। कुछ समय बाद जब ग्वाला लौटकर वहां आया तो बैलों को वहां नहीं देख कर उसने पास में खड़े महावीर से पूछा – 'कहो, हमारे बैल कहां गये?' ध्यानस्थ महावीर की ओर से कोई उत्तर नहीं मिलने पर वह स्वयं उन्हें ढूंढने

---

[1] बारस वासाइं वोसट्ठकाए चियत्त देहे जे केई उवसग्गा समुप्पज्जंति, तं जहा, दिव्वा वा, माणुस्सा वा, तेरिच्छिया वा, ते सव्वे उवसग्गे समुप्पणे, समाणे सम्मं सहिस्सामि, खमिस्सामि, अहियासिस्सामि ।। आचा०, श्रु० २, अ० २३, पत्र ३९१।

[2] तओ णं समणस्स भगवओ...... दिवसे मुहुत्तसेसे कुमारगामं समणुपत्ते। [आचारांग भावना]

के लिये जंगल की ओर चला गया। संयोगवश सारी रात खोजने पर भी उसे बैल नहीं मिले।

कालान्तर में बैल यथेच्छ चर कर पुनः महावीर के पास आकर बैठ गये। बैल नहीं मिलने से उद्विग्न ग्वाला प्रातःकाल वापिस महावीर के पास आया और अपने बैलों को वहां बैठे देख कर आगबबूला हो उठा। उसने सोचा कि निश्चय ही इसने रात भर बैलों को कहीं छुपा रखा था। इस तरह महावीर को चोर समझ कर वह उन्हें बैल बांधने की रस्सी से मारने दौड़ा।

इन्द्र जो भगवान् की प्राथमिकचर्या को जानना चाहता था, उसने जब यह देखा कि ग्वाला भगवान् पर प्रहार करने के लिये झपट रहा है तो वह भगवान् की रक्षार्थ निमेषार्ध में ही वहां आ पहुंचा। ग्वाले के उठे हुए हाथ दैवी प्रभाव से उठे के उठे ही रह गये। इन्द्र ने ग्वाले के सामने प्रकट हो कर कहा – "ओ मूर्ख! तू यह क्या कर रहा है? क्या तू नहीं जानता कि ये महाराज सिद्धार्थ के पुत्र वर्द्धमान राजकुमार हैं? आत्मकल्याण के साथ जगत् का कल्याण करने हेतु दीक्षा धारण कर साधना में लीन हैं।"[1]

इस घटना के बाद इन्द्र भगवान् से अपनी सेवा लेने की प्रार्थना करने लगा। परन्तु प्रभु ने कहा – 'अर्हन्त केवलज्ञान और सिद्धि प्राप्त करने में किसी की सहायता नहीं लेते जिनेन्द्र अपने बल से ही केवलज्ञान प्राप्त करते हैं।" फिर भी इन्द्र ने अपने संतोषार्थ मारणान्तिक उपसर्ग टालने के लिये सिद्धार्थ नामक व्यन्तर देव को प्रभु की सेवा में नियुक्त किया और स्वयं भगवान् को वन्दन कर चला गया।[2]

दूसरे दिन भगवान् वहां से विहार कर कोल्लाग सन्निवेश में आये और वहां वहुल नाम के ब्राह्मण के घर घी और शक्कर से मिश्रित परमान्न (खीर) से छट्ठ तप का प्रथम पारणा किया।[3] 'अहो दानमहो दानम्' के दिव्यघोष के साथ देवगण ने नभमण्डल से पंच-दिव्यों की वर्षा कर दान की महिमा प्रकट की।

भगवान् महावीर की साधना

आचारांगसूत्र और कल्पसूत्र में महावीर की साधना का वहुत विस्तृत वर्णन करते हुए लिखा गया है कि दीक्षित होकर महावीर ने अपने पास देवदूष्य

---

[1] त्रि० श० पु० च०, १०।३।१७ से २६ श्लो०

[2] (क) आव०चू० १, पृ० २७०। सक्को पडिगतो, सिद्धत्थठितो।
(ख) नापेक्षां चक्रिरे ऽर्हन्तः पर साहायिकं क्वचित्। २६
केवलं केवलज्ञानं, प्राप्नुवन्ति स्ववीर्यतः।
स्ववीर्येणैव गच्छन्ति, जिनेन्द्राः परमं पदम्। ३१।
त्रि० श० पु० च०, १०।३।२६ से ३३।

[3] (क) आचारांग द्वितीय भावना॥
(ख) वीय दिवसे छट्ठ पाल्लणए कोल्लाए सन्निवेसे घयमहुसंजुत्तेणं परमन्नेणं बहुलेण माहणेण पडिलाभितो, पंच दिव्या। आव चू०, २७० पृ०।

वस्त्र के अतिरिक्त कुछ नहीं रखा। लगभग तेरह मास तक वह वस्त्र भगवान् के कंधे पर रहा। तत्पश्चात् उस वस्त्र के गिर जाने से वे पूर्णरूपेण अचेल हो गये।

अपने साधनाकाल में वे कभी निर्जन झोंपड़ी, कभी कुटिया, कभी धर्मशाला या प्याऊ में निवास करते थे। शीतकाल में भयंकर से भयंकर ठंड पड़ने पर भी वे कभी बाहुओं को नहीं समेटते थे। वे नितान्त सहज मुद्रा में दोनों हाथ फैलाये विचरते रहे। शिशिरकाल में जब जोर-जोर से सन् सनाता हुआ पवन चलता, कड़कड़ाती सर्दी जब शरीर को ठिठुरा कर असह्य पीड़ा पहुंचाती, उस समय दूसरे साधक शीत से बचने हेतु गर्म स्थान की गवेषणा करते, गर्म वस्त्र बदन पर लपेटते और तापस आग जला कर सर्दी भगाने का प्रयत्न करते परन्तु श्रमण भगवान् महावीर ऐसे समय में भी खुले स्थान में नंगे खड़े रहते और सर्दी से बचाव की इच्छा तक भी नहीं करते।[1]

खुले शरीर होने के कारण सर्दी-गर्मी के अतिरिक्त उनको दंश-मशक आदि के कष्ट एवं कई विविध कोमल तथा कठोर स्पर्श भी सहन करने पड़ते। निवास-प्रसंग में भी जो प्रायः शून्य स्थानों में होता, प्रभु को विविध उपसर्गों का सामना करना पड़ता। कभी सर्पादि विषैले जन्तु और काक, गीध आदि तीक्ष्ण चञ्चु वाले पक्षियों के प्रहार भी सहन करने पड़ते।

कभी-कभी साधनाकाल में दुष्ट लोग उन्हें चोर समझ कर उन पर शस्त्रों से प्रहार करते, एकान्त में पीटते और अत्यधिक तिरस्कार करते। कामातुर नारियां उन्हें भोग-भावना से विमुख देख विविध उपसर्ग देतीं किन्तु उन सारी बाधाओं और उपसर्गों के बीच भी प्रभु समभाव से अचल, शान्त और समाधिस्थ रहते, कभी किसी प्रकार से मन में उद्वेग नहीं लाते और रात-दिन समाधिभाव से ध्यान करते रहते। जहां भी कोई स्थान छोड़ने के लिये कहता, सहर्ष वहां से हट जाते थे। साधनाकाल में महावीर ने प्रायः कभी नींद नहीं ली, दर्शनावरणीय कर्म के उदय से जब उन्हें निद्रा सताती तो वे खड़े हो जाते अथवा रात्रि में कुछ समय चंक्रमण कर नींद को भगा देते थे। इस प्रकार प्रतिक्षण, प्रतिपल जागृत रह कर वे निरन्तर ध्यान, चिन्तन और कायोत्सर्ग में रमण करते।

विहार के प्रसंग में प्रभु कभी अगल-बगल या मुड़ कर पीछे की ओर नहीं देखते थे। मार्ग में वे किसी से बोलते नहीं थे। क्षुधा-शान्ति के लिये वे कभी आधाकर्मी या अन्य सदोष आहार ग्रहण नहीं करते थे। लाभालाभ में समभाव रखते हुए वे घर-घर भिक्षाचर्या करते। महल-झोंपड़ी या सधन-निर्धन का उनकी भिक्षाचर्या में कोई भेद-भाव नहीं होता था। साथ ही आहार के लिये वे कभी किसी के आगे दीन-भाव भी नहीं दिखाते। सुस्वादु पदार्थों की आकांक्षा नहीं करते हुए अवसर पर जो भी रूखा-सूखा ठंडा-बासी, उड़द, सूखा भात,

[1] आ० प्र०, ९।१।४५

मंथु-बोर की कुट्टी आदि आहार मिल जाता उसे वे निस्पृह भाव से ग्रहण कर लेते।[1]

शरीर के प्रति महावीर की निर्मोहभावना बड़ी आश्चर्यमयी थी। वे न सिर्फ शीतातप की ही उपेक्षा करते बल्कि रोग उत्पन्न होने पर भी कभी औषध-सेवन नहीं करते। आंख में रज-कण आदि के पड़ जाने पर भी वे उसे निकालने की इच्छा नहीं रखते थे। कारणवश शरीर खुजलाने तक का भी वे प्रयत्न नहीं करते थे। इस तरह देह के ममत्व से अत्यन्त ऊपर उठ कर वे सदेह होते हुए भी विदेहवत् प्रतीत होते थे।

दीक्षा के समय जो दिव्य सुगन्धित वस्त्र और विलेपन उनके शरीर पर थे, उनकी उत्कट सुवास-सुगन्ध से आकृष्ट होकर चार मास तक भ्रमर आदि सुरभिप्रेमी कीट उनके शरीर पर मंडराते रहे और अपने तीक्ष्ण दंश से पीड़ा पहुंचाते रहे, मांस को नोचते रहे, कीड़े शरीर का रक्त पीते रहे, पर महावीर ने कभी उफ् तक नहीं किया और न उनका निवारण ही किया। वस्तुतः साधना की ऐसी अनुपम सहिष्णुता का उदाहरण अन्यत्र दुर्लभ है।

साधना का प्रथम वर्ष

'कोल्लाग' सन्निवेश से विहार कर भगवान् महावीर 'मोराक' सन्निवेश पधारे। वहां 'दूइज्जंतक' नाम के पाषंडस्थों के आश्रम का कुलपति महाराज सिद्धार्थ का मित्र था। महावीर को आते देख कर वह स्वागतार्थ सामने आया और उनसे वहां ठहरने की प्रार्थना करने लगा। उसकी प्रार्थना को मान देकर महावीर ने रात्रिपर्यन्त वहां रहना स्वीकार किया।[1]

दूसरे दिन जब महावीर वहां से प्रस्थान करने लगे तो कुलपति ने भावपूर्ण आग्रह के साथ कहा – "यह आश्रम दूसरे का नहीं, आपका ही है, अतः वर्षाकाल में यहीं रहें तो बहुत अच्छा रहेगा।" कुलपति की प्रार्थना को स्वीकार करते हुए भगवान् कुछ समय के लिये आसपास के ग्रामों में घूम कर पुनः वर्षावास के लिये वहीं आ गये और एक पर्णकुटी में रहने लगे।

महावीर के हृदय में प्राणिमात्र के लिये मैत्री-भावना थी। किसी का कष्ट देख कर उनका मन दया से द्रवित हो जाता था। यथासंभव, किसी को किसी प्रकार का कष्ट न होने देना, यह उनका अटल संकल्प था। संयोगवश उस वर्ष पर्याप्त रूप से वर्षा नहीं होने के कारण कृषि तो दरकिनार घास, दूब,

---

[1] अविसूइयं वा, सुक्कं वा सीयपिंडं पुराण कुम्मासं। अदुबुक्कसं पुलागं वा,
[आचारांग भा० ४]

[1] (क) ताहे सामी विहरमाणो गतो मोरागं सन्निवेसं, तत्थ दूइज्जंतगाणाम पासंडत्था...
आव. चू. उपोद्घात नि., पृ० २७१

(ख) अन्यदा विहरन् स्वामी मोराकं सन्निवेशने।
[त्रि. श. पु. च., १०।३।४९ से]

वल्लरी, पत्ते आदि भी बराबर अंकुरित नहीं हुए। परिणामतः भूखों मरती गायें आश्रम की झोंपड़ियों के तृण खाने लगीं। अन्यान्य कुटियों में रहने वाले परिव्राजक गायों को भगा कर अपनी-अपनी झोंपड़ी की रक्षा करते, पर महावीर सम्पूर्ण सावद्य कर्म के त्यागी और निस्पृह होने के कारण सहज भाव से ध्यान में खड़े रहे। उनके मन में न कुलपति पर राग था और न गायों पर द्वेष। वे पूर्ण निर्मोही थे। किसी को पीड़ा पहुंचाना उनके साधु-हृदय को स्वीकार नहीं हुआ। अतः वे इन बातों की ओर ध्यान न देकर रात-दिन अपने ध्यान में ही निमग्न रहे।

जब दूसरे तापसों ने कुलपति से कुटी की रक्षा न करने के सम्बन्ध में महावीर की शिकायत की तो मधुर उपालंभ देते हुए कुलपति ने महावीर से कहा – "कुमार! ऐसी उदासीनता किस काम की? अपने घोंसले की रक्षा तो पक्षी भी करता है, फिर आप तो क्षत्रिय राजकुमार हैं। क्या आप अपनी झोंपड़ी भी नहीं संभाल सकते?" महावीर को कुलपति की बात नहीं जंची। उन्होंने सोचा- "मेरे यहां रहने से आश्रमवासियों को कष्ट होता है, कुटी की रक्षा का प्रश्न तो एक बहानामात्र है। सचेतन प्राणियों की रक्षा को भुला कर क्या मैं अचेतन कुटी के संरक्षण के लिए ही साधु बना हूँ? महल छोड़ कर पर्णकुटीर में बसने का क्या मेरा यही उद्देश्य है कि आपद्ग्रस्त जीवों को जीने में बाधा दूं? और ऐसा न कर सकूं तो अकर्मण्य तथा अनुपयोगी सिद्ध होऊं। मुझे अब यहां नहीं रहना चाहिये।" ऐसा सोच कर उन्होंने वर्षाऋतु के पन्द्रह दिन बीत जाने पर वहां से विहार कर दिया। उस समय प्रभु ने पांच प्रतिज्ञाएं[1] ग्रहण कीं। यथा:-

(१) अप्रीतिकारक स्थान में कभी नहीं रहूँगा।
(२) सदा ध्यान में ही रहूँगा।
(३) मौन रखूंगा, किसी से नहीं बोलूंगा।
(४) हाथ में ही भोजन करूंगा। और
(५) गृहस्थों का कभी विनय नहीं करूंगा।

मूल शास्त्र में इन प्रतिज्ञाओं का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। परम्परा से प्रत्येक तीर्थंकर छद्मस्थकाल तक प्रायः मौन माने गये हैं। आचारांग के अनुसार महावीर ने कभी परपात्र में भोजन नहीं किया।[2] परन्तु मलयगिरी ने प्रतिज्ञा से

---

[1] (क) इमेण तेण पंच अभिग्गहा गहिया.......
[आ. मलय नि., पत्र २६८ (१)]

(ख) इमेथ तेण पंच अभिग्गहा गहिता......
[आवश्यक चू., पृ० २७१]

(ग) नाप्रीतिमद् गृहे वासः, स्थेयं प्रतिमया सह।
न गेहिविनयं कार्यो, मौनं पाणौ च भोजनम्॥
[कल्पसूत्र सुबोधा०, पृ० २८८]

[2] नो सेवई य परवत्थं, परपाए वि से न भुंजित्था
[आचा., १।९।१, गा० १९]

पूर्व भगवान् का गृहस्थ के पात्र में आहार ग्रहण करना स्वीकार किया है।[1] यह शास्त्रीय परम्परा से विचारणीय है।

अस्थिग्राम में यक्ष का उपद्रव

आश्रम से विहार कर महावीर अस्थिग्राम की ओर चल पड़े। वहां पहुँचते-पहुँचते उनको संध्या का समय हो गया। वहां प्रभु ने एकान्त स्थान की खोज करते हुए नगर के बाहर शूलपाणि यक्ष के यक्षायतन में ठहरने की अनुमति ली। उस समय ग्रामवासियों ने कहा – "महाराज! यहां एक यक्ष रहता है, जो स्वभाव से क्रूर है। रात्रि में वह यहां किसी को नहीं रहने देता। अतः आप कहीं अन्य स्थान में जाकर ठहरें तो अच्छा रहेगा। पर भगवान् ने परीषह सहने और यक्ष को प्रतिबोध देने के लिए वहीं ठहरना स्वीकार किया। भगवान् वहां एक कोने में ध्यानावस्थित हो गये।[2]

संध्या के समय पूजा के लिए पुजारी इन्द्रशर्मा यक्षायतन में आया। उसने पूजा के बाद सब यात्रियों को वहां से बाहर निकाला और महावीर से भी बाहर जाने को कहा किन्तु वे मौन थे। इन्द्रशर्मा ने वहां होने वाले यक्ष के भयंकर उत्पात की सूचना दी फिर भी महावीर वहीं स्थिर रहे। आखिर इन्द्रशर्मा वहां से चला गया।

रात्रि में अंधकार होने के पश्चात् यक्ष प्रकट हुआ। भगवान् को ध्यानस्थ देख कर वह बोला – "विदित होता है, लोगों के निषेध करने पर भी यह नहीं माना। संभवतः इसे मेरे पराक्रम का पता नहीं है।" इस विचार से उसने भयंकर अट्टहास किया जिससे सारा वन-प्रदेश कांप उठा। किन्तु महावीर सुमेरु की तरह अडोल बने रहे। उसने हाथी का रूप बना कर महावीर को दांतों से बुरी तरह गोदा और उन्हें पैरों से रौंदा फिर भी प्रभु चलायमान नहीं हुए। तब पिशाच का रूप बना कर उसने तीक्ष्ण नखों व दांतों से महावीर के शरीर को नोचा, सर्प बन कर डसा फिर भी महावीर ध्यान में स्थिर रहे। बाद में उसने महावीर के आंख, कान, नासिका, शिर, दांत, नख और पीठ इन सात स्थानों में ऐसी भयंकर वेदना उत्पन्न की[3] कि साधारण प्राणी तो छटपटा कर तत्काल प्राण ही छोड़ दे। पर महावीर सभी प्रकार के कष्टों को शान्त भाव से सहते

---

[1] (क) प्रथमं पारणकं गृहस्थपात्रे बभूव, ततः पाणिपात्रभोजिना मया भवितव्यमित्यभिग्रहो गृहीतः।

[आव. म. टी., प. २६८ (२)]

(ख) भगवया पढ़म पारणगे परपत्तंमि भुत्तं ।।महावीर चरियं।।

[2] अथ ग्राम्यैरनुज्ञातो, बोधार्हं व्यन्तरं विदन् । तदायतनैककोणे, तस्थौ प्रतिमया प्रभुः ।

[त्रि. श. पु. च., १०।३।२१७]

[3] खोभेउं ताहे पभायसमए सत्तविहं वेयणं करेति।

[आव. चू. १ भाग, पृ० २७४]

रहे। परिणामस्वरूप यक्ष हार कर प्रभु के चरणों में गिर पड़ा और अपने अपराध के लिए क्षमा मांगते हुए[1] प्रणाम कर वहां से चला गया। रात्रि के अन्त में उसके उपसर्ग बन्द हुए।

निद्रा और स्वप्न-दर्शन

मुहूर्त भर रात्रि शेष रहते-रहते महावीर को क्षण भर के लिए निद्रा आई। प्रभु के साधनाकाल में यह प्रथम तथा अन्तिम निद्रावस्था थी। इस समय प्रभु ने निम्नलिखित दश स्वप्न देखे :—

(१) एक ताड़-पिशाच को अपने हाथों पछाड़ते देखा।
(२) श्वेत पुंस्कोकिल उनकी सेवा में उपस्थित है।
(३) विचित्र वर्ण वाला पुंस्कोकिल सामने देखा।
(४) देदीप्यमान दो रत्नमालाएं देखीं।
(५) एक श्वेत गौवर्ग सम्मुख खड़ा देखा।
(६) विकसित पद्म-सरोवर देखा।
(७) अपनी भुजाओं से महासमुद्र को तैरते हुए अपने आपको देखा।
(८) विश्व को प्रकाशित करते हुए सहस्र-किरण-सूर्य को देखा।
(९) वैदूर्य-वर्ण सी अपनी आंतों से मानुषोत्तर पर्वत को वेष्टित करते देखा।
(१०) अपने आपको मेरु पर आरोहण करते देखा।

स्वप्न-दर्शन के बाद तत्काल भगवान् की निद्रा खुल गई, क्योंकि निद्रा-ग्रहण के समय भगवान् खड़े ही थे। उन्होंने निद्रावरोध के लिए निरन्तर योग का मोर्चा लगा रखा था, फिर भी उदय के जोर से क्षण भर के लिए निद्रा आ ही गई। साधनाकालीन यह प्रथम प्रसंग था जब क्षण भर भगवान् को नींद आई।[2] यह भगवान् के जीवनकाल की अन्तिम निद्रा थी।

निमित्तज्ञ द्वारा स्वप्न-फल कथन

उस गांव में उत्पल नाम का एक निमित्तज्ञ रहता था। वह पहले भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा का श्रमण था किन्तु संयोगवश श्रमण-जीवन से च्युत हो गया। उसने जब भगवान् महावीर के यक्षायतन में ठहरने की बात सुनी तो अनिष्ट की आशंका से उसका हृदय हिल उठा।

---

[1] चक्रे सर्पे सुधाभूते, भूतराट् सप्तवेदनाः।.........
एकापि वेदना मृत्युकारणं प्राकृते नरे।
अधिसेहे तु ताःस्वामी, सप्ताऽपियुगपद्भवाः।
[त्रि. श. पु. च., १०।३।१३१ से]

[2] (क) तत्थ सामी देसूणे चत्तारि जामे अतीव परितावितो,
पभायकाले मुहूत्तमेत्तं निद्दापमायं गतो।
[आव. म., प० २७०।१]

प्रातःकाल वह भी पुजारी के साथ यक्षायतन में पहुँचा। वहां पर उसने भगवान् को ध्यानावस्था में अविचल खड़े देखा तो उसके आश्चर्य और आनन्द की सीमा न रही। उसने रात में देखे हुए स्वप्नों के फल के सम्बन्ध में प्रभु से निम्न विचार व्यक्त किये :—

(१) पिशाच को मारने का फल :— आप मोह कर्म का अन्त करेंगे।
(२) श्वेत कोकिल-दर्शन का फल :— आपको शुक्लध्यान प्राप्त होगा।
(३) विचित्र कोकिल-दर्शन से आप विविध ज्ञान रूप श्रुत की देशना करेंगे।
(४) देदीप्यमान दो रत्नमालाएं देखने के स्वप्न का फल निमित्तज्ञ नहीं जान सका।
(५) श्वेत गौवर्ग देखने से आप चतुर्विध संघ की स्थापना करेंगे।
(६) पद्म-सरोवर विकसित देखने से चार प्रकार के देव आपकी सेवा करेंगे।
(७) समुद्र को तैर कर पार करने से आप संसार-सागर को पार करेंगे।
(८) उदीयमान सूर्य को विश्व में आलोक करते देखा। इससे आप केवलज्ञान प्राप्त करेंगे।
(९) आंतों से मानुषोत्तर पर्वत वेष्टित करने से आपकी कीर्ति सारे मनुष्य लोक में फैलेगी।
(१०) मेरु-पर्वत पर चढ़ने से आप सिंहासनारूढ़ होकर लोक में धर्मोपदेश करेंगे।

चौथे स्वप्न का फल निमित्तज्ञ नहीं जान सका, इसका फल भगवान् ने स्वयं बताया— "दो रत्नमालाओं को देखने का फल यह है कि मैं दो प्रकार के धर्म, साधु धर्म और श्रावक धर्म का कथन करूंगा।" भगवान् के वचनों को सुनकर निमित्तज्ञ अत्यन्त प्रसन्न हुआ।

अस्थिग्राम के इस वर्षाकाल में फिर भगवान् को किसी प्रकार का उपसर्ग प्राप्त नहीं हुआ। उन्होंने शान्तिपूर्वक पन्द्रह-पन्द्रह दिन के उपवास आठ बार किये। इस प्रकार यह प्रथम वर्षावास शान्तिपूर्वक सम्पन्न हुआ।[1]

साधना का दूसरा वर्ष

अस्थिग्राम का वर्षाकाल समाप्त कर मार्गशीर्ष कृष्णा प्रतिपदा को भगवान् ने मोराक सन्निवेश की ओर विहार किया। मोराक पधार कर आप एक उद्यान में विराजे। वहां अच्छंदक नाम का एक अन्यतीर्थी पाषंडी रहता था जो ज्योतिष से अपनी जीविका चलाता था।

[1] आव० चू०, पृ० २७४-२७५

सिद्धार्थ देव ने प्रभु की महिमा बढ़ाने के लिए मोराक ग्राम के अधिकारी से कहा – "यह देवार्य तीन ज्ञान के धारक होने के कारण भूत, भविष्यत् और वर्तमान की सब बातें जानते हैं।"

सिद्धार्थ देव की यह बात सब जगह फैल गई और लोग बड़ी संख्या में उस उद्यान में आने लगे जहां पर कि प्रभु ध्यान में तल्लीन थे। सिद्धार्थ आये हुए लोगों को उनके भूत-भविष्यत् काल की बातें बताता। उससे लोग बड़े प्रभावित हुए और इसके परिणामस्वरूप सिद्धार्थ देव सदा लोगों से घिरा रहता।

उन लोगों में से किसी ने सिद्धार्थ देव से कहा – "यहां अच्छंदक नामक एक अच्छा ज्योतिषी रहता है।" इस पर सिद्धार्थ देव ने उत्तर दिया – "वह कुछ भी नहीं जानता। वास्तव में देवार्य ही भूत, भविष्यत् और वर्तमान के सच्चे जानकार हैं।"

सिद्धार्थ व्यन्तरदेव ने अच्छंदक द्वारा किये गये अनेक गुप्त पापों को प्रकट कर दिया। लोगों द्वारा छानबीन करने पर सिद्धार्थ देव द्वारा कही गई सब बातें सच्ची सिद्ध हुईं। इस प्रकार अच्छंदक की 'सारी' पोपलीला की कलई खुल गई और लोगों पर जमा हुआ उसका प्रभाव समाप्त हो गया। भगवान् महावीर के उज्वल तप से प्रभावित जन-समुदाय दिन-प्रतिदिन अधिकाधिक संख्या में प्रभु की सेवा में आने लगा।

अच्छंदक इससे बड़ा उद्विग्न हुआ। और कोई उपाय न देख कर वह भगवान् महावीर के पास पहुंचा और करुण स्वर में प्रार्थना करने लगा – "भगवन्! आप तो सर्वशक्तिमान् और निस्पृह हैं। आपके यहां विराजने से मेरी आजीविका समाप्तप्राय हो रही है। आप तो महान् परोपकारी हैं फिर मेरा वृत्तिछेद जो कि वधतुल्य ही माना गया है – वह आप कभी नहीं कर सकते। अतः आप मुझ पर दया कर अन्यत्र पधार जायं।"

भगवान् अच्छंदक के अन्तर के मर्म को जान कर अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार वहां से विहार कर उत्तर वाचाला की ओर पधार गये।[1]

सुवर्णकूला और रूप्यकूला नदी के कारण 'वाचाला' के उत्तर और दक्षिण दो भाग हो गये थे। सुवर्णकूला के किनारे प्रभु के स्कन्ध का देवदूष्य वस्त्र कांटों में उलझ कर गिर पड़ा। प्रभु ने थोड़ा सा मुड़ कर देखा कि वह वस्त्र कहीं अस्थान में तो नहीं गिर पड़ा है। कांटों में उलझ कर गिरे वस्त्र को देख कर प्रभु ने समझ लिया कि शिष्यों को वस्त्र सुगमता से प्राप्त होंगे। तदनन्तर प्रभु ने उस देवदूष्य को वहीं वोसिरा दिया और स्वयं अचेल हो गये और जीवन भर अचेल रहे।

देवदूष्य वस्त्र प्राप्त करने की लालसा से प्रभु के पीछे-पीछे घूमते रहने

[1] आवश्यक चूर्णि, पृष्ठ २७७

वाले महाराज सिद्धार्थ के परिचित ब्राह्मण ने उस वस्त्र को उठा लिया[1] और वह अपने घर लौट आया।

चण्डकौशिक को प्रतिबोध

मोराक सन्निवेश से विहार कर प्रभु उत्तर वाचाला की ओर बढ़ते हुए कनकखल नामक आश्रम पर पहुँचे। उस आश्रम से उत्तर वाचाला पहुंचने के दो मार्ग थे। एक मार्ग आश्रम के बीच से होकर और दूसरा बाहर से जाता था। भगवान् सीधे मार्ग पर चल पड़े। मार्ग में उन्हें कुछ ग्वाले मिले और उन्होंने प्रभु से निवेदन किया – "भगवन्! जिस मार्ग पर आप बढ़ रहे हैं वह मार्ग एक भयंकर खतरे से भरा हुआ है। इस पथ पर आगे की ओर वन में चण्डकौशिक नाम का दृष्टिविष वाला भयंकर सर्प रहता है जो पथिकों को देखते ही अपने विष से भस्मसात् कर डालता है। उसकी विषैली फूत्कारों से आकाश के पक्षी भी भूमि पर गिर पड़ते हैं। वह इतना भयंकर है कि किसी को देखते ही जहर बरसाने लगता है। उस चण्डकौशिक के उग्र विष के कारण आसपास के वृक्ष भी सूख कर ठूंठ बन चुके हैं। अतः अच्छा होगा कि आप कृपा कर इस मार्ग को छोड़ कर दूसरे बाहर वाले मार्ग से आगे की ओर पधारें।"

भगवान् महावीर ने उन ग्वालों की बात पर कोई ध्यान न दिया और न कुछ उत्तर ही दिया। अकारण करुणाकर प्रभु ने सोचा कि चण्डकौशिक सर्प भव्य प्राणी है अतः वह प्रतिबोध देने से अवश्यमेव प्रतिबुद्ध होगा। चण्डकौशिक का उद्धार करने के लिए प्रभु उस घोर संकटपूर्ण पथ पर बढ़ चले।

वह चण्डकौशिक सर्प अपने पूर्वभव में एक तपस्वी था। एक बार तप के पारण के दिन वह तपस्वी अपने एक शिष्य के साथ भिक्षार्थ निकले। भिक्षार्थ भ्रमण करते समय अज्ञात दशा में उन तपस्वी मुनि के पैर के नीचे एक मण्डुकी दब गई। यह देख कर शिष्य ने कहा – "गुरुदेव! आपके पैर से दब कर मेंढ़की मर गई।"

उन तपस्वी मुनि ने मार्ग में दबी हुई एक दूसरी मेंढ़की की ओर अपने शिष्य का ध्यान आकर्षित करते हुए कहा – "क्या इस मेंढ़की को भी मैंने मारा है?"

शिष्य ने सोचा कि सायंकाल के प्रतिक्रमण के समय गुरुदेव इस पाप की आलोचना कर लेंगे।

सायंकाल के प्रतिक्रमण के समय भी तपस्वी मुनि अन्य आवश्यक आलोचनाएं कर के बैठ गये और उस मेंढ़की के अपने पैर के नीचे दब जाने के पाप की आलोचना उन्होंने नहीं की। शिष्य ने यह सोच कर कि गुरुदेव उस पाप की आलोचना करना भूल गये हैं अपने गुरु को याद दिलाते हुए कहा – "गुरुदेव!

---

[1] तत्थ सुवण्णकूलाए पुलिणे तं वत्थं कंटियाए लग्गं, ताहे तं थितं तं एतेण पिलुवतंसधिज्जातितेण गहितं। [आवश्यक चूर्णि, पत्र २७७]

मण्डुकी आपके पैर के नीचे दब कर मर गई थी। आप उस पाप की आलोचना करना संभवतः भूल गये हैं।"

इस पर वे तपस्वी मुनि क्रुद्ध हो अपने शिष्य को मारने के लिए उठे। क्रोधावेश में ध्यान न रहने के कारण एक स्तम्भ से उनका शिर टकरा गया। इसके परिणामस्वरूप तत्काल उनके प्राण निकल गये और वे ज्योतिष्क जाति में देव रूप से उत्पन्न हुए। वहां से आयुष्य पूर्ण कर उस तपस्वी का जीव कनकखल आश्रम के ५०० तापसों के कुलपति की पत्नी की कुक्षि से बालक के रूप में उत्पन्न हुआ। बालक का नाम कौशिक रखा गया। कौशिक बाल्यकाल से ही बड़ी चण्ड प्रकृति का था। उस आश्रम में कौशिक नाम के अन्य भी तापस थे इसलिए उसका नाम चण्डकौशिक रखा गया।

समय पाकर चण्डकौशिक उस आश्रम का कुलपति बन गया। उसकी अपने आश्रम के वन के प्रति प्रगाढ़ ममता थी। वह तापसों को उस वन से फल नहीं लेने देता था अतः तापस उस आश्रम को छोड़ कर इधर-उधर चले गये।

उस आश्रम के वन में जो भी गोपालक आते उनको वह चण्डकौशिक मार-पीट कर भगा देता। एक बार पास की नगरी सेयविया के राजपुत्रों ने वहां आकर वनप्रदेश को उजाड़ कर नष्ट कर दिया। गोपालकों ने चण्डकौशिक के बाहर से लौटने पर उसे सारी घटना सुना दी। चण्डकौशिक लकड़ियां डाल कर परशु हाथ में लिए क्रुद्ध हो कुमारों के पीछे दौड़ा। तापस को आते देख कर राजकुमार भाग निकले।

तापस परशु हाथ में लिए उन कुमारों के पीछे दौड़ा और एक गड्ढे में गिर पड़ा। परशु की धार से तापस चण्डकौशिक का शिर कट गया और तत्काल मर कर वह उसी वन में दृष्टिविष सर्प के रूप में उत्पन्न हुआ। वह अपने पहले के क्रोध और ममत्व के कारण वनखण्ड की रक्षा करने लगा। वह चण्डकौशिक सर्प उस वन में किसी को नहीं आने देता था। आश्रम के बहुत से तापस भी उस सर्प के विष के प्रभाव से जल गये और जो थोड़े बहुत बचे थे वे उस आश्रम को छोड़ कर अन्यत्र चले गये।

वह चण्डकौशिक महानाग रात-दिन उस सारे वनखण्ड में इधर से उधर चक्कर लगाता रहता और पक्षी तक को भी वन में देखता तो उसे तत्काल अपने भयंकर विष से जला डालता।

उत्तर विशाला के पथ पर आगे बढ़ते हुए भगवान् महावीर चण्डकौशिक द्वारा उजाड़े गये उस वन में पहुँचे। उन्होंने बिना किसी भय और संशय के उस वन में स्थित यक्षगृह के मण्डप में ध्यान लगाया। उनके मन में विश्वप्रेम की विमल गंगा बह रही थी और विमल दृष्टि में अमृत का सागर हिलोरें लेरहा था।

उनके मन में सर्प चण्डकौशिक का कोई भय नहीं था। प्रभु के मन में चण्डकौशिक का उद्धार करने की भावना थी।

अपने रक्षणीय वन की सीमा में महावीर को ध्यानस्थ खड़े देख कर चण्डकौशिक सर्प ने अपनी क्रोधपूर्ण दृष्टि डाली और अतीव क्रुद्ध हो फूत्कार करने लगा। किन्तु भगवान् महावीर पर उसकी विषमय दृष्टि का किंचित्मात्र भी असर नहीं हुआ।

यह देख कर चण्डकौशिक की क्रोधाग्नि और भी अधिक प्रचण्ड हो गई। उसने आवेश में आकर भगवान् महावीर के पैर और शरीर पर जहरीला दंष्ट्राघात किया। इस पर भी भगवान् निर्भय एवं अडोल खड़े ही रहे। नाग ने देखा कि रक्त के स्थान पर प्रभु के शरीर से दूध सी श्वेत मधुर धारा बह रही है।

साधारण लोग इस बात पर आश्चर्य करेंगे किन्तु वास्तव में आश्चर्य जैसी कोई बात नहीं है। देखा जाता है कि पुत्रवती मां के मन में एक बालक के प्रति प्रगाढ़ प्रीति होने के कारण उसके स्तन दूध से भर जाते हैं, रक्त दूध का रूप धारण कर लेता है।

ऐसी दशा में त्रैलोक्यैकमित्र जिन प्रभु के रोम-रोम में प्राणिमात्र के प्रति पूर्ण वात्सल्य हो उनके शरीर का रुधिर दूध सा श्वेत और मधुर हो जाय तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

चण्डकौशिक चकित हो भगवान् महावीर की सौम्य, शान्त और मोहक मुखमुद्रा को अपलक दृष्टि से देखने लगा। उस समय उसने अनुभव किया कि भगवान् महावीर के रोम-रोम से अलौकिक विश्वप्रेम और शान्ति का अमृतरस बरस रहा है। चण्डकौशिक के विषमय दंष्ट्राघात से वे न तो उद्विग्न हुए और न उसके प्रति किसी प्रकार का रोष ही प्रकट किया। चण्डकौशिक का क्रोधानल मेघ की जलधारा से दावानल की तरह शान्त हो गया।

चण्डकौशिक को शान्त देख कर महावीर ध्यान से निवृत्त हुए और बोले – "उवसम भो चण्डकोसिया! हे चण्डकौशिक! शान्त हो, जागृत हो, अज्ञान में कहां भटक रहा है? पूर्व-जन्म के दुष्कर्मों के कारण तुम्हें सर्प बनना पड़ा है। अब भी संभलो तो भविष्य नहीं बिगड़ेगा, अन्यथा इससे भी निम्न भव में भ्रमण करना पड़ेगा।"

भगवान् के इन सुधासिक्त वचनों को सुन कर 'चण्डकौशिक' जागृत हुआ, उसके अन्तर्मन में विवेक की ज्योति जल उठी। पूर्वजन्म की सारी घटनाएं चलचित्र की भांति एक-एक कर उसके नेत्रों के सामने नाचने लगीं।[1] वह अपने कृत कर्म के लिए पश्चात्ताप करने लगा। भगवान् की प्रचण्ड तपस्या और निश्छल-विमल करुणा के आगे उसका पाषाणहृदय भी पिघल कर पानी बन गया। उसने शुद्ध मन से संकल्प किया – "अब मैं किसी को भी नहीं सताऊंगा और न आज से मरणपर्यन्त कभी अशन ही ग्रहण करूंगा।"

---

[1] न ड्ही चिंता-सरसं जीइस कोवाहि जाओऽहं। [आव. नि., गा. ४६७]

कुछ लोग भगवान् पर चण्डकौशिक की लीला देखने के लिए इधर-उधर दूर खड़े थे किन्तु भगवान् पर सर्प का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा देख कर वह धीरे-धीरे पास आये और प्रभु के अलौकिक प्रभाव को देख कर चकित हो गये। चण्डकौशिक सर्प को प्रतिबोध दे प्रभु अन्यत्र विहार कर गये। सर्प बिल में मुंह डाल कर पड़ गया। लोगों ने कंकर मार-मार कर उसको चलित-चित्त बनाने का प्रयास किया पर नाग बिना हिले-डुले ज्यों का त्यों पड़ा रहा। उसका प्रचण्ड क्रोध क्षमा के रूप में बदल चुका था। नाग के इस बदले हुए जीवन को देख व सुन कर आबाल वृद्ध नर नारी उसकी अर्चा-पूजा करने लगे। कोई उसे दूध शक्कर चढ़ाता तो कोई कुंकुम का टीका लगाता। इस तरह मिठास के कारण थोड़े ही समय में बहुत सी चींटियां आ आ कर नाग के शरीर से चिपट गईं और काटने लगीं, पर नाग उस असह्य पीड़ा को भी समभाव से सहन करता रहा। इस प्रकार शुभ भावों में आयु पूर्ण कर उसने अष्टम स्वर्ग की प्राप्ति की।[१] भगवान् के उद्‌बोधन से चण्डकौशिक ने अपने जीवन को सफल बनाया। उसका उद्धार हो गया।

विहार और नौकारोहण

चण्डकौशिक का उद्धार कर भगवान् विहार करते हुए उत्तर वाचाला पधारे। वहां उनका नाग सेन के यहां पन्द्रह दिन के उपवास का परमान्न से पारणा हुआ। फिर वहां से विहार कर प्रभु श्वेताम्बिका नगरी पधारे। वहां के राजा प्रदेशी ने भगवान् का खूब भावभीना सत्कार किया।

श्वेताम्बिका से विहार कर भगवान् सुरभिपुर की ओर चले। बीच में गंगा नदी बह रही थी। अतः गंगा पार करने के लिये प्रभु को नौका में बैठना पड़ा। नौका ने ज्यों ही प्रयाण किया त्योंही दाहिनी ओर से उल्लू के शब्द सुनाई दिये। उनको सुन कर नौका पर सवार खेमिल निमित्तज्ञ ने कहा - "बड़ा संकट आने वाला है, पर इस महापुरुष के प्रबल पुण्य से हम सब बच जायेंगे।"[२] थोड़ी दूर आगे बढ़ते ही आंधी के प्रबल झोंकों में पड़ कर नौका भंवर में पड़ गई। कहा जाता है कि त्रिपृष्ट के भव में महावीर ने जिस सिंह को मारा था उसीके जीव ने वैर-भाव के कारण सुदंष्ट्र देव के रूप से गंगा में महावीर के नौकारोहण के बाद तूफान खड़ा किया। यात्रीगण घबराये पर महावीर निर्भय-अडोल थे। अन्त में प्रभु की कृपा से आंधी रुकी और नाव गंगा के किनारे लगी। कम्बल और शम्बल नाम के नागकुमारों ने इस उपसर्ग के निवारण में प्रभु की सेवा की।

पुष्य निमित्तज्ञ का समाधान

नाव से उतर कर भगवान् गंगा के किनारे 'स्थूणाक' सन्निवेश पधारे और वहां ध्यान-मुद्रा में खड़े हो गये। गांव के पुष्य नामक निमित्तज्ञ को भगवान्

---

१ अद्धमासस्स कालगतो सहस्सारे उववन्नो। [आ. चू. १, पृ. २७६]
२ आ० चू० पूर्वभाग, पृ० २८०

के चरण-चिह्न देख कर विचार हुआ – "इन चिह्नों वाला अवश्य ही कोई चक्रवर्ती या सम्राट् होना चाहिये। संभव है संकट में होने से वह अकेला घूम रहा हो। मैं जाकर उसकी सेवा करूं।" इन्हीं विचारों से वह चरण-चिह्नों को देखता हुआ बड़ी आशा से भगवान् के पास पहुंचा। किन्तु भिक्षुकरूप में भगवान् को खड़े देख कर उसके आश्चर्य का पारावार नहीं रहा। वह समझ नहीं पाया कि चक्रवर्ती के समस्त लक्षण शरीर पर होते हुए भी यह भिक्षुक कैसे है। उसकी ज्योतिष-शास्त्र से श्रद्धा हिल गई और वह शास्त्र को गंगा में बहाने को तैयार हो गया। उस समय देवेन्द्र ने प्रकट होकर कहा – 'पंडित ! शास्त्र को अश्रद्धा की दृष्टि से न देखो। यह कोई साधारण पुरुष नहीं, धर्म-चक्रवर्ती हैं, देव-देवेन्द्र और नरेन्द्रों के वन्दनीय हैं।' पुष्य की शंका दूर हुई और वह वन्दन कर चला गया।[1]

गोशालक का परिचय

विहार-क्रम से घूमते हुए भगवान् ने दूसरा वर्षावास राजगृह के उपनगर नालन्दा में किया। वहां प्रभु एक तन्तुवाय-शाला में ठहरे हुए थे। मंखलिपुत्र गोशालक भी उस समय वहां वर्षावास हेतु आया हुआ था। भगवान् के कठोर तप और त्याग को देख कर वह आकर्षित हुआ। भगवान् के प्रथम मासतप का पारणा विजय सेठ के यहां हुआ। उस समय पंच-दिव्य प्रकट हुए और आकाश में देव-दुन्दुभि बजी। भाव-विशुद्धि से विजय ने संसार परिमित किया और देव-आयु का बन्ध[2] किया। राजगृह में सर्वत्र विजय गाथापति की प्रशंसा हो रही थी। गोशालक ने तप की यह महिमा देखी तो वह भगवान् के पास आया। भगवान् ने वर्षाकाल भर के लिये मास-मास का दीर्घ तप स्वीकार कर रखा था। दूसरे मास का पारणा आनन्द गाथापति ने करवाया। उसके बाद तीसरा मास खमण किया और उसका पारणा सुनन्द गाथापति के यहां क्षीर से सम्पन्न हुआ।[3]

कार्तिकी पूर्णिमा के दिन भिक्षा के लिये जाते हुए गोशालक ने भगवान् से पूछा – 'हे तपस्वी ! मुझे आज भिक्षा में क्या मिलेगा ?' सिद्धार्थ ने कहा – 'कोदों का बासी भात, खट्टी छाछ और खोटा रुपया।[4]

---

[1] आ० चू० १, पृ० २८२।

[2] विजयस्स गाहावइस्स तेणं दव्वसुद्धेणं दायगसुद्धेणं, तिविहेणं तिकरण सुद्धेणं दाणेणं मए पड़िलाभिए समाणे, देवाउए निबद्धे, संसारे परित्तीकए गिहंसि य से, इमाइं पंचदिव्वाइं पाउब्भूयाइं। [भगवती, १५ श०, सू० ५४१, पृ० १२१४]

[3] तच्च मासक्खमण पारणगंसि तंतुवाय सालाओ······ [भगवती, शतक १५, उ० १, सूत्र ५४१]

[4] सिद्धार्थः स्वामिसंक्रान्तो, बभाषे भद्र लप्स्यसे। धान्याम्लं कोद्रवक्रूरमेकं कूटं च रूप्यकम्। [त्रि० श० पु० च०, १०।३।३९३ श्लो०]

भगवान् की भविष्यवाणी को मिथ्या सिद्ध करने हेतु गोशालक ने श्रेष्ठियों के उच्च कुलों में भिक्षार्थ प्रवेश किया, पर संयोग नहीं मिलने से उसे निराश होकर खाली हाथ लौटना पड़ा। अन्त में एक लुहार के यहां उसको खट्टी छाछ, बासी भात और दक्षिणा में एक रुपया प्राप्त हुआ जो बाजार में नकली सिद्ध हुआ। गोशालक के मन पर इस घटना का यह प्रभाव पड़ा कि वह नियतिवाद का भक्त बन गया। उसने निश्चय किया कि जो कुछ होने वाला है, वह पहले से ही नियत होता है।

इधर चातुर्मास समाप्त होने पर भगवान् ने राजगृही के नालन्दा से विहार किया और 'कोल्लाग' सन्निवेश में जाकर 'बहुल ब्राह्मण' के यहां अन्तिम मास-खमण का पारणा किया। गोशालक उस समय भिक्षा के लिये बाहर गया हुआ था। जब वह लौट कर तन्तुवायशाला में आया और भगवान् को नहीं देखा तो सोचा कि भगवान् नगर में कहीं गये होंगे। वह उन्हें नगर में जाकर ढूंढ़ने लगा। पर भगवान् का कहीं पता नहीं चला तो निराश होकर लौट आया और वस्त्र, कुंडिका, चित्रफलक आदि अपनी सारी वस्तुएं ब्राह्मणों को देकर तथा शिर मुंडवा कर भगवान् की खोज में निकल पड़ा।[1]

प्रभु को ढूंढ़ते हुए वह कोल्लाग सन्निवेश पहुंचा और लोगों के मुख से बहुल ब्राह्मण की दान-महिमा सुनकर विचारने लगा कि अवश्य ही यह मेरे धर्माचार्य की महिमा होनी चाहिये। दूसरे का ऐसा तपः प्रभाव नहीं हो सकता। 'कोल्लाग सन्निवेश' के बाहर प्रणीत-भूमि में उसने भगवान् के दर्शन किये। दर्शनानन्तर भाव-भीना हो उसने प्रभु को वन्दन किया और बोला – 'आज से आप मेरे धर्माचार्य और मैं आपका शिष्य हूं। उसके ऐसा बारम्बार कहने से भगवान् ने उसकी प्रार्थना स्वीकार की।[2] रागरहित भी भगवान् ने भाविभाव को जानते हुए उसके वचन को स्वीकार किया।[3] इसके बाद छह वर्ष तक गोशालक प्रभु के साथ विचरता रहा।

साधना का तीसरा वर्ष

कोल्लाग सन्निवेश से विहार कर प्रभु गोशालक के साथ स्वर्णखल पधारे। मार्ग में उनको खीर पकाते हुए कुछ ग्वाले मिले। गोशालक का मन खीर देखकर मचल उठा। उसने महावीर से कहा – 'भगवन् ! कुछ देर ठहरें तो खीर खाकर चलेंगे।' सिद्धार्थ ने कहा – "खीर खाने को नहीं मिलेगी, क्योंकि हंडिया फूटने के कारण खीर पकने से पूर्व ही मिट्टी में मिल जायेगी।"

---

[1] साडियाओ य पाड़ियाओ य कुंडियाओ य पाहणाओ य चित्तफलगं च माहणे आयामेति आयामेत्ता सउत्तरोट्ठं मुंडं करोति···। [भगवती श०, १५।१ स० ५४१ पृ० १२१७]
(ख) आ० चू० १, पृ० २८३।

[2] गोसालस्स मंखलिपुत्तस्स एयमट्ठं पड़िसुणेमि। [भगवती शतक, १५।१ सूत्र ५४१]

[3] नीरागोऽपि भव्यतार्थं, तद्भावं च विदन्नपि। तद्वचः प्रत्यपादीशो, महान्तः क्व न वत्सलाः। [त्रि० श० पु० च०, ।१०।३।४१२]

नियतिवाद

पर गोशालक ग्वालों को सचेत कर स्वयं खीर के लिये रुका रहा। भगवान् आगे प्रयाण कर गये। सुरक्षा का पूर्ण प्रयत्न करने पर भी चावलों के फूलने से हंडिया फूट गई और खीर धूल में मिल गई। गोशालक निराश होकर नन्हा सा मुंह लिये महावीर के पास पहुंचा। उसे इस बार दृढ़ विश्वास हो गया कि होनहार कभी टलता नहीं। इस तरह वह 'नियतिवाद' का पक्का समर्थक बन गया।

कालान्तर में वहां से विहार कर भगवान् 'ब्राह्मणगांव' पधारे। ब्राह्मणगांव दो भागों में विभक्त था – एक 'नन्दपाटक' और दूसरा 'उपनन्दपाटक'। नन्द और उपनन्द नाम के दो प्रसिद्ध पुरुषों के नाम पर गांव के भाग पुकारे जाते थे। भगवान् महावीर 'नन्दपाटक' में नन्द के घर पर भिक्षा को पधारे। वहां उनको दही मिश्रित भात मिला। गोशालक, जो 'उपनन्दपाटक' में उपनन्द के घर गया था, वहां उपनन्द की दासी उसको बासी भात देने लगी किन्तु गोशालक ने दुर्भाव से उसे अस्वीकार कर दिया। गोशालक के इस अभद्र व्यवहार से क्रुद्ध हो उपनन्द दासी से बोला – "यदि यह भिक्षा नहीं ले तो इसके सिर पर फेंक दे।" दासी ने स्वामी की आज्ञा से वैसा ही किया। इस घटना से गोशालक बहुत कुपित हुआ और घर वालों को अभिशाप देकर वहां से चल दिया।

आवश्यक चूर्णिकार के मतानुसार गोशालक ने उपनन्द को उसका घर जल जाने का शाप दिया। भगवान् के तप की महिमा असत्य प्रमाणित न हो इस दृष्टि से निकटवर्ती व्यन्तरों के द्वारा घर जलाया गया और उसका अभिशाप सच्चा ठहरा।[1]

ब्राह्मणगांव से विहार कर भगवान् चंपा पधारे और वहीं पर तृतीय वर्षाकाल पूर्ण किया। वर्षाकाल में दो-दो मास के उत्कट तप के साथ प्रभु ने विविध आसन व ध्यानयोग की साधना की। प्रथम द्विमासीय तप का पारणा चंपा में और द्वितीय द्विमासीय तप का पारणा चंपा के बाहर किया।[2]

साधना का चतुर्थ वर्ष

अंग देश की चम्पा नगरी से विहार कर भगवान् 'कालाय' सन्निवेश पधारे। वहां गोशालक के साथ एक सूने घर में ध्यानावस्थित हुए। गोशालक वहां द्वार के पास छुप कर बैठ गया और पास आयी हुई 'विद्युन्मती' नाम की दासी के साथ हंसी-मजाक करने लगा। दासी ने गांव में जाकर मुखिया से शिकायत की और इसके परिणामस्वरूप मुखिया के पुत्र पुरुषसिंह द्वारा गोशालक पीटा गया।

कालाय सन्निवेश से प्रभु 'पत्तकालय' पधारे। वहां भी एक शून्य स्थान देख कर भगवान् ध्यानारूढ़ हो गये। गोशालक वहां पर भी अपनी विकृत भावना और चंचलता के कारण जनसमुदाय के क्रोध का शिकार बना।

---

[1] आव० चू०, पूर्व भाग, पृ० २८४ '[illegible] भगवओ [illegible] मलियं भवतुत्ति तं घरं दड्ढं।

[2] जं चरिमं दो मासियपारणयं तं बाहिं पारेति। [आव. चू., १।२८४]

गोशालक का शाप-प्रदान

'पत्तकालय' से भगवान् 'कुमारक सन्निवेश' पधारे ।[१] वहां चंपगरमणीय नामक उद्यान में ध्यानावस्थित हो गये। वहां के कूपनाथ नामक कुम्भकार की शाला में पार्श्वनाथ के संतानीय आचार्य मुनिचन्द्र अपने शिष्यों के संग ठहरे हुए थे। उन्होंने अपने एक शिष्य को गच्छ का मुखिया बना कर स्वयं जिनकल्प स्वीकार कर रखा था। गोशालक ने भगवान् को भिक्षा के लिए चलने को कहा किन्तु प्रभु की ओर से सिद्धार्थ ने उत्तर दिया कि आज इन्हें नहीं जाना है।

गोशालक अकेला भिक्षार्थ गांव में गया और वहां उसने रंग-विरंगे वस्त्र पहने पार्श्व-परम्परा के साधुओं को देखा। उसने उनसे पूछा – "तुम सब कौन हो?" उन्होंने कहा – "हम सब पार्श्व परम्परानुयायी श्रमण निर्ग्रन्थ हैं।" इस पर गोशालक ने कहा – "तुम सब कैसे निर्ग्रन्थ हो ? इतने सारे रंग-विरंगे वस्त्र और पात्र रख कर भी अपने को निर्ग्रन्थ कहते हो। सच्चे निर्ग्रन्थ तो मेरे धर्माचार्य हैं, जो वस्त्र व पात्र से रहित हैं और त्याग-तप के साक्षात् रूप हैं।" पार्श्व संतानीय ने कहा – "जैसा तू, वैसे ही तेरे धर्माचार्य भी, स्वयंगृहीतलिंग होंगे।"[२] इस पर गोशालक क्रुद्ध होकर बोला – "अरे ! मेरे धर्माचार्य की तुम निन्दा करते हो। यदि मेरे धर्माचार्य के दिव्य तप और तेज का प्रभाव है तो तुम्हारा उपाश्रय जल जाय।" यह सुन कर पार्श्वापत्यों ने कहा – "तुम्हारे जैसों के कहने से हमारे उपाश्रय जलने वाले नहीं हैं।"

यह सुन कर गोशालक भगवान् के पास आया और बोला – "आज मैंने सारंभी और सपरिग्रही साधुओं को देखा। उनके द्वारा आपके अपवाद करने पर मैंने कहा – "धर्माचार्य के दिव्य तेज से तुम्हारा उपाश्रय जल जाय किन्तु उनका उपाश्रय जला नहीं। इसका क्या कारण है?" सिद्धार्थ देव ने कहा– "गोशालक ! वे पार्श्वनाथ के सन्तानीय साधु हैं। साधुओं का तपस्तेज उपाश्रय जलाने के लिए नहीं होता।"

उधर आचार्य मुनिचन्द्र उपाश्रय के बाहर खड़े हो ध्यानमग्न हो गये। अर्द्धरात्रि के समय कूपनय नामक कुम्भकार अपनी मित्रमण्डली में सुरापान कर अपने घर की ओर लौटा। उपाश्रय के बाहर ध्यानमग्न मुनि को देख कर मद्य के नशे में मदहोश उस कुम्भकार ने उन्हें चोर समझ कर अपने दोनों हाथों से मुनि का गला धर दबाया। असह्य वेदना होने पर भी मुनिचन्द्र ध्यान में अडोल खड़े रहे। समभाव से शुक्लध्यान में स्थित होने के कारण मुनिचन्द्र को तत्काल केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई और उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया।

देवों ने पुष्पादि की वर्षा कर केवलज्ञान की महिमा की। जब गोशालक ने देवों को आते जाते देखा तो उसने समझा कि उन साधुओं का उपाश्रय जल रहा है।

---

१ ततो कुमारायं संनिवेसं गता। [आव. चू., १। पृ० २८५]

२ आव. चू., पृ० २८५

गोशालक ने भगवान् से कहा – "उन विरोधियों का उपाश्रय जल रहा है।" इस पर सिद्धार्थ देव ने कहा – "उपाश्रय नहीं जल रहा है। आचार्य को केवलज्ञान की उपलब्धि हुई है इसलिए देवगण महिमा कर रहे हैं।"

गन्धोदक और पुष्पों की वर्षा देख कर गोशालक को वड़ा हर्ष हुआ। वह उपाश्रय में जाकर मुनिचन्द्र के शिष्यों से कहने लगा – "अरे ! तुम लोगों को कुछ भी पता नहीं है, खाकर अजगर की तरह सोये पड़े हो। तुम्हें अपने आचार्य के काल-कवलित हो जाने का भी ध्यान नहीं है। गोशालक की वात सुन कर साधु उठे और अपने आचार्य को कालप्राप्त समझ कर चिरकाल तक अपने आपकी निन्दा करते रहे। गोशालक ने भी अवसर देख कर उन्हें जी भर भला-बुरा कहा।[1]

आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार मुनिचन्द्र को उस समय अवधिज्ञान हुआ और उन्होंने स्वर्गगमन किया।[2]

कुमारक से विहार कर भगवान् 'चोराक सन्निवेश'[3] पधारे। वहां पर चोरों का अत्यधिक भय था। अतः वहां के पहरेदार अधिक सतर्क रहते थे। भगवान् उधर पधारे तो पहरेदारों ने उनसे परिचय पूछा पर मौनस्थ होने के कारण प्रभु की ओर से कोई उत्तर नहीं मिला। पहरेदारों को उनके इस आचरण से संशय और क्रोध दोनों ही हुए। फलतः गुप्तचर या चोर समझ कर उनको अनेक प्रकार की यातनाएं दीं। जब इस वात की सूचना ग्रामवासी 'उत्पल' निमित्तज्ञ की वहिनों, 'सोमा और जयंती' को मिली तो वे घटना-स्थल पर उपस्थित हुईं और रक्षक पुरुषों के सामने महावीर का सही परिचय प्रस्तुत किया। परिचय प्राप्त कर आरक्षकों ने महावीर को मुक्त किया और अपनी भूल के लिए क्षमा-याचना की।

चौराक से भगवान् महावीर 'पृष्ठ चंपा' पधारे और चतुर्थ वर्षाकाल वहीं विताया। वर्षाकाल में चार मास का दीर्घ तप और अनेक प्रकार की प्रतिमाओं से ध्यान-मुद्रा में कायोत्सर्ग करते रहे। चार मास की तप-समाप्ति के वाद भगवान् ने चम्पा की वाहिरिका में पारणा किया।

साधना का पंचम वर्ष

पृष्ठ चम्पा का वर्षाकाल पूर्ण कर भगवान् 'कयंगला' पधारे।[4] वहां 'दरिद्द थेर' नामक पाषंडी के देवल में कायोत्सर्ग-स्थित हो कर रहे।

कयंगला से विहार कर भगवान् 'सावत्थी' पधारे और नगर के बाहर ध्यानस्थित हो गये। कड़कड़ाती सर्दी पड़ रही थी फिर भी भगवान् उसकी

[1] आवश्यक चूर्णि, भाग १, पृ० २८६
[2] त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, १०।३।४७० से ४७७
[3] गोरखपुर जिले में स्थित चौराचौरी [तीर्थंकर महावीर, पृ० १९७]
[4] आव. चू., पृ० २८७

परवाह किये बिना रात भर ध्यान में लीन रहे। गोशालक सर्दी नहीं सह सका और रात भर जाड़े के मारे सिसकता रहा। इधर देवल में धार्मिक उत्सव होने से बहुत से स्त्री-पुरुष मिल कर नृत्य-गान में तल्लीन हो रहे थे। गोशालक ने उपहास करते हुए कहा – "अजी ! यह कैसा धर्म, जिसमें स्त्री और पुरुष साथ-साथ लज्जारहित हो गाते व नाचते हैं ?"

लोगों ने उसे धर्म-विरोधी समझ कर वहां से बाहर धकेल दिया। वह सर्दी में ठिठुरते हुए बोला – "अरे भाई ! सच बोलना आजकल विपत्ति मोल लेना है। लोगों ने दया कर फिर उसे भीतर बुलाया। पर वह तो आदत से लाचार था। अतः अनर्गल प्रलाप के कारण वह दो-तीन बार बाहर निकाला गया और युवकों के द्वारा पीटा भी गया।

बाद में जन-समुदाय को यह मालूम हुआ कि यह देवार्य महावीर का शिष्य है तो सोचा कि इसे यहां रहने देने में कोई हानि नहीं है। वृद्धों ने जोर-जोर से बाजे बजवाने शुरू किये जिससे उसकी बातें न सुनी जा सकें। इस प्रकार रात कुशलता से बीत गई।

प्रातःकाल महावीर वहां से विहार कर श्रावस्ती नगरी में पधारे। वहां पर 'पितृदत्त' गाथापति की पत्नी ने अपने बालक की रक्षा के लिये किसी निमित्तज्ञ के कथन से किसी एक गर्भ के मांस से खीर बनाई और तपस्वी को देने के विचार से गोशालक को दे डाली। उसने भी अनजाने ले ली। सिद्धार्थ ने पहले ही इसकी सूचना कर दी थी। जब गोशालक ने इसे झुठलाने का प्रयत्न किया तो सिद्धार्थ ने कहा – वमन कर। वमन करने पर असलियत प्रकट हो गई। गोशालक भी स्थिति समझ कर पक्का नियतिवादी हो गया।

सावत्थी से विहार कर प्रभु 'हलेदुग' पधारे। गांव के पास ही 'हलेदुग' नाम का एक विशाल वृक्ष था। भगवान् ने उस स्थान को ध्यान के उपयुक्त समझा और वहीं रात्रि-विश्राम किया। दूसरे अनेक पथिक भी रात्रि में वहां विश्राम करने को ठहरे हुए थे। उन्होंने सर्दी से बचने के लिये रात में आग जलाई और प्रातःकाल बिना आग बुझाये ही वे लोग चले गये। इधर सूखे घास के संयोग से हवा का जोर पा कर अग्नि की लपटें जलती हुई महावीर के निकट आ पहुँचीं और उनके पैर आग की लपटों से झुलस गये फिर भी वे ध्यान से चलायमान नहीं हुए।[1]

मध्याह्न में ध्यान पूर्ण होने पर भगवान् महावीर ने आगे प्रयाण किया और 'नांगला' होते हुए 'आवर्त' पधारे। वहां बलदेव के मंदिर में ध्यानावस्थित हो गये। भगवान् के साथ रहते हुए भी गोशालक अपने चंचल स्वभाव के कारण लोगों के बच्चों को डराता-चौंकाता, जिसके कारण वह अनेक बार पीटा गया।

आवर्त से विहार कर प्रभु अनेक क्षेत्रों को अपनी चरणरज से पवित्र करते हुए 'चौराक सन्निवेश' पधारे। वहां भी गुप्तचर समझ कर लोगों ने गोशालक

[1] आव० चू०, पृ० २८८।

को पीटा। गोशालक ने रुष्ट होकर कहा – "अकारण यहाँ के लोगों ने मुझे पीटा है अतः मेरे धर्माचार्य के तपस्तेज का प्रभाव हो तो यह मंडप जल जाय" और संयोगवश मंडप जल गया।

उसके इस उपद्रवी स्वभाव से भगवान् विहार कर 'कलंबुका' पधारे। वहां निकटस्थ पर्वतीय प्रदेश के स्वामी 'मेघ' और 'कालहस्ती' नाम के दो भाइयों में से कालहस्ती से मार्ग में महावीर की भेंट हुई। 'कालहस्ती' ने उनसे पूछा – "तुम कौन हो ?" महावीर ने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। इस पर कालहस्ती ने उन्हें पकड़ कर खूब पीटा, फिर भी महावीर नहीं बोले।

कालहस्ती ने इस पर महावीर को अपने बड़े भाई मेघ के पास भिजवाया। मेघ ने महावीर को एक बार पहले गृहस्थाश्रम में कुंडग्राम में देखा था अतः देखते ही वह उन्हें पहचान गया। उसने उठ कर प्रभु का सत्कार किया और उन्हें मुक्त ही नहीं किया अपितु अपने भाई द्वारा किये गये अभद्र व्यवहार के लिये क्षमा-याचना भी की।[1]

मेघ से मुक्त होने पर भगवान् ने सोचा – "मुझे अभी बहुत से कर्म क्षय करने हैं। यदि परिचित प्रदेश में ही घूमता रहा तो कर्मों का क्षय विलम्ब से होगा। यहाँ कष्ट से बचाने वाले प्रेमी भी मिलते रहेंगे। अतः मुझे ऐसे अनार्य प्रदेश में विचरण करना चाहिये जहां मेरा कोई परिचित न हो।" ऐसा सोच कर भगवान् लाढ़ देश की ओर पधारे। लाढ़ या राढ़ देश उस समय पूर्ण अनार्य माना जाता था। उस ओर सामान्यतः मुनियों का विचरना नहीं होता था। कदाचित् कोई जाते तो वहां के लोग उनकी हीलना-निन्दा करते और कष्ट देते। उस प्रान्त के दो भाग थे। एक वज्र भूमि और दूसरी शुभ भूमि। इनको उत्तर राढ़ और दक्षिण राढ़ के नाम से कहा जाता था। उनके बीच अजय नदी[2] बहती थी। भगवान् ने उन स्थानों में विहार किया और वहां के कठोरतम उपसर्गों को समभाव से सहन किया।

अनार्य क्षेत्र के उपसर्ग

लाढ़ देश में भगवान् को जो भयंकर उपसर्ग उपस्थित हुए, उनका रोमांचकारी वर्णन आचारांग सूत्र में आर्य सुधर्मा ने निम्नरूप से किया है :–

"वहां उनको रहने के लिये अनुकूल आवास प्राप्त नहीं हुए। रूखा-सूखा वासी भोजन भी बड़ी कठिनाई से प्राप्त होता। वहां के कुत्ते दूर से ही भगवान् को देखकर काटने को दौड़ते किन्तु उन कुत्तों को रोकने वाले लोग वहां बहुत कम संख्या में थे। अधिकांश तो ऐसे ही थे जो छुछुकार कर कुत्तों को काटने के लिये प्रेरित करते।[3] रूक्षभोजी लोग वहां लाठी लेकर विचरण करते। पर भगवान्

[1] आव० चू०, पृ० २९०।
[2] आचा० चू०, पृ० २८७।
[3] अह लूहा देसिए भत्ते, कुक्कुरा तत्थ हिंसिसु निवइंसु। [आचा० ९।३। पृ० ८३।८४–]

तो निर्भय थे, वे ऐसे दुष्ट स्वभाव वाले प्राणियों पर भी दुर्भाव नहीं करते, क्योंकि उन्होंने शारीरिक ममता को शुद्ध मन से त्याग दिया था। कर्म निर्जरा का हेतु समझ कर ग्रामकंटकों-दुर्वचनों को सहर्ष सहन करते हुए वे सदा प्रसन्न रहते। वे मन में भी किसी के प्रति हिंसा का भाव नहीं लाते।

जैसे संग्राम में शत्रुओं के तीखे प्रहारों की तनिक भी परवाह किये बिना गजराज आगे बढ़ता जाता है, वैसे ही भगवान् महावीर भी लाढ़ देश में विभिन्न उपसर्गों की किंचित्मात्र भी परवाह किये बिना विचरते रहे।[1] वहाँ उन्हें ठहरने के लिये कभी दूर-दूर तक गांव भी उपलब्ध नहीं होते। भयंकर अरण्य में ही रात्रिवास करना पड़ता। कभी गांव के निकट पहुँचते ही लोग उन्हें मारने लग जाते और दूसरे गांव जाने को बाध्य कर देते। अनार्य लोग भगवान् पर दण्ड, मुष्टि, भाला, पत्थर तथा ढेलों से प्रहार करते और इस कार्य से प्रसन्न होकर अट्टहास करने लगते।

वहां के लोगों की दुष्टता असाधारण स्तर की थी। उन्होंने विविध प्रहारों से भगवान् के सुन्दर शरीर को क्षत-विक्षत कर दिया। उन्हें अनेक प्रकार के असहनीय भयंकर परीषह दिये। उन पर धूल फेंकी तथा उन्हें ऊपर उछाल-उछाल कर गेंद की तरह पटका। आसन पर से धकेल कर नीचे गिरा दिया। हर तरह से उनके ध्यान को भंग करने का प्रयास किया। फिर भी भगवान् शरीर से ममत्व रहित होकर, बिना किसी प्रकार की इच्छा व आकांक्षा के संयम-साधन में स्थिर रह कर शान्तिपूर्वक कष्ट सहन करते रहे।[2]

इस प्रकार उस अनार्य प्रदेश में समभावपूर्वक भयंकर उपसर्गों को सहन कर भगवान् ने विपुल कर्मों की निर्जरा की। वहां से जब वे आर्य देश की ओर चरण बढ़ा रहे थे कि पूर्णकलश नाम के सीमाप्रान्त के ग्राम में उन्हें दो तस्कर मिले। वे अनार्य प्रदेश में चोरी करने जा रहे थे। सामने से भगवान् को आते देख कर उन दोनों ने अपशकुन समझा और तीक्ष्ण शस्त्र लेकर भगवान् को मारने के लिये लपके। इस घटना का पता ज्योंही इन्द्र को चला, इन्द्र ने प्रकट होकर तस्करों को वहां से दूर हटा दिया।[3]

भगवान् आर्य देश में विचरते हुए मलय देश पधारे और उस वर्ष का वर्षावास मलय की राजधानी 'भद्दिला नगरी' में किया। प्रभु ने चातुर्मास में विविध आसनों के साथ ध्यान करते हुए चातुर्मासिक तप की आराधना की और चातुर्मास पूर्ण होने पर नगरी के बाहर तप का पारणा कर 'कदली समागम' और 'जंबू संड' की ओर प्रस्थान किया।

---

[1] आचा०, ६।३।८७।८८। गा० १३

[2] आचा०, ६।३। पृ० ६२

[3] सिद्धत्थेण ते असी तेसिं चेव उपरि छूढो, तेसिं सीसाणि छिन्नाणि। अन्ने भणंति-सक्केण ओहिणा आभोइत्ता दोवि वज्जेण हता। [आव. चू. १, पृ० २६०]

साधना का छठा वर्ष

'कदली समागम' और 'जंबू संड' में गोशालक ने दधिकूर का पारणा किया। वहां भी उसका तिरस्कार हुआ। भगवान् 'जंबू संड' से 'तंबाय' सन्निवेश पधारे। उस समय पार्श्वापत्य स्थविर नन्दिषेण वहां पर विराज रहे थे। गोशालक ने उनसे भी विवाद किया।[1] फिर वहां से प्रभु ने 'कूविय' सन्निवेश की ओर विहार किया, जहां वे गुप्तचर समझ कर पकड़े गये और मौन रहने के कारण वंदी वना कर पीटे गये। वहां पर विजया और प्रगल्भा नाम की दो परिव्राजिकाएं जो पहले पार्श्वनाथ की शिष्यायें थीं, इस घटना का पता पाकर लोगों के बीच आयीं और भगवान् का परिचय देती हुई बोलीं – "दुरात्मन्! नहीं जानते हो कि यह चरम तीर्थंकर महावीर हैं। इन्द्र को पता चला तो वह तुम्हें दण्डित करेगा।" परिव्राजिकाओं की बातें सुन कर उन लोगों ने प्रभु को मुक्त किया और अपनी भूल के लिए क्षमायाचना की।[2]

वहां से मुक्त होकर प्रभु वैशाली की ओर अग्रसर हुए। प्रभु जहां विराजमान थे वहां दो मार्ग थे। गोशालक ने प्रभु से कहा – "आपके साथ मुझे अनेक कष्ट भोगने पड़ते हैं और आप मेरा बचाव भी नहीं करते। इसलिए यह अच्छा होगा कि मैं अकेला ही विहार करूं।" इस पर सिद्धार्थ बोले[3] – "जैसी तेरी इच्छा।" वहां से महावीर वैशाली के मार्ग पर बढ़े और गोशालक राजगृह की ओर चल पड़ा।

वैशाली पधार कर भगवान् लोहार की 'कम्मशाला' में अनुमति लेकर ध्यानावस्थित हो गये। कर्मशाला के एक कर्मकार-लुहार ने अस्वस्थता के कारण छह मास से काम बन्द कर रखा था। भगवान् के आने के दूसरे दिन से ही वह स्वस्थता का अनुभव करने लगा, अतः औजार लेकर शुभ मुहूर्त में यंत्रालय पहुंचा। भगवान् को यंत्रालय में खड़े देख कर उसने अमंगल मानते हुए उन पर प्रहार करना चाहा, किन्तु ज्योंही वह हथोड़ा लेकर आगे बढ़ा त्योंही दैवी प्रभाव से सहसा उसके हाथ स्तंभित हो गये और प्रहार बेकार हो गया।[4]

वैशाली से विहार कर भगवान् 'ग्रामक सन्निवेश' पधारे और 'विभेलक' यक्ष के स्थान में ध्यानस्थ हो गये। भगवान् के तपोमय जीवन से प्रभावित हो कर यक्ष भी गुण-कीर्तन करने लगा।[5]

व्यंतरी का उपद्रव

'ग्रामक सन्निवेश' से विहार कर भगवान् 'शालि शीर्ष' के रमणीय उद्यान में पधारे। माघ मास की कड़कड़ाती सर्दी पड़ रही थी। मनुष्य घरों में

---

[1] आव. चू., पृ० २९१
[2] आव. चू., पृ० २९२
[3] सक्केण तस्स उवरि घणो पावियो तह चेव मतो। [आव. चू., पृ. २९२]
[4] सिद्धार्थोऽथावदत्तुभ्यं, रोचते यत्कुरुष्व तत्। [त्रि. श. पु. च., १०।३।५९४]
[5] आव० चू०, पृ० २९२

गर्म वस्त्र पहने हुए भी कांप रहे थे। परन्तु भगवान् उस समय भी खुले शरीर ध्यान में खड़े थे। वन में रहने वाली 'कटपूतना' नाम की व्यन्तरी ने जब भगवान् को ध्यानस्थ देखा तो उसका पूर्वजन्म का वैर जागृत हो उठा और उसके क्रोध का पार नहीं रहा। वह परिव्राजिका के रूप में बिखरी जटाओं से मेघ-धाराओं की तरह जल बरसाने लगी और भगवान् के कंधों पर खड़ी हो तेज हवा चलाने लगी। कड़कड़ाती सर्दी में वह बर्फ सा शीतल जल, तेज हवा के कारण तीक्ष्ण कांटो से भी अधिक कष्टदायी प्रतीत हो रहा था, फिर भी भगवान् ध्यान में अडोल रहे और मन से भी विचलित नहीं हुए। समभावपूर्वक उस कठोर उपसर्ग को सहन करते हुए भगवान् को परमावधि ज्ञान प्राप्त हुआ। वे सम्पूर्ण लोक को देखने लगे।[1] भगवान् की सहिष्णुता व क्षमता देख कर 'कटपूतना' हार गई, थक गई और शान्त होकर कृत अपराध के लिये प्रभु से क्षमायाचना करती हुई, वन्दन कर चली गई।

'शालिशीर्ष' से विहार कर भगवान् 'भद्रिका'[2] नगरी पधारे। वहां चातुर्मासिक तप से आसन तथा ध्यान की साधना करते हुए उन्होंने छट्ठा वर्षाकाल बिताया। छह मास तक परिभ्रमण कर अनेक कष्टों को भोगता हुआ आखिर गोशालक भी पुनः वहां आ पहुंचा और भगवान् की सेवा में रहने लगा। वर्षाकाल समाप्त होने पर उन्होंने नगर के बाहर पारण किया और मगध की ओर चल पड़े।[3]

साधना का सप्तम वर्ष

मगध के विविध भागों में घूमते हुए प्रभु ने आठ मास विना उपसर्ग के पूर्ण किये। फिर चातुर्मास के लिये 'आलंभिया' नगरी पधारे और चातुर्मासिक तप के साथ ध्यान करते हुए सातवां चातुर्मास वहां पूर्ण किया। चातुर्मास पूर्ण होने पर नगर के बाहर चातुर्मासिक तप का पारण कर के 'कंडाग' सन्निवेश और 'भद्दणा' नाम के सन्निवेश पधारे और क्रमशः वासुदेव तथा बलदेव के मंदिर में ठहरे। गोशालक ने देवमूर्ति का तिरस्कार किया जिससे वह लोगों द्वारा पीटा गया। 'भद्दणा' से निकल कर भगवान् 'बहुसाल' गांव गये और गांव के बाहर सालवन उद्यान में ध्यानस्थित हो गये। यहां शालार्य नामक व्यन्तरी ने भगवान् को अनेक उपसर्ग दिये किन्तु प्रभु के विचलित नहीं होने से अन्त में थक कर वह क्षमायाचना करती हुई अपने स्थान को चली गई।

---

[1] वेयणं अहियासंतस्स भगवतो ओही विगसिओ सव्वं लोगं पासिउमारद्धो। आ० चू०, पृ० २९३।

[2] "भद्दिया" अंग देश का एक नगर था, भागलपुर से आठ मील दूर दक्षिण में भदरिया ग्राम है, वहीं पहले भद्दिया थी। तीर्थंकर महावीर, पृ० २०६।

[3] बाहिं पारेत्ता ततो पच्छा मगहविसए विहरति निरुवसग्गं अट्ठ मासे उदुबद्धिए। [आव० चू०, पृ० २९३]

साधना का अष्टम वर्ष

'भद्दणा' से विहार कर भगवान् 'लोहार्गला' पधारे। 'लोहार्गला' के पड़ौसी राज्यों में उस समय संघर्ष होने से वहां के सभी अधिकारी आने वाले यात्रियों से पूर्ण सतर्क रहते थे। परिचय के विना किसी का राजधानी में प्रवेश संभव नहीं था। भगवान् से भी परिचय पूछा गया। उत्तर नहीं मिलने पर उनको पकड़ कर अधिकारी राज-सभा में 'जितशत्रु' के पास ले गये। वहां 'अस्थिक' गांव का नैमित्तिक उत्पल आया हुआ था। उसने जब भगवान् को देखा तब उठ कर त्रिविध वंदन किया और बोला – "यह कोई गुप्तचर नहीं हैं, यह तो सिद्धार्थ-पुत्र, धर्म-चक्रवर्ती महावीर हैं।" परिचय पाकर राजा जितशत्रु ने भगवान् की वंदना की और सम्मानपूर्वक विदा किया।[1]

लोहार्गला से प्रभु ने 'पुरिमताल' की ओर प्रयाण किया। नगर के बाहर 'शकटमुख' उद्यान में वे ध्यानावस्थित रहे। 'पुरिमताल' से फिर 'उन्नाग' और 'गोभूमि' को पावन करते हुए प्रभु राजगृह पधारे। वहां चातुर्मासिक तपस्या ग्रहण कर विविध आसनों और अभिग्रहों के साथ प्रभु ध्यानावस्थित रहे। इस प्रकार आठवां वर्षाकाल पूर्ण कर प्रभु ने नगर के बाहर पारणा ग्रहण किया।

साधना का नवम वर्ष

भगवान् महावीर ने सोचा कि आर्य देश में जन-मन पर सुसंस्कारों के कारण कर्म की अत्यधिक निर्जरा नहीं होती, इसलिये इस सम्बन्ध में कुछ उपाय करना चाहिये। जैसे किसी कुटुम्बी के खेत में शालि उत्पन्न होने पर पथिकों को कहा जाता है कि खेत की कटाई करो, इच्छित भोजन मिलेगा, फिर चले जाना। इस बात से प्रभावित होकर, जैसे लोग उसका धान काट देते हैं वैसे ही उन्हें भी बहुत कर्मों की निर्जरा करनी है। इस कार्य में सफलता अनार्य देश में ही मिल सकती है। इस विचार से भगवान् फिर अनार्य भूमि की ओर पधारे और पहले की तरह इस बार भी लाढ़ और शुभ्र-भूमि के अनार्य-खण्ड में जाकर विविध कष्टों को सहन किया क्योंकि वहां के लोग अनुकम्पारहित, निर्दय थे। योग्य स्थान नहीं मिलने से वहां वृक्षों के नीचे, खण्डहरों में तथा घूमते-घामते वर्षाकाल पूर्ण किया। छह मास तक अनार्यदेश में विचरण कर विभिन्न प्रकार के कष्ट सहते हुए भी भगवान् को इस बात का हर्ष था कि उनके कर्म कट रहे हैं। इस तरह अनार्य देश का प्रथम चातुर्मास समाप्त कर प्रभु फिर आर्य देश में पधारे।[2]

साधना का दशम वर्ष

अनार्य प्रदेश से विहार कर भगवान् 'सिद्धार्थपुर' से 'कूर्मग्राम' की ओर पधार रहे थे, तब गोशालक भी साथ ही था। उसने मार्ग में सात पुष्प वाले एक तिल के पौधे को देख कर प्रभु से जिज्ञासा की–"भगवन् ! यह पौधा फलयुक्त

---

[1] आव० चू०, पृ० २९४।

[2] आव. चू., पृ. २९६–"दइव नियोगेण लेहट्ठो आसी वसही वि न लब्भति।"

होगा क्या ?" उत्तर देते हुए भगवान् ने कहा-"हां पौधा फलेगा और सातों फूलों के जीव इसकी एक फली में उत्पन्न होंगे।"

गोशालक ने भगवान् के वचन को मिथ्या प्रमाणित करने की दृष्टि से उस पौधे को उखाड़ कर एक किनारे फेंक दिया। संयोगवश उसी समय थोड़ी वर्षा हुई और तिल का उखड़ा हुआ पौधा पुनः जड़ जमा कर खड़ा होगया।[1] फिर भगवान् 'कूर्मग्राम'[2] आये। वहां गांव के बाहर 'वैश्यायन' नाम का तापस प्राणायाम-प्रव्रज्या से सूर्यमंडल के सम्मुख दृष्टि रख कर दोनों हाथ ऊपर उठाये आतापना ले रहा था। धूप से संतप्त हो कर उसकी बड़ी बड़ी जटा से यूकाएं नीचे गिर रही थीं और वह उन्हें उठा उठा कर पुनः जटाओं में रख रहा था। गोशालक ने देखा तो कुतूहलवश वह भगवान् के पास से उठकर तपस्वी के पास आया और बोला-"अरे ! तू कोई तपस्वी है, या जूंओं का शय्यात्तर (घर)?" तपस्वी चुप रहा। जब गोशालक बार बार इस बात को दुहराता रहा तो तपस्वी को क्रोध आ गया। आतापना भूमि से सात आठ पग पीछे जाकर उसने जोश में तपोबल से प्राप्त अपनी तेजो-लब्धि गोशालक को भस्म करने के लिये छोड़ दी। अब क्या था गोशालक मारे भय के भागा और प्रभु के चरणों में आकर छुप गया। दयालु प्रभु ने उस समय गोशालक की अनुकम्पा के लिये शीतल लेश्या से उस तेजो लेश्या को शान्त किया। गोशालक को सुरक्षित देख कर तापस ने महावीर की शक्ति का रहस्य समझा और विनम्र शब्दों में बोला-"भगवन् ! मैं इसे आपका शिष्य नहीं जानता था, क्षमा कीजिये।"[3]

कुछ समय के पश्चात् भगवान् ने पुनः 'सिद्धार्थपुर' की ओर प्रयाण किया। तिल के खेत के पास आते ही गोशालक को पुरानी बात याद आ गई। उसने महावीर से कहा - "भगवन् ! आपकी वह भविष्यवाणी कहां गई ?" प्रभु बोले - "बात ठीक है। वह बाजू में लगा हुआ पौधा ही पहले वाला तिल का पौधा है, जिसको तूने उखाड़ फेंका था।" गोशालक को इस पर विश्वास नहीं हुआ। वह तिल के पौधे के पास गया और फली को तोड़ कर देखा तो महावीर के कथनानुसार सात ही तिल निकले। प्रस्तुत घटना से वह नियतिवाद का पक्का समर्थक बन गया। उस दिन से उसकी मान्यता हो गई कि सभी जीव मर कर पुनः अपनी ही योनि में उत्पन्न होते हैं। वहां से गोशालक ने भगवान् का साथ छोड़ दिया और वह अपना मत चलाने की बात सोचने लगा।

सिद्धार्थपुर से भगवान् वैशाली पधारे। नगर के बाहर भगवान् को ध्यान-मुद्रा में देख कर अबोध बालकों ने उन्हें पिशाच समझा और अनेक प्रकार की यातनाएं दीं। सहसा उस मार्ग से राजा सिद्धार्थ के स्नेही मित्र शंख, भूपति

---

[1] तेण असद्दहंतेण अवक्कमित्ता सलेट्ठुओ उप्पाड़ितो एगंते य एडिओ......वुट्ठं।......
[आव. चू., पृ. २६७]

[2] भगवती में कूर्मग्राम के स्थान पर कुंडग्राम लिखा है।

[3] भ. श.. श. १५, उ. १, सू. ५४३ समिति।

निकले। उन्होंने उन उपद्रवी बालकों को हटाया और स्वयं प्रभु की वंदना कर आगे बढ़े।[1]

वैशाली से भगवान् 'वाणियगाम' की ओर चले। मार्ग में गंडकी नदी पार करने के लिए उन्हें नाव में बैठना पड़ा। पार पहुंचने पर नाविक ने किराया मांगा पर भगवान् मौनस्थ रहे। नाविक ने क्रुद्ध होकर किराया न देने के कारण भगवान् को तवे सी तपी हुई रेत पर खड़ा कर दिया। संयोगवश उस समय 'शंख' राजा का भगिनी-पुत्र 'चित्र' वहां आ पहुंचा। उसने समझा कर नाविक से प्रभु को मुक्त करवाया।[2]

आगे चलते हुए भगवान् 'वाणियग्राम' पहुंचे। वहां 'आनन्द' नामक श्रमणोपासक को अवधिज्ञान की उपलब्धि हुई थी। वह बेले-बेले की तपस्या के साथ आतापना करता था। उसने तीर्थंकर महावीर को देख कर वंदन किया और बोला – "आपका शरीर और मन वज्र सा दृढ़ है, इसीलिए आप कठोर से कठोर कष्टों को भी मुस्कुराते हुए सहन कर लेते हैं। आपको शीघ्र ही केवलज्ञान उत्पन्न होने वाला है।" यह उपासक 'आनन्द' पार्श्वनाथ की परम्परा का था, भगवान् महावीर का अन्तेवासी 'आनन्द' नहीं।

'वाणियग्राम' से विहार कर भगवान् 'सावत्थी' पधारे और विविध प्रकार की तपस्या एवं योग-साधना से आत्मा को भावित करते हुए वहां पर दशवां चातुर्मास पूर्ण किया।[3]

साधना का ग्यारहवां वर्ष

'सावत्थी' से भगवान् ने 'सानुलट्ठिय' सन्निवेश की ओर विहार किया। वहां सोलह दिन के निरन्तर उपवास किये और भद्र प्रतिमा, महाभद्र प्रतिमा और सर्वतोभद्र प्रतिमाओं द्वारा विविध प्रकार से ध्यान की साधना करते रहे। भद्र आदि प्रतिमाओं में प्रभु ने निम्न प्रकार से ध्यान की साधना की।

भद्र प्रतिमा में पूर्व, दक्षिण, पश्चिम और उत्तर दिशा में चार-चार प्रहर ध्यान करते रहे। दो दिन की तपस्या का बिना पारणा किये प्रभु ने महाभद्र प्रतिमा अंगीकार की। इसमें प्रति दिशा में एक-एक अहोरात्र पर्यंत ध्यान किया। फिर इसका बिना पारणा किये ही सर्वतोभद्र प्रतिमा की आराधना प्रारम्भ की। इसमें दश दिशाओं के क्रम से एक-एक अहोरात्र ध्यान करने से दश दिन हो गये। इस प्रकार सोलह दिन के उपवासों में तीनों प्रतिमाओं की ध्यान-साधना भगवान् ने पूर्ण की।

प्रतिमाएं पूर्ण होने पर पभु 'आनन्द' गाथापति के यहां पहुंचे। उस समय आनन्द की 'बहुला' दासी रसोईघर के बर्तनों को खाली करने के लिए

[1] आव. चू., २९९
[2] आव. चू., पृ० २९९
[3] आव. चू., पृ० ३००

रात्रि का अवशेष दोषीए अन्न डालने को बाहर आयी थी। उसने स्वामी को देख कर पूछा – "क्या चाहिए महाराज!" महावीर ने हाथ फैलाया तो दासी ने बड़ी श्रद्धा से अवशेष बासी भोजन भगवान् को दे डाला। भगवान् ने निर्दोष जान कर उसी बासी भोजन से सहज भाव से पारणा किया। देवों ने पंच-दिव्य प्रकटाये और दान की महिमा से दासी को दासीपन से मुक्त कर दिया।[1]

संगम देव के उपसर्ग

वहां से प्रभु ने 'दृढ़ भूमि' की ओर प्रयाण किया। नगरी के बाहर 'पेढ़ाल' नाम के उद्यान में 'पोलास' नाम का एक चैत्य था। वहां अष्टम तप कर भगवान् ने थोड़ा सा देह को झुकाया और एक पुद्गल पर दृष्टि केन्द्रित कर ध्यानस्थ हो गये। फिर सब इन्द्रियों का गोपन कर दोनों पैरों को संकोच कर हाथ लटकाये, एक रात की पड़िमा में स्थित हुए। उस समय देवपति शक्रेन्द्र ने जो बहुत से देव-देवियों के बीच सभा में विराजमान थे, भगवान् को अवधिज्ञान से ध्यानस्थ देख कर नमस्कार किया और बोले – "भगवान् महावीर का धैर्य और साहस इतना अनूठा है कि मानव तो क्या शक्तिशाली देव और दानव भी उनको साधना से विचलित नहीं कर सकते।"

सब देवों ने इन्द्र की बात का अनुमोदन किया किन्तु संगम नाम के एक देव के गले में यह बात नहीं उतरी। उसने सोचा – "शक्रेन्द्र यों ही झूठी-मूठी प्रशंसा कर रहे हैं। मैं अभी जाकर उनको विचलित कर देता हूं।" ऐसा सोच कर वह जहां भगवान् ध्यानस्थ खड़े थे वहां आया। आते ही उसने एक-एक से बढ़ कर उपसर्गों का जाल बिछा दिया। शरीर के रोम-रोम में वेदना उत्पन्न कर दी। फिर भी जब भगवान् प्रतिकूल उपसर्गों से किंचित्मात्र भी चलायमान नहीं हुए तो उसने अनुकूल उपसर्ग आरम्भ किये। प्रलोभन के मनमोहक दृश्य उपस्थित किये। गगनमंडल से तरुण, सुन्दर अप्सराएं उतरीं और हाव-भाव आदि करती हुई प्रभु से काम-याचना करने लगीं। पर महावीर पर उनका कोई असर नहीं हुआ। वे सुमेरु की तरह ध्यान में अडोल खड़े रहे।

संगम ने एक रात में निम्नलिखित बीस भयंकर उपसर्ग उपस्थित किये-

(१) प्रलयकारी धूल की वर्षा की।
(२) वज्रमुखी चींटियां उत्पन्न कीं, जिन्होंने काट-काट कर महावीर के शरीर को खोखला कर दिया।
(३) डांस और मच्छर छोड़े जो प्रभु के शरीर का खून पीने लगे।
(४) दीमक उत्पन्न कीं जो शरीर को काटने लगीं।
(५) बिच्छुओं द्वारा डंक लगवाये।
(६) नेवले उत्पन्न किये जो भगवान् के मांस-खण्ड को छिन्न-भिन्न करने लगे।

[1] आवश्यक चूर्णि, पृ० ३०१।

(७) भीमकाय सर्प उत्पन्न कर प्रभु को उन सर्पों से कटवाया।
(८) चूहे उत्पन्न किये जो शरीर में काट-काट कर ऊपर पेशाब कर जाते।
(९-१०) हाथी और हथिनी प्रकट कर उनकी सूंड़ों से भगवान् के शरीर को उछलवाया और उनके दांतों से प्रभु पर प्रहार करवाये।
(११) पिशाच बन कर भगवान् को डराया धमकाया और बर्छी मारने लगा।
(१२) वाघ बन कर प्रभु के शरीर का नखों से विदारण किया।
(१३) सिद्धार्थ और त्रिशला का रूप बना कर करुणविलाप करते दिखाया।
(१४) शिविर की रचना कर भगवान् के पैरों के बीच आग जला कर भोजन पकाने की चेष्टा की।
(१५) चाण्डाल का रूप बना कर भगवान् के शरीर पर पक्षियों के पिंजर लटकाये जो चौंचों और नखों से प्रहार करने लगे।
(१६) आंधी का रूप खड़ा कर कई बार भगवान् के शरीर को उठाया।
(१७) कलंकलिका वायु उत्पन्न कर उससे भगवान् को चक्र की तरह घुमाया।
(१८) कालचक्र चलाया जिससे भगवान् घुटनों तक जमीन में धंस गये।
(१९) देव रूप से विमान में बैठ कर आया और बोला – "कहो तुमको स्वर्ग चाहिए या अपवर्ग (मोक्ष)? और
(२०) एक अप्सरा को लाकर भगवान् के सम्मुख प्रस्तुत किया किन्तु उसके रागपूर्ण हाव-भाव से भी भगवान् विचलित नहीं हुए।

रात भर के इन भयंकर उपसर्गों से भी जब भगवान् विचलित नहीं हुए तो संगम कुछ और उपाय सोचने लगा। महावीर ने भी ध्यान पूर्ण कर 'वालुका' की ओर विहार किया।[1] भगवान् की मेरुतुल्य धीरता और सागरवत् गम्भीरता को देख कर संगम लज्जित हुआ। उसे स्वर्ग में जाते लज्जा आने लगी। इतने पर भी उसका जोश ठंडा नहीं हुआ। उसने पांच सौ चोरों को मार्ग में खड़ा करके प्रभु को भयभीत करना चाहा। 'बालुका' से भगवान् 'सुयोग', 'सुच्छेत्ता', 'मलभ' और 'हस्तिशीर्ष' आदि गांवों में जहां भी पधारे वहां संगम अपने उपद्रवी स्वभाव का परिचय देता रहा।[2]

एक बार भगवान् 'तोसलि गांव' के उद्यान में ध्यानस्थ विरामान थे, तब संगम साधु-वेष बना कर गांव के घरों में सेंध लगाने लगा। लोगों ने चोर समझ कर जब उसको पकड़ा और पीटा तो वह बोला – "मुझे क्यों पीटते हो?

[1] आवश्यक चूर्णि, पृ० ३११।
[2] आवश्यक चूर्णि, पृ० ३११।

मैंने तो गुरु की आज्ञा का पालन किया है। यदि तुम्हें असली चोर को पकड़ना है तो उद्यान में जाओ, जहां मेरे गुरु कपट रूप में ध्यान किये खड़े हैं और उनको पकड़ो।" उसकी बात से प्रभावित होकर तत्क्षण लोग उद्यान में पहुंचे और ध्यानस्थ महावीर को पकड़ कर रस्सियों से जकड़ कर गांव की ओर ले जाने लगे। उस समय 'महाभूतिल' नाम के ऐन्द्रजालिक ने भगवान् को पहचान लिया क्योंकि उसने पहले 'कुंडग्राम' में महावीर को देखा था। अतः लोगों को समझा कर महावीर को छुड़ाया और कहा – "यह सिद्धार्थ राजा के पुत्र हैं, चोर नहीं।" ऐन्द्रजालिक की बात सुन कर लोगों ने प्रभु से क्षमायाचना की। झूठ बोल कर साधु को चोर कहने वाले संगम को जब लोग खोजने लगे तो उसका कहीं पता नहीं चला। इस पर लोगों ने समझा कि यह कोई देवकृत उपसर्ग है।[1]

इसके बाद भगवान् 'मोसलि ग्राम' पधारे। संगम ने वहां पर भी उन पर चोरी का आरोप लगाया। भगवान् को पकड़ कर राज्य-सभा में ले जाया गया। वहां 'सुमागध' नामक प्रान्ताधिकारी, जो सिद्धार्थ राजा का मित्र था, उसने महावीर को पहचान कर छुड़ा दिया। यहां भी संगम लोगों की पकड़ में नहीं आया और भाग गया। फिर भगवान् लौट कर 'तोसलि' आये और गांव के बाहर ध्यानावस्थित हो गये। संगम ने यहां भी चोरी करके भारी शस्त्रास्त्र महावीर के पास, उन्हें फंसाने की भावना से ला रखे और स्वयं कहीं जाकर सेंध लगाने लगा। पकड़े जाने पर उसने धर्माचार्य का नाम बता कर भगवान् को पकड़वा दिया। अधिकारियों ने उनके पास शस्त्र देखे तो नामी चोर समझ कर फांसी की सजा सुना दी। ज्योंही प्रभु को फांसी के तख्ते पर चढ़ा कर उनकी गर्दन में फंदा डाला और नीचे से तख्ती हटाई कि गले का फंदा टूट गया। पुनः फंदा लगाया गया पर वह भी टूट गया। इस प्रकार सात बार फांसी पर चढ़ाने पर भी फांसी का फंदा टूटता ही रहा तो दर्शक एवं अधिकारी चकित हो गये। अधिकारी पुरुषों ने प्रभु को महापुरुष समझ कर मुक्त कर दिया।[2]

यहां से भगवान् सिद्धार्थपुर पधारे। वहां भी संगम देव ने महावीर पर चोरी का आरोप लगा कर उन्हें पकड़वाया किन्तु कौशिक नाम के एक अश्व-व्यापारी ने पहचान कर भगवान् को मुक्त करवा दिया।[3]

भगवान् वहां से व्रजगांव पधारे, वहां पर उस दिन कोई महोत्सव था। अतः सब घरों में खीर पकाई गई थी। भगवान् भिक्षा के लिए पधारे तो संगम ने सर्वत्र 'अनेषणा' कर दी। भगवान् इसे संगमकृत उपसर्ग समझ कर लौट आये और ग्राम के बाहर ध्यानावस्थित हो गये।

इस प्रकार लगातार छः मास तक अगणित कष्ट देने पर भी जब संगम ने देखा कि महावीर अपनी साधना से विचलित नहीं हुए बल्कि वे पूर्ववत् ही

[1] आवश्यक चूर्णि, पृ० ३१२
[2] आवश्यक चूर्णि, पृ. ३१३
[3] आवश्यक चू., पृ० ३१३

विशुद्ध भाव से जीवमात्र का हित सोच रहे हैं तो परीक्षा करने का उसका धैर्य टूट गया, वह हताश हो गया। पराजित होकर वह भगवान् के पास आया और बोला – "भगवन्! देवेन्द्र ने आपके विषय में जो प्रशंसा की है, वह सत्य है। प्रभो! मेरे अपराध क्षमा करो। सचमुच आपकी प्रतिज्ञा सच्ची और आप उसके पारगामी हैं। अब आप भिक्षा के लिए जायें, किसी प्रकार का उपसर्ग नहीं होगा।"

संगम की बात सुन कर महावीर बोले – "संगम! मैं इच्छा से ही तप या भिक्षा-ग्रहण करता हूं। मुझे किसी के आश्वासन की अपेक्षा नहीं है।" दूसरे दिन छह मास की तपस्या पूर्ण कर भगवान् उसी गांव में भिक्षार्थ पधारे और 'वत्सपालक' बुढ़िया के यहां परमान्न से पारणा किया। दान की महिमा से वहां पर पंच-दिव्य प्रकट हुए। यह भगवान् की दीर्घकालीन उपसर्ग सहित तपस्या थी।

व्रज गांव से 'आलंभिया', 'श्वेताम्बिका', 'सावत्थी', 'कोशाम्बी', 'वाणारसी', 'राजगृह' और मिथिला आदि को पावन करते हुए भगवान् वैशाली पधारे और नगर के बाहर समरोद्यान में बलदेव के मन्दिर में चातुर्मासिक तप अंगीकार कर ध्यानस्थ हुए। इस वर्ष का वर्षाकाल वहीं पूर्ण हुआ।

जीर्ण सेठ की भावना

वैशाली में जिनदत्त नामक एक भावुक श्रावक रहता था। आर्थिक स्थिति क्षीण होने से उसका घर पुराना हो गया और लोग उसको जीर्ण सेठ कहने लगे। वह सामुद्रिक शास्त्र का भी ज्ञाता था। भगवान् की पद-रेखाओं के अनुसंधान में वह उस उद्यान में गया और प्रभु को ध्यानस्थ देख कर परम प्रसन्न हुआ।

प्रीतिवश वह प्रतिदिन भगवान् को नमस्कार करने आता और आहारादि के लिए भावना करता। इस तरह निरन्तर चार मास तक चातक की तरह चाह करने पर भी उसकी भव्य भावना पूर्ण नहीं हो सकी।

चातुर्मास पूर्ण होने पर भगवान् भिक्षा के लिए निकले और अपने संकल्प के अनुसार गवेषणा करते हुए 'अभिनव' श्रेष्ठी के द्वार पर खड़े रहे। यह नया धनी था, इसका मूल नाम पूर्ण था। प्रभु को देख कर सेठ ने लापरवाही से दासी को आदेश दिया और चम्मच भर कुलत्थ बहराये। भगवान् ने उसी से चार मास की तपस्या का पारणा किया। पंच-दिव्य वृष्टि के साथ देव-दुन्दुभि बजी किन्तु जीर्ण सेठ भगवान् के पधारने की प्रतीक्षा में उत्कट भावना के साथ खड़ा रहा, उसकी प्रतीक्षा बनी रही, वह भावना की अत्यन्त उच्चतम स्थिति पर पहुंच चुका था। इस उत्कट उज्वल भावना से जीर्ण सेठ ने बारहवें स्वर्ग का बन्ध किया। कहा जाता है कि यदि दो घड़ी देव-दुन्दुभि वह नहीं सुन पाता तो केवलज्ञान प्राप्त कर लेता।

साधना का बारहवां वर्ष : चमरेन्द्र द्वारा शरण-ग्रहण

वर्षाकाल पूर्ण कर भगवान् वहां से 'सुसुमार' पधारे। यहां 'भूतानन्द' ने आकर प्रभु से कुशल पूछा और सूचित किया – "कुछ समय में आपको केवल-

ज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति होगी। भूतानन्द की बात सुन कर प्रभु मौन ही रहे।

'सुन्सुमारपुर' में चमरेन्द्र के उत्पात की घटना और शरण-ग्रहण का भगवती सूत्र में विस्तृत वर्णन है, जो इस प्रकार है :-

भगवान् ने कहा - "जिस समय मैं छद्मस्थचर्या के ग्यारह वर्ष बिता चुका था उस समय की बात है कि छट्ठ-छट्ठ तप के निरन्तर पारण करते हुए मैं सुन्सुमारपुर के वनखण्ड में आया और अशोक वृक्ष के नीचे पृथ्वी-शिला-पट्ट पर ध्यानावस्थित हो गया। उस समय चमरचंचा में 'पूरण' बाल तपस्वी का जीव इन्द्र रूप से उत्पन्न हुआ। उसने अवधिज्ञान से अपने ऊपर शक्रेन्द्र को सिंहासन पर दिव्य भोग भोगते देखा। यह देख कर उसके मन में विचार उत्पन्न हुआ - "यह मृत्यु को चाहने वाला लज्जारहित कौन है जो मेरे ऊपर पैर किये इस तरह दिव्य भोग भोग रहा है ?" चमरेन्द्र को सामानिक देवों ने परिचय दिया कि यह देवराज शक्रेन्द्र हैं, सदा से ये अपने स्थान को भोग रहे हैं। चमरेन्द्र को इससे संतोष नहीं हुआ। वह शक्रेन्द्र की शोभा को नष्ट करने के विचार से निकला और मेरे पास आकर बोला - "भगवन् ! मैं आपकी शरण लेकर स्वयं ही देवेन्द्र शक्र को उसकी शोभा से भ्रष्ट करना चाहता हूँ।" इसके बाद वह वैक्रिय रूप बना कर सौधर्म देवलोक में गया और हुंकार करते हुए बोला - "कहां है ? देवराज शक्रेन्द्र कहां है ? चौरासी हजार सामानिक देव और करोड़ों अप्सरायें कहां हैं, उन सबको मैं अभी नष्ट करता हूँ।"

चमरेन्द्र के रोषभरे अप्रिय शब्द सुन कर देवपति शक्रेन्द्र को क्रोध आया और वे भृकुटि चढ़ा कर बोले - "अरे हीन-पुण्य ! असुरेन्द्र ! असुरराज ! तू आज ही मर जायेगा।" ऐसा कह कर शक्रेन्द्र ने सिंहासन पर बैठे-बैठे ही वज्र हाथ में ग्रहण किया और चमरेन्द्र पर दे मारा। हजारों उल्काओं को छोड़ता हुआ वह वज्र चमरेन्द्र की ओर बढ़ा। उसे देख कर असुरराज चमरेन्द्र भयभीत हो गया और सिर नीचा व पद ऊपर कर के भागते हुए तेज गति से मेरे पास आया एवं अवरुद्ध कण्ठ से बोला - "भगवन् ! आप ही शरणाधार हो" और यह कहते हुए वह मेरे पांवों के बीच गिर पड़ा।

उस समय शक्रेन्द्र को विचार हुआ कि चमर अपने बल से तो इतना साहस नहीं कर सकता, इसके पीछे कोई पीठ-बल होना चाहिए। विचार करते हुए उसने अवधिज्ञान से मुझे देखा और जान लिया कि भगवान् महावीर की शरण लेकर यह यहां आया है। अतः ऐसा न हो कि मेरे छोड़े हुए वज्र से भगवान् को पीड़ा हो जाय। यह सोच कर इन्द्र तीव्र गति से दौड़ा और मुझ से चार अंगुल दूर स्थित वज्र को उसने पकड़ लिया।"[1]

---

[1] ममं च एां चउरंगुल मसंपत्तं वज्जं पडिसाहरइ।
[भगवती शतक, ३।२।सू. १४५।३०२]

भगवान् की चरण-शरण में होने से शक्रैन्द्र ने चमरेन्द्र को अभय दिया और स्वयं प्रभु से क्षमायाचना कर चला गया।

सुसुमारपुर से भगवान् 'भोगपुर', 'नंदिग्राम' होते हुए 'मेढ़ियाग्राम' पधारे। वहां ग्वालों ने उन्हें अनेक प्रकार के उपसर्ग दिये।

कठोर अभिग्रह

मेढ़िया ग्राम से भगवान् कोशाम्वी पधारे और पौष कृष्णा प्रतिपदा के दिन उन्होंने एक विकट-अभिग्रह धारण किया जो इस प्रकार है :—

"द्रव्य से उड़द के बाकले सूप के कोने में हों, क्षेत्र से देहली के बीच खड़ी हो, काल से भिक्षा समय बीत चुका हो, भाव से राजकुमारी दासी बनी हो, हाथ में हथकड़ी और पैरो में बेड़ी हो, मुंडित हो, आंखों में आंसू और तेले की तपस्या किये हुए हो, इस प्रकार के व्यक्ति के हाथ से यदि भिक्षा मिले तो लेना, अन्यथा नहीं।"[1]

उपर्युक्त कठोरतम प्रतिज्ञा को ग्रहण कर महावीर प्रतिदिन भिक्षार्थ कोशाम्वी में पर्यटन करते। वैभव, प्रतिष्ठा और भवन से उच्च, नीच एवं मध्यम सब प्रकार के कुलों में जाते और भक्तजन भी भिक्षा देने को लालायित रहते, पर कठोर अभिग्रहधारी महावीर बिना कुछ लिए ही उल्टे पैरों लौट जाते। जन-समुदाय इस रहस्य को समझ नहीं पाता कि ये प्रतिदिन भिक्षा के लिए आकर यों ही लौट क्यों जाते हैं। इस तरह भिक्षा के लिए घूमते हुए प्रभु को चार महीने बीत गये किन्तु अभिग्रह पूर्ण नहीं होने के कारण भिक्षा-ग्रहण का संयोग प्राप्त नहीं हुआ। नगर भर में यह चर्चा फैल गई कि भगवान् इस नगर की भिक्षा ग्रहण करना नहीं चाहते। सर्वत्र आश्चर्य प्रकट किया जाने लगा कि आखिर इस नगर में कौनसी ऐसी बुराई या कमी है जिससे भगवान् बिना कुछ लिए ही लौट जाते हैं।

उपासिका नन्दा की चिन्ता

एक दिन भगवान् कोशाम्बी के अमात्य 'सुगुप्त' के घर पधारे। अमात्य-पत्नी 'नन्दा' जो कि उपासिका थी, बड़ी श्रद्धा से भिक्षा देने को आयी, किन्तु पूर्ववत् महावीर बिना कुछ ग्रहण किये ही लौट गये। नन्दा को इससे बड़ा दुःख हुआ। उस समय दासियों ने कहा — "देवार्य तो प्रतिदिन ऐसे ही आकर लौट जाते हैं" तब नन्दा ने निश्चय किया कि अवश्य ही भगवान् ने कोई अभिग्रह ले रखा होगा। नन्दा ने मन्त्री सुगुप्त के सम्मुख अपनी चिन्ता व्यक्त की और बोली — "भगवान् महावीर चार महीनों से इस नगर में बिना कुछ लिए ही लौट जाते हैं, फिर आपका प्रधान पद किस काम का और किस काम की आपकी बुद्धि जो आप प्रभु के अभिग्रह का पता भी न लगा सकें?" सुगुप्त ने आश्वासन दिया कि वह इसके लिए प्रयत्न करेगा। इस प्रसंग पर राजा की प्रतिहारी 'विजया' भी उपस्थित थी, उसने महल में जाकर महारानी मृगावती को सूचित किया। रानी

[1] आव० चू०, प्रथम भाग, पृ० ३१६–३१७

मृगावती भी इस बात को सुन कर बहुत दुःखी हुई और राजा से बोली- "महाराज ! भगवान् महावीर बिना भिक्षा लिए इस नगर से लौट जाते हैं और अभी तक आप उनके अभिग्रह का पता नहीं लगा सके।" राजा शतानीक ने रानी को आश्वस्त किया और कहा कि शीघ्र ही इसका पता लगाने का यत्न किया जायगा। उसने 'तथ्यवादी' नाम के उपाध्याय से भगवान् के अभिग्रह की बात पूछी, मगर वह बता नहीं सका। फिर राजा ने मंत्री सुगुप्त से पूछा तो उसने कहा - "राजन् अभिग्रह अनेक प्रकार के होते हैं, पर किसके मन में क्या है, यह कहना कठिन है।" उन्होंने साधुओं के आहार-पानी लेने-देने के नियमों की जानकारी प्रजाजनों को करा दी, किन्तु भगवान् ने फिर भी भिक्षा नहीं ली।

भगवान् को अभिग्रह धारण किये पांच महीने पच्चीस दिन हो गये थे। संयोगवश एक दिन भिक्षा के लिए प्रभु 'धन्ना' श्रेष्ठी के घर गये, जहां राजकुमारी चन्दना तीन दिन की भूखी-प्यासी, सूप में उड़द के बाकले लिए हुए धर्मपिता के आगमन की प्रतीक्षा कर रही थी। सेठानी मूला ने उसको, सिर मुंडित कर, हथकड़ी पहनाये तलघर में बन्द कर रखा था। भगवान् को आया देख कर वह प्रसन्न हो उठी। उसका हृदय-कमल खिल गया किन्तु भगवान् अभिग्रह की पूर्णता में कुछ न्यूनता देख कर वहां से लौटने लगे तो चन्दना के नयनों से नीर बह चला। भगवान् ने अपना अभिग्रह पूरा हुआ जान कर राजकुमारी चन्दना के हाथ से भिक्षा ग्रहण कर ली। चन्दना की हथकड़ियां और बेड़ियां टूट कर बहुमूल्य आभूषणों में बदल गईं। आकाश में देव-दुन्दुभि बजी, पंच-दिव्य प्रकट हुए। चन्दना का चिन्तातुर चित्त और अपमान-प्रपीड़ित-मलिन मुख सहसा चमक उठा।

भगवान् को केवलज्ञान उत्पन्न होने पर यही चन्दना भगवान् की प्रथम शिष्या और साध्वी-संघ की प्रथम सदस्या बनी।

जनपद में विहार

'कोशाम्बी' से विहार कर प्रभु सुमंगल, सुछेत्ता, पालक प्रभृति गांवों में होते हुए चम्पा नगरी पधारे और चातुर्मासिक तप करके उन्होंने वहीं 'स्वातिदत्त' ब्राह्मण की यज्ञशाला में बारहवां चातुर्मास पूर्ण किया।[१]

स्वातिदत्त के तात्त्विक प्रश्न

भगवान् की साधना से प्रभावित होकर 'पूर्णभद्र' और 'मणिभद्र' नाम के दो यक्ष रात को प्रभु की सेवा में आया करते थे। यह देख कर स्वातिदत्त ने सोचा कि ये कोई विशिष्ट ज्ञानी हैं जो देव इनकी सेवा में आते हैं। ऐसा सोच कर वह महावीर के पास आया और बोला कि शरीर में आत्मा क्या है?[२] भगवान् ने कहा - "मैं शब्द का जो वाच्यार्थ है वही आत्मा है।" स्वातिदत्त ने कहा - "मैं

[१] आव० चू०, पृ० ३२०।
[२] त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र, पर्व १०, सर्ग ४, श्लोक ६१०।

शब्द का वाच्यार्थ किसको कहते हैं ? आत्मा का स्वरूप क्या है ?" प्रभु बोले – "आत्मा इन अंग-उपांगों से भिन्न अत्यन्त सूक्ष्म और रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि से रहित है, उपयोग-चेतना ही उसका लक्षण है। अरूप होने से इन्द्रियां उसे ग्रहण नहीं कर पातीं। अत: शब्द, रूप, प्रकाश और किरण से भी आत्मा सूक्ष्मतम है।" फिर स्वातिदत्त ने कहा – "क्या ज्ञान का ही नाम आत्मा है ?" भगवान् बोले – "ज्ञान आत्मा का असाधारण गुण है और आत्मा ज्ञान का आधार है। गुणी होने से आत्मा को ज्ञानी कहते हैं।"

इसी तरह स्वातिदत्त ने प्रदेशन और प्रत्याख्यान[1] के स्वरूप तथा भेद के बारे में भी प्रभु से पूछा, जिसका समाधानकारक उत्तर पाकर वह बहुत ही प्रसन्न हुआ।

ग्वाले द्वारा कानों में कील ठोकना

वहां से विहार कर प्रभु 'जंभियग्राम'[2] पधारे। वहां कुछ समय रहने के बाद मेढ़ियाग्राम होते हुए 'छम्माणि'[3] ग्राम गये और गांव के बाहर ध्यान में स्थिर हो गये। संध्या के समय एक ग्वाला वहां आया और प्रभु के पास अपने बैल छोड़ कर कार्य हेतु गांव में चला गया। वापिस आने पर उसे बैल नहीं मिले तो उसने महावीर से पूछा किन्तु महावीर मौन थे। उनके उत्तर नहीं देने से क्रुद्ध होकर उसने महावीर के दोनों कानों में कांस नामक घास की शलाकाएं डालीं और पत्थर से ठोंक कर कान के बराबर कर दी। भगवान् को इस शलाका-छेदन से अति वेदना हो रही थी फिर भी वे इस वेदना को पूर्व-संचित कर्म का फल समझ कर, शान्त और प्रसन्न मन से सहते रहे।

'छम्माणि' से विहार कर प्रभु 'मध्यम पावा'[4] पधारे और भिक्षा के लिये 'सिद्धार्थ' नामक वणिक् के घर गये। उस समय सिद्धार्थ अपने मित्र 'खरक' वैद्य से बातें कर रहा था। वन्दना के पश्चात् खरक ने भगवान् की मुखाकृति देखते ही समझ लिया कि इनके शरीर में कोई शल्य है और उसको निकालना उसका कर्त्तव्य है। उसने सिद्धार्थ से कहा और उन दोनों मित्रों ने भगवान् से ठहरने की प्रार्थना की किन्तु प्रभु रुके नहीं। वे वहां से चल कर गांव के बाहर उद्यान में आए और ध्यानारूढ़ हो गये।

इधर सिद्धार्थ और खरक दवा आदि लेकर उद्यान में पहुंचे। उन्होंने भगवान् के शरीर की तेल से खूब मालिश की और फिर संडासी से कानों की शलाकाएं खींच कर बाहर निकालीं। रुधिरयुक्त शलाका के निकलते ही भगवान् के मुख से एक ऐसी चीख निकली जिससे कि सारा उद्यान गूंज उठा। फिर वैद्य

---

[1] आव० चू०, पृ० ३२०–३२१
[2] आव० चू०, पृ० ३२१।
[3] छम्माणि मगध देश में था, बौद्ध ग्रन्थों में इसका नाम खाउमत प्रसिद्ध है ॥
[वीर विहार मीमांसा हिन्दी, पृ० २८]
[4] आ० मळय नि०, गा० ५२४ की टीका। पृ० १९८

खरक ने संरोहण औषधि घाव पर लगा कर प्रभु की वन्दना की और दोनों मित्र घर की ओर चल पड़े

उपसर्ग और सहिष्णुता

कहा जाता है कि दीर्घकाल की तपस्या में भगवान् को जो अनेक प्रकार के अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्ग सहने पड़े, उन सबमें कानों से कील निकालने का उपसर्ग सबसे अधिक कष्टप्रद रहा। इस भयंकर उपसर्ग के सामने 'कटपूतना' का शैत्यवर्धक उपसर्ग जघन्य और संगम के कालचक्र का उपसर्ग मध्यम कहा जा सकता है। जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट इन सभी उपसर्गों में भगवान् ने समभाव से रहकर महती कर्म-निर्जरा की। आश्चर्य की बात है कि भगवान् का पहला उपसर्ग कुर्मार ग्राम में एक ग्वाले से प्रारम्भ हुआ और अन्तिम उपसर्ग भी एक ग्वाले के द्वारा ही उपस्थित किया गया।

छद्मस्थकालीन तप

छद्मस्थकाल के साधिक साढ़े बारह वर्ष जितने दीर्घकाल में भगवान् महावीर ने केवल तीन सौ उनचास दिन ही आहार ग्रहण किया, शेष सभी दिन निर्जल तपस्या में व्यतीत किये।

कल्पसूत्र के अनुसार श्रमण भगवान् महावीर दीक्षित होकर १२ वर्ष से कुछ अधिक काल तक निर्मोह भाव से साधना में तत्पर रहे। उन्होंने शरीर की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया। जो भी उपसर्ग, चाहे वे देव सम्बन्धी, मनुष्य सबन्धी अथवा तिर्यंच सम्बन्धी उत्पन्न हुए, उन अनुकूल एवं प्रतिकूल सभी उपसर्गों को महावीर ने निर्भय होकर समभावपूर्वक सहन किया। उनकी कठोर साधना और उग्र तपस्या बेजोड़ थी।

भगवान् सहावीर ने अपनी तपःसाधना में कई बार पन्द्रह २ दिन और महीने-महीने तक जल भी नहीं ग्रहण किया। कभी वे दो-दो महीने और अधिक छः, छः महीने तक पानी नहीं पीते हुए रात दिन निस्पृह होकर विचरते रहे। पारणे में भी वे नीरस आहार पाकर संतोष मानते। उनकी छद्मस्थकालीन तपस्या इस प्रकार है :–

(१) एक छ-मासी तप
(२) एक पांच दिन कम छ-मासी तप।
(३) नौ (९) चातुर्मासिक तप।
(४) दो त्रैमासिक तप।
(५) दो (२) सार्धद्वैमासिक तप।
(६) छह (६) द्वैमासिक तप।
(७) (२) सार्धमासिक तप।
(८) बारह (१२) मासिक तप।
(९) बहत्तर पाक्षिक तप।
(१०) एक भद्र प्रतिमा दो दिन की।
(११) एक महाभद्र प्रतिमा चार दिन की।
(१२) एक सर्वतोभद्र प्रतिमा दश दिन की।
(१३) दो सौ उनतीस छट्ठ भक्त।
(१४) बारह अष्टम भक्त।
(१५) तीन सौ उनचास दिन पारणा
(१६) एक दिन दीक्षा का।[1]

[1] कल्पसूत्र, ११९।

आचारांग सूत्र के अनुसार दशमभक्त आदि तपस्यायें भी प्रभु ने की थीं। इस प्रकार की कठोर साधना और उग्र तपस्या के कारण ही अन्य तीर्थंकरों की अपेक्षा महावीर की तप:साधना उत्कृष्ट मानी गई है। निर्युक्तिकार भद्रबाहु के अनुसार महावीर की तपस्या सबसे अधिक उग्र थी। कहा जाता है कि उनके संचित कर्म भी अन्य तीर्थंकरों की अपेक्षा अधिक थे।

महावीर की उपमा

भगवान् महावीर की विशिष्टता शास्त्र में निम्न उपमाओं से बताई गई है। वे :-

(१) कांस्य-पात्र की तरह निर्लेप।
(२) शंख की तरह निरंजन राग-रहित।
(३) जीव की तरह अप्रतिहत गति।
(४) गगन की तरह आलम्बन रहित।
(५) वायु की तरह अप्रतिबद्ध।
(६) शरद ऋतु के स्वच्छ जल की तरह निर्मल।
(७) कमलपत्र के समान भोग में निर्लेप।
(८) कच्छप के समान जितेन्द्रिय।
(९) गेंडे की तरह राग-द्वेष से रहित-एकाकी।
(१०) पक्षी की तरह अनियत विहारी।
(११) भारण्ड की तरह अप्रमत्त।
(१२) उच्च जातीय गजेन्द्र के समान शूर।
(१३) वृषभ के समान पराक्रमी।
(१४) सिंह की तरह दुर्द्धर्ष।
(१५) सुमेरु की तरह परीषहों के बीच अचल।
(१६) सागर की तरह गंभीर।
(१७) चन्द्रवत् सोम्य।
(१८) सूर्यवत् तेजस्वी।
(१९) स्वर्ण की तरह कान्तिमान्।
(२०) पृथ्वी के समान सहिष्णु। और
(२१) अग्नि की तरह जाज्वल्य-मान तेजस्वी थे।

केवलज्ञान

अनुत्तर ज्ञान, अनुत्तर दर्शन और अनुत्तर चारित्र आदि गुणों से आत्मा को भावित करते हुए भगवान् महावीर को साढ़े बारह वर्ष पूर्ण हो गये। तेरहवें वर्ष के मध्य में ग्रीष्म ऋतु के दूसरे मास एवं चतुर्थ पक्ष में वैशाख शुक्ला दशमी के दिन जिस समय छाया पूर्व की ओर बढ़ रही थी, दिन के उस पिछले प्रहर में जृंभिकाग्राम नगर के बाहर ऋजुबालुका नदी के किनारे जीर्ण उद्यान के पास श्यामाक नामक गाथापति के क्षेत्र में शाल वृक्ष के नीचे गोदोहिका आसन से प्रभु आतापना ले रहे थे। उस समय छट्ठ भक्त की निर्जल तपस्या से उन्होंने

[1] कल्पसूत्र, ११७।

क्षपक श्रेणी का आरोहण कर, शुक्ल-ध्यान के द्वितीय चरण में मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय इन चार घाती कर्मों का क्षय किया और उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र के योग में केवलज्ञान एवं केवल दर्शन की उपलब्धि की। अब भगवान् भाव अर्हन्त कहलाये। देव, मनुष्य, असुर, नारक, तिर्यंच, चराचर सहित सम्पूर्ण लोक की पर्याय को जानने और देखने वाले, सब जीवों के गुप्त अथवा प्रकट सभी तरह के मनोगत भावों को जानने वाले, सर्वज्ञ सर्वदर्शी बन गये।

प्रथम देशना

भगवान् महावीर को केवलज्ञान उत्पन्न होते ही देवगण पंचदिव्यों की वृष्टि करते हुए ज्ञान की महिमा करने आये। देवताओं ने सुन्दर और विराट् समवशरण की रचना की। यह जानते हुए भी कि यहां सर्वविरति व्रत ग्रहण करने योग्य कोई नहीं हैं भगवान् ने कल्प समझ कर कुछ काल उपदेश दिया। वहां मनुष्यों की उपस्थिति नहीं होने से किसी ने विरति रूप चारित्र-धर्म स्वीकार नहीं किया। तीर्थंकर का उपदेश कभी व्यर्थ नहीं जाता किन्तु महावीर की प्रथम देशना का परिणाम विरति-ग्रहण की दृष्टि से शून्य रहा जो कि अभूतपूर्व होने के कारण आश्चर्य माना गया है।

श्वेताम्बर परम्परा के आगम साहित्य में और शीलांकाचार्य के 'चउवन महापुरिस चरिउम्' को छोड़कर प्रायः सभी आगमेतर साहित्य में भी यह सर्वसम्मत मान्यता दृष्टिगोचर होती है कि भगवान् महावीर की प्रथम देशना अभाविता परिषद् के समक्ष हुई। उसके परिणामस्वरूप जिस प्रकार भगवान् महावीर के पूर्ववर्ती तेबीस तीर्थंकरों की प्रथम देशना से प्रभावित होकर अनेक भव्यात्माओं ने सर्वविरति महाव्रत अंगीकार किये उस प्रकार भगवान् महावीर की प्रथम देशना से एक भी व्यक्ति ने सर्वविरति महाव्रत धारण नहीं किये।

इस संदर्भ में श्री हेमचन्द्र आदि प्रायः सभी आचार्यों का यह अभिमत ध्वनित होता है कि भगवान् की प्रथम देशना के अवसर पर समवशरण में एक भी भव्य मानव उपस्थित नहीं हो सका था।

पर आचार्य गुणचन्द्र ने अपने 'महावीर चरियम्' में भगवान् महावीर के प्रथम समवशरण की परिषद् को अभाविता-परिषद् स्वीकार करते हुए भी यह स्पष्ट उल्लेख किया है कि उस परिषद् में मनुष्य भी उपस्थित हुए थे।[1]

शीलांक जैसे उच्च कोटि के विद्वान् और प्राचीन आचार्य ने अपने 'चउवन्न महापुरिस चरियम्' में 'अभाविता-परिषद्' का उल्लेख तक भी नहीं करते हुए

[1] ताहे तिलोयनाहो थुव्वन्तो देवनरनरिंदेहिं।
सिंहासणे निसीयइ, तित्थपणामं पकाऊण ।।४।।
जइविहु एरिसनाणेण जिणवरो मुणइ जोग्गयारहियं।
कप्पोत्ति तहवि साहइ, खणमेत्तं धम्मपरमत्थं ।।५।।
[महावीर चरियम् (आचार्य गुणचन्द्र), प्रस्ताव ७]

'ऋजुवालुका' नदी के तट पर हुई भगवान् महावीर की प्रथम देशना में ही इन्द्र-भूति आदि ग्यारह विद्वानों के अपने-अपने शिष्यों सहित उपस्थित होने, उनकी मनोगत शंकाओं का भगवान् द्वारा निवारण करने एवं प्रभुचरणों में दीक्षित हो गणधर-पद प्राप्त करने आदि का विवरण दिया है।[1]

मध्यमापावा में समवशरण

यहां से भगवान् 'मध्यमापावा' पधारे। वहां पर 'आर्य सोमिल' द्वारा एक विराट् यज्ञ का आयोजन किया जा रहा था जिसमें कि अनेक उच्च कोटि के विद्वान् निमन्त्रित थे। भगवान् ने वहां के विहार को बड़ा लाभ का कारण समझा। जब 'जंभिय गांव' से आप पावापुरी पधारे तब देवों ने अशोक वृक्ष आदि महाप्रातिहार्यों[2] से प्रभु की महती महिमा की। देवों द्वारा एक भव्य और विराट् समवशरण की रचना की गई। वहां देव-दानव और मानवों आदि की विशाल सभा में भगवान् उच्च सिंहासन पर विराजमान हुए।[3] मेघ-सम गम्भीर ध्वनि में महावीर ने अर्धमागधी भाषा में देशना प्रारम्भ की। भव्य भक्तों के मनमयूर इस अलौकिक उपदेश को सुनकर आत्मविभोर हो उठे।

इन्द्रभूति का आगमन

आकाश-मार्ग से देव-देवियों के समुदाय आने लगे। यज्ञस्थल के पण्डितों ने देवगण को बिना रुके सीधे ही आगे निकलते देखा तो उन्हें आश्चर्य हुआ। प्रमुख पण्डित इन्द्रभूति को जब मालूम हुआ कि नगर के बाहर सर्वज्ञ महावीर आये हैं और उन्हीं के समवशरण में ये देवगण जा रहे हैं, तो उनके पाण्डित्य को आंच सी आने लगी। वे भगवान् महावीर के अलौकिक ज्ञान की परख करने और उन्हें शास्त्रार्थ में पराजित करने की भावना से समवशरण में आये। उनके साथ पांच सौ छात्र और अन्य विद्वान् भी थे।

समवशरण में आकर इन्द्रभूति ने ज्योंही महावीर के तेजस्वी मुख-मण्डल एवं छत्रादि अतिशयों को देखा तो अत्यन्त प्रभावित हुए और महावीर ने जब उन्हें "गौतम" कहकर पुकारा तो वे चकित हो गये। इन्द्रभूति ने मन ही मन सोचा - "मेरी ज्ञान विषयक सर्वत्र प्रसिद्धि के कारण इन्होंने नाम से पुकार लिया है। पर जब तक ये मेरे अंतरंग संशयों का छेदन नहीं कर दें, मैं इन्हें सर्वज्ञ नहीं मानूंगा।"

इन्द्रभूति का शंका-समाधान

गौतम के मनोगत भावों को समझकर महावीर ने कहा – "गौतम! मालूम होता है, तुम चिरकाल से आत्मा के विषय में शंकाशील हो।" इन्द्रभूति अपने

---

[1] आवश्यक, गा० ५३९।
[2] चउप्पन्नमहापुरिसचरियं, पृ० २९९ से ३०३।
[3] अशोकवृक्षः सुरपुष्पवृष्टिः, दिव्यध्वनिश्चामरमासनं च।
भामण्डलं दुन्दुभिरातपत्रं, सत्प्रातिहार्याणि जिनेश्वरस्य॥

आन्तरिक प्रश्न को सुनकर अत्यन्त विस्मित हुए। उन्होंने कहा - "हां मुझे यह शंका है। 'श्रुतियों में', विज्ञान-घन आत्मा भूत-समुदाय से ही उत्पन्न होती है और उसी में पुनः तिरोहित हो जाती है, अतः परलोक की संज्ञा नहीं, ऐसा कहा गया है। जैसे -- 'विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति, न प्रेत्य संज्ञास्ति।' इसके अनुसार पृथ्वी आदि भूतों से पृथक् पुरुष-आत्मा का अस्तित्व कैसे संभव हो सकता है?"

इन्द्रभूति का प्रश्न सुनकर प्रभु महावीर ने शान्तभाव से उत्तर देते हुए कहा- "इन्द्रभूति ! तुम 'विज्ञानघन...' इस श्रुतिवाक्य का जिस रूप में अर्थ समझ रहे हो, वस्तुतः उसका वैसा अर्थ नहीं है। तुम्हारे मतानुसार विज्ञानघन का अर्थ भूत समुदायोत्पन्न चेतनापिण्ड है, पर उसका सही अर्थ विविध ज्ञानपर्यायों से है। आत्मा में प्रतिपल नवीन ज्ञानपर्यायों का आविर्भाव और पूर्वकालीन ज्ञानपर्यायों का तिरोभाव होता रहता है। जैसे कि कोई व्यक्ति एक घट को देख रहा है, उस पर विचार कर रहा है, उस समय उसकी आत्मा में घट विषयक ज्ञानोपयोग समुत्पन्न होता है। इस स्थिति को घट विषयक ज्ञानपर्याय कहेंगे। कुछ समय के बाद वही मनुष्य जब घट को छोड़कर पट आदि पदार्थों को देखने लगता है तब उसे पट आदि पदार्थों का ज्ञान होता है और पहले का घट-सम्बन्धी ज्ञान-पर्याय सत्ताहीन हो जाता है। अतः कहा जा सकता है कि विविध पदार्थ विषयक ज्ञान के पर्याय ही विज्ञानघन हैं। यहां भूत शब्द का अर्थ पृथ्वी आदि पंच महाभूत से न होकर जड़-चेतन रूप समस्त ज्ञेय पदार्थ से है। 'न प्रेत्य संज्ञास्ति' इस वाक्य का अर्थ परलोक का अभाव नहीं, पर पूर्व पर्याय की सत्ता नहीं, यह समझना चाहिये। इस प्रकार जब पुरुष में उत्तरकालीन ज्ञानपर्याय उत्पन्न होता है तब पूर्वकालीन ज्ञानपर्याय सत्ताहीन हो जाता है। क्योंकि किसी भी द्रव्य या गुण की उत्तर पर्याय के समय पूर्व पर्याय की सत्ता नहीं रह सकती। अतः 'न प्रेत्य संज्ञास्ति' कहा गया है।"

भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित इस तर्क-प्रधान विवेचना को सुनकर इन्द्रभूति के हृदय का संशय नष्ट हो गया और उन्होंने अपने पांच सौ शिष्यों के साथ प्रभु का शिष्यत्व स्वीकार किया। ये ही इन्द्रभूति आगे चलकर भगवान् महावीर के शासन में गौतम के नाम से प्रसिद्ध हुए।

दिगम्बर-परम्परा की मान्यता

इस सम्बन्ध में दिगम्बर परम्परा की मान्यता है कि भगवान् महावीर को केवलज्ञान की उपलब्धि होने पर देवों ने पंच-दिव्यों की वृष्टि की और इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने वैशाख शुक्ला १० के दिन ही समवशरण की रचना कर दी। भगवान् महावीर ने पूर्वद्वार से समवशरण में प्रवेश किया और वे सिंहासन पर विराजमान हुए।

भगवान् का उपदेश सुनने के लिये उत्सुक देवेन्द्र अन्य देवों के साथ हाथ जोड़े अपने प्रकोष्ठ में प्रभु के समक्ष बैठ गये। पर प्रभु के मुखारविन्द से दिव्य ध्वनि प्रस्फुटित नहीं हुई। निरन्तर कई दिनों की प्रतीक्षा के बाद भी जब प्रभु ने उपदेश नहीं दिया तो इन्द्र ने चिन्तित हो सोचा कि आखिर भगवान् के उपदेश न देने का कारण क्या है।

अवधिज्ञान से इन्द्र को जब यह ज्ञात हुआ कि गणधर के अभाव में भगवान् का उपदेश नहीं हो रहा है तो वे उपयुक्त पात्र की खोज में लगे और विचार करते करते उन्हें उस समय के प्रकाण्ड पण्डित इन्द्रभूति का ध्यान आया।

देवराज शक्र तत्काल शिष्य का छद्मवेश बना कर इन्द्रभूति के पास पहुंचे और सादर अभिवादन के पश्चात् बोले – "विद्वन्! मेरे गुरु ने मुझे एक गाथा सिखाई थी। उस गाथा का अर्थ मेरी समझ में अच्छी तरह से नहीं आ रहा है। मेरे गुरु इस समय मौन धारण किये हुए हैं अतः आप कृपा कर मुझे उस गाथा का अर्थ समझा दीजिये।"

उत्तर में इन्द्रभूति ने कहा – "मैं तुम्हें गाथा का अर्थ इस शर्त पर समझा सकता हूँ कि उस गाथा का अर्थ समझ में आ जाने पर तुम मेरे शिष्य बन जाने की प्रतिज्ञा करो।"

छद्मवेशधारी इन्द्र ने इन्द्रभूति की शर्त सहर्ष स्वीकार करते हुए उनके सम्मुख यह गाथा प्रस्तुत की :–

पंचेव अत्थिकाया, छज्जीवणिकाया महव्वया पंच।
अट्ठ य पवयणमादा, सहेउओ बंध-मोक्खो य ॥

[षट्खण्डागम, पु. ६, पृ० १२६]

इन्द्रभूति उक्त गाथा को पढ़ते ही असमंजस में पड़ गये। उनकी समझ में नहीं आया कि पंच अस्तिकाय, षड्जीवनिकाय और अष्ट प्रवचन मात्राएं कौन कौन सी हैं। गाथा में उल्लिखित 'छज्जीवणिकाया' इस शब्द से तो इन्द्रभूति एकदम चकरा गये क्योंकि जीव के अस्तित्व के विषय में उनके मन में शंका घर किये हुए थी। उनके मन में विचारों का प्रवाह उमड़ पड़ा।

हठात् अपने विचार-प्रवाह को रोकते हुए इन्द्रभूति ने आगन्तुक से कहा – "तुम मुझे तुम्हारे गुरु के पास ले चलो। उनके सामने ही मैं इस गाथा का अर्थ समझाऊंगा।"

अपने अभीप्सित कार्य को सिद्ध होता देख इन्द्र बड़ा प्रसन्न हुआ और वह इन्द्रभूति को अपने साथ लिये भगवान् के समवशरण में पहुँचा।

गौतम के वहां पहुंचते ही भगवान् महावीर ने उन्हें नाम-गोत्र के साथ सम्बोधित करते हुए कहा – "अहो गौतम इन्द्रभूति! तुम्हारे मन में जीव के अस्तित्व के विषय में शंका है कि वास्तव में जीव है या नहीं। तुम्हारे अन्तर में

जो इस प्रकार का विचार कर रहा है। वही निश्चित रूप से जीव है। उस जीव का सर्वथा अभाव न तो कभी हुआ है और न कभी होगा ही।"

भगवान् के मुखारविन्द से कभी किसी के सम्मुख प्रकट नहीं की हुई अपने मन की शंका एवं उस शंका का समाधान सुन कर इन्द्रभूति श्रद्धा तथा भक्ति के उद्रेक से प्रभुचरणों पर अवनत हो प्रभु के पास प्रथम शिष्य के रूप से दीक्षित हो गये। और इस प्रकार गौतम इन्द्रभूति का निमित्त पाकर केवलज्ञान होने के ६६ दिन बाद श्रावण-कृष्णा प्रतिपदा के दिन भगवान् महावीर ने प्रथम उपदेश दिया। यथा :–

वासस्स पढममासे, सावणणामम्मि बहुल पडिवाए।
अभिजीणक्खत्तम्मिय, उप्पत्ती धम्मतित्थस्स ॥

[तिलोयपण्णत्ती, १६८]

तीर्थस्थापन

इन्द्रभूति के पश्चात् अग्निभूति आदि अन्य दश पण्डित भी क्रमशः आये और भगवान् महावीर से अपनी शंकाओं का समाधान पा कर शिष्य मण्डली सहित दीक्षित हो गये। भगवान् महावीर ने उनको "उप्पन्ने इवा, विगमे इवा, धुवे इवा" इस प्रकार त्रिपदी का ज्ञान दिया। इसी त्रिपदी से इन्द्रभूति आदि विद्वानों ने द्वादशांग और दृष्टिवाद के अन्तर्गत चौदह पूर्व की रचना की[1] और वे गणधर कहलाये।

महावीर की वीतरागतामयी वाणी श्रवण कर एक ही दिन में उनके इन्द्रभूति आदि चार हजार चार सौ शिष्य हुए। प्रथम पांचों के पांच-पांच सौ, छट्ठे और सातवें के साढे तीन-तीन सौ, और शेष अन्तिम चार पण्डितों के तीन-तीन सौ छात्र थे। इस तरह कुल मिलाकर चार हजार चार सौ हुए। भगवान् के धर्म संघ में राजकुमारी चन्दनबाला प्रथम साध्वी बनी। शंख, शतक आदि ने श्रावक-धर्म और सुलसा आदि ने श्राविका-धर्म स्वीकार किया। इस प्रकार 'मध्यमपावा' का वह 'महासेन वन' और वैशाख शुक्ला एकादशी का दिन धन्य हो गया जब भगवान् महावीर ने श्रुतधर्म और चारित्र-धर्म की शिक्षा दे कर साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविका रूप चतुर्विध संघ की स्थापना की और स्वयं भावतीर्थंकर कहलाये।

महावीर की भाषा

भगवान् महावीर ने अपना प्रवचन अर्धमागधी भाषा में दिया था।[2] भगवान् की भाषा को आर्य-अनार्य सभी सरलता से समझ लेते थे।[3] जर्मन

---

[1] उप्पन्न विगम धुअपय तियम्मि कहिए जणेण तो तेहिं।
सव्वेहिं विय बुद्धीहिं बारस अंगाइं रइयाइं ॥ १५६४, महावीर चरित्र, (नेमिचन्द्र रचित)

[2] (क) समवा०, पृ० ५७। (ख) औपपातिक सूत्र., सू० ३४, पृ० १४६।

[3] (क) समवायांग, पृ० ५७। (ख) औपपातिक सूत्र, पृ० १४६।

विद्वान् रिचार्ड पिशल ने इसके अनेक प्राचीन रूपों का उल्लेख किया है ।[1] निशीथ चूर्णि में मगध के अर्धभाग में बोली जाने वाली अठारह देशी भाषाओं[2] में नियत भाषा को अर्धमागधी[3] कहा है । नवांगी टीकाकार अभयदेव के मतानुसार इस भाषा को अर्धमागधी कहने का कारण यह है कि इसमें कुछ लक्षण मागधी के और कुछ लक्षण प्राकृत के पाये जाते हैं ।[4]

तीर्थ-स्थापना के पश्चात् पुनः भगवान् 'मध्यमापावा' से राजगृही को पधारे और इस साल का वर्षावास वहीं पर पूर्ण किया ।

केवलीचर्या का प्रथम वर्ष

मध्यमपावा से ग्रामानुग्राम विहार करते हुए भगवान् साधु परिवार के साथ 'राजगृह' पधारे । राजगृह में उस समय पार्श्वनाथ की परम्परा के बहुत से श्रावक और श्राविकाएँ रहती थीं । भगवान् नगर के बाहर गुणशील चैत्य में विराजे । राजा श्रेणिक को भगवान् के पधारने की सूचना मिली तो वे राजसी शोभा में अपने अधिकारियों, अनुचरों और पुत्रों आदि के साथ भगवान् की वन्दना करने को निकले और विधिपूर्वक वन्दन कर सेवा करने लगे । उपस्थित सभा को लक्ष्य कर प्रभु ने धर्म-देशना सुनाई । श्रेणिक ने धर्म सुन कर सम्यक्त्व स्वीकार किया और अभयकुमार आदि ने श्रावक-धर्म ग्रहण किया ।[5]

नन्दीषेण की दीक्षा

राजकुमार मेघकुमार और नन्दिषेण ने यहीं पर भगवान् के पास दीक्षा ग्रहण की थी, जिसका वर्णन इस प्रकार है :–

---

[1] हेमचन्द्र जोशी द्वारा अनूदित 'प्राकृत भाषाओं का व्याकरण', पृ० ३३ ।

[2] (क) बृहत्कल्प भाष्य १ प्र० की वृत्ति १२३१ में मगध, मालव, महाराष्ट्र, लाट, कर्णाटक, गौड़, विदर्भ, आदि देशों की भाषाओं को देशी भाषा कहा है ।

(ख) उद्योतन सूरि ने कुवलयमाला में, गोल्ल, मगध कर्णाटक, अन्तरवेदी, कीर, ढक्क, सिंधु, मरु, गुर्जर, लाट, मालवा, ताइय (ताजिक), कोशल, मरहट्ठ और आन्ध्र प्रदेशों की भाषाओं का देशी भाषा के रूप से सोदाहरण उल्लेख किया है ।

[डॉ० जगदीशचन्द्र जैन – प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ० ४२७–४२८]

[3] मगहद्ध विसय भासा, निबद्धं अद्धमागहां अहवा अट्ठारह देसी भासा णियतं अद्धमागहं ११, ३६१८ निशीथ चूर्णि

[4] (क) व्याख्या प्र०, ५।४ सूत्र १९१ की टीका, पृ० २२१

(ख) औपपातिक, सू० ५६ टी०, पृ० १४८

[5] (क) एमाइ धम्मकहं सोउं सेणिय निवाइया भव्वा ।
संमत्तं पडिपन्ना केई पुण देस विरयाई ॥ १२९४

[नेमिचन्द्र कृत महावीर चरियं]

(ख) श्रुत्वा तां देशनां भर्तुः सम्यक्त्वं श्रेणिकोऽश्रयत् ।
श्रावकधर्मं त्वभय-कुमाराद्याः प्रपेदिरे ॥ ३७६

[त्रि० श०, प० १०, स० ६]

महावीर प्रभु की वाणी सुनकर नन्दिषेण ने माता-पिता से दीक्षा ग्रहण करने की अनुमति चाही। श्रेणिक ने भी धर्मकार्य समझकर अनुमति प्रदान की। अनुमति प्राप्त कर ज्यों ही नन्दिषेण घर से चला कि आकाश से एक देवता ने कहा – "वत्स ! अभी तुम्हारे चारित्रावरण का जोर है, अतः कुछ काल घर में ही रहो, फिर कर्मों के हल्का हो जाने पर दीक्षित हो जाना।" नन्दिषेण भावना के प्रवाह में बह रहा था अतः वह बोला – "अजी ! मेरे भाव पक्के हैं तथा मैं संयम में लीन हूँ फिर मेरा चारित्रावरण क्या करेगा ?" इस प्रकार कह कर वह भगवान् के पास आया और प्रभु-चरणों में उसने दीक्षा ग्रहण कर ली। स्थविरों के पास ज्ञान सीखा और विविध प्रकार की तपस्या के साथ आतापना आदि से वह आत्मा को भावित करता रहा। कुछ काल के बाद जब देव ने मुनि को विकट तप करते हुए देखा तो उसने फिर कहा – "नन्दिषेण ! तुम मेरी बात नहीं मान रहे हो, सोच लो, बिना भोग कर्म को चुकाये संसार से त्राण नहीं होगा, चाहे कितना ही प्रयत्न क्यों न करो।"

देव के बार-२ कहने पर भी नन्दिषेण ने उस पर ध्यान नहीं दिया। एक बार बेले की तपस्या के पारण में वे अकेले भिक्षार्थ निकले और कर्मदोष से वेश्या के घर पहुँच गये। ज्यों ही उन्होंने धर्मलाभ की बात कही तो वेश्या ने कहा- "यहां तो अर्थ-लाभ की बात है" और फिर हंस पड़ी। उसका हंसना मुनि को अच्छा नहीं लगा। उन्होंने एक तृण खींच कर रत्नों का ढेर कर दिया और "ले यह अर्थ-लाभ" कहते हुए घर से बाहर निकल पड़े। वेश्या मुनि नंदिषेण के पीछे-पीछे दौड़ी और बोली – "प्राणनाथ ! जाते कहां हो ? मेरे साथ रहो, अन्यथा मैं अभी प्राण-विसर्जन कर दूंगी।" उसके अतिशय अनुरोध एवं प्रेमपूर्ण आग्रह पर कर्माधीन नन्दिषेण उसके आग्रह को मान गये, किन्तु उन्होंने एक शर्त रखी – "प्रतिदिन दश मनुष्यों को प्रतिबोध दूंगा तब भोजन करूंगा और जिस दिन ऐसा नहीं कर सकूंगा उसी दिन में पुनः गुरु-चरणों में दीक्षित हो जाऊंगा।"

देव-वाणी का स्मरण करते हुए और वेश्या के साथ रहते हुए भी मुनि प्रतिदिन दश व्यक्तियों को प्रतिबोध देकर भगवान् के पास दीक्षा ग्रहण करने के लिये भेजते और फिर भोजन करते। एक दिन भोग्य-कर्म क्षीण होने आये। नन्दिषेण ने नौ व्यक्तियों को प्रतिबोध देकर तैयार किया परन्तु दशवां सोनी प्रतिबोध पा कर भी दीक्षार्थ तैयार नहीं हुआ। भोजन का समय आ गया। अतः वेश्या बार बार भोजन के लिये बुलावा भेज रही थी, पर अभिग्रह पूर्ण नहीं होने से नंदिषेण नहीं उठे। कुछ देर बाद वेश्या स्वयं आयी और आग्रह-पूर्वक चलने को बोली, पर नन्दिषेण ने कहा – "दशवां तैयार नहीं हुआ तो अब मैं ही दशवां होता हूँ।" ऐसा कह कर वे वेश्यालय से बाहर निकल पड़े और भगवच्चरणों में पुनः दीक्षा ले कर विशुद्ध रूप से संयम-साधना में तत्पर हो

गये।[1] इस प्रकार अनेक भव्य-जीवों का कल्याण करते हुए प्रभु ने तेरहवां वर्षा-काल राजगृह में ही पूर्ण किया।

केवलीचर्या का द्वितीय वर्ष

राजगृही में वर्षाकाल पूर्ण कर ग्रामानुग्राम विचरते हुए प्रभु ने विदेह की ओर प्रस्थान किया। वे 'ब्राह्मण कुण्ड' पहुंचे और पास के 'वहुशाल' चैत्य में विराजमान हुए। भगवान् के आने की खबर सुन कर पण्डित ऋषभदत्त देवानन्दा ब्राह्मणी के साथ वंदना को निकला और पांच नियमों के साथ भगवान् की सेवा में पहुंचा।

ऋषभदत्त और देवानन्दा को प्रतिबोध

भगवान् को देखते ही देवानन्दा का मन पूर्वस्नेह से भर आया। वह आनन्दमग्न एवं पुलकित हो गई। उसके स्तनों से दूध की धारा निकल पड़ी। नेत्र हर्षाश्रु से डब-डबा आये। गौतम के पूछने, पर भगवान् ने कहा – "यह मेरी माता हैं, पुत्र-स्नेह के कारण इसे रोमाञ्च हो उठा है।"[2] भगवान् की वाणी सुन कर ऋषभदत्त और देवानन्दा ने भी प्रभु के पास दीक्षा ग्रहण की और दोनों ने ११ अंगों का अध्ययन किया एवं विचित्र प्रकार के तप, व्रतों से वर्षों तक संयम की साधना कर मुक्ति प्राप्त की।[3]

राजकुमार जमालि की दीक्षा

ब्राह्मण कुण्ड के पश्चिम में शत्रियकुण्ड नगर था। वहां के राजकुमार जमालि ने भी भगवान् के चरणों में पांच सौ क्षत्रिय-कुमारों के साथ दीक्षा ग्रहण की और ग्यारह अंगों का अध्ययन कर वे विविध प्रकार के तपःकर्मों से आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे।[4] राजकुमार जमालि की पत्नी प्रियदर्शना ने भी एक हजार स्त्रियों के साथ इसी समय दीक्षा ग्रहण की।[5] इस प्रकार जन-गण का विविध उपकार करते हुए भगवान् ने इस वर्ष का वर्षाकाल वैशाली में पूर्ण किया।

---

[1] त्रिपष्टि श० पु० चं०, पर्व १०, सर्ग ६, श्लोक ४०८ से ४३९।

[2] गोयमा ! देवाणंदा माहणी ममं अम्मगा, अहंणं देवाणंदाए माहणीए उत्तए, तएणं सा देवाणंदा माहणी तेणं पुव्वपुत्तसिणेहाणुरागेणं आगयपण्हया जाव समूसवियरोमकूवा
[भ., श. ९, अ. ३३, सू. ३८०]

[3] जात्र तमट्ठं आसहेत्ता जाव सव्वदुक्खप्पहीणे जाव सव्वदुक्खप्पहीणा।
[भ., श. ९, उ. ६, सू. ३८२]

[4] भ., श. ९, उ. ३३, सू. ३८४

[5] भगवती – श. ९, ३।६
(क) त्रिप., १०।८ श्लो. ३९
(ख) महावीर च., ८ प्र. प. २६२

केवलीचर्या का तृतीय वर्ष

वैशाली से विहार कर भगवान् वत्सदेश की राजधानी 'कोशाम्वी' पधारे और 'चन्द्रावतरण' चैत्य में विराजमान हुए। कोशाम्वी में राजा सहस्रानीक का पौत्र और शतानीक तथा वैशाली के गण-राज चेटक की पुत्री मृगावती का पुत्र 'उदयन' राज्य करता था। वहां उदयन की भूग्रा एवं शतानीक की वहिन जयंती श्रमणोपासिका थीं। भगवान् के पधारने की वात सुन कर 'मृगावती' राजा उदयन और जयंती के साथ भगवान् को वन्दना करने गयी। जयंती श्राविका ने प्रभु की देशना सुन कर भगवान् से कई प्रश्नोत्तर किये, जो पाठकों के लाभार्थ यहां प्रस्तुत किये जाते हैं।

जयंती के धार्मिक प्रश्न

जयन्ती ने पूछा – "भगवन् ! जीव हल्का कैसे होता और भारी कैसे होता है? उत्तर में प्रभु ने कहा – 'जयंती ! अठारह पाप – (१) हिंसा, (२) मृषा-वाद-झूठ, (३) अदत्तादान, (४) मैथुन, (५) परिग्रह, (६) क्रोध, (७) मान, (८) माया, (९) लोभ, (१०) राग, (११) द्वेष, (१२) कलह, (१३) अभ्याख्यान, (१४) पैशुन्य, (१५) पर परिवाद-निन्दा, (१६) रति-अरति, (१७) माया-मृषा कपटपूर्वक झूठ और (१८) मिथ्यादर्शन शल्य के सेवन से जीव भारी होता है तथा चतुर्गतिक संसार में भ्रमण करता है और इन प्राणा-तिपात आदि १८ पापों की विरति-निवृति से ही जीव संसार को घटाता है अर्थात् हल्का होकर संसार-सागर को पार करता है।"

"भगवन् ! भव्यपन-मोक्ष की योग्यता, जीव में स्वभावतः होती है या परिणाम से ?" जयंती ने दूसरा प्रश्न पूछा।

भगवान् ने इसके उत्तर में कहा – "मोक्ष पाने की योग्यता स्वभाव से होती है, परिणाम से नहीं।"

"क्या सब भव-सिद्धिक मोक्ष जाने वाले हैं ?" यह तीसरा प्रश्न जयंती ने किया।

भगवान् ने उत्तर में कहा – "हां, भव-सिद्धिक सब मोक्ष जाने वाले हैं।"

जयन्ती ने चौथा प्रश्न किया – "भगवन् ! यदि सब भव-सिद्धिक जीवों की मुक्ति होना माना जाय तो क्या संसार कभी भव्य जीवों से खाली, शून्य हो जायेगा ?"

इसके उत्तर में भगवान् ने फरमाया – "जयंती ! नहीं, जैसे सर्व आकाश की श्रेणी जो अन्य श्रेणियों से घिरी हो, एक परमाणु जितना खंड प्रति समय निका-लते हुए अनन्त काल में भी खाली नहीं होती, वैसे ही भव-सिद्धिक जीवों में से निरन्तर मुक्त होते रहें तब भी संसार के भव्य कभी खत्म नहीं होंगे, क्योंकि वे अनन्त हैं।"

टीकाकार ने एक अन्य उदाहरण भी यहां दिया है। यथा – मिट्टी में घड़े बनने की और अच्छे पाषाण में मूर्ति बनने की योग्यता है, फिर भी कभी ऐसा नहीं हो सकता कि सबके घड़े और मूर्तियां बन जायं और पीछे वैसी मिट्टी और पाषाण न रहें। बीज में पकने की योग्यता है फिर भी कभी ऐसा नहीं होता कि कोई भी बीज सीझे बिना न रहे। वैसा ही भव्यों के बारे में भी समझना चाहिए।

जयन्ती ने जीवन से सम्बन्धित कुछ और प्रश्न किये जो इस प्रकार हैं :–

"भगवन् ! जीव सोता हुआ अच्छा या जगता हुआ अच्छा ?"

इस पर भगवान् ने कहा – "कुछ जीव सोये हुए अच्छे और कुछ जागते अच्छे। जो लोग अधर्म के प्रेमी, अधर्म के प्रचारक और अधर्माचरण में ही रंगे रहते हैं, उनका सोना अच्छा। वे सोने की स्थिति में बहुत से प्राणभूत जीव और सत्वों के लिए शोक एवं परिताप के कारण नहीं बनते। उनके द्वारा स्वपर की अधर्मवृत्ति नहीं बढ़ पाती, अतः उनका सोना अच्छा किन्तु जो जीव धार्मिक, धर्मानुसारी और धर्मयुक्त विचार, प्रचार एवं आचार में रत रहने वाले हैं, उनका जगना अच्छा है। ऐसे लोग जगते हुए किसी के दुःख और परिताप के कारण नहीं होते। उनका जगना स्व-पर को सत्कार्य में लगाने का कारण होता है।"

इसी प्रकार सबल-निर्बल और दक्ष एवं आलसी के प्रश्नों पर भी अधिकारी भेद से अच्छा और बुरा बताया गया। इससे प्रमाणित हुआ कि शक्ति, सम्पत्ति और साधनों का अच्छापन एवं बुरापन सदुपयोग और दुरुपयोग पर निर्भर है।

भगवान् के युक्तियुक्त उत्तरों से संतुष्ट होकर उपासिका जयन्ती ने भी संयम-ग्रहण कर आत्म-कल्याण किया।[1]

भगवान् का विहार और उपकार

कोशाम्बी से विहार कर भगवान् श्रावस्ती आए। यहां 'सुमनोभद्र' और 'सुप्रतिष्ठ' ने दीक्षा ग्रहण की। वर्षों संयम का पालन कर अन्त समय में 'सुमनोभद्र' ने 'राजगृह' के विपुलाचल पर अनशनपूर्वक मुक्ति प्राप्त की। इसी प्रकार सुप्रतिष्ठ मुनि ने भी सत्ताईस वर्ष संयम का पालन कर विपुलगिरि पर सिद्धि प्राप्त की।[2]

फिर विचरते हुए प्रभु 'वाणियगांव' पधारे और 'आनन्द' गाथापति को प्रतिबोध देकर उन्हें श्रावक-धर्म का पथिक बनाया। फिर इस वर्ष का वर्षावास 'वाणियग्राम' में ही पूर्ण किया।

केवलीचर्या का चतुर्थ वर्ष

वर्षाकाल पूर्ण होने पर भगवान् ने वाणियग्राम से मगध की ओर विहार किया। ग्रामानुग्राम उपदेश करते हुए प्रभु राजगृह के 'गुण शील' चैत्य में पधारे।

---

[1] भग., श. १२, उ. २, सू. ४४३।

[2] अंत० अणुत्तरो, एन. वी. वैद्य सम्पादित।

प्रभु ने वहां के जिज्ञासुजनों को शालि आदि धान्यों की योनि एवं उनकी स्थिति-अवधि का परिचय दिया। वहां के प्रमुख सेठ 'गोभद्र' के पुत्र शालिभद्र ने भगवान् का उपदेश सुनकर ३२ रमणियों और भव्य भोगों को छोड़कर दीक्षा ग्रहण की।

शालिभद्र का वैराग्य

कहा जाता है कि शालिभद्र के पिता 'गोभद्र' जो प्रभु के पास दीक्षित होकर देवलोकवासी हुए थे[1] वे शालिभद्र और अपनी पुत्र-वधुओं को नित नये वस्त्राभूषण एवं भोजन पहुँचाया करते थे। शालिभद्र की माता भद्रा भी इतनी उदारमना थी कि व्यापारी से जिन रत्न-कम्बलों को राजा श्रेणिक नहीं खरीद सका, नगरी का गौरव रखने को वे सारी रत्न-कम्बलें उन्होंने खरीद लीं और उनके टुकड़े कर, वधुओं को पैर पोंछने को दे दिये।

भद्रा के वैभव और औदार्य से महाराज श्रेणिक भी दंग था। शालिभद्र के घर का आमन्त्रण पाकर जब राजा वहां पहुँचा तो उसके ऐश्वर्य को देखकर चकित हो गया। राज-दर्शन के लिये भद्रा ने जब शालिभद्र कुमार को बुलाया तो वह अपने अलबेलेपन में बोला -- "माता ! मेरे आने की क्या जरूरत है, जो भी योग्य मूल्य हो देकर खरीद लो।" इस पर भद्रा बोली -- "पुत्र कोई किराणा नहीं, यह तो अपना नाथ है, अतः शीघ्र आकर दर्शन कर जाओ।" नाथ शब्द सुनते ही शालिभद्र चौंका और सोचने लगा -- "इतना बड़ा वैभव पाने पर भी नाथ से पिण्ड नहीं छूटा। अवश्य ही मेरी करणी में कसर है। अब ऐसी करणी अपनाऊं कि सदा के लिये यह पराधीनता छूट जाय।"

शालिभद्र माता के परामर्शानुसार धीरे-धीरे त्याग का साधन करने लगा और इसके लिये उसने प्रतिदिन एक-एक स्त्री छोड़ने की प्रतिज्ञा की। धन्ना सेठ को जब शालिभद्र की बहिन सुभद्रा से पता चला कि उसका भाई एक-एक स्त्री प्रतिदिन छोड़ते हुए दीक्षित होना चाहता है तो उसने कहा, छोड़ना है तो एक-एक क्या छोड़ता है, यह तो कायरपन है। सुभद्रा अपने भाई की न्यूनता-कमजोरी सुनकर बोल उठी -- "पतिदेव ! कहना जितना सरल है, उतना करना नहीं।" बस, इतना सुनते ही चाबुक से चोट खाये उच्च जातीय अश्व की तरह धन्ना स्नान-पीठ से उठ चले। नारियों का अनुनय विनय सब बेकार, उन्होंने तत्काल जाकर शालिभद्र को साथ लिया और साला-बहनोई दोनों भगवान् के चरणों में दीक्षित हो गये। विभिन्न प्रकार की तपःसाधना करते हुए अन्त में दोनों ने 'वैभार गिरि' पर अनशन करके काल प्राप्त किया और सर्वार्थ सिद्ध विमान में उत्पन्न हुए।[2]

---

[1] त्रि० श० पु०, १० प०, १० स०, ८४ श्लो०
(ख) उ० माला, गा० २० भरतेश्वर बाहुबलिवृत्ति।

[2] त्रि० श०, १० प०, १० स०, श्लो० १४६ से १८१।

इस प्रकार सहस्रों नर-नारियों को चारित्र-धर्म की शिक्षा-दीक्षा देते हुए प्रभु ने इस वर्ष का वर्षावास राजगृह में पूर्ण किया।

केवलीचर्या का पंचम वर्ष

राजगृह का वर्षाकाल पूर्ण कर भगवान् ने चम्पा की ओर विहार किया और 'पूर्णभद्र यक्षायतन' में विराजमान हुए। भगवान् के आगमन की बात सुन कर नगर का अधिपति महाराज 'दत्त' सपरिवार वन्दन को आया। भगवान् की अमोघ देशना सुनकर राजकुमार 'महाचन्द्र' प्रतिबुद्ध हुआ। उसने प्रथम श्रावकधर्म ग्रहण किया और कुछ काल के बाद पुनः भगवान् के पधारने पर राज-ऋद्धि और पांच सौ रानियों को त्याग कर प्रव्रज्या ग्रहण कर ली।[1]

संकटकाल में भी कल्परक्षार्थ कल्पनीय तक का परित्याग

कुछ समय के पश्चात् भगवान् चम्पा से 'वीतभय' नगरी की ओर पधारे। वहां का राजा 'उद्रायण' जो व्रती श्रावक था, पौषधशाला में बैठकर धर्म-जागरण किया करता। उद्रायण के मनोगत भावों को जानकर भगवान् ने 'वीत-भय' नगर की ओर प्रस्थान किया। गर्मी के कारण मार्ग में साधुओं को बड़े कष्ट झेलने पड़े। कोसों दूर-दूर तक वस्ती का अभाव था। जब भगवान् भूखे-प्यासे शिष्यों के संग विहार कर रहे थे तब उनको तिलों से लदी गाड़ियां नजर आयीं। साधु-समुदाय को देखकर गाड़ी वालों ने कहा – "इनको खाकर क्षुधा शान्त कर लीजिये।" पर भगवान् ने साधुओं को लेने की अनुमति नहीं दी। भगवान् को ज्ञात था कि तिल अचित्त हो चुके हैं। पास के ह्रद का पानी भी अचित्त था फिर भी भगवान् ने साधुओं को उससे प्यास मिटाने की अनुमति नहीं दी। कारण कि स्थिति क्षय से निर्जीव बने हुए धान्य और जल को सहज स्थिति में लिया जाने लगा तो कालान्तर में अग्राह्य-ग्रहण में भी प्रवृत्ति होने लगेगी और इस प्रकार व्यवस्था में नियन्त्रण नहीं रहेगा। अतः छद्मस्थ के लिये कहा है कि निश्चय में निर्दोष होने पर भी लोकविरुद्ध वस्तु का ग्रहण नहीं करना चाहिये।[2] वीतभय नगरी में भगवान् के विराजने के समय वहां के राजा उद्रायण ने प्रभु की सेवा का लाभ लिया और कइयों ने त्यागमार्ग ग्रहण किया। फिर वहां से विहार कर भगवान् वाणियग्राम पधारे और यहीं पर वर्षाकाल पूर्ण किया।

केवलीचर्या का छठा वर्ष

वाणियग्राम में वर्षाकाल पूर्ण कर भगवान् वाराणसी की ओर पधारे और वहां के 'कोष्ठक चैत्य' में विराजमान हुए। भगवान् का आगमन सुनकर महाराज जितशत्रु वंदन करने आये। भगवान् ने उपस्थित जन-समुदाय को धर्म-देशना फरमाई। उपदेश से प्रभावित होकर चुल्लिनी-पिता, उनकी भार्या श्यामा

---

[1] विपाक सू०, २ श्रु०, ९ अध्याय।
[2] वृहत्कल्प भा० वृ० भा० २, गा० ९९७ से ९९९, पृ० ३१४-१५।

तथा सुरादेव और उसकी पत्नी धन्या ने भी श्रावक-धर्म ग्रहण किया, जो कि भगवान् के प्रमुख श्रावकों में गिने जाते हैं। इस तरह प्रभु के उपदेशों से उस समय के समाज का और भी बहुत उपकार हुआ।

वाराणसी से भगवान् 'आलंभिया' पधारे और 'शंखवन' उद्यान में शिष्य-मंडली सहित विराजमान हुए। भगवान् के पधारने की बात सुनकर आलंभिया के राजा जितशत्रु भी वन्दन के लिये प्रभु की सेवा में आये।

पुद्गल परिव्राजक को बोध

शंखवन उद्यान के पास ही 'पुद्गल' नाम के परिव्राजक का स्थान था। वह वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों का विशिष्ट ज्ञाता था। निरन्तर छट्ठ-छट्ठ की तपस्या से आतापना लेते हुए उसने विभंग ज्ञान प्राप्त किया, जिससे वह ब्रह्मलोक तक की देवस्थिति जानने लगा।

एक बार अज्ञानता के कारण उसके मन में विचार हुआ कि देवों की स्थिति जघन्य दश हजार वर्ष और उत्कृष्ट दश सागर की है। इससे आगे न देव हैं और न उनकी स्थिति है। उसने घूम घूम कर सर्वत्र इस वात का प्रचार किया। फलतः भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए गौतम ने भी सहज में यह चर्चा सुनी। उन्होंने भगवान् के चरणों में आकर पूछा तो प्रभु ने कहा – "गौतम ! यह कहना ठीक नहीं। इनकी उत्कृष्ट स्थिति तैंतीस सागर तक है।" पुद्गल ने कर्ण-परम्परा से भगवान् का निर्णय सुना तो वह शंकित हुआ और महावीर के पास पूछने को आ पहुंचा। वह महावीर की देशना सुन कर प्रसन्न हुआ। भक्तिपूर्वक प्रभु की सेवा में दीक्षित होकर उसने तप-संयम की आराधना करते हुए मुक्ति प्राप्त की।[1] इसी विहार में 'चुल्लशतक' ने भी श्रावक-धर्म स्वीकार किया।

वहां से विहार करते हुए भगवान् राजगृह पधारे और वहाँ 'मंकाई', 'किंकत', अर्जुनमाली एवं काश्यप को मुनि-धर्म की दीक्षा प्रदान की। गाथापति 'वरदत्त' ने भी यहीं संयम ग्रहण किया और बारह वर्ष तक संयमधर्म की पालना कर, मुक्ति प्राप्त की।[2] इस वर्ष प्रभु का वर्षावास भी राजगृह में व्यतीत हुआ। 'नंदन' मणिकार ने इसी वर्ष श्रावक-धर्म ग्रहण किया।

केवलीचर्या का सातवां वर्ष

वर्षाकाल के बीतने पर भी भगवान् अवसर जानकर राजगृह में विराजे रहे। एक बार श्रेणिक भगवान् के पास बैठा था कि उस समय कोढ़ी के रूप में एक देव भी वहाँ उपस्थित हुआ। भगवान् को छींक आई तो उसने कहा–"जल्दी मरो।" और जब श्रेणिक को छींक आई तो उसने कहा–"चिरकाल तक जीओ।" अभय छींका तो वह बोला–"जीवो या मरो।" 'कालशौकरिक' के छींकने पर

---

[1] भगवती शतक ११, उ० १२, सू० ४३६।

[2] अंत कृतदशासूत्र, स३,४,६। पृ. १०४-१०५। (जयपुर)

उसने कहा – "न जीओ न मरो।" इस तरह कोढ़ी रूप देव ने भिन्न भिन्न व्यक्तियों के छींकने पर भिन्न भिन्न शब्द कहे। भगवान् के लिये 'मरो' कहने से महाराज श्रेणिक रुष्ट हुए। उनकी मुखाकृति बदलते ही सेवक पुरुष उस कोढ़ी को मारने उठे किन्तु तब तक वह अदृश्य हो गया।

दूसरे दिन श्रेणिक ने उस कोढ़ी एवं उसके कहे हुए शब्दों के बारे में भगवान् से पूछा तो प्रभु ने फरमाया – "राजन्! वह कोढ़ी नहीं देव था। मुझे मरने को कहा, इसका अर्थ जल्दी मोक्ष जा, ऐसा है। तुम जीते हो तब तक सुख है, फिर नर्क में दुख भोगना होगा, इसलिये तुम्हें कहा – खूब जीओ। अभय का जीवन और मरण दोनों अच्छे हैं। और कालशौकरिक के दोनों बुरे, उसके लिये न जीने में लाभ और न मरने में सुख, अतः कहा 'न जीओ, न मरो।"[1]

यह सुनकर श्रेणिक ने पूछा – "भगवन्! मैं किस उपाय से नारकीय दुख से बच सकता हूं, यह फरमायें।" इस पर प्रभु ने कहा – "यदि कालशौकरिक से हत्या छुड़वा दें या 'कपिला' ब्राह्मणी दान दे तो तुम नरक गति से छूट सकते हो।" श्रेणिक ने भरसक प्रयत्न किया पर न तो कसाई ने हत्या छोड़ी और न 'कपिला' ने ही दान देना स्वीकार किया। इससे श्रेणिक वड़ा दुखी हुआ किन्तु प्रभु ने कहा – "चिन्ता मत कर, तू भविष्य में तीर्थंकर होगा।"

समय पाकर राजा श्रेणिक ने यह घोषणा करवाई – "जो कोई भगवान् के पास प्रव्रज्या ग्रहण करेगा, मैं उसे यथोचित सहयोग दूंगा, रोकूंगा नहीं।"[2] घोषणा से प्रभावित हो अनेकों नागरिकों के साथ (१) जालि, (२) मयालि, (३) उपालि, (४) पुरुषसेन, (५) वारिषेण, (६) दीर्घदंत, (७) लष्टदंत, (८) वेहल्ल, (९) वेहास, (१०) अभय, (११) दीर्घसेन, (१२) महासेन, (१३) लष्टदंत, (१४) गूढ़दंत, (१५) शुद्धदंत, (१६) हल्ल, (१७) द्रुम, (१८) द्रुमसेन, (१९) महाद्रुमसेन, (२०) सिंह, (२१) सिंहसेन, (२२) महासिंहसेन और (२३) पूर्णसेन इन तेवीस[3] राजकुमारों ने तथा (१) नंदा, (२) नंदमती, (३) नंदोत्तरा, (४) नंदिसेणिया, (५) मरुया, (६) सुमरिया, (७) महामरुता, (८) मरुदेवा, (९) भद्रा, (१०) सुभद्रा, (११) सुजाता, (१२) सुमना, और (१३) भूतदत्ता, इन तेरह रानियों ने दीक्षित होकर भगवान् के संघ में प्रवेश किया।[4] आर्द्रक मुनि भी भगवान् को वन्दन करने यहीं आये। इस प्रकार इस वर्ष प्रभु ने अनेकों उपकार किये। सहस्रों लोगों को सत्पथ पर लगाया और इस वर्ष का चातुर्मास भी राजगृह में व्यतीत किया।

---

[1] आवश्यक चू०, उत्तर०, पृ० १६९।
[2] महावीर चरियं, गुणचन्द्र, पत्र ३३४।
[3] अणुत्तरोववाई।
[4] अंतगड।

केवलीचर्या का आठवां वर्ष

वर्षाकाल के पश्चात् कुछ दिनों तक राजगृह में विराजकर भगवान् 'आलंभिया' नगरी में ऋषिभद्रपुत्र श्रावक के उत्कृष्ट व जघन्य देवायुष्य सम्बन्धी विचारों का समर्थन करते हुए कौशाम्बी पधारे और 'मृगावती' को संकटमुक्त किया। क्योंकि मृगावती के रूपलावण्य पर मुग्ध हो चण्डप्रद्योत उसे अपनी रानी बनाने के लिये कौशाम्बी के चारों ओर घेरा डाले हुए था। उदयन की लघु वय होने से उस समय चंडप्रद्योत को भुलावे में डाल कर रानी मृगावती ही राज्य का संचालन कर रही थी। भगवान् के पधारने की बात सुन कर वह वन्दन करने गई और त्याग-विरागपूर्ण उपदेश सुन कर प्रव्रज्या लेने को उत्सुक हुई और बोली – "भगवन् ! चण्डप्रद्योत की आज्ञा ले कर मैं श्री चरणों में प्रव्रज्या लेना चाहती हूँ।" उसने वहीं पर चण्डप्रद्योत से जा कर अनुमति के लिये कहा। प्रद्योत भी सभा में लज्जावश मना नहीं कर सका[1] और उसने अनुमति प्रदान कर सत्कारपूर्वक मृगावती को भगवान् की सेवा में प्रव्रज्या प्रदान करवा दी। भगवत् कृपा से मृगावती पर आया हुआ शील-संकट सदा के लिये टल गया। इस वर्ष भगवान् का वर्षावास वैशाली में व्यतीत हुआ।

केवलीचर्या का नवम वर्ष

वैशाली का वर्षावास पूर्ण कर भगवान् मिथिला होते हुए 'काकंदी' पधारे और सहस्राम्र उद्यान में विराजमान हुए। भगवान् के आगमन का समाचार सुन कर राजा जितशत्रु भी सेवा में वन्दन करने गया। 'भद्रा' सार्थवाहिनी का पुत्र धन्यकुमार भी प्रभु की सेवा में पहुंचा। प्रभु का उपदेश सुन कर धन्यकुमार बड़ा प्रभावित हुआ और माता की अनुमति ले कर विशाल वैभव एवं ३२ कुलीन सुन्दर भार्याओं को छोड़ कर भगवान् के चरणों में दीक्षित हो गया।

राजा जितशत्रु इतने धर्म प्रेमी थे कि उन्होंने यह घोषणा करवा दी- "जो लोग जन्म-मरण का बन्धन काटने हेतु भगवान् महावीर के पास दीक्षित होना चाहते हों वे प्रसन्नता से दीक्षा ग्रहण करें, मैं उनके सम्बन्धियों के योग-क्षेम का भार अपने ऊपर लेता हूँ।" माहाराज जितशत्रु ने बड़ी धूम-धाम से धन्यकुमार की दीक्षा करवाई। दीक्षित हो कर धन्यकुमार ने भी स्थविरों के पास ग्यारह अंगों का अध्ययन किया।

धन्यकुमार ने जिस दिन दीक्षा ग्रहण की उसी दिन से प्रभु की अनुमति पा कर उसने प्रतिज्ञा की – "मुझे आजीवन छट्ठ-छट्ठ की तपस्या करते हुए विचरना, और दो दिन के छट्ठ तप के पारणा में भी आयंबिल करना एवं उज्झित भोजन ग्रहण करना है।" इस प्रकार की घोर तपश्चर्या करते हुए उनका शरीर सूख कर हड्डियों का ढांचा मात्र शेष रह गया, फिर भी वे मन में किंचित्मात्र भी खिन्न नहीं हुए। उनके अध्यवसाय इतने उच्च थे कि भगवान् महावीर ने

[1] आव० चू०, प्र० १, पृ० ९१।

चौदह हजार साधुओं में धन्यकुमार मुनि को सबसे बढ़ कर दुष्कर करणी करने वाला बतलाया और श्रेणिक के सम्मुख उनकी प्रशंसा की। नव मास की साधु-पर्याय में धन्य मुनि ने अनशनपूर्वक देहत्याग किया और वे सर्वार्थसिद्ध विमान में देव रूप से उत्पन्न हुए।[1]

'सुनक्षत्रकुमार' भी इसी प्रकार भगवान् के पास दीक्षित हुए और अनशन कर सर्वार्थसिद्ध में उत्पन्न हुए।

काकंदी से विहार कर भगवान् कंपिलपुर, पोलासपुर होते हुए वाणिज्यग्राम पधारे। कंपिलपुर में कुंडकौलिक ने श्रावकधर्म ग्रहण किया और पोलासपुर में सद्दालपुत्र ने बारह व्रत स्वीकार किये। इनका विस्तृत विवरण उपासक दशा सूत्र में उपलब्ध होता है। वाणिज्यग्राम से भगवान् विहार कर वैशाली पधारे और इस वर्ष का वर्षावास भी वैशाली में पूर्ण किया।

केवलीचर्या का दशम वर्ष

वर्षाकाल के पश्चात् विहार करते हुए भगवान् मगध की ओर विहार करते हुए राजगृह पहुँचे। वहाँ भगवान् के उपदेश से प्रभावित हो कर 'महाशतक' गाथापति ने श्रावक-धर्म स्वीकार किया। पार्श्वापत्य स्थविर भी यहां पर भगवान् के समवशरण में आये और भगवान् महावीर से अपनी शंका का समाधान पा कर सन्तुष्ट हुए। उन्होंने महावीर को सर्वज्ञ माना और उनकी वन्दना की एवं चतुर्यामधर्म से पंचमहाव्रत रूप धर्म स्वीकार कर विचरने लगे।[2]

उस समय रोहक मुनि ने भगवान् से लोक के विषय में कुछ प्रश्न किये जो उत्तर सहित इस प्रकार हैं :-

(१) लोक और अलोक में पहले पीछे कौन हैं ?

भगवान् ने कहा – "अपेक्षा से दोनों पहले भी हैं और पीछे भी हैं। इनमें कोई नियत क्रम नहीं है।"

(२) जीव पहले है या अजीव पहले ?

भगवान् ने फरमाया – "लोक और अलोक की तरह जीव और अजीव तथा भवसिद्धिक – अभवसिद्धिक और सिद्ध व असिद्ध में भी पहले पीछे का कोई नियत क्रम नहीं है।"

(३) संसार के आदिकाल की दृष्टि से रोहक ने पूछा – "प्रभो! अंडा पहले हुआ या मुर्गी पहले ?"

भगवान् ने कहा – "अंडा किससे उत्पन्न हुआ ? मुर्गी से। मुर्गी कहां से आई ? तो कहना होगा अंडे से उत्पन्न हुई। इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि

[1] अणुत्तरो०, ३।१०।
[2] भग० श० ५, उ० ९।

कौन पहले और कौन पीछे। इनमें शाश्वतभाव है, यह अनादि परम्परा है अतः पहले पीछे का क्रम नहीं कह सकते।" इस प्रकार भगवान् ने रोहक की अन्य शंकाओं का भी उचित समाधान किया।[1]

इसी प्रसंग में अधिक स्पष्टता के लिये गौतम ने लोक की स्थिति के बारे में पूछा – "भगवन्! संसार और पृथ्वी किस पर ठहरी हुई है, इस विषय में विविध कल्पनाएं प्रचलित हैं, कोई पृथ्वी को शेषनाग पर ठहरी हुई कहता है तो कोई वाराह की पृष्ठ पर ठहरी हुई वतलाते हैं। वस्तुस्थिति क्या है, कृपया स्पष्ट कीजिये।"

महावीर ने कहा – "गौतम! लोक की स्थिति और व्यवस्था आठ प्रकार की है, जो इस प्रकार है –

(१) आकाश पर वायु है।
(२) वायु के आधार पर पानी है।
(३) पानी पर पृथ्वी टिकी हुई है।
(४) पृथ्वी के आधार से त्रस-स्थावर जीव हैं।
(५) अजीव जीव के आश्रित हैं।
(६) जीव कर्म के आधार से विविध पर्यायों में प्रतिष्ठित हैं।
(७) मन-भाषा आदि के अजीव पुद्गल जीवों द्वारा संगृहीत हैं।"
(८) जीव कर्म द्वारा संगृहीत हैं।

इसको समझाने के लिये भगवान् ने एक दृष्टान्त बतलाया, जैसे किसी मशक को हवा से भरकर मुंह बन्द कर दिया जाय और फिर बीच से बांधकर मुंह खोल दिया जाय तो ऊपर खाली हो जायेगी। उसमें पानी भरकर मशक खोल दी जाय तो पानी ऊपर ही तैरता रहेगा। इसी प्रकार हवा के आधार पर पानी समझना चाहिये।

हवा से मशक को भरकर कोई अपनी कमर में बांधे और जलाशय में घुसे तो वह ऊपर तैरता रहेगा। इसी प्रकार जीव और कर्म का सम्बन्ध भी पानी में गिरी हुई सछिद्र नौका जैसा बतलाया। जिस तरह नौका के बाहर-भीतर पानी है, वैसे ही जीव और पुद्गल परस्पर बंधे हुए हैं।[1]

इस प्रकार ज्ञान की गंगा बहाते हुए भगवान् ने यह चातुर्मास राजगृह में पूर्ण किया।

केवलीचर्या का ग्यारहवां वर्ष

भगवान् महावीर की देशना में जो विश्वमैत्री और त्याग-तप की भावना थी, उससे प्रभावित होकर अनेकों वेद परम्परा के परिव्राजकों ने भी उनका

[1] यथा नौश्च ह्रदोदकं चान्योन्यावगाहेन वर्तते एवं जीवश्च पुद्गलाश्चेति भावना।
– भगवती श०, १।६।सू० ५५। टीका।

[1] भगवती सूत्र, २।१।सू० ५५।

शिष्यत्व स्वीकार किया। राजगृह से विहार कर जब प्रभु 'कृतंगला-कयंगला' नगरी पधारे तो वहां के 'छत्र प्लाश' उद्यान में समवशरण हुआ।

उस समय कयंगला के निकट श्रावस्ती नगर में "स्कंदक" नाम का परिव्राजक रहता था जो कात्यायन गोत्रीय 'गर्दभाल' का शिष्य था। वह वेद-वेदांग का विशेषज्ञ था। वहां एक समय पिंगल नाम के एक निग्रंथ से उसकी भेंट हुई। स्कंदक के आवास की ओर से निकलते हुए पिंगल ने स्कंदक से पूछा – "हे मागध! लोक अन्त वाला है या अन्तरहित? इसी प्रकार जीव, सिद्धि और सिद्ध अंत वाले हैं या अंतरहित? और किस मरण से मरता हुआ जीव घटता अथवा बढ़ता है? इन चार प्रश्नों का उत्तर दो।"

स्कंदक बहुत बार सोच कर भी निर्णय नहीं कर सका कि उत्तर क्या दिया जाय? वह शंकित हो गया। उस समय उसने 'छत्रपलाश' में भगवान् के पधारने की बात सुनी तो उसने विचार किया कि क्यों नहीं भगवान् महावीर के पास जाकर हम शंकाओं का निराकरण करलें। वह मठ में आया और त्रिदंड, कुंडिका, गेरुआं वस्त्र आदि धारण कर कयंगला की ओर चल पड़ा।

उधर महावीर ने गौतम को सम्बोधन कर कहा – "गौतम! आज तुम अपने पूर्व-परिचित को देखोगे।"

गौतम ने प्रभु से पूछा – "भगवन्! कौन वह पूर्व-परिचित है, जिसे मैं देखूंगा।"

प्रभु ने स्कंदक परिव्राजक का परिचय दिया और बतलाया कि वह थोड़े ही समय बाद वहां आने वाला है।

गौतम ने जिज्ञासा की – "भगवन्! क्या वह आपके पास शिष्यत्व ग्रहण करेगा?"

महावीर बोले – "हां गौतम! स्कंदक निश्चय ही मेरा शिष्यत्व स्वीकार करने वाला है।"

स्कंदक के प्रश्नोत्तर

गौतम और महावीर स्वामी के बीच इस प्रकार वार्तालाप हो ही रहा था कि परिव्राजक स्कन्दक भी आ पहुंचा। गौतम ने स्वागत करते हुए पूछा – "स्कंदक! क्या यह सच है कि पिंगल नियंठ ने तुमसे कुछ प्रश्न पूछे और उनके उत्तर नहीं दे सकने से तुम यहां आये हो?"

गौतम की बात सुनकर स्कन्दक बड़ा चकित हुआ और बोला – "गौतम! ऐसा कौन ज्ञानी है, जिसने हमारी गुप्त बात तुम्हें बतला दी?"

गौतम ने भगवान् की सर्वज्ञता की महिमा बतलाई। स्कंदक परिव्राजक ने बड़ी श्रद्धा से भगवान् को वन्दन कर अपनी जिज्ञासा प्रस्तुत की।

भगवान् ने लोक के विषय में कहा – "स्कन्दक ! लोक चार प्रकार का है, द्रव्यलोक, क्षेत्रलोक, काललोक और भावलोक। द्रव्य से लोक एक और सांत है, क्षेत्र से लोक असंख्य कोटाकोटि योजन का है, वह भी सान्त है। काल से लोक की कभी आदि नहीं और अन्त भी नहीं। भाव से लोक वर्णादि अनन्त-अनन्त पर्यायों का भंडार है, इसलिये वह अनन्त है। इस प्रकार लोक सान्त भी है और वर्णादि पर्यायों का अन्त नहीं होने से अनन्त भी है।

जीव, सिद्धि और सिद्ध भी इसी तरह द्रव्य से एक ओर अन्त वाले हैं। क्षेत्र से सीमित क्षेत्र में हैं, अतः सान्त हैं। काल एवं भाव से कभी जीव या सिद्ध नहीं था, ऐसा नहीं है और अनन्त-अनन्त पर्यायों के आधार हैं, अतः अनन्त हैं।

मरण विषय में पूछे गये प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है – बाल-मरण और पण्डित-मरण के रूप में मरण दो प्रकार का है। बाल-मरण से संसार बढ़ता है और पण्डित के ज्ञानपूर्वक समाधि-मरण से संसार घटता है। बाल-मरण के बारह प्रकार हैं। क्रोध, लोभ या मोहादि भाव में अज्ञानपूर्वक असमाधि से मरना बाल-मरण है।"[1]

उपर्युक्त रीति से समाधान पाकर स्कन्दक ने प्रभु के चरणों में प्रव्रजित होने की अपनी इच्छा एवं आस्था प्रकट की। स्कन्दक को योग्य जानकर भगवान् ने भी प्रव्रज्या प्रदान की तथा श्रमण-जीवन की चर्या से अवगत किया।

दीक्षा ग्रहण कर स्कन्दक मुनि बन गया। उसने बारह वर्ष तक साधु-धर्म का पालन किया और भिक्षु प्रतिमा व गुण-रत्न-संवत्सर आदि विविध तपों से आत्मा को भावित कर अंत में 'विपुलाचल' पर समाधिपूर्वक देह-त्याग किया।

कयंगला से सावत्थी होते हुए प्रभु 'वाणिय ग्राम' पधारे और वर्षा काल यहीं पर पूर्ण किया।

केवलीचर्या का बारहवां वर्ष

वर्षाकाल पूर्ण होने पर भगवान् ने वाणिय ग्राम से विहार किया और ब्राह्मणकुंड के 'बहुशाल' चैत्य में आकर विराजमान हुए। जमालि अनगार ने यहीं पर भगवान् से अलग विचरने की अनुमति मांगी और उनके मौन रहने पर अपने पांच सौ अनुयायी साधुओं के साथ वह स्वतन्त्र विहार को निकल पड़ा।

प्रभु भी वहां से 'वत्स' देश की ओर विहार करते हुए कौशाम्बी पधारे। यहां चन्द्र और सूर्य अपने मूल विमान से वन्दना को आये थे।[2] आचार्य शीलांक ने चन्द्र सूर्य का अपने मूल विमानों से राजगृह में आगमन बताकर इसे आश्चर्य बताया है।[3] कौशाम्बी से महावीर राजगृह पधारे और 'गुणशील' चैत्य में

---

[1] भगवती सूत्र २।१।सू० ९१।

[2] त्रिषिष्टशलाकापुरुष. प० १०, स० ८, श्लोक ३३७-३५३

[3] खः पयहा दोवि दिणाहिव तारयाहिवइणो सविमाणा चेव भयवओ समीवं। ओइण्णा णिययप्पएसाओ ॥ च० म० पु० न०, पृ० ३०५

विराजमान हुए। यहां 'तुंगिका' नगरी के श्रावकों की बड़ी ख्याति थी। एक बार तुंगिका में पार्श्वापत्य आनन्दादि स्थविरों ने श्रावकों के प्रश्न का उत्तर दिया। जिसकी चर्चा चल रही थी। भगवान् गौतम ने भिक्षा के समय नगर में सुनी हुई चर्चा का 'निर्णय' प्रभु से चाहा तो भगवान् बोले – "गौतम ! पार्श्वापत्य स्थविरों ने जो तप संयम का फल बताया, वह ठीक है। मैं भी इसी प्रकार कहता हूं।"[1] फिर भगवान् ने तथा रूप श्रमण, माहण की पर्युपासना के फल बताते हुए कहा – "श्रमणों की पर्युपासना का प्रथम फल अपूर्वज्ञान श्रवण, श्रवण से ज्ञान, ज्ञान से विज्ञान, विज्ञान से पच्चखाण-त्याग, पच्चखाण से संयम, संयम से कर्मास्रव का निरोध, अनास्रव से तप, तप से कर्मनाश, कर्मनाश से अक्रिया और अक्रिया से सिद्धिफल प्राप्त होता है।" इसी वर्ष प्रभु के शिष्य 'वेहास' और 'अभय' आदि ने विपुलाचल पर अनशन कर देवत्व प्राप्त किया। इस वार का वर्षाकाल राजगृह में ही पूर्ण हुआ।

केवलीचर्या का तेरहवां वर्ष

वर्षाकाल के पश्चात् विहार करते हुए भगवान् फिर चम्पा पधारे और वहां के 'पूर्णभद्र' उद्यान में विराजमान हुए। चम्पा में उस समय 'कौणिक' का राज्य था। भगवान् के आने की बात सुनकर कौणिक बड़ी सज-धज से वन्दन करने को गया। कौणिक ने भगवान् के प्रवृत्ति-वृत्त (कुशल समाचार) जानने की बड़ी व्यवस्था कर रक्खी थी।[2] अपने राजपुरुषों द्वारा भगवान् के विहार-वृत्त सुन कर ही वह प्रतिदिन भोजन करता था। भगवान् ने कौणिक आदि उपस्थित जनों को धर्म देशना दी। देशना से प्रभावित हो अनेकों गृहस्थों ने मुनि-धर्म अंगीकार किया। उनमें श्रेणिक के पद्म १, महापद्म २, भद्र ३, सुभद्र ४, महाभद्र ५, पद्मसेन ६, पद्मगुल्म ७, नलिनीगुल्म ८, आनन्द ९ और नन्दन १०, ये दस पौत्र प्रमुख थे।[3] इनके अतिरिक्त जिनपालित आदि ने भी श्रमणधर्म अंगीकार किया। यहीं पर पालित जैसे बड़े व्यापारी ने श्रावकधर्म स्वीकार किया था। इस वर्ष का चातुर्मास चम्पा में ही हुआ।

केवलीचर्या का चौदहवां वर्ष

चम्पा से भगवान् ने विदेह की ओर विहार किया। बीच में काकन्दी नगरी में गाथा-पति 'खेमक' और 'घृतिधर' ने प्रभु के पास दीक्षा स्वीकार की। १६ वर्षों का संयम पाल कर दोनों विपुलाचल पर सिद्ध हुए। विहार करते हुए प्रभु मिथिला पधारे और वहीं पर वर्षाकाल पूर्ण किया।

---

[1] भगवती शतक (घासीलालजी), श० २, उ० ५, पू, सूत्र १४, पृ. ९३७।
[2] औपपातिक सूत्र १३ से २१
[3] निरयावलिका २
[4] ज्ञाता धर्म कथा १, ९
[5] उत्तराध्ययन २१,

फिर वर्षाकाल के पश्चात् प्रभु विहारक्रम से अंगदेश होकर चम्पानगरी पधारे और 'पूर्णभद्र' नामक चैत्य में समवशरण किया। पधारने का समाचार पाकर नागरिक लोग और राजघराने की राजरानियां वन्दन करने को गईं। उस समय वैशाली में युद्ध चल रहा था। एक ओर १८ गणराजा और दूसरी ओर कौणिक और उसके दस भाई अपने दल-बल सहित जूंझ रहे थे।

देशना समाप्त होने पर काली आदि रानियों ने अपने पुत्रों के लिए जिज्ञासा की कि – "भगवन् ! हमारे पुत्र युद्ध में गए हैं। उनका क्या होगा ? व कब तक कुशलपूर्वक लौटेंगे ?"

काली आदि रानियों को बोध

उत्तर में भगवान् द्वारा पुत्रों का मरण सुनकर काली आदि रानियों को अपार दुःख हुआ।[1] पर प्रभु के वचनों से संसार का विनश्वरशील स्वभाव समझ कर वे विरक्त हुईं और कौणिक की अनुमति से भगवान् के चरणों में दीक्षित हो गईं।

आर्या चन्दना की सेवा में काली १, सुकाली २, महाकाली ३, कृष्णा ४, सुकृष्णा ५, महाकृष्णा ६, वीरकृष्णा ७, रामकृष्णा ८, पितृसेनकृष्णा ९, और महासेनकृष्णा १०, इन सबने दीक्षित होकर ग्यारह अंगों का अध्ययन किया। आर्या चन्दना की अनुमति से काली ने रत्नावली, सुकाली ने कनकावली, महाकाली ने लघुसिंह निष्क्रीड़ित, कृष्णा ने महासिंह-निष्क्रीड़ित, सुकृष्णा ने सप्तसप्तति भिक्षु प्रतिमा, महाकृष्णा ने लघुसर्वतोभद्र, वीरकृष्णा ने महासर्वतोभद्र तप, रामकृष्णा ने भद्रोत्तर प्रतिमा और महासेन कृष्णा ने आयंबिल-वर्धमान तप किया। अन्त में अनशनपूर्वक समाधिभाव से काल कर सब ने सब दुःखों का अन्त कर निर्वाण प्राप्त किया।[2]

कुछ काल तक चम्पा में ठहरकर भगवान् फिर मिथिला नगरी पधारे और वहीं पर वर्षाकाल व्यतीत किया।

केवलीचर्या का पन्द्रहवां वर्ष

फिर चातुर्मास समाप्त कर प्रभु ने वैशाली के पास होकर श्रावस्ती की ओर विहार किया। कौणिक के भाई हल्ल, वेहल्ल, जिनके कारण वैशाली में युद्ध हो रहा था, किसी तरह वहां से भगवान् के पास आ पहुंचे और श्रमण[3] धर्म की दीक्षा लेकर प्रभु के चरणों में शिष्य हो गये।

श्रावस्ती पहुंचकर भगवान् 'कोष्ठक' चैत्य में विराजमान हुए। मंखलिपुत्र गोशालक भी उन दिनों श्रावस्ती में ही था। भगवान् महावीर से पृथक् होने के

---

[1] निरयावलिका, अध्ययनन १

[2] अंतगढ सूत्र, सप्तम व अष्टमवर्ग।

[3] (क) तेवि कुमारा सामिस्स सीसत्ति वोसिरन्ति, देवताए हरिता।
[आव. नि. जिनदास, दूसरा भाग, पृ० १७४]

(ख) भरतेश्वर बाहुबली वृत्ति, पत्र १००

बाद वह अधिकांश समय श्रावस्ती के आसपास ही घूमता रहा। श्रावस्ती में 'हालाहला' कुम्हारिन और अयंपुल गाथापति उसके प्रमुख भक्त थे। गोशालक जब कभी आता, हालाहला की भांडशाला में ठहरता। अब वह 'आजीवक' मत का प्रचारक बनकर अपने को तीर्थंकर बतला रहा था। जब भिक्षार्थ घूमते हुए गौतम ने नगरी में यह जनप्रवाद सुना कि श्रावस्ती में दो तीर्थंकर विचर रहे हैं, एक श्रमण भगवान् महावीर और दूसरे मंखलि गोशालक, तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने भगवान् के चरणों में पहुंचकर इसकी वास्तविकता जाननी चाही और भगवान् से पूछा – "प्रभो ! यह कहां तक ठीक है ?"

गौतम के प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् महावीर ने गोशालक का प्रारम्भ से सम्पूर्ण परिचय प्रस्तुत करते हुए कहा – "गौतम ! गोशालक जिन नहीं पर जिनप्रलापी है।" नगर में सर्वत्र गौतम और महावीर के प्रश्नोत्तर की चर्चा थी।

गोशालक का आनन्द मुनि को भयभीत करना

मंखलिपुत्र गोशालक जो उस समय नगर के बाहर आतापना ले रहा था, उसने जब लोगों से यह बात सुनी तो वह अत्यन्त क्रोधित हुआ। क्रोध से जलता हुआ वह आतापना भूमि से 'हालाहला' कुम्हारिन की भांडशाला में आया और अपने आजीवक संघ के साथ क्रोधावेश में बात करने लगा। उस समय श्रमण भगवान् महावीर के शिष्य आनन्द अनगार भिक्षाचर्या में घूमते हुए उधर से जा रहे थे। वे सरल और विनीत थे तथा निरन्तर छट्ठ तप किया करते थे। गोशालक ने उन्हें देखा तो बोला – "आनन्द ! इधर आ, जरा मेरी बात तो सुन।" आनन्द के पास आने पर गोशालक ने अपनी बात इस प्रकार कहनी आरम्भ की :–

"पुराने समय की बात है, कुछ व्यवसायी व्यापार के लिए अनेक प्रकार का किराना और विविध सामान गाड़ियों में भरकर यात्रा को जा रहे थे। मार्ग में ग्राम-रहित, निर्जल, दीर्घ अटवी में प्रविष्ट हुए। कुछ मार्ग पार करने पर उनका साथ में लाया हुआ पानी समाप्त हो गया। तृषा से आकुल लोग परस्पर सोचने लगे कि अब क्या करना चाहिए। उनके सामने बड़ी विकट समस्या थी। वे चारों ओर पानी की गवेषणा करते हुए एक घने जंगल में जा पहुंचे। वहां एक विशाल वल्मीक था। उसके चार ऊंचे-ऊंचे शिखर थे। प्यास-पीड़ित लोगों ने उनमें से एक शिखर को फोड़ा। उससे उन्हें स्वच्छ, शीतल, पाचक और उत्तम जल प्राप्त हुआ। प्रसन्न हो उन्होंने पानी पिया, बैलों को पिलाया और मार्ग के लिए बर्तनों में भरकर भी साथ ले लिया। फिर लोभ से दूसरा शिखर भी फोड़ा। उसमें उनको विशाल स्वर्ण-भंडार प्राप्त हुआ। उनका लोभ बढ़ा, उन्होंने तीसरा शिखर फोड़ डाला, उसमें मणि रत्न प्राप्त हुए। अब तो उन्हें और अधिक प्राप्त करने की इच्छा हुई और उन्होंने चौथा शिखर भी फोड़ने का विचार किया। उस समय उनमें एक अनुभवी और सर्वहितैषी वणिक् था। वह बोला – "भाई !

हमको चौथा शिखर नहीं फोड़ना चाहिए। हमारी आवश्यकता पूरी हो गई, अब चतुर्थ शिखर का फोड़ना कदाचित् दुःख और संकट का कारण बन जाय अतः हमको इस लोभ का संवरण करना चाहिए।"

व्यापारियों ने उसकी बात नहीं मानकर चौथा शिखर भी फोड़ डाला। उसमें से महा भयंकर दृष्टिविष कृष्ण सर्प निकला। उसकी विषमय उग्र दृष्टि पड़ते ही सारे व्यापारी सामान सहित जलकर भस्म हो गये। केवल वह एक व्यापारी बचा जो चौथा शिखर फोड़ने को मना कर रहा था। उसको सामान सहित सर्प ने घर पहुंचाया।

आनन्द! तेरे धर्माचार्य और धर्मगुरु श्रमण भगवान् महावीर ने भी इसी तरह श्रेष्ठ अवस्था प्राप्त की है। देव मनुष्यों में उनकी प्रशंसा होती है किन्तु वे मेरे सम्बन्ध में यदि कुछ भी कहेंगे तो मैं अपने तेज से उनको व्यापारियों की तरह भस्म कर दूंगा। अतः उनके पास जाकर तू यह बात सुना दे।"

आनन्द मुनि का भ० से समाधान

गोशालक की बात सुनकर आनन्द सरलता के कारण बहुत भयभीत हुए और महावीर के पास आकर सारा वृत्तान्त उन्होंने कह सुनाया तथा पूछा- "क्या गोशालक तीर्थंकर को भस्म कर सकता है?"

महावीर ने कहा – "आनन्द! गोशालक अपने तपस्तेज से किसी को भी एक बार में भस्म कर सकता है, परन्तु अरिहन्त भगवान् को नहीं जला सकता, कारण कि गोशालक में जितना तपस्तेज है, अनगार का उससे अनन्त गुना तेज है। अनगार क्षमा द्वारा उस क्रोध का निरोध करने में समर्थ है। अनगार के तपस्तेज से स्थविर का तप अनन्त गुना विशिष्ट है। सामान्य स्थविर के तप से अरिहन्त का तपोबल अनन्त गुना अधिक है क्योंकि उनकी क्षमा अतुल है अतः कोई उनको नहीं जला सकता। हां, परिताप-कष्ट उत्पन्न कर सकता है। इसलिए तुम जाओ और गौतम आदि श्रमण निर्ग्रन्थों से यह कह दो कि गोशालक इधर आ रहा है। इस समय वह द्वेषवश म्लेच्छ की तरह दुर्भाव में है। इसलिए उसकी बातों का कोई कुछ भी जवाब न दे। यहां तक कि उसके साथ कोई धर्म-चर्चा भी न करे और न धार्मिक प्रेरणा ही दे।"

गोशालक का आगमन

आनन्द ने प्रभु का सन्देश सबको सुनाया ही था कि इतने में गोशालक अपने आजीवक संघ के साथ महावीर के पास कोष्ठक उद्यान में आ पहुंचा। वह भगवान् से कुछ दूर हटकर खड़ा हो गया और थोड़ी देर के बाद बोला- "काश्यप! तुम कहते हो कि मंखलिपुत्र गोशालक तुम्हारा शिष्य है। बात ठीक है। पर, तुमको पता नहीं कि वह तुम्हारा शिष्य मृत्यु प्राप्त कर देवलोक में देव हो चुका है। मैं मंखलिपुत्र गोशालक से भिन्न कौडिन्यायन गोत्रीय उदायी हूं। गोशालक का शरीर मैंने इसलिए धारण किया है कि वह परीषह सहने में सक्षम है। यह मेरा सातवां शरीरान्तरप्रवेश है।

"हमारे धर्म सिद्धान्त के अनुसार जो भी मोक्ष गए हैं, जाते हैं, और जाएंगे, वे सब चौरासी लाख महाकल्प के उपरांत सात दिव्य संयूथ-निकाय, सात सन्निगर्भ और सात प्रवृत्त परिहार करके पांच लाख साठ हजार छ सौ तीन (५६०६०३) कर्मांशों का अनुक्रम से क्षय करके मोक्ष गए, जाते हैं, और जाएंगे। महाकल्प का कालमान समझाने हेतु जैन सिद्धान्त के पल्य और सागर के समान आजीवक मत में सर और महाकल्प का प्रमाण बतलाया है। एक लाख सत्तर हजार छ सौ उनचास (१७०६४९) गंगाओं का एक सर मानकर सौ-सौ वर्ष में एक-एक बालुका निकालते हुए जितने समय में सब खाली हो उसको एक सर माना है। वैसे तीन लाख सर खाली हों तब महाकल्प माना गया है।"[1]

"आर्य काश्यप ! मैंने कुमार की प्रव्रज्या में बालवय से ही ब्रह्मचर्यपूर्वक रहने की इच्छा की और प्रव्रज्या स्वीकार की। मैंने निम्न प्रकार से सात प्रवृत्त-परिहार किए, यथा ऐणेयक, मल्लराम, मंडिक रोह, भारद्वाज, अर्जुन, गौतमपुत्र, गोशालक मंखलिपुत्र।"

"प्रथम शरीरान्तरप्रवेश राजगृह के बाहर मंडिकुक्षि चैत्य में उदायन कौडिन्यायन गोत्री के शरीर का त्यागकर ऐणेयक के शरीर में किया। बाईस वर्ष वहां रहा। द्वितीय शरीरान्तरप्रवेश उद्दण्डपुर के बाहर चन्द्रावतरण चैत्य में ऐणेयक के शरीर का त्याग कर मल्लराम के शरीर में किया। २१ वर्ष तक उसमें रह कर चंपानगरी के बाहर अंग-मन्दिर चैत्य में मल्लराम का शरीर छोड़ कर मंडिक के देह में तीसरा शरीरान्तरप्रवेश किया। वहां बीस वर्ष तक रहा। फिर वाराणसी नगरी के बाहर काम महावन चैत्य में मंडिक के शरीर का त्याग कर रोहक के शरीर में चतुर्थ शरीरान्तरप्रवेश किया। वहां २९ वर्ष रहा। पांचवें में आलंभिका नगरी के बाहर प्राप्त-काल चैत्य में रोहक का शरीर छोड़कर भारद्वाज के शरीर में प्रवेश किया। उसमें १८ वर्ष रहा। छट्ठी बार वैशाली के बाहर कुंडियायन चैत्य में भारद्वाज का शरीर छोड़कर गौतमपुत्र अर्जुन के शरीर में प्रवेश किया। वहां सत्रह वर्ष तक रहा। वहां से इस बार श्रावस्ती में हालाहला कुम्हारिन के कुंभकारापण में गौतमपुत्र का शरीर त्यागकर गोशालक के शरीर में प्रवेश किया। इस प्रकार आर्य काश्यप ! तुम मुझको अपना शिष्य मंखलिपुत्र बतलाते हो, क्या यह ठीक है ?"

गोशालक की बात सुन कर महावीर बोले – "गोशालक ! जैसे कोई चोर बचाव का साधन नहीं पाकर तृण की आड़ में अपने को छुपाने की चेष्टा करता है किन्तु वह उससे छुप नहीं सकता फिर भी अपने को छुपा हुआ मानता है। वैसे तू भी अपने को शब्दजाल से छुपाने का प्रयास कर रहा है। तू गोशालक के सिवाय अन्य नहीं होते हुए भी अपने को अन्य बता रहा है, तेरा ऐसा कहना ठीक नहीं, तू ऐसा मत कह।"

[1] भग० श० १५, उ० १, सूत्र ५५०

भगवान् की बात सुनकर गोशालक अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और आक्रोशपूर्ण वचनों से गाली बोलने लगा। वह जोर-जोर से चिल्लाते हुए तिरस्कारपूर्ण शब्दों में बोला – "काश्यप ! तुम आज ही नष्ट, विनष्ट व भ्रष्ट हो जाओगे। आज तुम्हारा जीवन नहीं रहेगा। अब मुझसे तुमको सुख नहीं मिलेगा।"

सर्वानुभूति के वचन से गोशालक का रोष

भगवान् महावीर वीतराग थे। उन्होंने गोशालक की तिरस्कारपूर्ण बात सुनकर भी रोष प्रकट नहीं किया। अन्य मुनि लोग भी भगवान् के सन्देश से चुप थे। पर भगवान् के एक शिष्य 'सर्वानुभूति' अनगार जो स्वभाव से सरल एवं विनीत थे, उनसे यह नहीं सहा गया। वे भगवद्भक्ति के राग से उठकर गोशालक के पास आए और बोले – "गोशालक ! जो गुणवान् श्रमण माहण के पास एक भी धार्मिक सुवचन सुनता है, वह उनको वन्दन-नमन और सेवा करता है। तो क्या, तुम भगवान् से दीक्षा-शिक्षा ग्रहण कर उनके साथ ही मिथ्या एवं अनुचित व्यवहार करते हो ? गोशालक ! तुमको ऐसा करना योग्य नहीं है। आवेश में आकर विवेक मत छोड़ो।"

सर्वानुभूति की बात सुनकर गोशालक तमतमा उठा। उसने क्रोध में भरकर तेजोलेश्या के एक ही प्रहार से सर्वानुभूति अणगार को जलाकर भस्म कर दिया और पुनः भगवान् के बारे में निन्दा वचन बोलने लगा। प्रभु के अन्य अन्तेवासी स्थिति को देखकर मौन थे, किन्तु अयोध्या के 'सुनक्षत्र' मुनि ने जो उसके अपलाप सुने तो उनसे भी नहीं रहा गया। उन्होंने गोशालक को कटु-वचन बोलने से मना किया। इससे रुष्ट होकर गोशालक ने सुनक्षत्र मुनि पर भी उसी प्रकार तेजोलेश्या का प्रहार कर दिया। इस बार लेश्या का तेज मन्द हो गया था। पीड़ा की भयंकरता देखकर सुनक्षत्र मुनि श्रमण भगवान् महावीर के पास आए और वन्दना कर भगवान् के चरणों में आलोचनापूर्वक उन्होंने पुनः महाव्रतों में आरोहण किया और फिर श्रमण-श्रमणियों से क्षमा याचना कर समाधिपूर्वक कालधर्म को प्राप्त किया।

गोशालक फिर भी भगवान् महावीर को अनर्गल कटुवचन कहता रहा। कुछ काल के बाद भगवान् महावीर ने सर्वानुभूति की तरह गोशालक को समझाया, पर मूर्खों के प्रति उपदेश क्रोध का कारण होता है, इस उक्ति के अनुसार गोशालक प्रभु की बात से अत्यधिक क्रुद्ध हुआ और उसने उनको भस्म करने के लिए सात आठ कदम पीछे हटकर तेजोलेश्या का प्रहार किया। किन्तु महावीर के अमित तेज के कारण गोशालक द्वारा प्रक्षिप्त तेजोलेश्या उन पर असर नहीं कर सकी। वह भगवान् की प्रदक्षिणा करके एक बार ऊपर उछली और गोशालक के शरीर को जलाती हुई, उसी के शरीर में प्रविष्ट हो गई।

गोशालक अपनी ही तेजोलेश्या से पीड़ित होकर श्रमण भगवान् महावीर से बोला – "काश्यप ! यद्यपि अभी तुम बच गए हो किन्तु मेरी इस तेजोलेश्या से

पराभूत होकर तुम छः मास की अवधि में ही दाह-पीड़ा से छद्मस्थ अवस्था में काल प्राप्त करोगे। इस पर भगवान् ने कहा – "गोशालक ! मैं तो अभी सोलह वर्ष तक तीर्थंकर पर्याय से विचरण करूँगा पर तुम अपनी तेजोलेश्या से प्रभावित एवं पीड़ित होकर सात रात्रि के अन्दर ही छद्मस्थ भाव से काल प्राप्त करोगे।"[1]

तेजोलेश्या के पुनः पुनः प्रयोग से गोशालक निस्तेज हो गया और उसका तपस्तेज उसी के लिए घातक सिद्ध हुआ। महावीर ने निर्ग्रन्थों को बुलाकर कहा – "श्रमणो ! जिस प्रकार अग्नि से जलकर तृण या काष्ठ नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार गोशालक मेरे वध के लिए तेजोलेश्या निकाल कर अब तेजभ्रष्ट हो गया है। तुम लोग उसके विचारों का खण्डन कर अब प्रश्न और हेतुओं से उसे निरुत्तर कर सकते हो।"

निर्ग्रन्थों ने विविध प्रश्नोत्तरों से उसको निरुत्तर कर दिया। अत्यन्त क्रुद्ध होकर भी गोशालक निर्ग्रन्थों को कुछ भी पीड़ा नहीं दे सका।

इधर श्रावस्ती नगरी के त्रिकमार्ग और राजमार्ग में सर्वत्र यह चर्चा होने लगी कि श्रावस्ती के बाहर कोष्ठक चैत्य में दो जिन परस्पर आलाप-संलाप कर रहे हैं। एक कहता है तुम पहले काल प्राप्त करोगे तो दूसरा कहता है पहले तुम्हारी मृत्यु होगी। इसमें कौन सच्चा और कौन झूठा है? जानकार प्रधान व्यक्ति बोलते – श्रमण भगवान् महावीर सम्यग्वादी हैं और गोशालक मिथ्यावादी।[2]

गोशालक की अन्तिम चर्या

अपनी अभिलाषा की सिद्धि में असफलता के कारण गोशालक इधर-उधर देखता, दीर्घ निश्वास छोड़ता, दाढ़ी के बालों को नोचता, गर्दन खुजलाता, पांवों को पछाड़ता, हाय मरा – हाय मरा ! चिल्लाता हुआ आजीवक समूह के साथ 'कोष्ठक-चैत्य' से निकल कर 'हालाहला' कुम्हारिन के कुम्भकारापण में पहुंचा। वहां वह अपनी दाह-शान्ति के लिए कच्चा आम चूसता, मद्यपान करता, बार-बार गाता-नाचता और कुम्हारिन को हाथ जोड़ता हुआ मिट्टी के भांड में रखे हुए शीतल जल से गात्र का सिंचन करने लगा।

भगवान् महावीर ने निग्रन्थों को आमन्त्रित कर कहा – "आर्यों ! मंखलि पुत्र गोशालक ने जिस तेजोलेश्या का मेरे वध हेतु प्रहार किया था वह (१) अंग, (२) वंग, (३) मगध, (४) मलय, (५) मालव, (६) अच्छ, (७) वत्स, (८) कौत्स, (९) पाठ, (१०) लाट, (११) वज्र, (१२) मौजि, (१३) काशी, (१४) कोशल, (१५) अबाध और (१६) संभुत्तर इन समस्त देशों को जलाने,

[1] नो खलु अहं गोसाला। तव तवेणं तेएणं अन्नाइट्ठे समाणे अंतो छण्हं जाव कालं करिस्सामि, अहन्नं अन्नाइं सोलसवासाइं जिणे सुहत्थी विहरिस्सामि। तुम्हं णं गोसाला ! अप्पणा चेव सयेणं तेएणं अणाइट्ठे समाणे सत्तरत्तस्स पित्तज्जरपरिगयसरीरे जाव छउमत्थे चेव कालं करिस्ससि।

[2] भग. श. १५, सूत्र ५५३, पृ० ६७८।

नष्ट करने तथा भस्म करने में समर्थ थी। अब वह कुम्भकारापरण में कच्चा ग्राम चूसता हुआ यावत् ठंडे पानी से शरीर का सिंचन कर रहा है। अपने दोषों को छुपाने के लिए उसने आठ चरम बतलाये हैं, जैसे – (१) चरम-पान, (२) चरम-गान, (३) चरम-नाट्य, (४) चरम-अंजलिकर्म (५) चरम-पुष्कलसंवर्त मेघ, (६) चरम-सेचनक गंध-हस्ती, (७) चरम-महाशिलाकंटक संग्राम और (८) चरम-तीर्थंकर, अवसर्पिणी काल के अन्तिम तीर्थंकर के रूप से अपना सिद्ध होना।

अपना मृत्यु समय निकट जान कर गोशालक ने आजीवक स्थविरों को बुला कर कहा – "मैं मर जाऊं तो मेरी देह को सुगन्धित जल से नहलाना, सुगन्धित वस्त्र से देह को पोंछना, चन्दन का लेप करना, बहुमूल्य श्वेत वस्त्र पहिनाना तथा अलंकारों से भूषित करना और शिविका में बिठा कर यह घोषणा करते हुए ले जाना कि चौबीसवें तीर्थंकर गोशालक जिन हुए, सिद्ध हुए आदि।"[1]

किन्तु सातवीं रात्रि में गोशालक का मिथ्यात्व दूर हुआ। उसकी दृष्टि निर्मल और शुद्ध हुई। उसको अपने किये पर पश्चात्ताप होने लगा। उसने सोचा – "मैंने जिन नहीं होकर भी अपने को जिन घोषित किया है। श्रमणों का घात और धर्माचार्य का द्वेष करना वास्तव में मेरी भूल है। श्रमण भगवान् महावीर ही वास्तव में सच्चे जिन हैं।"

ऐसा सोच कर उसने स्थविरों को बुलाया और कहा – "स्थविरो! मैंने अपने आप के लिए जो जिन होने की बात कही है, वह मिथ्या है। ऐसा कह कर मैंने तुम लोगों से वंचना की है। अतः अब मेरी मृत्यु के बाद प्रायश्चित्त-स्वरूप मेरे बाएं पैर में डोरी बांध कर, तुम मेरे मुंह पर तीन बार थूकना और श्रावस्ती के राजमार्गों में यह कहते हुए मेरे शव को खींच कर ले जाना कि गोशालक जिन नहीं था, जिन तो महावीर ही हैं।" उसने अपनी इस अन्तिम भावना के पालन के लिए स्थविरों को शपथ दिलायी और सातवीं रात्रि में ही उसकी मृत्यु हो गई।

गोशालक के भक्त और स्थविरों ने सोचा – "आदेशानुसार यदि नगरी में पैर बांध कर घसीटते हुए निकालेंगे तो अपनी हल्की लगेगी। और ऐसा नहीं करने से आज्ञा-भंग होगी। ऐसी स्थिति में क्या करना चाहिए?" उन्होंने एक उपाय निकाला – "हालाहला कुम्हारिन के घर में ही द्वार बन्द कर नगरी और राजमार्ग की रचना करें। उसमें घुमा लेने से आज्ञा-भंग और बदनामी दोनों से ही बच जायेंगे।" उन्होंने वैसा ही किया। गोशालक के निर्देशानुसार बंद मकान में शव को घुमा कर फिर नगर में धूम-धाम से शव-यात्रा निकाली और सम्मान पूर्वक उसका अन्तिम संस्कार सम्पन्न किया।

शंका समाधान

गोशालक के द्वारा समवशरण में तेजोलेश्या-प्रहार के प्रसंग से सहज शंका उत्पन्न होती है कि महावीर ने छद्मस्थ अवस्था में गोशालक की तेजोलेश्या से रक्षा

[1] भग. श. १५, पृ. ६८२, सू. ५५४।

जी पर सर्वानुभूति और सुनक्षत्र मुनि को अपनी शीत-लेश्या के प्रभाव से क्यों नहीं बचाया ? टीकाकार आचार्य ने इस पर स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि महावीर वीतराग होने से निज-पर के भेद और रागद्वेष से रहित थे। केवली होने के कारण उनका व्यवहार निश्चयानुगामी होता था, जबकि छद्मस्थ अवस्था में व्यवहार से ही निश्चय द्योतित होता और उसका अनुमान किया जाता था। सर्वानुभूति और सुनक्षत्र मुनि का गोशालक के निमित्त से मरण अवश्यंभावी था, ऐसा प्रभु ने जान रखा था। दूसरी बात यह भी है कि केवली राग और प्रमाद रहित होने से लब्धि का प्रयोग नहीं करते इसलिए वे उस अवसर पर तटस्थ रहे। गोशालक के रक्षण के समय में भगवान् का जीवन किसी एक सूक्ष्म हद तक पूर्णतः रागविहीन और व्यवहार निरपेक्ष जीवन नहीं था। उस समय शरणागत का रक्षण नहीं करना अनुकम्पा का प्रत्यनीकपन होता। गोशालक द्वारा तेजोलेश्या के प्रहार किये जाने के समय में प्रभु पूर्ण वीतराग थे। यही कारण है कि सर्वानुभूति और सुनक्षत्र मुनि के ऊपर प्रहार होने के समय में गोशालक को न समझा कर प्रभु ने उससे पीछे बात की।

कुछ लोग कहते हैं कि गोशालक पर अनुकम्पा दिखा कर भगवान् ने बड़ी भूल की। यदि ऐसा नहीं करते तो कुमत का प्रचार और मुनि-हत्या जैसी अनर्थ-माला नहीं बढ़ पाती, किन्तु उनका ऐसा कहना भूल है। सत्पुरुष अनुकम्पाभाव से बिना भेद के हर एक का हित करते हैं। उसका प्रतिफल क्या होगा, यह सौदेबाजी उनमें नहीं होती। वे जीवन भर अप्रमत्तभाव से चलते रहे, उन्होंने कभी कोई पापकर्म एवं प्रमाद नहीं किया जैसा कि आचारांग सूत्र में स्पष्ट निर्देश है- 'छउमत्थोवि परक्कममाणो ण पमायं सइंपि कुव्वित्था।'[1]

भगवान् का विहार

श्रावस्ती के 'कोष्ठक चैत्य' से विहार कर भगवान् महावीर ने जनपद की ओर प्रयाण किया और विचरते हुए 'मेढ़ियाग्राम' पहुंचे और ग्राम के बाहर 'सालकोष्ठक चैत्य' में पृथ्वी शिला-पट्ट पर विराजमान हुए। भक्तजन दर्शन-श्रवण एवं वंदन करने आये। भगवान् ने धर्म-देशना सुनाई।

जिस समय भगवान् साल कोष्ठक चैत्य में विराज रहे थे, गोशालक द्वारा प्रक्षिप्त तेजोलेश्या के निमित्त से भगवान् के शरीर में असाता का उदय हुआ जिससे उनको दाह-जन्य अत्यन्त पीड़ा होने लगी। साथ ही रक्तातिसार की बाधा भी हो रही थी। पर वीतराग भगवान् इस विकट वेदना में भी शान्तभाव से सब कुछ सहन करते रहे। उनके शरीर की स्थिति देख कर लोग कहने लगे कि गोशालक की तेजोलेश्या से पीड़ित भगवान् महावीर छह मास के भीतर ही छद्मस्थभाव में कहीं मृत्यु न प्राप्त कर जायं। उस समय सालकोष्ठक के पास मालुयाकच्छ में भगवान् का एक शिष्य 'सीहा' मुनि, जो भद्र प्रकृति का था, बेले

[1] आचा., श्रु. १, अध्ययन ९, उद्देशा ४, गा. १२

की तपस्या के साथ ध्यान कर रहा था। ध्यानावस्था में ही उसके मन में यह विचार हुआ कि मेरे धर्माचार्य को विपुल रोग उत्पन्न हुआ है और वे इसी दशा में कहीं काल कर जायेंगे तो लोग कहेंगे कि ये छद्मस्थ अवस्था में ही काल कर गये और इस तरह हम सब की हंसी होगी। इस विचार से सीहा अनगार फूट-फूट कर रोने लगा।

श्रमण भगवान् महावीर ने ज्ञानयोग से इस प्रसंग को जाना और निग्रन्थों को बुला कर कहा – "आर्यो ! मेरा अन्तेवासी सीहा अनगार जो प्रकृति का भद्र है, मालुयाकच्छ में मेरी बाधा-पीड़ा के विचार से तेज स्वर में रुदन कर रहा है अतः जाकर उसे यहां बुला लाओ।" प्रभु के संदेश से श्रमण-निर्ग्रन्थ मालुयाकच्छ गए और सीहा अनगार को भगवान् द्वारा बुलाये जाने की सूचना दी। सीहा मुनि भी निर्ग्रंथों के साथ भगवान् महावीर के पास आये और वन्दना नमस्कार कर उपासना करने लगे। सीहा मुनि को सम्बोधन कर प्रभु ने कहा – "सीहा ! ध्यानान्तरिका में तेरे मन में मेरे अनिष्ट की कल्पना हुई और तुम रोने लगे, क्या यह ठीक है ?" सीहा द्वारा इस तथ्य को स्वीकृत किये जाने पर प्रभु ने कहा – "सीहा ! गोशालक की तेजोलेश्या से पीड़ित हो कर मैं छह महीने के भीतर मृत्यु प्राप्त करूंगा, ऐसी बात नहीं है। मैं सोलह वर्ष तक जिनचर्या से सुहस्ती की तरह और विचरूंगा। अतः हे आर्य ! तुम मेढ़ियाग्राम में "रेवती" गाथापत्नी के घर जाओ और उसके द्वारा मेरे लिये तैयार किया हुआ आहार न लेकर अन्य जो बासी बिजौरा पाक है, वह ले आओ। व्याधि मिटाने के लिये उसका प्रयोजन है।"

भगवान् की आज्ञा पा कर सीहा अनगार बहुत प्रसन्न हुए और प्रभु को वन्दन कर अचपल एवं असंभ्रान्त भाव से गौतम स्वामी की तरह शाल कोष्ठक चैत्य से निकल कर, मेढ़ियाग्राम के मध्य में होते हुए, रेवती के घर पहुंचे। रेवती ने सीहा अनगार को विनयपूर्वक वन्दना की और आने का कारण पूछा। सीहा मुनि ने यहा – "रेवति ! तुम्हारे यहां दो औषधियां हैं, उनमें से जो तुमने श्रमण भगवान् महावीर के लिये तैयार की है, मुझे उससे प्रयोजन नहीं किन्तु अन्य जो बिजोरापाक है, उसकी आवश्यकता है।"

भगवान् की रोग-मुक्ति

सीहा मुनि की बात सुन कर रेवती आश्चर्य-चकित हुई और बोली- "मुने ! ऐसा कौनसा ज्ञानी या तपस्वी है जो मेरे इस गुप्त रहस्य को जानता है ?" सीहा अनगार ने कहा – "श्रमण भगवान् महावीर जो चराचर के ज्ञाता, द्रष्टा हैं उनसे मैंने यह जाना है।" फिर तो रेवती श्रद्धावनत एवं भाव-विभोर हो भोजनशाला में गई और बिजोरा-पाक लाकर मुनि के पात्र में वह सब पाक बहरा दिया। रेवती के यहां से प्राप्त बिजोरापाक रूप आहार के सेवन से भगवान् का शरीर पीड़ारहित हुआ और धीरे-धीरे वह पहले की तरह तेजस्वी होकर चमकने लगा। भगवान् के रोग-निवृत्त होने से श्रमण-श्रमणी और श्रावक-

श्राविका वर्ग ही नहीं अपितु स्वर्ग के देवों तक को हर्ष हुआ। सुरासुर और मानव लोक में सर्वत्र प्रसन्नता की लहर सी दौड़ गई।[1]

रेवती ने भी इस अत्यन्त विशिष्ट भावपूर्वक दिये गये उत्तम दान से देव-गति का आयुबन्ध एवं तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन कर जीवन सफल किया।

कुतर्कपूर्ण भ्रम

सीहा अणगार को भगवान् महावीर ने रेवती के घर औषधि लाने के लिये भेजा उसका उल्लेख भगवती सूत्र के शतक १५, उद्देशा १ में इस प्रकार किया गया है :

"......अहं णं अण्णाइं सोलसवासाइं जिणे सुहत्थी विहरिस्सामि, तं गच्छह णं तुमं सीहा। मिंढियागामं णयरं रेवतीए गाहावयणीए गिहे, तत्थ णं रेवतीए गाहावईए मम अट्ठाए दुवे कवोयसरीरा उवक्खडिया तेहिं णो अट्ठो अत्थि। से अणे पारियासी मज्जारकड़ए कुक्कुडमंसए तमाहराहि, तेणं अट्ठो। तएणं..."

इस पाठ को लेकर ई० सन् १८८४ से अर्थात् लगभग ८७ वर्ष से पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों में अनेक प्रकार के तर्क-वितर्क चल रहे हैं। जैन परम्परा से अनभिज्ञ कुछ विद्वानों की धारणा कुछ और ही तरह की रही है कि इस पाठ में भगवान् महावीर के मांसभक्षण का संकेत मिलता है। पर वास्तव में ऐसी बात नहीं है। पाठ में आये हुए शब्दों का सही अर्थ समझाने के लिये हमें प्रसंग और तत्कालीन परिस्थिति में होने वाले शब्द-प्रयोगों को लक्ष्य में लेकर ही अर्थ करना होगा। उसके लिये सबसे पहले इस बात को ध्यान में रखना होगा कि रेवती श्रमण भगवान् महावीर की परम भक्त श्रमणोपासिका एवं सती जयंती तथा सुश्राविका मृगावती की प्रिय सखी थी। अतः मत्स्य-मांसादि अभक्ष्य पदार्थों से उसका कोई सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। रेवती ने परम उत्कृष्ट भावना से इस औषधि का दान देकर देवायु और महामहिम तीर्थंकर नामकर्म का उपार्जन किया था।

भगवती सूत्र के पाठ में आये हुए खास विचारणीय शब्द "कवोयसरीर", "मज्जारकडए कुक्कुडमंसए" शब्द हैं। जिनके लिये भगवती सूत्र के टीकाकार आचार्य अभयदेव सूरि और दानशेखर सूरि ने क्रमशः कुष्मांड फल, और मार्जार नामक वायु की निवृत्ति के लिये बिजोरा (बीजपूरक कटाह) अर्थ किया है।

विक्रम संवत् ११२० में अभयदेव ने स्थानांग सूत्र की टीका बनाई। उस टीका में उन्होंने अन्य मत का उल्लेख तक नहीं किया है और उन्होंने स्पष्टतः निश्चित रूप से "कवोयसरीर का अर्थ कुष्मांडपाक और "मज्जारकडए कुक्कुड-मंसए" का अर्थ मार्जार नामक वायु की निवृत्त्यर्थ बीजपूरक कटाह अर्थात् बिजोरापाक किया है। अभयदेव द्वारा की गई स्थानांग सूत्र की व्याख्या में किंचित्मात्र ध्वनि तक भी प्रतिध्वनित नहीं होती कि इन शब्दों का अर्थ

[1] भग. श. १५, सू. ५५७।

मांसपरक भी हो सकता है। जैसा कि स्थानांग की टीका के निम्नलिखित ग्रंश से स्पष्ट है :

"भगवांश्च स्थविरैस्तमाकार्योक्तवान् – हे सिंह ! यत् त्वया व्यकल्पि न तद्भावि, यत इतोऽहं देशोनानि षोडश वर्षाणि केवलिपर्यायं पूरयिष्यामि, ततो गच्छ त्वं नगरमध्ये, तत्र रेवत्यभिधानया गृहपतिपत्न्या मदर्थं द्वे कुष्मांडफल-शरीरे उपस्कृते, न च ताभ्यां प्रयोजनम् तथान्यदस्ति तद्गृहे परिवासितं मार्जाराभिधानस्य वायोर्निवृत्तिकारकं कुक्कुटमांसकं बीजपूरककटाहमित्यर्थः, तदाहर, तेन नः प्रयोजनमित्येवमुक्तोऽसौ तथैव कृतवान्,......"

स्थानांग सूत्र की टीका का निर्माण करने के ८ वर्ष पश्चात् ग्रर्थात् वि० सं० ११२८ में ग्रभयदेव सूरि ने भगवती सूत्र की टीका का निर्माण किया। उसमें उन्होंने भगवती सूत्र के पूर्वोक्त मूल पाठ की टीका करते हुए लिखा है :

"दुवे कवोया" इत्यादेः श्रूयमाणमेवार्थं केचिन्मन्यन्ते, ग्रन्ये त्वाहुः—कपोतकः पक्षिविशेषस्तद्वद् ये फले वर्णसाधर्म्यात्ते कपोते, कूष्मांडे ह्रस्वे कपोते कपोतके ते च ते शरीरे वनस्पतिजीवदेहत्वात् कपोतकशरीरे ग्रथवा कपोतकशरीरे इव धूसरवर्णसाधर्म्यादेव कपोतक शरीरे-कूष्मांड फले... 'परिग्रासिए' त्ति परिवासितं ह्यस्तनमित्यर्थः, 'मज्जारकडए' इत्यादेरपि केचित् श्रूयमाणमेवार्थं मन्यन्ते, ग्रन्ये त्वाहुः—मार्जारो वायुविशेषस्तदुपशमनाय कृतं-संस्कृतं मार्जारकृतम्, ग्रपरे त्वाहुः-मार्जारो विरालिकाभिधानो वनस्पतिविशेषस्तेन कृतं भावितं यत्तत्तथा किं तत् इति ? ग्राह 'कुर्कुटक मांसकं' बीजपूरक कटाहम्...।"

[भगवती सूत्र ग्रभयदेवकृत टीका, शतक १५, उ० १]

इसमें ग्रभयदेव ने ग्रन्य मत का उल्लेख किया है पर उनकी निजी निश्चित मान्यता इन शब्दों के लिये मांसपरक ग्रर्थ वाली किसी भी दशा में नहीं कही जा सकती।

ग्रर्थ का ग्रनर्थ करने की कुचेष्टा रखने वाले लोगों को यह बात सदा ध्यान में रखनी चाहिये कि सामान्य जैन साधु का जीवन भी 'ग्रमज्जमंसासिणो' विशेषण के ग्रनुसार मद्यमांस का त्यागी होता है तब महावीर के लिये मांसग्रहण की कल्पना ही कैसे की जा सकती है ? इसके साथ ही साथ इस महत्त्वपूर्ण तथ्य को भी सदा ध्यान में रखना होगा कि भगवान् महावीर ने ग्रपनी देशना में नरक गति के कारणों का प्रतिपादन करते हुए मांसाहार को स्पष्ट शब्दों में नरक गति का कारण बताया है।[1]

[1] (क) ठाणांग सूत्र, ठा० ४, उ० ४, सू० ३७३
(ख) गोयमा ! महारंभयाए, महापरिग्गहयाए, कुणिमाहारेणं पंचिन्दिय वहेणं...... नेरइयाउयकम्मा सरीर जाव पयोग बंधे।
[भगवती सू०, शतक ८, उ० ९, सू० ३५०]
(ग) चउहिं ठाणेहिं जीवा णेरइयत्ताए कम्मं पकरेंति......कुणिमाहारेणं।
[ग्रौपपातिक सूत्र, सू० ५६]

आचारांग सूत्र में तो श्रमण को यहां तक निर्देश दिया गया है कि भिक्षार्थ जाते समय साधु को यदि यह ज्ञात हो जाय कि अमुक गृहस्थ के घर पर मद्य-मांसमय भोजन मिलेगा तो उस घर में जाने का साधु को विचार तक नहीं करना चाहिए।[1]

भगवान् महावीर की पित्तज्वर की व्याधि को देखते हुए भी मांस अर्थ अनुकूल नहीं पड़ता किन्तु बिजौरे का गिरभाग जो मांस पद से उपलक्षित है, वही हितकर माना गया है। जैसा कि सुश्रुत से भी प्रमाणित होता है–

लघ्वम्लं दीपनं हृद्यं मातुलुंगमुदाहृतम्।
त्वक् तिक्ता दुर्जरा तस्य वातक्रमिकफापहा॥
स्वादु शीतं गुरु स्निग्धं मांसं मारुतपित्तजित्।
मेध्यं शूलानिलच्छर्दिकफारोचक नाशनम्॥

निघण्टु में भी बिजौरा के गुण इस प्रकार बताये गये हैं:–

रक्तपित्तहरं कण्ठजिह्वाहृदयशोधनम्।
श्वासकासारुचिहरं हृद्यं तृष्णाहरं स्मृतम्॥१३२॥
बीजपूरो परः प्रोक्तो मधुरो मधुकर्कटी।
मधुकर्कटिका स्वादी रोचनी शीतला गुरुः॥१३३॥
रक्तपित्तक्षयश्वासकासहिक्काभ्रमापहा॥१३४॥

[भावप्रकाश निघण्टु]

वैजयन्ती कोष में बीजपूरक को मधुकुक्कुटी के नाम से उल्लिखित किया गया है। यथा:–

देविकायां महाशल्का दूष्यांगी मधुकुक्कुटी।
अथात्ममूला मातुलुंगी पूति पुष्पी वृकाम्लिका॥

[वैजयन्ती कोष, भूमिकाण्ड, वनाध्याय, श्लोक ३३–३४]

पित्तज्वर के उपशमन में बीजपूरक ही हितावह होता है इसलिए यहाँ पर कुक्कुडमंस शब्द से मधुकुक्कुटी अर्थात् बिजौरे का गिर ही समझना चाहिए।

जिस संस्कृति में जीवन निर्वाह के लिए अत्यावश्यक फल, मूल, एवं सचित्त जल का भी भक्ष्याभक्ष्य रूप से विचार किया गया है वहां पर स्वयं उस संस्कृति के प्रणेता द्वारा मांस जैसे महारम्भी पदार्थ का ग्रहण कभी मानने योग्य नहीं हो सकता।

जिन भगवान् महावीर ने कौशाम्बी पधारते समय प्राणान्त संकट की स्थिति में भी क्षुधा एवं तृषा से पीड़ित मुनिवर्ग को वन प्रदेश में सहज सचित्त जल को सम्मुख देख कर भी पीने की अनुमति नहीं दी, वे परम दयालु महामुनि

[1] से भिक्खू वा. जाव समाणे से जं पुण जाणेज्जा मंसाइं व मच्छाइं मंस खलं व मच्छ खलं वा मच्छी खलं नो अभिसंधारिज्ज गमणाए ......[आचारांग, श्रु. २, अ. १, उ. ४, सू. २४५]

स्वयं की देह रक्षा के लिए मांस जैसे अग्राह्य पदार्थ का उपयोग करें, यह कभी बुद्धिगम्य नहीं हो सकता। अतः बुद्धिमान् पाठकों को शब्दों के वाहरी कलेवर की ओर दृष्टि न रख कर उनके प्रसंगानुकूल सही अर्थ अर्थात् बिजोरापाक को ही प्रमाणभूत मानना चाहिए।

साधु को किस प्रकार का आहार त्याज्य है इस सम्बन्ध में आचारांग सूत्र के उदाहरणपरक मूल पाठ 'बहु अट्ठिएण मंसेण वा मच्छेण वा बहुकण्टएण' को लेकर सर्वप्रथम डॉक्टर हर्मन जैकोबी को भ्रम उत्पन्न हुआ और उन्होंने आचारांग के अंग्रेजी अनुवाद में यह मत प्रकट करने का प्रयास किया कि इन शब्दों का अर्थ मांस ही प्रतिध्वनित होता है। जैन समाज द्वारा हर्मन जैकोबी की इस मान्यता का डट कर उग्र विरोध किया गया और अनेक शास्त्रीय प्रमाण उनके समक्ष रखे गये। उन प्रमाणों से हर्मन जैकोबी की शंका दूर हुई और उन्होंने अपने दिनांक २४-२-२८ के पत्र में अपनी भूल स्वीकार करते हुए आचारांग सूत्र के उक्त पाठ को उदाहरणपरक माना। श्री हीरालाल रसिकलाल कापड़िया ने 'हिस्ट्री आफ कैनानिकल लिटरेचर आव जैनाज' में डॉक्टर जैकोबी के उक्त पत्र का उल्लेख किया है जो इस प्रकार है :—

> There he has said that 'बहु अट्ठिएण मंसेण वा मच्छेण वा बहुकण्टएण' has been used in the metaphorical sense as can be seen from the illustration of नान्तरीयकत्व given by Patanjali in discussing a Vartika at Panini (III,3,9) and from Vachaspati's com. on Nyayasutra (iv, 1,54). He has concluded : "This meaning of the passage is therefore, that a monk should not accept in alms any substance of which only a part can be eaten and a greater part must be rejected,"

जिस भक्ष्य पदार्थ का बहुत बड़ा भाग खाने के काम में न आने के कारण त्याग कर डालना पड़े उसके साथ नान्तरीयकत्व भाव धारण करने वाली वस्तु के रूप में उदाहरणपरक मत्स्य शब्द का प्रयोग किया गया है क्योंकि मत्स्य के कांटों को बाहर ही डालना पड़ता है। डॉ० हरमन जैकोबी ने नान्तरीयकत्व भाव के रूप में उपरोक्त पाठ को माना है।

आचारांग सूत्र के उपरोक्त पाठ का और अधिक स्पष्टीकरण करते हुए डॉक्टर स्टेन कोनो ने डॉक्टर वाल्थेर शूब्रिंग द्वारा जर्मन भाषा में लिखी गई पुस्तक 'दाई लेह्र देर जैनाज' की आलोचना में लिखा था :—

"I shall mention only one detail, because the common European view has here been largely resented by the

[1] देखिये भगवान् महावीर का सिन्धु-सौवीर की राजधानी वीतभया नगरी की ओर विहार।

Jainas. The mention of *Bahuasthiyamansa* and *Bahukantakamachha* 'meat' or 'fish' with many bones in Acharanga has usually been interpreted so as to imply that it was in olden times, allowed to eat meat and fish, and this interpretation is given on p. 137, in the Review of Philosophy and Religion, Vol. IV–2, Poona 1933, pp. 75. Prof. Kapadia has, however, published a letter from Prof. Jacoby on the 14th February, 1928 which in my opinion settles the matter. Fish of which the flesh may be eaten, but scales and bones must be taken out was a school example of an object containing the substance which is wanted in intimate conexion with much that must be rejected. The words of the Acharanga are consequently technical terms and do not imply that 'meat' and 'fish' might be eaten."[1]

ओस्लो के विद्वान् डाक्टर स्टेन कोनो ने जैनाचार्य श्री विजयेन्द्र सूरिजी को लिखे गये पत्र में डॉ० हर्मन जैकोबी के स्पष्टीकरण की सराहना करते हुए यह मत व्यक्त किया है कि पूर्ण अहिंसावादी और आस्तिक जैनों में कभी मांसाहार का प्रचलन रहा हो इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। वह पत्र इस प्रकार है :–

"Prof. Jacoby has done a great service to scholars in clearing up the much discussed question about meat-eating among Jainas. On the face of which, it has always seemed incredible to me that it had at any time, been allowed in a religion where Ahimsa and also Ascetism play such a prominent role......" Prof. Jacoby's short remarks on the other hand make the whole matter clear. My reason for mentioning it was that I wanted to bring his explanation to the knowledge of so many scholars as possible. But there will still, no doubt, be people who stick to the old theory. It is always difficult, to do away with false ditthi but in the end truth always prevails."

इन सब प्रमाणों से स्पष्टतः सिद्ध होता है कि अहिंसा को सर्वोपरि स्थान देने वाले जैन धर्म में मांस-भक्षण को सर्वथा त्याज्य और नर्क में पतन का कारण

[1] तीर्थंकर महावीर भाग २, (जैनाचार्य श्री विजयेन्द्र सूरि) पृ० ६५२

माना गया है। इस पर भी जो लोग कुतर्कों से यह सिद्ध करना चाहते हैं कि जैन आगमों में मांस-भक्षण का उल्लेख है, उनके लिए हम इस नीतिवाक्य को दोहराना पर्याप्त समझते हैं :-

"ज्ञानलवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि नरं न रंजयति।"

एक दिन गौतम स्वामी ने भगवान् से पूछा – 'भदन्त ! आपका अन्तेवासी सर्वानुभूति अनगार जो गोशालक की तेजोलेश्या से भस्म कर दिया गया है, यहां कालधर्म को प्राप्त कर कहां उत्पन्न हुआ और उसकी क्या गति होगी?"

गौतम की जिज्ञासा का समाधान

भगवान् ने उत्तर में कहा – "गौतम ! सर्वानुभूति अनगार आठवें स्वर्ग में अठारह सागर की स्थिति वाले देव के रूप से उत्पन्न हुआ है और वहां से निकल कर महाविदेह-क्षेत्र में जन्म लेकर वह सिद्ध, बुद्ध तथा मुक्त होगा।"

इसी तरह सुनक्षत्र के बारे में भी गौतम द्वारा प्रश्न किये जाने पर भगवान् ने फरमाया – "सुनक्षत्र अनगार बारहवें अच्युत कल्प में बाईस सागर की देवायु भोग कर महाविदेह-क्षेत्र में उत्पन्न होगा और वहां उत्तम करणी करके सर्व कर्मों का क्षय कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होगा।

गौतम ने फिर पूछा – "भगवन् ! आपका कुशिष्य मंखलिपुत्र गोशालक काल प्राप्त कर कहां गया और कहां उत्पन्न हुआ ?"

प्रभु ने उत्तर में कहा – "गौतम ! गोशालक भी अन्त समय की परिणाम शुद्धि से छद्मस्थदशा में काल कर बारहवें स्वर्ग में बाईस सागर की स्थिति वाले देव के रूप से उत्पन्न हुआ है। वहां से पुनः जन्म जन्मान्तर करते हुए वह सम्यग्-दृष्टि प्राप्त करेगा और अन्त समय में दृढ़-प्रतिज्ञ के रूप से वह संयम धर्म का पालन कर केवलज्ञान प्राप्त करेगा और कर्मक्षय कर सर्व दुःखों का अन्त करेगा।[1]

मेढ़ियग्राम से विहार करते हुए भगवान् महावीर मिथिला पधारे और वहीं पर वर्षाकाल पूर्ण किया। इसी वर्ष जमालि मुनि का भगवान् महावीर से मतभेद हुआ और साध्वी सुदर्शना ढंक कुम्हार द्वारा प्रतिबोध पाकर फिर भगवान् के संघ में सम्मिलित हो गई।[2]

केवलीचर्या का सोलहवां वर्ष

मिथिला का वर्षाकाल पूर्ण कर भगवान् हस्तिनापुर की ओर पधारे। उस समय गौतम स्वामी कुछ साधु समुदाय के साथ विचरते हुए श्रावस्ती

---

[1] भग. श., १५, सू. ५६० पृ० ५६५

[2] पियदंसणा वि पइणोऽणुरागओ तमायं चिय पवण्णा।
ढंकोवहियागणिदड्ढवत्थ देसा तयं भणइ ॥
[विशेषावश्यक, गाथा २३२५ से]

आये और कोष्ठक उद्यान में विराजमान हुए। नगर के बाहर 'तिन्दुक उद्यान' में पार्श्व-संतानीय 'केशिकुमार' भी अपने मुनि-मंडल के साथ ठहरे हुए थे। कुमारावस्था में ही साधु होने से ये कुमार श्रमण कहलाये। ये ज्ञान तथा क्रिया के पारगामी थे। मति, श्रुति और अवधि रूप तीनों ज्ञानों से वे रूपी द्रव्य के वस्तु-स्वरूप को जानते थे।[1]

श्रावस्ती में केशी और गौतम दोनों के श्रमण समुदाय समाधिपूर्वक विचर रहे थे किन्तु दोनों के बीच दिखने वाले वेष-भूषा और आचार के भेद से दोनों समुदाय के श्रमणों के मन शंकाशील थे। दोनों श्रमण-समुदायों के मन में यह चिन्ता उत्पन्न हुई कि यह धर्म कैसा और वह दूसरा कैसा? हमारी और इनकी आचार-विधि में इतना अन्तर क्यों है? पार्श्वनाथ ने चातुर्याम रूप और वर्द्धमान-महावीर ने पंच शिक्षा रूप धर्म कहा है। महावीर का धर्म अचेलक और पार्श्वनाथ का धर्म सचेलक है, ऐसा क्यों? एक लक्ष्य के लिये चलने वालों के आचार के इस विभेद का कारण क्या है?

केशी-गौतम मिलन

केशी और गौतम दोनों ने अपने-अपने शिष्यों के मनोगत भावों को जान कर परस्पर मिलने का विचार किया। केशिकुमार के ज्येष्ठकुल का विचार कर मर्यादाशील गौतम अपनी शिष्य-मंडली सहित स्वयं 'तिंदुक वन' की ओर पधारे। केशिकुमार ने जब गौतम को आते देखा तो उन्होंने भी गौतम का यथोचित रूप से सम्यक् सत्कार किया और गौतम को बैठने के लिये प्राशुक पराल आदि तृण आसन रूप से भेंट किये। दोनों एक दूसरे के पास बैठे हुए ऐसी शोभा पा रहे थे मानों सूर्य चन्द्र की जोड़ी हो।

दोनों स्थविरों के इस अभूतपूर्व संगम के रम्य दृश्य को देखने के लिये बहुत से व्रती: कुतूहली और सहस्रों गृहस्थ भी आ पहुंचे। अदृश्य देवादि का भी बड़ी संख्या में समागम हुआ। सबके समक्ष केशिकुमार ने प्रेमपूर्वक गौतम से कहा – "महाभाग! आपकी इच्छा हो तो मैं कुछ पूछना चाहता हूँ।" गौतम की अनुमति पा कर केशी बोले – "पार्श्वनाथ ने चातुर्याम धर्म कहा और महावीर ने पंचशिक्षारूप धर्म, इसका क्या कारण है?"

उत्तर में गौतम बोले – "महाराज! धर्म-तत्त्व का निर्णय बुद्धि से होता है। इसलिये जिस समय लोगों की जैसी मति होती है, उसी के अनुसार धर्म-तत्त्व का उपदेश किया जाता है। प्रथम तीर्थंकर के समय में लोग सरल और जड़ थे तथा अन्तिम तीर्थंकर महावीर के समय में लोग वक्र और जड़ हैं, पहले वालों को समझाना कठिन था और पिछले वालों के लिये धर्म का पालन करना कठिन है अतः भगवान् ऋषभदेव और भगवान् महावीर ने पंच महाव्रत रूप धर्म बतलाया। मध्य तीर्थंकरों के समय में लोग सरल और बुद्धिमान होने से

[1] उत्तराध्ययन, २३।८

थोड़े में समझ भी लेते और उसे पाल भी लेते। अतः पार्श्वनाथ ने चातुर्याम धर्म कहा है। आशय यह है कि प्रत्येक को सरलता से व्रतों का बोध हो और सभी अच्छी तरह उनको पाल सकें, यही चातुर्याम और पंच-शिक्षा रूप धर्म-भेद का दृष्टिकोण है।"

(२) गौतम के उत्तर से केशी बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने दूसरी शंका वेष के विषय में प्रस्तुत की और बोले – 'गौतम ! वर्द्धमान-महावीर ने अचेलक धर्म बतलाया और पार्श्वनाथ ने उत्तरोत्तर प्रधान वस्त्र वाले धर्म का उपदेश दिया। इस प्रकार दो तरह का लिंग-भेद देख कर क्या आपके मन में विपर्यय नहीं होता ?"

गौतम ने कहा – "लोगों के प्रत्ययार्थ यानी जानकारी के लिये नाना प्रकार के वेष की कल्पना होती है। संयम-रक्षा और धर्म-साधना भी लिंग-धारण का लक्ष्य है। वेष से साधु की सरलता से पहिचान हो जाती है अतः लोक में बाह्य लिंग की आवश्यकता है। वास्तव में सद्भूत मोक्ष की साधना में ज्ञान, दर्शन और चारित्र ही निश्चय लिंग हैं। बाह्य लिंग बदल सकता है पर अन्तर्लिंग एक और अपरिवर्तनीय है। अतः लिंग-भेद से तत्त्वाभिमुख गमन में संशय करने की आवश्यकता नहीं रहती।"

(३) फिर केशिकुमार ने पूछा – 'गौतम ! आप सहस्रों शत्रुओं के मध्य में खड़े हैं, वे आपको जीतने के लिये आ रहे हैं। आप उन शत्रुओं पर कैसे विजय प्राप्त करते हैं ?"

गौतम स्वामी बोले – "एक शत्रु के जीतने से पांच जीते गये और पांच की जीत से दश तथा दश शत्रुओं को जीतने से मैंने सभी शत्रुओं को जीत लिया है।"

केशिकुमार बोले – "वे शत्रु कौनसे हैं ?"

गौतम ने कहा – "हे महामुने ! नहीं जीता हुआ अपना आत्मा (मन) शत्रुरूप है एवं चार कषाय तथा ५ इन्द्रियां भी शत्रुरूप हैं। एक आत्मा के जय से ये सभी वश में हो जाते हैं। जिससे मैं इच्छानुसार विचरता हूँ और मुझे ये शत्रु बाधित नहीं करते।"

(४) केशिकुमार ने पुनः पूछा – "गौतम ! संसार के बहुत से जीव पाशबद्ध देखे जाते हैं परन्तु आप पाशमुक्त लघुभूत होकर कैसे विचरते हैं ?"

गौतम स्वामी ने कहा – "महामुने ! राग-द्वेष रूप स्नेह-पाश को मैंने उपायपूर्वक काट दिया है, अतः मैं मुक्तपाश और लघुभूत हो कर विचरता हूँ।"

(५) केशिकुमार बोले – "गौतम ! हृदय के भीतर उत्पन्न हुई एक लता है, जिसका फल प्राणहारी विष के समान है। आपने उसका मूलोच्छेद कैसे किया है ?"

गौतम ने कहा – "महामुने ! भव-तृष्णा रूप लता को मैंने समूल उखाड़ कर फेंक दिया है, अतः मैं निर्भय होकर विचरता हूँ।"

(६) केशिकुमार बोले – "गौतम ! शरीर-स्थित घोर तथा प्रचण्ड कषायाग्नि जो शरीर को भस्म करने वाली है, उसको आपने कैसे बुझा रखा है ?"

गौतम ने कहा – "महामुने ! वीतरागदेवरूप महामेघ से ज्ञान-जल को प्राप्त कर मैं इसे निरन्तर सींचता रहता हूँ। अध्यात्म-क्षेत्र में कषाय ही अग्नि और श्रुत-शील एवं तप ही जल है। अतः श्रुत-जल की धारा से परिसिक्त कषाय की अग्नि हमको नहीं जलाती है।"

(७) केशिकुमार बोले – "गौतम ! एक साहसी और दुष्ट घोड़ा दौड़ रहा है, उस पर आरूढ़ होकर भी आप उन्मार्ग में किस कारण नहीं गिरते ?"

गौतम ने कहा – "श्रमणवर ! दौड़ते हुए अश्व का मैं श्रुत की लगाम से निग्रह करता हूं। अतः वह मुझे उन्मार्ग पर न ले जा कर सुमार्ग पर ही बढ़ाता है। आप पूछेंगे कि वह कौन सा घोड़ा है, जिसको तुम श्रुत की लगाम से निग्रह करते हो। इसका उत्तर यह है कि मन ही साहसी और दुष्ट अश्व है जिस पर मैं बैठा हूं। धर्मशिक्षा ही इसकी लगाम है, जिससे कि मैं सम्यग्रूप से मन का निग्रह कर पाता हूं।"

(८) केशिकुमार ने पूछा – "गौतम ! संसार में बहुत से कुमार्ग हैं जिनमें लोग भटक जाते हैं किन्तु आप मार्ग पर चलते हैं, मार्गच्युत कैसे नहीं होते हैं ?"

गौतम ने कहा – "महाराज ! मैं सन्मार्ग पर चलने वाले और उन्मार्ग पर चलने वाले, दोनों को ही जानता हूं, इसलिये मार्ग-च्युत नहीं होता हूँ। मैंने समझ लिया है कि कुप्रवचन के व्रती सब उन्मार्गगामी हैं, केवल वीतराग जिनेन्द्र-प्रणीत मार्ग ही उत्तम मार्ग है।"

(९) केशिकुमार बोले – "गौतम ! जल के प्रबल वेग में जग के प्राणी वहे जा रहे हैं, उनके लिये आप शरण, गति और प्रतिष्ठा रूप द्वीप किसे मानते हैं ?"

गौतम ने कहा – "महामुने ! उस पानी में एक बहुत बड़ा द्वीप है, जिस पर पानी नहीं पहुँच पाता। इसी प्रकार संसार के जरा-मरण के वेग में बहते हुए जीवों के लिये धर्म रक्षक होने से द्वीप का काम करता है। यही शरण, गति और प्रतिष्ठा है।"

(१०) केशी बोले – "गौतम ! वड़े प्रवाह वाले समुद्र में नाव उत्पथ पर जा रही है, उस पर आरूढ़ होकर आप कैसे पार जा सकेंगे ?"

गौतम ने कहा – "केशी महाराज ! नौका दो तरह की होती है : (१) सच्छिद्र और (२) छिद्ररहित। जो नौका छिद्र वाली है वह पार नहीं करती किन्तु छिद्ररहित नौका पार पहुंचाती है। आप कहेंगे कि संसार में नाव क्या है,

तो उत्तर है – शरीर नौका और जीव नाविक है। आस्रवरहित शरीर से महर्षि संसार-समुद्र को पार कर लेते हैं ?"

(११) फिर केशिकुमार ने पूछा – "गौतम ! संसार के बहुत से प्राणी घोर अंधकार में भटक रहे हैं, लोक में इन सब प्राणियों को प्रकाश देने वाला कौन है ?"

गौतम ने कहा – "लोक में विमल प्रकाश करने वाले सूर्य का उदय हो गया है, जो सब जीवों को प्रकाश-दान करेगा। सर्वज्ञ जिनेश्वर ही वह भास्कर हैं जो तमसावृत्त संसार को ज्ञान का प्रकाश दे सकते हैं।"

(१२) तदनन्तर केशी ने सुख-स्थान की पृच्छा करते हुए प्रश्न किया– "संसार के प्राणी शारीरिक और मानसिक आदि विविध दुःखों से पीड़ित हैं, उनके लिये निर्भय, उपद्रवरहित और शान्तिदायक स्थान कौनसा है ?"

इस पर गौतम ने कहा – "लोक के अग्रभाग पर एक निश्चल स्थान है जहां जन्म, जरा, मृत्यु, व्याधि और पीड़ा नहीं होती। वह स्थान सबको सुलभ नहीं है। उस स्थान को निर्वाण, सिद्धि, क्षेम एवं शिवस्थान आदि नाम से कहते हैं। उस शाश्वत स्थान को प्राप्त करने वाले मुनि चिन्ता से मुक्त हो जाते हैं।"

इस प्रकार गौतम द्वारा अपने प्रत्येक प्रश्न का समुचित समाधान पाकर केशिकुमार बड़े प्रसन्न हुए और गौतम को श्रुतसागर एवं संशयातीत कह उनका अभिवादन करने लगे। फिर सत्यप्रेमी और गुणग्राही होने से घोर पराक्रमी केशी ने शिर नमा कर गौतम के पास पंच-महाव्रत रूप धर्म स्वीकार किया।

केशी और गौतम की इस ज्ञान-गोष्ठी से श्रावस्ती में ज्ञान और शील धर्म का बड़ा अभ्युदय हुआ। उपस्थित सभी सभासद इस धर्म-चर्चा से सन्तुष्ट होकर सन्मार्ग पर प्रवृत्त हुए। श्रमण भगवान् महावीर भी धर्म-प्रचार करते हुए कुरु जनपद होकर हस्तिनापुर की ओर पधारे और नगर के बाहर सहस्राम्रवन में अनुज्ञा लेकर विराजमान हुए।

शिव राजर्षि

हस्तिनापुर में उस समय राजा शिव का राज्य था। वे स्वभाव से संतोषी, भावनाशील और धर्मप्रेमी थे। एक बार मध्यरात्रि के समय उनकी निद्रा भंग हुई तो वे राज-काज की स्थिति पर विचार करते-करते सोचने लगे – "अहो ! इस समय मैं सब तरह से सुखी हूँ। धन, धान्य, राज्य, राष्ट्र, पुत्र, मित्र, यान, वाहन, कोष और कोष्ठागार आदि से बढ़ रहा हूं। वर्तमान में शुभ कर्मों का फल भोगते हुए मुझे भविष्य के लिये भी कुछ कर लेना चाहिये। भोग और ऐश्वर्य का कीट बनकर जीवन-यापन करना प्रशंसनीय नहीं होता। अच्छा हो, कल सूर्योदय होने पर मैं लोहमय कड़ाह, कड़च्छुल और ताम्रपात्र बनवाकर 'शिवभद्रकुमार' को राज्याभिषिक्त करूं और स्वयं गंगातटवासी, दिशापोषक वानप्रस्थों के पास जाकर प्रव्रज्या ग्रहण कर लूं।"

प्रातःकाल संकल्प के अनुसार उन्होंने सेवकजनों को आज्ञा देकर शिवभद्र कुमार का राज्याभिषेक किया और लोहमय भाण्ड आदि बनवाकर मित्र-ज्ञातिजनों का भोजनादि से उचित सत्कार किया एवं उनके सम्मुख अपने विचार व्यक्त किये। सबकी सम्मति से तापसी दीक्षा ग्रहण कर उन्होंने यह प्रतिज्ञा की – "मैं निरन्तर छट्ठ-बेले की तपस्या करते हुए दिशा चक्रवाल से दोनों बांहें उठाकर सूर्य के सम्मुख आतापना लेते हुए विचरूंगा।" प्रातःकाल होने पर उन्होंने वैसा ही किया।

अब वह राजर्षि बन गया। प्रथम छट्ठ तप के पारणे में शिव राजर्षि वल्कल पहनें तपोभूमि से कुटिया में आये और कठिन संकायिका - बांस की छाव को लेकर पूर्व दिशा को पोषण करते हुए बोले – "पूर्व दिशा के सोम महाराज प्रस्थान में लगे हुए शिव राजर्षि का रक्षण करें, और कंद, मूल, त्वचा, पत्र, फूल, फल आदि के लिये अनुज्ञा प्रदान करें।" ऐसा कहकर वे पूर्व की ओर चले और वहां से पत्रादि छाब में भरकर तथा दर्भ, कुश, समिधा आदि हवनीय सामग्री लेकर लौटे। कठिन संयामिका को रखकर प्रथम उन्होंने वेदिका का निर्माण किया और फिर दर्भ सहित कलश लिये गंगा पर गये। वहां स्नान किया और देव-पितरों का तर्पण कर भरे कलश के साथ वे कुटिया में पहुंचे। वहां विधिपूर्वक अरणि से अग्नि उत्पन्न की और अग्नि-कुण्ड के दाहिने बाजू सक्था, वल्कल, स्थान, शय्या-भाण्ड, कमंडलु, दण्ड, काष्ठ और अपने आपको एकत्र कर मधु एवं घृत आदि से आहुति देकर चरु तैयार किया। फिर वैश्वदेव-वलि तथा अतिथि-पूजा करने के पश्चात् स्वयं ने भोजन किया।[1]

इस तरह लम्बे समय तक आतापनापूर्वक तप करते हुए शिव राजर्षि को विभंग ज्ञान उत्पन्न हो गया। वे सात समुद्र और सात द्वीप तक जानने व देखने लगे। इस नवीन ज्ञानोपलब्धि से शिव राजर्षि के मन में प्रसन्नता हुई और वे सोचने लगे – "मुझे तपस्या के फलस्वरूप विशिष्ट ज्ञान उत्पन्न हुआ है। सात द्वीप और सात समुद्र के आगे कुछ नहीं है।" शिव राजर्षि ने हस्तिनापुर में जाकर अपने ज्ञान की बात सुनाई और कहा – "सात द्वीप और समुद्रों के आगे कुछ नहीं है।"

उस समय श्रमण-भगवान्-महावीर भी हस्तिनापुरा आये हुए थे। भगवान् की आज्ञा लेकर इन्द्रभूति (गौतम) हस्तिनापुर में भिक्षार्थ निकले तो उन्होंने लोक-मुख से सात द्वीप और सात समुद्र की बात सुनी। गौतम ने आकर भगवान् से पूछा – "क्या शिव राजर्षि का सात द्वीप और सात समुद्र का कथन ठीक है?"

भगवान् ने सात द्वीप, सात समुद्र सम्बन्धी शिव राजर्षि की बात को मिथ्या बतलाते हुए कहा – "इस धरातल पर जंबूद्वीप आदि असंख्य द्वीप और असंख्य समुद्र हैं।"

[1] भग० शतक ११, उ० ९, सू० ४१७।

लोगों ने गौतम के प्रश्नोत्तर की बात सुनी तो नगर में सर्वत्र चर्चा होने लगी कि भगवान् महावीर कहते हैं कि द्वीप और समुद्र सात ही नहीं, असंख्य हैं।

शिव राजर्षि को यह सुनकर शंका हुई, संकल्प-विकल्प करते हुए उनका वह प्राप्त विभंग-ज्ञान चला गया। शिव राजर्षि ने सोचा – "अवश्य ही मेरे ज्ञान में कमी है, महावीर का कथन सत्य होगा।" वे तापसी-आश्रम से निकलकर नगर के मध्य में होते हुए सहस्राम्र वन पहुंचे और महावीर को वन्दन कर योग्य स्थान पर बैठ गये।

श्रमण-भगवान्-महावीर ने जब धर्म-उपदेश दिया तो शिव राजर्षि के सरल व कोमल मन पर उसका बड़ा प्रभाव पड़ा। वे विनयपूर्वक बोले-- "भगवन्! मैं आपकी वाणी पर श्रद्धा करता हूँ। कृपा कर मुझे निर्ग्रन्थ धर्म में दीक्षित कीजिये।" उन्होंने तापसी उपकरणों को अलग कर भगवच्चरणों में पंच मुष्टि लोचकर श्रमण-धर्म स्वीकार किया।

निर्ग्रन्थमार्ग में प्रवेश करने के बाद भी वे विविध तप करते रहे। उन्होंने एकादश अंग का अध्ययन किया और अन्त में सकल कर्मों का क्षय कर निर्वाण प्राप्त किया।[1]

भगवान् के प्रयत्नों से सत्पथ को पहिचानकर यहां कई धर्मार्थियों ने मुनि-धर्म की दीक्षा ली, उनमें पोट्टिल अनगार का नाम उल्लेखनीय है। कुछ काल के बाद महावीर हस्तिनापुर से 'मोका' नगरी होते हुए फिर वाणियग्राम पधारे और वहीं पर वर्षाकाल पूर्ण किया।

केवलीचर्या का सत्रहवां वर्ष

वर्षाकाल पूर्ण होते ही भगवान् विदेह भूमि से मगध की ओर पधारे और विहार करते हुए राजगृह के 'गुणशील' चैत्य में समवशरण किया। राजगृह में उस समय निर्ग्रन्थ वचन को मानने वालों की संख्या बहुत बड़ी थी फिर भी अन्य मतावलम्बियों का भी अभाव नहीं था। बौद्ध, आजीवक और अन्यान्य सम्प्रदायों के श्रमण एवं गृहस्थ भी अच्छी संख्या में वहां रहते थे। वे समय-समय पर एक-दूसरे की मान्यताओं पर विचार-चर्चा भी किया करते थे।

एक समय इन्द्रभूति गौतम ने आजीवक भिक्षुओं के सम्बन्ध में भगवान् से पूछा – "प्रभो! आजीवक, स्थविरों से पूछते हैं कि यदि तुम्हारे श्रावक का, जब वह सामायिक व्रत में रहा हुआ हो, कोई भाण्ड चोरी चला जाय तो सामायिक पूर्ण कर वह उसकी तलाश करता है या नहीं? यदि तलाश करता है तो वह अपने भांड की तलाश करता है या पराये की?"

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फरमाया – "गौतम! वह अपने भाण्ड की तलाश करता है, पराये की नहीं। सामायिक और पोषधोपवास से उसका

[1] भग० श० ११, उ० ६, सूत्र ४१८।

भाण्ड, अभाण्ड नहीं होता है। केवल जब तक वह सामायिक आदि व्रत में रहता है तब तक उसका भाण्ड उसके लिये अभाण्ड माना जाता है। आगे चलकर प्रभु ने श्रावक के उनपचास भंगों का परिचय देते हुए श्रमणोपासक और आजीवक का भेद बतलाया।

आजीवक अरिहन्त को देव मानते और माता-पिता की सेवा करने वाले होते हैं। वे गूलर, वड़, बोर, शहतूत और पीपल इन पांच फलों और प्याज-लहसुन आदि कंद के त्यागी होते हैं। वे ऐसे बैलों से काम लेते हैं जिनको बधिया नहीं किया जाता और न जिनका नाक ही वेधा जाता है। जब आजीवक उपासक भी इस प्रकार निर्दोष जीविका चलाते हैं तो श्रमणोपासकों का तो कहना ही क्या। श्रमणोपासक पन्द्रह कर्मादानों के त्यागी[1] होते हैं क्योंकि अंगारकर्म आदि महा हिंसाकारी खरकर्म श्रावक के लिये त्याज्य कहे गये हैं।

इस वर्ष बहुत से साधुओं ने राजगृह के विपुलाचल पर अनशन कर आत्मा का कार्य सिद्ध किया। भगवान् का यह वर्षाकाल भी राजगृही में सम्पन्न हुआ।

केवलीचर्या का अठारहवां वर्ष

राजगृह का चातुर्मास पूर्ण कर भगवान् ने चंपा की ओर विहार किया और उसके पश्चिम भाग, पृष्ठचम्पा नामक उपनगर में विराजमान हुए। प्रभु के विराजने की बात सुनकर पृष्ठचम्पा का राजा शाल और उसके छोटे भाई युवराज महाशाल ने भक्तिपूर्वक प्रभु का उपदेश सुना और शालराजा ने संसार से विरक्त होकर प्रभु के चरणों में श्रमणधर्म स्वीकार करना चाहा। जब उसने युवराज महाशाल को राज्य संभालने की बात कही तो उसने जवाब दिया – "जैसे आप संसार से विरक्त हो रहे हैं वैसे मैं भी प्रभु के उपदेश सुनकर प्रव्रज्या ग्रहण करना चाहता हूं।" इस प्रकार दोनों के विरक्त हो जाने पर शाल ने अपने भानजे 'गांगली' नामक राजकुमार को बुलाया और उसे राज्यारूढ़ कर दोनों ने प्रभु के चरणों में श्रमणधर्म की दीक्षा ग्रहण की।

पृष्ठचम्पा से भगवान् चम्पा के पूर्णभद्र चैत्य में पधारे। भगवान् महावीर के पदार्पण की शुभसूचना पाकर वहां के प्रमुख लोग वन्दन करने को गये। श्रमणोपासक कामदेव जो उन दिनों अपने ज्येष्ठ पुत्र को गृहभार संभलाकर विशेष रूप से धर्मसाधना में तल्लीन था, वह भी प्रभु के चरण-वन्दन हेतु पूर्णभद्र उद्यान में आया और देशना श्रवण करने लगा।

धर्म-देशना पूर्ण होने पर प्रभु ने "कामदेव" को सम्बोधन कर कहा – "कामदेव ! रात में किसी देव ने तुमको पिशाच, हाथी और सर्प के रूप बनाकर विविध प्रकार के उपसर्ग दिये और तुम अडोल रहे, क्या यह सच है ?"

कामदेव ने विनयपूर्वक कहा – "हां भगवन् ! यह ठीक है।"

---

[1] भगवती सूत्र, श० ८, उ० ५।

भगवान् ने श्रमण निर्ग्रन्थों को सम्बोधित कर कहा – "आर्यों! कामदेव ने गृहस्थाश्रम में रहते हुए दिव्य, मानुषी और पशु सम्बन्धी उपसर्ग समभाव से सहन किये हैं।[१] श्रमण निग्रन्थों को इससे प्रेरणा लेनी चाहिये।" श्रमण-श्रमणियों ने भगवान् का वचन सविनय स्वीकार किया। चम्पा में इस प्रकार प्रभु ने बहुत उपकार किया।

दशार्णभद्र को प्रतिबोध

चम्पा से विहार कर भगवान् ने दशार्णपुर की ओर प्रस्थान किया। वहां का महाराजा आपका बड़ा भक्त था। उसने बड़ी धूमधाम से प्रभु-वन्दन की तैयारी की और चतुरंग सेना व राज-परिवार सहित सजधजकर वन्दन को निकला। उसके मन में विचार आया कि मेरी तरह इतनी बड़ी ऋद्धि के साथ भगवान् को वन्दन करने के लिये कौन आया होगा? इतने में सहसा गगनमंडल से उतरते हुए देवेन्द्र की ऋद्धि पर दृष्टि पड़ी तो उसका गर्व चूर-चूर हो गया। उसने अपने गौरव की रक्षा के लिये भगवान् के पास तत्क्षण दीक्षा ग्रहण की और श्रमण-संघ में स्थान पा लिया। देवेन्द्र जो उसके गर्व को नष्ट करने के लिये अद्भुत ऋद्धि से आया हुआ था, दशार्णभद्र के इस साहस को देखकर लज्जित हुआ[२] और उनका अभिवादन कर स्वर्गलोक की ओर चला गया।

सोमिल के प्रश्नोत्तर

दर्शाणपुर से विदेह प्रदेश में विचरण करते हुए प्रभु वाणियग्राम पधारे। वहां उस समय 'सोमिल' नाम का ब्राह्मण रहता था जो वेद-वेदांग का जानकार और पांच सौ छात्रों का गुरु था। नगर के 'दूति पलाश' उद्यान में महावीर का आगमन सुनकर उसकी भी इच्छा हुई कि वह महावीर के पास जाकर कुछ पूछे। सौ छात्रों के साथ वह घर से निकला और भगवान् के पास आकर खड़े-खड़े बोला – "भगवन्! तुम्हारे विचार से यात्रा, यापनीय, अव्याबाध और प्रासुक विहार का क्या स्वरूप है? तुम कैसी यात्रा मानते हो?"

महावीर ने कहा – "सोमिल! मेरे मत में यात्रा भी है, यापनीय, अव्याबाध और प्रासुक विहार भी है। हम तप, नियम, संयम, स्वाध्याय, ध्यान और आवश्यक आदि क्रियाओं में यतनापूर्वक चलने को यात्रा कहते हैं। शुभ योग में यतना ही हमारी यात्रा है।"[३]

सोमिल ने फिर पूछा – "यापनीय क्या है?"

महावीर ने कहा – "सोमिल यापनीय दो प्रकार का है, इन्द्रिय यापनीय और नो इन्द्रिय यापनीय। श्रोत्र, चक्षु, घ्राण, जिह्वा, और स्पर्शेन्द्रिय को वश में

१ उपासक दशा सूत्र, २ अ० सू० ११४।
२ (क) उत्तराध्ययन १८ अ० की टीका, (ख) त्रिष०, १० प०, १० स०।
३ भगवती सू०, १८ श०, उ० १०, सू० ६४६।

रखना मेरा इन्द्रिय यापनीय है और क्रोध, मान, माया, लोभ, को जागृत नहीं होने देना एवं उन पर नियन्त्रण रखना मेरा नो-इन्द्रिय यापनीय है।"

सोमिल ने फिर पूछा – "भगवन्! आपका अव्याबाध क्या है?"

भगवान् बोले – "सोमिल! शरीरस्थ वात, पित्त, कफ और सन्निपात-जन्य विविध रोगातंकों को उपशान्त करना एवं उनको प्रकट नहीं होने देना, यही मेरा अव्याबाध है।"

सोमिल ने फिर प्रासुक विहार के लिये पूछा तो महावीर ने कहा – "सोमिल! आराम, उद्यान, देवकुल, सभा, प्रपा आदि स्त्री, पशु-पण्डक रहित वस्तियों में प्रासुक एवं कल्पनीय पीठ, फलक, शय्या, संस्तारक स्वीकार कर विचरना ही मेरा प्रासुक विहार है।"

उपर्युक्त प्रश्नों में प्रभु को निरुत्तर नहीं कर सकने की स्थिति में सोमिल ने भक्ष्याभक्ष्य सम्बन्धी कुछ अटपटे प्रश्न पूछे – "भगवन्! सरिसव आपके भक्ष्य है या अभक्ष्य?"

महावीर ने कहा – "सोमिल! सरिसव को मैं भक्ष्य भी मानता हूँ और अभक्ष्य भी। वह ऐसे कि ब्राह्मण-ग्रन्थों में 'सरिसव' शब्द के दो अर्थ होते हैं, एक सहशवय और दूसरा सर्षप याने सरसों। इनमें से समान वय वाले मित्त-सरिसव श्रमण निर्ग्रन्थों के लिये अभक्ष्य हैं और धान्य सरिसव जिसे सर्षप कहते हैं, उसके भी सचित्त और अचित्त, एषणीय-अनेषणीय, याचित-अयाचित और लब्ध-अलब्ध, ऐसे दो-दो प्रकार होते हैं। उनमें हम अचित्त को ही निग्रन्थों के लिये भक्ष्य मानते हैं, वह भी यदि एषणीय, याचित और लब्ध हो। इसके विपरीत सचित्त, अनेषणीय आदि प्रकार के सरिसव श्रमणों के लिये अभक्ष्य हैं। इसलिये मैंने कहा कि सरिसव को मैं भक्ष्य और अभक्ष्य दोनों मानता हूँ।"

सोमिल ने फिर दूसरा प्रश्न रखा – "मास आपके यहां भक्ष्य है या अभक्ष्य?"

महावीर ने कहा – "सोमिल! सरिसव के समान 'मास' भक्ष्य भी है और अभक्ष्य भी। वह इस तरह कि ब्राह्मण ग्रन्थों में मास दो प्रकार के कहे गये हैं, एक द्रव्य मास और दूसरा काल मास। काल मास जो श्रावण से आषाढ़ पर्यन्त बारह हैं, वे अभक्ष्य हैं। रही द्रव्य मास की बात, वह भी अर्थ मास और धान्य मास के भेद से दो प्रकार का है। अर्थ मास-सुवर्ण मास और रौप्य मास श्रमणों के लिये अभक्ष्य हैं। अब रहा धान्य मास उसमें भी शस्त्र परिणत-अचित्त, एषणीय, याचित और लब्ध ही श्रमणों के लिये भक्ष्य हैं। शेष सचित्त आदि विशेषणवाला धान्य मास अभक्ष्य है।"

सरिसव और मास के संतोषजनक उत्तर पाने के बाद सोमिल ने पूछा – "भगवन्! कुलत्था आपके भक्ष्य हैं या अभक्ष्य?"

महावीर ने कहा – "सोमिल! कुलत्था भक्ष्य भी हैं और अभक्ष्य भी। भक्ष्याभक्ष्य उभयरूप कहने का कारण इस प्रकार है – शास्त्रों में 'कुलत्था' के

अर्थ कुलीन स्त्री और कुलथी धान्य दो किये गये हैं। कुल-कन्या, कुल-वधू और कुल-माता ये तीनों 'कुलत्था' अभक्ष्य हैं। धान्य कुलत्था जो अचित्त, एषणीय, निर्दोष, याचित और लब्ध हैं वे भक्ष्य हैं। शेष सचित्त, सदोष, अयाचित और अलब्ध कुलत्था निर्ग्रन्थों के लिये अभक्ष्य हैं।"

अपने इन अटपटे प्रश्नों का सन्तोषजनक उत्तर पा लेने के बाद महावीर की तत्त्वज्ञता को समझने के लिये उसने कुछ सैद्धान्तिक प्रश्न पूछे – "भगवन्! आप एक हैं या दो? अक्षय, अव्यय और अवस्थित हैं या भूत, भविष्यत्, वर्तमान के अनेक रूपधारी हैं?"

महावीर ने कहा – "मैं एक भी हूँ और दो भी हूँ। अक्षय हूँ, अव्यय हूँ और अवस्थित भी हूँ। फिर अपेक्षा से भूत, भविष्यत् और वर्तमान के नाना रूपधारी भी हूँ।"

अपनी बात का स्पष्टीकरण करते हुए प्रभु ने कहा – "द्रव्यरूप से मैं एक आत्म-द्रव्य हूँ। उपयोग गुण की दृष्टि से ज्ञान उपयोग और दर्शन उपयोग रूप चेतना के भेद से दो हूँ। आत्म प्रदेशों में कभी क्षय, व्यय और न्यूनाधिकता नहीं होती इसलिये अक्षय, अव्यय और अवस्थित हूँ। पर परिवर्तनशील उपयोग-पर्यायों की अपेक्षा भूत, भविष्य एवं वर्तमान के नाना रूपधारी भी हूँ।"[1]

सोमिल ने अद्वैत, द्वैत, नित्यवाद और क्षणिकवाद जैसे वर्षों चर्चा करने पर भी न सुलझने वाले दर्शन के प्रश्न रखे, पर महावीर ने अपने अनेकान्त सिद्धान्त से उनका क्षणभर में समाधान कर दिया इससे सोमिल बहुत प्रभावित हुआ। उसने श्रद्धापूर्वक भगवान् की देशना सुनी और उनके चरणों में श्रावकधर्म स्वीकार किया तथा वन्दना कर अपने घर चला गया। सोमिल ने श्रावकधर्म की साधना कर अन्त में समाधिपूर्वक आयु पूर्ण किया और स्वर्गगति का अधिकारी बना।

भगवान् का यह चातुर्मास 'वाणियग्राम' में ही पूर्ण हुआ।

केवलीचर्या का उन्नीसवाँ वर्ष

वर्षाकाल समाप्त कर भगवान् कोशल देश के साकेत, सावत्थी आदि नगरों को पावन करते हुए पांचाल की ओर पधारे और कंपिलपुर के बाहर सहस्राम्रवन में विराजमान हुए। कम्पिलपुर में अम्बड़ नाम का एक ब्राह्मण परिव्राजक अपने सात सौ शिष्यों के साथ रहता था। जब उसने महावीर के त्याग-तपोमय जीवन को देखा और वीतरागमय निर्दोष प्रवचन सुने तो वह शिष्य-मंडली सहित जैन-धर्म का उपासक बन गया। परिव्राजक सम्प्रदाय की वेष-भूषा रखते हुए भी उसने जैन देश-विरति धर्म का अच्छी तरह पालन किया।

एक दिन भिक्षार्थ भ्रमण करते हुए गौतम ने अम्बड़ के लिये सुना कि अम्बड़ सन्यासी कम्पिलपुर में एक साथ सौ घरों में आहार ग्रहण करता और सौ ही घरों में दिखाई देता है।

[1] भग०, १८ शतक, उ० १०, सूत्र ६४७।

गौतम ने आकांक्षायुक्त होकर भगवान् से पूछा – "भगवन् ! क्या यह सच है ?" प्रभु ने उत्तर में कहा- "गौतम ! अम्बड़ परिव्राजक विनीत और प्रकृति का भद्र है। निरन्तर छट्ठा तप– वेले-वेले की तपस्या के साथ आतापना करते हुए उसको शुभ परिणामों से वीर्यलब्धि और वैक्रियलब्धि के साथ अवधिज्ञान भी प्राप्त हुआ है। अतः लब्धिबल से वह सौ रूप बना कर सौ घरों में दिखाई देता और सौ घरों में आहार ग्रहण करता है, यह ठीक है।"

"गौतम ने पूछा – "प्रभो ! क्या वह आपकी सेवा में श्रमणधर्म की दीक्षा ग्रहण करेगा ?"

प्रभु ने उत्तर में कहा– "गौतम ! अम्बड़ जीवाजीव का ज्ञाता श्रमणोपासक है। वह उपासक जीवन में ही आयु पूर्ण करेगा। श्रमणधर्म ग्रहण नहीं करेगा।

अम्बड़ की चर्या

भगवान् ने अम्बड़ की चर्या के सम्बन्ध में कहा – "गौतम ! यह अम्बड़ स्थूल हिंसा, झूठ और अदत्तादान का त्यागी, सर्वथा ब्रह्मचारी और संतोषी होकर विचरता है। वह यात्रा में चलते हुए मार्ग में आए पानी को छोड़कर अन्यत्र किसी नदी, कूप या तालाब आदि में नहीं उतरता। रथ, गाड़ी, पालकी आदि यान अथवा हाथी, घोड़ा आदि वाहनों पर भी नहीं बैठता। मात्र चरण-यात्रा करता है। खेल, तमाशे, नाटक आदि नहीं देखता और न राजकथा, देशकथा आदि कोई विकथा ही करता है। वह हरी वनस्पति का छेदन-भेदन और स्पर्श भी नहीं करता। पात्र में तुम्बा, काष्ठ-पात्र और मृत्तिका-भाजन के अतिरिक्त तांबा, सोना और चांदी आदि किसी धातु के पात्र नहीं रखता। गेरुआ चादर के अतिरिक्त किसी अन्य रंग के वस्त्र धारण नहीं करता है। एक ताम्रमय पवित्रक को छोड़ कर किसी प्रकार का आभूषण धारण नहीं करता। एक कर्णपूर के अतिरिक्त अन्य भाँति प्रकार के पुष्पहार आदि का उपयोग भी नहीं करता। शरीर पर केसर, चन्दन आदि का विलेपन नहीं करता, मात्र गंगा की मिट्टी का लेप चढ़ाता है। आहार में वह अपने लिये बनाया हुआ, खरीदा हुआ और अन्य के द्वारा लाया हुआ भोजन भी ग्रहण नहीं करता। उसने स्नान और पीने के लिये जल का भी प्रमाण कर रखा है। वह पानी भी छाना हुआ और दिया हुआ ही ग्रहण करता है। बिना दिया पानी स्वयं जलाशय से नहीं लेता।"

अनेक वर्षों तक इस तरह साधना का जीवन व्यतीत कर अम्बड़ संन्यासी अन्त में एक मास के अनशन की आराधना कर ब्रह्मलोक-स्वर्ग में ऋद्धिमान् देव के रूप में उत्पन्न हुआ।

अम्बड़ के शिष्यों ने भी एक बार जंगल में जल देने वाला नहीं मिलने से तृषा-पीड़ित हो गंगा नदी के तट पर बालुकामय संथारे पर आजीवन अनशन कर प्राणोत्सर्ग कर दिया और ब्रह्मकल्प में बीस सागर की स्थिति वाले देवरूप से उत्पन्न हुए। विशेष जानकारी के लिये औपपातिक सूत्र का अम्बड़ प्रकरण द्रष्टव्य है।

कम्पिलपुर से विचरते हुए भगवान् वैशाली पधारे और यहीं पर वर्षाकाल व्यतीत किया।

केवलीचर्या का बीसवां वर्ष

वर्षाकाल समाप्त कर भूभागों में विचरण करते हुए प्रभु फिर एक बार वाणियग्राम पधारे। वाणियग्राम के दूतिपलाश चैत्य में जब भगवान् धर्म-देशना दे रहे थे, उस समय एक दिन पार्श्व सन्तानीय 'गांगेय' मुनि वहां आये और दूर खड़े रहकर भगवान् से निम्न प्रकार बोले --

"भगवन् ! नारक जीव सान्तर उत्पन्न होते हैं या निरन्तर ?"

भगवान् ने कहा -- "गांगेय ! नारक अन्तर से भी उत्पन्न होते हैं और बिना अन्तर के निरन्तर भी उत्पन्न होते हैं।"

इस प्रकार के अन्यान्य प्रश्नों के भी समुचित उत्तर पाकर गांगेय ने भगवान् को सर्वज्ञ रूप से स्वीकार किया और तीन बार प्रदक्षिणा एवं वन्दना कर उसने चातुर्याम धर्म से पंच महाव्रत रूप धर्म स्वीकार किया। वे महावीर के श्रमणसंघ में सम्मिलित हो गये।[1]

फिर घूमते हुए भगवान् वैशाली पधारे और वहां पर दूसरा चातुर्मास व्यतीत किया।

केवलीचर्या का इक्कीसवां वर्ष

वर्षाकाल पूर्ण कर भगवान् ने वैशाली से मगध की ओर प्रस्थान किया। वे अनेक क्षेत्रों में धर्मोपदेश करते हुए राजगृह पधारे और गुणशील वन में विराजमान हुए। गुणशील वन के पास अन्यतीर्थ के बहुत से साधु रहते थे। उनमें समय-समय पर कई प्रकार के प्रश्नोत्तर होते रहते थे। अधिकांश में वे स्वमत का मंडन और परमत का खण्डन किया करते। गौतम ने उनकी कुछ ातें सुनीं तो उन्होंने भगवान् के सामने जिज्ञासाएं प्रस्तुत कर शंकाओं का समाधान प्राप्त किया। भगवान् ने श्रुतसम्पन्न और शीलसम्पन्न में कौन श्रेष्ठ है यह बतलाया और जीव तथा जीवात्मा को भिन्न मानने की लोक-मान्यता का भी विरोध किया। उन्होंने कहा -- "जीव और जीवात्मा भिन्न नहीं, एक ही हैं।"

एक दिन तैर्थिकों में पंचास्तिकाय के विषय में भी चर्चा चली। वे इस पर तर्क-वितर्क कर रहे थे। उस समय भगवान् के आगमन की बात सुनकर राजगृह का श्रद्धाशील श्रावक 'मद्दुक' भी तापसाश्रम के पास से प्रभु-वन्दन के लिये जा रहा था। कालोदायी आदि तैर्थिक जो पंचास्तिकाय के सम्बन्ध में चर्चा कर रहे थे, मद्दुक श्रावक को जाते देखकर आपस में बोले -- "अहो अर्हद्‌भक्त मद्दुक इधर से जा रहा है। वह महावीर के सिद्धान्त का अच्छा ज्ञाता है। क्यों नहीं प्रस्तुत विषय पर उसकी भी राय ले ली जाय।"

१ भग०, ६ श०, ५ उ०।

ऐसा सोचकर वे लोग पास आये और मद्दुक को रोककर बोले– "मद्दुक! तुम्हारे धर्माचार्य श्रमण भगवान् महावीर पंच अस्तिकायों का प्रतिपादन करते हैं। उनमें एक को जीव और चार को अजीव तथा एक को रूपी और पांच को अरूपी बतलाते हैं। इस विषय में तुम्हारी क्या राय है तथा अस्तिकायों के विषय में तुम्हारे पास क्या प्रमाण हैं ?"

उत्तर देते हुए मद्दुक ने कहा – "अस्तिकाय अपने-अपने कार्य से जाने जाते हैं। संसार में कुछ पदार्थ दृश्य और कुछ अदृश्य होते हैं जो अनुभव, अनुमान एवं कार्य से जाने जाते हैं।"

तीर्थिक बोले – "मद्दुक ! तू कैसा श्रमणोपासक है जो अपने धर्माचार्य के कहे हुए द्रव्यों को जानता-देखता नहीं, फिर उनको मानता कैसे है ?"

मद्दुक ने कहा – "तीर्थिको ! हवा चलती है, तुम उसका रंग रूप देखते हो ?"

तीर्थिकों ने कहा -- "सूक्ष्म होने से हवा का रूप देखा नहीं जाता।"

इस पर मद्दुक ने पूछा – "गंध के परमाणु जो घ्राणेन्द्रिय के तीन विषय होते हैं, क्या तुम सब उनका रूप-रंग देखते हो ?"

"नहीं, गंध के परमाणु भी सूक्ष्म होने से देखे नहीं जाते", तीर्थिको ने कहा।

मद्दुक ने एक और प्रश्न रखा – "अरणिकाष्ठ में अग्नि रहती है, क्या तुम सब अरणि में रही हुई आग के रंग-रूप को देखते हो ? क्या देवलोक में रहे हुए रूपों को तुम देख पाते हो ? नहीं, तो क्या तुम जिनको नहीं देख सको, वह वस्तु नहीं है ? दृष्टि में प्रत्यक्ष नहीं आने वाली वस्तुओं को यदि अमान्य करोगे तो तुम्हें बहुत से इष्ट पदार्थों का भी निषेध करना होगा। इस प्रकार लोक का अधिकतम भाग और भूतकाल की वंश-परम्परा को भी अमान्य करना होगा।"

मद्दुक की युक्तियों से तैर्थिक अवाक् रह गये और उन्हें मद्दुक की बात माननी पड़ी। अन्य तीर्थियों को निरुत्तर कर जब मद्दुक भगवान् की सेवा में पहुंचा तब प्रभु ने मद्दुक के उत्तरों का समर्थन करते हुए उसकी शासन-प्रीति का अनुमोदन किया। ज्ञातपुत्र भ० महावीर के मुख से अपनी प्रशंसा सुनकर मद्दुक बहुत प्रसन्न हुआ और ज्ञानचर्चा कर अपने स्थान की ओर लौट गया।

गौतम को मद्दुक श्रावक की योग्यता देखकर जिज्ञासा हुई और उन्होंने प्रभु से पूछा – "प्रभो ! क्या मद्दुक श्रावक आगार-धर्म से अनगार-धर्म ग्रहण करेगा ? क्या यह आपका श्रमण शिष्य होगा ?"

प्रभु ने कहा – "गौतम ! मद्दुक प्रव्रज्या ग्रहण करने में समर्थ नहीं है। यह गृहस्थधर्म में रह कर ही देश-धर्म की आराधना करेगा और अन्तिम समय समाधिपूर्वक आयु पूर्ण कर 'अरुणाभ' विमान में देव होगा और फिर मनुष्य भव में संयमधर्म की साधना कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त होगा।"

इसके बाद विविध क्षेत्रों में धर्मोपदेश देते हुए अन्त में राजगृह में ही भगवान् ने वर्षाकाल व्यतीत किया। प्रभु के विराजने से लोगों का बड़ा उपकार हुआ।

केवलीचर्या का बाईसवां वर्ष

राजगृह से विहार कर भगवान् हेमन्त ऋतु में विभिन्न स्थानों में विचरण करते एवं धर्मोपदेश देते हुए पुनः राजगृह पधारे तथा गुणशील चैत्य में विराजमान हुए।

एक बार जब इन्द्रभूति राजगृह से भिक्षा लेकर भगवान् के पास गुणशील उद्यान की ओर आ रहे थे तो मार्ग में कालोदायी, शैलोदायी आदि तीर्थिक पंचास्तिकाय की चर्चा कर रहे थे। गौतम को देख कर वे पास आये और बोले-"गौतम! तुम्हारे धर्माचार्य ज्ञातपुत्र महावीर धर्मास्तिकाय आदि पंचास्तिकायों की प्ररूपणा करते हैं, इसका मर्म क्या है? और इन रूपी-अरूपी कायों के सम्बन्ध में कैसा क्या समझना चाहिये? तुम उनके मुख्य शिष्य हो, अतः कुछ स्पष्ट कर सको तो बहुत अच्छा हो।"

गौतम ने संक्षेप में कहा–"हम अस्तित्व में 'नास्तित्व' और 'नास्तित्व' में अस्तित्व नहीं कहते। विशेष इस विषय में तुम स्वयं विचार करो, चिंतन से रहस्य समझ सकोगे।"

गौतम तीर्थिकों को निरुत्तर कर भगवान् के पास आये, पर कालोदायी आदि तीर्थिकों का इससे समाधान नहीं हुआ। वे गौतम के पीछे-पीछे भगवान् के पास आये। भगवान् ने भी प्रसंग पाकर कालोदायी को सम्बोधन कर कहा–"कालोदायी! क्या तुम्हारे साथियों में पंचास्तिकाय के सम्बन्ध में चर्चा चली?"

कालोदायी ने स्वीकार करते हुए कहा–"हां महाराज! जब से हमने आपके सिद्धान्त सुने हैं, तब से हम इस पर तर्क-वितर्क किया करते हैं।"

भगवान् ने उत्तर में कहा–"कालोदायी! यह सच है कि इन पंचास्तिकायों पर कोई सो, बैठ या चल नहीं सकता, केवल पुद्गलास्तिकाय ही ऐसा है जिस पर ये क्रियायें हो सकती हैं।"

कालोदायी ने फिर पूछा–"भगवन्! जीवों के दुष्ट-विपाक रूप पापकर्म पुद्गलास्तिकाय में किये जाते हैं या जीवास्तिकाय में?"

महावीर ने कहा–"कालोदायी! पुद्गलास्तिकाय में जीवों के दुष्ट-विपाक रूप पाप नहीं किये जाते, किन्तु वे जीवास्तिकाय में ही किये जाते हैं। पाप ही नहीं सभी प्रकार के कर्म जीवास्तिकाय में ही होते हैं। जड़ होने से अन्य कार्यों में कर्म नहीं किये जाते।"

इस प्रकार भगवान् के विस्तृत उत्तरों से कालोदायी की शंका दूर हो गई। उसने भगवान् के चरणों में निर्ग्रन्थ प्रवचन सुनने की अभिलाषा व्यक्त की। अवसर देख कर भगवान् ने भी उपदेश दिया। उसके फलस्वरूप कालोदायी

निग्रन्थ मार्ग में दीक्षित हो कर मुनि बन गया। क्रमशः ग्यारह अंगों का अध्ययन कर वह प्रवचन-रहस्य का कुशल ज्ञाता हुआ।[1]

उदक पेढ़ाल और गौतम

राजगृह के ईशान कोण में नालंदा नाम का एक उपनगर था। वहां 'लेव' नामक गाथापति निग्रन्थ-प्रवचन का अनुयायी और श्रमणों का बड़ा भक्त था। 'लेव' ने नालंदा के ईशान कोण में एक शाला का निर्माण कराया जिसका नाम 'शेष द्रविका' रखा गया। कहा जाता है कि गृहनिर्माण से बचे हुए द्रव्य से वह शाला बनाई गई थी, अतः उसका नाम 'शेष द्रविका' रखा गया। उसके निकटवर्ती 'हस्तियाम' उद्यान में एक समय भगवान् महावीर विराजमान थे। वहां पेढ़ालपुत्र 'उदक' जो पार्श्वनाथ परम्परा के श्रमण थे, इन्द्रभूति–गौतम से मिले और उनसे बोले – "आयुष्मन् गौतम! मैं तुमसे कुछ पूछना चाहता हूं।" गौतम की अनुमति पा कर उदक बोले – "कुमार पुत्र श्रमण! अपने पास नियम लेने वाले उपासक को ऐसी प्रतिज्ञा कराते हैं – 'राजाज्ञा आदि कारण से किसी गृहस्थ या चोर को बांधने के अतिरिक्त किसी त्रस जीव की हिंसा नहीं करूंगा।[2]' ऐसा पच्चखाण दुपच्चखाण है यानी इस तरह के प्रत्याख्यान करना-कराना प्रतिज्ञा में दूषण रूप हैं, क्योंकि संसारी प्राणी स्थावर मर कर त्रस होते और त्रस मर कर स्थावर रूप से भी उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार जो जीव त्रस रूप में अघात्य थे, वे ही स्थावर रूप में उत्पन्न होने पर घात-योग्य हो जाते हैं। इसलिये प्रत्याख्यान में इस प्रकार का विशेषण जोड़ना चाहिये कि 'त्रसभूत जीवों की हिंसा नहीं करूंगा। भूत विशेषण से यह दोष टल सकता है। हे गौतम! तुम्हें मेरी यह बात कैसी जंचती है?"

उत्तर में गौतम ने कहा – "आयुष्मन् उदक्! तुम्हारी बात मेरे ध्यान में ठीक नहीं लगती और मेरी समझ से पूर्वोक्त प्रतिज्ञा कराने वालों को दुपच्चखाण कराने वाला कहना भी उचित नहीं, क्योंकि यह मिथ्या आरोप लगाने के समान है। वास्तव में त्रस और त्रसभूत का एक ही अर्थ है। हम जिसको त्रस कहते हैं उस ही को तुम त्रसभूत कहते हो। इसलिये त्रस की हिंसा त्यागने वाले को वर्तमान त्रस पर्याय की हिंसा का त्याग होता है, भूतकाल में चाहे वह स्थावर रूप से रहा हो या त्रस रूप से इसकी अपेक्षा नहीं है। पर जो वर्तमान में त्रस पर्यायधारी हैं उन सबकी हिंसा उसके लिये वर्ज्य होती है।[3]

त्यागी का लक्ष्य वर्तमान पर्याय से है, भूत पर्याय किसी की क्या है, यह ज्ञानी ही समझ सकते हैं। अतः जो लोग सम्पूर्ण हिंसा त्यागरूप श्रामण्य नहीं स्वीकार कर पाते वे मर्यादित प्रतिज्ञा करते हुए कुशल परिणाम के ही पात्र माने

---

[1] भग० सू०, ७।१०।३०५।

[2] सूत्र कृतांग, २।७।७२ सूत्र, (नालंदीयाध्ययन)

[3] सूत्र कृतांग सू० २।७, सूत्र ७२-७४। (नालंदीयाध्ययन)

जाते हैं। इस प्रकार त्रसहिंसा के त्यागी श्रमणोपासक का स्थावर-पर्याय की हिंसा से व्रत-भंग नहीं होता।"

गौतम स्वामी और उदक-पेढ़ाल के बीच विचार चर्चा चल रही थी कि उसी समय पार्श्वापत्य अन्य स्थविर भी वहां आ पहुँचे। उन्हें देख कर गौतम ने कहा – "उदक् ! ये पार्श्वापत्य स्थविर आये हैं, लो इन्हीं से पूछ लें।"

गौतम ने स्थविरों से पूछा – "स्थविरों ! कुछ लोग ऐसे होते हैं, जिनको जीवनपर्यन्त अनगार-साधु नहीं मारने की प्रतिज्ञा है। कभी कोई वर्तमान साधु पर्याय में वर्षों रह कर फिर गृहवास में चला जाय और किसी अपरिहार्य कारण से वह साधु की हिंसा त्यागने वाला गृहस्थ उसकी हिंसा कर डाले तो उसे साधु की हिंसा का पाप लगेगा क्या ?"

स्थविरों ने कहा – "नहीं, इससे प्रतिज्ञा का भंग नहीं होता।"

गौतम ने कहा – "निग्रन्थो ! इसी प्रकार त्रसकाय की हिंसा का त्यागी गृहस्थ भी स्थावर की हिंसा करता हुआ अपने पच्चखाण का भंग नहीं करता।"

इस प्रकार अन्य भी अनेकों दृष्टान्तों से गौतम ने उदक-पेढ़ाल मुनि की शंका का निराकरण किया और समझाया कि त्रस मिट कर सब स्थावर हो जायं या स्थावर सब के सब त्रस हो जायं, यह संभव नहीं।

गौतम के युक्तिपूर्ण उत्तर और हित-वचनों से मुनि उदक ने समाधान पाया और सरलभाव से बिना वन्दन के ही जाने लगा तो गौतम ने कहा – "आयुष्मन् उदक ! तुम जानते हो, किसी भी श्रमण-माहण से एक भी आर्य-धर्म युक्त वचन सुन कर उससे ज्ञान पाने वाला मनुष्य देव की तरह उसका सत्कार करता है।"

गौतम की इस प्रेरणा से उदक समझ गया और बोला – "गौतम महाराज ! मुझे पहले इसका ज्ञान नहीं था, अतः उस पर विश्वास नहीं हुआ। अब आपसे सुनकर मैंने इसको समझा है, मैं उस पर श्रद्धा करता हूँ।"

गौतम द्वारा प्रेरित हो कर निग्रन्थ उदक ने पूर्ण श्रद्धा व्यक्त की और भगवान् के चरणों में जाकर विनयपूर्वक चातुर्याम परम्परा से पंच महाव्रत रूप धर्म-परम्परा स्वीकार की। अब ये भगवान् महावीर के श्रमण संघ में सम्मिलित हो गये।[1]

इधर-उधर कई क्षेत्रों में विचरण करने के पश्चात् प्रभु ने इस वर्ष का चातुर्मास भी नालन्दा में व्यतीत किया।

केवलीचर्या का तेईसवां वर्ष

वर्षाकाल समाप्त होने पर भगवान् नालंदा से विहार कर विदेह की राजधानी के पास वाणिज्यग्राम पधारे। उन दिनों वाणिज्यग्राम व्यापार का

[1] सूत्र कृ० २।७ नालंदीय, ८१ सू०।

एक अच्छा केन्द्र था। वहां के विभिन्न धनपतियों में सुदर्शन सेठ एक प्रमुख व्यापारी था। जब भगवान् वाणियग्राम के 'दूति पलाश' चैत्य में पधारे तो नगरवासियों का दर्शनार्थ तांता सा लग गया। हजारों नर-नारी भगवान् को वन्दन करने एवं उनकी अमृतमयी वाणी को सुनने के लिये वहाँ एकत्र हुए। सुदर्शन भी उनके बीच सेवा में पहुंचा। सभाजनों के चले जाने पर सुदर्शन ने वन्दन कर पूछा – "भगवन्! काल कितने प्रकार का है?"

प्रभु ने उत्तर में कहा – "सुदर्शन! काल चार प्रकार का है :

(१) प्रमाणकाल (२) यथायुष्क-निवृत्तिकाल, (३) मरणकाल और (४) अद्धाकाल।[१]

सुदर्शन ने फिर पूछा – "प्रभो! पल्योपम और सागरोपम काल का भी क्षय होता है या नहीं?"

सुदर्शन को पल्योपम का काल-मान समझाते हुए भगवान् ने उसके पूर्व-भव का वृत्तान्त सुनाया। भगवान् के मुख से अपने बीते जीवन की बात सुनकर सुदर्शन का अंतर जागृत हुआ और चिन्तन करते हुए उसे अपने पूर्वजन्म का स्मरण हो आया। अपने पूर्वभव के स्वरूप को देखकर वह गद्गद हो गया। हर्षाश्रु से पुलकित हो उसने द्विगुणित वैराग्य एवं उल्लास से भगवान् को वन्दन किया। श्रद्धावनत हो उसने तत्काल वहीं पर श्रमण भगवान् महावीर के चरणों में श्रमण-दीक्षा स्वीकार कर ली। फिर क्रमशः चौदह पूर्वों का अध्ययन कर उसने बारह वर्ष तक श्रमण-धर्म का पालन किया और अन्त में कर्मक्षय कर निर्वाण प्राप्त किया।[२]

गौतम और आनन्द श्रावक

एक बार गणधर गौतम भगवान् की आज्ञा से वाणिज्यग्राम में भिक्षा के लिये पधारे। भिक्षा लेकर जब वे 'दूति पलाश' चैत्य की ओर लौट रहे थे कि मार्ग में 'कोल्लाग सन्निवेश' के पास उन्होंने आनन्द श्रावक के अनशन ग्रहण की बात सुनी। गौतम के मन में विचार हुआ कि आनन्द प्रभु का उपासक शिष्य है और उसने अनशन कर रखा है तो जाकर उसे देखना चाहिये। ऐसा विचार कर वे 'कोल्लाग सन्निवेश' में आनन्द के पास दर्शन देने पधारे।

गौतम को पास आये देख कर आनन्द अत्यन्त प्रसन्न हुए और विनयपूर्वक बोले – "भगवन्! अब उठने की मेरी शक्ति नहीं है, अतः जरा चरण मेरी ओर बढ़ायें, जिससे कि मैं उनका स्पर्श और वन्दन कर लूं। गौतम के समीप पहुंचने पर आनन्द ने वन्दन किया और वार्तालाप के प्रसंग से वे बोले – "भगवन्! घर में रहते हुए गृहस्थ को अवधिज्ञान होता है क्या?"

गौतम ने कहा – "हां"

---

[१] भगवती सूत्र, शतक ११, उ० ११, सूत्र ४२४।

[२] भग० श०, श० ११ उ० ११ सूत्र ४३२।

आनन्द फिर बोले – "मुझे गृहस्थ धर्म का पालन करते हुए अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ है। मैं लवण समुद्र में तीनों ओर ५००-५०० योजन तक और उत्तर में चुल्ल हिमवंत पर्वत तक तथा ऊपर सौधर्म देवलोक तक और नीचे 'लोलच्चुअ' नरकावास तक के रूपी पदार्थों को जानता और देखता हूँ।"

इस पर सहसा गौतम बोले – "आनन्द ! गृहस्थ को अवधिज्ञान तो होता है, पर इतना दूर तक का नहीं होता। अतः तुमको इसकी आलोचना करनी चाहिये।"

आनन्द बोला – "भगवन् ! जिन-शासन में क्या सच कहने वालों को आलोचना करनी होती है ?"

गौतम ने कहा – "नहीं, सच्चे को आलोचना नहीं करनी पड़ती।"

यह सुन कर आनन्द बोला – "भगवन् ! फिर आपको ही आलोचना करनी चाहिए।"

आनन्द की बात से गौतम का मन शंकित हो गया। वे शीघ्र ही भगवान् के पास 'दूति पलाश' चैत्य में आये और भिक्षाचर्या दिखाकर आनन्द की बात सामने रखी और बोले – "भगवन् ! क्या आनन्द को इतना अधिक अवधिज्ञान हो सकता है ? क्या वह आलोचना का पात्र नहीं है ?"

भगवान् ने उत्तर में कहा – "गौतम ! आनन्द श्रावक ने जो कहा, वह ठीक है। उसको इतना अधिक अवधिज्ञान हुआ है, यह सही है अतः तुमको ही आलोचना करनी चाहिये।"

भगवान् की आज्ञा पाकर बिना पारणा किये ही गौतम आनन्द के पास गये और उन्होंने अपनी भूल स्वीकार कर, आनन्द से क्षमायाचना की।[1]

ग्राम नगरादि में विचरते हुए फिर भगवान् वैशाली पधारे और वहीं पर इस वर्ष का वर्षावास पूर्ण किया।

केवलीचर्या का चौबीसवां वर्ष

वैशाली का चातुर्मास पूर्ण कर भगवान् कोशल भूमि के ग्राम-नगरों में धर्मोपदेश करते हुए साकेतपुर पधारे। साकेत कोशल देश का प्रसिद्ध नगर था। वहां का निवासी जिनदेव श्रावक दिग्यात्रा करता हुआ 'कोटिवर्ष' नगर पहुंचा। उन दिनों वहां म्लेच्छ का राज्य था। व्यापार के लिये आये हुए जिनदेव ने 'किरातराज' को बहुमूल्य रत्न आभूषणादि भेंट किये। अदृष्ट पदार्थों को देखकर किरातराज बहुत प्रसन्न हुआ और बोला – "ऐसे रत्न कहां उत्पन्न होते हैं ?"

जिनदेव बोला – "राजन् ! हमारे देश में इनसे भी बढ़िया रत्न उत्पन्न होते हैं।"

किरातराज ने उत्कण्ठा के स्वर में कहा – "मैं चाहता हूं कि तुम्हारे यहां चलकर उन रत्नों को देखूं, पर तुम्हारे राजा का डर लगता है।"

[1] उपास० १, गाथा ८४।

जिनदेव ने कहा -- "महाराज ! राजा के डर की कोई बात नहीं है। फिर भी आपकी शंका मिटाने हेतु मैं उनकी अनुमति प्राप्त कर लेता हूं।"

ऐसा कह कर जिनदेव ने राजा को पत्र लिखा और उनसे अनुमति प्राप्त कर ली। किरातराज भी अनुमति प्राप्त कर साकेतपुर आये और जिनदेव के यहां ठहर गये। संयोगवश उस समय भगवान् महावीर साकेतपुर पधारे हुए थे। नगर में महावीर के पधारने के समाचार पहुंचते ही महाराज शत्रुंजय प्रभु को वन्दन करने निकल पड़े। नागरिक लोग भी हजारों की संख्या में भगवान् की सेवा में पहुंचे। नगर में दर्शनार्थियों की बड़ी हलचल थी।

किरातराज ने जनसमूह को देखकर जिनदेव से पूछा – "सार्थवाह! ये लोग कहां जा रहे हैं?" जिनदेव ने कहा – "महाराज ! रत्नों का एक बड़ा व्यापारी आया है, जो सर्वोत्तम रत्नों का स्वामी है। उन्हीं के पास ये लोग जा रहे हैं।"

किरातराज ने कहा -- "फिर तो हमको भी चलना चाहिये।" यह कह कर वे जिनदेव के साथ धर्म-सभा की ओर चल पड़े। तीर्थंकर के छत्रत्रय और सिंहासन आदि देखकर किरातराज चकित हो गये। किरातराज ने महावीर के चरणों में वन्दन कर रत्नों के भेद और मूल्य के सम्बन्ध में पूछा।

महावीर बोले -- "देवानुप्रिय ! रत्न दो प्रकार के हैं, एक द्रव्यरत्न और दूसरा भावरत्न। भावरत्न के मुख्य तीन प्रकार हैं :-(१) दर्शन रत्न, (२) ज्ञान रत्न और (३) चारित्र रत्न। भावरत्नों का विस्तृत वर्णन करके प्रभु ने कहा- "ये ऐसे प्रभावशाली रत्न हैं, जो धारक की प्रतिष्ठा बढ़ाने के अतिरिक्त उसके लोक और परलोक दोनों को सुधारते हैं। द्रव्यरत्नों का प्रभाव परिमित है। वे वर्तमान काल में ही सुखदायी होते हैं पर भावरत्न भवान्तर में भी सद्गति और सुखदायी होते हैं।"

भगवान् का रत्न-विषयक प्रवचन सुनकर किरातराज बहुत प्रसन्न हुआ। वह हाथ जोड़कर बोला – "भगवन् ! मुझे भावरत्न प्रदान कीजिये।" भगवान् ने रजोहरण और मुखवस्त्रिका दिलवाये जिनको किरातराज ने प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार किया और वे भगवान् के श्रमण-संघ में दीक्षित हो गये।[1]

फिर साकेतपुर से विहार कर भगवान् पांचाल प्रदेश के कंपिलपुर में पधारे और वहां से सूरसेन देश की ओर प्रस्थान किया। फिर मथुरा, सौरिपुर, नन्दीपुर, आदि नगरों में भ्रमण करते हुए पुनः विदेह की ओर पधारे और इस वर्ष का वर्षाकाल मिथिला में ही व्यतीत किया।

केवलीचर्या का पच्चीसवां वर्ष

वर्षाकाल समाप्त होने पर भगवान् ने मगध की ओर प्रयाण किया। गांव-गांव में निर्ग्रन्थ प्रवचन का उपदेश करते हुए प्रभु राजगृह पधारे और वहां के

[1] "कोडीवरिस चिलाए, जिणदेवे रयणपुच्छ कहणाय।" आवश्यक निर्युक्ति, दूसरा भाग, गा० १३०५ की टीका देखिये।

'गुणशील' चैत्य में विराजमान हुए। गुणशील चैत्य के पास अन्य तीर्थियों के बहुत से आश्रम थे। एक बार धर्म-सभा समाप्त होने पर कुछ तैर्थिक वहां आये और स्थविरों से बोले – "आर्यो ! तुम त्रिविध-त्रिविध असंयत हो, अविरत हो, यावत् बाल हो।"

अन्य तीर्थिकों की ओर से इस तरह के आक्षेप सुनकर स्थविरों ने उन्हें शान्तभाव से पूछा -- "हम असंयत और बाल कैसे हैं ? हम किसी प्रकार भी अदत्त नहीं लेकर दीयमान ही लेते हैं।" इत्यादि प्रकार से तैर्थिकों के आक्षेप का शान्ति के साथ युक्तिपूर्वक उत्तर देकर स्थविरों ने उनको निरुत्तर कर दिया। वहां पर गति प्रपात अध्ययन की रचना की गई।[1]

कालोदायी के प्रश्न

कालोदायी श्रमण ने एक बार भगवान् को वन्दना कर प्रश्न किया- "भगवन् ! जीव अशुभ फल वाले कर्मों को स्वयं कैसे करता है ?"

भगवान् ने उत्तर देते हुए कहा -- "कालोदायी ! जैसे कोई दूषित पक्वान्न या मादक पदार्थ का भोजन करता है, तब वह बहुत रुचिकर लगता है। खाने वाला स्वाद में लुब्ध हो तज्जन्य हानि को भूल जाता है किन्तु परिणाम उसका दुखदायी होता है। भक्षक के शरीर पर कालान्तर में उसका बुरा प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार जब जीव हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील, परिग्रह, क्रोध, मान, माया, लोभ और राग-द्वेष आदि पापों का सेवन करता है, तब तत्काल ये कार्य सरल व मनोहर प्रतीत होने के कारण अच्छे लगते हैं परन्तु इनके विपाक परिणाम बड़े अनिष्टकारक होते हैं, जो करने वालों को भोगने पड़ते हैं।"

कालोदायी ने फिर शुभ कर्मों के विषय में पूछा – "भगवन् ! जीव शुभ कर्मों को कैसे करता है ?"

भगवान् महावीर ने कहा – 'जैसे औषधिमिश्रित भोजन तीखा और कड़वा होने से खाने में रुचिकर नहीं लगता, फिर भी बलवीर्य-वर्द्धक जान कर बिना मन भी खाया एवं खिलाया जाता है और वह लाभदायक होता है। उसी प्रकार अहिंसा, सत्य, शील, क्षमा और अलोभ आदि शुभ कर्मों की प्रवृत्तियां मन को मनोहर नहीं लगतीं, प्रारम्भ में वे भारी लगती हैं। वे दूसरे की प्रेरणा से प्रायः बिना मन की जाती हैं, परन्तु उनका परिणाम सुखदायी होता है।"[2]

कालोदायी ने दूसरा प्रश्न हिंसा के विषय में पूछा – "भगवन् ! समान उपकरण वाले दो पुरुषों में से एक अग्नि को जलाता है और दूसरा बुझाता है तो इन जलाने और बुझाने वालों में अधिक आरम्भ और पाप का भागी कौन होता है ?"

---

[1] भगवती, श० ८, उ० ७, सूत्र ३३७।

[2] भग०, श० ७, उ० १०, सू० ३०६।

भगवान् ने कहा – "कालोदायी ! आग बुझाने वाला अग्नि का आरम्भ तो अधिक करता है, परन्तु पृथ्वी, जल, वायु, वनस्पति और त्रस की हिंसा कम करता है, होनेवाली हिंसा को घटाता है। इसके विपरीत जलाने वाला पृथ्वी, जल, वायु वनस्पति और त्रस की हिंसा अधिक और अग्नि की कम करता है। अतः आग जलाने वाला अधिक आरम्भ करता है और बुझाने वाला कम। अतः आग जलाने वाले से बुझाने वाला अल्पपापी कहा गया है।"[1]

अचित्त पुद्गलों का प्रकाश

फिर कालोदायी ने अचित्त पुद्गलों के प्रकाश के विषय में पूछा तो प्रभु ने कहा – "अचित्त पुद्गल भी प्रकाश करते हैं। जब कोई तेजोलेश्याधारी मुनि तेजोलेश्या छोड़ता है, तब वे पुद्गल दूर-दूर तक गिरते हैं, वे दूर और समीप प्रकाश फैलाते हैं। पुद्गलों के अचित्त होते हुए भी प्रयोक्ता हिंसा करने वाला और प्रयोग हिंसाजनक होता है। पुद्गल मात्र रत्नादि की तरह अचित्त होते हैं।"[2]

प्रभु के उत्तर से संतुष्ट होकर कालोदायी भगवान् को वन्दन करता हुआ और छट्ठ, अट्ठमादि तप करता हुआ अन्त में अनशनपूर्वक कालधर्म प्राप्त कर निर्वाण प्राप्त करता है।

गणधर प्रभास ने भी एक मास का अनशन कर इसी वर्ष निर्वाण प्राप्त किया।[3] इस प्रकार विविध उपकारों के साथ इस वर्ष भगवान् का चातुर्मास राजगृह में पूर्ण हुआ।

केवलीचर्या का छब्बीसवां वर्ष

वर्षाकाल के पश्चात् विविध ग्रामों में विचरण कर प्रभु पुनः 'गुणशील' चैत्य में पधारे। गौतम ने यहां प्रभु से विविध प्रकार के प्रश्न किये, जिनमें परमाणु का संयोग-वियोग, भाषा का भाषापन और दुख की अकृत्रिमता आदि प्रश्न मुख्य थे। भगवान् ने अन्य तीर्थ के क्रिया सम्बन्धी प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा – "एक समय में जीव एक ही क्रिया करता है ईर्यापथिकी अथवा सांपरायिकी। जिस समय ईर्यापथिकी क्रिया करता है, उस समय सांपरायिकी नहीं और सांपरायिकी क्रिया के समय ईर्यापथिकी नहीं करता।[4] देखना, बोलना जैसी दो क्रियाएं एक साथ हों इसमें आपत्ति नहीं है, आपत्ति एक समय में दो उपयोग होने में है।"

इसी वर्ष अचलभ्राता और मेतार्य गणधरों ने भी अनशन कर निर्वाण प्राप्त किया। भगवान् ने इस वर्ष का वर्षाकाल नालंदा में ही व्यतीत किया।

---

[1] भग० सू०, ७।१०, सू० ३०७।
[2] भग० सू०, ७।१०, सू० ३०८।
[3] भगवान् महावीर – कल्याणविजय।
[4] भग० श० १, उ० १०, सूत्र ८१।

केवलीचर्या का सत्ताईसवां वर्ष

नालन्दा से विहार कर भगवान् ने विदेह जनपद की ओर प्रस्थान किया। विदेह के ग्राम-नगरों में धर्मोपदेश करते हुए प्रभु मिथिला पधारे। यहां राजा जितशत्रु ने प्रभु के आगमन का समाचार सुना तो वे नगरी के बाहर मणिभद्र चैत्य में वन्दन करने को आये। महावीर ने उपस्थित जनसमुदाय को धर्मोपदेश दिया। लोग वन्दन एवं उपदेश-श्रवण कर यथास्थान लौट गये।

अवसर पाकर इन्द्रभूति-गौतम ने विनयपूर्वक सूर्य चन्द्रादि के विषय में प्रभु से प्रश्न किये। जिनमें सूर्य का मंडल-भ्रमण, प्रकाश-क्षेत्र, पौरुषी छाया, संवत्सर का प्रारम्भ, चन्द्र की वृद्धि-हानि, चन्द्रादि ग्रहों का उपपात एवं च्यवन, चन्द्रादि की ऊंचाई एवं चन्द्र-सूर्य की जानकारी आदि प्रश्न मुख्य हैं।

इस वर्ष का वर्षाकाल भी भगवान् ने मिथिला में ही व्यतीत किया।

केवलीचर्या का अट्ठाईसवां वर्ष

चातुर्मास के पश्चात् भगवान् ने विदेह में विचर कर अनेक श्रद्धालुओं को श्रमण-धर्म में दीक्षित किया और कइयों को श्रावकधर्म के पथ पर आरूढ़ किया। संयोगवश इस वर्ष का चातुर्मास भी मिथिला में ही पूर्ण किया।

केवलीचर्या का उनतीसवां वर्ष

वर्षाकाल के वाद भगवान् ने मिथिला से मगध की ओर विहार किया और राजगृह पधार कर गुणशील उद्यान में विराजमान हुए। उन दिनों नगरी में महाशतक श्रावक ने अन्तिम आराधना करके अनशन कर रखा था। उसको अनशन में अध्यवसाय की शुद्धि से अवधिज्ञान उत्पन्न हो गया था। आनन्द के समान वह भी चारों दिशाओं में दूर-दूर तक देख रहा था। उसकी अनेक स्त्रियों में 'रेवती' अभद्र स्वभाव की थी। उसका शील-स्वभाव श्रमणोपासक महाशतक से सर्वथा भिन्न था। महाशतक की धर्म-साधना से उसका मन असंतुष्ट था।

एक दिन बेभान हो कर वह, जहां महाशतक धर्म-साधना कर रहा था, वहां पहुँची और विविध प्रकार के आक्रोशपूर्ण वचनों से उसका ध्यान विचलित करने लगी। शान्त होकर महाशतक सब कुछ सुनता रहा पर जब वह शिर के बाल बिखेर कर अभद्र चेष्टाओं के साथ यद्वा, तद्वा बोलती ही रही तो वे अपने रोष को नहीं संभाल सके। महाशतक को रेवती के व्यवहार से बहुत लज्जा और खेद हुआ, वह सहसा बोल उठा – "रेवती ! तू ऐसी अभद्र और उन्मादभरी चेष्टा क्यों कर रही है ? असत्कर्मों का फल ठीक नहीं होता। तू सात दिन के भीतर ही अलस रोग से पीड़ित हो कर असमाधिभाव में आयु पूर्ण कर प्रथम नर्क में जाने वाली है।"

महाशतक के वचन सुन कर रेवती भयभीत हुई और सोचने लगी – "आज सचमुच ये मेरे ऊपर क्रुद्ध हैं। न जाने मुझे क्या दण्ड दें।" वह धीरे-धीरे वहां

से पीछे की ओर लौट गई। महाशतक का भविष्यकथन उसके लिये सही निकला और वह दुर्भाव में मर कर प्रथम नरक की अधिकारिणी बनी।

भगवान् महावीर ने जब महाशतक के विचलित होने की बात जानी तो उन्होंने गौतम से कहा – "गौतम! राजगृह में मेरा अन्तेवासी उपासक महाशतक पौषधशाला में अनशन करके विचर रहा है। उसको रेवती ने दो-तीन बार उन्माद-पूर्ण वचन कहे, इससे रुष्ट होकर उसने रेवती को प्रथम नरक में उत्पन्न होने का अप्रिय वचन कहा है। अतः तुम जाकर महाशतक को सूचित करो कि भक्त प्रत्याख्यानी उपासक को सद्भूत भी ऐसे वचन कहना नहीं कल्पता, इसके लिये उसे आलोचना करनी चाहिये।" प्रभु के आदेशानुसार गौतम ने जाकर महाशतक से यथावत् कहा और उसने विनयपूर्वक प्रभु-वाणी को सुनकर आलोचना के द्वारा आत्मशुद्धि की।[1]

महावीर ने गौतम के पूछने पर 'वैभार गिरि' के 'महा-तपस्तीर प्रभव' जलस्रोत-कुण्ड की भी चर्चा की। उन्होंने कहा – "उसमें उष्ण योनि के जीव जन्मते और मरते रहते हैं तथा उष्ण स्वभाव के जल पुद्गल भी आते रहते हैं, यही जल की उष्णता का कारण है।"[2] फिर भगवान् ने बताया कि एक जीव एक समय में एक ही आयु का भोग करता है। ऐहिक-आयु-भोग के समय परभव की आयु नहीं भोगता और परभव की आयु के भोगकाल में वह इह भव की आयु नहीं भोगता। इहभविक या परभविक[3] दोनों आयु सत्ता में रह सकती हैं।"

सुख-दुख बताये क्यों नहीं जा सकते, अन्य तीर्थिकों की इस शंका को सामने लेकर भगवान् ने कहा – "राजगृह के ही नहीं, समस्त संसार के भी सुख-दुखों को एकत्र करके कोई बताना चाहे तो सूक्ष्म प्रमाण से भी नहीं बता सकता।

प्रसंग को सरलता से समझाने के लिये प्रभु ने एक उदाहरण प्रस्तुत किया – "जैसे कोई शक्तिशाली देव सुगंध का एक डिब्बा लेकर जम्बूद्वीप के चारों ओर चक्कर काटता हुआ चारों दिशाओं में सुगन्धि बिखेर दे, तो वे गंध के पुद्गल जम्बूद्वीप में फैल जायेंगे, किन्तु यदि कोई उन गंध-पुद्गलों को फिर से एकत्र कर दिखाना चाहे तो एक लीख के प्रमाण में भी उनको एकत्र कर नहीं दिखा सकता। ऐसे ही सुख-दुख के लिये भी समझना चाहिये।"[4] इस प्रकार अनेक प्रश्नों का प्रभु ने समाधान किया।

भगवान् के प्रमुख शिष्य अग्निभूति और वायुभूति नाम के गणधरों ने भी इसी वर्ष राजगृह में अनशन कर निर्वाण प्राप्त किया। भगवान् का यह चातुर्मास भी राजगृह में ही पूर्ण हुआ।

---

[1] उपासक०, अ० ८, सू० २५७, २६१।
[2] भग० २।५ सू० ११३।
[3] भग० ५।३ सूत्र १८३।
[4] भग० ६।१० सूत्र २५३।

केवलीचर्या का तीसवां वर्ष

चातुर्मास की समाप्ति के पश्चात् भी भगवान् महावीर कुछ काल तक राजगृह नगर में विराजे रहे। इसी समय में उनके गणधर 'अव्यक्त', 'मंडित' और 'अकम्पित' गुणशील उद्यान में एक-एक मास का अनशन पूर्ण कर निर्वाण को प्राप्त हुए।

दुषमा-दुषम काल का वर्णन

एक समय राजगृह नगर के गुणशील उद्यान में गणधर इन्द्रभूति गौतम ने भगवान् महावीर से प्रश्न किया – "भगवन् ! दुषमा-दुषम काल में जम्बूद्वीप के इस भरतक्षेत्र की क्या स्थिति होगी ?"

छट्ठे आरे के समय में भरतक्षेत्र की सर्वतोमुखी स्थिति के सम्बन्ध में भगवान् महावीर ने विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुए प्रकाश डाला। इसका पूर्ण विवरण 'कालचक्र का वर्णन' शीर्षक में आगे दिया जा रहा है।

इस प्रकार ज्ञानादि अनन्त-चतुष्टयी के अचिन्त्य अलौकिक आलोक से असंख्य आत्मार्थी भव्य जीवों के अन्तस्तल से अज्ञानान्धकार का उन्मूलन करते हुए इस अवसर्पिणीकाल के अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर ने केवलज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् भारतवर्ष के विभिन्न प्रदेशों में अप्रतिहत विहार कर तीस वर्ष तक देव, मनुष्य और तिर्यंचों को विश्वबन्धुत्व का पाठ पढ़ाया। उन्होंने अपने अमोघ उपदेशों के महानाद से जन-जन के कर्णरन्ध्रों में मानवता का महामंत्र फूंक कर जनमानस को जागृत किया और विनाशोन्मुख मानवसमाज को कल्याण के प्रशस्त मार्ग पर अग्रसर किया।

राजगृह से विहार कर भगवान् महावीर पावापुरी के राजा हस्तिपाल की रज्जुग सभा में पधारे।[1] प्रभु का अन्तिम चातुर्मास पावा में हुआ। सुरसमूह ने तत्काल सुन्दर समवशरण की रचना की। अपार जनसमूह के समक्ष धर्मोपदेश देते हुए प्रभु ने फरमाया कि प्रत्येक प्राणी को जीवन, सुख और मधुर व्यवहार प्रिय है। मृत्यु, दुख और अभद्र व्यवहार सब को अप्रिय है अतः प्राणिमात्र का परम कर्त्तव्य है कि जिस व्यवहार को वह अपने लिये प्रतिकूल समझता है वैसा अप्रीतिकर व्यवहार किसी दूसरे के प्रति नहीं करे। दूसरों से जिस प्रकार के सुन्दर एवं सुखद व्यवहार की वह अपेक्षा करता है वैसा ही व्यवहार वह प्राणिमात्र के साथ करे। यही मानवता का मूल सिद्धान्त और धर्म की आधारशिला है। इस सनातन-शाश्वत धर्म के सतत समाचरण से ही मानव मुक्तावस्था को प्राप्त कर सकता है और इस धर्मपथ से स्खलित हुआ प्राणी दिग्विमूढ़ हो भवाटवी में भटकता फिरता है।

प्रभु के उपदेशामृत का पान करने के पश्चात् राजा पुण्यपाल ने प्रभु को सविधि वन्दन कर पूछा – "प्रभो ! गत रात्रि के अवसानकाल में मैंने हाथी,

[1] त्रिषष्टि श०, पु० च०, १०।१२। श्लोक ४४०

बन्दर, क्षीरद्रु (क्षीरतरु), कौआ, सिंह, पद्म, वीज और कुंभ ये आठ अशुभ स्वप्न देखे हैं। करुणाकर ! मैं बड़ा चिन्तित हूँ कि कहीं ये स्वप्न किसी भावी अमंगल के सूचक तो नहीं हैं।"

भगवान् महावीर ने पुण्यपाल के स्वप्नों का फल सुनाते हुए कहा - "राजन् प्रथम स्वप्न में जो तुमने हाथी देखा है वह इस भावी का सूचक है कि अब भविष्य के विवेकशील श्रमणोपासक भी क्षणिक समृद्धिसम्पन्न गृहस्थ जीवन में हाथी की तरह मदोन्मत्त होकर रहेंगे। भयंकर से भयंकर संकटापन्न स्थिति अथवा पराधीनता की स्थिति में भी वे प्रव्रजित होने का विचार तक भी मन में नहीं लायेंगे। जो गृह त्याग कर संयम ग्रहण करेंगे, उनमें से भी अनेक कुसंगति में फंसकर या तो संयम का परित्याग कर देंगे या अच्छी तरह संयम का पालन नहीं करेंगे। विरले ही संयम का दृढ़ता से पालन कर सकेंगे।"

दूसरे स्वप्न में कपि-दर्शन का फल बताते हुए प्रभु ने कहा - "स्वप्न में जो तुमने बन्दर देखा है, वह इस अनिष्ट का सूचक है कि भविष्य में बड़े बड़े संघपति आचार्य भी बन्दर की तरह चंचल प्रकृति के, स्पल्पपराक्रमी और व्रताचरण में प्रमादी होंगे। जो आचार्य या साधु विशुद्ध निर्दोष संयम एवं व्रतों का पालन करेंगे तथा वास्तविक धर्म का उपदेश करेंगे उनकी अधिकांश दुराचाररत लोगों द्वारा यत्र-तत्र खिल्ली उड़ाई जा कर धर्मशास्त्रों की उपेक्षा ही नहीं अपितु घोर अवज्ञा भी की जायगी। इस प्रकार भविष्य में अधिकांश लोग बन्दर के समान अविचारकारी, विवेकशून्य और अतीव अस्थिर एवं चंचल स्वभाव वाले होंगे।"

तीसरे स्वप्न में क्षीरतरु (अश्वत्थ) देखने का फल वताते हुए प्रभु ने कहा - "राजन् ! कालस्वभाव से अब आगामी काल में क्षुद्र भाव से दान देने वाले श्रावकों को साधु नामधारी पाखण्डी लोग घेरे रहेंगे। पाखण्डियों की प्रवंचना में फंसे हुए दानी सिंह के समान आचारनिष्ठ साधुओं को शृगालों की तरह शिथिलाचारी और शृगालवत् शिथिलाचारी साधुओं को सिंह के समान आचारनिष्ठ समझेंगे। यत्र-तत्र कण्टकाकीर्ण बबूल वृक्ष की तरह पाखण्डियों का पृथ्वी पर बाहुल्य होगा।"

चौथे स्वप्न में काक-दर्शन का फल बताते हुए प्रभु ने फरमाया - "भविष्य में अधिकांश साधु अनुशासन का उल्लंघन एवं साधु-मर्यादाओं का परित्याग कर कौवे की तरह विभिन्न पाखण्डपूर्ण पंथों का आश्रय ले मत-परिवर्तन करते रहेंगे। वे लोग कौवे के 'कांव-कांव' शब्द की तरह वितण्डावाद करते हुए सद्धर्म के उपदेशकों का खण्डन करने में ही सदा तत्पर रहेंगे।"

अपने पांचवें स्वप्न में राजा पुण्यपाल ने जो सिंह को विपन्नावस्था में देखा, उसका फल बताते हुए भगवान् महावीर ने कहा - भविष्य में सिंह के समान तेजस्वी वीतराग-प्ररूपित जैन धर्म निर्बल होगा, धर्म की प्रतिष्ठा से विमुख हो लोग हीन सत्व, साधारण श्वानादि पशुओं के समान मिथ्या मतावलम्बी

साधु वेषधारियों की प्रतिष्ठा करने में तत्पर रहेंगे। आगे चलकर जैन धर्म के स्थान पर विविध मिथ्या-धर्मों का प्रचार-प्रसार एवं सम्मान अधिक बढ़ेगा।"

छट्ठे स्वप्न में कमलदर्शन का फल बताते हुए प्रभु ने कहा – "समय के प्रभाव से आगामी काल में सुकुलीन व्यक्ति भी कुसंगति में पड़ कर धर्म-मार्ग से विमुख हो पापाचार में प्रवृत्त होंगे।"

राजा पुण्यपाल के सातवें स्वप्न का फल सुनाते हुए भगवान् ने फरमाया - "राजन् ! तुम्हारा बीज-दर्शन का स्वप्न इस भविष्य का सूचक है कि जिस प्रकार एक अविवेकी किसान अच्छे बीज को ऊसर भूमि में और घुन से वींधे हुए खराब बीज को उपजाऊ भूमि में वो देता है, उसी प्रकार गृहस्थ श्रमणोपासक आगामी काल में सुपात्र को छोड़ कर कुपात्र को दान करेंगे।"

भगवान् महावीर ने राजा पुण्यपाल के आठवें अन्तिम स्वप्न का फल सुनाते हुए फरमाया – "पुण्यपाल ! तुमने अपने अन्तिम स्वप्न में कुंभ देखा है, वह इस आशय का द्योतक है कि भविष्य में तप, त्याग एवं क्षमा आदि गुण-सम्पन्न, आचारनिष्ठ महामुनि विरले ही होंगे,। इसके विपरीत शिथिलाचारी, वेषधारी, नाममात्र के साधुओं का बाहुल्य होगा। शिथिलाचारी साधु निर्मल चारित्र वाले साधुओं से द्वेष रखते हुए सदा कलह करने के लिये उद्यत रहेंगे। ग्रह-ग्रस्त की तरह प्रायः सभी गृहस्थ तत्त्वदर्शी साधुओं और वेषधारी साधुओं के भेद से अनभिज्ञ, दोनों को समान समझते हुए व्यवहार करेंगे।"

भगवान् महावीर के मुखारविन्द से अपने स्वप्नों के फल के रूप में भावी विषम स्थिति को सुनकर राजा पुण्यपाल को संसार से विरक्ति होगई। उसने तत्काल राज्यलक्ष्मी और समस्त वैभव को ठुकरा कर भगवान् की चरण-शरण में श्रमण-धर्म स्वीकार कर लिया और तप-संयम की सम्यक् रूप से आराधना कर वह कालान्तर में समस्त कर्म-बन्धनों से विनिर्मुक्त हो निर्वाण को प्राप्त हुआ।

कालचक्र का वर्णन

कुछ काल पश्चात् भगवान् महावीर के प्रथम गणधर गौतम ने प्रभु के चरण-कमलों में सिर झुकाकर कालचक्र की पूर्ण जानकारी के सम्बन्ध में अपनी जिज्ञासा अभिव्यक्त की।

कालचक्र का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुए प्रभु ने फरमाया – "गौतम ! काल दो प्रकार के होते हैं, अवसर्पिणीकाल और उत्सर्पिणीकाल। क्रमिक अपकर्षोन्मुख काल अवसर्पिणीकाल कहलाता है और क्रमिक उत्कर्षोन्मुख काल उत्सर्पिणीकाल। इनमें से प्रत्येक दश कोड़ाकोड़ी सागर का होता है और इस तरह अवसर्पिणी एवं उत्सर्पिणी को मिलाकर बीस कोड़ाकोड़ी सागर का एक कालचक्र होता है।

अवसर्पिणी काल के क्रमिक अपकर्षोन्मुख काल को छः विभागों में बांटा जाकर उन छः विभागों को षट् आरक की संज्ञा दी गई है। उन छः आरों का निम्नलिखित प्रकार से नामकरण गुणदोष के आधार पर किया गया है –

१. सुषमा–सुषम	२. सुषम
३. सुषमा–दुषम	४. दुषमा-सुषम
५. दुषम	६. दुषमा-दुषम

प्रथम आरक सुषमा–सुषम एकान्ततः सुखपूर्ण होता है। चार कोड़ाकोड़ी सागर की अवस्थिति वाले सुषमा-सुषम नामक इस प्रथम आरे में मानव की आयु तीन पल्योपम की व देह की ऊंचाई तीन कोस की होती है। उस समय के मानव का शरीर २५६ पसलियों से युक्त वज्रऋषभ नाराच संहनन और समचतुरस्र संस्थानमय होता है। उस समय में माता पुत्र और पुत्री को युगल रूप में एक साथ जन्म देती है। उस समय के मानव परम दिव्य रूप सम्पन्न, सोम्य, भद्र, मृदुभाषी, निर्लिप्त, स्वल्पेच्छा वाले, अपरिग्रही, पूर्णरूपेण शान्त, सरल स्वभाव वाले, पृथ्वी-पुष्प-फलाहारी और क्रोध, मान, मोह, मद, मात्सर्य आदि से रहित होते हैं। उनका आहार चक्रवर्ती के सुस्वादु पौष्टिक षड्रस भोजन से भी कहीं अधिक सुस्वादु और बल-वीर्यवर्द्धक होता है।

उस समय में चारों ओर का वातावरण अत्यन्त मनोरम, मोहक, मधुर, सुखद, तेजोमय, शान्त, परम रमणीय, मनोज्ञ एवं आनन्दमय होता है। उस प्रथम आरक में पृथ्वी का वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श अत्यन्त सम्मोहक, प्राणिमात्र को आनन्दविभोर करने वाला एवं अत्यन्त सुखप्रद होता है। उस समय पृथ्वी का स्वाद मिश्री से कहीं अधिक मधुर होता है।

भोगयुग होने के कारण उस समय के मानव को जीवनयापन के लिये किंचित्मात्र भी चिन्ता अथवा परिश्रम की आवश्यकता नहीं पड़ती क्योंकि दश प्रकार के कल्पवृक्ष उनकी सभी इच्छाएं पूर्ण कर देते हैं। मतंगा नामक कल्पवृक्षों से अमृततुल्य मधुर फल, भिंगा नामक कल्पवृक्षों से स्वर्णरत्नमय भोजनपात्र, तुड़ियंगा नामक कल्पवृक्षों से उन्हें उनपचास प्रकार के ताललयपूर्ण मधुर संगीत, जोई नामक कल्पवृक्षों से अद्भुत आनन्दप्रद तेजोमय प्रकाश, जिसके कारण कि प्रथम आरक से लेकर तृतीय आरक के तृतीय चरण के लम्बे समय तक चन्द्र-सूर्य तक के दर्शन नहीं होते, दिव नामक कल्पवृक्षों से उन्हें प्रकाशस्तम्भों के समान दिव्य रंगीन रोशनी, चितंगा नामक कल्पवृक्षों से मनमोहक सुगन्धिपूर्ण सुन्दर पुष्पाभरण, चित्तरसा नामक कल्पवृक्षों से अठारह प्रकार के सुस्वादु भोजन, मणवेगा नामक कल्पवृक्षों से स्वर्ण, रत्नादि के दिव्य आभूषण, बयालीस मंजिले भव्य प्रासादों की आकृति वाले गिहंगारा नामक कल्पवृक्षों से आवास की स्वर्गोपम सुख-सुविधा और अनियगणा नामक कल्पवृक्षों से उन्हें अनुपम सुन्दर, सुखद, अमूल्य वस्त्रों की प्राप्ति हो जाती है।

जीवनोपयोगी समस्त सामग्री की यथेप्सित रूप से सहज ही प्राप्ति हो जाने के कारण उस समय के मानव का जीवन परम सुखमय होता है। उस समय के मानव को तीन दिन के अन्तर से भोजन करने की इच्छा होती है।

प्रथम आरक के मानव छह प्रकार के होते हैं :

(१) पद्मगंधा – जिनके शरीर से कमल के समान सुगन्ध निकलती रहती है।
(२) मृगगन्धा – जिनके शरीर से कस्तूरी के समान मादक महक चारों ओर फैलती रहती है।
(३) अममा = ममतारहित।
(४) तेजस्तलिन: = तेजोमय सुन्दर स्वरूप वाले।
(५) सहा = उत्कट साहस करने में सक्षम।
(६) शनैश्चारण: = उत्सुकता के अभाव में सहज शान्तभाव में रहने वाले।

उनका स्वर अत्यन्त मधुर होता है और उनके श्वासोच्छ्वास से भी कमलपुष्प के समान सुगन्ध निकलती है।

उस समय के युगलिकों की आयु जिस समय छह महीने अवशेष रह जाती है उस समय युगलिनी पुत्र-पुत्री के एक युगल को जन्म देती है। माता-पिता द्वारा ४६ दिन प्रतिपालना की जाने के पश्चात् वे नव युगल पूर्ण युवा हो दाम्पत्य जीवन का सुखोपभोग करते हुए यथेच्छ विचरण करते हैं।

तीन पल्योपम की आयुष्य पूर्ण होते ही एक को छींक और दूसरे को उबासी आती है और इस तरह युगल दम्पति तत्काल एक साथ बिना किसी प्रकार की व्याधि, पीड़ा अथवा परिताप के जीवनलीला समाप्त कर देवयोनि में उत्पन्न होते हैं। उनके शवों को क्षेत्राधिष्ठायक देव तत्काल क्षीरसमुद्र में डाल देते हैं।"

सुषमा नामक दूसरा आरक तीन कोड़ाकोड़ी सागर का होता है। इसमें प्रथम आरक की अपेक्षा वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के पर्याय की अनन्त गुनी हीनता हो जाती है। इस आरक के मानव की आयु दो पल्योपम, देहमान दो कोस और पसलियां १२८ होती हैं। दो दिन के अन्तर से उनको आहार ग्रहण करने की आवश्यकता प्रतीत होती है। इस आरक में पृथ्वी का स्वाद घटकर शक्कर तुल्य हो जाता है।

इस दूसरे आरक में भी मानव की सभी इच्छाएं उपरोक्त १० प्रकार के कल्पवृक्षों द्वारा पूर्ण की जाती हैं अत: उन्हें किसी प्रकार के श्रम की आवश्यकता नहीं होती। जिस समय युगल दम्पति की आयु ६ महीने अवशेष रह जाती है उस समय युगलिनी पुत्र-पुत्री के एक युगल को जन्म देती है। माता-पिता द्वारा ६४ दिन तक प्रतिपालित होने के बाद ही नवयुगल दम्पति रूप में सुखपूर्वक यथेच्छ विचरण करने लग जाता है।

दूसरे आरे में मनुष्य चार प्रकार के होते हैं। यथा :

(१) एका　　(२) प्रचुरजंघा

(३) कुसुमा　　(३) सुशमना

आयु की समाप्ति के समय इस आरक के युगल को भी छींक एवं उबासी आती है और वह युगल दम्पति एक साथ काल कर देवगति में उत्पन्न होता है।

सुषमा-दुषम नामक तीसरा आरा दो कोड़ाकोड़ी सागर के काल प्रमाण का होता है। इस तृतीय आरक के प्रथम और मध्यम त्रिभाग में दूसरे आरक की अपेक्षा वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के पर्यायों की अनन्तगुनी अपकर्षता हो जाती है। इस आरे के मानव वज्रऋषभनाराच संहनन, समचतुरस्र संस्थान, २००० धनुष की ऊंचाई, एक पल्योपम की आयु और ६४ पसलियों वाले होते हैं। उस समय के मनुष्यों को एक दिन के अन्तर से आहार ग्रहण करने की इच्छा होती है। उस समय पृथ्वी का स्वाद गुड़ के समान होता है। मृत्यु से ६ मास पूर्व युगलिनी एक पुत्र तथा एक पुत्री को युगल के रूप में जन्म देती है। उन बच्चों का ७९ दिन तक माता-पिता द्वारा पालनपोषण किया जाता है। तत्पश्चात् वे पूर्ण यौवन को प्राप्त हो दम्पति के रूप में स्वतन्त्र और स्वेच्छापूर्वक आनन्दमय जीवन विताते हैं। उनके जीवन की समस्त आवश्यकताएं दश प्रकार के कल्प-वृक्षों द्वारा पूर्ण कर दी जाती हैं। अपने जीवननिर्वाह के लिये उन्हें किसी प्रकार का कार्य अथवा श्रम नहीं करना पड़ता अतः वह युग भोगयुग कहलाता है। अंत समय में युगल स्त्री-पुरुष को एक साथ एक को छींक और दूसरे को उबासी आती है और उसी समय वे एक साथ आयुष्य पूर्ण कर देवलोक में देवरूप से उत्पन्न होते हैं।

यह स्थिति तृतीय आरक के प्रथम त्रिभाग और मध्यम त्रिभाग तक रहती है। उस आरक के अन्तिम त्रिभाग में मनुष्यों का छह प्रकार का संहनन, छह प्रकार का संस्थान, कई सौ धनुष की ऊंचाई, जघन्य संख्यात वर्ष की और उत्कृष्ट असंख्यात वर्ष की आयुष्य होती है। उस समय के मनुष्यों में से अनेक नरक में, अनेक तिर्यंच योनि में, अनेक मनुष्य योनि में, अनेक देव योनि में और अनेक मोक्ष में जाने वाले होते हैं।

उस तीसरे आरे के अन्तिम त्रिभाग के समाप्त होने में जब एक पल्योपम का आठवां भाग अवशेष रह जाता है उस समय भरत क्षेत्र में क्रमशः १५ कुलकर[1] उत्पन्न होते हैं।

उस समय कालदोष से कल्पवृक्ष उस समय के मानवों के लिये जीवनोपयोगी सामग्री अपर्याप्त मात्रा में देना प्रारम्भ कर देते हैं जिससे उनमें शनैः-शनैः आपसी कलह का सूत्रपात होता है। कुलकर उन लोगों को अनुशासन में रखते हुए मार्गदर्शन करते हैं। प्रथम पांच कुलकरों के काल में हाकार दण्डनीति, छट्ठे

[1] जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में भगवान् ऋषभदेव को पन्द्रहवें कुलकर के रूप में भी माना गया है।

से १०वें कुलकर तक 'माकार' नीति और ग्यारहवें से १५ वें कुलकर तक 'धिक्कार' नीति से लोगों को अनुशासन में रखा जाता है।

तीसरे आरे के समाप्त होने में जिस समय चौरासी लाख पूर्व, तीन वर्ष और साढ़े आठ मास अवशेष थे उस समय प्रथम राजा, प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव का जन्म हुआ। भगवान् ऋषभदेव ने ६३ लाख पूर्व तक सुचारु रूप से राज्यशासन चला कर उस समय के मानव को असि, मसि और कृषि के अन्तर्गत समस्त विद्याएं सिखा कर भोगभूमि को पूर्णरूपेण कर्मभूमि में परिवर्तित कर दिया।

इस अवसर्पिणीकाल में सर्वप्रथम धर्म-तीर्थ की स्थापना भगवान् ऋषभदेव ने की। तीसरे आरे में प्रथम तीर्थंकर और प्रथम चक्रवर्ती हुए। तृतीय आरे के समाप्त होने में तीन वर्ष और साढ़े आठ मास अवशेष रहे तब भगवान् ऋषभदेव का निर्वाण हुआ।

दुषमा-सुषम नामक चतुर्थ आरक बयालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागर का होता है। इस आरे में तृतीय आरक की अपेक्षा वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के पर्यायों की तथा उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषाकार और पराक्रम की अनन्तगुनी अपकर्षता हो जाती है। इस चतुर्थ आरक में मनुष्यों के छहों प्रकार के संहनन, छहों प्रकार के संस्थान, बहुत से धनुष की ऊंचाई, जघन्य अन्तर्मुहूर्त की और उत्कृष्ट पूर्वकोटि की आयु होती है तथा वे मर कर पांचों प्रकार की गति में जाते हैं।

चतुर्थ आरक में २३ तीर्थंकर, ११ चक्रवर्ती, ६ बलदेव, ६ वासुदेव और ६ प्रतिवासुदेव होते हैं।"

"गौतम! यह भरतक्षेत्र तीर्थंकरों के समय में सुन्दर, समृद्ध, बड़े-बड़े ग्रामों नगरों एवं जनपदों से संकुल एवं धन-धान्यादिक से परिपूर्ण रहता है। उस समय सम्पूर्ण भरतक्षेत्र साक्षात् स्वर्गतुल्य प्रतीत होता है। उस समय का प्रत्येक ग्राम नगर के समान और नगर अलकापुरी की तरह सुरम्य और सुख-सामग्री से समृद्ध होता है। तीर्थंकरकाल में यहां का प्रत्येक नागरिक नृपति के समान ऐश्वर्यसम्पन्न और प्रत्येक नरेश वैश्रवण के तुल्य राज्यलक्ष्मी का स्वामी होता है। उस समय के आचार्य शरदपूर्णिमा के पूर्णचन्द्र की तरह अगाध ज्ञान की ज्योत्स्ना से सदा प्रकाशमान होते हैं। उन आचार्यों के दर्शन मात्र से जनगण के नयन अतिशय तृप्ति और वाणी-श्रवण से जन-जन के मन परमाह्लाद का अनुभव करते हैं। उस समय के माता-पिता देवदम्पति तुल्य, श्वसुर पिता तुल्य और सासुएं माताओं के समान वात्सल्यपूर्ण हृदयवाली होती हैं। तीर्थंकरों के समय के नागरिक सत्यवादी, पवित्र-हृदय, विनीत, धर्म व अधर्म के सूक्ष्म से सूक्ष्म भेद को समझने वाले, देव और गुरु की उचित पूजा-सम्मान करने वाले एवं पर-स्त्री को माता तथा बहिन के समान समझने वाले होते हैं। तीर्थंकर-काल में विज्ञान, विद्या, कुल-गौरव और सदाचार उत्कृष्ट कोटि के होते हैं।

न तीर्थंकरों के समय में डाकुओं, आततायियों और अन्य राजाओं द्वारा आक्रमण का ही किसी प्रकार का भय रहता है और न प्रजा पर करों का भार ही। तीर्थंकरकाल के राजा लोग वीतराग प्रभु के परमोपासक होते हैं और तीर्थंकरों के समय की प्रजा पाखण्डियों के प्रति किंचित्मात्र भी आदर का भाव प्रकट नहीं करती।"

भगवान् ने पंचम आरक की भीषण स्थिति का दिग्दर्शन कराते हुए कहा – "गौतम ! मेरे मोक्ष-गमन के तीन वर्ष साढ़े आठ मास पश्चात् दुषम नामक पांचवां आरा प्रारम्भ होगा जो कि इक्कीस हजार वर्ष का होगा। उस पंचम आरे के अन्तिम दिन तक मेरा धर्म-शासन अविच्छिन्न रूप से चलता रहेगा। लेकिन पांचवें आरे के प्रारम्भ होते ही पृथ्वी के रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श के ह्रास के साथ ही साथ क्रमशः ज्यों-ज्यों समय बीतता जायगा त्यों-त्यों लोकों में धर्म, शील, सत्य, शान्ति, शौच, सम्यक्त्व, सद्बुद्धि, सदाचार, शौर्य ओज, तेज, क्षमा, दम, दान, व्रत, नियम, सरलता आदि गुणों का क्रमिक ह्रास और अधर्म-बुद्धि का क्रमशः अभ्युत्थान होता जायगा। पंचम आरक में ग्राम श्मशान के समान भयावह और नगर प्रेतों की क्रीड़ास्थली तुल्य प्रतीत होंगे। उस समय के नागरिक क्रीतदास तुल्य और राजा लोग यमदूत के समान दुखदायी होंगे।"

पंचम आरक की राजनीति का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् ने कहा – "गौतम ! जिस प्रकार छोटी मछलियों को मध्यम आकार-प्रकार की मछलियां और मध्यम स्थिति की मछलियों को बृहदाकार की मछलियां खा जाती हैं, उसी प्रकार पंचम आरक में सर्वत्र 'मत्स्यन्याय' का बोलबाला होगा, राज्याधिकारी प्रजाजनों को लूटेंगे और राजा लोग राज्याधिकारियों को। उस समय सब प्रकार की व्यवस्थाएं अस्त-व्यस्त हो जायेंगी। सब देशों की स्थिति भीषण तूफान में फंसी नाव के समान डांवाडोल हो जायेगी।"

उस समय की सामाजिक स्थिति का वर्णन करते हुए प्रभु ने कहा – "गौतम ! प्रजा को एक ओर तो चोर पीड़ित करेंगे और दूसरी ओर कमरतोड़ करों से राज्य। उस समय में व्यापारीगण प्रजा को दुष्ट ग्रह की तरह पीड़ित कर देंगे और अधिकारीगण बड़ी-बड़ी रिश्वतें लेकर प्रजाजनों का सर्वस्व हरण करेंगे। आत्मीयजनों में परस्पर सदा गृहकलह घर किये रहेगा। प्रजाजन परस्पर एक दूसरे से द्वेष व शत्रुता का व्यवहार करेंगे। उनमें परोपकार, लज्जा, सत्य-निष्ठा और उदारता का लवलेश भी अवशेष नहीं रहेगा।

शिष्य गुरुभक्ति को भूल कर अपने-अपने गुरुजनों की अवज्ञा करते हुए स्वच्छन्द विहार करेंगे और गुरुजन भी अपने शिष्यों को ज्ञानोपदेशादि देना बन्द कर देंगे और अन्ततोगत्वा एक दिन गुरुकुलव्यवस्था लुप्त ही हो जायगी। लोगों में धर्म के प्रति रुचि क्रमशः बिल्कुल मन्द हो जायगी। पुत्र अपने पिता

का तिरस्कार करेंगे, बहुएं अपनी सासों के सामने काली नागिनों की तरह हर समय फूत्कार करती रहेंगी और सासें भी अपनी बहुओं के लिये भैरवी के समान भयानक रूप धारण किये रहेंगी। कुलवधुओं में लज्जा का नितान्त अभाव होगा। वे हास-परिहास, विलास-कटाक्ष, वाचालता और वेष-भूषा में वेश्याओं से भी बढ़ी-चढ़ी निकलेंगी। इस सबके परिणामस्वरूप उस समय किसी को साक्षात् देवदर्शन नहीं होगा।"

उस समय की धार्मिक स्थिति का वर्णन करते हुए वीर प्रभु ने कहा- "गौतम! ज्यों-ज्यों पंचम आरे का काल व्यतीत होता जायगा, त्यों-त्यों साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूप चतुर्विध धर्मसंघ क्रमशः क्षीण होता जायगा। झूठ और कपट का सर्वत्र साम्राज्य होगा। धर्म-कार्यों में भी कूटनीति, कपट और दुष्टता का बोलबाला होगा। दुष्ट और दुर्जन लोग आनन्दपूर्वक यथेच्छ विचरण करेंगे पर सज्जन पुरुषों का जीना भी दूभर हो जायगा।"

पंचम आरक में सर्वतोमुखी ह्रास का दिग्दर्शन कराते हुए भगवान् ने कहा – "गौतम! पंचम आरे में रत्न, मणि, माणिक्य, धन-सम्पत्ति, मंत्र, तंत्र, औषधि, ज्ञान, विज्ञान, आयुष्य, पत्र, पुष्प, फल, रस, रूप-सौन्दर्य, बल-वीर्य, समस्त सुखद-सुन्दर वस्तुओं और शारीरिक शक्ति एवं स्थिति का क्रमशः ह्रास ही ह्रास होता चला जायगा। असमय में वर्षा होगी, समय पर वर्षा नहीं होगी। इस प्रकार के ह्रासोन्मुख, क्षीणपुण्य वाले कालप्रवाह में जिन मनुष्यों की रुचि धर्म में रहेगी उन्हीं का जीवन सफल होगा।"

भगवान् ने फिर फरमाया – "इस दुषमा नामक पंचम आरे के अन्त में दुःप्रसह आचार्य, फल्गुश्री साध्वी, नागिल श्रावक और सत्यश्री श्राविका इन चारों का चातुर्विध संघ शेष रहेगा। इस भारतवर्ष का अन्तिम राजा विमलवाहन और अन्तिम मंत्री सुमुख होगा।"

"इस प्रकार पंचम आरे के अन्त में मनुष्य का शरीर दो हाथ की ऊंचाई वाला होगा और मानव की अधिकतम आयु बीस वर्ष की होगी। दुःप्रसह आचार्य, फल्गुश्री साध्वी, नागिल श्रावक और सत्यश्री श्राविका के समय में बड़े से बड़ा तप बेला (षष्ठभक्त) होगा। उस समय में दशवैकालिक सूत्र को जानने वाला चतुर्दश पूर्वधर के समान ज्ञानवान् समझा जायगा। आचार्य दुःप्रसह अन्तिम समय तक चतुर्विध संघ को प्रतिबोध करते रहेंगे। अन्तिम समय में आचार्य दुःप्रसह संघ को सूचित करेंगे कि अब धर्म नहीं रहा तो संघ उन्हें संघ से बहिष्कृत कर देगा। दुःप्रसह बारह वर्ष तक गृहस्थ पर्याय में रहेंगे और आठ वर्ष तक मुनिधर्म का पालन कर तेले के अनशनपूर्वक आयुष्य पूर्ण कर सौधर्मकल्प में देव रूप से उत्पन्न होंगे।"

पंचम आरक की समाप्ति के दिन गणधर्म, पाखण्डधर्म, राजधर्म, चारित्रधर्म और अग्नि का विच्छेद हो जायगा। पूर्वाह्न में चारित्र धर्म का, मध्याह्न में

राजधर्म का और अपराह्न में अग्नि का इस भरतक्षेत्र की धरा से समूलोच्छेद हो जायगा।"[1]

छट्ठे आरे के समय में भरत क्षेत्र की सर्वतोमुखी स्थिति के सम्बन्ध में गौतम के प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् महावीर ने फरमाया[2] – "गौतम ! पंचम आरक की समाप्ति के बाद वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श के अनन्त पर्यवों के ह्रास को लिये हुए २१००० वर्ष का दुषमा-दुषम नामक छट्ठा आरक प्रारम्भ होगा। उस छट्ठे आरे में दशों दिशाएं हाहाकार, भांय-भांय (भंभाकार) और कोलाहल से व्याप्त होंगी। समय के कुप्रभाव के कारण अत्यन्त तीक्ष्ण, कठोर, धूलिमिश्रित, नितान्त असह्य एवं व्याकुल कर देने वाली भयंकर आंधियां एवं तृण काष्ठादि को उड़ा देने वाली संवर्तक हवाएं चलेंगी। समस्त दिशाएं निरन्तर चलने वाले अन्धड़ों व तूफानों के कारण धूमिल तथा अन्धकारपूर्ण रहेंगी। समय की रूक्षता के कारण चन्द्रमा अत्यधिक शीतलता प्रकट करेगा और सूर्य अत्यधिक उष्णता।"

"तदनन्तर रसरहित–अरस मेघ, विपरीत रस वाले–विरस मेघ, क्षार–मेघ, विष मेघ, अम्ल मेघ, अग्नि मेघ, विद्युत् मेघ, वज्र मेघ, विविध रोग एवं पीड़ाएं बढ़ाने वाले मेघ प्रचण्ड हवाओं से प्रेरित हो बड़ी तीव्र एवं तीक्ष्ण धाराओं से वर्षा करेंगे। इस प्रकार की तीव्र एवं प्रचुर अतिवृष्टियों के कारण भरतक्षेत्र के ग्राम, नगर, आगर, खेड़े, कव्वड़, मडंब, द्रोणमुख, पत्तन, समग्र जनपद, चतुष्पद, गौ आदि पशु, पक्षी, गांवों और वनों के अनेक प्रकार के द्विन्द्रियादिक त्रस प्राणी, वृक्ष, गुच्छ, गुल्म, लता, वल्ली, प्रवाल, अंकुर, तृण-वनस्पति, बादर वनस्पति, सूक्ष्म वनस्पति, औषधि, वैताढ्य पर्वत को छोड़कर सब पर्वत, गिरि, डूंगर, टीबे, गंगा और सिन्धु को छोड़कर सब नदियां, झरणे, विषम गड्ढे आदि विनष्ट हो जायेंगे। भूमि सम हो जायगी।"

"उस समय समस्त भरतक्षेत्र की भूमि अंगारमय, चिनगारियों के समान, राख तुल्य, अग्नि से तपी हुई वालुका के समान तथा भीषण ताप के कारण अग्नि की ज्वाला के समान दाहक होगी। धूलि, रेणु, पंक एवं धसानवाले दलदलों के बाहुल्य के कारण पृथ्वी पर चलने वाले प्राणी भूमि पर इधर-उधर बड़ी ही कठिनाई से चल-फिर सकेंगे।"

छट्ठे आरक में मनुष्य अत्यन्त कुरूप, दुर्वर्ण, दुर्गन्धयुक्त, दुखद रस एवं स्पर्श वाले अनिष्ट, चिन्तन मात्र से दुखद, हीन-दीन, कर्णकटु अत्यन्त कर्कश स्वर वाले, अनादेय–अशुभ भाषण करने वाले, निर्लज्ज, झूठ-कपट-कलह, वध-बन्ध और वैरपूर्ण जीवन वाले, मर्यादा का उल्लंघन करने में सदा अग्रणी, कुकर्म करने के लिये सदा उद्यत, आज्ञापालन, विनयादि से रहित, विकलांग, बढ़े हुए रूक्ष नख, केश, दाढ़ी-मूछ व रोमावली वाले, काल के समान काले-कलूठे, फटी हुई

---

[1] स्थानांग और त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र के आधार पर।
[2] भ०श०, श० ७, उ० ६।

दाड़िम के समान ऊबड़-खाबड़ सिर वाले, रूक्ष, पीले पके हुए बालों वाले, मांसपेशियों से रहित व चर्मरोगों के कारण विरूप, प्रथम आयु में ही बुढ़ापे से घिरे हुए, सिकुड़ी हुई सलदार चमड़ी वाले, उड़े हुए बाल और टूटे हुए दांतों के कारण घड़े के समान मुख वाले, विषम आंखों वाले, टेढ़ी नाक, भौंहें व नेत्र आदि के कारण बीभत्स मुख वाले, खुजली कुष्ठ आदि के कारण उधड़ी हुई चमड़ी वाले, कसरे व खसरे के कारण तीखे नखों से निरन्तर शरीर को खुजलाते रहने के कारण घाव वाले, विकृत शरीर वाले, ऊबड़-खाबड़ अस्थिसंधियों एवं असम अंगों के कारण विकृत आकृति वाले, दुर्बल, कुसंहनन कुप्रमाण व खराब संस्थान के कारण अत्यन्त कुरूप, कुत्सित स्थान, शय्या और खानपान वाले, अशुचि के भण्डार, अनेक व्याधियों से पीड़ित, स्खलित एवं विह्वल गति वाले, निरुत्साही, सत्त्वहीन, विकृत चेष्टावाले, तेजहीन, निरन्तर शीत, ताप और उष्ण, रूक्ष एवं कठोर वायु से पीड़ित, धूलिधूसरित मलीन अंग वाले, अपार क्रोध, मान, माया, लोभ एवं मोह वाले, दुखानुबन्धी दुःख के भोगी, अधिकांशतः धर्म-श्रद्धा एवं सम्यक्त्व से भ्रष्ट होंगे।"

"उन मनुष्यों का शरीरमान अधिक से अधिक एक हाथ के बराबर होगा, उनकी अधिक से अधिक आयु १६ अथवा २० वर्ष की होगी, बहुतसे पुत्रों, न्यातियों और पौत्रों आदि के परिवार के स्नेहपाश में वे लोग प्रगाढ़ रूप से बंधे रहेंगे।"

"वैताढ्य गिरि के उत्तर-दक्षिण में गंगा एवं सिन्धु नदियों के तटवर्ती ७२ बिलों में, अर्थात् उत्तरार्द्ध भरत में गंगा और सिन्धु नदी के तटवर्ती ३६ बिलों में तथा उसी प्रकार वैताढ्य गिरि के दक्षिण में अर्थात् दक्षिणार्द्ध भरत में गंगा एवं सिन्धु नदियों के तटवर्ती ३६ बिलों में केवल बीज रूप में मनुष्य एवं पशु-पक्षी आदि प्राणी रहेंगे।"

"उस समय गंगा एवं सिन्धु नदियों का प्रवाह केवल रथ-पथ के बराबर रह जायगा और पानी की गहराई रथचक्र की धुरी के बराबर होगी। दोनों नदियों के पानी में मछलियों और कछुओं का बाहुल्य होगा और पानी कम होगा। सूर्योदय और सूर्यास्त वेला में वे लोग बिलों के अन्दर से शीघ्र गति से निकलेंगे। इन नदियों में से मछलियों और कछुओं को पकड़ कर तटवर्ती बालू मिट्टी में गाड़ देंगे। रात्रि की कड़कड़ाती सर्दी और दिन की चिलचिलाती धूप में वे मिट्टी में गाड़ी हुई मछलियां और कछुए पक कर उनके खाने योग्य हो जायेंगे।"

"इस तरह २१,००० वर्ष के छट्ठे आरे में मनुष्य केवल मछलियों और कछुओं से अपना उदर-भरण करेंगे।"

"उस समय के निश्शील, निर्व्रत, गुणविहीन, मर्यादारहित, प्रत्याख्यान-पौषध-उपवास आदि से रहित व प्रायः मांसभक्षी मनुष्य प्रायः नरक और तिर्यंच योनियों में उत्पन्न होंगे। इसी प्रकार उस समय के सिंह व्याघ्रादि पशु और ढंक, कंक आदि पक्षी भी प्रायः नरक और तिर्यंच योनियों में उत्पन्न होंगे।"[1]

[1] भगवती शतक, शतक ७, उद्देशा ६।

उत्सर्पिणीकाल

"अवसर्पिणीकाल के दुषमा-दुषम नामक छट्ठे आरे की समाप्ति पर उत्कर्षोन्मुख उत्सर्पिणीकाल प्रारम्भ होगा। उस उत्सर्पिणीकाल में अवसर्पिणी-काल की तरह छह आरे प्रतिलोम रूप से (उल्टे क्रम से) होंगे।"

"उत्सर्पिणी काल का दुषमा-दुषम नामक प्रथम आरक अवसर्पिणीकाल के छट्ठे आरे की तरह २१ हजार वर्ष का होगा। उसमें सब स्थिति उसी प्रकार की रहेगी जिस प्रकार की कि अवसर्पिणीकाल के छट्ठे आरे में रहती है।"

"उस प्रथम आरक की समाप्ति पर जब २१ हजार वर्ष का दुषम नामक दूसरा आरा प्रारम्भ होगा तव शुभ समय का श्रीगणेश होगा। पुष्कर संवर्तक नामक मेघ निरन्तर सात दिन तक सम्पूर्ण भरतक्षेत्र पर मूसलधार रूप में बरस कर पृथ्वी के ताप का हरण करेगा और फिर अन्यान्य मेघों से धान्य एवं औषधियों की उत्पत्ति होगी। इस प्रकार पुष्करमेघ, क्षीरमेघ, घृतमेघ, अमृतमेघ और रस-मेघ सात-सात दिनों के अन्तर से अनवरत बरस कर सूखी धरती की तपन एवं प्यास बुझा कर उसे हरीभरी कर देंगे।"

"भूमि की बदली हुई दशा देखकर गुफावासी मानव गुफाओं से बाहर आयेंगे और हरियाली से लहलहाती सस्यश्यामला धरती को देखकर हर्षविभोर हो उठेंगे। वे लोग आपस में विचारविमर्श कर मांसाहार का परित्याग कर शाका-हारी बनेंगे। वे लोग अपने समाज का नवगठन करेंगे और नये सिरे से ग्राम-नगर आदि बसायेंगे। शनैःशनैः ज्ञान, विज्ञान, कला, शिल्प आदि की अभिवृद्धि होगी।"[1]

२१ हजार वर्ष की अवधि वाले दुषम नामक द्वितीय आरक की समाप्ति पर दुषमा-सुषम नामक तीसरा आरा प्रारम्भ होगा। वह बयालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागर का होगा। उस आरक के तीन वर्ष साढ़े आठ मास वीतने पर उत्सर्पिणीकाल के प्रथम तीर्थंकर का जन्म होगा।

उस तृतीय आरक में २३ तीर्थंकर, ११ चक्रवर्ती, ९ वलदेव, ९ वासुदेव, और ९ प्रतिवासुदेव होंगे। उत्सर्पिणीकाल के इस दुषमा-सुषम नामक आरे में अवसर्पिणीकाल के दुषमा-सुषम नामक चतुर्थ आरे के समान सभी स्थिति होगी।

उत्सर्पिणीकाल का सुषमा-दुषम नामक चतुर्थ आरक दो कोड़ाकोड़ी सागर का होगा। इस आरक के आरम्भ में उत्सर्पिणीकाल के चौवीसवें तीर्थंकर और वारहवें चक्रवर्ती होंगे।[2]

---

[1] दूसरे आरे में ७ कुलकर होंगे इस प्रकार का उल्लेख 'विविध तीर्थ कल्प' के '२१ अपापा वृहत्कल्प' में है। स्थानांग में भी प्रथम तीर्थंकर को कुलकर का पुत्र बताया है।

[2] एक मान्यता यह भी है कि उत्सर्पिणीकाल के चतुर्थ आरक के प्रारम्भ में कुलकर होते हैं। यथा :

"अण्णे पढंति। तिस्सेणं समाए पढमे तिभाये इमे पण्णरस कुलगरा समुप्पज्जिस्संति......
[जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, वक्ष० २, प० १६४, शान्तिचन्द्र गणि]

इस चतुर्थ आरक का एक करोड़ पूर्व से कुछ अधिक समय बीत जाने पर कल्पवृक्ष उत्पन्न होंगे और तब यह भरतभूमि पुनः भोगभूमि बन जायगी।

उत्सर्पिणीकाल के सुषम और सुषमा-सुषम नामक क्रमशः पांचवें और छठे आरों में अवसर्पिणी के प्रथम दो आरों के समान ही समस्त स्थिति रहेगी।

इस प्रकार अवसर्पिणी और उत्सर्पिणीकाल के छः-छः आरों को मिलाकर कुल बीस कोड़ाकोड़ी सागर का एक कालचक्र होता है।"

गौतम गणधर ने भगवान् से एक और प्रश्न किया – "भगवन् ! आपके निर्वाण के पश्चात् मुख्य-मुख्य घटनाएं क्या होंगी ?"

उत्तर में प्रभु ने फरमाया – "गौतम ! मेरे मोक्ष-गमन के तीन वर्ष साढ़े आठ मास पश्चात् दुषम नामक पांचवां आरा लगेगा। मेरे निर्वाण के चौंसठ (६४) वर्ष पश्चात् अन्तिम केवली जम्बू सिद्ध गति को प्राप्त होंगे। उसी समय मनःपर्यवज्ञान, परम अवधिज्ञान, पुलाकलब्धि, आहारक शरीर, क्षपकश्रेणी, उपशमश्रेणी, जिनकल्प, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसंपराय, यथाख्यातचारित्र, केवलज्ञान, और मुक्तिगमन इन बारह स्थानों का भरतक्षेत्र से विलोप हो जायगा।"

"मेरे निर्वाण के पश्चात् मेरे शासन में पंचम आरे के अन्त तक २००४ युगप्रधान आचार्य होंगे। उनमें प्रथम आर्य सुधर्मा और अन्तिम दुःप्रसह होंगे।"

"मेरे निर्वाण के १७० वर्ष पश्चात् आचार्य भद्रबाहु के स्वर्गारोहण के अनन्तर अन्तिम चार पूर्व, समचतुरस्र संस्थान, वज्रऋषभनाराच संहनन और महाप्राणध्यान इन चार चीजों का भरतक्षेत्र से उच्छेद हो जायगा।"

"मेरे निर्वाण के ५०० वर्ष पश्चात् आचार्य आर्य वज्र के समय में दसवां पूर्व और प्रथम संहनन-चतुष्क समाप्त हो जायेंगे।"

"मेरे मोक्षगमन के अनन्तर पालक, नन्द, चन्द्रगुप्त आदि राजाओं के अवसान के पश्चात् अर्थात् मेरे निर्वाण के ४७० वर्ष बीत जाने पर विक्रमादित्य नामक राजा होगा। पालक का राज्यकाल ६० वर्ष, (नव) नन्दों का राज्यकाल १५५ वर्ष, मौर्यों का १०८ वर्ष, पुष्यमित्र का ३० वर्ष, बलमित्र व भानुमित्र का राज्यकाल ६० वर्ष, नरवाहन का ४० वर्ष, गर्दभिल्ल का १३ वर्ष, शक का राज्यकाल ४ वर्ष और उसके पश्चात् विक्रमादित्य का शासन होगा। सज्जन और स्वर्णपुरुष विक्रमादित्य पृथ्वी का निष्कंटक राज्य कर अपना संवत् चलायेगा।"

"मेरे निर्वाण के ४५३ वर्ष पश्चात् गर्दभिल्ल के राज्य का अन्त करने वाला कालकाचार्य होगा।"[1]

"विशेष क्या कहा जाय, बहुत से साधु भांडों के समान होंगे, पूर्वाचार्यों से परम्परागत चली आ रही समाचारी का परित्याग कर अपनी कपोलकल्पना के

---

[1] तह गद्दभिल्लरज्जस्स ठायगो कालगारियो होही।
तेवण चउसएहिं, गुणसयकलिओ सुयपउत्तो ॥

अनुसार समाचारी और चारित्र के नियम बना-बना कर उस समय के अल्पज्ञ मनुष्यों को विमुग्ध कर आगम के विपरीत प्ररूपणा करते हुए आत्मप्रशंसा और परनिन्दा में निरत रहेंगे। विपुल आत्मबल वालों की कोई पूछ नहीं रहेगी और आत्मबलविहीन लोग पूजनीय बनेंगे।"[1]

"इस प्रकार अनन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी रूप इस संसारचक्र में धर्माराधन करने वाले ही वस्तुतः कालचक्र को पार कर सिद्धि प्राप्त कर पायेंगे।"

भगवान् के द्वारा इस तरह संसार-भ्रमण और दुखों की भयंकरता का विवरण सुन हस्तिपाल आदि अनेकों भव्य आत्माओं ने निर्ग्रन्थ धर्म की शरण ली।

इस वर्ष निर्ग्रन्थ प्रवचन का प्रचुर प्रचार एवं विस्तार हुआ[2] और अनेक भव्यात्माओं ने निर्ग्रन्थ धर्म की श्रमण-दीक्षा स्वीकार की।

इस प्रकार वर्षाकाल के तीन महीने बीत गये। चौथे महीने में कार्तिक कृष्णा अमावस्या के प्रातःकाल 'रज्जुग सभा'[3] में भगवान् के मुखारविन्द से अन्तिम उपदेशामृत की अनवरत वृष्टि हो रही थी। सभा में काशी, कोशल के नौ लिच्छवी, नौ मल्ल एवं अठारह गणराजा भी उपस्थित थे।

शक्र द्वारा आयुवृद्धि की प्रार्थना

प्रभु के मोक्ष समय को निकट जानकर शक्र वन्दन करने को आया और अंजलि जोड़कर बोला – "भगवन्! आपके जन्मकाल में जो उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र था, उस पर इस समय भस्मग्रह संक्रान्त होने वाला है जो कि जन्म-नक्षत्र पर दो हजार वर्ष तक रहेगा। अतः उसके संक्रमणकाल तक आप आयु को बढ़ा लें तो वह निष्फल हो जायेगा।"

भगवान् ने कहा – "इन्द्र! आयु के घटाने-बढ़ाने की किसी में शक्ति नहीं है।[4] यह तो केवल आगामी काल में शासन की जो गति होने वाली है, उसके दिग्दर्शक मात्र हैं।" इस प्रकार इन्द्र की शंका का समाधान कर भगवान् ने उसे संतुष्ट कर दिया।

---

[1] विविध ती० क०, २० कल्प, अभिधान राजेन्द्र, चौथा भाग, पृ० २६०१।

[2] महावीर चरित्र, हेमचन्द्र सूरिकृत।

[3] रज्जुगा–लेहगा, तेसिं सभा रज्जुयसभा, अपरिभुज्जमाण करणसाला।

—कल्पसूत्र, सू० १२२। (टीका)

[4] (क) भयवं कुणह पसायं, विगमह एयंपि ताव खणमेक्कं।
जावेस भासरासिस्स, नूणमुदओ अवक्कमइ ॥१॥ महावीर च०, प्रस्ता० ८, प० ३३८।

(ख) अह जय गुरुणा भणियं सुरिंद, तीयाइतिविहकालेऽवि।
नो भूयं न भविस्सइ न हवइ नूणं इमं कज्जं।
जं आऊकम्म विगमेऽवि, कोऽवि अच्छेज्ज समयमेत्तमवि।
अच्चंताणंतविसिट्ठसत्तिपब्भारजुत्तोऽवि।

परिनिर्वाण

भगवान् महावीर का कार्तिक कृष्णा अमावस्या की पिछली रात्रि में निर्वाण हुआ उस समय तक सोलह प्रहर जितने दीर्घकाल पर्यंत प्रभु अनन्त वली होने के कारण बिना खेद के प्रवचन करते रहे। प्रभु ने अपनी इस अन्तिम देशना में पुण्यफल के पचपन अध्ययनों का और पापफल विपाक के पचपन अध्ययनों का कथन किया[1], जो वर्तमान में सुख विपाक और दुख विपाक नाम से विपाक सूत्र के दो खंडों में प्रसिद्ध हैं। भगवान् महावीर ने इस अन्तिम देशना में अपृष्ट व्याकरण के छत्तीस अध्ययन भी कहे[2], जो वर्तमान में उत्तराध्ययन सूत्र के रूप में प्रख्यात है। सैंतीसवां प्रधान नामक मरुदेवी का अध्ययन फरमाते-फरमाते भगवान् पर्यंकासन में स्थिर हो गये।[3] भगवान् ने वादर काययोग में स्थित रह क्रमशः बादर मनोयोग और बादर वचन योग का निरोध किया, फिर सूक्ष्म काययोग में स्थित रह वादर काययोग को रोका, वाणी और मन के सूक्ष्म योग को रोका। शुक्लध्यान के सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाती तीसरे चरण को प्राप्त कर सूक्ष्म काययोग का निरोध किया और समुच्छिन्न क्रिया अनिवृत्ति नाम के चौथे चरण में पहुँच अ, इ, उ, ऋ और लृ इन पांच अक्षरों को उच्चारण करें जितने काल तक शैलेशी-दशा में रहकर चार अघातिकर्मों का क्षय किया और सिद्ध, बुद्ध, मुक्त अवस्था को प्राप्त हो गये।[4]

उस समय वर्षाकाल का चौथा मास और सातवां पक्ष अर्थात् कार्तिक कृष्ण पक्ष की चरम रात्रि अमावस्या थी।

निर्वाणकाल में प्रभु महावीर छट्ठभक्त (बेले) की तपस्या से सोलह प्रहर तक देशना करते रहे।[5] देशना के मध्य में कई प्रश्न और चर्चाएं भी हुईं।

प्रभु महावीर ने अपना निर्वाण-समय सन्निकट जान प्रथम गणधर इन्द्रभूति को, देवशर्मा नामक ब्राह्मण को प्रतिबोध देने के लिए अन्यत्र भेज दिया। अपने चिर-अन्तेवासी गौतम को दूर भेजने का कारण यह था कि भगवान् के निर्वाण के समय गौतम अधिक स्नेहाकुल न हों। इन्द्रभूति ने भगवान् की आज्ञा के अनुसार देव शर्मा को प्रतिबोध दिया। प्रतिबोध देने के पश्चात् वे प्रभु के पास लौटना चाहते थे पर रात्रि हो जाने के कारण लौट नहीं सके। अर्द्धरात्रि के पश्चात् उन्हें भगवान् के निर्वाण का संवाद मिला। भगवान् के निर्वाण का सुनते ही इन्द्रभूति अति खिन्न हो गये और स्नेह विह्वल हो कहने लगे :- "भगवन्!

---

१ (क) समवा०, ५५वां समवाय
(ख) कल्पसूत्र, १४७ सू०

२ (क) कल्पसूत्र, १४७ सू०
(ख) उत्तराध्ययन चूर्णि, पत्र २८३।

३ संपलिअंकं निसण्णे......। समवायांग।

४ कल्पसूत्र, सू० १४७।

५ सौभाग्य पंचम्यादि पर्वकथा संग्रह, पृ० १००। "षोडश प्रहरान् यावद् देशनां दत्तवान्।"

यह क्या ? आपने मुझे इस अन्तिम समय में अपने से दूर क्यों किया ! क्या मैं आपको मोक्ष जाने से रोकता था, क्या मेरा स्नेह सच्चा नहीं था, अथवा क्या मैं आपके साथ होकर मुक्ति में आपका स्थान रोकता ? अब मैं किसके चरणों में प्रणाम करूंगा और कहां अपनी मनोगत शंकाओं का समाधान प्राप्त करूंगा ? प्रभो ! अब मुझे "गौतम" "गौतम" कौन कहेगा ?" इस प्रकार भावना-प्रवाह में बहते बहते गौतम ने स्वयं को सम्हाला और विचार किया—"अरे ! यह मेरा कैसा मोह ? भगवान् तो वीतराग हैं, उनमें कैसा स्नेह ! यह तो मेरा एकपक्षीय मोह है। क्यों नहीं मैं भी प्रभुचरणों का अनुगमन करूं, इस नश्वर जगत् के दृश्यमान पदार्थों में मेरा कौन है ?" इस प्रकार चिन्तन करते हुए उसी रात्रि के अन्त में स्थितप्रज्ञ हो गौतम ने क्षण भर में केवलज्ञान के अक्षय आलोक को प्राप्त कर लिया।[1] वे त्रिकालदर्शी हो गये।

गौतम के लिये कहा जाता है कि एक बार अपने से छोटे साधुओं को केवलज्ञान से विभूषित देखकर उनके मन में बड़ी चिन्ता उत्पन्न हुई और वे सोचने लगे कि उन्हें अभी तक केवलज्ञान किस कारण से प्राप्त नहीं हुआ है।

घट-घट के अन्तर्यामी प्रभु महावीर ने अपने प्रमुख शिष्य गौतम की उस चिन्ता को समझ कर कहा—"गौतम ! तुम्हारा मेरे प्रति प्रगाढ़ स्नेह है। अनेक भवों से हम एक दूसरे के साथ रहे हैं। यहां से आयु पूर्ण कर हम दोनों एक ही स्थान पर पहुँचेंगे और फिर कभी एक दूसरे से विलग नहीं होंगे। मेरे प्रति तुम्हारा यह धर्मस्नेह ही तुम्हारे लिये केवलज्ञान की प्राप्ति को रोके हुए है। तुम्हें केवलज्ञान की प्राप्ति अवश्य होगी।"

प्रभु का अन्तिम निर्णय सुनकर गौतम उस समय अत्यन्त प्रसन्न हुए थे।

भगवान् के निर्वाण के समय समवसरण में उपस्थित गण-राजाओं ने भावभीने हृदय से कहा – "अहो ! आज संसार से वस्तुतः भाव उद्योत उठ गया, अब द्रव्य प्रकाश करेंगे।"

कार्तिक कृष्णा अमावस्या की जिस रात को श्रमण भगवान् महावीर काल-धर्म को प्राप्त हुए, जन्म, जरा-मरण के सब बन्धनों को नष्ट कर सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हुए, उस समय चन्द्र नाम का सम्वत्सर, प्रीतिवर्द्धन नाम का मास और नन्दिवर्द्धन नाम का पक्ष था। दिन का नाम 'अग्निवेश्म' या 'उपशम' था। देवानन्दा रात्रि और अर्थ नाम का लव था। मुहूर्त नाम का प्राण और सिद्ध नाम का स्तोक था। नागकरण और सर्वार्थसिद्ध मुहूर्त में स्वाति-नक्षत्र के योग में भगवान् षष्ठ-भक्त के तप में पर्यंकासन से विराजमान थे।

---

[1] जं रयणिं च णं समणे भगवं महावीरे कालगए जाव सव्वदुक्ख पहीणे तं रयणिं च णं जेट्ठस्स गोयमस्स इंदभूइस्स······केवलवरनाणदंसणे समुप्पन्ने।

[कल्पसूत्र, सूत्र १२६ — सिवाना संस्करण]

देवादिकृत शरीर-क्रिया

भगवान् का निर्वाण हुआ जान कर स्वर्ग से शक्र आदि इन्द्र और सहस्रों देव-देवियां तथा जनगण आये और अश्रुपूर्ण नयनों से भगवान् के पार्थिव शरीर को शिविका में विराजमान कर चितास्थान पर ले गये। वहां देवनिर्मित गोशीर्ष चन्दन की चिता में प्रभु के शरीर को रखा। अग्निकुमार द्वारा अग्नि प्रज्वलित की गई और वायुकुमार ने वायु संचरित कर सुगन्धित पदार्थों के साथ प्रभु के शरीर की दाह-क्रिया सम्पन्न की। फिर मेघकुमार ने जल बरसा कर चिता शान्त की।

निर्वाणकाल में उपस्थित अठारह गण-राजाओं ने अमावस्या के दिन पौषध, उपवास किया और प्रभु के निर्वाणान्तर भाव उद्योत के उठ जाने से महावीर के ज्ञान के प्रतीक रूप से संस्मरणार्थ द्रव्य-प्रकाश करने का निश्चय किया। कहते हैं, उस दिन जो दीप जला कर प्रकाश किया गया तब से दीपावली पर्व प्रारम्भ हुआ, जो कार्तिक कृष्णा अमावस्या को प्रति वर्ष बड़ी धूम-धाम के साथ आज भी मनाया जाता है।[1]

भगवान् महावीर की आयु

श्रमण भगवान् महावीर तीस वर्ष गृहवास में रहे। साधिकद्वादश वर्ष छद्मस्थ-पर्याय में साधना की और कुछ कम तीस वर्ष केवली रूप से विचरे। इस तरह सम्पूर्ण बयालीस वर्ष का संयम पाल कर बहत्तर वर्ष की पूर्ण आयु में मुक्त हुए। समवायांग में भी बहत्तर वर्ष का सब आयु भोग कर सिद्ध होने का उल्लेख है।[2] छद्मस्थ पर्याय का कालमान स्थानांग में निम्न प्रकार से स्पष्ट किया गया है – बारह वर्ष और तेरह पक्ष छद्मस्थ पर्याय का पालन किया और १३ पक्ष कम ३० वर्ष केवली पर्याय में रहे।[3] पूर्ण आयु सब में बहत्तर वर्ष मानी गई है।

भगवान् महावीर के चातुर्मास

श्रमण भगवान् महावीर ने अस्थिग्राम में प्रथम चातुर्मास किया। चम्पा और पृष्ठ चम्पा में तीन (३) चातुर्मास किये। वैशाली नगरी और वाणिज्य ग्राम में प्रभु के बारह (१२) चातुर्मास हुए। राजगृह और उसके उपनगर नालंदा में

---

[1] (क) गते से भावुज्जोये दव्वुज्जोयं करिस्सामो ॥ कल्प सू., सू० १२७ (शिवाना सं.)
(ख) ततस्तु लोकः प्रतिवर्षमादराद्, प्रसिद्ध दीपावलिकात्र भारते।
– त्रि०, १० प० १३ स० १४८ श्लो० (हरिवंश)
(ग) एवं सुरगणपहामुज्जयं तस्सि दिणे सयलं महीमंडलं दट्ठूण तहच्चेव कीरमाणे जणवएण 'दीवोसवो' त्ति पासिद्धि गओ। च. म., पृ. ३३४।

[2] समवायांग, समवाय ७२

[3] स्थानांग, ६ स्था० ३ उ० सू० ६९३। दुवालस संवच्छराइं तेरस पक्ख छउमत्थ०॥ (अमोलक ऋषि द्वारा अनुदित, पृष्ठ ८१९)

चौदह (१४) चातुर्मास हुए। मिथिला नगरी में भगवान् ने छह (६) चातुर्मास किये। भद्दिया नगरी में दो, आलंभिका और सावत्थी में एक एक चातुर्मास हुआ। वज्रभूमि (अनार्य) में एक चातुर्मास और पावापुरी में एक अंतिम इस प्रकार कुल बयालीस चातुर्मास किये।

भगवान् महावीर का धर्म-परिवार

भगवान् महावीर के चतुर्विध संघ में निम्नलिखित धर्म-परिवार था :–

गणधर एवं गण – गौतम इन्द्रभूति आदि ग्यारह (११) गणधर और नव (९) गण

केवली	–	सात सौ (७००)
मनःपर्यवज्ञानी	–	पांचसौ (५००)
अवधिज्ञानी	–	तेरह सौ (१,३००)
चौदह पूर्वधारी	–	तीन सौ (३००)
वादी	–	चार सौ (४००)
वैक्रिय लब्धिधारी	–	सात सौ (७००)
अनुत्तरोपपातिक मुनि	–	आठ सौ (८००)
साधु	–	चौदह हजार (१४,०००)
साध्वियाँ	–	चन्दना आदि छत्तीस हजार (३६,०००)
श्रावक	–	शंख आदि एक लाख उनसठ हजार (१,५९,०००)
श्राविकाएं	–	सुलसा, रेवती प्रभृति तीन लाख अठारह हजार (३,१८,०००)

भगवान् महावीर के शासन में सात सौ साधुओं और चौदह सौ साध्वियों ने निर्वाण प्राप्त किया। यह तो केवल व्रतधारियों का ही परिवार है। इनके अतिरिक्त प्रभु के लाखों भक्त थे।

गणधर

श्रमण भगवान् महावीर के धर्म-परिवार में नौ गण और ग्यारह गणधर थे जो इस प्रकार हैं – (१) इन्द्रभूति, (२) अग्निभूति (३) वायुभूति, (४) व्यक्त, (५) सुधर्मा, (६) मंडित, (७) मौर्यपुत्र, (८) अकम्पित, (९) अचलभ्राता, (१०) मेतार्य और (११) श्री प्रभास।[1] ये सभी गृहस्थ-जीवन में विभिन्न क्षेत्रों के निवासी जातिमान् ब्राह्मण थे। मध्यम पावा के सोमिल ब्राह्मण का आमन्त्रण पाकर अपने-अपने छात्रों के साथ ये वहां के यज्ञ में आये हुए थे। केवलज्ञान प्राप्त हो जाने पर भगवान् भी पावापुरी पधारे और यज्ञ-स्थान के उत्तर भाग में विराजमान हुए। इन्द्रभूति आदि विद्वान् भी समवशरण

[1] समवायांग, समवाय ११।

की महिमा से आकर्षित हो भगवान् की सेवा में आये और अपनी-अपनी शंकाओं का समाधान पाकर वैशाख शुक्ला एकादशी के दिन अपने शिष्य-मंडल के साथ भगवान् महावीर के चरणों में दीक्षित हुए। त्रिपदी का ज्ञान प्राप्त कर इन्होंने चतुर्दश पूर्व की रचना की और गणधर कहलाये। उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है –

१. इन्द्रभूति

प्रथम गणधर इन्द्रभूति मगध देश के अन्तर्गत 'गोबर' ग्रामवासी गौतम गोत्रीय वसुभूति ब्राह्मण के पुत्र थे। इनकी माता का नाम पृथ्वी था। ये वेद-वेदान्त के पाठी थे। महावीर स्वामी के पास आत्मा विषयक संशय की निवृत्ति पाकर ये पांच सौ छात्रों के साथ दीक्षित हुए।

दीक्षा के समय इनकी अवस्था ५० वर्ष की थी। इनका शरीर सुन्दर, सुडौल और सुगठित था। महावीर के चौदह हजार साधुओं में मुख्य होकर भी आप बड़े तपस्वी थे। आपका विनय गुण भी अनुपम था। भगवान् के निर्वाण के बाद आपने केवलज्ञान प्राप्त किया। तीस वर्ष तक छद्मस्थ-भाव में रहने के पश्चात् फिर बारह वर्ष केवली-पर्याय में विचरे। आयुकाल निकट देखकर अन्त में आपने गुणशील चैत्य में एक मास के अनशन से निर्वाण प्राप्त किया। इनकी पूर्ण आयु बराणवें वर्ष की थी।

२. अग्निभूति

दूसरे गणधर अग्निभूति इन्द्रभूति के मझले सहोदर थे। 'पुरुषाद्वैत' की शंका दूर होने पर इन्होंने भी पांच सौ छात्रों के साथ ४६ वर्ष की अवस्था में श्रमण भागवान् महावीर की सेवा में मुनि-धर्म स्वीकार किया और बारह वर्ष तक छद्मस्थ-भाव में रह कर केवलज्ञान प्राप्त किया। सोलह वर्ष केवली-पर्याय में रहकर इन्होंने भगवान् के जीवनकाल में ही गुणशील चैत्य में एक मास के अनशन से मुक्ति प्राप्त की। इनकी पूर्ण आयु चौहत्तर वर्ष की थी।[1]

३. वायुभूति

तीसरे गणधर वायुभूति भी इन्द्रभूति तथा अग्निभूति के छोटे सहोदर थे। इन्द्रभूति की तरह इन्होंने भी 'तज्जीव तच्छरीर-वाद' को छोड़ कर भगवान् महावीर से भूतातिरिक्त आत्मा का बोध पाकर पांच सौ छात्रों के साथ प्रभु की सेवा में दीक्षा ग्रहण की। उस समय इनकी अवस्था बयालीस वर्ष की थी। दस वर्ष छद्मस्थभाव में साधना करके इन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया और ये अठारह वर्ष तक केवली रूप से विचरते रहे। भगवान् महावीर के निर्वाण से दो वर्ष पहले एक मास के अनशन से इन्होंने भी सत्तर (७०) वर्ष की अवस्था में गुणशील चैत्य में सिद्धि प्राप्त की।

[1] आवश्यक निर्युक्ति, गाथा ६५८, पृ० १२३ (१)

४. आर्य व्यक्त

चौथे गणधर आर्य व्यक्त कोल्लाग सन्निवेश के भारद्वाज गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनकी माता का नाम वारुणी और पिता का नाम धनमित्र था। इन्हें शंका थी कि ब्रह्म के अतिरिक्त सारा जगत् मिथ्या है। भगवान् महावीर से अपनी शंका का सम्यक् समाधान पाकर इन्होंने भी पांच सौ छात्रों के साथ पचास वर्ष की वय में प्रभु के पास श्रमण-दीक्षा ग्रहण की। बारह वर्ष तक छद्मस्थ साधना करके इन्होंने भी केवलज्ञान प्राप्त किया और अठारह वर्ष तक केवली-पर्याय में रहकर भगवान् के जीवनकाल में ही एक मास के अनशन से गुणशील चैत्य में अस्सी वर्ष की वय में सकल कर्म क्षय कर मुक्ति प्राप्त की।

५. सुधर्मा

पंचम गणधर सुधर्मा 'कोल्लाग' सन्निवेश के अग्नि वेश्यायन गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनकी माता का नाम भद्दिला और पिता का नाम धम्मिल था। इन्होंने भी जन्मान्तर विषयक संशय को मिटाकर भगवान् के चरणों में पांच सौ छात्रों के साथ दीक्षा ग्रहण की। ये ही भगवान् महावीर के उत्तराधिकारी आचार्य हुए। ये वीर निर्वाण के बीस वर्ष बाद तक संघ की सेवा करते रहे। अन्यान्य सभी गणधरों ने दीर्घजीवी समझ कर इनको ही अपने-अपने गण संभला दिये थे। आप ५० वर्ष गृहवास में एवं ४२ वर्ष छद्मस्थ-पर्याय में रहे और ८ वर्ष केवली रूप से धर्म का प्रचार कर १०० वर्ष की पूर्ण आयु में राजगृह नगर में मोक्ष पधारे।

६. मंडित

छठे गणधर मंडित मौर्य सन्निवेश के वसिष्ठ गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम धनदेव और माता का नाम विजया देवी था। भगवान् महावीर से आत्मा का संसारित्व समझ कर इन्होंने भी गौतम आदि की तरह तीन सौ पचास ३५० छात्रों के साथ श्रमण-दीक्षा ग्रहण की। दीक्षाकाल में इनकी अवस्था तिरेपन वर्ष की थी। चौदह वर्ष साधना कर सतसठ (६७) वर्ष की अवस्था में इन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया। भगवान् के निर्वाण-पूर्व इन्होंने भी सोलह वर्ष केवली-पर्याय में रह कर तिरासी (८३) वर्ष की अवस्था में गुणशील चैत्य में अनशनपूर्वक मुक्ति प्राप्त की।

७. मौर्यपुत्र

सातवें गणधर मौर्यपुत्र मौर्य सन्निवेश के काश्यप गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम मौर्य और माता का नाम विजया देवी था। देव और देव-लोक सम्बन्धी शंका की निवृत्ति होने पर इन्होंने भी तीन सौ पचास (३५०) छात्रों के साथ पैंसठ वर्ष की वय में श्रमण दीक्षा स्वीकार की। १४ वर्ष छद्मस्थ भाव में रहकर उनासी (७९) वर्ष की अवस्था में इन्होंने तपस्या से केवलज्ञान प्राप्त किया और सोलह वर्ष केवली पर्याय में रहकर भगवान् के सामने ही

पचानवें (९५) वर्ष की अवस्था में गुणशील चैत्य में अनशनपूर्वक निर्वाण प्राप्त किया।

८. अकम्पित

आठवें गणधर अकम्पित्त मिथिला के रहने वाले, गौतम गोत्रीय ब्राह्मण थे। आपकी माता का नाम जयन्ती और पिता का नाम देव था। नरक और नारकीय जीव सम्बन्धी संशय-निवृत्ति के बाद इन्होंने भी अड़तालीस वर्ष की अवस्था में अपने तीन सौ शिष्यों के साथ भगवान् महावीर की सेवा में श्रमण-दीक्षा स्वीकार की। ९ वर्ष तक छद्मस्थ रह कर सत्तावन वर्ष की अवस्था में इन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया और इक्कीस वर्ष केवली-पर्याय में रह कर प्रभु के जीवन के अन्तिम वर्ष में गुणशील चैत्य में एक मास का अनशन पूर्ण कर अठहत्तर वर्ष की अवस्था में निर्वाण प्राप्त किया।

९. अचलभ्राता

नवमें गणधर अचलभ्राता कोशला निवासी हारीत गोत्रीय ब्राह्मण थे। आपकी माता का नाम नन्दा और पिता का नाम वसु था। पुण्य-पाप सम्बन्धी अपनी शंका निवृत्ति के बाद इन्होंने भी छयालीस वर्ष की अवस्था में तीन सौ छात्रों के साथ भगवान् महावीर की सेवा में श्रमण दीक्षा स्वीकार की। बारह वर्ष पर्यन्त तीव्र तप एवं ध्यान कर अट्ठावन वर्ष की अवस्था में आपने केवलज्ञान प्राप्त किया और चौदह वर्ष केवली-पर्याय में रह कर बहत्तर वर्ष की वय में एक मास का अनशन कर गुणशील चैत्य में निर्वाण प्राप्त किया।

१०. मेतार्य

दशवें गणधर मेतार्य वत्स देशान्तर्गत तुंगिक सन्निवेश के रहने वाले, कौडिन्य गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनकी माता का नाम वरुणा देवी और पिता का नाम दत्त था। इनको पुनर्जन्म सम्बन्धी शंका थी। भगवान् महावीर से समाधान प्राप्त कर तीन सौ छात्रों के साथ छत्तीस वर्ष की अवस्था में इन्होंने भी श्रमण-दीक्षा स्वीकार की। दश वर्ष की साधना के बाद छियालीस वर्ष की अवस्था में इन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ और सोलह वर्ष केवली-पर्याय में रह कर भगवान् के जीवनकाल में ही बासठ वर्ष की अवस्था में गुणशील चैत्य में इन्होंने निर्वाण प्राप्त किया।

११. प्रभास

ग्यारहवें गणधर प्रभास राजगृह के रहने वाले, कौडिन्य गोत्रीय ब्राह्मण थे। इनकी माता का नाम 'अतिभद्रा' और पिता का नाम बल था। मुक्ति विषयक शंका का प्रभु महावीर द्वारा समाधान हो जाने पर इन्होंने भी तीन सौ शिष्यों के साथ सोलह वर्ष की अवस्था में भगवान् महावीर का शिष्यत्व स्वीकार किया। आठ वर्ष बाद चौबीस वर्ष की अवस्था में इन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ और सोलह वर्ष तक केवली-पर्याय में रह कर चालीस वर्ष की वय में गुणशील

चैत्य में एक मास का अनशन कर इन्होंने भगवान् के. जीवनकाल में ही निर्वाण प्राप्त किया। सबसे छोटी आयु में दीक्षित होकर केवलज्ञान प्राप्त करने वाले ये ही एक गणधर हैं।

ये सभी गणधर जाति से ब्राह्मण और वेदान्त के पारगामी पण्डित थे व सबका संहनन वज्र ऋषभ नाराच तथा समचतुरस्र संस्थान था। दीक्षित होकर सबने द्वादशांग का ज्ञान प्राप्त किया अतः सब चतुर्दश पूर्वधारी एवं विशिष्ट लब्धियों के धारक थे।[1]

एक बहुत बड़ा भ्रम

भगवान् महावीर के छट्ठे गणधर मंडित और सातवें गणधर मौर्यपुत्र के सम्बन्ध में पूर्वकालीन कुछ आचार्यों और वर्तमान काल के कुछ विद्वानों ने यह मान्यता प्रकट की है कि वे दोनों सहोदर थे। उन दोनों की माता एक थी जिसका कि नाम विजयादेवी था। आर्य मण्डित के पिता का नाम धनदेव और आर्य मौर्य-पुत्र के पिता का नाम मौर्य था। आर्य मण्डित को जन्म देने के कुछ काल पश्चात् विजयादेवी ने अपने पति धनदेव का निधन हो जाने पर धनदेव के मौसेरे भाई मौर्य के साथ विवाह कर लिया और मौर्य के साथ दाम्पत्य जीवन बिताते हुए विजयादेवी ने दूसरे पुत्र को जन्म दिया। मौर्य का अंगज होने के कारण बालक का नाम मौर्यपुत्र रखा गया।

आचार्य हेमचन्द्र ने आर्य मण्डित और आर्य मौर्यपुत्र के मातापिता का परिचय देते हुए 'त्रिशष्टि शलाका पुरुष चरित्र' में लिखा है :-

पत्न्यां विजयदेवायां, धनदेवस्य नन्दनः।
मण्डकोऽभूत्तत्र जाते, धनदेवो व्यपद्यत ।।५३
लोकाचारो ह्यसौ तत्रेत्यभार्यो मौर्यकोऽकरोत् ।
भार्यां विजयदेवां तां, देशाचारो हि न ह्रिये ।।५४
क्रमाद् विजयदेवायां मौर्यस्य तनयोऽभवत् ।
स च लोके मौर्यपुत्र इति नाम्नैव पप्रथे ।।५५

[त्रिष० श० पु० च०, प० १०, स० ५]

आचार्य जिनदासगणी ने भी 'आवश्यकचूर्णि' में इन दोनों गणधरों के सम्बन्ध में लिखा है :-

"......तंमि चेव मगहा जणवते मोरिय सन्निवेसे मंडिया मोरिया दो भायरो।"......

[आव० चूर्णि, उपोद्घात, पृ० ३३७]

मुनि श्री रत्नप्रभ विजयजी ने Sramana Bhagwan Mahavira, Vol. V Part I Sthaviravali के पृष्ठ १३६ और १३७ पर मंडित एवं मौर्यपुत्र की माता एक और पिता भिन्न-भिन्न बताते हुए यहां तक लिख दिया है

[1] आव. नि., गाथा ६५८-६६०

कि उस समय मौर्य सन्निवेश में विधवा विवाह निषिद्ध नहीं था। मुनि श्री द्वारा लिखित पंक्तियां यहाँ उद्धृत की जाती हैं–

"Besides Sthavira Mandita and Sthavira Mauryaputra were brothers having one mother Vijayadevi, but have different gotras derived from the gotras of their different fathers-the father of Mandit was Dhanadeva of Vasistha-gotra and the father of Mauryaputra was Maurya of Kasyapa-gotra, as it was not forbidden for a widowed female in that country, to have a re-marriage with another person, after the death of her former husband."

वास्तव में उपरोक्त दोनों गणधरों की माता का एक नाम होने के कारण ही आचार्यों एवं विद्वानों की इस प्रकार की धारणा बनी कि इनकी माता एक थी और पिता भिन्न।

उपर्युक्त दोनों गणधरों के जीवन के सम्बन्ध में जो महत्त्वपूर्ण तथ्य समवायांग सूत्र में दिये हुए हैं उनके सम्यग् अवलोकन से आचार्यों एवं विद्वानों द्वारा अभिव्यक्त की गई उपरोक्त धारणा सत्य सिद्ध नहीं होती।

समवायांग सूत्र की तयासीवीं समवाय में आर्य मंडित की सर्वायु तयासी वर्ष बताई गई है। यथा:

"थेरेणं मंडियपुत्ते तेसीइं वासाइं सव्वाउयं पालइत्ता सिद्धे जावप्पहीणे।"

समवायांग सूत्र की तीसवीं समवाय में आर्य मंडित के सम्बन्ध में स्पष्ट उल्लेख है कि वे तीस वर्ष तक श्रमणधर्म का पालन कर सिद्ध हुए। यथा:

"थेरेणं मंडियपुत्ते तीसं वासाइं सामण्णपरियायं पाउणित्ता सिद्धे बुद्धे जाव सव्वदुक्खप्पहीणे।"

सूत्र के मूल पाठ से यह निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है कि आर्य मंडित ने ५३ वर्ष की अवस्था में भगवान् महावीर के पास दीक्षा ग्रहण की।

आर्य मौर्यपुत्र के सम्बन्ध में समवायांग सूत्र की पैंसठवीं समवाय में लिखा है कि उन्होंने ६५ वर्ष की अवस्था में दीक्षा ग्रहण की। यथा:

"थेरेणं मोरियपुत्ते पणसट्ठिवासाइं आगारमज्झे वसित्ता मुंडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पव्वइये।"

सभी ग्यारहों गणधरों ने एक ही दिन भगवान् महावीर के पास श्रमण-दीक्षा ग्रहण की, यह तथ्य सर्वविदित है। उस दशा में यह कैसे संभव हो सकता है कि एक ही दिन दीक्षा ग्रहण करते समय बड़ा भाई ५३ वर्ष की अवस्था का हो और छोटा भाई ६५ वर्ष का अर्थात् बड़े भाई से उम्र में १२ वर्ष बड़ा हो?

स्वयं मुनि श्री रत्नप्रभ विजयजी ने अपने ग्रंथ Sramana Bhagvan Mahavira, Vol. IV Part I Sthaveravali' के पृष्ठ १२२ और १२४ पर दीक्षा के दिन आर्य मंडित की अवस्था ५३ वर्ष और आर्य मौर्यपुत्र की अवस्था ६५ वर्ष होने का उल्लेख किया है। यथा :

"Gandhara Maharaja Mandita was fifty-three years old when he renounced the world....... After a period of fourteen years of ascetic life, Mandita acquired Kevala Gnana......and he acquired Moksha Pada......when he was eighty three years old." (p. 122)

"Gandhara Maharaja Mauryaputra was sixty-five years old when he renounced the world......After a period of fourteen years of ascetic life, Ganadhara Mauryaputra acquired Kevala Gnana......at the age of seventynine.

Ganadhara Maharaja Mauryaputra remained a Kevali for sixteen years and he acquired Moksha Pada......when he was ninety-five years old." (p. 124)

इन सब तथ्यों से उपरोक्त आचार्यों की मान्यता केवल भ्रम सिद्ध होती है। वास्तव में ये सहोदर नहीं थे। आचार्य हेमचन्द्र ने भी आगमीय वयमान को लक्ष्य में नहीं रखते हुए केवल दोनों की माता का एक नाम होने के आधार पर ही दोनों को सहोदर मान लिया और 'लोकाचारो हि न ह्रिये' लिख कर अपनी मान्यता का औचित्य सिद्ध करने का प्रयास किया।

भगवान् महावीर की प्रथम शिष्या

भगवान् महावीर की प्रथम शिष्या एवं श्रमणीसंघ की प्रवर्तिनी महासती चन्दनबाला थी।

चन्दनबाला चम्पानगरी के महाराजा दधिवाहन और महारानी धारिणी की प्राणदुलारी पुत्री थी। मातापिता द्वारा आपका नाम वसुमती रखा गया।

महाराजा दधिवाहन के साथ कौशाम्बी के महाराजा शतानीक की किसी कारण से अनबन हो गई। शतानीक मन ही मन दधिवाहन से शत्रुता रख कर चम्पा नगरी पर आक्रमण करने की टोह में रहने लगा। दधिवाहन बड़े प्रजाप्रिय नरेश थे अतः शतानीक ने अप्रत्याशित रूप से चम्पा पर अचानक आक्रमण करने की अभिलाषा से अपने अनेक गुप्तचर चम्पा नगरी में नियुक्त किये।

कुछ ही दिनों के पश्चात् शतानीक को अपने गुप्तचरों से ज्ञात हुआ कि चम्पा पर आक्रमण करने का उपयुक्त अवसर आ गया है अतः चार-पांच दिन के अन्दर-अन्दर ही आक्रमण कर दिया जाय। शतानीक तो उपर्युक्त अवसर की प्रतीक्षा में ही था। उसने तत्काल एक बड़ी सेना के साथ चम्पा पर धावा करने

के लिये जलमार्ग से सैनिक अभियान कर दिया। तेज हवाओं के कारण शतानीक के जहाज बड़ी तीव्रगति से चम्पा की ओर बढ़े। एक रात्रि के अल्प समय में ही शतानीक अपनी सेनाओं के साथ चम्पा जा पहुंचा और सूर्योदय से पूर्व ही उसने चम्पा नगरी को चारों ओर से घेर लिया।

इस अनभ्र वज्रपात से चम्पा के नरेश और नागरिक सभी अवाक् रह गये। अपने आप को शत्रु के आकस्मिक आक्रमण का मुकाबला कर सकने की स्थिति में न पाकर दधिवाहन ने मन्त्रिपरिषद् की आपत्कालीन बैठक बुलाकर गुप्त मन्त्रणा की। अन्त में मन्त्रियों के प्रबल अनुरोध पर दधिवाहन को गुप्त मार्ग से चम्पा को त्याग कर बीहड़ वनों की राह पकड़नी पड़ी।

शतानीक ने अपने सैनिकों को खुली छूट देदी कि चम्पा के प्राकारों एवं द्वारों को तोड़कर चम्पा को लूट लिया जाय और जिसे जो चाहिये वह अपने घर ले जाय। इस आज्ञा से सैनिकों में उत्साह और प्रसन्नता की लहर दौड़ गई और वे द्वारों तथा प्राकारों को तोड़कर नगर में प्रविष्ट हो गये।

शतानीक की सेनाओं ने यथेच्छ रूप से नगर को लूटा। महारानी धारिणी राजकुमारी वसुमती सहित शतानीक के एक सैनिक द्वारा पकड़ ली गई। वह उन दोनों को अपने रथ में डालकर कौशाम्बी की ओर द्रुत गति से लौट पड़ा। महारानी धारिणी के देवांगना तुल्य रूप-लावण्य पर मुग्ध हो सैनिक राह में मिलने वाले अपने परिचित लोगों से कहने लगा – "इस लूट में इस त्रैलोक्य सुन्दरी को पाकर मैंने सब कुछ पा लिया है। घर पहुंचते ही मैं इसे अपनी पत्नी बनाऊंगा।"

इतना सुनते ही महाराणी धारिणी क्रोध और घृणा से तिलमिला उठी। महान् प्रतापी राजा की पुत्री और चम्पा के यशस्वी नरेश दधिवाहन की राजमहिषी को एक अकिंचन व्यक्ति के मुंह से इस प्रकार की बात सुनकर वज्र से भी भीषण आघात पहुंचा। अपने सतीत्व पर आंच आने की आशंका से धारिणी सिहर उठी। उसने एक हाथ से अपनी जिह्वा को मुख से बाहर खींचकर दूसरे हाथ से अपनी ठुड्डी पर अति वेग से आघात किया। इसके परिणाम स्वरूप वह तत्क्षण निष्प्राण हो रथ में ही गिरपड़ी।[1]

धारिणी के आकस्मिक अवसान से सैनिक को अपनी भूल पर आत्म-ग्लानि के साथ साथ बड़ा दुःख हुआ। उसे निश्चय हो गया कि किसी अत्युच्च कुल की कुलवधू होने के कारण वह उसके वाग्बाणों से आहत हो मृत्यु की गोद में सदा के लिये सो गई है।

सैनिक ने इस आशंका से कि कहीं अधंखिली पारिजात पुष्प की कली के समान वह सुमनोहर बालिका भी अपनी माता का अनुसरण न कर बैठे, उसने वसुमती को मृदु वचनों से आश्वस्त करने का प्रयास किया।

---

[1] आचार्य हेमचन्द्र ने शोकातिरेक से धारिणी के प्राण निकलने का उल्लेख किया है। देखिये – [त्रि. श. पु., पर्व १०, स० ४, श्लो. ५२७]

राजकुमारी वसुमती को लिये वह सैनिक कौशाम्बी पहुंचा और उसे विक्रय के लिये बाजार में चौराहे पर खड़ा कर दिया। धार्मिक कृत्य से निवृत्त हो अपने घर की ओर लौटते हुए धनावह नामक एक श्रेष्ठी ने विक्रय के लिये खड़ी बालिका को देखा। उसने कुसुम सी सुकुमार बालिका को देखते ही समझ लिया कि वह कोई बहुत बड़े कुल की कन्या है और दुर्भाग्यवश अपने माता-पिता से बिछुड़ गई है। वह उसकी दयनीय दशा देखकर द्रवित हो गया और उसने सैनिक को मुंहमांगा द्रव्य देकर उसे खरीद लिया। धनावह श्रेष्ठी वसुमती को लेकर अपने घर पहुंचा।

उसने बड़े दुलार से उसके मातापिता एवं उसका नाम पूछा पर स्वाभिमानिनी वसुमती ने अपना नाम तक भी नहीं बताया। वह मौन ही रही। अन्त में लाचार हो धनावह ने उसे अपनी पत्नी को सौंपते हुए कहा – "यह बालिका किसी साधारण कुल की प्रतीत नहीं होती। इसे अपनी ही पुत्री समझ कर बड़े दुलार और प्यार से रखना"

श्रेष्ठिपत्नी मूला ने अपने पति की आज्ञानुसार प्रारम्भ में वसुमती को अपनी पुत्री के समान ही रक्खा। वसुमती श्रेष्ठिपरिवार में घुलमिल गई। उसके मृदु सम्भाषण, व्यवहार एवं विनय आदि सद्गुणों ने श्रेष्ठिपरिवार एवं भृत्य वर्ग के हृदय में दुलार भरा स्थान प्राप्त कर लिया। उसके चन्दन के समान शीतल सुखद स्वभाव के कारण वसुमती उस श्रेष्ठिपरिवार द्वारा चन्दना के नाम से पुकारी जाने लगी।

चन्दना ने जब कुछ समय बाद यौवन में पदार्पण किया तो उसका अनुपम सौन्दर्य शतगुणित हो उठा। उसकी कज्जल से भी अधिक काली केशराशि बढ़कर उसकी पिण्डलियों से अठखेलियां करने लगी। उस अपार रूपराशि को देखकर श्रेष्ठिपत्नी के हृदय का सोता हुआ स्त्री-दौर्बल्य जग पड़ा। उसके अन्तर में कलुपित विचार उत्पन्न हुए और उसने सोचा – "यह अलौकिक रूप-लावण्य की स्वामिनी किसी दिन मेरा स्थान छीन कर गृहस्वामिनी बन सकती है। मेरे पति इसे अपनी पुत्री मानते हैं पर यदि उन्होंने कहीं इसके अलौकिक रूप-लावण्य पर विमोहित हो इससे विवाह कर लिया तो मेरा सर्वनाश सुनिश्चित है। अतः फूलने-फलने से पहले ही इस विषलता को मूलतः उखाड़ फेंकना ही मेरे लिये श्रेयस्कर है। दिन-प्रति-दिन मूला के हृदय में ईर्ष्या की अग्नि प्रचण्ड होती गई और वह चन्दना को अपनी राह से सदा के लिये हटा देने का उपाय सोचने लगी। एक दिन दोपहर के समय ग्रीष्म ऋतु की चिलचिलाती धूप में चल कर धनावह बाजार से अपने घर लौटा। उसने पैर धुलाने के लिये अपने सेवकों को पुकारा। पर संयोगवश उस समय कोई भी सेवक वहां उपस्थित नहीं था। धूप से श्रान्त धनावह को खड़े देख कर चन्दना जल की झारी ले सेठ के पैर धोने पहुंची। सेठ द्वारा मना करने पर भी वह उसके पैर धोने लगी। उस समय नीचे झुकने के कारण चन्दना का जूड़ा खुल गया और उसकी केशराशि बिखर गई।

चन्दना के बाल कहीं कीचड़ से न सन जावें इस दृष्टि से सहज सन्ततिवात्सल्य से प्रेरित हो धनावह ने चन्दना की केशराशि को अपने हाथ में रही हुई यष्टि से ऊपर उठा लिया और अपने हाथों से उसका जूड़ा बान्ध दिया।

मूला ने संयोगवश जब यह सब देखा तो उसने अपने सन्देह को वास्तविकता का रूप दे डाला और उसने चन्दना का सर्वनाश करने की ठान ली। थोड़ी ही देर पश्चात् श्रेष्ठी धनावह जब किसी कार्यवश दूसरे गांव चला गया तो मूला ने तत्काल एक नाई को बुला कर चन्दना के मस्तक को मुंडित करवा दिया। मूला ने बड़ी निर्दयता से चन्दना को जी भर कर पीटा। तदनन्तर उसके हाथों में हथकड़ी एवं पैरों में बेड़ी डालकर उसे एक भंवारे में बन्द कर दिया और अपने दास-दासियों एवं कुटुम्ब के लोगों को सावधान कर दिया कि श्रेष्ठी द्वारा पूछने पर भी यदि किसी ने उन्हें चन्दना के सम्बन्ध में कुछ भी बता दिया तो वह उसका कोपभाजन बनेगा।

चन्दना तीन दिन तक तलघर में भूखी प्यासी बन्द रही। तीसरे दिन जब धनावह घर लौटा तो उसने चन्दना के सम्बन्ध में पूछताछ की। सेवकों को मौन देखकर धनावह को शंका हुई और उसने क्रुद्ध स्वर में चन्दना के सम्बन्ध में सच-सच बात बताने के लिये कड़क कर कहा – "तुम लोग मूक की तरह चुप क्यों हो, बताओ पुत्री चन्दना कहां है?"

इस पर एक वृद्धा दासी ने चन्दना की दुर्दशा से द्रवित हो साहस बटोर कर सारा हाल कह सुनाया। तलघर के कपाट खोलकर धनावह ने ज्यों ही चन्दना को उस दुर्दशा में देखा तो रो पड़ा। चन्दना के भूख और प्यास से मुर्झाये हुए मुख को देखकर वह रसोईघर की ओर लपका। उसे सूप में कुछ उड़द के बाकलों के अतिरिक्त और कुछ नहीं मिला। वह उसी को उठाकर चन्दना के पास पहुंचा और सूप चन्दना के समक्ष रखते हुए अवरुद्ध कण्ठ से बोला – "पुत्री, अभी तुम इन उड़द के बाकलों से ही अपनी भूख की ज्वाला को कुछ शान्त करो, मैं अभी किसी लोहार को लेकर आता हूं।"

यह कह कर धनावह किसी लोहार की तलाश में तेजी से बाजार की ओर निकला।

भूख से पीड़ित होते हुए भी चन्दना ने मन में विचार किया – "क्या मुझ हतभागिनी को इस अति दयनीय विषम अवस्था में आज बिना अतिथि को खिलाये ही खाना पड़ेगा? मध्याकाश से अब सूर्य पश्चिम की ओर ढल चुका है, इस वेला में अतिथि कहां?"

अपने दुर्भाग्य पर विचार करते-करते उसकी आंखों से अश्रुओं की अविरल धारा फूट पड़ी। उसने अतिथि की तलाश में द्वार की ओर देखा। सहसा उसने देखा कि कोटि-कोटि सूर्यों की प्रभा के समान देदीप्यमान मुखमण्डल वाले अति कमनीय, गौर, सुन्दर, सुडौल दिव्य तपस्वी द्वार में प्रवेश कर उसकी ओर बढ़

रहे हैं। हर्षातिरेक से उसके शोकाश्रुओं का सागर निमेषार्द्ध में ही सूख गया। उसके मुखमण्डल पर शरद्पूर्णिमा की चन्द्रिका से उद्वेलित समुद्र के समान हर्ष का सागर हिलोरें लेने लगा। चन्दना सहसा सूप को हाथ में लेकर उठी। बेड़ियों से जकड़े अपने एक पैर को बड़ी कठिनाई से देहली से बाहर निकाल कर उसने हर्षगद्गद स्वर में अतिथि से प्रार्थना की – "प्रभो, यद्यपि ये उड़द के बाकले आपके खाने योग्य नहीं हैं, फिर भी मुझ अबला पर अनुग्रह कर इन्हें ग्रहण कीजिये।"

अपने अभिग्रह की पूर्ति में कुछ कमी देखकर वह अतिथि लौटने लगा। इससे अति दुखित हो चन्दना के मुंह से सहसा ही ये शब्द निकल पड़े – "हाय रे दुर्दैव! इससे बढ़कर मेरा और क्या दुर्भाग्य हो सकता है कि आंगन में आया हुआ कल्पतरु लौट रहा है?" इस शोक के आघात से चन्दना की आंखों से पुनः अश्रुओं की धारा वह चली। अतिथि ने यह देख कर कि उनके अभिग्रह की सभी शर्तें पूर्ण हो चुकी हैं, चन्दना के सम्मुख अपना करपात्र बढ़ा किया। चन्दना ने हर्ष विभोर होकर अत्युत्कट श्रद्धा से सूप में रक्खे उड़द के बाकलों को अतिथि के करपात्र में उंडेल दिया।

यह अतिथि और कोई नहीं, श्रमण भगवान् महावीर ही थे। तत्क्षण "महा दानं, महा दानं" के दिव्य घोष और देव दुन्दुभियों के निश्वन से गगन गूंज उठा। गन्धोदक, पुष्प और दिव्य वस्त्रों की आकाश से देवगण वर्षा करने लगे। चन्दना के दान की महिमा करते हुए देवों ने धनावह सेठ के घर पर १२॥ करोड़ स्वर्ण मुद्राओं की वर्षा की। सुगन्धित मन्द मधुर मलयानिल से सारा वातावरण सुरभित हो उठा। यह अद्भुत दृश्य देखकर कौशाम्बी के सहस्रों नर-नारी वहां एकत्रित हो गये और चन्दना के भाग्य की सराहना करने लगे।

उस महान् दान के प्रभाव से तत्क्षण चन्दना के मुण्डित शीश पर पूर्ववत् लम्बी सुन्दर केशराशि पुनः उद्भूत हो गई। चन्दना के पैरों में पड़ी लोहे की बेड़ियां सोने के नूपुरों में और हाथों की हथकड़ियां करकंकणों के रूप में परिणत हो गईं। देवियों ने उसे दिव्य आभूषणों से अलंकृत किया। सूर्य के समान चमचमाती हुई मणियों से जड़े मुकुट को धारण किये हुए स्वयं देवेन्द्र वहां उपस्थित हुए और उन्होंने भगवान् को वन्दन करने के पश्चात् चन्दना का अभिवादन किया।

कौशाम्बीपति शतानीक भी महारानी मृगावती एवं पुरजन-परिजन आदि के साथ धनावह के घर आ पहुँचे। उनके साथ बन्दी के रूप में आये हुए दधिवाहन के अंगरक्षक ने चन्दना को देखते ही पहचान लिया और वह चन्दना के पैरों पर गिर कर रोने लगा। जब शतानीक और मृगावती को उस अंगरक्षक के द्वारा यह विदित हुआ कि चन्दना महाराजा दधिवाहन की पुत्री है तो मृगावती ने अपनी भानजी को अंक में भर लिया।

चन्दना की इच्छानुसार धनावह उन १२॥ करोड़ स्वर्ण मुद्राओं का स्वामी बना।[1]

इन्द्र ने शतानीक से कहा कि यह चन्दनबाला भगवान् को केवलज्ञान होने पर उनकी पट्ट शिष्या बनेगी और इसी शरीर से निर्वाण प्राप्त करेगी, अतः इसकी बड़ी सावधानी से सार-सम्भाल की जाय। यह भोगों से नितान्त विरक्त है इसलिये इसका विवाह करने का प्रयास नहीं किया जाय। तत्पश्चात् देवेन्द्र एवं देवगण अपने-अपने स्थान की ओर लौट गये और महाराजा शतानीक महारानी मृगावती व चन्दनबाला के साथ राजमहलों में लौट आये।

चन्दनबाला राजप्रासादों में रहते हुए भी साध्वी के समान विरक्त जीवन व्यतीत करने लगी। आठों प्रहर यही लगन उसे लगी रहती कि वह दिन शीघ्र आये जब भगवान् महावीर को केवलज्ञान हो और वह उनके पास दीक्षित होकर संसार सागर को पार करने के लिये अथक प्रयास करे।

जैसा कि ऊपर कहा जाचुका है भगवान् को केवलज्ञान होने पर चन्दनबाला ने प्रभु के पास दीक्षा ग्रहण की और भगवान् के श्रमणी संघ का समीचीन रूप से संचालन करते हुए अनेक प्रकार की कठोर तपश्चर्याओं से अपने समस्त कर्म-समूह को भस्मसात् कर निर्वाण प्राप्त किया।

भगवान् पार्श्वनाथ और महावीर का शासन-भेद

प्रागैतिहासिक काल में भगवान् ऋषभदेव ने पांच महाव्रतों का उपदेश दिया और उनके पश्चाद्वर्ती अजितनाथ से पार्श्वनाथ तक के बाईस तीर्थंकरों ने चातुर्याम रूप धर्म की शिक्षा दी। उन्होंने अहिंसा, सत्य, अचौर्य और बहिस्तात्-आदान-विरमण अर्थात् बिना दी हुई बाह्य वस्तुओं के ग्रहण का त्याग रूप चार याम वाला धर्म बतलाया।[2]

पार्श्वनाथ के बाद जब महावीर का धर्मयुग आया तो उन्होंने फिर पांच महाव्रतों का उपदेश दिया। पांच महाव्रत इस प्रकार हैं :– अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इस तरह दोनों के व्रत-विधान में संख्या का अन्तर होने से यह प्रश्न सहज ही उठता है कि ऐसा क्यों ?

यही प्रश्न केशिकुमार ने गौतम से भी किया था। इसका उत्तर देते हुए गौतम ने बतलाया कि स्वभाव से प्रथम तीर्थंकर के साधु ऋजु और जड़ होते

---

[1] चउवन्न महापुरिस चरियं

[2] भरत ऐरावत क्षेत्र में प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर को छोड़ कर मध्य के बाईस अरिहन्त भगवान् चातुर्याम-धर्म का प्रज्ञापन करते हैं। यथा :

सर्वथा प्राणातिपात विरमण, सर्वथा मृषावाद विरमण, सर्वथा अदत्तादान विरमण और सर्वथा बहिद्धादान विरमण।

[स्था०, स्था० ४, उ० १, सूत्र २६६, पत्र २०१ (१)]

हैं, अन्तिम तीर्थंकर के साधु वक्र एवं-जड़ तथा मध्यवर्ती तीर्थंकरों के साधु ऋजु और प्राज्ञ होते हैं। इस कारण प्रथम तीर्थंकर के साधुओं के लिये जहां मुनि-धर्म के आचार का यथावत् ज्ञान करना कठिन होता वहां चरम तीर्थंकर के शासनवर्ती साधुओं के लिये मुनि-धर्म का यथावत् पालन करना कठिन होता है। पर मध्यवर्ती तीर्थंकरों के शासनवर्ती साधु व्रतों को यथावत् ग्रहण और सम्यक् रीत्या पालन भी कर लेते हैं। इसी आधार पर तीर्थंकरों के शासन में व्रत-निर्धारण में संख्या-भेद पाया जाता है।

उपर्युक्त समाधान से ध्वनित होता है कि भगवान् पार्श्वनाथ ने मैथुन को भी परिग्रह के अन्तर्गत माना था।[1]

कुछ लेखकों ने चातुर्याम का सम्बन्ध महाव्रत से न बताकर चारित्र से बतलाया है पर ऐसा मानना उचित प्रतीत नहीं होता।

बाईस तीर्थंकरों के समय में सामायिक, सूक्ष्म संपराय और यथाख्यात चारित्र में से कोई एक होता है। किन्तु महावीर के समय में पांच में से कोई भी एक चारित्र एक साधक को हो सकता है। सामायिक या छेदोपस्थापनीय चारित्र के समय अन्य चार नहीं रहते। अतः चातुर्याम का अर्थ 'चारित्र' करना ठीक नहीं।

योगाचार्य पतञ्जलि ऋषि ने भी याम का अर्थ अहिंसा आदि व्रत ही लिया है।[2] डॉ० महेन्द्रकुमार ने स्पष्ट लिखा है कि अहिंसा, सत्य, अचौर्य और अपरिग्रह इन चातुर्याम धर्म के प्रवर्तक भगवान् पार्श्वनाथ जी थे।[3]

श्वेताम्बर आगमों की दृष्टि से भी स्त्री को परिग्रह की कोटि में ही शामिल किया गया है। भगवान् द्वारा व्रत-संख्या में परिवर्तन का कारण समय और बुद्धि का प्रभाव हो सकता है। भगवान् पार्श्व के परिनिर्वाण के पश्चात् और महावीर के तीर्थंकर होने से कुछ पूर्व संभव है इस प्रकार के तर्क का सहारा लेकर साधक डोलायमान होने लगा हो और भगवान् पार्श्व की परम्परा में उस पर पूर्ण दृढ़ अनुशासन नहीं रखा जा सका हो। वैसी स्थिति में भगवान् महावीर ने, वक्र स्वभाव के लोग अपनी रुचि के अनुकूल परिग्रह या स्त्री का त्याग कर दूसरे का उपयोग प्रारम्भ न करें, इस भावी हित को ध्यान में रख कर ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का स्पष्टतः पृथक् विधान कर दिया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। संख्या का अन्तर होने पर भी दोनों परम्पराओं के मौलिक आशय में भेद नहीं है। केवल स्पष्टता के लिये पृथक्करण किया गया है।

---

[1] उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २३, गाथा २६-२७।
(ख) मैथुनं परिग्रहेऽन्तर्भवति, न ह्यपरिग्रहीता योषिद् भुज्यते। स्था० वृ०, ४ उ० सू० २६६। पत्र २०२ (१)

[2] अहिंसासत्यास्तेय ब्रह्मचर्याऽपरिग्रहा यमाः। पतंजलि (योगसूत्र) सू० २०

[3] डा० महेन्द्रकुमार-जैन दर्शन-पृ० ९०

चारित्र

भगवान् पार्श्वनाथ के समय में श्रमणवर्ग को सामायिक चारित्र दिया जाता था जब कि भगवान् महावीर ने सामायिक के साथ छेदोपस्थापनीय चारित्र का भी प्रवर्तन किया। चारित्र के मुख्यार्थ समता की आराधना को ध्यान में लेकर भगवान् पार्श्वनाथ ने चारित्र का विभाग नहीं किया। फिर उन्हें वैसी आवश्यकता भी नहीं थी। किन्तु महावीर भगवान् के सामने एक विशेष प्रयोजन उपस्थित हुआ, एतदर्थ साधकों की विशेष शुद्धि के लिये उन्होंने सामायिक के पश्चात् छेदोपस्थापनीय चारित्र का उपदेश दिया।

भगवान् महावीर ने पार्श्वनाथ के निर्विभाग सामायिक चारित्र को विभागात्मक सामायिक के रूप में प्रस्तुत किया। छेदोपस्थापनीय में जो चारित्र पर्याय का छेद किया जाता है, पार्श्वनाथ की परम्परा में सजग साधकों के लिये उसकी आवश्यकता ही नहीं थी अतः उन्होंने निर्विभाग सामायिक चारित्र का विधान किया।

भगवती सूत्र के उल्लेख से स्पष्ट होता है कि जो मुनि चातुर्याम धर्म का पालन करते, उनका चारित्र सामायिक कहा जाता और जब इस परम्परा को बदल कर पंच याम धर्म में प्रवेश किया, तब उनका चारित्र छेदोपस्थापनीय कहलाया।[१]

भगवान् महावीर के समय में दोनों प्रकार की व्यवस्थाएं चलती थीं। उन्होंने अल्पकालीन निर्विभाग में सामायिक चारित्र को और दीर्घकाल के लिये छेदोपस्थापनीय चारित्र को मान्यता प्रदान की।

महावीर ने इसके अतिरिक्त व्रतों में रात्रिभोजन-विरमण को भी अलग व्रत के रूप में प्रतिष्ठित किया। उन्होंने स्थानांग सूत्र में स्पष्ट कहा है-"आर्यो मैंने श्रमण-निर्ग्रंथों को स्थविरकल्प, जिनकल्प, मुंडभाव, अस्नान, अदंतधावन, अछत्र, उपानत् त्याग, भूमिशय्या, फलकशय्या, काष्ठशय्या, केशलोच, ब्रह्मचर्य-वास, भिक्षार्थ परगृहप्रवेश तथा लब्धालब्ध वृत्ति की प्ररूपणा की है। जैसे मैंने श्रमणों को पंचमहाव्रतयुक्त सप्रतिक्रमण अचेलक धर्म कहा है, वैसे महापद्म भी कथन करेंगे।[२]

भगवान् पार्श्वनाथ और महावीर के शासन में दूसरा अन्तर सचेल-अचेल का है, जो इस प्रकार है :-

पार्श्वनाथ की परम्परा में सचेल-धर्म माना जाता था किन्तु महावीर ने अचेल धर्म की शिक्षा दी। कल्पसमर्थन में कहा है कि प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर

---

[१] सामाइयंमि उ कए, चाउज्जामं अणुत्तरं धम्मं।
तिविहेण फासयंतो, सामाइयं संजओ स खलु।
छेतूण उ परियागं, पोराणं जो ठवेई अप्पाणं।
धम्मंमि पंचजामे, छेदोवट्ठाणो स खलु ।। भग०, श० २५, उ. ७।७८६।गा०१।२

[२] स्थानांग, स्थान ६

का धर्म अचेलक है और बाईस तीर्थंकरों का धर्म सचेलक एवं अचेलक दोनों प्रकार का है।[1]

अभिप्राय यह है कि भगवान् ऋषभदेव और महावीर के श्रमणों के लिये यह विधान है कि वे श्वेत और मानोपेत वस्त्र रखें पर बाईस तीर्थंकरों के श्रमणों के लिये ऐसा विधान नहीं है। वे विवेकनिष्ठ और जागरूक होने से चमकीले, रंग-बिरंगे और प्रमाण से अधिक भी वस्त्र रख सकते थे, क्योंकि उनके मन में उत्तम वस्त्रों के प्रति आसक्ति नहीं होती थी।

"अचेलक" पद का सीधा अर्थ वस्त्राभाव होता है किन्तु यहां "अ" का अर्थ सर्वथा अभाव न मान कर अल्प मानना चाहिये। व्यवहार में भी सम्पदाहीन को "अधन" कहते हैं। साधारण द्रव्य होने पर भी व्यक्ति व्यवहार-जगत् में "अधन" कहलाता है। आचारांग सूत्र की टीका में यही अल्प अर्थ मानकर अचेलक का अर्थ "अल्प वस्त्र" किया है।[2] उत्तराध्ययन सूत्र और कल्प की टीका में भी मानप्रमाण सहित जीर्णप्राय[3] और श्वेतवस्त्र को अचेल में माना गया है।

जैन श्रमणों के लिये दो प्रकार के कल्प बताये गये हैं – जिनकल्प और स्थविरकल्प। निर्युक्ति और भाष्य के अनुसार जिनकल्पी श्रमण वह हो सकता है जो वज्रऋषभ नाराच संहनन वाला हो, कम से कम नव पूर्व की तृतीय आचार-वस्तु का पाठी हो और अधिक से अधिक कुछ कम दश पूर्व तक का श्रुतपाठी हो। जिनकल्पी भी पहले स्थविरकल्पी ही होता है।[4]

जिनकल्प के भी दो प्रकार हैं – (१) पाणिपात्र और (२) पात्रधारी। पाणिपात्र के भी चार भेद बतलाये हैं। जिनकल्पी श्रमण नग्न और निष्प्रतिकर्म शरीरी होने से आंख का मल भी नहीं निकालते। वे रोग-परीषहों को सहन करते, कभी किसी प्रकार की चिकित्सा नहीं कराते।[5] पात्रधारी हों या पात्र-रहित दोनों प्रकार के जिनकल्पी रजोहरण और मुखवस्त्रिका, ये दो उपकरण

---

[1] आचेलुक्को धम्मो पुरिमस्स य पच्छिमस्स य जिणस्स।
मज्झिमगाण जिणाणं, होइ सचेलो अचेलो य ॥ [कल्प समर्थन, गा० ३, पृ० १]

[2] अचेल: – अल्पचेल:। [आचा० टी०, पत्र २२१]

[3] लघुत्व जीर्णत्वादिना चेलानि वस्त्राण्यस्येत्येवमचेलक:।
[उतरा० बृहद् वृत्ति, प० ३५६]

(ख) "अचेलत्वं" श्री आदिनाथ – महावीर साधूनां वस्त्रं मानप्रमाण सहितं जीर्णप्रायं धवलं च कल्पते। श्री अजितादि द्वाविंशती तीर्थंकर साधूनां तु पंचवर्णम् ॥
[कल्प सूत्र कल्पलता, प० २।१। समयसुन्दर]

[4] जिनकल्पिकस्य तावज्जघन्यतो नवमस्य पूर्वस्य तृतीयमाचारवस्तु।
[विशेषा० बृहद् वृत्ति, पृष्ठ १३, गा० ७ की टीका]

[5] निप्पडिकम्मसरीरा, अवि अच्छिमलंपि न अ अवणिंति।
विसहंति जिणा रोगं, कारिंति कयाइ न तिगिच्छं ॥
[विशेषावश्यक प्रथम भाग, प्रथम अंश, पृ० १४ गाथा ७ की टीका की गाथा ३]

तो रखते ही हैं। अतः यहां पर अचेलक का अर्थ सम्पूर्ण वस्त्रों का त्यागी नहीं किन्तु अल्प मूल्य वाले प्रमाणोपेत जीर्ण-शीर्ण वस्त्र-धारी समझना चाहिये।

इसी लिये भाष्यकार ने कहा है कि अचेलक दो प्रकार के होते हैं – सद-चेल और असदचेल। तीर्थंकर असत्-चेल होते हैं। वे देवदूष्य वस्त्र गिर जाने पर सर्वदा वस्त्ररहित रहते हैं। शेष सभी जिनकल्पिक आदि साधु सदचेल कहे गये हैं।[1] कम से कम भी रजोहरण और मुखवस्त्रिका का तो उनको सद्भाव रहता ही है।

वस्त्र रखने वाले साधु भी मूर्च्छारहित होने के कारण अचेल कहे गये हैं क्योंकि वे जिन वस्त्रों का उपयोग करते हैं वे दोषरहित, पुराने, सारहीन और अल्प प्रमाण में होते हैं। इसके अतिरिक्त उनका उपयोग भी कदाचित् का होता है जैसे भिक्षार्थ जाते समय देह पर वस्त्र डाला जाता है वह भिक्षा से लौटने पर हटा दिया जाता है। इसी प्रकार कटि-वस्त्र भी रात्रि में अलग कर दिया जाता है।

लोकोक्ति में जीर्ण-शीर्ण तार-तार हुए फटे वस्त्र को धारण करने वाला नग्न ही कहा जाता है। जैसे कोई बुढ़िया जिसके शरीर पर पुरानी अनेक स्थानों से फटी हुई साड़ी लिपटी है, तन्तुवाय से कहती है – "भाई! मेरी साड़ी जल्दी तैयार कर देना। मैं नंगी फिरती हूं।"[2]

तो यह फटा पुराना कपड़ा होने पर भी नग्नपन कहा गया है। इसी प्रकार अल्प वस्त्र रखने वाला मुनि अचेल माना गया है।

मूल बात यह है कि परिग्रह मूर्च्छाभाव में है। मूर्च्छाभावरहित मुनियों को वस्त्रों के रहते हुए भी मूर्च्छाभाव नहीं होने से अचेलक कहा गया है। दशवैकालिक सूत्र में स्पष्ट कहा है – "न सो परिग्गहो वुत्तो' वह परिग्रह नहीं है। परिग्रह मूर्च्छाभाव है – "मूर्च्छा परिग्गहो वुत्तो।"

भगवान् महावीर ने पार्श्वनाथ के सचेल धर्म का साधुओं में दुरुपयोग समझा और निमित्त से प्रभावित मंदमति साधक मोह-मूर्च्छा में न गिरे, इस हेतु अचेल धर्म के उपदेश से साधुवर्ग को वस्त्र-ग्रहण में नियन्त्रित रखा। उत्तरा-ध्ययन सूत्र में केशी श्रमण की जिज्ञासा का उत्तर देते हुए गौतम ने कहा है कि

---

[1] (क) बृह० भा० १ उ० – दुविहो होति अचेलो. संताचेलो असंतचेलोय तित्थगर असंत चेला, संताचेला भवे सेसा ॥

(ख) सदसंतचेलगोऽचेलगो य जं लोग – समयसंसिद्धो।
तेणाचेला मुणओ संतेहिं, जिणा असंतेहिं ॥
[विशेषावश्यक भाष्य, गा० २५९८]

[2] तह थोव-जुन्न-कुच्छिय चेलेहिं वि भन्नए अचेलोत्ति।
जहन्तरसालिय लहुं. दो पोत्ति नग्गिया मोत्ति ॥ [वि० २६०१, पृ० १०३५]

[3] जघन्यतोऽपि रजोहरण मुखवस्त्रिका संभवात् ॥ [बृ० भा० उ० १]

चारित्र]

भगवान् ने वेष धारण के पीछे एक प्रयोजन धर्म-साधना को निभाना और दूसरा साधु रूप को अभिव्यक्त करना कहा है।[1]

डॉ० हर्मन जेकोवी ने भगवान् महावीर की अचेलता पर आजीवक गोशालक का प्रभाव माना है, किन्तु यह निराधार जंचता है, क्योंकि गोशालक से प्रथम ही भगवान् देवदूष्य वस्त्र गिरने से नग्नत्व धारण कर चुके थे। फिर भगवती सूत्र में साफ आता है –

"साडियाओ य पाडियाओ य कुंडियाओ य पाहणाओय
चित्तफलगं च माहणे आयामेति आयामेत्ता स उत्तरोट्ठं मुंडं करोति।"

इस पाठ से यह सिद्ध होता है कि गोशालक ने भगवान् महावीर का अनुसरण करते हुए उनके साधना के द्वितीय वर्ष में नग्नत्व स्वीकार किया।

सप्रतिक्रमण धर्म

अजितनाथ से पार्श्वनाथ तक बाईस तीर्थंकरों के समय में प्रतिक्रमण दोनों समय करना नियत नहीं था। कुछ आचार्यों का ऐसा अभिमत है कि इन बाईस तीर्थंकरों के समय में दैवसिक और राइय ये दो ही प्रतिक्रमण होते थे शेष नहीं[2] किन्तु जिनदास महत्तर का स्पष्ट मन्तव्य है कि प्रथम और अंतिम तीर्थंकर के समय में नियमित रूप से उभयकाल प्रतिक्रमण करने का विधान है और साथ ही दोष के समय में भी ईर्यापथ और भिक्षा आदि के रूप में तत्काल प्रतिक्रमण का विधान है। बाईस तीर्थंकरों के शासनकाल में दोष लगते ही शुद्धि कर ली जाती थी, उभयकाल नियम रूप से प्रतिक्रमण का उनके लिये विधान नहीं था।[3] स्थानांग सूत्र में कहा है कि प्रथम तथा अन्तिम तीर्थंकरों का धर्म सप्रति-

---

[1] विन्नाणेण समागम्म, धम्मसाहणमिच्छियं।
पच्चयत्थं गहणत्थं च, लोगे लिंगपओयणं। उ० २३

[2] देसिय, राइय, पक्खिय चउमासिय वच्छरिय नामाओ।
दुण्हं पण पडिक्कमणा, मज्झिमगाणं तु दो पढ़मा॥

[सप्ततिशतस्थान प्र०, गा० २८६]

[3] पुरिम पच्छिमएहिं उभओ कालं पडिक्कमितव्वं इरियावहियमागतेहिं उच्चार पासवण आहारादीण वा विवेगं कातूण पदोस पूच्चूसेसु, वा अतियारो होतु वा मा वा तहावस्सं पडिक्कमितव्वं एतेहिं चेव ठाणेहिं। मज्झिमगाणं तित्थे जदि अतियारो अत्थि तो दिवसो होतु रत्ती वा, पुव्वण्हो, अवरण्हो, मज्झण्हो, पुव्वरत्तोवरत्तं वा, अड्ढरत्तो वा ताहेचेव पडिक्कमंति। नत्थि तो न पडिक्कमंति। जेण ते असढा पण्णवंता परिणामगा न य पमादोवहुलो, तेण तेसिं एवं भवति, पुरिमा उज्जुजडा, पच्छिमा वक्कजडा नीसाणाणि ममंति पमादवहुला य, तेण तेहिं अवस्सं पडिकमितव्वं।

[आव० चू०, उत्तर भाग, पृ० ६६]

क्रमण है।[1] इस प्रकार भगवान् महावीर ने अपने शिष्यों के लिये दोष लगे या न लगे, प्रतिदिन दोनों संध्या प्रतिक्रमण करना अनिवार्य बताया है।[2]

स्थित कल्प

प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के समय में सभी (१) अचेलक्य, (२) उद्देशिक, (३) शय्यातर पिंड, (४) राजपिंड, (५) कृतिकर्म, (६) व्रत, (७) ज्येष्ठ, (८) प्रतिक्रमण, (६) मासकल्प और (१०) पर्युषणाकल्प अनिवार्य होते हैं। अतः इन्हें स्थितकल्प कहा जाता है। अजितादि बाईस तीर्थंकरों के लिये चार कल्प – (१) शय्यातर, (२) चातुर्याम धर्म का पालन, (३) ज्येष्ठ पर्याय–वृद्ध का वंदन और (४) कृतिकर्म, ये चार स्थित और छह कल्प– (१) अचेलक, (२) औद्देशिक, (३) प्रतिक्रमण (४) राजपिंड, (५) मासकल्प एवं (६) पर्युषणा ये अस्थित माने गये हैं।[3]

भगवान् महावीर के श्रमणों के लिये मासकल्प आदि नियत हैं। बाईस तीर्थंकरों के साधु चाहें तो दीर्घकाल तक भी रह सकते हैं, पर महावीर के साधु-साध्वी मासकल्प से अधिक बिना कारण न रहें, यह स्थितकल्प है। आज जो साधु-साध्वी बिना खास कारण एक ही ग्राम–नगर आदि में धर्म प्रचार के नाम से बैठे रहते हैं, यह शास्त्र-मर्यादा के अनुकूल नहीं है।

भगवान् महावीर के निन्हव

भगवान् महावीर के शासन में सात निन्हव हुए हैं, जिनमें से दो भगवान् महावीर के सामने हुए, प्रथम जमालि और दूसरा तिष्यगुप्त। जो इस प्रकार है :–

जमालि

जमालि महावीर का भानेज और उनकी एकमात्र पुत्री प्रियदर्शना का पति होने से जामाता भी था। श्रमण भगवान् महावीर के पास इसने भी भाव-पूर्वक श्रमण दीक्षा ली और भगवान् के केवल ज्ञान उत्पन्न होने पर चौदह वर्ष के बाद प्रथम निन्हव के रूप में प्रख्यात हुआ।

जमालि के प्रवचन-निन्हव होने का इतिहास इस प्रकार है –

दीक्षा के कुछ वर्ष बाद जमालि ने भगवान् से स्वतन्त्र विहार करने की आज्ञा मांगी। भगवान् ने उसके पूछने पर कुछ भी उत्तर नहीं दिया। उसने दुहरा-तिहरा कर अपनी बात प्रभु के सामने रखी किन्तु भगवान् मौन ही विराजे

---

[1] (क) मए समणाणं निग्गंथाणं पंचमहव्वइए सपडिकम्मणे... [स्थानांग, स्था. ६]
(ख) सपडिक्कमणो धम्मो पुरिमस्सय पच्छिमस्स य जिणाणं ॥ [आव॰नि॰गा॰ १२४१]

[2] आचेलक्कुद्देसिय पडिक्कमण रायपिंड मासेसु।
पज्जुसणाकप्पम्मि य, अट्ठियकप्पो मुणेयव्वो ॥ [अभिधान राजेन्द्र, गाथा १]

[3] मूलाचार–७।१२५–१२६।

रहे। प्रभु के मौन को ही स्वीकृति समझ कर पांच सौ साधुओं के साथ जमालि अनगार महावीर से पृथक् हो कर जनपद की ओर विहार कर गया।

अनेक ग्राम-नगरों में विचरण करते हुए वह 'सावत्थी' आया और वहां के कोष्ठक उद्यान में अनुमति लेकर स्थित हुआ। विहार में अन्त, प्रान्त, रूक्ष एवं प्रतिकूल आहार के सेवन से जमालि को तीव्र रोगातंक उत्पन्न हो गया। उसके शरीर में जलन होने लगी। भयंकर दाह-पीड़ा के कारण उसके लिये बैठे रहना भी संभव नहीं था। उसने अपने श्रमणों से कहा – "आर्यो! मेरे लिये संथारा कर दो जिससे मैं उस पर लेट जाऊं। मुझसे अब बैठा नहीं जाता।" साधुओं ने "तथास्तु" कह कर संथारा-आसन करना प्रारम्भ किया। जमालि पीड़ा से अत्यंत व्याकुल था। उसे एक क्षण का भी विलम्ब असह्य था। अतः उसने पूछा– "क्या आसन हो गया?" विनयपूर्वक साधुओं ने कहा – "महाराज! कर रहे हैं, अभी हुआ नहीं है।"

साधुओं के इस उत्तर को सुन कर जमालि को विचार हुआ – "श्रमण भगवान् महावीर जो चलमान को चलित एवं क्रियमाण को कृत कहते हैं, वह मिथ्या है। मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूं कि क्रियमाण शय्या संस्तारक अकृत है। फिर तो चलमान को भी अचलित ही कहना चाहिये। ठीक है, जब तक शय्या-संस्तारक पूरा नहीं हो जाता तब तक उसको कृत कैसे कहा जाय?" उसने अपनी इस नवीन उपलब्धि के बारे में अपने साधुओं को बुला कर कहा – "आर्यो! श्रमण भगवान् महावीर जो चलमान को चलित और क्रियमाण को कृत आदि कहते हैं, वह ठीक नहीं है। चलमान आदि को पूर्ण होने तक अचलित कहना चाहिये।"

बहुत से साधु जो जमालि के अनुरागी थे, उसकी बात पर श्रद्धा करने लगे और जो भगवद्वाणी पर श्रद्धाशील थे, उन्होंने युक्तिपूर्वक जमालि को समझाने का प्रयत्न किया, पर जब यह बात उसकी समझ में नहीं आई तो वे उसे छोड़कर पुनः भगवान् महावीर की शरण में चले गये।

जमालि की अस्वस्थता की बात सुनकर साध्वी प्रियदर्शना भी वहां आई। वह भगवान् महावीर के परमभक्त ढंक कुम्हार के यहां ठहरी हुई थी। जमालि के अनुराग से प्रियदर्शना ने भी उसका नवीन मत स्वीकार कर लिया और ढंक को भी स्वमतानुरागी बनाने के लिये समझाने लगी। ढंक ने प्रियदर्शना को मिथ्यात्व के उदय से आक्रान्त जान कर कहा – "आर्ये! हम सिद्धान्त की बात नहीं जानते, हम तो केवल अपने कर्म-सिद्धान्त को समझते हैं और यह जानते हैं कि भगवान् वीतराग ने जो कहा है, वह मिथ्या नहीं हो सकता।" उसने प्रियदर्शना को उसकी भूल समझाने का मन में पक्का निश्चय किया।

एक दिन प्रियदर्शना साध्वी ढंक की शाला में जब स्वाध्यायमग्न थी, ढंक ने अवसर देखकर उसके वस्त्रांचल पर एक अंगार का कण डाल दिया।

[1] पियदंसणा वि पइणोऽणुरागओ तम्मयं चिय पवन्ना। विशे. २३२५

शाटकांचल जलने से साध्वी बोल उठी – "श्रावक ! तुमने मेरी साड़ी जला दी।" उसने कहा – "महाराज ! साड़ी तो अभी आपके शरीर पर है, जली कहां है? साड़ी का कोण जलने से यदि उसका जलना कहती हैं तो ठीक नहीं। आपके मन्तव्यानुसार तो दह्यमान वस्तु अदग्ध कही गई है। अतः कोण के जलने से साड़ी को जली कहना आपकी परम्परानुसार मिथ्या है। ऐसी बात भगवान् महावीर के अनुयायी कहें तो ठीक हो सकती है। जमालि के मत से ऐसी बात ठीक नहीं होती।" ढंक की युक्तिपूर्ण बातें सुन कर साध्वी प्रियदर्शना प्रतिबुद्ध हो गई।

प्रियदर्शना ने अपनी भूल के लिये "मिथ्या मे दुष्कृतं भवतु" कहकर प्रायश्चित्त किया और जमालि को समझाने का प्रयत्न किया तथा जमालि के न मानने पर वह अपनी शिष्याओं के संग भगवान् के पास चली गई। शेष साधु भी धीरे-धीरे जमालि को अकेला छोड़कर प्रभु की सेवा में चले गये। अन्तिम समय तक भी जमालि अपने दुराग्रह पर डटा रहा।[1]

जमालि का मन्तव्य था कि कोई भी कार्य लंबे समय तक चलने के बाद ही पूर्ण होता है। अतः किसी भी कार्य को 'क्रियाकाल' में किया कहना ठीक नहीं। भगवान् महावीर का 'करेमाणे कडे' वाला सिद्धान्त 'ऋजुसूत्र' नय की दृष्टि से है। ऋजुसूत्र-नय केवल वर्तमान को ही मानता है। इसमें किसी भी कार्य का वर्तमान ही साधक माना गया है। इस विचार से कोई भी क्रिया अपने वर्तमान समय में कार्यकारी हो कर दूसरे समय में नष्ट हो जाती है। प्रथम समय की क्रिया प्रथम समय में और दूसरे समय की क्रिया दूसरे समय में ही कार्य करेगी। इस प्रकार प्रति-समय भावी क्रियाएं प्रति समय होने वाली पर्यायों का कारण हो सकती हैं, उत्तरकाल भावी कार्य के लिये नहीं अतः महावीर का 'करेमाणे कडे' सिद्धान्त सत्य है।

जमालि इस भाव को नहीं समझ सका। उसने सोचा कि पूर्ववर्ती क्रियाओं में जो समय लगता है, वह सब उत्तरकालभावी कार्य का ही समय है। पट-निर्माण के प्रथम समय में प्रथम तन्तु, फिर दूसरा, तीसरा आदि इस प्रकार प्रत्येक का समय अलग अलग है। जिस समय जो क्रिया हुई, उसका फल उसी समय हो गया। विशेषावश्यक भाष्य में इसका विस्तार से वर्णन किया गया है।

जमालि को जिस समय 'बहुरत दृष्टि' उत्पन्न हुई, उस समय भगवान् महावीर चंपा में विराजमान थे। जमालि भी कुछ काल के बाद जब रोग से मुक्त हुआ, तब सावत्थी के कोष्ठक चैत्य से विहार कर चम्पा नगरी आया और पूर्णभद्र उद्यान में श्रमण भगवान् महावीर के पास खड़े होकर बोला "देवानुप्रिय! जैसे आपके बहुत से शिष्य छद्मस्थ हो कर छद्मस्थ विहार से विचरते हैं, मैं वैसे छद्मस्थ विहार से विचरने वाला नहीं हूं। मैं केवलज्ञान को धारण करने वाला अरहा, जिन केवली होकर विचरता हूं।"

[1] विशेष गा० २३०७, पृ० ६३४ से ६३६।

जमालि]

जमालि की असंगत बात सुन कर गौतम ने कहा – "जमालि ! केवली का ज्ञान पर्वत, स्तूप, भित्ति आदि में कहीं रुकता नहीं, तो तुम्हें यदि केवलज्ञान हुआ है तो मेरे दो प्रश्नों का उत्तर दो :–

"(१) लोक शाश्वत है या अशाश्वत ? (२) जीव शाश्वत है या अशाश्वत ?"

जमालि इन प्रश्नों का कुछ भी उत्तर नहीं दे सका और शंका, कांक्षा से मन में विचलित हो गया।[1]

भगवान् महावीर ने जमालि को सम्बोधित कर कहा – "जमालि ! मेरे बहुत से अन्तेवासी छद्मस्थ हो कर भी इन प्रश्नों का उत्तर दे सकते हैं, फिर भी वे अपने को तुम्हारी तरह केवली नहीं कहते।" बाद में गौतम ने जमालि को लोक का शाश्वतपन और अशाश्वतपन किस अपेक्षा से है, विस्तार से समझाया। बहुत सम्भव है जमालि का यह 'बहुरत' सम्प्रदाय उसके पश्चात् नहीं रहा, क्योंकि उसके अनुयायी उसकी विद्यमानता में ही साथ छोड़ कर चले गये थे। अत: अपने मत को मानने वाला वह अकेला ही रह गया था।[2]

बहुत कुछ समझाने पर भी जमालि की भगवान् के वचनों पर श्रद्धा, प्रतीति नहीं हुई और वह भगवान् के पास से चला गया। मिथ्यात्व के अभिनिवेश से उसने स्व – पर को उन्मार्गगामी बनाया और बिना आलोचना के मरण प्राप्त कर किल्विषी देव हुआ।

२. (निन्हव) तिष्यगुप्त

भगवान् महावीर के केवलज्ञान के सोलह वर्ष बाद दूसरा निन्हव तिष्यगुप्त हुआ। वह आचार्य वसु का जो कि चतुर्दश पूर्वविद् थे, शिष्य था। एक बार आचार्य वसु राजगृह के गुणशील चैत्य में पधारे हुए थे। उनके पास आत्म-प्रवाद का आलापक पढ़ते हुए तिष्यगुप्त को यह दृष्टि पैदा हुई कि जीव का एक प्रदेश जीव नहीं, वैसे दो, तीन, संख्यात आदि भी जीव नहीं–किन्तु असंख्यात प्रदेश होने पर ही उसे जीव कहना चाहिये। इसमें एक प्रदेश भी कम हो तो जीव नहीं कहा जा सकता क्योंकि जीव लोकाकाश – प्रदेश तुल्य है[3], ऐसा शास्त्र में कहा है।

इस आलापक को पढ़ते हुए तिष्यगुप्त को नय-दृष्टि का ध्यान नहीं होने से विपर्यास हो गया। उसने समझा कि अन्तिम प्रदेश में ही जीवत्व है। गुरु द्वारा विविध प्रकार से समझाने पर भी तिष्यगुप्त की धारणा जब नहीं बदली तो गुरु ने उसे संघ से बाहर कर दिया।

---

[1] भग०, श० ९, उ ३३।

[2] इच्छामो संवोहणमज्जो, पियदंसणादग्रो ढंकं।
वोत्तुंजमालिमेक्कं. मोत्तूण गया जिणसगासं ।। वि. २३३२।

[3] विशेषावश्यक, गा. २३३३ से २३५६।

स्वच्छन्द विचरता हुआ तिष्यगुप्त 'आमलकल्पा' नगरी में जाकर 'आम्रसालवन में ठहरा। वहां 'मित्रश्री' नाम का एक श्रावक था। उसने तिष्यगुप्त को निन्हव जानकर समझाने का उपाय सोचा। उसने सेवक-पुरुषों द्वारा भिक्षा जाते हुए तिष्यगुप्त को कहलाया "आज आप कृपा कर मेरे घर पधारें।" तिष्यगुप्त भी भावना समझ कर चला गया। मित्रश्री ने तिष्यगुप्त को बिठा कर बड़े आदर से विविध प्रकार के अन्न – पान – व्यञ्जन और वस्त्रादि लाकर देने को रखे और उनमें से सबके अन्तिम भाग का एक-एक कण लेकर मुनि को प्रतिलाभ दिया। तिष्यगुप्त यह देखकर बोले – "श्रावक! क्या तुम हँसी कर रहे हो या हमको विधर्मी समझ रहे हो?"

श्रावक ने कहा – "महाराज! आपका ही सिद्धान्त है कि अन्तिम प्रदेश जीव है, फिर मैंने गलती क्या की है? यदि एक कण में भोजन नहीं मानते तो आपका सिद्धान्त मिथ्या होगा।"

मित्रश्री की प्रेरणा से तिष्यगुप्त समझ गये और श्रावक मित्रश्री ने भी विधिपूर्वक प्रतिलाभ देकर तिष्यगुप्त को प्रसन्न किया एवं सादर उन्हें गुरु-सेवा में भेज कर उनको संयम शुद्धि में सहायता प्रदान की।

महावीर और गोशालक

भगवान् महावीर और गोशालक का वर्षों निकटतम सम्बन्ध रहा है। जैन शास्त्रों के अनुसार गोशालक प्रभु का शिष्य हो कर भी प्रबल प्रतिद्वन्द्वी के रूप में रहा है। भगवती सूत्र में इसका विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। भगवान् ने गोशालक को अपना कुशिष्य कह कर, परिचय दिया है। यहां ऐतिहासिक दृष्टि से गोशालक पर कुछ प्रकाश डाला जा रहा है।

डॉ० विमलचन्द्र ला ने गोशालक को चित्रकार अथवा चित्रविक्रेता का पुत्र बतलाया है।[१] कुछ इतिहास लेखकों ने मंखलि का अर्थ बांस की लाठी ले कर चलने वाला साधु किया है, पर उपलब्ध प्रमाणों के प्रकाश में प्रस्तुत कथन प्रमाणित नहीं होता। वास्तव में गोशालक का पिता मंखलि – मंख था। मंख का अर्थ चित्रकार या चित्रविक्रेता नहीं होता। मंख केवल शिव का चित्र दिखला कर अपना जीवनयापन करता था।[२] कारपेंटियर ने भी अपना यही मत प्रकट किया है।[३]

जैन सूत्रों में गोशालक के साथ मंखलि-पुत्र शब्द का भी प्रयोग मिलता है जो गोशालक के विशेषण रूप से प्रयुक्त है। टीकाकार अभयदेवसूरि ने भगवती

---

[१] इन्डोलोजिकल स्टडीज सैकिंड, पेज २४५ ॥

[२] डिक्श० आफ पेटी प्रोपर नेम्स पार्ट १, पेज ४०।

[३] (क) केदारपट्टिक, पृ० २४।१।

(ख) हरिभद्रीय आव० वृ०, पृ० २४१।

सूत्र की टीका में कहा है – "चित्रफलकं हस्ते गतं यस्य स तथा"। इसके अनुसार मंख का अर्थ चित्र-पट्ट हाथ में रख कर जीविका चलाने वाला होता है। पूर्व समय में मंख एक जाति थी, जिसके लोग शिव या किसी देव का चित्रपट्ट हाथ में रख कर अपनी जीविका चलाते थे। आज भी 'डाकोत' जाति के लोग शनि देव की मूर्ति या चित्र दिखा कर जीविका चलाते हैं।

गोशालक का नामकरण

गोशालक के नामकरण के सम्बन्ध में भगवती सूत्र में स्पष्ट निर्देश मिलता है। वहां कहा गया है कि 'मंख' जातीय मंखली गोशालक का पिता था और भद्रा माता थी। मंखली की गर्भवती भार्या भद्रा ने 'सरवण' ग्राम के गोबहुल ब्राह्मण की गोशाला में जहां कि मंखली जीविका के प्रसंग से चलते चलते पहुँच गया था, बालक को जन्म दिया। इसलिए उसका नाम 'गोशालक' रखा गया। मंखलि का पुत्र होने से वह मंखलि-पुत्र और गोशाला में जन्म लेने के कारण गोशालक[1] कहलाया। बड़ा होने पर चित्रफलक हाथ में ले कर गोशालक मंखपने से विचरने लगा।

त्रिपिटक में आजीवक नेता को मंखलि गोशालक कहा गया है। उसके मंखलि नामकरण पर बौद्ध परम्परा में एक विचित्र कथा प्रचलित है। उसके अनुसार गोशालक एक दास था। एक बार वह तेल का घड़ा उठाये आगे आगे चल रहा था और पीछे पीछे उसका मालिक। मार्ग में आगे फिसलन होने से मालिक ने कहा – 'तात मंखलि ! तात मंखलि ! अरे स्खलित मत होना, देख कर चलना' किन्तु मालिक के द्वारा इतना सावधान करने पर भी गोशालक गिर गया, जिससे घड़े का तेल भूमि पर वह चला। गोशालक स्वामी के डर से भागने लगा तो स्वामी ने उसका वस्त्र पकड़ लिया। फिर भी वह वस्त्र छोड़ कर नंगा ही भाग चला। तब से वह नग्न साधु के रूप में रहने लगा और लोग उसे[2] माखलि कहने लगे।

व्याकरणकार 'पाणिनि' और भाष्यकार पतंजलि ने 'मंखलि' का शुद्ध रूप 'मस्करी' माना है। "मस्कर मस्करिणौ वेणु-परिव्राजकयोः" ६।१।२५४ में मस्करी का सामान्य अर्थ परिव्राजक किया है। भाष्यकार का कहना है कि मस्करी वह साधु नहीं जो हाथ में मस्कर या वांस की लाठी ले कर चलता है, किन्तु मस्करी वह है जो कर्म मत करो का उपदेश देता है और कहता है –"शान्ति का मार्ग ही श्रेयस्कर है।"[3]

---

[1] भगवती सूत्र, श० १५।१।

[2] (क) आचार्य बुद्धघोष, धम्मपद अट्ठकथा १।१४३
(ख) मज्झिमनिकाय अट्ठकथा, १।४२२।

[3] न वै मस्करोऽस्यास्तीति मस्करी परिव्राजकः। किं तर्हि माकृत कर्माणि माकृत कर्माणि, शान्तिर्वः श्रेयसीत्याहातो मस्करी परिव्राजकः॥ [पातञ्जल महाभाष्य ६-१-१५४]

यहां गोशालक का नाम स्पष्ट नहीं होने पर भी दोनों का अभिमत उसी ओर संकेत करता है। लगता है, गोशालक जब समाज में एक धर्माचार्य के रूप से विख्यात हो चुका, तब 'कर्म मत करो' की व्याख्या प्रचलित हुई, जो उसके नियतिवाद की ओर इशारा करती है।

आचार्य गुणचन्द्र रचित 'महावीर चरियं' में गोशालक की उत्पत्ति विषयक सहज ही विश्वास कर लेने और मानने योग्य रोचक एवं सुसंगत विवरण मिलता है। उसमें गोशालक के जीवनचरित्र का भी पूर्णरूपेण परिचय उपलब्ध होता है, इस दृष्टि से आचार्य गुणचन्द्र द्वारा दिये गये गोशालक के विवरण का अविकल अनुवाद यहां दिया जा रहा है :–

"उत्तरापथ में सिलिन्ध नाम का सन्निवेश था। वहां केशव नाम के एक ग्रामरक्षक की शिवा नाम की प्राणप्रिया एवं विनीता पत्नी की कुक्षि से मंख नामक एक पुत्र का जन्म हुआ। क्रमशः वह मंख युवावस्था को प्राप्त हुआ। एक दिन मंख अपने पिता के साथ स्नानार्थ एक सरोवर पर गया और स्नान करने के पश्चात् एक वृक्ष के नीचे बैठ गया। वहां बैठे-बैठे मंख ने देखा कि एक चक्रवाक-युगल परस्पर प्रगाढ़ प्रेम से लबालब भरे हृदय से अनेक प्रकार की प्रेम-क्रीड़ाएं कर रहा है। कभी तो वह चक्रवाक-मिथुन अपनी चंचुओं से कुतरे गये नवीन ताजे पद्मनाल के टुकड़े की छीना-झपटी करके एक दूसरे के प्रति अपने प्रणय को प्रकट करता था तो कभी सूर्य के अस्त हो जाने की आशंका से एक दूसरे को अपने प्रगाढ़ आलिंगन में जकड़ लेता था तो कभी जल में अपने प्रतिबिम्ब को देख कर विरह की आशंका से त्रस्त हो निष्कपट भाव से एक दूसरे को अपना सर्वस्व समर्पण करते हुए मधुर प्रेमालाप में आत्मविभोर हो जाता था।

चक्रवाक-युगल को इस प्रकार प्रेमकेलि में खोये हुए जानकर काल की तरह चुपके से सरकते हुए शिकारी ने आकर्णान्त धनुष की प्रत्यंचा खींच कर उन पर तीर चला दिया। दैव संयोग से वह तीर चकवे के लगा और वह उस प्रहार से मर्माहत हो छटपटाने लगा। चक्रवाक की तथाविध व्यथा को देखकर चकवी ने क्षण भर विलाप कर प्राण त्याग दिये। मुहूर्त भर बाद चकवा भी कालधर्म को प्राप्त हुआ।

इस प्रकार चकवे और चकवी की यह दशा देख कर मंख की आंखें मुंद गईं और वह मूच्छित हो कर धरणितल पर गिर पड़ा। जब केशव ने यह देखा तो वह विस्मित हो सोचने लगा कि यह अकल्पित घटना कैसे घटी। उसने शीतलोपचारों से मंख को आश्वस्त किया और थोड़ी देर पश्चात् मंख की मूर्च्छा दूर होने पर केशव ने उससे पूछा – "पुत्र! क्या किसी वात दोष से, पित्त दोष से अथवा और किसी शारीरिक दुर्बलता के कारण तुम्हारी ऐसी दशा हुई है जिससे कि तुम चेष्टा-रहित हो बड़ी देर तक मूच्छित पड़े रहे? क्या कारण है, सच सच बतलाओ?"

मंख ने भी अपने पिता की बात सुनकर दीर्घ निश्वास छोड़ते हुए कहा – "तात ! इस प्रकार के चक्रवाक-युगल को देख कर मुझे अपने पूर्वजन्म का स्मरण हो आया। मैंने पूर्वजन्म में मानसरोवर पर इसी प्रकार चक्रवाक के मिथुन रूप से रहते हुए एक भील द्वारा छोड़े गये बाण से अभिहत हो विरह-व्याकुला चकवी के साथ मरण प्राप्त किया था और तत्पश्चात् मैं आपके यहां पुत्र रूप से उत्पन्न हुआ हूँ। इस समय मैं स्मृतिवश अपनी उस चिरप्रणयिनी चकवी के विरह को सहने में असमर्थ होने के कारण बड़ा दुखी हूँ।"

केशव ने कहा – "वत्स ! अतीत दुःख के स्मरण से क्या लाभ ? कराल काल का यही स्वभाव है, वह किसी को भी चिरकाल तक प्रिय-संयोग से सुखी नहीं देख सकता। जैसे कि कहा भी है :–

"स्वर्ग के देवगण भी अपनी प्रणयिनी के विरहजन्य दुःख से संतप्त होकर मूर्च्छित की तरह किसी न किसी तरह अपना समय-यापन करते हैं, फिर तुम्हारे जैसे प्राणी जिनका चर्म से मंढ़ा हुआ शरीर सभी आपित्तियों का घर है, उनके दुःखों की गणना ही क्या है ? इसलिये पूर्वभव के स्मरण को भूलकर वर्तमान को ध्यान में रखकर यथोचित व्यवहार करो। क्योंकि भूत-भविष्यत् की चिन्ता से शरीर क्षीण होता है। इससे यह और भी निश्चित रूप से सिद्ध होता है कि यह संसार असार है, जहां जन्म-मरण, जरा, रोग-शोक आदि बड़े-बड़े दुःख हैं।"

इस प्रकार विविध हेतुओं और युक्तियों से मंख को समझा कर केशव किसी तरह उसे घर ले गया। घर पर पहुंच कर भी मंख बिना अन्नजल ग्रहण किये शून्य मन से धरणितल की ओर निगाह गड़ाये, किसी बड़े योगी की तरह निष्क्रिय हो कर, निरन्तर चिन्तामग्न हो, अपने जीवन को तृण की तरह तुच्छ मानता हुआ रहने लगा।

मंख की ऐसी दशा देख कर चिन्तित स्वजनवर्ग ने, कहीं कोई छलना-विकार तो नहीं है, इस विचार से तान्त्रिक लोगों को बुलाकर उन्हें उसे दिखाया। मंख का अनेक प्रकार से उपचार किया गया पर सब निरर्थक।

एक दिन देशान्तर से एक वृद्ध पुरुष आया और केशव के घर पर ठहरा। उसने जब मंख को देखा तो वह केशव से पूछ बैठा – "भद्र ! यह तरुण रोगादि से रहित होते हुए भी रोगी की तरह क्यों दिख रहा है ?"

केशव ने उस वृद्ध पुरुष को सारी स्थिति से अवगत किया। वृद्ध पुरुष ने पूछा – "क्या तुमने इस प्रकार के दोष का कोई प्रतिकार किया है ?"

केशव ने उत्तर दिया – "इसे बड़े-बड़े निष्णात मान्त्रिकों और तान्त्रिकों को दिखाया है।"

वृद्ध ने कहा – "यह सभी उपक्रम व्यर्थ हैं, प्रेम के ग्रह से ग्रस्त का वे बेचारे क्या प्रतिकार करेंगे ? कहा भी है –

"भयंकर विषधर के डस लेने से उत्पन्न वेदना को शान्त करने में कुशल, सिंह, दुष्ट हाथी और राक्षसी का स्तंभन करने में प्रवीण और प्रेतबाधा से उत्पन्न उपद्रव को शान्त करने में सक्षम उच्चकोटि के मान्त्रिक अथवा तान्त्रिक भी प्रेमपरवश हृदय वाले व्यक्ति को स्वस्थ करने में समर्थ नहीं होते।"

केशव ने पूछा – "तो फिर अब इसका क्या किया जाय?"

वृद्ध ने उत्तर दिया – "यदि तुम मुझ से पूछते हो तो जब तक कि यह दशवीं दशा (विक्षिप्तावस्था) प्राप्त न कर ले उससे पहले-पहले इसके पूर्वजन्म के वृत्तान्त को एक चित्रपट पर अंकित करवा लो, जिसमें यह दृश्य अंकित हो कि भील ने बाण से चकवे पर प्रहार किया, चकवा घायल हो गिर पड़ा, चकवी उस चकवे की इस दशा को देख कर मर गई और उसके पश्चात् वह चकवा भी मर गया।"

"इस प्रकार का चित्रफलक तैयार करवा कर मंख को दो जिसे लिये-लिये यह मंख ग्राम-नगरादि में परिभ्रमण करे। कदाचित् ऐसा करने पर किसी तरह विधिवशात् इसकी पूर्वभव की भार्या भी मानवी भव को पाई हुई उस चित्रफलक पर अंकित चक्रवाक-मिथुन के उस प्रकार के दृश्य को देखकर पूर्वभव की स्मृति से इसके साथ लग जाय।"

"प्राचीन शास्त्रों में इस प्रकार के वृत्तान्त सुने भी जाते हैं। इस उपाय से आशा का सहारा पाकर यह भी कुछ दिन जीवित रह सकेगा।"

वृद्ध की बात सुनकर केशव ने कहा – "आपकी बुद्धि की पहुंच बहुत ठीक है। आप जैसे परिणत बुद्धि वाले पुरुषों को छोड़कर इस प्रकार के विषम अर्थ का निर्णय कौन जान सकता है?"

इस प्रकार वृद्ध की प्रशंसा कर केशव ने मंख से सब हाल कहा। मंख बोला – "तात! इसमें क्या अनुचित है? शीघ्र ही चित्रपट को तैयार करवा दीजिये। कुविकल्पों की कल्लोलमाला से आकुल चित्त वाले के समाधानार्थ यही उपक्रम उचित है।"

मंख के अभिप्राय को जान कर केशव ने भी यथावस्थित चक्रवाक-मिथुन का चित्रपट पर आलेखन करवाया और वह चित्रफलक और मार्ग में जीवन-निर्वाह हेतु संबल के रूप में द्रव्य मंख को प्रदान किया।

मंख उस चित्रफलक और एक सहायक को साथ ले कर ग्राम, नगर सन्निवेशादि में बिना किसी प्रकार का विश्राम किये आशापिशाचिनी के वशीभूत हो घूमने लगा। मंख उस चित्रफलक को घर-घर और नगर के त्रिक-चतुष्क एवं चौराहों पर ऊंचा कर के दिखाता और कुतूहल से जो भी चित्रपट के विषय में उससे पूछता उसे सारी वास्तविक स्थिति समझाता। निरन्तर विस्तार के साथ अपनी आत्मकथा कह कर यह लोगों को चित्रफलक पर अंकित चक्रवाक-मिथुन की ओर इंगित कर कहता – "देखो मानसरोवर के तट पर

परस्पर प्रेमकेलि में निमग्न यह चकवा-चकवी का जोड़ा किसी शिकारी द्वारा छोड़े गये बाण से शरीर त्याग कर एक दूसरे से बिछुड़ गया। इस समय यह प्रियमिलन के लिये छटपटा रहा है।"

मंख के मुख से इस प्रकार की कथा सुन कर कुछ लोग उसकी खिल्ली उड़ाते, कुछ भला बुरा कहते तो कुछ उस पर दयार्द्र हो अनुकम्पा करते।

इस प्रकार मंख भी अपने कार्यसाधन में दत्तचित्त हो घूमता हुआ चम्पा नगरी पहुंचा। उसका पाथेय समाप्त हो चुका था अतः जीवन-निर्वाह का अन्य कोई साधन न देख मंख उसी चित्रफलक को अपनी वृत्ति का आधार बना कर गाने गाता हुआ भिक्षार्थ घूमने लगा और उस भिक्षाटन के कार्य से क्षुधा-शान्ति एवं अपनी प्रेयसी की तलाश, ये दोनों कार्य करने लगा।

उसी नगर में मंखली नाम का एक गृहस्थ रहता था। उसकी स्त्री का नाम सुभद्रा था। वह वाणिज्य कला से नितान्त अनभिज्ञ, नरेन्द्र सेवा के कार्य में अकुशल, कृषि कार्यों में सामर्थ्यहीन एवं आलसी तथा अन्य प्रकार के प्रायः सभी सामान्य कष्टसाध्य कार्यों को करने में भी अविचक्षण था। सारांश यह कि वह केवल भोजन का भाण्ड था। वह निरन्तर इसी उपाय की टोह में रहता था कि किस प्रकार वह आसानी से अपना निर्वाह करे। एक दिन उसने मंख को देखा कि वह केवल चित्रपट को दिखाकर प्रतिदिन भिक्षावृत्ति से सुखपूर्वक निर्वाह कर रहा है।

उसे देखकर मंखली ने सोचा – "अहो! इसकी यह वृत्ति कितनी अच्छी है जिसे कभी कोई चुरा नहीं सकता। नित्यप्रति दूध देने वाली कामधेनु के समान, विना पानी के धान्यनिष्पत्ति की तरह यह एक क्लेशरहित महानिधि है। चिरकाल से जिस वस्तु की मैं चाह कर रहा था उसकी प्राप्ति से मैं जीवन पा चुका हूं। यह वहुत ही अच्छा उपाय है।"

ऐसा सोच कर वह मंख के पास गया और उसकी सेवा करने लगा। उसने उससे कुछ गाने सीखे और अपने पूर्वभव की भार्या के विरह-वज्र से जर्जरित हृदय वाले उस मंख की मृत्यु के पश्चात् मंखली अपने आपको सारभूत तत्त्व का ज्ञाता समझते हुए वड़े विस्तृत विवरण के साथ वैसा चित्रफलक तैयार करवाकर अपने घर पहुंचा।

मंखली ने अपनी गृहिणी से कहा – "प्रिये! अब भूख के सिर पर वज्र मारो और विहार – यात्रा के लिये स्वस्थ हो जाओ।"

मंखली की पत्नी ने उत्तर दिया – "मैं तो तैयार ही हूं, जहां आपकी रुचि हो वहीं चलिये।"

चित्रफलक ले कर मंखली अपनी पत्नी के साथ नगर से निकल पड़ा और मंखवृत्ति से देशांतर में भ्रमण करने लगा। लोग भी उसे आया देखकर पहले देखे हुए मंख के खयाल से "मंख आ गया, यह मंख आ गया" इस तरह कहने लगे।

इस प्रकार मंख द्वारा उपदिष्ट पासंड व्रत से संबद्ध होने के कारण वह मंखली मंख कहलाया।

अन्यदा मंख परिभ्रमण करते हुए सरबण ग्राम में पहुंचा और गोवहुल ब्राह्मण की गोशाला में ठहरा। गोशाला में रहते हुए उसकी पत्नी सुभद्रा ने एक पुत्र को जन्म दिया। गोशाला में उत्पन्न होने के कारण उसका गुणनिष्पन्न नाम गोशालक रखा गया।

अनुक्रम से बढ़ता हुआ गोशालक बाल्यवय को पूर्ण कर तरुण हुआ। वह स्वभाव से ही दुष्ट प्रकृति का था अतः सहज में ही विविध प्रकार के अनर्थ कर डालता, माता-पिता की आज्ञा में नहीं चलता और सीख देने पर द्वेष करता। सम्मानदान से संतुष्ट किये जाने पर क्षण भर सरल रहता और फिर कुत्ते की पूँछ की तरह कुटिलता प्रदर्शित करता। बिना थके बोलते ही रहने वाले, कूड़-कपट के भण्डार और परम मर्मवेधी उस वैताल के समान गोशालक को देखकर सभी सशंक हो जाते।

मां के द्वारा यह कहने पर – "हे पाप! मैंने नव मास तक तुझे गर्भ में वहन किया और बड़े लाड प्यार से पाला है, फिर भी तू मेरी एक भी बात क्यों नहीं मानता?" गोशालक उत्तर में यह कहता – "अम्ब! तू मेरे उदर में प्रविष्ट हो जा मैं दुगुने समय तक तुझे धारण कर रखूँगा।"

जब तक गोशालक अपने पिता के साथ कलह नहीं कर लेता तब तक उसे खुल कर भोजन करने की इच्छा नहीं होती। निश्चित रूप से सारे दोष-समूहों से उसका निर्माण हुआ था जिससे कि सम्पूर्ण जगत् में उसके समान कोई और दूसरा दृष्टिगोचर नहीं होता था।

इस प्रकार की दुष्ट प्रकृति के कारण उसने सब लोगों को अपने से पराङ्मुख कर लिया था। लोग उसको दुष्टजनों में प्रथम स्थान देने लगे। बिष-वृक्ष और दृष्टिविष वाले विषधर की तरह वह प्रथम उद्गमकाल में ही दर्शनमात्र से भयंकर प्रतीत होने लगा।

किसी समय पिता के साथ खूब लड़-झगड़ कर उसने वैसा ही चित्रफलक तैयार करवाया और एकाकी भ्रमण करते हुए उस शाला में चला आया जहां भगवान् महावीर बिराजमान थे।

[महावीर चरियं (गुणचन्द्र रचित) प्रस्ताव ६, पत्र १८३-१८६]

जैनागमों की मौलिकता

इस विषय में जैनागमों का कथन इसलिये मौलिक है कि उसे मंखलि का पुत्र बतलाने के साथ गोशाला में उत्पन्न होना भी कहा है। पाणिनि कृत– "गोशालायां जातो गोशालः" इस व्युत्पत्ति से भी इस कथन की पुष्टि होती है। बौद्ध आचार्य बुद्धघोष ने [illegible] की टीका में गोशालक का जन्म

गोशाला में हुआ माना है।[1] इतिहास-लेखकों ने पाणिनि का काल ई० पूर्व ४०० से ई० पूर्व ४१० माना है।[2] गोशालक के निधन और पाणिनि के रचनाकाल में लगभग एक सौ बयालीस वर्ष का अन्तर है। संभव है, गोशालक-मत के उत्कर्ष-काल में यह व्याख्या की गई हो।

गोशालक का आजीवक सम्प्रदाय में प्रमुख स्थान रहा है। कुछ विद्वानों ने उसे आजीवक सम्प्रदाय का प्रवर्तक भी बताया है। पर सही बात यह है कि आजीवक सम्प्रदाय गोशालक के पूर्व से ही चला आ रहा था। जैनागम एवं त्रिपिटक में गोशालक की परम्परा को आजीवक या आजीविक कहा है। दोनों का अर्थ एक ही है। प्रतिपक्ष द्वारा निर्धारित इस नाम की तरह वे स्वयं इसका क्या अर्थ करते होंगे, यह स्पष्ट नहीं होता। हो सकता है, उन्होंने इसका शुभरूप स्वीकार किया हो।

डॉ० बरुआ ने आजीविक के सम्बन्ध में लिखा है कि यह ऐसे संन्यासियों की एक श्रेणी है, जिनके जीवन का आधार भिक्षावृत्ति है, जो नग्नता को अपनी स्वच्छता एवं त्याग का बाह्य चिह्न बनाये हुए हैं, जिनका सिर मुंडा हुआ रहता है और जो हाथ में बांस के डंडे रखते हैं। इनकी मान्यता है कि जीवन-मरण, सुख-दुःख और हानि-लाभ यह सब अनतिक्रमणीय हैं, जिन्हें टाला नहीं जा सकता। जिसके भाग्य में जो लिखा है, वह होकर ही रहता है।

गोशालक का महावीर से सम्पर्क

साधना के दूसरे वर्षावास में जब भगवान् महावीर राजगृह के बाहर नालन्दा में मासिक तप के साथ चातुर्मास कर रहे थे, उस समय गोशालक भी हाथ में परम्परानुकूल चित्रपट लेकर ग्राम-ग्राम घूमता हुआ प्रभु के पास तन्तुवाय शाला में आया। अन्य योग्य स्थान न मिलने के कारण उसने भी उसी तन्तुवाय शाला में चातुर्मास व्यतीत करने का निश्चय किया।

भगवान् महावीर ने प्रथम मास का पारणा 'विजय' गाथापति के यहां किया। विजय ने बड़े भक्तिभाव से प्रभु का सत्कार किया और उत्कृष्ट अशन-पान आदि से प्रतिलाभ दिया। त्रिविध-त्रिकरण शुद्धि से दिये गये उसके पारण-दान की देवों ने महिमा की, उसके यहां पंच-दिव्य प्रकट हुए। क्षण भर में यह अद्भुत समाचार अनायास नगर भर में फैल गया और दृश्य देखने को जन-समूह उमड़ पड़ा। मंखलिपुत्र गोशालक भी भीड़ के साथ चला आया और द्रव्य-वृष्टि आदि आश्चर्यजनक दृश्य देखकर दंग रह गया। वह वहां से लौट कर भगवान् महावीर के पास आया और प्रदक्षिणापूर्वक वन्दन करके बोला – "भगवन्! आज से आप मेरे धर्माचार्य और मैं आपका शिष्य हूं। मैंने मन में भली-भांति

[1] सुमंगल विलासिनी (दीर्घनिकाय अट्ठकहा) पृ० १४३-४४
[2] वासुदेवशरण अग्रवाल। पाणिनिकालीन भारतवर्ष।

सोचकर ऐसा निश्चय किया है। मुझे अपनी चरण-शरण में लेकर सेवा का अवसर दें।" प्रभु ने सहज में उसकी बात सुन ली और कुछ उत्तर नहीं दिया।

भगवान् महावीर के चतुर्थ मासिक तप का पारणा नालन्दा के पास 'कोल्लाग' गांव में 'बहुल' ब्राह्मण के यहां हुआ था। गोशालक की अनुपस्थिति में भगवान् गोचरी के लिये बाहर निकले थे अतः गोशालक जब पुनः तन्तुवाय-शाला में आया तो वहां प्रभु को न देख कर उसने सारी राजगृही छान डाली मगर प्रभु का कुछ पता नहीं लगा। अन्त में हार कर उदास मन से वह तन्तुवाय-शाला में लौट आया और अपने वस्त्र, पात्र, जूते आदि ब्राह्मणों को बांट कर स्वयं दाढ़ी मूंछ मुंडवा कर प्रभु की खोज में कोल्लाग सन्निवेश की ओर चल दिया।

शिष्यत्व की ओर

मार्ग में जन-समुदाय के द्वारा 'बहुल' के यहां हुई दिव्य-वृष्टि के समाचार सुनकर गोशालक को पक्का विश्वास हो गया कि निश्चय ही भगवान् यहां विराजमान हैं, क्योंकि उनके जैसे तपस्तेज की ऋद्धि वाले अन्यत्र दुर्लभ हैं। उनके चरण-स्पर्श के बिना इस प्रकार की दिव्य-वृष्टि संभव नहीं है। इस तरह अनुमान के आधार पर पता लगाते हुए वह महावीर के पास पहुंच गया।

गोशालक ने प्रभु को सविधि वन्दन कर कहा – "प्रभो! मुझसे ऐसा क्या अपराध हो गया जो इस तरह बिना बताये आप यहां चले आये? मैं आपके बिना अब एक क्षण भी अन्यत्र नहीं रह सकता। मैंने अपना जीवन आपके चरणों में समर्पित कर दिया है। मैं पहलें ही निवेदन कर चुका हूँ कि आप मेरे धर्माचार्य और मैं आपका शिष्य हूँ।"

प्रभु ने जब गोशालक के विनयावनत अन्तःकरण को देखा तो उसकी प्रार्थना पर "तथास्तु" की मुहर लगा दी। प्रभु के द्वारा अपनी प्रार्थना स्वीकृत होने पर वह छः वर्ष से अधिक शिष्य रूप में भगवान् के साथ विभिन्न स्थानों में विचरता रहा, जिसका उल्लेख महावीर-चर्या के प्रसंग में यथास्थान किया जा चुका है।

विरुद्धाचरण

प्रभु के साथ विहार करते हुए गोशालक ने कई बार भगवान् की बात को मिथ्या प्रमाणित करने का प्रयत्न किया किन्तु उसे कहीं भी सफलता नहीं मिली। दुराग्रह के कारण उसके मन में प्रभु के प्रति श्रद्धा में कमी आयी किन्तु वह प्रभु से तेजोलेश्या का ज्ञान प्राप्त करना चाहता था अतः उस अवधि तक वह मन मसोस कर भी जैसे-तैसे उनके साथ चलता रहा। अन्ततः एक दिन भगवान् से तेजोलेश्या प्राप्त करने की विधि जानकर वह उनसे अलग हो गया और नियतिवाद का प्रबल प्रचारक एवं समर्थक बन गया। कुछ दिनों के बाद उसे कुछ मत-समर्थक साथी या शिष्य भी मिल गये, तब से वह अपने को जिन और केवली भी घोषित करने लगा।

भगवान् जिस समय श्रावस्ती में विराजमान थे, उस समय गोशालक का जिन रूप से अपना प्रचार जोरों से चल रहा था। गोशालक के जिनत्व के सम्बन्ध में गौतम द्वारा जिज्ञासा करने पर प्रभु ने कहा – "गौतम ! गोशालक जिन नहीं, जिन-प्रलापी है।" प्रभु की यह वाणी श्रावस्ती नगरी में फैल गई। गोशालक ने जब यह बात सुनी तो वह क्रोध से तिलमिला उठा। उसने महावीर के शिष्य आनन्द को बुलाकर भला-बुरा कहा और स्वयं आवेश में प्रभु के पास पहुंचकर रोषपूर्ण भाषा बोलने लगा।

महावीर ने पहले से ही अपने श्रमणों को सूचित कर रखा था कि गोशालक यहां आने वाला है और वह अभद्र वचन बोलेगा अतः कोई भी मुनि उससे संभाषण नहीं करे। प्रभु द्वारा इस प्रकार सावचेत करने के उपरान्त भी गोशालक के अनर्गल प्रलाप और अपमानजनक शब्दों को सुनकर भावावेश में दो मुनि उससे बोल गये। गोशालक ने क्रुद्ध हो उन पर तेजोलेश्या फेंकी, जिससे वे दोनों मुनि काल कर गये। भगवान् द्वारा उद्‌बोधित किये जाने पर उसने भगवान् को भी तेजोलेश्या से पीड़ित किया। वास्तव में मूढ़मति पर किये गये उपदेश का ऐसा ही कुपरिणाम होता है, जैसा कि कहा है – "पयः पानं भुजंगानां केवलं विषवर्धनम्।" विशेष जानकारी के लिये साधनाकालीन विहारचर्या दृष्टव्य है।

आजीवक नाम की सार्थकता

गोशालक-परम्परा का आजीवक नाम केवल आजीविका का साधन होने से ही पड़ा हो ऐसी बात नहीं है। इस मत के अनुयायी भी विविध प्रकार के तप और ध्यान करते थे। जैसे कि जैनागम स्थानांग में आजीवकों के चार प्रकार के तप बतलाये हैं। कल्प चूर्णि आदि ग्रन्थों में पांच प्रकार के श्रमणों का उल्लेख है, जिसमें एक औष्ट्रिका श्रमण का भी उल्लेख है। ये मिट्टी के बड़े बर्तन में ही बैठ कर तप करते थे।

उपर्युक्त निर्देशों को ध्यान में रखते हुए यह कहा जाना कठिन है कि आजीवकमती केवल उदरार्थी होते थे। आश्चर्य की बात तो यह है कि वे आत्मवादी, निर्वाणवादी और कष्टवादी होकर भी कट्टर नियतिवादी थे। उनके मत में पुरुषार्थ कुछ भी कार्यसाधक नहीं था फिर भी वे अनेक प्रकार के तप और आतापनायें किया करते थे। मुनि कल्याण विजयजी के अनुसार वे अपनी इस विरोधात्मक प्रवृत्ति के कारण ही विरोधी लोगों के आक्षेप के पात्र बने। लोग कहने लगे कि ये जो कुछ भी करते हैं, आजीविका के लिये करते हैं, अन्यथा नियतिवादी को इसकी क्या आवश्यकता है ?

आजीवक नाम प्रचलित होने के मूल में चाहे जो अन्य कारण रहे हों पर इस नाम के सर्वमान्य होने का एक प्रमुख कारण आजीविका भी है।

जैनागम भगवती के अनुसार गोशालक निमित्त-शास्त्र का भी अभ्यासी था। वह समस्त लोगों के हानि-लाभ, सुख-दुख एवं जीवन-मरण विषयक भविष्य

बताने में कुशल और सिद्धहस्त माना जाता था। अपने प्रत्येक कार्य में वह उस ज्ञान की सहायता लेता था। आजीवक लोग इस विद्या के बल से अपनी सुख-सामग्री जुटाया करते थे। इसके द्वारा वे सरलता से अपनी आजीविका चलाते। यही कारण है कि जैन शास्त्रों में इस मत को आजीवक और लिंगजीवी कहा है।

इस तरह नियतिवादी होकर भी विविध क्रियाओं के करने और आजीविका के लिये निमित्त विद्या का उपयोग करने से वे विरोधियों, खासकर जैनों द्वारा 'आजीवक' नाम से प्रसिद्ध हुए हों, यह संगत प्रतीत होता है।

आजीवक-चर्या

'मज्झिमनिकाय' के अनुसार निग्रन्थों के समान आजीवकों की जीवन-चर्या के नियम भी कठोर बताये गये हैं। 'मज्झिमनिकाय' में आजीवकों की भिक्षाचरी का प्रशंसात्मक उल्लेख करते हुए एक स्थान पर लिखा है – "गांवों-नगरों में आजीवक साधु होते हैं, उनमें से कुछ एक दो घरों के अन्तर से, कुछ एक तीन घरों के अन्तर से, यावत् सात घरों के अन्तर से भिक्षा ग्रहण करते हैं। संसार-शुद्धि की दृष्टि से जैनों के चौरासी लाख जीव-योनि के सिद्धान्त की तरह वे चौरासी लाख महाकल्प का परिमाण मानते हैं। छः लेश्याओं की तरह गोशालक ने छः अभिजातियों का निरूपण किया है, जिनके कृष्ण, नील, आदि नाम भी बराबर मिलते हैं।"

भगवती में आजीवक उपासकों के आचार-विचार का संक्षिप्त परिचय मिलता है, जो इस प्रकार है :–

"गोशालक के उपासक अरिहन्त को देव मानते, माता-पिता की सेवा करते, गूलर, बड़, बेर, अंजीर, एवं पिलंखु इन पांच फलों का भक्षण नहीं करते, बैलों को लांछित नहीं करते, उनके नाक, कान का छेदन नहीं करते एवं जिससे त्रस प्राणियों की हिंसा हो, ऐसा व्यापार नहीं करते थे।[1]

आजीवक मत का प्रवर्तक

अभी तक बहुत से जैन-अजैन विद्वान् गोशालक को आजीवक मत का संस्थापक मानते आ रहे हैं। जैन शास्त्रों के अनुसार गोशालक नियतिवाद का समर्थक और आजीवक मत का प्रमुख आचार्य रहा है किन्तु कहीं भी उसका इस मत के संस्थापक के रूप में नामोल्लेख नहीं मिलता।

जैन शास्त्रों में जो अन्य तीर्थों के चार प्रकार बतलाये गये हैं, उनमें नियतिवाद का स्थान चौथा है। इससे महावीर के समय में "नियतिवादी"

---

[1] इच्चेए दुवालस आजीविओवासगा अरिहंत देवयागा अम्मापिउसुस्सूसगा पंचफल-पडिक्कन्ता तं० उडंबरेहिं, बडेहिं बोरेहिं, सतरेहिं, पिलक्खूहिं. पलंडुल्हसूणकन्दमूलविवज्जगा अणिल्लंछिएहिं अणक्कभिण्णेहिं तसपाण विवज्जिएहिं चित्तेहिं वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति।
[भगवती सूत्र, शतक ८, उ० ५, सू० ३३०, अभयदेवीयावृत्ति, प. ३७० (१)]

संघ पूर्व से ही प्रचलित होना प्रमाणित होता है। बौद्धागम 'विनयपिटक' में बुद्ध के साथ एक 'उपक' नाम के आजीवक भिक्षु के मिलने की बात आती है। यदि आजीवक मत की स्थापना गोशालक से मानी जाय तो उसका मिलना संभव नहीं होता क्योंकि महावीर की बत्तीस वर्ष की वय में जब पहले पहल गोशालक उनसे मिला तब वह किशोरावस्था में पन्द्रह सोलह वर्ष का था। जिस समय वह महावीर के साथ हुआ, उस समय प्रव्रज्या के दो वर्ष हो चुके थे। इसके बाद उसने नौवें वर्ष में पृथक् हो, श्रावस्ती में छः माह तक आतापना ले कर तेजोलेश्या प्राप्त की। फिर निमित्त शास्त्र का अध्ययन कर वह आजीवक संघ का नेता बन गया। निमित्त ज्ञान के लिये कम से कम तीन-चार वर्ष का समय माना जाय तो गोशालक द्वारा आजीवक संघ का नेतृत्व ग्रहण करना लगभग महावीर के तीर्थंकरपद-प्राप्ति के समय हो सकता है। ऐसी स्थिति में बुद्ध को बुद्धत्व प्राप्त होने के समय गोशालक के मिलने की बात ठीक नहीं लगती। फिर बौद्ध ग्रन्थ "दीर्घ निकाय" और मज्झिम निकाय में मंखलि गोशालक के अतिरिक्त "किस्स संकिच्च" और "नन्दवच्छ" नाम के दो और आजीवक नेताओं के नाम मिलते हैं। इससे यह अनुमान होता है कि गोशालक से पूर्व ये दोनों आजीवक भिक्षु थे। इन्होंने आजीवक मत स्वीकार करने के बाद गोशालक को लब्धिधारी और निमित्त शास्त्र का ज्ञाता जान कर संघ का नायक बना दिया हो, यह संभव है।

आजीवक मत की स्थापना का स्पष्ट निर्देश नहीं होने पर भी गोशालक के शरीरान्तर प्रवेश के सिद्धान्त से यह अनुमान लगाया जाता है कि उदायी कुंडियायन आजीवक संघ का आदिप्रवर्तक हो, जो गोशालक के स्वर्गवास से १३३ वर्ष पूर्व हो चुका था। गोशालक के सम्बन्ध में इन वर्षों में काफी गवेषणा हुई है। पूर्व और पश्चिम के विद्वानों ने भी बहुत कुछ नयी शोध की है, फिर भी यह निश्चित है कि गोशालक विषयक जो सामग्री जैन और बौद्ध साहित्य में उपलब्ध होती है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। कुछ विद्वान् इस बात को भूल कर मूल से ही विपरीत सोचते हैं। उनका कहना है कि जैन दृष्टि गोशालक को महावीर के ढोंगी शिष्यों में से एक मानती है पर वास्तव में ऐसी बात नहीं है। डॉ० बरुआ ने अपनी इस धारणा की पृष्ठभूमि में माना है कि – महावीर पहले तो पार्श्वनाथ के पंथ में थे, किन्तु एक वर्ष बाद वे अचेलक हुए, तब अचेलक पंथ में चले गये।[1] इन्होंने यह भी माना है कि गोशालक को महावीर से दो वर्ष पूर्व ही जिनत्व प्राप्त हो गया। उनके ये सब विचार कल्पनाश्रित हैं, फिर भी साधारण विचारकों पर उनका प्रभाव होना सहज है। जैसा कि गोपालदास जीवाभाई पटेल ने बरुआजी के ग्रन्थ से प्रभावित हो कर लिखा – "जैन सूत्रों में गोशालक के विषय में जो परिचय मिलता है, उसमें उसको चरित्र-भ्रष्ट तथा महावीर

[1] महावीर नो संयम धर्म (सूत्र कृतांग का गुजराती संस्करण), पृ० ३४।

का शिष्य ठहराने का इतना अधिक प्रयत्न किया गया है कि उन लेखों को आधारभूत मानने को मन ही नहीं मानता।[1]

वास्तव में गोपालदास ने जैन सूत्रों के भाव को नहीं समझा, वे पश्चिमी विचार के प्रभाव में ऐसा लिख गये। असल में जैन और बौद्ध परम्पराओं से हट कर यदि इसका अन्वेषण किया जाय तो संभव है कि गोशालक नाम का कोई व्यक्ति ही हमें न मिले। जब हम कुछ आधारों को सही मानते हैं, तब किसी कारण से कुछ अन्य को असत्य मान लें, यह उचित प्रतीत नहीं होता। भले ही जैन और बौद्ध आधार किसी अन्य भाव या भाषा में लिखे गये हों फिर भी वे हमें मान्य होने चाहिये। क्योंकि वे निर्हेतुक नहीं हैं, निर्हेतुक होते तो दो भिन्न परम्पराओं के उल्लेख में एक दूसरे का समर्थन एवं साम्य नहीं होता। यदि जैन आगम उसे शिष्य बतलाते और बौद्ध व आजीवक शास्त्र उसे गुरु लिखते तो यह शंका उचित हो सकती थी, पर वैसी कोई स्थिति नहीं है।

जैन शास्त्र की प्रामाणिकता

जैन आगमों के एतद्विषयक वर्णनों को सर्वथा आक्षेपात्मक समझ बैठना भी भूल होगा। जैन शास्त्र जहां गोशालक एवं आजीवक मत की हीनता व्यक्त करते हैं, वहां वे गोशालक को अच्युत स्वर्ग तक पहुंचा कर मोक्षगामी भी बतलाते हैं, साथ ही उनके अनुयायी भिक्षुओं को अच्युत स्वर्ग तक पहुंचने की क्षमता देकर गौरव प्रदान करते हैं।[2] एकांगी विरोध की ही दृष्टि होती तो उस में ऐसा कभी संभव नहीं होता।

आजीवक वेष

विभिन्न मतावलम्बियों के विभिन्न प्रकार के वेष होते हैं। कोई धातु रक्ताम्बर धारण करता है तो कोई पीताम्बर किन्तु आजीवक के किसी विशेष वेष का उल्लेख नहीं मिलता। बौद्ध शास्त्रों में भी आजीवक भिक्षुओं को नग्न ही बताया है, वहां उनके लिये अचेलक शब्द का प्रयोग किया गया है। उसके लिंग-धारण पर महावीर का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है क्योंकि वह जब नालन्दा की तन्तुवायशाला में भगवान् महावीर से प्रथम बार मिला तब उसके पास वस्त्र थे। पर चातुर्मास के बाद जब भगवान् महावीर नालन्दा से विहार कर गये तब वह भी वस्त्रादि ब्राह्मणों को देकर मुंडित हो कर महावीर की खोज में निकला और कोल्लाग सन्निवेश में उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लिया।

आजीवकों के आचार के सम्बन्ध का वर्णन मज्झिम निकाय में मिलता है। वहां छत्तीसवें प्रकरण में निग्रन्थ संघ के साधु "सच्चक" के मुख से यह बात निम्न प्रकार से कहलाई गई है :-

---

[1] आगम और त्रिपिटक – एक अनुशीलन, पृ० ४४-४५।

[2] भगवती श०, श० १५, सू० ५५६, पत्र ५८८ (१)।

"वे सब वस्त्रों का परित्याग करते हैं, शिष्टाचारों को दूर रख कर चलते हैं, अपने हाथों में भोजन करते हैं, आदि ।" "दीर्घ निकाय" में भी कश्यप के मुख से ऐसा स्पष्ट कहलाया गया है ।

महावीर का प्रभाव

गोशालक की वेष-भूषा और आचार-विचार से यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि उस पर भगवान् महावीर के आचार का पूर्ण प्रभाव था । "मज्झिम निकाय" में आजीवकों के आचार का निम्न परिचय मिलता है :-

"वे भिक्षा के लिये अपने आने अथवा राह देखने सम्वन्धी किसी की वात नहीं सुनते, अपने लिये बनवाया आहार नहीं लेते, जिस बर्तन में आहार पकाया गया हो, उसमें से उसे नहीं लेते, देहली के बीच रखा हुआ, ओखली में कूटा हुआ और चूल्हे पर पकता हुआ भोजन ग्रहण नहीं करते । एक साथ भोजन करने वाले युगल से तथा सगर्भा और दुधमुँहे बच्चे वाली स्त्री से आहार नहीं लेते । जहां आहार कम हो, जहां कुत्ता खड़ा हो और जहां मक्खियां भिनभिनाती हों, वहां से आहार नहीं लेते । मत्स्य, मांस, मदिरा, मैरेय और खट्टी कांजी को वे स्वीकार नहीं करते......। कोई दिन में एक बार, कोई दो-दो दिन वाद एक बार, कोई सात-सात दिन वाद एक बार और कोई पन्द्रह-पन्द्रह दिन वाद एक बार आहार करते हैं । इस प्रकार नाना प्रकार के वे उपवास करते हैं ।"

इस प्रकार का आचार निग्रन्थ परम्परा के अतिरिक्त नहीं पाया जाता । इस उल्लेख से गोशालक पर महावीर के आचार का स्पष्ट प्रभाव कहे विना नहीं रहा जा सकता ।

निग्रन्थों के भेद

आजीवक और निग्रन्थों के आचार की आंशिक समानता देखकर कुछ विद्वान् सोचते हैं कि इन दोनों के आचार एक हैं, परन्तु वास्तव में दोनों परम्पराओं के आचार में मौलिक अन्तर भी है । "मज्झिम निकाय" में जो भिक्षा के नियम वतलाये हैं, संभव है वे सभी आजीवकों द्वारा नहीं पाले जा कर कुछ विशिष्ट आजीवक भिक्षुओं द्वारा ही पाले जाते हों । मूल में निग्रन्थ और आजीवकों के आचार में पहला भेद सचित्त-अचित्त सम्वन्धी है । जहां निग्रन्थ परम्परा में सचित्त का स्पर्श तक भी निषिद्ध माना जाता है, वहां आजीवक परम्परा में सचित्त फल, वीज और शीतल जल ग्राह्य वताया गया है । अतः कहा जा सकता है कि जिस प्रकार उनमें उग्र तप करने वाले थे, वैसे शिथिलता का प्रवेश भी चरम सीमा पर पहुंच चुका था ।

आर्द्रक कुमार के प्रकरण में आजीवक भिक्षुओं के अब्रह्म सेवन का भी उल्लेख है । इसे केवल आक्षेप कहना भूल होगा क्योंकि जैनागम के अतिरिक्त

बौद्ध शास्त्र से भी आजीवकों के अब्रह्म-सेवन की पुष्टि होती है।[1] वहां पर निग्रंथ ब्रह्मचर्यवास में और आजीवक अब्रह्मचर्यवास में गिनाये गये हैं।[2]

गोशालक ने बुद्ध, मुक्त और न बद्ध न मुक्त ऐसी तीन अवस्थाएं बतलाई हैं। वे स्वयं को मुक्त – कर्मलेप से परे मानते थे। उनका कहना था कि मुक्त पुरुष स्त्री-सहवास करे तो उसे भय नहीं।[3] इन लेखों से स्पष्ट होता है कि आजीवकों में अब्रह्म-सेवन को दोष नहीं माना जाता था।

आजीवक का सिद्धान्त

आजीवक परम्परा के धार्मिक सिद्धान्तों के विषय में कुछ जानकारी जैन और बौद्ध सूत्रों से प्राप्त होती है। गोशालक ने अपने धार्मिक सिद्धान्त के विषय में भगवान् महावीर के समक्ष जो विचार प्रकट किये, उनका विस्तृत वर्णन भगवती सूत्र के पन्द्रहवें शतक में उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त आजीवकों के नियतिवाद का भी विभिन्न सूत्रों में उल्लेख मिलता है। उपासक दशांग सूत्र के छट्ठे और सातवें अध्ययन में नियतिवाद की चर्चा है। वहां कहा गया है कि गोशालक मंखलिपुत्र की धर्मप्रज्ञप्ति इसलिये सुन्दर है कि उसमें उत्थान, कर्म, वल, वीर्य, पुरुषकार और पराक्रम आदि आवश्यक नहीं, क्योंकि उसके मत में सब भाव नियत हैं। और महावीर के मत में सब भाव अनियत होने से उत्थान, कर्म, वल, वीर्य, पुरुषकार और पराक्रम की आवश्यकता मानी गई है। बौद्ध सूत्र दीर्घ निकाय में भी इससे मिलता जुलता सिद्धान्त बतलाया गया है, यथा-प्राणियों की भ्रष्टता के लिये निकट अथवा दूर का कोई कारण नहीं है। वे विना निमित्त या कारण के ही पवित्र होते हैं। कोई भी अपने या पर के प्रयत्नों पर आधार नहीं रखता। यहां कुछ भी पुरुष-प्रयास पर अवलम्बित नहीं है, क्योंकि इस मान्यता में शक्ति, पौरुष अथवा मनुष्य-बल जैसी कोई वस्तु नहीं है।" प्रत्येक सविचार उच्चतर प्राणी, प्रत्येक सेन्द्रिय-वस्तु, अधमतर प्राणी, प्रत्येक प्रजनित वस्तु (प्राणिमात्र) और प्रत्येक सजीव वस्तु – सर्व वनस्पति बलहीन, प्रभावहीन एवं शक्तिहीन है। इनकी भिन्न-भिन्न अवस्थाएं विधिवश या स्वभाव-वश होती हैं और षड्वर्गों में से एक अथवा दूसरे की स्थिति के अनुसार मनुष्य सुख-दुःख के भोक्ता बनते हैं।

दिगम्बर परम्परा में गोशालक

श्वेताम्बर परम्परा में गोशालक को भगवान् महावीर का शिष्य बताया गया है किन्तु दिगम्बर परम्परा में गोशालक का परिचय अन्य प्रकार से मिलता

---

[1] (क) मज्झिम निकाय, भाग १, पृ० ५१४।
(ख) एन्साइक्लोपीडिया आफ रिलिजन एण्ड एथिक्स, डॉ० हार्नले, पृ० २६१।

[2] मज्झिम निकाय, संदक सुत्त, पृ० २३६।

[3] (क) महावीर कथा, गोपालदास पटेल, पृ० १७७।
(ख) श्रीचन्द रामपुरिया, तीर्थंकर वर्द्धमान, पृ० ८२।

है। यहां पार्श्वनाथ परम्परा के मुनि रूप में गोशालक का चित्रण किया गया है। कहा जाता है कि मस्करी गोशालक और पूर्ण काश्यप (ऋषि) महावीर के प्रथम समवशरण में उपस्थित हुए, किन्तु महावीर की देशना नहीं होने से गोशालक रुष्ट हो कर चला गया। कोई कहते हैं कि वह गणधर होना चाहता था किन्तु उसे गणधरपद पर नियुक्त नहीं करने से वह पृथक् हो गया। पृथक् हो कर वह सावत्थी में आजीवक सम्प्रदाय का नेता बना और अपने को तीर्थंकर कहने लगा। उसने कहा – "ज्ञान से मुक्ति नहीं होती, अज्ञान ही श्रेष्ठ है, उसी से मोक्ष की प्राप्ति होती है। देव या ईश्वर कोई नहीं हैं। अतः स्वेच्छापूर्वक शून्य का ध्यान करना चाहिये।[1]

आजीवक और पासत्थ

आजीवक संप्रदाय का मूल स्रोत श्रमण परम्परा में निहित है।[2] आजीवकों और श्रमणों में मुख्य अन्तर इस बात का है कि वे आजीविकोपार्जन करने के लिये अपनी विद्या का प्रयोग करते हैं, जब कि जैन श्रमण इसका सर्वथा निषेध करते हैं।[3] आजीवक मूलतः पार्श्वनाथ परम्परा से सम्बन्धित माने गये हैं। सूत्र कृतांग में नियतिवादी को "पासत्थ" कहा गया है।[4] इस पर से भी कुछ विद्वान् आजीवक को पार्श्वनाथ की परम्परा में मानने का विचार करते हैं। "पासत्थ" का संस्कृत रूप पार्श्वस्थ होता है, पर उसका अर्थ पार्श्वनाथ की परम्परा करना संगत प्रतीत नहीं होता। भगवान् महावीर द्वारा तीर्थस्थापन कर लेने पर शिथिलतावश जो उनके तीर्थ में नहीं आये, उनके लिये चारित्रिक शिथिलता के कारण पार्श्वस्थ शब्द का प्रयोग हो सकता है। संभव है, महावीर के समय में कुछ साधुओं ने पार्श्वनाथ की परम्परा का अतिक्रमण कर स्वच्छन्द विहार करना स्वीकार किया हो।

पर पार्श्व शब्द केवल पार्श्व-परम्परा के साधुओं के लिये ही नहीं, किन्तु जो भी स्नेह-बन्धन में बद्ध हो या ज्ञानादि के बाजू (पार्श्व – सान्निध्य)

---

[1] मसयरि – पूरणारिसिणो उप्पणो पासणाहतित्थम्मि।
सिरिवीर समवसरणे, अगहिय झुणिणा नियत्तेण ।।
वहिणिग्गएण उत्तं मज्झं, एयार सांगधारिस्स।
णिग्गइ झुणीण अरुहो, णिग्गय विस्सास सीसस्स ।।
ण मुणइ जिणकहिय सुयं, संपइ दिक्खाय गहिय गोयमओ।
विप्पो वेयब्भासी तम्हा, मोक्खं ण णाणाओ ।।
अण्णाणाओ मोक्खं, एवं लोयाण पयड़माणो हु।
देवो अ णत्थि कोई, सुण्णं झाएह इच्छाए ।।

[भावसंग्रह, गाथा १७६ से १७८]

[2] हिस्टी एण्ड डोक्टराइन्स आफ आजीवकाज, पृ० ९८।
[3] उत्तराध्ययन सूत्र, ८।१३, १५।७।
[4] सूत्र कृतांग, १।१।२ गा० ४ व ५।

में रहता हो वह चाहे महावीर परम्परा का हो या पार्श्वनाथ परम्परा का हो, उसे "पासत्थ" कह सकते हैं। टीकाकार ने इसका अर्थ "सदनुष्ठानाद् पार्श्वे तिष्ठन्तीति पार्श्वस्था"[1] अच्छे अनुष्ठान के बाजू – पार्श्व में रहने वाले। अथवा "साधुः गुणानां पार्श्वे तिष्ठति" किया है।

"पासत्थ" साधुओं की दो श्रेणियां की गई हैं – सर्वतः पार्श्वस्थ और देशतः पार्श्वस्थ। भगवान् महावीर के तीर्थ प्रवर्तन के पश्चात् भी जो ज्ञानादि रत्नत्रयी से विमुख हो कर मिथ्या दृष्टि का प्रचार करने में लगे रहे, उनको सर्वतः पासत्थ कहा गया है।[2] और जो शय्यातर पिंड, अभिहृत पिंड राजपिंड, नित्यपिंड, अग्र पिंड आदि आहार का उपयोग करते हों वे देशतः पासत्थ कहलाये।[3]

उपर्युक्त परिभाषा के अनुसार "पासत्थ" का अर्थ पार्श्व-परम्परा के साधु ही करना उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि "पासत्थ" को शास्त्रों में अवन्दनीय कहा है। जैसा कि – "जे भिक्खू पासत्थं पसंसति, पसंतं वा साइज्जइ' के अनुसार उनके लिये वंदन प्रशंसन भी वर्जित किया गया है, किन्तु पार्श्वनाथ की परम्परा का साधु वन्दनीय रहा है। भगवती सूत्र में तुंगिया नगरी के श्रावकों ने आनन्द आदि पार्श्व परम्परा के स्थविरों का वन्दन-सत्कार आदि भक्तिपूर्वक किया है।[4] वे गांगेय मुनि आदि की तरह भ० महावीर की परम्परा में प्रव्रजित भी नहीं हुए थे। यदि पार्श्वनाथ के सन्तानीय श्रमण आजीवक की तरह "पासत्थ" होते तो जैसे सद्दाल-पुत्त श्रावक ने गोशालक के वन्दन-नमन का परिहार किया, उसी तरह पार्श्वनाथ के साधु तुंगिका के श्रावकों द्वारा अवंदनीय माने जाते, पर ऐसा नहीं है। अतः "पासत्थ" का अर्थ पार्श्वस्थ (पार्श्व परम्परा के साधु) करना ठीक नहीं। आजीवक को पासत्थ इसलिये कहा है कि वे ज्ञानादि-त्रय को पार्श्व में रखे रहते हैं। इसलिये पासत्था कहे जाने से आजीवक गोशालक को पार्श्व-परम्परा में मानना ठीक नहीं जंचता।

जैनागमों से प्राप्त सामग्री के अनुसार गोशालक को महावीर की परम्परा से सम्वन्धित मानना ही अधिक युक्तियुक्त एवं उचित प्रतीत होता है।

---

[1] सूत्र कृतांग १ श्रु० ३ अ० ४ उ०

[2] दुविहो खलु पासत्थो, देसे सव्वे य होई नायव्वो।
सव्वे तिन्नि विकप्पा, देसे सेज्जायर कुलादी ॥२२६।
दंसण णाणचरित्ते, सत्थो अत्थति तहिं न उज्जमति।
एएणं पासत्थे एसो अन्नो वि पज्जाओ ॥२२८।
पासो त्ति बंधणं ति य, एगट्ठं बंधहेयओ पासा।
पासत्थिओ पासत्थो, अण्णो वि य एस पज्जाओ ॥२२९।
[अभिधान राजेन्द्र, पृ० ९११ (व्य० भा०)]

[3] सेज्जायर कुलनिस्सिय, ठवणकल पलोयणा अभिहडेय।
पुव्वि पच्छा संथव, निइआगपिंड, भोइ पासत्थो ।२३०।।अभि रा० ९११।

[4] तिविहाए पज्जुवासणाए पज्जुवासंति। [भग० सू०, सूत्र १०८।]

महावीरकालीन धर्म-परम्पराएं

भगवान् महावीर के समय में इस देश में किन धर्म-परम्पराओं का किस रूप में अस्तित्व था, इसको जानने के लिये जैन साहित्य और आगम पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत करते हैं। मूल में धर्म-परम्परा चार भागों में बांटी गई थी – (१) क्रियावादी, (२) अक्रियावादी, (३) अज्ञानवादी और (४) विनयवादी।[1] स्थानांग और भगवती में इन्हीं को चार समोसरण के नाम से बतलाया गया है। इनकी शाखा-प्रशाखाओं के भेदों-प्रभेदों का शास्त्रों में विशद वर्णन उपलब्ध होता है, जो इस प्रकार है :

क्रियावादी के १८०, अक्रियावादी के ८४, अज्ञानवादी के ६७ और विनयवादी के ३२। इस तरह कुल मिला कर पाषंडी-व्रतियों के ३६३ भेद होते हैं।[2]

१. क्रियावादी

क्रियावादी आत्मा के साथ क्रिया का समवाय सम्बन्ध मानते हैं। इनका मत है कि कर्त्ता के विना पुण्य-पाप आदि क्रियायें नहीं होतीं। वे जीव आदि नव पदार्थों को एकान्त अस्ति रूप से मानते हैं। क्रियावाद के १८० भेद इस प्रकार हैं :– (१) जीव, (२) अजीव, (३) पुण्य, (४) पाप, (५) आस्रव, (६) बंध, (७) संवर, (८) निर्जरा और (९) मोक्ष – ये नव पदार्थ हैं। इनमें से प्रत्येक के स्वतः, परतः और नित्य, अनित्य, काल, ईश्वर, आत्मा, नियति और स्वभाव रूप भेद करने से १८० भेद होते हैं।

२. अक्रियावादी

इनकी मान्यता है कि क्रिया-पुण्यादि रूप नहीं है, क्योंकि क्रिया स्थिर पदार्थ को लगती है और उत्पन्न होते ही विनाश होने से संसार में कोई भी स्थिर पदार्थ नहीं है। ये आत्मा को भी नहीं मानते। इनके ८४ प्रकार हैं :

(१) जीव, (२) अजीव, (३) आस्रव, (४) संवर, (५) निर्जरा, (६) बंध और (७) मोक्ष रूप सप्त पदार्थ, स्व और पर एवं उनके (१) काल, (२) ईश्वर, (३) आत्मा, (४) नियति, (५) स्वभाव और (६) यदृच्छा–इन छः भेदों से गुणन करने पर चौरासी (८४) होते हैं। आत्मा का अस्तित्व स्वीकार नहीं करने से इनके मत में नित्य-अनित्य भेद नहीं माने जाते।[3]

---

[1] (क) सूत्र कृता०, गा० ३०, ३१, ३२।
(ख) स्था० ४।४।३४५ सू०।
(ग) भग०, ३० श०, १ उ०, सू० ८२४।

[2] समवायांग, सू० १३७।

[3] इह जीवाइपयाइं पुन्नं पावं विणा ठविज्जंति।
तेसिमहोभायम्मि ठविज्जए सपरसद्द दुगं ॥६४
तस्सवि अहो लिहिज्जइ काल जइच्छा य पयदुगसमेयं
नियइ सहाव ईसर अप्पत्ति इमं पयं चउक्कं ॥६५॥
[प्रवचन सारोद्धार उत्तरार्द्ध सटीक, पत्र ३४४-२]

३. अज्ञानवादी

इनके मत से ज्ञान में झगड़ा होता है, क्योंकि पूर्ण ज्ञान तो किसी को होता नहीं और अधूरे ज्ञान से भिन्न-भिन्न मतों की उत्पत्ति होती है। अतः ज्ञानोपार्जन व्यर्थ है। अज्ञान से ही जगत् का कल्याण है।

इनके ६७ भेद बताये गये हैं। जीवादि ९ पदार्थों के (१) सत्व, (२) असत्व, (३) सदसत्व, (४) अवाच्यत्व, (५) सदवाच्यत्व, (६) असदवाच्यत्व और (७) सदसदवाच्यत्व रूप सात भेद करने से ६३ तथा उत्पत्ति के सत्वादि चार विकल्प जोड़ने से कुल ६७ भेद होते हैं।[1]

४. विनयवादी

विनयपूर्वक चलने वाला विनयवादी कहलाता है। इनके लिंग और शास्त्र पृथक् नहीं होते। ये केवल मोक्ष को मानते हैं। इनके ३२ भेद हैं – (१) सुर, (२) राजा, (३) यति, (४) ज्ञाति, (५) स्थविर, (६) अधम, (७) माता और (८) पिता। इन सब के प्रति मन, वचन, काया से देश-कालानुसार उचित दान दे कर विनय करे।[2] इस प्रकार ८ को चार से गुणा करने पर ३२ होते हैं। आचारांग में भी चार वादों का उल्लेख है, यथा – "कायावादी, लोयावादी, कम्मावादी, किरियावादी।"[3] इसके अतिरिक्त सभाष्य निशीथ चूर्णि में उस समय के निम्नलिखित दर्शन और दार्शनिकों का भी उल्लेख है :–

(१) आजीवक, (२) ईसरमत, (३) उलूग, (४) कपिलमत, (५) कविल, (६) कावाल, (७) कावालिय, (८) चरग, (९) तच्चन्निय, (१०)

---

[1] संत १ मसंत २ संतासंत ३ भवत्तव्व ४ सयग्रवत्तव्वं। ५
असय ग्रवत्तव्वं ६ सयवत्तव्वं ७ च सत्तपया ॥९९
जीवाइ नवपयाणं ग्रहोकमेणं इमाइं ठविऊणं।
जइ कीरइ ग्रहिलावो तह साहिज्जइ निसामेह ॥१००
संतो जीवो को जाणइ ग्रहवा किं व तेण नाएणं।
सेसपएहिवि भंगा इय जाया सत्त जीवस्स।
एवमजीवाईणऽवि पत्तेयं सत्त मिलिय ते सट्ठी।
तह ग्रन्नेऽवि हु भंगा चत्तारि इमे उ इह हुंति।
संती भावुप्पत्ती को जाणइ किं च तीए नायाए।
[वही]

[2] सुर १ निवइ २ जइ ३ नाई ४ थविराड ५ बम ६ माई ७ पहसु ८ एएसिं मण १ वयण २ काय ३ दाणेहिं ४ चउव्विहो कीरए विणग्रो।५७।
ग्रट्ठवि चउक्कगुणिया, बत्तीसा हवंति वेणइय भेया।
सव्वेहिं पिंडिएहिं, तिन्नि सया हुंति ते सट्ठा ॥
[प्रव० सारो० सटीक, उत्तरार्ध, पत्र ३४४ (२)]

[3] आचा० सटीक, श्रु० १, ग्र० १, उ० १, पत्र २०।

४ विनयवादी]

परिव्वायग, (११) पंडरंग, (१२) बोड़ित, (१३) भिच्छुग, (१४) भिक्खू, (१५) रत्तपड, (१६) वेद, (१७) सक्क, (१८) सरक्ख, (१९) सुतिवादी, (२०) सेयवड़, (२१) सेय भिक्खू, (२२) शाक्यमत, (२३) हदुसरक्ख।[1]

बिम्बसार-श्रेणिक

महाराज श्रेणिक अपर नाम बिम्बसार अथवा भम्भासार इतिहास-प्रसिद्ध शिशुनाग वंश के एक महान् यशस्वी और प्रतापी राजा थे। वाहीक प्रदेश के मूल निवासी होने के कारण इनको वाहीक कुल का कहा गया है।

मगधाधिपति महाराज श्रेणिक भगवान् महावीर के भक्त राजाओं में एक प्रमुख महाराजा थे। इनके पिता महाराज प्रसेनजित पार्श्वनाथ परम्परा के उपासक सम्यग्दृष्टि श्रावक थे।[2] उन दिनों मगध की राजधानी राजगृह नगर में थी और मगध राज्य की गणना भारत के शक्तिशाली राज्यों में की जाती थी। श्रेणिक-बिम्बसार जन्म से जैन धर्मावलम्बी होकर भी अपने निर्वासन-काल में जैनधर्म के सम्पर्क से हट गये हों ऐसा जैन साहित्य के कुछ कथा-ग्रन्थों में उल्लेख प्राप्त होता है। इसका प्रमाण है महारानी चेलना से महाराज श्रेणिक का धार्मिक संघर्ष। यदि महाराज श्रेणिक सिंहासनारूढ़ होने के समय से ही जैन धर्म के उपासक होते तो महारानी चेलना के साथ उनका धार्मिक संघर्ष नहीं होता।

अनाथी मुनि के साथ हुए महाराज श्रेणिक के प्रश्नोत्तर एवं उनके द्वारा अनाथी मुनि को दिये गये भोग-निमन्त्रण से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे उस समय तक जैन धर्मानुयायी नहीं थे अन्यथा मुनि को भोग के लिये निमंत्रित नहीं करते। अनाथी मुनि के त्याग, विराग एवं उपदेश से प्रभावित होकर श्रेणिक निर्मल चित्त से जैन धर्म में अनुरक्त हुए।[3] यहीं से श्रेणिक को जैन धर्म का बोध मिला, यह कहा जाय तो अनुचित नहीं होगा। जैनागम-दशाश्रुतस्कन्ध के अनुसार श्रमण भगवान् महावीर जब राजगृह पधारे तब कौटुम्बिक पुरुषों ने आकर श्रेणिक को भगवान् के शुभागमन का शुभ-संवाद सुनाया। महाराज श्रेणिक इस संवाद को सुन कर बड़े संतुष्ट एवं प्रसन्न हुए और सिंहासन से उठ कर जिस दिशा में प्रभु विराजमान थे उस दिशा में सात-आठ पैर (पद) सामने जाकर उन्होंने प्रभु को वन्दन किया। तदनन्तर वे महारानी चेलना के साथ भगवान् महावीर को वन्दन करने गये और भगवान् के उपदेशामृत का पान कर बड़े प्रमुदित हुए। उस समय महाराज श्रेणिक एवं महारानी चेलना के अलौकिक सौंदर्य को देख कर कई साधु-साध्वियों ने नियाणा (निदान) कर लिया।

---

[1] ......निशथी सूत्र० चू० भा० १, पृ० १५।

[2] श्रीमत्पार्श्वजिनाधीशशासनांभोजषट्पदः।
सम्यग्दर्शन पुण्यात्मा, सोऽणुव्रतधरोऽभवत्॥ [त्रिष, १० प, ६ स० श्लोक ८]

[3] धम्माणुरत्तो विमलेण चेअसा॥ उत्तराध्ययन २०

महावीर प्रभु ने साधु-साध्वियों के निदान को जाना और उन्हें निदान के कुफल से परिचित कर पतन से बचा लिया।

श्रेणिक और चेलना को देखकर त्यागी वग का चकित होना इस बात को सूचित करता है कि वे साधु-साध्वियों के साक्षात्कार में पहले-पहल उसी समय आये हों।

श्रेणिक की धर्मनिष्ठा

महाराज श्रेणिक की निर्ग्रन्थ धर्म पर बड़ी निष्ठा थी। मेघकुमार की दीक्षा के प्रसंग में उन्होंने कहा कि निर्ग्रन्थ धर्म सत्य है, श्रेष्ठ है, परिपूर्ण है, मुक्तिमार्ग है, तर्कसिद्ध और उपमा-रहित है।[१] भगवान् महावीर के चरणों में महाराज श्रेणिक की ऐसी प्रगाढ़ भक्ति थी कि उन्होंने एक बार अपने परिवार, सामन्तों और मन्त्रियों के बीच यह घोषणा की – "कोई भी पारिवारिक व्यक्ति भगवान् महावीर के पास यदि दीक्षा ग्रहण करना चाहे तो मैं उसे नहीं रोकूंगा।"[२] इस घोषणा से प्रेरित हो श्रेणिक के जालि, मयालि आदि २३ (तेवीस) पुत्र दीक्षित हुए[३] और नन्दा आदि तेवीस रानियां भी साध्वियां बनीं।[४] केवलज्ञान के प्रथम वर्ष में भगवान् महावीर जब राजगृह पधारे तो उस समय श्रेणिक ने सम्यक्त्व-धर्म तथा अभयकुमार आदि ने श्रावक-धर्म स्वीकार किया।[५] मेघकुमार और नन्दिसेन की दीक्षा भी इसी वर्ष होती है।[६]

श्रेणिक के परिवार में त्याग-वैराग्य के प्रति अभिरुचि की अभिवृद्धि उनके देहावसान के पश्चात् भी चलती रही। भगवान् महावीर जब चम्पा नगरी पधारे तो श्रेणिक के पद्म, महापद्म, भद्र, सुभद्र, पद्मभद्र, पद्मसेन, पद्मगुल्म, नलिनीगुल्म, आनन्द और नन्दन नामक १० पौत्रों ने भी श्रमण-दीक्षा ग्रहण की और अन्त समय में संलेखना के साथ काल कर क्रमशः सौधर्म आदि देवलोकों में वे देवरूप से उत्पन्न हुए। इस प्रकार महाराज श्रेणिक की तीसरी पीढ़ी तक श्रमण धर्म की आराधना होती रही। नेमिनाथ के शासनकाल में कृष्ण की तरह महावीर

---

१ ज्ञाताधर्म कथा १।१

२ गुणचन्द्र कृत महावीर चरियं, पृ. ३३४

३ अनुत्तरोववाइय, १।१–१० अ। २–१–१३।

४ अंतगड दसा, ७ व., ८ व.

५ (क) श्रुत्वा तां देशनां भर्तुः, सम्यक्त्वं श्रेणिकोऽश्रयत्।
श्रावकधर्मंत्वभयकुमाराद्याः प्रपेदिरे॥
[त्रिष. श., १० प., ६ स०, ३१६ श्लोक]

(ख) एमाई धम्मकहं, सोउं सेणिय निवाइया भव्वा।
समत्तं पडिवन्ना, केइ पुण देस विरयाइ॥
[नेमिचन्द्रकृत महावीर चरियम्, गा. १२६४]

६ तीर्थंकर महावीर दूसरा भाग।

के शासन में श्रेणिक की शासन-सेवा व भक्ति उत्कृष्ट कोटि की मानी जाकर उनकी वीर-शासन के मूर्धन्य सेवकों में गणना की जाती है।

महाराज श्रेणिक ने अपने शासनकाल में ही उस समय का सर्वश्रेष्ठ सेचनक हाथी और देवता द्वारा प्रदत्त अमूल्य हार चेलना के कूणिक से छोटे दो पुत्रों हल्ल और विहल्ल कुमार को दे दिये थे जिनका मूल्य पूरे मगध राज्य के बराबर आंका जाता था। वीर निर्वाण से १७ वर्ष पूर्व कूणिक ने अपने काल, महाकाल आदि दश भाइयों को अपनी ओर मिलाकर महाराज श्रेणिक को कारागृह में बन्द कर दिया और स्वयं मगध के सिंहासन पर आसीन हो गया। कूणिक ने अपने पिता श्रेणिक को विविध प्रकार की यातनाएं दीं।

एक दिन कूणिक की माता चेलना ने जब उसे श्रेणिक द्वारा उसके प्रति किये गये महान् उपकार और अनुपम प्यार की घटना सुनाई तो उसको अपने दुष्कृत्य पर बड़ा पश्चात्ताप हुआ। कूणिक के हृदय में पिता के प्रति प्रेम उमड़ पड़ा और वह एक कुल्हाड़ी ले पिता के बन्धन काटने के लिये बड़ी तेजी से कारागार की ओर बढ़ा।

श्रेणिक ने समझा कि कूणिक उन्हें मार डालने के लिये कुल्हाड़ी लेकर आ रहा है। अपने पुत्र को पितृहत्या के घोर पापपूर्ण कलंक से बचाने के लिये महाराज श्रेणिक ने अपनी अंगूठी में रखा कालकूट विष निगल लिया। कूणिक के वहां पहुँचने से पहले ही आशुविष के प्रभाव से श्रेणिक का प्राणान्त हो गया और पूर्वोपार्जित निकाचित कर्मबन्ध के कारण वे प्रथम नरक में उत्पन्न हुए।

जैनेतर विद्वानों ने भी श्रेणिक का जैन होना स्वीकार किया है। डॉ० वी.ए. स्मिथ ने लिखा है – "वह अपने आपमें जैन धर्मावली प्रतीत होता है। जैन परम्परा उसे संप्रति के समान जैन धर्म का प्रभावक मानती है।"

श्रेणिक ने महावीर के धर्मशासन की बड़ी प्रभावना की थी। अव्रती होकर भी उन्होंने शासन-सेवा के फलस्वरूप तीर्थंकर-गोत्र उपार्जित किया। प्रथम नारक भूमि से निकल कर वह पद्मनाभ नाम के अगली चौबीसी के प्रथम तीर्थंकर रूप में उत्पन्न होंगे। वहां भगवान् महावीर की तरह वे भी पंच-महाव्रत रूप सप्रतिक्रमण धर्म की देशना करेंगे।

भगवान् महावीर के शासन में श्रेणिक और उसके परिवार का धर्म-प्रभावना में जितना योग रहा उतना किसी अन्य राजा का नहीं रहा।

राजा चेटक

श्रेणिक की तरह राजा चेटक भी जैन परम्परा में दृढ़धर्मी उपासक माने गये हैं। वह भगवान् महावीर के परम भक्त थे। आवश्यक चूर्णि में इनको व्रतधारी[1] श्रावक बताया (माना) गया है। महाराजा चेटक की सात कन्याएं

[1] सो चेडओ सावओ। आ० चू०, पृ० २४५।

थीं, वे उस समय के प्रख्यात राजाओं को ब्याही गई थीं। इनकी पुत्री प्रभावती वीतभय के राजा उदायन को, पद्मावती अंग देश के राजा दधिवाहन को, मृगावती वत्सदेश के राजा शतानीक को, शिवा उज्जैन के राजा चण्डप्रद्योत को, सुज्येष्ठा भगवान् महावीर के भाई नन्दिवर्धन को और चेलना मगधराज बिम्बसार को ब्याही गई थीं। इनमें से सुज्येष्ठा ने भगवान् महावीर के पास दीक्षा ग्रहण की।

चेटक वैशाली के गणतन्त्र के अध्यक्ष थे। वैशाली गणतन्त्र के ७७०७ सदस्य थे[1] जो राजा कहलाते थे। भगवान् महावीर के पिता सिद्धार्थ भी इनमें से एक थे।[2] डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन के अनुसार चेटक के दस पुत्र थे जिनमें से ज्येष्ठ पुत्र सिंह अथवा सिंहभद्र वज्जिगण का प्रसिद्ध सेनापति था।[3]

महाराज चेटक हैहयवंशीय राजा थे। वे भगवान् महावीर के परम भक्त श्रावक होने के साथ-साथ अपने समय के महान् योद्धा, कुशल शासक और न्याय के कट्टर पक्षपाती थे। उन्होंने अपने राज्य, कुटुम्ब और प्राणों पर संकट आ पड़ने पर भी अन्तिम दम तक अन्याय के समक्ष सिर नहीं झुकाया। अपनी शरण में आये हुए हल्ल एवं विहल्ल कुमार की उन्होंने न केवल रक्षा ही की अपितु उनके न्यायपूर्ण पक्ष का बड़ी निर्भीकता के साथ समर्थन किया। अपनी शरणागतवत्सलता और न्यायप्रियता के कारण महाराज चेटक को चम्पाधिपति कूणिक के आक्रमण का विरोध करने के लिए वड़ा भयंकर युद्ध करना पड़ा और अन्त में वैशाली पतन से निर्वेद प्राप्त कर उन्होंने अनशन कर समाधिपूर्वक काल कर देवत्व प्राप्त किया।

कूणिक के साथ चेटक के युद्ध का और वैशाली के पतन आदि का विवरण आगे कूणिक के प्रसंग में दिया जा रहा है।

यहां पर अब कुछ ऐतिहासिक तथ्य समक्ष आ रहे हैं जिनसे इतिहास-प्रसिद्ध कलिंग नरेश चण्डराय, क्षेमराज (जिनके साथ भीषण युद्ध कर अशोक ने कलिंग पर विजय प्राप्त की) और महामेघवाहन-खारवेल आदि का महाराज चेटक के वंशधर होने का आभास मिलता है। इन तथ्यों पर इस पुस्तक के दूसरे भाग में यथासंभव विस्तृत विवेचन किया जायगा। आशा की जाती है कि उन तथ्यों से भारत के इतिहास पर अच्छा प्रकाश पड़ेगा और एक लम्बी अवधि का भारत का धूमिल इतिहास सुस्पष्ट हो जायगा।

अजातशत्रु कूणिक

भगवान् महावीर के भक्त राजाओं में कूणिक का भी प्रमुख स्थान है। महाराज श्रेणिक इनके पिता और महारानी चेलना माता थीं। माता ने सिंह

[1] जातक अट्ठकथा।
[2] तीर्थंकर महावीर भाग १।
[3] भारतीय इतिहास — एक दृष्टि — पृ० ५६।

का स्वप्न देखा। गर्भकाल में उसको दोहद उत्पन्न हुआ कि श्रेणिक राजा के कलेजे का मांस खाऊं। बौद्ध परम्परानुसार बाहु का रक्तपान करना माना गया है। राजा ने अभयकुमार के बुद्धि कौशल से दोहद की पूर्ति की। गर्भकाल में बालक की ऐसी दुर्भावना देखकर माता को दुःख हुआ। उसने गर्भस्थ बालक को नष्ट-भ्रष्ट करने का प्रयत्न किया पर बालक का कुछ नहीं बिगड़ा। जन्म के पश्चात् चेलना ने उसको कचरे की ढेरी पर डलवा दिया। एक मुर्गे ने वहां उसकी कनिष्ठा अंगुली काटली जिसके कारण अंगुली में मवाद पड़ गई। अंगुली की पीड़ा से बालक क्रंदन करने लगा। उसकी चीत्कार सुनकर श्रेणिक ने पता लगाया और पुत्र-मोह से व्याकुल हो उसे उठाकर फिर महल में लाया गया। बालक की वेदना से खिन्न हो श्रेणिक ने चूस-चूस कर अंगुली का मवाद निकाला और उसे स्वस्थ किया। अंगुली के घाव के कारण उसका नाम कूणिक रक्खा गया।

कूणिक के जन्मान्तर का वैर अभी उपशान्त नहीं हुआ था अतः बड़े होकर कूणिक के मन में राज्य करने की इच्छा हुई। उसने अन्य दश भाइयों को साथ लेकर अपना राज्याभिषेक कराया, और महाराज श्रेणिक को कारावास में डलवा दिया।

एक दिन कूणिक माता के चरण-वंदन को गया तो माता ने उसका चरण-वन्दन स्वीकार नहीं किया। कूणिक ने कारण पूछा तो बोली–"जो अपने उपकारी पिता को कारावास में बंद कर स्वयं राज्य करे वैसे पुत्र का मुंह देखना भी पाप है।" उपकार की बात सुनकर कूणिक का पितृ–प्रेम जागृत हुआ और वह तत्काल हाथ में परशु लेकर पिता के बन्धन काटने कारागृह की ओर बढ़ा। श्रेणिक ने परशु हाथ में लिये कूणिक को आते देखकर अनिष्ट की आशंका से सोचा – "यह मुझे मारे इसकी अपेक्षा मैं स्वयं अपना प्राणान्त करलूं तो यह मेरा पुत्र पितृहत्या के कलंक से वच जायगा।" यह सोच कर श्रेणिक ने तालपुट विष खाकर तत्काल प्राण त्याग दिये।

श्रेणिक की मृत्यु के बाद कूणिक को बड़ा अनुताप हुआ। वह मूर्छित हो भूमि पर गिर पड़ा। क्षणभर बाद सचेत हुआ और आर्त स्वर में रुदन करने लगा – "अहो ! मैं कितना अभागा एवं अधन्य हूँ कि मेरे निमित्त से देवतुल्य पिता श्रेणिक कालगत हुए। शोकाकुल हो कूणिक ने राजगृह छोड़कर चम्पा में मगध को राजधानी बसायी और वहीं रहने लगा।

कूणिक की रानियों में पद्मावती,[1] धारिणी,[2] और सुभद्रा[3] प्रमुख थीं। आवश्यक चूर्णि में आठ राजकन्याओं से विवाह करने का भी उल्लेख है।[4] पर

---

[1] तस्सणं कुणियस्स रण्णो पउमावई नामं देवी होत्था। [निरयावली, सूत्र ८]
[2] उववाई सूत्र ७।
[3] उववाई सूत्र २३।
[4] कुणियस्स अट्ठहिं रायवर कन्नाहिं समं विवाहो कतो। [आव० चूर्णि उत्त०, पत्र १६७]

उनके नाम उपलब्ध नहीं होते। महारानी पद्मावती का पुत्र उदाई था[1] जो कूरिणक के बाद मगध के राज-सिंहासन पर बैठा। इसी ने चम्पा से अपनी राजधानी हटाकर पाटलिपुत्र में स्थापित की।[2]

चेलना के संग और संस्कारों ने कूरिणक के मन में भगवान् महावीर के प्रति अटूट भक्ति भर दी थी।

आवश्यक चूरिण, त्रिषष्टि शलाका पुरुष चरित्र आदि जैन ग्रन्थों में महाराज कूरिणक का एक दूसरा नाम अशोकचन्द्र भी उपलब्ध होता है। भगवान् महावीर के प्रति उसके हृदय में कितनी प्रगाढ़ भक्ति और अनुपम श्रद्धा थी इसका अनुमान औपपातिक सूत्र के अधोलिखित पाठ से सहज ही में लगाया जा सकता है :-

तस्स णं कोणिअस्स रण्णो एक्के पुरिसे विउलकय-वित्तिए भगवओ पवित्तिवाउए भगवो तद्देवसिअं पवित्तिं णिवेएइ, तस्स णं पुरिसस्स बहवे अण्णे पुरिसा दिण्णभत्तिभत्तवेअणा भगवओ पवित्तिवाउआ भगवओ तद्देवसियं पवित्ति णिवेदेंति।"

[औपपातिक सूत्र, सूत्र ८]

सूत्र के इस पाठ से स्पष्ट है कि कूरिणक ने भगवान् महावीर की दैनिक विहारचर्या आदि की सूचनाएं प्रतिदिन प्राप्त करते रहने की दृष्टि से एक कुशल अधिकारी के अधीन अलग स्वतंत्र रूप से एक विभाग ही खोल रखा था और इस पर वह पर्याप्त धनराशि व्यय करता था।

एक समय भगवान् महावीर का चम्पा नगरी के उपवन में शुभागमन हुआ। प्रवृत्ति वार्ता-निवेदक (संवाददाता) से जब भंभसार (बिम्बसार) के पुत्र कूरिणक ने यह शुभ समाचार सुना तो वह अत्यन्त हर्षित हुआ। उसके नयन-नीरज खिल उठे। प्रसन्नता की प्रभा से उसका मुख-मंडल प्रदीप्त हो गया। वह शीघ्रतापूर्वक राज्य सिंहासन से उठा। उसने पादुकाएं खोलीं और खड्ग, छत्र, मुकुट, उपानत् एवं चामर रूप सभी राज्यचिह्न उतार दिये। वह एक साटिक उत्तरासंग किये अंजलिबद्ध होकर भगवान् महावीर के पधारने की दिशा में सात-आठ कदम आगे गया। उसने बायें पैर को संकुचित कर, दायें पैर को मोड़ कर धरती पर रखा। फिर थोड़ा ऊपर उठ कर हाथ जोड़, अंजलि को मस्तक पर लगा कर "णमोत्थुणं" से अभिवादन करते हुए वह बोला – "तीर्थंकर श्रमण भगवान् महावीर, जो सिद्ध गति के अभिलाषी और मेरे धर्माचार्य तथा उपदेशक हैं, उन्हें मेरा नमस्कार हो। मैं तत्र विराजित प्रभु को यहीं से वन्दन करता हूं और वे वहीं से मुझे देखते हैं।"[3]

इस प्रकार श्रद्धा सहित वन्दन कर राजा पुनः सिंहासनारूढ़ हुआ। उसने संवाददाता को एक लाख आठ हजार रजत-मुद्राओं का प्रीतिदान दिया और

[1] आवश्यक चूरिण, पत्र १७१।
[2] आवश्यक चूरिण, पत्र १७७।
[3] उववाइ और महावस्तु।

कहा – "जब भगवान् महावीर चम्पा के पूर्णभद्र चैत्य में पधारें तो मुझे पुनः सूचना देना।"

प्रातःकाल जब भगवान् नगरी में पधारे और सम्वाददाता ने कूणिक को यह हर्षवर्द्धक समाचार सुनाया तो कूणिक ने हर्षातिरेक से तत्काल साढ़े बारह लाख रजत-मुद्राओं का प्रीतिदान किया।

तदनन्तर कूणिक ने अपने नगर में घोषणा करवा कर नागरिकों को प्रभु के शुभागमन के सुसम्वाद से अवगत करवाया और अपने समस्त अन्तःपुर, परिजन, पुरजन, अधिकारी-वर्ग एवं चतुरंगिणी सेना के साथ प्रभु-दर्शन के लिये प्रस्थान किया।

दूर से ही प्रभु के छत्रादि अतिशय देखकर कूणिक अपने हस्तिरत्न से नीचे उतरा और समस्त राजचिह्न उतार कर प्रभु के समवशरण में पहुँचा। उसने आदक्षिणा-प्रदक्षिणा के साथ बड़ी भक्तिपूर्वक प्रभु को वन्दन किया और त्रिविध उपासना करने लगा।[1] भगवान् की अमृततुल्य दिव्यध्वनि को सुनकर कूणिक आनन्दविभोर हो बोला – "भगवन्! जो धर्म आपने कहा है वैसा अन्य कोई श्रमण या ब्राह्मण नहीं कह सकता।"

तत्पश्चात् कूणिक भगवान् महावीर को वन्दन कर अपने परिवार सहित राजप्रासाद की ओर लौट गया।

कूणिक प्रारम्भ से ही बड़ा तेजस्वी और शौर्यशाली था। उसने अपने शासनकाल में अनेक शक्तिशाली और दुर्जेय शत्रुओं को परास्त कर उन पर विजय प्राप्त की अतः वह अजातशत्रु के नाम से कहा जाने लगा और इतिहास में आज इसी नाम से विख्यात है।

कूणिक द्वारा वैशाली पर आक्रमण

कूणिक का वैशाली गणतन्त्र के शक्तिशाली महाराजा चेटक के साथ बड़ा भीषण युद्ध हुआ। उस युद्ध के कारण हुए भयंकर नरसंहार में मृतकों की संख्या एक करोड़, अस्सी लाख बताई गई है।

इस युद्ध का उल्लेख गोशालक ने चरम रथ-मूसळ संग्राम के रूप में किया है। बौद्ध ग्रन्थों में भी इस युद्ध का कुछ विवरण दिया गया है पर जैन आगम 'भगवती सूत्र' में इसका विस्तारपूर्वक उल्लेख उलपब्ध होता है।

यह तो पहले बताया जा चुका है कि श्रेणिक की महारानी चेलना महाराज चेटक की पुत्री थी और कूणिक महाराजा चेटक का दौहित्र। अपने नाना चेटक के साथ कूणिक के युद्ध का कारण जैन साहित्य में यह बताया गया है कि श्रेणिक द्वारा जो हाथी एवं हार हल्ल और विहल्ल कुमार को दिये गये थे उनके कारण वे दोनों राजकुमार बड़े सौभाग्यशाली और समृद्ध समझे जाते थे।

[1] उववाई सूत्र।

हल्ल और विहल्ल कुमार अपनी रानियों के साथ उस हस्ती-रत्न पर आरूढ़ हो प्रतिदिन गंगा नदी के तट पर जलक्रीड़ा करने जाते। देवप्रदत्त देदीप्यमान हार धारण किये उनको उस सुन्दर गजराज पर बैठे देख कर नागरिक मुक्तकण्ठ से उनकी प्रशंसा करते और कहते कि राज्य-श्री से भी बढ़ कर देवोपम वैभव का उपभोग तो ये दोनों कुमार कर रहे हैं।

हल्ल-विहल्ल के सौभाग्य की सराहना सुनकर कूरिणक की महारानी पद्मावती ने हल्ल-विहल्ल से हार और हाथी हथियाने का कूरिणक के सम्मुख हठ किया। प्रारम्भ में तो कूरिणक ने यह कह कर टालना चाहा कि पिता द्वारा उन्हें प्रदत्त हार तथा हाथी उनसे लेना किसी तरह न्यायसंगत नहीं होगा पर अन्त में नारी-हठ के समक्ष कूरिणक को झुकना पड़ा।

कूरिणक ने हल्ल और विहल्ल कुमार के सामने सेचनक हाथी और देवदिव्य हार उसे देने की बात रखी।

हल्ल और विहल्ल ने उत्तर में कहा कि पिताजी द्वारा दिये गये हार और हाथी पर उन दोनों भाइयों का वैधानिक अधिकार है। इस पर भी चम्पा-नरेश लेना चाहते हैं तो उनके बदले में आधा राज्य दे दें।

कूरिणक ने अपने भाइयों की न्यायोचित मांग को अस्वीकार कर दिया। इस पर हल्ल और विहल्ल बल-प्रयोग की अशंका से अपने परिवार सहित सेचनक पर सवार हो, हार लेकर वैशाली नगर में अपने नाना चेटक के पास चले गये।

हल्ल-विहल्ल के सपरिवार वैशाली चले जाने की सूचना पा कर कूरिणक बड़ा क्रुद्ध हुआ। उसने महाराज चेटक के पास दूत भेज कर कहलवाया कि हार एवं हाथी के साथ हल्ल और विहल्ल कुमार को उसके पास भेज दिया जाय।

महाराज चेटक ने दूत के साथ कूरिणक के पास सन्देश भेजा कि दोनों कुमार उनके शरणागत हैं। एक क्षत्रिय से कभी यह आशा नहीं की जा सकती कि वह अपनी शरण में आये हुए को अन्याय में पिलने के लिये असहाय के रूप में छोड़ दे। चम्पाधीश यदि हार और हाथी चाहते हैं तो उनके बदले में चम्पा का आधा राज्य दोनों कुमारों को दे दें।

महाराज चेटक के उत्तर से क्रुद्ध हो अपनी और अपने दश भाइयों की प्रबल सेनाओं के साथ कूरिणक ने वैशाली पर आक्रमण कर दिया। महाराजा चेटक भी अपनी, काशी तथा कोशल के नौ लिच्छवी और नौ मल्ली गणराजाओं की विशाल वाहिनी के साथ रणांगण में आ डटे। अपने भाई काल कुमार को कूरिणक ने सेनापतिपद पर अभिषिक्त किया। काल कुमार ने गरुड़व्यूह की रचना की और महाराज चेटक ने शकटव्यूह की। रणवाद्यों के तुमुलघोष से आकाश को आलोडित करती हुई दोनों सेनाएं आपस में भिड़ गईं। दोनों ओर के अगणित योद्धा रणक्षेत्र में जूझते हुए धराशायी हो गये पर दोनों सेनाओं की व्यूह-रचना अभेद्य बनी रही।

[आक्रमण]

बिना किसी प्रकार की नवीन उपलब्धि के ही युद्ध के प्रथम दिवस का अवसान होने ही जा रहा है यह देख कर कूणिक के सेनापति काल ने कृतान्त की तरह क्रुद्ध हो महाराज चेटक की ओर अपना हाथी बढाया और उन्हें युद्ध के लिये आमन्त्रित किया। विशाल भाल पर त्रिबली के साथ उपेक्षा की मुस्कान लिये चेटक ने भी गजवाहक को अपना गजराज कूणिक की ओर बढ़ाने का आदेश दिया। दोनों योद्धाओं की आयु में आकाश-पाताल का सा अन्तर था। बुढ़ापे और यौवन की अद्भुत स्पर्धा पर क्षण भर के लिये दोनों ओर की सेनाओं की अपलक दृष्टि जम गई।

मातामह का समादर करते हुए काल कुमार ने कहा – "देवार्य ! पहले आप अपने दौहित्र पर प्रहार कीजिये।"

घन-गम्भीर स्वर में चेटक ने कहा – "वत्स ! पहले तुम्हें ही प्रहार करना पड़ेगा क्योंकि चेटक की यह अटल प्रतिज्ञा सर्वविदित है कि वह प्रहर्ता पर ही प्रहार करता है।"

कालकुमार ने आकर्णान्त कोदण्ड की प्रत्यंचा तान कर चेटक के भाल को लक्ष्य बना अपनी पूरी शक्ति से सर छोड़ा। चेटक ने अद्भुत हस्तलाघव से सब को आश्चर्यचकित करते हुए अपने अर्द्धचन्द्राकार फळ वाले बाण से काल कुमार के तीर को अन्तराळ मार्ग (बीच राह) में ही काट डाला।

तदनन्तर अपने धनुष की प्रत्यंचा पर सर-संधान करते हुए महाराज चेटक ने काल कुमार को सावधान करते हुए कहा – "कुमार ! अब इस वृद्ध के सर-प्रहार से अपने प्राणों का त्राण चाहते हो तो रणक्षेत्र से मुंह मोड़ कर चले जाओ अन्यथा मृत्यु का आलिंगन करने के लिए तत्पर बनो।"

काल कुमार अपने शैलेन्द्र–शिला सम विशाल वक्षस्थल को फुलाये रण-क्षेत्र में डटा रहा।

दोनों ओर की सेनाएं श्वास रोके यह सब दृश्य देख रही थीं। अनिष्ट की आशंका से कूणिक के सैनिकों के हृदय धड़कने लगे। क्योंकि सब इस तथ्य से परिचित थे कि भगवान् महावीर के परमभक्त श्रावक होने के कारण चेटक ने यद्यपि यह प्रतिज्ञा कर रखी थी कि वे एक दिन में केवल एक ही बाण चलायेंगे पर उनका वह सरप्रहार भी मृत्यु के समान अमोघ और अचूक होता है।

महाराज चेटक ने कुमार काल के भाल को निशाना बना कर अपने अमोघ सर का प्रहार किया। रक्षा के सब उपाय निष्फल रहे और काल कुमार उस सर के प्रहार से तत्क्षण काल कवलित हो अप्ने हाथी के होदे पर सदा के लिए सो गये।

कूणिक के सेनापति के देहावसान के साथ ही दिवस का भी अवसान हो गया, मानो काल कुमार की अकाल मृत्यु से अवसन्न हो अंशुमाली अस्ताचल की ओट में हो गए। उस दिन का युद्ध समाप्त हुआ। कूणिक की सेनाएं शोक सागर में डूबी हुईं और वैशाली की सेनायें हर्ष सागर में हिलोरें लेती हुई अपने-अपने शिविरों की ओर लौट गईं।

काल कुमार की मृत्यु के पश्चात् उसके महाकाल आदि शेष ६ भाई भी प्रतिदिन एक के बाद एक क्रमशः कूणिक द्वारा सेनापति पद पर अभिषिक्त किये जाकर वैशाली गणराज्य की सेना से युद्ध करने के लिए रण क्षेत्र में जाते रहे और महाराज चेटक द्वारा ६ ही भाई प्रतिदिन एक एक सर के प्रहार से ६ दिनों में यमधाम पहुँचा दिये गए।

दश दिनों में ही अपने दुर्द्धर्ष योद्धा दश भाइयों और सेना का संहार देख कर कूणिक की जयाशा निराशा में परिणत होने लगी। वह अगाध शोक सागर में निमग्न हो गया। अन्त में उसने दैविशक्ति का सहारा लेने का निश्चय किया। उसने दो दिन उपोशित रह कर शक्रेन्द्र और चमरेन्द्र का चिन्तन किया। पूर्व-जन्म की मैत्री और तप के प्रभाव से दोनों इन्द्र कूणिक के समक्ष उपस्थित हुए। उन्होंने उससे उन्हें याद करने का कारण पूछा।

कूणिक ने आशान्वित हो कहा — "यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो कृपा कर चेटक को मौत के घाट उतार दीजिए। क्यों कि मैंने यह प्रतिज्ञा की है कि या तो वैशाली को पूर्णतः विनष्ट करके वैशाली की भूमि पर गधों से हल हंकवाऊंगा, अन्यथा उत्तुंग शैलशिखर से गिर कर प्राणान्त कर लूंगा। इस चेटक ने अपने अमोघ बाणों से मेरे दश भाइयों को मार डाला है।"

देवराज शक्र ने कहा — "प्रभु महावीर के परम भक्त श्रावक और मेरे स्वधर्मी बन्धु चेटक को मैं मार तो नहीं सकता पर उसके अमोघ बाण से तुम्हारी रक्षा अवश्य करूंगा।"

यह कह कर कूणिक के साथ अपने पूर्वभव की मित्रता का निर्वाह करते हुए शक्र ने कूणिक को वज्रोपम एक अभेद्य कवच दिया।

चमरेन्द्र पूरण तापस के अपने पूर्वभव में कूणिक के पूर्वभवीय तापस-जीवन का साथी था। उस प्रगाढ़ मैत्री के वशीभूत चमरेन्द्र ने कूणिक को 'महाशिला कंटक' नामक एक भीषण प्रक्षेपणास्त्र और 'रथमूसल' नामक एक प्रलयंकर अस्त्र (आधुनिक वैज्ञानिक युग के उत्कृष्ट कोटि के टैंकों से भी कहीं अधिक शक्तिशाली युद्धोपकरण) बनाने व उनके प्रयोग की विधि बताई।

महाशिला-कंटक युद्ध

चमरेन्द्र के निर्देशानुसार कूणिक महाशिलाकंटक नामक महान् संहारक अस्त्र (प्रक्षेपणास्त्र) को लेकर उद्वेलित सागर की तरह भीषण, विशाल चतुरंगिणी सेना के साथ रणांगण में उतरा। काशी कोशल के ६ मल्ली और ६ लिच्छवी, इन १८ गणराज्यों की और अपनी दुर्दान्त सेना के साथ महाराज चेटक भी रणक्षेत्र में कूणिक की सेना से लोहा लेने आ डटे। दोनों सेनाओं में बड़ा लोमहर्षक युद्ध हुआ। कूणिक की सहायता के लिए शक्र और चमरेन्द्र भी उनके साथ युद्धस्थल में उपस्थित थे। देखते ही देखते युद्धभूमि दोनों पक्षों के योद्धाओं के

रुण्ड-मुण्डों से आच्छादित हो गयी। चेटक और १८ गणराजाओं की सेनाओं ने बड़ी वीरता के साथ डट कर कूणिक की सेना के साथ युद्ध किया।

चेटक ने अपने हाथी को आगे बढ़ाया। अपने धनुष पर सरसन्धान कर प्रत्यंचा को अपने कान तक खींचा और कूणिक पर अपना अमोघ तीर चला दिया। पर इस वार वह तीर शक्र द्वारा प्रदत्त कूणिक के वज्र कवच से टकरा कर टुकड़े-टुकड़े हो गया। अपने अमोघ बाण को मोघ हुआ देख कर भी सत्यसन्ध चेटक ने उस दिन दूसरा वाण नहीं चलाया।

कूणिक ने चमरेन्द्र द्वारा विकुर्वित 'महाशिला कंटक' अस्त्र का प्रयोग किया। इस यंत्र के माध्यम से जो तृण, काष्ठ, पत्र, लोष्ठ अथवा बालुका-कण वैशाली की सेना पर फेंके जाते उनके प्रहार विस्तीर्ण शिलाओं के प्रहारों से भी अति भयंकर होते। कुछ ही समय में वैशाली के लाखों योद्धा धराशायी हो गये। कूणिक की सेना में इन शिलोपम प्रहारों से भगदड़ मच गई। अठारहों मल्ली और लिच्छवी गणराजाओं की सेनाएं इस प्रलय से बचने के लिये रणक्षेत्र में पीठ दिखा कर भाग गईं।

इस एक दिन के महाशिलाकंटक संग्राम में ८४ लाख योद्धा मारे गये। 'महाशिलाकंटक' नामक नरसंहारक युद्धोपकरण का प्रयोग किये जाने के कारण इस दिन का युद्ध 'महाशिलाकंटक संग्राम' के नाम से विख्यात हुआ।

रथमूसल संग्राम

दूसरे दिन कूणिक 'रथमूसल' नामक प्रलयंकर स्वचालित यंत्र लेकर अपनी सेनाओं के साथ रणक्षेत्र में पहुंचा।

महाराज चेटक और उनके सहायक १८ गणराज्यों की सेनाओं ने बड़ी देर तक कूणिक की सेनाओं के साथ प्राणपण से युद्ध किया। चेटक ने आगे बढ़ कर कूणिक पर एक बांण का प्रहार किया पर चमरेन्द्र के आयस पट्ट से टकरा कर वह टूक-टूक हो गया। दृढ़ प्रतिज्ञ चेटक ने उस दिन फिर कोई दूसरा बाण नहीं चलाया।

जिस समय युद्ध उग्र रूप धारण कर रहा था उस समय कूणिक ने वैशाली की सेनाओं पर 'रथमूसल' अस्त्र का प्रयोग किया। प्रलय के दूत के समान दैत्याकार लोहसार का बना स्वचालित रथमूसल यन्त्र बिना किसी वाहन, वाहक और आरोही के, अपनी प्रलयकालीन घनघोर मेघ घटाओं के समान घर्राहट से धरती को धुजाता हुआ विद्युत्वेग से वैशाली की सेनाओं पर झपटा। उसमें लगे यमदण्ड के समान मूसल स्वतः ही अनवरत प्रहार करने लगे। उसकी गति इतनी तीव्र थी कि वह एक ही क्षण में चारों ओर सब जगह शत्रुओं का संहार करता हुआ दिखाई दे रहा था।

तपस्वी १२ व्रतधारी श्रावक योद्धा नाग का पौत्र वरुण षष्टभक्त का पारण किये बिना ही अष्टम भक्त तप कर चेटक राजा के अनुरोध पर

रथमूसल अस्त्र को विनष्ट करने की इच्छा लिये संग्राम में आगे बढ़ा। कूणिक के सेनापति ने उसे युद्ध के लिये ललकारा। वरुण ने कहा कि वह श्रावक होने के कारण किसी पर पहले प्रहार नहीं करता। इस पर कूणिक की सेना के सेनापति ने वरुण के मर्मस्थल पर तीर का तीक्ष्ण प्रहार किया। मर्माहत होते हुए भी वरुण ने एक ही सरप्रहार से उस सेनापति को मौत के घाट उतार दिया। अपनी मृत्यु सन्निकट जान कर वह युद्धभूमि से दूर चला गया और आलोचना-अनशनादिपूर्वक प्राण त्याग कर प्रथम स्वर्ग में उत्पन्न हुआ।

उधर तीव्रगति से चारों ओर घूमते हुए रथमूसल यंत्र ने वैशाली की सेना को पीस डाला। युद्ध के मैदान में चारों ओर रुधिर और मांस का कीचड़ ही कीचड़ दृष्टिगोचर हो रहा था।

रथ मूसल अस्त्र द्वारा किये गये प्रलयोपम भीषण नरसंहार व रुधिर, मांस और मज्जा के कर्दम के बीभत्स एवं हृदयद्रावक दृश्य को देखकर मल्लियों और लिच्छवियों के १८ गणराज्यों की सेनाओं के अवशेष सैनिक भयभीत हो प्राण बचाकर अपने २ नगरों की ओर भाग गये।

इस एक दिन के रथमूसल संग्राम में ९६ लाख सैनिकों का संहार हुआ। इस दिन के युद्ध में 'रथमूसल' अस्त्र का उपयोग किया गया इसलिये इस दिन का युद्ध 'रथमूसल संग्राम' के नाम से विख्यात हुआ।

सब सैनिकों के मैदान छोड़कर भाग खड़े होने पर और कोई उपाय न देख महाराज चेटक ने भी बचे खुचे अपने योद्धाओं के साथ वैशाली में प्रवेश किया और नगर के सब द्वार बन्द कर दिये।

कूणिक ने अपनी सेनाओं के साथ वैशाली के चारों ओर घेरा डाल दिया। जैन आगम और आगमेतर साहित्य से ऐसा आभास होता है कि कूणिक ने काफी लम्बे समय तक वैशाली को घेरे रखा। रात्रि के समय में हल्ल और विहल्ल कुमार अपने अलौकिक सेचनक हाथी पर आरूढ़ हो नगर के बाहर निकल कर कूणिक की सेना पर भीषण शस्त्रास्त्रों की वर्षा करते और कूणिक के सैनिकों का संहार करते। उस दिव्य हस्तिरत्न पर आरूढ़ हल्ल विहल्ल का कूणिक के सैनिक बाल तक बांका नहीं कर सके।

वैशाली के अभेद्य प्राकार को तोड़ने हेतु कूणिक ने अनेक प्रकार के उपाय और प्रयास किये पर उसे किंचित् मात्र भी सफलता नहीं मिली। उधर प्रत्येक रात्रि को सेचनक हाथी पर सवार हो हल्ल विहल्ल द्वारा कूणिक की सेना के संहार करने का क्रम चलता रहा जिसके कारण कूणिक की सेना की बड़ी भारी क्षति हुई। कूणिक दिन प्रतिदिन हताश हो चिन्तित रहने लगा।

अन्ततोगत्वा किसी अदृष्ट शक्ति से कूणिक को वैशाली के भंग करने का उपाय विदित हुआ कि चम्पा की मागधिका नाम की वारांगना यदि कूलवालक नामक तपस्वी श्रमण को अपने प्रेमपाश में फंसा कर ले आये तो वह कूलवालक

श्रमण वैशाली का भंग करवा सकता है। कूणिक ने अनेक प्रलोभन देकर इस कार्य के लिए मागधिका को तैयार किया। चतुर गणिका मागधिका ने परम श्रद्धालु श्राविका का छद्म-वेष बना कर कूलवालक श्रमण को अपने प्रेमपाश में बांध लिया और श्रमण धर्म से भ्रष्ट कर उसे मगधेश्वर कूणिक के पास प्रस्तुत किया। कूणिक अपनी चिर-अभिलषित आशालता को फलवती होते देख बड़ा प्रसन्न हुआ। और कूलवालक के वैशाली में प्रविष्ट होने की प्रतीक्षा करने लगा।

इसी बीच हल्ल विहल्ल द्वारा प्रतिरात्रि की जा रही अपनी सैन्यशक्ति की क्षति के सम्बन्ध में कूणिक ने अपने मन्त्रियों के साथ मंत्रणा की। मंत्रणा के निष्कर्ष स्वरूप सेचनक के आगमन की राह में एक खाई खोदकर खैर के जाज्वल्यमान अंगारों से उसे भर दिया और उसे लचीली धातु के पत्रों से आच्छादित कर दिया गया।

रात्रि के समय शस्त्रास्त्रों से सन्नद्ध हो हल्ल और विहल्ल सेचनक हाथी पर आरूढ हो वैशाली से बाहर आने लगे तो सेचनक अपने विभंग-ज्ञान से उस खाई को अंगारों से भरी जान कर वहीं रुक गया। इस पर हल्ल विहल्ल ने कुपित हो सेचनक पर वाग्बाणों की बौछार करते हुए कहा – "कायर ! तू युद्ध से घबरा कर अड़ गया है। तेरे लिये हमने अपने नगर एवं परिजन को छोड़ा, देवोपम पूज्य नानाजी को घोर संकट में ढकेला पर आज तू युद्ध से डर कर स्वामिभक्ति से मुंह मोड़ रहा हैं, तुझ से तो एक कुत्ता ही अच्छा जो मरते दम तक भी स्वामिभक्ति से विमुख नहीं होता।"

अपने स्वामी के असह्य वाग्बाणों से सेचनक तिलमिला उठा। मूक पशु बोलता तो क्या उसने अपनी पीठ पर से दोनों कुमारों को उतारा और तत्काल प्रच्छन्न आग में कूद पड़ा। हल्ल और विहल्ल के देखते ही देखते वह धधकती हुई आग में जलकर राख हो गया। हल्ल और विहल्ल को यह देख कर बड़ा पश्चात्ताप हुआ। उन्हें अपने जीवन से घृणा हो गई। उन्होंने निश्चय किया कि यदि भगवान् महावीर के चरणों की शरण में नहीं पहुँच सके तो वे दोनों अपने जीवन का अन्त कर लेंगे।

जिनशासन-रक्षिका देवी ने उन्हें अन्तर्मन से दीक्षित समझ कर तत्काल प्रभु की चरण-शरण में पहुंचा दिया। हल्ल और विहल्ल कुमार ने प्रभु महावीर के पास श्रमण-दीक्षा स्वीकार कर ली। उधर कूलवालक ने नैमित्तिक के रूप में बड़ी सरलता से वैशाली में प्रवेश पा लिया।

संभव है उसने वैशाली भंग के लिये नगरी में घूम कर श्रद्धालु नागरिकजनों में भेद डालने और कूणिक को आक्रमण के लिए सुविधा प्रदान करने की भूमिका का निर्माण किया हो। बौद्ध साहित्य में वस्सकार द्वारा वैशाली के सुसंगठित नागरिकों में फूट डालने के उल्लेख से भी इसकी पुष्टि होती है।

पर आवश्यक निर्युक्ति और चूर्णिकार ने वैशाली भंग में कूलवालक द्वारा स्तूप के पतन को कारण माना है जो इस प्रकार है :–

"कूल वालक ने वैशाली में घूम कर पता लगा लिया कि भगवान् मुनिसुव्रत के एक भव्य स्तूप के कारण वैशाली का प्राकार अभेद्य बना हुआ है।

दुश्मन के घेरे से ऊबे हुए नागरिकों ने कूलवालक को नैमित्तिक समझकर बड़ी उत्सुकता से पूछा – "विद्वन् ! शत्रु का यह घेरा कब तक हटेगा ?"

कूलवालक ने उपयुक्त अवसर देख कर कहा – "यह स्तूप बड़े अशुभ मुहूर्त में बना है। इस ही के कारण नगर के चारों ओर घेरा पड़ा हुआ है। यदि इसे तोड़ दिया जाय तो शत्रु का घेरा तत्काल हट जायगा।

कुछ लोगों ने स्तूप को तोड़ना प्रारम्भ किया। कूलवालक ने कूणिक को संकेत से सूचित किया। कूणिक ने अपने सैनिकों को घेरा-समाप्ति का आदेश दिया। स्तूप के ईषत् भंग का तत्काल चमत्कार देखकर नागरिक बड़ी संख्या में स्तूप का नामोनिशां तक मिटा देने के लिये टूट पड़े। कुछ ही क्षणों में स्तूप का चिह्न तक नहीं रहा।

कूलवालक से इष्टसिद्धि का संकेत पा कूणिक ने वैशाली पर प्रबल आक्रमण किया। उसे इस बार वैशाली का प्राकार भंग करने में सफलता प्राप्त हो गई।

कूणिक ने अपनी सेना के साथ वैशाली में प्रवेश किया और बड़ी निर्दयता-पूर्वक वैशाली के वैभवशाली भवनों की ईंट से ईंट बजा दी।

वैशाली भंग का समाचार सुनकर महाराज चेटक ने अनशनपूर्वक प्राण-त्याग किया और वे देवलोक में देवरूप से उत्पन्न हुए।

उधर कूणिक ने वैशाली नगर की उजाड़ी गई भूमि पर गधों से हल फिरवाये और अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण कर सेना के साथ चम्पा की ओर लौट गया।

परम प्रामाणिक माने जाने वाले 'भगवती सूत्र' और 'निरयावलिका' में दिये गये इस युद्ध के विवरणों से यह सिद्ध होता है कि वैशाली के उस युद्ध में आज के वैज्ञानिक युग के प्रक्षेपणास्त्रों और टैंकों से भी अति भीषण संहार-कारक 'महाशिलाकंटक' और 'रथमूसल' अस्त्रों का उपयोग किया गया। इनके सम्बन्ध में भगवती सूत्र के दो मूल पाठ पाठकों के विचारार्थ यहां दिये जा रहे हैं। गौतम ने भगवान् महावीर से पूछा :–

"से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चई महासिलाकंटए संगामे ?"

भगवान् महावीर ने गौतम द्वारा प्रश्न करने पर फरमाया – "गोयमा ! महासिलाकंटए णं संगामे वट्टमाणे जे तत्थ आसे वा, हत्थी वा, जोहे वा, सारही वा तणेणवा, पत्तेण वा, कट्ठेण वा, सक्कराए वा अभिहम्मइ सव्वे से जाणइ महासिलाए अहं अभिहए, से तेणट्ठेणं गोयमा ! एवं वुच्चई महासिला-कंटए संगामे।" [भगवती, श० ७, उ० ६]

इस एक दिन के महाशिलाकंटक युद्ध में मृतकों की संख्या के सम्बन्ध में गौतम के प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् ने फरमाया – "गोयमा ! चउरासीइं जणसयसाहस्सियाम्रो वहियाम्रो।"

इसी प्रकार गौतम गणधर ने रथमूसल संग्राम के सम्बन्ध में प्रश्न किये – "से केणट्ठेणं भंते ! एवं वुच्चइ रहमुसळे संगामे ?"

उत्तर में भगवान् महावीर ने फरमाया – "गोयमा ! रहमुसलेणं संगामे वट्टमाणे एगे रहे ग्रणासए, ग्रसारहिए, ग्रणारोहए, समुसले, महयामहया जणक्खयं, जणवहं, जणप्पमद्दं,जणसंवट्टकप्पं रुहिरकद्दमं करेमाणे सव्वम्रो समंता परिधावित्था, से तेणट्ठेणं जाव रहमुसले संगामे।"

गौतम द्वारा 'रथमूसल संग्राम' में मृतकों की संख्या के सम्बन्ध में किये गये प्रश्न का उत्तर देते हुए प्रभु महावीर ने कहा – "गोयमा ! छण्णउई जणसयसाहस्सीम्रो वहियाम्रो।"

भगवती सूत्र के उपर्युक्त उद्धरणों से सहज ही ग्रनुमान लगाया जा सकता है कि प्रलय के समान शक्ति रखने वाले वे दोनो ग्रस्त्र कितने भयंकर होंगे।

उन दो महान् शक्तिशाली युद्धास्त्रों को पाकर कूणिक ग्रपने ग्रापको विश्वविजयी एवं ग्रजेय समझने लगा तथा संभव है इसी कारण उसके हृदय में ग्रधिक महत्वाकांक्षाएं जगीं ग्रौर उसके सिर पर चक्रवर्ती बनने की धुन सवार हुई।

उन दिनों भगवान् महावीर चम्पा के पूर्णभद्र चैत्य में विराजमान थे। कूणिक भगवान् महावीर की सेवा में पहुंचा। सविधि वन्दन के प्रश्चात् उसने भगवान् से पूछा –"भगवन्! क्या मैं भरत-क्षेत्र के छह खण्डों को जीत कर चक्रवर्ती बन सकता हूं ?"

भगवान् महावीर ने कहा – "नहीं कूणिक ! तुम चक्रवर्ती नहीं बन सकते। प्रत्येक उत्सर्पिणीकाल ग्रौर ग्रवसर्पिणीकाल में बारह-बारह चक्रवर्ती होते हैं। ग्रवर्तमान ग्रवसर्पिणीकाल के बारह चक्रवर्ती हो चुके हैं ग्रतः तुम चक्रवर्ती नहीं हो सकते ?"

कूणिक ने पुनः प्रश्न किया – "भगवन् ! चक्रवर्ती की पहचान क्या है ?"

भगवान् महावीर ने कहा – "कूणिक ! चक्रवर्ती के यहां चक्रादि चौदह रत्न होते हैं।"

कूणिक ने भगवान् महावीर से चक्रवर्ती के चौदह रत्नों के सम्बन्ध में पूरी जानकारी प्राप्त की ग्रौर प्रभु को वन्दन कर वह ग्रपने राजप्रासाद में लौट ग्राया।

कूणिक भली भांति जानता था कि भगवान् महावीर त्रिकालदर्शी हैं किन्तु वह वैशाली के युद्ध में महाशिलाकंटक ग्रस्त्र ग्रौर रथमूसल यन्त्र का ग्रत्यद्भुत चमत्कार देख चुका था ग्रतः उसके हृदय में यह ग्रहम् घर कर गया कि उन दो कृतान्तकारी यन्त्रों के रहते संसार की कोई भी शक्ति उसे चक्रवर्ती बनने से

नहीं रोक सकती। उसने उस समय के श्रेष्ठतम शिल्पियों से चक्रवर्ती के चक्रादि कृत्रिम रत्न बनवाये और अष्टम भक्त कर षट्खण्ड-विजय के लिये उन अद्भुत शक्तिशाली यन्त्रों एवं प्रबल सेना के साथ निकल पड़ा।

महाशिलाकण्टक अस्त्र और रथमूसल यन्त्र के कारण उस समय दिग्दिगन्त में कूणिक की धाक जम चुकी थी अतः ऐसा अनुमान किया जाता है कि भारतवर्ष और अड़ोस-पड़ोस की कोई राज्यशक्ति कूणिक के समक्ष प्रतिरोध करने का साहस नहीं कर सकी। कूणिक अनेक देशों को अपने अधीन करता हुआ तिमिस्र गुफा के द्वार तक पहुंच गया। अष्टम भक्त कर कूणिक ने तिमिस्र गुफा के द्वार पर दण्ड-प्रहार किया।

तिमिस्र गुफा के द्वाररक्षक देव ने अदृश्य रहते हुए पूछा – "द्वार पर कौन है ?"

कूणिक ने उत्तर दिया – "चक्रवर्ती अशोकचन्द्र।"[1]

देव ने कहा – "चक्रवर्ती तो बारह ही होते हैं और वे हो चुके हैं।"

कूणिक ने कहा – "मैं तेरहवां चक्रवर्ती हूं।"

इस पर द्वाररक्षक देव ने क्रुद्ध होकर हुंकार की और कूणिक तत्क्षण वहीं भस्मसात् हो गया। मर कर वह छट्ठे नरक में उत्पन्न हुआ।

भगवान् महावीर का परमभक्त होते हुए भी कूणिक स्वार्थ और तीव्र लोभ के उदय से मार्गच्युत हो गया और तीव्र आसक्ति के कारण दुर्गति का अधिकारी बना। कूणिक की सेना कूणिक के भस्मसात् होने के दृश्य को देख कर भयभीत हो चम्पा की ओर लौट गई।

वस्तुतः कूणिक जीवन भर भगवान् महावीर का ही परमभक्त रहा। कूणिक के महावीर-भक्त होने में ऐतिहासिकों के विचार इस प्रकार हैं :-

डॉ० स्मिथ कहते हैं — "बौद्ध और जैन दोनों ही अजातशत्रु को अपना अपना अनुयायी होने का दावा करते हैं, पर लगता है जैनों का दावा अधिक आधारयुक्त है।"

डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी के अनुसार – "महावीर और बुद्ध की वर्तमानता में तो अजातशत्रु महावीर का ही अनुयायी था।" उन्होंने यह भी लिखा है– "जैसा प्रायः देखा जाता है, जैन अजातशत्रु और उदाइभद्द दोनों को अच्छे चरित्र का बतलाते हैं, क्योंकि दोनों जैन धर्म को मानने वाले थे। यही कारण है कि बौद्ध ग्रन्थों में उनके चरित्र पर कालिख पोती गई है।

---

[1] कूणिक का वास्तविक नाम अशोकचन्द्र था। अंगुली के व्रण के कारण सब उसे कूणिक कहते थे।

[आव० चूर्णि]

इन सब प्रमाणों से यह निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है कि कूणिक अजात शत्रु जीवन भर भगवान् महावीर का परमभक्त रहा।

महाराजा उदायन

भगवान् महावीर के उपासक, परमभक्त अनेकानेक शक्तिशाली छत्रपतियों की गणना में श्रेणिक, कूणिक और चेटक की तरह महाराजा उदायन भी अग्रगण्य नरेश माने गये हैं।

महाराजा उदायन सिन्धु-सौवीर राज्य के शक्तिशाली एवं लोकप्रिय नरेश थे। आपके राज्य में सोलह बड़े बड़े जनपद एवं ३६३ सुन्दर नगर और इतनी ही बड़ी बड़ी खदानें थीं। दश छत्र-मुकुटधारी महिपाल और अनेक छोटे-मोटे अवनिपति एवं सार्थवाह आदि महाराज उदायन की सेवा में निरन्तर निरत रहते थे। सिन्धु-सौवीर राज्य की राजधानी वीतिभय नगर था जो उस समय के नगरों में बड़ा विशाल, सुन्दर और सब प्रकार की समृद्धि से सम्पन्न था। महाराज उदायन की महारानी का नाम प्रभावती और पूत्र का नाम अभीच कुमार था। केशी कुमार नामक इनका भानजा भी उनके पास ही रहता था। उदायन का उस पर बड़ा स्नेह था।[1]

महाराजा उदायन एक महान् शक्तिशाली राज्य के एकछत्र अधिपति होते हुए भी बड़े धर्मानुरागी और भगवद्भक्त थे। वे भगवान् महावीर के बारह व्रतधारी श्रावक थे। उनके न्याय-नीतिपूर्ण शासन में प्रजा पूर्णरूपेण सुखी थी। महाराज उदायन की भगवान् महावीर के वचनों पर बड़ी श्रद्धा थी।

एक समय महाराजा उदायन अपनी पौषधशाला में पौषध किये हुए जब रात्रि के समय धर्मचिंतन कर रहे थे उस समय उनके मन में भगवान् महावीर के प्रति उत्कृष्ट भक्ति के उद्रेक से इस प्रकार की भावना उत्पन्न हुई – "धन्य है वह नगर जहां श्रमण भगवान् महावीर विराजमान हैं। अहोभाग्य है उन नरेशों और भव्य नागरिकों का जो भगवान् के दर्शनों से अपना जीवन सफल करते और उनके पतितपावन चरणारविन्दों में सविधि वन्दन करते हैं, उनकी मनसा, वाचा, कर्मणा सेवा करके कृतकृत्य हो रहे हैं तथा भगवान् की भवभयहारिणी सकल कल्मष विनाशिनी अमृतमयी अमोघ वाणी सुन कर भवसागर से पार हो रहे हैं। मेरे लिए वह सुनहरा दिन कब उदित होगा जब मैं अपने इन नेत्रों से जगद्गुरु श्रमण भगवान् महावीर के दर्शन करूंगा, उन्हें सविधि वन्दन करूंगा, पर्युपासना-सेवा करूंगा और उनकी पीयूषवर्षिणी वाणी सुन कर अपने कर्णरन्ध्रों को पवित्र करूंगा।

महाराज उदायन की इस प्रकार की उत्कृष्ट अभिलाषा त्रिकालदर्शी सर्वज्ञ प्रभु से कैसे छुपी रह सकती थी। प्रभु दूसरे ही दिन चम्पा नगरी के पूर्ण-

[1] भगवती शतक, श० १३, उ० २।

भद्र उद्यान से विहार कर क्रमशः वीतभया नगरी के मृगवन नामक उद्यान में पधार गये। सत्य ही है – उत्कृष्ट अभिलाषा सद्यः फलप्रदायिनी होती है।

भगवान् के शुभागमन का सुसंवाद सुन कर उदायन के आनन्द का पारावार नहीं रहा। इच्छा करते ही जिस व्यक्ति के सम्मुख स्वयं कल्पतरु उपस्थित हो जाय उसके आनन्द का कोई क्या अनुमान कर सकता है। उदायन ने प्रभु के आगमन का संवाद सुनते ही सहसा सिंहासन से समुत्थित हो सात आठ डग उस दिशा की ओर बढ़ कर, जिस दिशा में त्रिलोकीनाथ प्रभु विराजमान थे, प्रभु को तीन बार भावविभोर हो सविधि वन्दन किया और तत्क्षण सकल परिजन, पुरजन तथा अधिकारिगण सहित वह प्रभु की सेवा में मृगवन उद्यान में पहुँचा। यथाभिलषित सविधि वन्दना, पर्युपासना के पश्चात् उसने प्रभु का हृदयहारी, पुनीत प्रवचन सुना।

भगवान् महावीर ने संसार की क्षणभंगुरता एवं असारता, वैराग्य की अभयता-महत्ता तथा मोक्ष-साधन की परम उपादेयता का चित्रण करते हुए ज्ञानादि की ऐसी त्रिवेणी प्रवाहित की कि सभी सभासद चित्रलिखित से रह गये। महाराजा उदायन पर भगवान् के वीतरागतामय उपदेश का ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह संसार के भोगोपभोगों को विषतुल्य हेय समझ कर अक्षय शिव-सुख की कामना करता हुआ भगवान् से निवेदन करने लगा – "भगवन्! मेरे अन्तर्चक्षु उन्मीलित हो गये हैं, मुझे यह संसार दावानल के समान दिख रहा है। प्रभो! मैं अपने पुत्र अभीचि कुमार को राज्य सौंप कर श्रीचरणों में दीक्षित होना चाहता हूँ। प्रभो! आप मुझे अपने पावन चरणों में स्थान दीजिये।"

प्रभु ने फरमाया - "जिस कार्य से सुख प्राप्त हो उस कल्याणकारी कार्य में प्रमाद मत करो।"

महाराजा उदायन परम संतोष का अनुभव करते हुए प्रभु को वन्दन कर नगर की ओर लौटे। मार्ग में उनके मन में विचार आया – "जिस राज्य को महा दुखानुबन्ध का कारण समझ कर मैं छोड़ रहा हूं उस राज्य का अधिकारी अगर मैंने अपने पुत्र अभीचि कुमार को बना दिया तो वह अधिक मोही होने से राज्य-भोगों में अनुरक्त एवं गृद्ध हो कर न मालूम कितने अपरिमित समय तक भवभ्रमण करता हुआ जन्म-मरण के असह्य दुखों का भागी बन जायगा अतः उसका कल्याण इसी में है कि उसे राज्य न दें कर मेरे भानजे केशिकुमार को राज्य दे दूं। तदनुसार राजप्रासाद में आकर महाराज उदायन ने अपने अधीनस्थ सभी राजाओं और सामन्तों को अपना निश्चय सुनाया और अपने भानजे केशिकुमार को अपने विशाल राज्य का अधिकारी बना कर स्वयं भगवान् महावीर के पास प्रव्रजित हो गये।

पिता द्वारा अपने जन्मसिद्ध पैत्रिक अधिकार से वंचित किये जाने के कारण अभीचि कुमार के हृदय पर बड़ा गहरा आघात पहुंचा फिर भी कुलीन

होने के कारण उसने पिता की आज्ञा का अक्षरशः पालन किया। वह किसी प्रकार के संघर्ष में नहीं उलझा और अपनी चल सम्पत्ति ले सकुटुम्ब मगध-सम्राट् कूणिक के पास चम्पा नगरी में जा बसा। सम्राट् कूणिक ने उसे अपने यहां ससम्मान रखा। अभीचि कुमार के मन में पिता द्वारा अपने अधिकार से वंचित रखे जाने की कसक जीवन भर कांटे की तरह चुभती रही। वह भगवान् का श्रद्धालु श्रमणोपासक रहा पर उसने कभी अपने पिता महाश्रमण उदायन को नमस्कार तक नहीं किया और इस बैर को अन्तर्मन में रखे हुए ही श्रावकधर्म का पालन करते हुए एक मास की संलेषना से आयुष्य पूर्ण कर पिता के प्रति अपनी दुर्भावना की आलोचना नहीं करने से असुर कुमार देव हुआ। असुर कुमार की आयु पूर्ण होने पर वह महाविदेह क्षेत्र में मानवभव प्राप्त कर सिद्ध, बुद्ध और मुक्त होगा।

महाश्रमण उदायन ने दीक्षित होने के पश्चात् एकादश अंगों का अध्ययन किया और कठोर तपस्या से वे अपने कर्म-बन्धनों को काटने में तत्परता से संलग्न हो गये। विविध प्रकार की घोर तपस्याओं से उनका शरीर अस्थिपंजर मात्र रह गया। अन्त-प्रान्तादि प्रतिकूल आहार से राजर्षि उदायन के शरीर में भयंकर व्याधि उत्पन्न हो गई। वे वैद्यों के अनुरोध से औषधि-रूप में दधि का सेवन करने लगे।

एकदा भगवान् की आज्ञा से राजर्षि उदायन एकाकी विचरते हुए वीतभय नगर पहुंचे। मंत्री को मालूम हुआ तो उसने दुर्भाव से महाराज केशी के मन को बदलने के लिये कहा कि परीषहों से पराजित हो राजर्षि उदायन पुनः राज्य लेने के लिये यहां आ गये हैं। केशी ने कहा – "कोई बात नहीं, यह राज्य उन्हीं का दिया हुआ है, यदि वे चाहेंगे तो मैं समस्त राज्य उन्हें लौटा दूंगा।" दुष्ट मन्त्री ने अनेक प्रकार से समझाते हुए केशी कुमार से कहा – "राजन्! यह राजधर्म नहीं है, हाथ में आई हुई राज्यलक्ष्मी का जो निरादर करता है वह कहीं का नहीं रहता। अतः येन-केन-प्रकारेण विष प्रयोगादि से उदायन को मौत के घाट उतारने में ही अपना कल्याण है।"

मंत्री की घृणित राय से केशी भी आखिर सहमत हो गया और उदायन को विषमिश्रित भोजन देने का षड्यन्त्र रचा गया। एक ग्वालिन के द्वारा राजर्षि उदायन को विषमिश्रित दधि तीन बार बहराया गया पर राजर्षि के भक्त एक देव द्वारा तीनों ही बार उस दही का अपहरण कर लिया गया और मुनि उसे नहीं खा सके। किन्तु एक बार देव की असावधानी से मुनि को विषमिश्रित दही गुजरी द्वारा बहरा ही दिया गया। दही के अभाव में मुनि के शरीर में असमाधि रहने लगी थी अतः उन्होंने दही ले लिया। दही खाने के थोड़ी ही देर बाद विष का प्रभाव होते देख राजर्षि उदायन सम्हल गये और उन्होंने समभाव से संथारा–आमरण अनशन धारण कर शुक्ल ध्यान से क्षपक श्रेणी पर आरूढ़ हो केवलज्ञान प्राप्त किया और एक मास की संलेषना से ध्रुव, अक्षय, अव्याबाध शाश्वत निर्वाण प्राप्त किया।

यही राजर्षि उदायन भगवान् महावीर द्वारा अन्तिम मोक्षगामी राजा बताये गये हैं। धन्य है उनकी परम निष्ठा, अविचल श्रद्धा व समता को।

भगवान् महावीर के कुछ अविस्मरणीय संस्मरण

पोत्तनपुर नगर की बात है, एक बार भगवान् महावीर वहां के मनोरम नामक उद्यानस्थ समवशरण में विराजमान थे। पोत्तनपुर के महाराज प्रसन्नचन्द्र प्रभु को वन्दन करने आये और उनका वीतरागतापूर्ण उपदेश सुनकर सांसारिक भोगों से विरक्त हो दीक्षित हुए तथा स्थविरों के पास विनयपूर्वक ज्ञानाराधन करते हुए सूत्रार्थ के पाठी हो गये।

कुछ काल के बाद पोत्तनपुर से विहार कर भगवान् राजगृह पधारे। मुनि प्रसन्नचन्द्र जो विहार में भगवान् के साथ थे, राजगृह में भगवान् से कुछ दूर जाकर एकान्त मार्ग पर ध्यानावस्थित हो गये। संयोगवश भगवान् को वन्दन करने के लिये राजा श्रेणिक अपने परिवार व सैन्य सहित उसी मार्ग से गुजरे। उन्होंने राजर्षि प्रसन्नचन्द्र को मार्ग पर एक पैर से ध्यान में खड़े देखा। भक्ति से उन्हें प्रणाम कर वे महावीर प्रभु के पास आये और सविनय वंदन कर बोले - "भगवन्! नगरी के बाहर जो राजर्षि उग्र तप के साथ ध्यान कर रहे हैं वे यदि इस समय काल धर्म को प्राप्त करें तो कौनसी गति में जायें?"

प्रभु ने कहा - "राजन्! वे सप्तम नरक में जायें।"

प्रभु की वाणी सुनकर श्रेणिक को बड़ा आश्चर्य हुआ। वे मन ही मन सोचने लगे - क्या ऐसा उग्र तपस्वी भी नरक में जाये, यह संभव हो सकता है? उन्होंने क्षणभर के बाद पुन: जिज्ञासा करते हुए पूछा - "भगवन्! वे यदि अभी कालधर्म को प्राप्त करें तो कहां जायेंगे?"

भगवान् महावीर ने कहा - "सर्वार्थसिद्ध विमान में।"

इस उत्तर को सुनकर श्रेणिक और भी अधिक विस्मित हुए और पूछने लगे - "भगवन्! दोनों समय की बात में इनता अन्तर क्यों? पहले आपने सप्तम नरक कहा और अब सर्वार्थसिद्ध विमान फरमा रहे हैं? इस अन्तर का कारण क्या है?"

भगवान् महावीर बोले - "राजन्! प्रथम बार जब तुमने प्रश्न किया था, उस समय ध्यानस्थ मुनि अपने प्रतिपक्षी सामन्तों से मानसिक युद्ध कर रहे थे और बाद के प्रश्नकाल में वे ही अपनी भूल के लिये आलोचना कर उच्च विचारों की श्रेणी पर आरूढ़ हो गये थे। इसलिये दोनों प्रश्नों के उत्तर में इतना अन्तर दिखाई दे रहा है।"

श्रेणिक ने उनकी भूल का कारण जानना चाहा तो प्रभु ने कहा - "राजन्! वन्दन को आते समय तुम्हारे दो सेनापतियों ने राजर्षि को ध्यानमग्न देखा। उनमें से एक "सुमुख" ने राजर्षि के तप की प्रशंसा की और कहा - "ऐसे घोर तपस्वी

को स्वर्ग या मोक्ष दुर्लभ नहीं है।" पर दूसरे साथी "दुर्मुख" को उसकी यह बात नहीं जंची। वह बोला – "अरे ! तू नहीं जानता, इन्होंने बड़ा पाप किया है। अपने नादान बालक पर राज्य का भार देकर स्वयं साधु रूप से ये ध्यान लगाये खड़े हैं। उधर विरोधी राज्य द्वारा, इनके अबोध शिशु पर, जिस पर कि मंत्री का नियन्त्रण है, आक्रमण हो रहा है। संभव है, बालकुमार को मंत्री राज्यच्युत कर स्वयं राज्याधिकार प्राप्त कर ले या शत्रु – राजा ही उसे बन्दी बना ले।

दुर्मुख की बात ध्यानमग्न तपस्वी के कानों में पड़ी और वे ध्यान की स्थिति में ही अत्यन्त क्षुब्ध हो उठे। वे मन ही मन पुत्र की ममता से प्रभावित होकर विरोधी राजा एवं अपने धूर्त मंत्री के साथ घोर युद्ध करने लगे। परिणामों की उस भयंकरता के समय तुमने प्रश्न किया अतः उन्हें सातवीं नरक का अधिकारी बताया गया, किन्तु कुछ ही काल के बाद राजर्षि ने अपने मुकुट से शत्रु पर आघात करना चाहा और जब सिर पर हाथ रखा तो उन्हें सिर मुंडित प्रतीत हुआ। उसी समय ध्यान आया – "मैं तो मुनि हूं। मुझे राज-ताज के हानि-लाभ से क्या मतलब ?" इस प्रकार आत्मालोचन करते हुए जब वे अध्यवसायों की उच्च श्रेणी पर आरूढ़ हो रहे थे तब सर्वार्थसिद्ध विमान की गति बतलाई गई।"

इधर जब भगवान् श्रेणिक को अपने कथन के रहस्य को समझा रहे थे उसी समय आकाश में दुन्दुभि-नाद सुनाई दिया। श्रेणिक ने पूछा – "भगवन् ! यह दुन्दुभि-नाद कैसा ?"

प्रभु ने कहा – "वही प्रसन्नचन्द्र मुनि जो सर्वार्थसिद्ध विमान के योग्य अध्यवसाय पर थे, शुक्ल-ध्यान की विमल श्रेणी पर आरूढ़ हो मोह कर्म के साथ ज्ञानावरणीय आदि कर्मों का भी क्षय कर केवलज्ञान, केवलदर्शन के अधिकारी बन गये हैं। उसीकी महिमा में देवों द्वारा दुन्दुभि बजायी जा रही है।" श्रेणिक प्रभु की सर्वज्ञता पर मन ही मन प्रमुदित हुए।

दूसरी घटना राजगृही नगरी की है। एक बार भगवान् महावीर वहां के उद्यान में विराजमान थे। उस समय एक मनुष्य भगवान् के पास आया और चरणों पर गिर कर बोला – "नाथ ! आपका उपदेश भवसागर से पार लगाने में जहाज के समान है। जो आपकी वाणी श्रद्धापूर्वक सुनते और तदनुकूल आचरण करते हैं, वे धन्य हैं।"

"मुझे एक बार आपकी वाणी सुनने का लाभ मिला था और उस एक बार के ही उपदेश ने मेरे जीवन को संकट से बचा लिया है। आज तो हृदय खोल कर मैं आपकी अमृतमयी वाणी के श्रवण का लाभ उठाऊंगा।"

इस तरह मन में दृढ़ निश्चय कर उसने प्रभु का उपदेश सुना। उपदेश-श्रवण के प्रभाव से उसके मन में वैराग्यभाव उदित हो गया। उसको अपने दुष्कृत्यों पर अत्यंत पश्चात्ताप तथा ग्लानि हुई। उसने हाथ जोड़ कर प्रभु से

निवेदन किया – "भगवन् ! क्या एक चोर और अत्याचारी भी मुनि-धर्म पाने का अधिकारी हो सकता है ? मेरा पूर्व-जीवन कुकृत्यों से काला बना हुआ है। उसकी सफाई या निर्मलता के लिए मैं आपकी पुनीत सेवा में स्थान पा सकता हूं।"

उसके इस निश्छल वचन को सुन कर भगवान् ने कहा – "रोहिणेय अन्तःकरण के पश्चात्ताप से पाप की कालिमा धुल जाती है। अतः अब तू श्रमणपद पाने का अधिकारी बन गया है। तेरे मन के वे सारे कलुष जो अब तक के तुम्हारे कुकृत्यों से संचित हुए थे, आत्मालोचना की भट्टी में जल कर राख हो गये हैं।"

प्रभु की वाणी से प्रख्यात चोर रोहिणेय देखते ही देखते साधु बन गया और अपने सत्कृत्यों और तपश्चर्या से बहुत आगे बढ़ गया। ठीक ही है पारस का संयोग लोहे को भी सोना बना देता है। उसी प्रकार वीतराग प्रभु की वाणी पापी को भी धर्मात्मा बना देती है। निर्मल अन्तःकरण या सात्विक प्रकृति वाला व्यक्ति यदि प्रव्रज्या ग्रहण करे, व्रत-विधान का पालन करे तो यह कोई बड़ी बात नहीं है। किन्तु जब एक जन्मजात कुख्यात चोर प्रभु के प्रताप और उपदेश के प्रभाव से पूज्य पुरुष बन जाय तो निश्चित रूप से यह एक बड़ी और असाधारण बात है।

राजगृही के प्रांगण से अभयकुमार

राजगृही के महाराज श्रेणिक और उनके परिवार की भगवान् महावीर के प्रति भक्ति उल्लेखनीय रही है। उसमें राज-मंत्री अभयकुमार का बड़ा योगदान रहा। भंभसार – श्रेणिक की नन्दा रानी से "अभय" का जन्म हुआ।[1] नन्दा "वेन्नातट" के "धनावह" सेठ की पुत्री थी।

अभयकुमार श्रेणिक – भंभसार का परममान्य मंत्री भी था।[2] उसने कई बार राजनैतिक संकटों से श्रेणिक की रक्षा की। एक बार उज्जयिनी के राजा चंडप्रद्योत ने चौदह राजाओं के साथ राजगृह पर आक्रमण किया। अभय ने ही उस समय राज्य का रक्षण किया था। उसने जहां शत्रु का शिविर लगना था, वहां पहले ही स्वर्ण मुद्राएं गड़वा दीं। जब चण्डप्रद्योत ने आकर राजगृह को घेरा तो अभय ने उसे सूचना करवाई – "मैं आपका हितैषी होकर एक सूचना कर रहा हूं कि आपके साथी राजा श्रेणिक से मिल गये हैं। अतः वे आपको पकड़ कर श्रेणिक को संभलाने वाले हैं। श्रेणिक ने उनको बहुत धनराशि दी है। विश्वास न हो तो आप अपने शिविर की भूमि खुदवा कर देख लें।"

चण्डप्रद्योत ने भूमि खुदवाई तो उसे उस स्थान पर गड़ी हुई स्वर्ण-मुद्राएं मिलीं। भय खा कर वह ज्यों का त्यों ही उज्जयिनी लौट गया।[3]

---

१ सेणियस्स रन्नो पुत्ते नंदाए देवीए अत्तए अभए नाम कुमारे होत्था। [निरयावलिका, सू० २३]

२ भरतेश्वर बाहुबलि वृत्ति, पृ० ३८।

३ (क) त्रिषष्टि शलाका पुरुष, पृ० १० ... ११ श्लो० १८४।
(ख) आवश्यक चूर्णि उत्तरार्ध।

राजगृही में एक बार एक द्रुमक लकड़हारा सुधर्मा स्वामी के पास दीक्षित हुआ। जब वह भिक्षा के लिए नगरी में गया तो लोग उसका उपहास करते हुए बोले – "ये आये हैं बड़े त्यागी पुरुष, कितना बड़ा वैभव छोड़ा है इन्होंने ?" लोगों के इस उपहास वचन से नवदीक्षित मुनि व्यथित हुए। उन्होंने सुधर्मा स्वामी से आकर कहा। द्रुमक मुनि की खेद-निवृत्ति के लिए सुधर्मा स्वामी ने भी अगले ही दिन वहां से विहार करने का सोच लिया।

अभयकुमार को जब इस बात का पता चला तो उसने आर्य सुधर्मा को ठहरने के लिए निवेदन किया तथा नगर में आकर एक-एक कोटि स्वर्ण-मुद्राओं की तीन राशियां लगवाईं और नगर के लोगों को आमंत्रित किया। उसने नगर में घोषणा करवाई कि जो जीवन भर के लिए स्त्री, अग्नि और पानी का परित्याग करे, वह इन तीन कोटि स्वर्ण-मुद्राओं को ले सकता है।

स्त्री, अग्नि और पानी छोड़ने के भय से कोई स्वर्ण लेने को नहीं आया, तब अभय कुमार ने कहा – "देखो वह द्रुमक मुनि कितने बड़े त्यागी हैं। उन्होंने जीवन भर के लिए स्त्री, अग्नि और सचित्त जल का परित्याग कर दिया है।" अभय की इस बुद्धिमत्ता से द्रुमक मुनि के प्रति लोगों की व्यंग्य-चर्चा समाप्त होगई।[1] अभयकुमार की धर्मसेवा के ऐसे अनेकों उदाहरण जैन साहित्य में भरे पड़े हैं।

भगवान् महावीर जब राजगृह पधारे तो अभयकुमार भी वन्दन के लिए उद्यान में आया। देशना के अन्त में अभय ने भगवान् से सविनय पूछा – "भगवन् ! आपके शासन में अन्तिम मोक्षगामी राजा कौन होगा ?"

उत्तर में भगवान् महावीर ने कहा – "वीतभय का राजा उदयन, जो मेरे पास दीक्षित मुनि है, वही अन्तिम मोक्षगामी राजा है।"

अभयकुमार ने सोचा – "मैं यदि राजा बन कर दीक्षा ग्रहण करूंगा तो मेरे लिए मोक्ष का रस्ता ही बन्द हो जायगा। अतः क्यों न मैं कुमारावस्था में ही दीक्षा ग्रहण कर लूं।"

अभयकुमार वैराग्य-भावना से श्रेणिक के पास आया और अपनी दीक्षा की बात कही। श्रेणिक ने कहा – "वत्स ! दीक्षा ग्रहण का दिन तो मेरा है, तुम्हें तो अभी राज्य-ग्रहण करना चाहिए। अभयकुमार द्वारा विशेष आग्रह किये जाने पर श्रेणिक ने कहा – "जिस दिन मैं तुमको रुष्ट हो कर कहूँ – 'जा मुझे आगे मुंह नहीं दिखाना,' उसी दिन तुम प्रव्रजित हो जाना।"

कालान्तर में फिर भगवान् महावीर राजगृह पधारे। उस समय भीषण शीतकाल था। एक दिन राजा श्रेणिक रानी चेलना के साथ घूमने गये। सायंकाल उपवन से लौटते हुए उन्होंने नदी के किनारे एक मुनि को ध्यानस्थ देखा। रात्रि के समय रानी जगी तो उसे मुनि की याद हो आई। सहसा उसके मुंह से निकला – "आह ! वे क्या करते होंगे ?" रानी के वचन सुन कर राजा के

[1] धर्मरत्न प्रकरण – "अभयकुमार कथा।"

मन में उसके प्रति अविश्वास हो गया। प्रातःकाल भगवद्-वन्दन को जाते हुए उन्होंने अभयकुमार को आदेश दिया – "चेलना का महल जला दो, यहां दुराचार बढ़ता है।"

अभयकुमार ने महल से रानियों को निकाल कर उसमें आग लगवा दी। उधर श्रेणिक ने भगवान् के पास रानियों के आचार-विषयक जिज्ञासा रखी तो महावीर ने कहा – "राजन् ! तेरी चेलना आदि सारी रानियां निष्पाप हैं, शीलवती हैं।" भगवान् के मुख से रानियों के प्रति कहे गये वचन सुन कर राजा अपने आदेश पर पछताने लगा। वह इस आशंका से कि कहीं कोई हानि न हो जाय सहसा महल की ओर लौट चला।

मार्ग में ही अभयकुमार मिल गया। राजा ने पूछा – "महल का क्या किया ?"

अभय ने कहा – "आपके आदेशानुसार उसे जला दिया।"

"अरे मेरे आदेश के बावजूद भी तुम्हें अपनी बुद्धि से काम लेना चाहिये था," खिन्न हृदय से राजा बोला।

यह सुन कर अभय बोला – "राजाज्ञा-भंग का दण्ड प्राण-नाश होता है, मैं इसे अच्छी तरह जानता हूं।"

"फिर भी तुम्हें कुछ रुक कर, समय टाल कर आदेश का पालन करना चाहिये था," व्यथित मन से राजा ने कहा।

इस पर अभय ने जवाब दिया – "इस तरह बिना सोचे समझे आदेश ही नहीं देना चाहिये। हमने तो अपने से बड़ों की आज्ञा के पालन को ही अपना धर्म समझा है और आज तक उसी के अनुकूल आचरण भी किया है।"

अभय के इस उत्तर-प्रत्युत्तर एवं अपने द्वारा दिये गये दुष्टादेश से राजा अत्यंत क्रुद्ध हो उठा। दूसरा होता तो राजा तत्क्षण उसके सिर को धड़ से अलग कर देता किन्तु पुत्र के ममत्व से वह ऐसा नहीं कर सका। फिर भी उसके मुख से सहसा निकल पड़ा – "जारे अभय ! यहां से चला जा। भूल कर भी कभी मुझे अपना मुंह मत दिखाना।"

अभय तो ऐसा चाहता ही था। अंधा जैसे आंख पाकर गद्गद हो जाता है, अभय भी उसी तरह परम प्रसन्न हो उठा। वह पितृ-वचन को शिरोधार्य कर तत्काल वहां से चल पड़ा और भगवान् के चरणों में जाकर उसने प्रव्रज्या ग्रहण कर ली।

राजा श्रेणिक ने जब महल एवं उसके भीतर रहने वालों को सुरक्षित पाया तो उसको फिर एक बार अपने सहसा दिये गये आदेश पर दुःख हुआ। उसे यह समझने में किंचित् भी देर नहीं लगी कि आज के इस आदेश से मैंने अभय जैसे चतुर पुत्र एवं राज-कार्य में योग्य नीतिज्ञ मंत्री को खो दिया है। वह आशा के बल पर शीघ्रता से लौट कर पुनः महावीर के पास आया। वहां उसने देखा कि अभयकुमार तो दीक्षित हो गया है। अब पछताने के सिवा और क्या होता।

ऐतिहासिक दृष्टि से निर्वाणकाल

जैन परम्परा के प्रायः प्राचीन एवं अर्वाचीन सभी प्रकार के ग्रन्थों में इस प्रकार के पुष्ट और प्रबल प्रमाण प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं जिनके आधार पर पूर्ण प्रामाणिकता के साथ यह माना गया है कि भगवान् महावीर का निर्वाण ई० पू० ५२७ वें वर्ष में हुआ।

आधुनिक ऐतिहासिक शोधकर्त्ता विद्वानों ने भी इस विषय में विभिन्न दृष्टियों से गहन गवेषणाएं करने का प्रयास किया है। उन विद्वानों में सर्वप्रथम डॉ० हर्मन जैकोबी ने जैन सूत्रों की भूमिका में इस विषय पर चर्चा की है। भगवान् महावीर और बुद्ध के निर्वाण प्रसंग पर डॉ० जैकोबी ने दो स्थानों पर चर्चा की है पर वे दोनों चर्चाएं परस्पर विरोधी हैं।

पहली चर्चा में डॉ० जैकोबी ने भगवान् महावीर का निर्वाणकाल ई० पू० ५२६ माना है। इसके प्रमाण में उन्होंने लिखा है – "जैनों की यह सर्वसम्मत मान्यता है कि जैन सूत्रों की वाचना वल्लभी में देवर्द्धि क्षमाश्रमण के तत्वावधान में हुई। इस घटना का समय वीर निर्वाण से ९८० अथवा ९९३ वर्ष पश्चात् का है अर्थात् ई० सन् ४५४ या ४६७ का है, जैसा कि कल्पसूत्र की गाथा १४८ में उल्लिखित है।"[1]

यहां पर डॉ० जैकोबी ने वीर-निर्वाणकाल ई० पू० ५२६ माना है क्योंकि ५२६ में ४५४ जोड़ने पर ९८० और ४६७ जोड़ने पर ९९३ वर्ष होते हैं।

इसके पश्चात् डॉ० जैकोबी ने दूसरे खण्ड की भूमिका में भगवान् महावीर और बुद्ध के निर्वाणकाल के सम्बन्ध में विचार करते हुए भगवान् महावीर के निर्वाणकाल पर पुनः दूसरी बार चर्चा की है। उस चर्चा के निष्कर्ष के रूप में उन्होंने अपनी पहली मान्यता के विपरीत अपना यह अभिमत प्रकट किया है कि बुद्ध का निर्वाण ई० पू० ४८४ में हुआ था तथा महावीर का निर्वाण ई० पू० ४७७ में हुआ था।[2]

डॉ. जैकोबी ने अपने इस परिवर्तित निर्णय के औचित्य के सम्बन्ध में कोई भी प्रमाण अथवा आधार प्रस्तुत नहीं किया। उनके द्वारा बुद्ध को बड़ा और महावीर को छोटा मानने में प्रमुख तर्क यह रखा गया है कि कूणिक का चेटक के साथ जो युद्ध हुआ उसका जितना विवरण बौद्ध शास्त्रों में मिलता है, उससे अधिक विस्तृत विवरण जैन आगमों में मिलता है। जहां बौद्ध शास्त्रों में अजातशत्रु के अमात्य वस्सकार द्वारा बुद्ध के समक्ष वज्जियों पर विजय प्राप्ति के लिए केवल योजना प्रस्तुत करने का उल्लेख है वहां जैन आगमों में कूणिक और चेटक के बीच हुए 'महाशिलाकंटक संग्राम', 'रथमूसल संग्राम' और वैशाली के प्राकार-भंग तक स्पष्ट विवरण मिलता है। इस तर्क के आधार पर डॉ. जैकोबी

[1] एस. बी. ई. वोल्यूम २२, इन्ट्रोडक्शन, पृ. ३७।
[2] 'श्रमण' वर्ष १३, अंक ६।

ने कहा है – "इससे यह प्रमाणित होता है कि महावीर बुद्ध के वाद कितने ही वर्षों तक जीवित रहे थे।"

वास्तव में बौद्ध शास्त्रों के सम्यक् पर्यवेक्षण से डॉ. जैकोबी का यह तर्क बिल्कुल निर्बल और नितान्त पंगु प्रतीत होगा क्योंकि वस्सकार की कूटनैतिक चाल के माध्यम से वज्जियों पर कूणिक की विजय का जैनागमों में दिये गये विवरण से भिन्न प्रकार का विवरण बौद्ध शास्त्रों में उपलब्ध होता है।

बौद्ध ग्रन्थ दीर्घनिकाय अट्ठकहा में वस्सकार द्वारा छलछद्म से वज्जियों में फूट डाल कर कूणिक द्वारा वैशाली पर आक्रमण करने, वज्जियों की पराजय व कूणिक की विजय का संक्षेप में पूरा विवरण उल्लिखित है। बौद्ध परम्परा के ग्रन्थों में यह स्पष्ट उल्लेख है कि एकता के सूत्र में बंधे हुए वज्जियों में फूट, द्वेष और भेद उत्पन्न करने का लक्ष्य रख कर वस्सकार बड़े नाटकीय ढंग से वैशाली गया। वह वज्जी गणतन्त्र में अमात्य का पद प्राप्त करने में सफल हुआ। वस्सकार ३ वर्ष तक वैशाली में रहा और अपनी कूटनैतिक चालों से वज्जियों में ईर्ष्या-विद्वेष फैलाकर वज्जियों की अजेय शक्ति को खोखला और निर्बल बना दिया।

अन्ततोगत्वा जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है वस्सकार से संकेत पा कूणिक ने वैशाली पर प्रबल आक्रमण किया और वज्जियों को परास्त कर दिया। केवल 'रथमूसल' और 'महाशिलाकंटक' संग्राम का परिचय बौद्ध साहित्य में नहीं है।

वस्तु स्थिति यह है कि राजा कूणिक भगवान् महावीर का परम भक्त था। उसने अपने राजपुरुषों द्वारा भगवान् महावीर की दैनिक चर्या के सम्बन्ध में प्रतिदिन की सूचना प्राप्त करने की व्यवस्था कर रखी थी। भगवान् महावीर के बाद सुधर्मा स्वामी की परिषद् में भी वह सभक्ति उपस्थित हुआ।[1] अतः जैनागमों में उसका अधिक विवरण होना और बौद्ध साहित्य में संक्षिप्त निर्देश होना स्वाभाविक है।

डॉ० जैकोबी ने महावीर के पूर्व निर्वाण सम्बन्धी बौद्ध शास्त्रों में मिलने वाले तीन प्रकरणों को अयथार्थ प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है। किन्तु प्राप्त सामग्री के अनुसार वह ठीक नहीं है। बौद्ध साहित्य में इन तीन प्रकरणों के अतिरिक्त कहीं भी ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता जो महावीर-निर्वाण से पूर्व बुद्ध-निर्वाण को प्रमाणित करता हो, अपितु ऐसे अनेकों प्रसंग उपलब्ध होते हैं जो बुद्ध का छोटा होना और महावीर का ज्येष्ठ होना प्रमाणित करते हैं। अतः डॉ० जैकोबी का वह दूसरा निर्णय प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। डॉ० जैकोबी ने अपने दूसरे मन्तव्य में महावीर का निर्वाण ४७७ ई० पू० और बुद्ध का निर्वाण ई० पू० ४८४ माना है। पर उन्होंने उस सारे लेख में यह बताने का यत्न नहीं किया कि यही तिथियां मानी जायं, ऐसी अनिवार्यता क्यों पैदा हुई ? उन्होंने बताया है कि जैनों की सर्वमान्य परम्परा के अनुसार

[1] परिशिष्ट पर्व, सर्ग ४, श्लो० १५–५४

[र्वाणकाल]

न्द्रगुप्त का राज्याभिषेक महावीर के निर्वाण के २१५ वर्ष बाद हुआ था परन्तु चार्य हेमचन्द्र के मतानुसार यह राज्याभिषेक महावीर के निर्वाण के १५५ र्ष पश्चात् हुआ। इतिहास के विद्वानों ने इसे श्री हेमचन्द्राचार्य की भूल माना है। इस विषय में सर्वाधिक पुष्ट धारणाएं हैं कि भगवान् महावीर जिस दिन निर्वाण को प्राप्त होते हैं उसी दिन उज्जैन में पालक राजा गद्दी पर बैठता है। सका राज्य ६० वर्ष तक चला, उसके बाद १५५ (एक सौ पचपन) वर्ष तक न्दों का राज्य और तत्पश्चात् मौर्य राज्य का प्रारम्भ[1] होता है, अर्थात् महावीर के निर्वाण के २१५ वर्ष पश्चात् चन्द्रगुप्त मौर्य गद्दी पर बैठता है। यह प्रकरण 'तित्थोगाली पइन्नय' का है जो परिशिष्ट पर्व से बहुत प्राचीन माना जाता है। बाबू श्री पूर्णचन्द्र नाहर तथा श्री कृष्णचन्द्र घोष के अनुसार हेमचन्द्राचार्य की गणना में असावधानी से पालक राज्य के ६० वर्ष छूट गये हैं।[2]

संभव है जिस श्लोक (३३९) के आधार पर डॉ० जैकोबी ने महावीर निर्वाण के समय को निश्चित किया है उसमें भी वैसी ही असावधानी रही हो। स्वयं हेमचन्द्राचार्य ने अपने समकालीन राजा कुमारपाल का काल बताते समय महावीर निर्वाण का जो समय माना है, वह ई० पू० ५२७ का ही है, न कि ई० पू० ४७७ का। हेमचन्द्राचार्य लिखते हैं कि जब भगवान् महावीर के निर्वाण से १६६९ वर्ष बीतेंगे तब चौलुक्य कुल में चन्द्रमा के समान राजा कुमारपाल होगा।[3]

अब यह निर्विवाद रूप से माना जाता है कि राजा कुमारपाल ई० सन् ११४३ में हुआ। हेमचन्द्राचार्य के कथन से यह काल महावीर के निर्वाण से १६६९ वर्ष का है। इस प्रकार हेमचन्द्राचार्य ने भी महावीर निर्वाणकाल १६६९-११४२ ई० पू० ५२७ ही माना है।

डॉ० जैकोबी की धारणा के बाद ३२ वर्ष के इस सुदीर्घ काल में इतिहास ने बहुत कुछ नई उपलब्धियां की हैं इसलिए भी डॉ० जैकोबी के निर्णय को अन्तिम रूप से मान लेना यथार्थ नहीं है।

---

[1] जं रयणि सिद्धिगओ अरहा तित्थंकरो महावीरो।
तं रयणिमवन्तिए, अभिसित्तो पालओ राया॥
पालग रण्णो सट्ठी, पण पण सयं वियाणि णंदाणम्।
मुरियाणं सट्ठिसयं, तीसा पुण पूसमित्ताणम्॥ [तित्थोगाली पइन्नय ६२०-२१]

[2] Hemchandra must have omitted by oversight to count the period of 60 years of King Palaka after Mahaveera,
[Epitome of Jainism Appendix A, P. IV]

[3] अस्मिन्निर्वाणतो वर्षशतान्यभय षोडश।
नव षष्टिश्च यास्यन्ति, यदा तत्र पुरे तदा॥
कुमारपाल भूपालो, चौलुक्यकुलचन्द्रमाः।
भविष्यति महाबाहुः, प्रचण्डाखण्डशासनः॥
[त्रिषष्टि शलाका पु. च., पर्व १०, सर्ग १२, श्लो० ४५-४६]

डॉ० के. पी. जायसवाल ने भी महावीर निर्वाण को बुद्ध से पूर्व माना है। इनका कहना है कि बौद्धागमों में वर्णित महावीर के निर्वाण प्रसंग ऐतिहासिक तथ्यों के निर्धारण में किसी प्रकार उपेक्षा के योग्य नहीं हैं। सामगाम सुत्त में बुद्ध महावीर-निर्वाण के समाचार सुनते हैं और प्रचलित धारणाओं के अनुसार इसके २ वर्ष बाद वे स्वयं निर्वाण प्राप्त करते हैं।[१] (बौद्धों की दक्षिणी परम्परा के अनुसार महावीर का निर्वाण ई० पू० ५४६ में होता है और बुद्ध निर्वाण ई० पू० ५४४ में।)

डॉ० जायसवाल ने महावीर निर्वाण सम्बन्धी बौद्ध उल्लेखों की उपेक्षा न करने की जो बात कही है वह ठीक है, पर सामगाम सुत्त के आधार पर बुद्ध से २ वर्ष पूर्व महावीर का निर्वाण मानना और महावीर के ४७० वर्ष बाद विक्रमादित्य की मान्यता में १८ वर्ष जोड़कर महावीर और विक्रम के मध्य काल की अवधि निश्चित करना पुष्ट प्रमाणों पर आधारित नहीं है। उन्होंने सरस्वती-गच्छ की पट्टावली के अनुसार वीर निर्वाण और विक्रम-जन्म के बीच का अन्तर ४७० वर्ष माना है और फिर १८ वें वर्ष में विक्रम के राज्यासीन होने पर सम्वत् का प्रचलन हुआ, इस दृष्टि से वीर निर्वाण से ४७० वर्ष बाद विक्रम संवत्सर मानने की बात को भूल कहा है। किन्तु इतिहासकारों का कथन है कि यह मान्यता किसी भी प्रामाणिक परम्परा पर आधारित नहीं है। आचार्य मेरुतुंग[२] ने वीर निर्वाण और विक्रमादित्य के बीच ४७० वर्ष का अन्तर माना है। वह अन्तर विक्रम के जन्मकाल से नहीं अपितु शक राज्य की समाप्ति और विक्रम की विजय से सम्बन्धित है।[३]

डॉ० राधा कुमुद मुकर्जी ने भी अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ (हिन्दू सभ्यता) में डॉ० जायसवाल की तरह भगवान् महावीर की ज्येष्ठता और पूर्व निर्वाण-प्राप्ति का युक्तिपूर्वक समर्थन किया है। पुरातत्व गवेषक मुनि जिन विजयजी ने भी डॉ० जायसवाल के मतानुसार भगवान् महावीर की ज्येष्ठता स्वीकार की है।[४]

श्री धर्मानन्द कौशाम्बी का निश्चित मत है कि तत्कालीन सातों धर्माचार्यों में बुद्ध सबसे छोटे थे। प्रारम्भ में उनका संघ भी सबसे छोटा था।[५] कौशाम्बीजी

---

१ जर्नल आफ बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी, १ १०३

२ विक्कम रज्जारंभा परओ सिरि वीर निव्वुइ भणिया।
सुन्न मुणि वेय जुत्तो विक्कम कालाउ जिण कालो ॥ विचार श्रेणी पृ० ३-४

³ The suggestion can hardly be said to rest on any reliable tradition. Merutunga places the death of the last Jina or Teerthankara 470 years before the end of Saka Rule and the Victory and not birth of the traditional Vikrama [An Advanced History of India by R. C. Majumdar, H. C. Roy Chaudhari & K. K. Dutta, Page 85.]

४ वीर निर्वाण संवत् और जैन काल गणना – भूमिका पृ० १

५ भगवान् बुद्ध, पृ० ३३-१५५

[निर्वाणकाल]

के कालक्रम की बात को यह कह कर गौण कर दिया है कि बुद्ध की जन्म तिथि में कुछ कम या अधिक अन्तर पड़ जाता है तो भी उससे उनके जीवन-चरित्र में किसी प्रकार का गौणत्व नहीं आ सकता।[१]

इसी प्रकार डॉ० हर्नले ने अपने "हेस्टिंगाका एन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड इथिक्स" ग्रन्थ में भी इसकी चर्चा की है। उनके मतानुसार बुद्ध निर्वाण महावीर से ५ वर्ष बाद होता है। तदनुसार बुद्ध का जन्म महावीर से ३ वर्ष पूर्व होता है।

मुनि कल्याण विजयजी के अनुसार भगवान् महावीर से बुद्ध १४ वर्ष ५ मास, १५ दिन पूर्व निर्वाण प्राप्त कर चुके थे यानि भगवान् महावीर से बुद्ध आयु में लगभग २२ वर्ष बड़े थे। बुद्ध का निर्वाण ई० पू० ५४२ (मई) और महावीर का निर्वाण ई० पू० ५२८ (नवम्बर)[२] होता है। भगवान् महावीर का निर्वाण उन्होंने ई० पू० ५२७ माना है जो परम्परा सम्मत भी है और प्रमाण सम्मत भी।

श्री विजयेन्द्र सूरि द्वारा लिखित तीर्थंकर महावीर में भी विविध प्रमाणों के साथ भगवान् महावीर का निर्वाणकाल ई० पू० ५२७ ही प्रमाणित किया गया है।

भगवान् महावीर के निर्वाणकाल का विचार जिन आधारों पर किया गया है उन सब में साक्षात् व स्पष्ट प्रमाण बौद्ध पिटकों का है। जिन प्रकरणों में निर्वाण की चर्चा है वे क्रमशः मज्झिमनिकाय-सामगामसुत्त, दीर्घनिकाय—पासादिक सुत्त और दीर्घनिकाय—संगीति पर्याय सुत्त हैं। तीनों प्रकरणों की आत्मा एक है पर उनके ऊपर का ढांचा निराला है। इनमें बुद्ध ने आनन्द और चुन्द से भगवान् महावीर के निर्वाण की बात कही है। कुछ लेखकों ने माना है कि इन प्रकरणों में विरोधाभास है। डॉ० जैकोबी ने उक्त प्रकरणों को इसलिए भी अप्रमाणित माना है कि इनमें से कोई समुल्लेख महापरिनिव्वाण सुत्त में नहीं है जिससे कि बुद्ध के अन्तिम जीवन प्रसंगों का व्योरा मिलता है।[३] जहाँ तक बुद्ध से भगवान् महावीर के पूर्व निर्वाण का प्रश्न है हमें इन प्रकरणों की वास्तविकता में इसलिए भी संदेह नहीं करना चाहिए कि जैन आगमों में महावीर निर्वाण के संबंध में इससे कोई विरोधी उल्लेख नहीं मिल रहा है। यदि जैन आगमों में भगवान् महावीर और बुद्ध के निर्वाण की पूर्वापरता के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट उल्लेख होता तो हमें भी इन प्रकरणों की वास्तविकता के संबंध में सन्देह हो सकता था। फिर बौद्ध शास्त्रों में भी इन तीन प्रकरणों के अतिरिक्त कोई ऐसा प्रकरण होता जो महावीर निर्वाण से पूर्व बुद्ध निर्वाण की बात कहता

[१] भगवान् बुद्ध—भूमिका, पृ० १२

[२] ईस्वी पूर्व ५२८ के नवम्बर महीने में और ई० पू० ५२७ में केवल २ महीने का ही अन्तर है अतः महावीर निर्वाण का काल सामान्यतः ई० पू० ५२७ का ही लिखा जाता है।

[३] श्रमण वर्ष १३ अंक ६

तो भी हमें गम्भीरता से सोचना होता। किन्तु ऐसा कोई बाधक कारण दोनों ओर के साहित्य में नहीं है। ऐसी स्थिति में उन्हें प्रमाण-भूत मानना असंगत प्रतीत नहीं होता। इसमें जो कालावधि का भेद है उसे हम आगे स्पष्ट कर रहे हैं कि भगवान् महावीर के निर्वाण से २२ वर्ष पश्चात् बुद्ध का निर्वाण हुआ।

मुनि नगराजजी के अनुसार महावीर की ज्येष्ठता को प्रमाणित करने के लिए और भी अनेक प्रसंग बौद्ध साहित्य में उपलब्ध होते हैं जिनमें बुद्ध स्वयं अपने को तात्कालिक सभी धर्मनायकों में छोटा स्वीकार करते हैं। वे इस प्रकार हैं –

(१) एक बार भगवान् बुद्ध श्रावस्ती में अनाथ पिंडिक के जेत्तवन में विहार कर रहे थे। राजा प्रसेनजित (कोशल) भगवान् के पास गया और कुशल पूछकर जिज्ञासा व्यक्त की – "गौतम ! क्या आप भी यह अधिकारपूर्वक कहते हैं कि आपने अनुत्तर सम्यक् संबोधि को प्राप्त कर लिया है ?"

बुद्ध ने उत्तर दिया – "महाराज ! यदि कोई किसी को सचमुच सम्यक् संबुद्ध कहे तो वह मुझे ही कह सकता है, मैंने ही अनुत्तर सम्यक् संबोधि का साक्षात्कार किया है।"

प्रसेनजित् ने कहा – "गौतम ! दूसरे श्रमण ब्राह्मण जो संघ के अधिपति, गणाधिपति, गणाचार्य, प्रसिद्ध, यशस्वी, तीर्थंकर और बहुजन सम्मत, पूरण काश्यप, मक्खलि गोशाल, निगण्ठ नायपुत्त, संजय वेलट्ठिपुत्त, प्रक्रुद्ध कात्यायन, अजितकेश कम्बली आदि से भी ऐसा पूछे जाने पर वे अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि-प्राप्ति का अधिकारपूर्वक कथन नहीं करते। आप तो अल्प-वयस्क व सद्यः प्रव्रजित हैं, फिर यह कैसे कह सकते हैं ?"

बुद्ध ने कहा – "क्षत्रिय, सर्प, अग्नि व भिक्षु को अल्प-वयस्क समझकर कभी उनका पराभव या अपमान नहीं करना चाहिये।" (संयुत्तनिकाय, दहर सुत्त पृ० १।१ के आधार से)

उस समय के सब धर्मनायकों में बुद्ध की कनिष्ठता का यह एक प्रबल प्रमाण है।

(२) एक बार बुद्ध राजगृह के वेणुवन में विहार कर रहे थे। उस समय एक देव ने आकर सभिय नामक एक परिव्राजक को कुछ प्रश्न सिखाये और कहा कि जो इन प्रश्नों का उत्तर दे उन्हीं का तू शिष्य होना। सभिय; श्रमण, ब्राह्मण संघनायक, गणनायक, साधुसम्मत पूरण काश्यप, मक्खलि गोशाल, अजित-केश कम्बली, प्रक्रुद्ध कात्यायन, संजय वेलट्ठिपुत्त और निगण्ठ नायपुत्त के पास क्रमशः गया और उनसे प्रश्न पूछे। सभी तीर्थंकर उसके प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सके और सभिय के प्रति कोप, द्वेष एवं अप्रसन्नता ही व्यक्त करने लगे। सभिय परिव्राजक इस पर बहुत असंतुष्ट हुआ, उसका मन विविध ऊहापोह से भर गया। उसने निर्णय किया "इससे तो अच्छा हो कि गृहस्थ होकर सांसारिक

आनन्द लूटूं।"

सभिय के मन में आया कि श्रमण गौतम भी संघी, गणी, बहुजन सम्मत हैं, क्यों न मैं उनसे भी प्रश्न पूछूं। उसका मन तत्काल ही आशंका से भर गया। उसने सोचा "पूरण काश्यप और निगण्ठ नायपुत्त जैसे धीर, वृद्ध, वयस्क, उत्तरावस्था को प्राप्त, वयातीत, स्थविर, अनुभवी, चिर प्रव्रजित[1] संघी, गणी, गणाचार्य, प्रसिद्ध, यशस्वी, तीर्थंकर, बहुजन सम्मानित, श्रमण ब्राह्मण भी मेरे प्रश्नों का उत्तर नहीं दे सके, उल्टे अप्रसन्नता व्यक्त कर मुझ से ही इनका उत्तर पूछते हैं; तो श्रमण गौतम मेरे प्रश्नों का उत्तर क्या दे सकेंगे। वे तो आयु में कनिष्ठ और प्रव्रज्या में नवीन हैं। फिर भी श्रमण युवक होते हुए भी महर्द्धिक और तेजस्वी होते हैं अतः श्रमण गौतम से भी इन प्रश्नों को पूछूं।"[2] (सुत्तनिपात महावग्ग सभिय सुत्त के आधार से)

यहां बुद्ध की अपेक्षा सभी धर्मनायकों को जिण्णा, बुद्धा, महल्लका, अद्धगता, वयोअनुपत्ता, थेरा, रत्तंभू, चिरपव्वजिता विशेषण दिये हैं।

(३) फिर एक समय भगवान् (बुद्ध) राजगृह में जीवक कौमार भृत्य के आम्रवन में १२५० भिक्षुओं के साथ विहार कर रहे थे उस समय पूर्णमासी के उपोसथ के दिन चातुर्मास की कौमुदी से पूर्ण पूर्णिमा की रात को राजा मागध अजातशत्रु वैदेही पुत्र आदि राजामात्यों से घिरा हुआ प्रासाद के ऊपर बैठा हुआ था। राजा ने जिज्ञासा की – "किसका सत्संग करें, जो हमारे चित्त को प्रसन्न करे ?"

राजमंत्री ने कहा – "पूरण काश्यप से धर्मचर्चा करें। वे चिरकाल के साधु व वयोवृद्ध हैं।"

दूसरे मंत्री ने कहा – मक्खलि गोशाल संघस्वामी हैं।"

अन्य ने कहा – "अजित केश कम्बली संघस्वामी हैं।"

फिर दूसरे मंत्री ने प्रकुद्ध कात्यायन का और इससे भिन्न मंत्री ने संजय बेलट्ठिपुत्त का परिचय दिया। एक मंत्री ने कहा – "निगण्ठ नायपुत्त संघ के स्वामी हैं। उनका सत्संग करें।"

सब की बात सुनकर मगध-राज चुप रहे। उस समय जीवक कौमार भृत्य से अजातशत्रु ने कहा कि तुम चुप क्यों हो ? उसने कहा : "देव ! भगवान् अर्हत् मेरे आम के बगीचे में १२५० भिक्षुओं के साथ विहार कर रहे हैं। उनका सत्संग करें। आपके चित्त को प्रसन्नता होगी।"

यहां पर भी पूरण काश्यप आदि को चिरकाल से साधु और वयोवृद्ध कहा गया है।

इन तीनों प्रकरणों में महावीर का ज्येष्ठत्व प्रमाणित किया गया है। वह भी केवल वयोमान की दृष्टि से ही नहीं अपितु ज्ञान, प्रभाव और प्रव्रज्या

[1] सुत्त निपात, महावग्ग।
[2] पण्हे पुट्ठो व्याकरिस्सति ! समणो हि गोतमो दहरो चेव, जातिया नवो च पब्बज्जायाति। [सुत्त निपात, सभिय सुत्त, पृ० १०६]

की दृष्टि से भी ज्येष्ठत्व बतलाया गया है। इनमें स्पष्टतः बुद्ध को छोटा स्वीकार किया गया है।

इन सब आधारों को देखते हुए महावीर के ज्येष्ठत्व और पूर्व निर्वाण में कोई संदेह नहीं रह जाता।

इस तरह जहां तक भगवान् महावीर के निर्वाणकाल का प्रश्न है वह पारम्परिक और ऐतिहासिक दोनों दृष्टियों व आधारों से ई० पू० ५२७ सुनिश्चित ठहरता है।

इसी विषय में एक अन्य प्रमाण यह भी है कि इतिहास के क्षेत्र में सम्राट् चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण ई० पू० ३२२ माना गया है।[१] इतिहासकार इतिहास के इस अन्धकारपूर्ण वातावरण में इसे एक प्रकाशस्तंभ मानते हैं। यह समय सर्वमान्य और प्रामाणिक है। इसी को केन्द्रबिन्दु मानकर इतिहास शताब्दियों पूर्व और पश्चात् की घटनाओं का समय निर्धारण करता है।

जैन परम्परा में मेरुतुंग की – "विचार श्रेणी", तित्थोगाली पइन्नय तथा तीर्थोद्धार प्रकीर्ण आदि प्राचीन ग्रन्थों में चन्द्रगुप्त का राज्यारोहण महावीर-निर्वाण के २१५ वर्ष पश्चात् माना है। वह राज्यारोहण अवन्ती का माना गया है। यह ऐतिहासिक तथ्य है कि चन्द्रगुप्त मौर्य ने पाटलीपुत्र राज्यारोहण के दश वर्ष पश्चात् अपना राज्य स्थापित किया था।[२]

इस प्रकार जैन काल गणना और सामान्य ऐतिहासिक धारणा से महावीर निर्वाण का समय ई० पू० ३१२+२१५=५२७ होता है।

ऐसे अनेक इतिहास के विशेषज्ञों ने भी महावीर-निर्वाण का असंदिग्ध समय ई० पू० ५२७ माना है। महामहोपाध्याय रायबहादुर गौरीशंकर हीराचन्द ओझा (श्री जैन सत्य-प्रकाश, वर्ष २, अंक ४,५ पृ० २१७-८१ व "भारतीय प्राचीन लिपिमाला" पृ० १६३), पं० बलदेव उपाध्याय (धर्म और दर्शन, पृ० ८९), डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल (तीर्थंकर भगवान् महावीर, भाग २, भूमिका पृ० १९), डॉ० हीरालाल जैन (तत्त्व समुच्चय, पृ० ६), महामहोपाध्याय पं० विश्वेश्वरनाथ रेऊ (भारत का प्राचीन राजवंश खण्ड २, पृ० ४३६) आदि विद्वान् उपर्युक्त निर्वाणकाल के निर्णय से सहमत प्रतीत होते हैं।

---

१ Dr. Radha Kumud Mukherji, Chandragupta Maurya & his Times, pp. 44-6.
(ख) श्री नेम पाण्डे, भारत का वृहद् इतिहास, प्रथम भाग – प्राचीन भारत, चतुर्थ संस्करण, पृ० २४२।

२ (क) The date 313 B.C. for Chandragupta accession, if it is based on correct tradition, may refer to his acquisition of Avanti in Malva, as the chronological Datum is found in verse where the Maurya King finds mention in the list of succession of Palak, a king of Avanti. [H. C. Ray Chaudhary – Political History of Ancient India, P. 295.]
(ख) The Jain date 313 B. C. if based on correct tradition may refer to acquisition of Avanti, (Malva).
[An Advanced History of India, P. 99]

निर्वाणकाल]

इन सबके अतिरिक्त ई० पूर्व ५२७ में भगवान् महावीर के निर्वाण को असंदिग्ध रूप से प्रमाणित करने वाला सबसे प्रबल और सर्वमान्य प्रमाण यह है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर सभी प्राचीन आचार्यों ने एकमत से महावीर निर्वाण के ६०५ वर्ष और ५ मास पश्चात् शक संवत् के प्रारम्भ होने का उल्लेख किया है। यथा :-

छहिं वासाणसएहिं, पंचहिं वासेहिं पंच मासेहिं ।
मम निव्वाणगयस्सउ उपज्जिसइ सगो राया ।।

[महावीर चरियं, (आचार्य नेमिचन्द्र) रचनाकाल वि० सं० ११४१]

पण छस्सयवस्सं पणमासजुदं ।
गमिय वीरनिव्वुइदो सगराओ ।। ८४८

[त्रिलोकसार, (नेमिचन्द्र) रचनाकाल ११ वीं शताब्दी]

णिव्वाणे वीरजिणे छव्वाससदेसु पंचवरिसेसुँ ।
पणमासेसु गदेसुँ संजादो सगणिओ अहवा ।।

[तिलोय पण्णत्ती, भा० १, महाधिकार ४, गा० १४९९]

आचार्य यति वृषभ ने उपर्युक्त गाथा से पूर्व की गाथा संख्या १४९६, १४९७ और १४९८ में वीर निर्वाण के पश्चात् क्रमशः ४६१ वर्ष, ९७८५ वर्ष तथा ५ मास और १४७९३ वर्ष व्यतीत होने पर भी शक राजा के उत्पन्न होने का उल्लेख किया है। अनेक विद्वान् यति वृषभ द्वारा उल्लिखित मतवैभिन्य को देखकर असमंजस में पड़ जाते हैं पर वास्तव में विचार में पड़ने जैसी कोई बात नहीं है। ४६१ में जिस शक राजा के होने का उल्लेख है वह वीर निर्वाण सं० ४६६ में हो चुका है जैसा कि इसी पुस्तक के पृ० ४६८ पर उल्लेख है। इससे आगे की २ गाथाएं किन्हीं भावी शक राजाओं का संकेत करती हैं जो क्रमशः वीर निर्वाण संवत् ९७८५ और १४७९३ में होने वाले हैं।

उपरिलिखित सब प्रमाणों से यह पूर्णतः सिद्ध होता है कि भगवान् महावीर का निर्वाण शक संवत्सर के प्रारम्भ से ६०५ वर्ष और ५ मास पूर्व हुआ। इसमें शंका के लिये कोई अवकाश ही नहीं रहता क्योंकि भगवान् महावीर के निर्वाणकाल से प्रारम्भ होकर सभी प्राचीन जैन आचार्यों की काल-गणना शक संवत्सर से आकर मिल जाती है। वीरनिर्वाण-कालगणना और शक संवत् का शक संवत् के आरम्भ काल से ही प्रगाढ़ संबन्ध रहा है और इन दोनों काल-गणनाओं का आज तक वही सुनिश्चित अन्तर चला आ रहा है।

इन सब पुष्ट प्रमाणों के आधार पर वीरनिर्वाण-काल ई० पूर्व ५२७ ही असंदिग्ध एवं सुनिश्चित रूप से प्रमाणित होता है। वीर-निर्वाण संवत् की यही मान्यता इतिहाससिद्ध और सर्वमान्य है।

भगवान् महावीर और बुद्ध के निर्वाण का ऐतिहासिक विश्लेषण

भगवान् महावीर और बुद्ध समसामयिक थे अतः इनके निर्वाणकाल का निर्णय करते समय प्रायः सभी विद्वानों ने दोनों महापुरुषों के निर्वाणकाल को

एक दूसरे का निर्वाणकाल निश्चित करने में सहायक मान कर साथ-साथ चर्चा की है। इस प्रकार के प्रयास के कारण यह समस्या सुलझने के स्थान पर और अधिक जटिल बनी है।

वास्तविक स्थिति यह है कि भगवान् महावीर का निर्वाणकाल जितना सुनिश्चित, प्रामाणिक और असंदिग्ध है उतना ही बुद्ध का निर्वाणकाल आज तक भी अनिश्चित, अप्रामाणिक एवं संदिग्ध बना हुआ है। बुद्ध के निर्वाणकाल के संबन्ध में इतिहास के प्रसिद्ध इतिहासवेत्ताओं की आज भिन्न-भिन्न बीस प्रकार की मान्यताएं ऐतिहासिक जगत् में प्रचलित हैं। भारत के लब्धप्रतिष्ठ इतिहासज्ञ रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने अपनी पुस्तक 'भारतीय प्राचीन लिपिमाला' में 'बुद्ध निर्वाण संवत्' की चर्चा करते हुए लिखा है :–

"बुद्ध का निर्वाण किस वर्ष में हुआ, इसका यथार्थ निर्णय अब तक नहीं हुआ। सीलोन[1] (सिंहल द्वीप, लंका), ब्रह्मा और स्याम में बुद्ध का निर्वाण ई० संवत् से ५४४ वर्ष पूर्व होना माना जाता है और ऐसा ही आसाम के राजगुरु मानते हैं।[2] चीन वाले ई० सं० पूर्व ६३८ में उसका होना मानते हैं।[3] चीनी यात्री फाहियान् ने, जो ई० सन् ४०० में यहां आया था, लिखा है कि इस समय तक निर्वाण के १४९७ वर्ष व्यतीत हुए हैं।[4] इससे बुद्ध के निर्वाण का समय ई० सन् पूर्व (१४९७-४००) = १०९७ के आस-पास मानना पड़ता है। चीनी यात्री हुएनत्सांग ने निर्वाण से १००वें वर्ष में राजा अशोक (ई० सन् पूर्व २६९ से २२७ तक) का राज्य दूर-दूर फैलना बतलाया है।[5] जिससे निर्वाणकाल ई. स. पूर्व चौथी शताब्दी के बीच आता है। डॉ० बूलर ने ई. स. पूर्व ४८३-२ और ४७२-१ के बीच[6], प्रोफ़ेसर कर्न[7] ने ई. स. पूर्व ३८८ में, फर्गुसन[8] ने ४८१ में, जनरल कनिंगहाम[9] ने ४७८ में, मैक्समूलर[10] ने ४७७ में, पंडित भगवानलाल इन्दरजी[11] ने ६३८ में (गया के लेख के आधार पर), मिस डफ[12] ने ४७७ में,

---

[1] कार्पस इन्स्क्रिप्शन्स इण्डिकेशन्स (जनरल कनिंगहाम संपादित), जि. १ की भूमिका, पृ० ३
[2] प्रि. एँ. जि. २ यूसफुल टेबल्स, पृ० १६५।
[3] वही
[4] वी. बु. रे. वे. व; जि. १ की भूमिका, पृ. ७५
[5] वी बु. रे. वे. व; जि. १, पृ. १५०
[6] इं. एँ; जि. ६, पृ. १५४
[7] साइक्लोपीडिया ऑफ इण्डिया जि. १, पृ. ४९२
[8] कार्पस इन्स्क्रिप्शन्स इण्डिकेशन्स जि १ की भूमिका, पृ. ६
[9] वही
[10] मैं : हि. ए. सं. लि; पृ. २९८
[11] इं. एँ. जि. १०, पृ. ३४६
[12] इ. क्रॉ. इं., पृ. ६

डॉ. बार्नेट[1] ने ४८३ में, डॉ. फ्लीट[2] ने ४८३ में और वी. ए. स्मिथ[3] ने ई. स. पू. ४८७ या ४८६ में निर्वाण होना अनुमान किया है।"

मुनि कल्याण विजयजी ने अपनी पुस्तक वीर निर्वाण संवत् और जैन कालगणना में अपनी ओर से प्रबल तर्क रखते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि महात्मा बुद्ध भगवान् महावीर से वय में २२ वर्ष ज्येष्ठ थे और बुद्ध के निर्वाण से १४ वर्ष, ५ मास और १५ दिन पश्चात् भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ। इससे बुद्ध निर्वाण ई. स. पूर्व ५१२ में होना पाया जाता है।

ख्यातनामा चीनी यात्री हुएनत्सांग ई. सन् ६३० में भारत आया था। उसने अपनी भारत-यात्रा के विवरण में लिखा है—

"श्री बुद्ध देव ८० वर्ष तक जीवित रहे। उनके निर्वाण की तिथि के विषय में बहुत से मतभेद हैं। कोई वैशाख की पूर्णिमा को उनकी निर्वाण-तिथि मानता है। सर्वास्तिवादी कार्तिक पूर्णिमा को निर्वाण-तिथि मानते हैं। कोई कहते हैं कि निर्वाण को १२०० वर्ष हो गए। किन्हीं का कथन है कि १५०० वर्ष बीत गए। कोई कहते हैं अभी निर्वाणकाल को ६०० वर्ष से कुछ अधिक हुए हैं।[4]

मुनि नगराजजी ने भगवान् महावीर और बुद्ध के निर्वाणकाल के सम्बन्ध में बड़े विस्तार से चर्चा करते हुए अनेक तर्क देकर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि भगवान् महावीर बुद्ध से १७ वर्ष ज्येष्ठ थे और बुद्ध का निर्वाण महावीर के निर्वाण से २५ वर्ष पश्चात् हुआ। उन्होंने अपने इस अभिमत की पुष्टि में अशोक के एक शिलालेख, बर्मी इत्जाना संवत् की कालगणना में बुद्ध के जन्म, गृहत्याग, बोधिलाभ एवं निर्वाण के उल्लेख और अवन्ती नरेश प्रद्योत एवं बुद्ध की समवयस्कता सम्बन्धी तिब्बती परम्परा, ये तीन मुख्य प्रमाण दिये हैं। पर इन प्रमाणों के आधार पर भी बुद्ध के निर्वाण का कोई एक सुनिश्चित काल नहीं निकलता।

इस प्रकार बुद्ध के निर्वाणकाल के सम्बन्ध में अनेक मनीषी इतिहास-वेत्ताओं ने जो उपर्युक्त बीस तरह की भिन्न-भिन्न मान्यताएं रखी हैं उनमें से अधिकांशत: तर्क और अनुमान के बल पर ही आधारित हैं। किसी ठोस, अकाट्य निष्पक्ष और सर्वमान्य प्रमाण के अभाव में कोई भी मान्यता बलवती नहीं मानी जा सकती।

हम यहां उन सब विद्वानों की मान्यताओं के विश्लेषण की चर्चा में न जाकर केवल उन तथ्यों और निष्पक्ष ठोस प्रमाणों को रखना ही उचित समझते हैं जिनसे कि बुद्ध के सही-सही निर्वाण समय का पता लगाया जा सकता है।

---

[1] बा. एँ. इं., पृ. ३७
[2] ज. रॉ. ए, सो, ई. स १६०६, पृ. ६६७
[3] स्मि. अ. हि. इं., पृ. ४७, तीसरा संस्करण
[4] भगवान् बुद्ध, पृ. ८६, भूमिका पृ. १२

हमें आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पहले की घटना के सम्बन्ध में निर्णय करना है। इसके लिये हमें भारत की प्राचीन धर्म-परम्पराओं के धार्मिक एवं ऐतिहासिक साहित्य का अन्तर्वेधी और तुलनात्मक दृष्टि से पर्यवेक्षण करना होगा।

यह तो सर्वविदित है कि उस समय सनातन, जैन और बौद्ध ये तीन प्रमुख धर्म-परम्पराएं मुख्य रूप से थीं जो आज भी प्रचलित हैं।

बुद्ध के जीवन के सम्बन्ध में जैनागमों में कोई विवरण उपलब्ध नहीं होता। बौद्ध शास्त्रों और साहित्य में बुद्ध के निर्वाण के सम्बन्ध में जो विवरण उपलब्ध होते हैं वे वास्तव में इतने अधिक और परस्पर विरोधी हैं कि उनमें से किसी एक को भी तब तक सही नहीं माना जा सकता जब तक कि उसको पुष्ट करने वाला प्रमाण बौद्धेतर अथवा बौद्ध साहित्य में उपलब्ध नहीं हो जाता।

ऐसी दशा में हमारे लिये सनातन धर्म के पौराणिक साहित्य में बुद्ध विषयक ऐतिहासिक सामग्री को खोजना आवश्यक हो जाता है। सनातन परम्परा के परम माननीय ग्रन्थ श्रीमद्भागवत पुराण के प्रथम स्कन्ध, अध्याय ६ के श्लोक संख्या २४ में बुद्ध के सम्बन्ध में ऐतिहासिक दृष्टि से एक अत्यन्त महत्वपूर्ण तथ्य उपलब्ध होता है जिसकी ओर संभवतः आज तक किसी इतिहासज्ञ की सूक्ष्म-दृष्टि नहीं गई। वह श्लोक इस प्रकार है –

ततः कलौ संप्रवृत्ते, सम्मोहाय सुरद्विषाम्।
बुद्धो नाम्नाजनसुतः, कीकटेषु भविष्यति।।

अर्थात् उसके बाद कलियुग आजाने पर मगध देश (बिहार) में देवताओं के द्वेषी दैत्यों को मोहित करने के लिए अजन (आंजनी) के पुत्ररूप में आपका बुद्धावतार होगा।

इस श्लोक में प्रयुक्त 'नाम्नाजनसुतः' यह पाठ किसी लिपिकार द्वारा अशुद्ध लिखा गया है ऐसा गीता प्रेस से प्रकाशित श्रीमद्भागवत प्रथम खंड के पृष्ठ ५६ पर दिये गये टिप्पण से प्रमाणित होता है। इस श्लोक पर टिप्पण संख्या १ में लिखा है –

"प्रा० पा० – जिनसुतः।"

जिन शब्द का अर्थ है – राग-द्वेष से रहित। राग-द्वेष से रहित पुरुष के पुत्रोत्पत्ति का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। वास्तव में यह शब्द था 'आंजनिसुतः' जिसकी न पर लगी इ की मात्रा ज पर किसी प्राचीन लिपिकार द्वारा लगा दी गई। तदनन्तर किसी विद्वान् लिपिकार ने किसी जिन के पुत्र होने की संभावना को आकाश-कुसुम की तरह असंभव मानकर 'अजनसुतः' लिख दिया।

ऐतिहासिक घटनाचक्र के पर्यवेक्षण से यह प्रमाणित होता है कि वास्तव में इस श्लोक का मूल पाठ 'बुद्धो नाम्नांजनिसुतः' था। श्रीमद्भागवत और अन्य पुराणों में प्राचीन इतिहास को सुरक्षित रखने के लिये प्राचीन प्रतापी राजाओं का किसी घटनाक्रम के प्रसंग में नामोल्लेख किया गया है।

वस्तुत: उपर्युक्त श्लोक में महाभारतकार ने बुद्ध के प्रसंग में उस समय के प्रतापी राजा 'अंजन' के नाम का उल्लेख किया है। बौद्ध, जैन, सनातन और भारत की उस समय की अन्य सभी धर्मपरम्पराओं के साहित्यों में बुद्ध सम्बन्धी विवरणों में बुद्ध के पिता का नाम शुद्धोदन लिखा गया है अत: श्रीमद्भागवत के उपरिलिखित श्लोक के आधार पर बुद्ध को अंजन का पुत्र मानना तो श्रीमद्भागवतकार की मूल भावना के साथ अन्याय करना होगा क्योंकि वास्तव में भागवतकार ने बुद्ध को राजा अंजन की सुता-आंजनी का पुत्र बताया है।

ऐसी स्थिति में उपर्युक्त पाठ में अनुस्वार के लोप और 'इ' की मात्रा के विपर्यय वाले पाठ को शुद्ध कर "बुद्धो नाम्नांऽऽजनिसुत:" के रूप में पढ़ा जाय तो वह शुद्ध और युक्तिसंगत होगा। किसी लिपिकार द्वारा प्रमादवश अथवा वास्तविक तथ्य के ज्ञान के अभाव में अशुद्ध रूप में लिपिबद्ध किये गये उपर्यंकित अशुद्ध पाठों को शुद्ध कर देने पर एक नितान्त नया ऐतिहासिक तथ्य संसार के समक्ष प्रकट होगा कि महात्मा बुद्ध महाराज अंजन के दौहित्र थे। अंजन-सुता के सुत बुद्ध का श्रीमद्भागवतकार ने आंजनिसुत के रूप में जो परिचय दिया है वह व्याकरण के अनुसार भी बिलकुल ठीक है। जिस प्रकार रामायणकार ने जनक की पुत्री जानकी, मैथिल की पुत्री मैथिली के रूप में सीता का परिचय दिया है ठीक उसी प्रकार श्रीमद्भागवतकार ने भी अंजन की पुत्री का आंजनी के रूप में उल्लेख किया है।

यह सब केवल कल्पना की उड़ान नहीं है अपितु बर्मी बौद्ध परम्परा इस तथ्य का पूर्ण समर्थन करती है। बर्मी बौद्ध परम्परा के अनुसार बुद्ध के नाना (मातामह) महाराज अंजन शाक्य क्षत्रिय थे। उनका राज्य देवदह प्रदेश में था। महाराजा अंजन ने अपने नाम पर ई० सन् पूर्व ६४८ में १७ फरवरी को आदित्यवार के दिन ईत्ज़ाना संवत् चलाया।[1] बर्मी भाषा के 'ईत्ज़ाना' शब्द का अर्थ है अंजन।

वर्मी बौद्ध परम्परा में बुद्ध के जन्म, गृहत्याग, बोधि-प्राप्ति और निर्वाण का तिथिक्रम ईत्ज़ाना संवत् की कालगणना में इस प्रकार दिया है :—

१. बुद्ध का जन्म ईत्ज़ाना[2] संवत् के ६८वें वर्ष की वैशाखी पूर्णिमा को शुक्रवार के दिन विशाखा नक्षत्र के साथ चन्द्रमा के योग के समय में हुआ।

२. बुद्ध ने दीक्षा ईत्ज़ाना[3] संवत् ९६ की आषाढ़ी पूर्णिमा, सोमवार के दिन चन्द्रमा का उत्तराषाढ़ा नक्षत्र के साथ योग होने के समय में ली।

---

१. Prabuddha Karnnataka, a Kannada Quarterly published by the Mysore University, Vol. XXVII (1945-46) No. 1 PP. 92-93. The Date of Nirvana of Lord Mahavira in Mahavira Commemoration Volume, PP, 93-94.

२. Ibid Vol. 11 PP. 71-72.

३. Life of Gaudama, by Bigandet Vol. 1 PP. 62-63

३. बुद्ध को बोधि-प्राप्ति ईत्ज़ाना[1] संवत् १०३ की वैशाखी पूर्णिमा को बुधवार के दिन चन्द्रमा का विशाखा नक्षत्र के साथ योग होने के समय में हुई।

४. बुद्ध का निर्वाण ईत्ज़ाना संवत् १४८ की वैशाखी पूर्णिमा को मंगलवार के दिन चन्द्रमा का विशाखा नक्षत्र के साथ योग होने के समय में हुआ।

एम. गोविन्द पाई[2] ने बुद्ध के जीवन संबंधी ऊपर वर्णित किये गये ईत्ज़ाना संवत् के कालक्रम को ई० सन् पूर्व के अधोवर्णित कालक्रम के रूप में आबद्ध किया है :-

बुद्ध का जन्म : ई० पू० ५८१, मार्च ३०, शुक्रवार।
बुद्ध द्वारा गृहत्याग : ई० पू० ५५३, जून १८, सोमवार।
बुद्ध को बोधिलाभ : ई० पू० ५४६, अप्रेल ३, बुधवार।
बुद्ध का निर्वाण : ई० पू० ५०१, अप्रेल १५, मंगलवार।[3]

इस प्रकार श्रीमद्भागवत और बर्मी बौद्ध परम्परा के उल्लेखों से बुद्ध के मातामह (नाना) राजा अंजन एक ऐतिहासिक राजा सिद्ध होते हैं तथा बर्मी परम्परा के अनुसार ईत्ज़ाना संवत् के आधार पर उल्लिखित बुद्ध के जीवन की चार मुख्य घटनाओं के कालक्रम से बुद्ध की सर्वमान्य पूर्णायु ८० वर्ष की सिद्ध होने के साथ २ यह भी प्रमाणित होता है कि बुद्ध ने २८ वर्ष की अवस्था होते ही ई० पूर्व ५५३ में दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा ग्रहण करने के ८ वर्ष पश्चात् ई० पूर्व ५४६ में जब वे ३५ वर्ष के हुए तब उन्हें बोधि-प्राप्ति हुई और ४५ वर्ष तक बौद्ध धर्म का प्रचार करने के पश्चात् ई० पूर्व ५०१ में ८० वर्ष की आयु पूर्ण करने पर उनका निर्वाण हुआ।

बुद्ध के जन्म, बुद्धत्वलाभ और निर्वाणकाल को निर्णायक रूप से प्रमाणित करने वाला दूसरा प्रमाण वायुपुराण का है, जो कि आवश्यक चूर्णि और तिब्बती बौद्ध परम्परा द्वारा कतिपय अंशों में समर्थित है। सनातन, जैन और बौद्ध परम्पराओं के युगपत् पर्यवेक्षण से बुद्ध के जन्म, बोधिलाभ और निर्वाण सम्बन्धी अब तक के विवादास्पद जटिल और पहेली बने हुए प्रश्न का सदा सर्वदा के लिये हल निकल आता है।

इस जटिल समस्या को सुलझाने में सहायक होने वाले वायुपुराण के वे श्लोक इस प्रकार हैं :-

....

वृहद्रथेष्वतीतेषु वीतहोत्रेषु वर्तिषु ॥१६८॥
मुनिक : स्वामिनं हत्वा, पुत्रं समभिषेक्ष्यति ।
मिषतां क्षत्रियाणां हि प्रद्योतो मुनिको बलात् ॥१६९॥

---

१ Ibid Vol. 1 P. 97 Vol. II PP. 72-73

२ Ibid, Vol. II P. 69

३ Prabuddha Karnataka, a Karnatak Quarterly published by the Mysore University, Volume XXVII (1945–46) No. 1 PP 92–93 the Date of Nirvana of Lord Mahaveera in Mahaveera Commemmoration Volume PP 93–94.

स वै प्रणतसामन्तो, भविष्ये नयवर्जितः ।
त्रयोविंशत्समा राजा भविता स नरोत्तम ।।१७०।।

अर्थात् बार्हद्रथों (जरासंध के वंशजों) का राज्य समाप्त हो जाने पर वीतहोत्रों के शासनकाल में मुनिक सब क्षत्रियों के देखते-देखते अपने स्वामी की हत्या कर अपने पुत्र को अवन्ती के राज्यसिंहासन पर बैठायेगा । हे राजन्! वह प्रद्योत सामन्तों को अपने वश में कर तेबीस वर्ष तक न्याय-विहीन ढंग से राज्य करेगा ।

अन्तिम श्लोक में जो यह उल्लेख है कि प्रद्योत २३ वर्ष तक राज्य करेगा यह तथ्य वस्तुतः बुद्ध के साथ भगवान् महावीर के जन्म, दीक्षा, कैवल्य अथवा बोधि, निर्वाण तथा पूर्ण आयु आदि कालमान को निर्णायक एवं प्रामाणिक रूप से निश्चित करने वाला तथ्य है ।

तिब्बती बौद्ध परम्परा की यह मान्यता है कि जिस दिन बुद्ध का जन्म हुआ उसी दिन चण्डप्रद्योत का भी जन्म हुआ और जिस दिन चण्डप्रद्योत का अवन्ती के राज्यसिंहासन पर अभिषेक हुआ उसी दिन बुद्ध को बोधिलाभ हुआ ।

बुद्ध की पूर्ण आयु ८० वर्ष थी, उन्होंने २८ वर्ष की उम्र में गृहत्याग किया और ३५ वर्ष की आयु में उन्हें बोधि-प्राप्ति हुई – इन ऐतिहासिक तथ्यों को सभी इतिहासकार एकमत से स्वीकार करते हैं ।

जिस दिन बुद्ध को बोधिलाभ हुआ उस दिन बुद्ध ३५ वर्ष के थे इस सर्वसम्मत अभिमत के अनुसार बुद्ध और प्रद्योत के समवयस्क होने के कारण यह स्वतः प्रमाणित है कि प्रद्योत ३५ वर्ष की आयु में अवन्ती का राजा बना । वायुपुराण के इस उल्लेख से कि प्रद्योत ने २३ वर्ष तक राज्य किया, यह स्पष्ट है कि प्रद्योत ५८ वर्ष की आयु तक शासनारूढ़ रहा । उसके पश्चात् प्रद्योत का पुत्र पालक अवन्ती का राजा बना ।

जैन परम्परा के सभी प्रामाणिक प्राचीन ग्रन्थों में यह उल्लेख है कि भगवान् महावीर का जिस दिन निर्वाण हुआ उसी दिन प्रद्योत के पुत्र पालक का उसके पिता की मृत्यु के पश्चात् अवन्ती में राज्याभिषेक हुआ ।

इस प्रकार सनातन, जैन और बौद्ध इन तीनों मान्यताओं द्वारा परिपुष्ट प्रमाणों के समन्वयन से यह सिद्ध होता है कि जिस दिन भगवान् महावीर ने ७२ वर्ष की आयु पूर्ण कर निर्वाण प्राप्त किया उस दिन प्रद्योत का ५८ वर्ष की उम्र में देहावसान हुआ और उस दिन बुद्ध ५८ वर्ष के हो चुके थे । बुद्ध की पूरी आयु ८० वर्ष मानी गई है । इससे बुद्ध का जन्मकाल भगवान् महावीर के जन्म से १४ वर्ष पश्चात्, बुद्ध का दीक्षाकाल महावीर को केवलज्ञान की प्राप्ति के आसपास, बोधिप्राप्ति भगवान् महावीर की केवली-चर्या के आठवें वर्ष में और बुद्ध का निर्वाणकाल भगवान् महावीर के निर्वाण से २२ वर्ष पश्चात् का सिद्ध होता है ।

चण्डप्रद्योत भगवान् महावीर से उम्र में छोटे थे इस तथ्य की पुष्टि श्रीमज्जिनदासगणि महत्तर रचित आवश्यक चूर्णी से भी होती है। चूर्णिकार ने लिखा है कि जिस समय भगवान् २८ वर्ष के हुए उस समय उनके माता-पिता का स्वर्गवास हो गया। तदनन्तर महावीर ने अपने अभिग्रह के अनुसार प्रव्रजित होने की इच्छा व्यक्त की पर नन्दीवर्द्धन आदि के अनुरोध पर संयम के साथ विरक्त की तरह दो वर्ष गृहवास में रहने के पश्चात् प्रव्रज्या ग्रहण करना स्वीकार किया। महावीर द्वारा इस प्रकार की स्वीकृति के पश्चात् श्रेणिक और प्रद्योत आदि कुमार वहां से विदा हो अपने-अपने नगर की ओर लौट गये। इस सम्बन्ध में चूर्णिकार के मूल शब्द इस प्रकार हैं :–

"........ताहे सेणियपज्जोयादयो कुमारा पडिगता, ण एस चक्किति।"

चूर्णिकार के इस वाक्य पर वायुपुराण और महावीर-निर्वाणकाल के संदर्भ में विचार करने से ज्ञात होता है कि प्रद्योत की आयु महाराज सिद्धार्थ और त्रिशला देवी के स्वर्गगमन के समय १४ वर्ष की थी। तदनुसार ५२७ ई० पूर्व भगवान् महावीर का प्रामाणिक निर्वाणकाल मानने पर महावीर का जन्म ई० पूर्व ५९९ में और बुद्ध का जन्म ई० पूर्व ५८५ में होना सिद्ध होता है।

इन सब तथ्यों को एक दूसरे के साथ जोड़ कर विचार करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि भगवान् महावीर का निर्वाण ई० पूर्व ५२७ में हुआ और बुद्ध का निर्वाण भगवान् महावीर के निर्वाण से २२ वर्ष पश्चात् अर्थात् ई० पूर्व ५०५ में हुआ।

अशोक के शिलालेखों में अंकित २५६ के अंक जो विद्वानों द्वारा बुद्ध-निर्वाण वर्ष के सूचक माने जाते हैं, उनसे भी यही प्रमाणित होता है कि बुद्ध का निर्वाण ईस्वी पूर्व ५०५ में हुआ। इस सम्बन्ध में संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है :–

अशोक द्वारा लिखवाये गये लघु शिलालेख जो कि रूपनाथ, सहसराम और वैराट से मिले हैं,[1] उनमें शिलालेखों के खुदवाने के काल तिथि के स्थान पर केवल २५६ का अंक खुदा हुआ है। इसके सम्बन्ध में अनेक विद्वानों का अभिमत है कि ये अंक बुद्ध के निर्वाणकाल के सूचक ही हो सकते हैं। उनका अनुमान है कि जिस दिन ये शिलालेख लिखवाये गये उस दिन बुद्ध की निर्वाण-प्राप्ति के २५६ वर्ष बीत चुके थे।

इतिहास-प्रसिद्ध राजा अशोक का राज्याभिषेक ई० पूर्व २६९ में हुआ इससे सभी इतिहासज्ञ सहमत हैं। अपने राज्याभिषेक के ८ वर्ष पश्चात् अशोक ने कलिंग पर विजय प्राप्त की। कलिंग के युद्ध में हुए भीषण नरसंहार को देख कर अशोक को युद्ध से बड़ी घृणा हो गई और वह बौद्ध धर्मानुयायी बन गया।

[1] जनार्दन भट्ट, अशोक के धर्मलेख।

अशोक ने उपरोक्त १ सं० के शिलालेख में यह स्वीकार किया है कि बौद्ध बनने के २½ वर्ष पश्चात् तक वह कोई अधिक उद्योग नहीं कर सका। उसके एक वर्ष पश्चात् वह संघ में आया।

संघ उपेत होने के पश्चात् अशोक ने अपनी और अपने राज्य की पूरी शक्ति बौद्ध धर्म के प्रचार व प्रसार में लगादी। उसने भारत और भारत के बाहर के राज्यों से बौद्ध धर्म की उन्नति के लिए सन्धियां कीं। बौद्ध संघ की काफी अंशों में अभ्युन्नति करने और अपनी महान् धार्मिक उपलब्धियों के पश्चात् उसने स्थान-स्थान पर अपनी धार्मिक आज्ञाओं को शिलाओं पर टंकित करवाया। अनुमान लगाया जा सकता है कि इन कार्यों में कम से कम नौ-दस वर्ष तो अवश्य लगे ही होंगे। तो इस तरह उपरोक्त शिलालेख अपने राज्याभिषेक से बीसवें वर्ष में अर्थात् ई० सन् से २४६ वर्ष पूर्व तैयार करवाये होंगे, जिस दिन कि बुद्ध का निर्वाण हुए २५६ वर्ष बीत चुके थे।

इस प्रकार के अनुमान और कल्पना के बल पर बुद्ध का निर्वाण ई० सन् ५०५ में होना पाया जाता है।

यह अनुमान प्रमाण वायुपुराण में उल्लिखित प्रद्योत के राज्यकाल के आधार पर प्रमाणित बुद्ध के निर्वाणकाल का समर्थन करता है। इस प्रकार तीन बड़ी धार्मिक परम्पराओं में उल्लिखित विभिन्न तथ्यों के आधार पर प्रमाणित एवं अशोक के शिलालेखों से समर्थित होने के कारण बुद्ध का निर्वाण ई० सन् पूर्व ५०५ ही प्रामाणिक ठहरता है।

उक्त तीनों परम्पराओं के प्रामाणिक धार्मिक ग्रन्थों में प्रद्योत को युद्धप्रिय और उग्र स्वभाव वाला बताया है यह उल्लेखनीय समानता है। प्रद्योत के जन्म के साथ महात्मा बुद्ध का जन्म हुआ और उसके देहावसान के दिन भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ, यह कितना अद्भुत संयोग है, जिसने प्रद्योत को एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक राजा के रूप में भारत के इतिहास में अमर बना दिया है।

इन सब अकाट्य ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर असंदिग्ध एवं प्रामाणिक रूप से यह कहा जा सकता है कि भगवान् महावीर का निर्वाण ई० सन् पूर्व ५२७ में और बुद्ध का निर्वाण ई० सन् पूर्व ५०५ में हुआ।

निर्वाणस्थली

डॉ० जैकोबी ने बौद्ध शास्त्रों में वर्णित महावीर-निर्वाणस्थली पावा को शाक्यभूमि में होना स्वीकार किया है, जहां कि अन्तिम दिनों में बुद्ध ने भी निवास किया था। पर जैन मान्यता के अनुसार भगवान् महावीर की निर्वाण-स्थली पटना जिले के अन्तर्गत राजगृह के समीपस्थ पावा है, जिसे आज भव्य मन्दिरों ने एक जैन तीर्थ बना दिया है। किन्तु इतिहासकार इससे सहमत प्रतीत नहीं होते क्योंकि भगवान् महावीर के निर्वाण-अवसर पर मल्लों और लिच्छवियों

के अठारह गण-राजा उपस्थित थे, जिनका उत्तरी बिहार की पावा में ही होना संभव जंचता है, कारण कि उधर ही उन लोगों का राज्य था, दक्षिण बिहार की पावा तो उनका शत्रु-प्रदेश था।

पं० राहुल सांकृत्यायन ने भी इसी तथ्य की पुष्टि की है।[1] उनका कहना है कि भगवान् महावीर का निर्वाण वस्तुतः गंगा के उत्तरी अंचल में आई हुई पावा में ही हुआ था जो कि वर्तमान गोरखपुर जिले के अन्तर्गत पपुहर नामक ग्राम है। श्री नाथूराम प्रेमी ने भी ऐसी ही संभावना व्यक्त की है।[2]

---

[1] दर्शन दिग्दर्शन, पृ०४४४, टिप्पण ३।

[2] जैन साहित्य और इतिहास, पृ० १६६।

परिशिष्ट

परिशिष्ट १

तीर्थंकर परिचय पत्र

पितृ नाम

तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ	दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
	समवायांग	हरिवंश पुराण	उत्तर पुराण	तिलोय पण्णत्ती
ऋषभदेव	नाभि	नाभि	नाभि	नाभिराय
अजितनाथ	जितशत्रु	जितशत्रु	जितशत्रु	जितशत्रु
संभवनाथ	जितारी	जितारि	दृढ़राज्य	जितारि
अभिनन्दन	संवर	संवर	स्वयंवर	संवर
सुमतिनाथ	मेघ	मेघप्रभ	मेघरथ	मेघप्रभ
पद्मप्रभ	धर	धरण	धरण	धरण
सुपार्श्वनाथ	प्रतिष्ठ	सुप्रतिष्ठ	सुप्रतिष्ठ	सुप्रतिष्ठ
चन्द्रप्रभ	महासेन	महासेन	महासेन	महासेन
सुविधिनाथ	सुग्रीव	सुग्रीव	सुग्रीव	सुग्रीव
शीतलनाथ	दृढ़रथ	दृढ़रथ	दृढ़रथ	दृढ़रथ
श्रेयांसनाथ	विष्णु	विष्णुराज	विष्णु	विष्णु
वासुपूज्य	वसुपूज्य	वसुपूज्य	वसुपूज्य	वसुपूज्य
विमलनाथ	कृतवर्मा	कृतवर्मा	कृतवर्मा	कृतवर्मा
अनन्तनाथ	सिंहसेन	सिंहसेन	सिंहसेन	सिंहसेन
धर्मनाथ	भानु	भानुराज	भानु	भानुनरेन्द्र
शान्तिनाथ	विश्वसेन	विश्वसेन	विश्वसेन	विश्वसेन
कुंथुनाथ	सूर	सूर्य	सूरसेन	सूर्यसेन
अरनाथ	सुदर्शन	सुदर्शन	सुदर्शन	सुदर्शन
मल्लिनाथ	कुम्भ	कुम्भ	कुम्भ	कुम्भ
मुनिसुव्रत	सुमित्र	सुमित्र	सुमित्र	सुमित्र
नमिनाथ	विजय	विजय	विजय	विजयनरेन्द्र
अरिष्टनेमि	समुद्रविजय	समुद्रविजय	समुद्रविजय	समुद्रविजय
पार्श्वनाथ	अश्वसेन	अश्वसेन	अश्वसेन	अश्वसेन
महावीर	सिद्धार्थ*	सिद्धार्थ†	सिद्धार्थ	सिद्धार्थ

…रिसयद्वार, प्रवचन सारोद्धार और आव० नि. गा. ३८७ से ३८९ में यही नाम दिये हैं।

…० १९२ से २०५

मातृ नाम

क्र.सं.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ			दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
		समवायंग	प्रवचन	आवश्यक नि०	हरिवंश पुराण	उत्तर पुराण	तिलोय प[ण्णत्ति]
१	ऋषभदेव	मरुदेवी	मरुदेवी	मरुदेवी	मरुदेवी	मरुदेवी	मरुदेवी
२	अजितनाथ	विजया	विजया	विजया	विजया	विजयसेना	विजया
३	संभवनाथ	सेना	सेना	सेणा	सेना	सुषेणा	सुसेना
४	अभिनन्दन	सिद्धार्था	सिद्धार्था	सिद्धार्था	सिद्धार्था	सिद्धार्था	सिद्धार्था
५	सुमतिनाथ	मंगला	मंगला	मंगला	सुमंगला	मंगला	मंगला
६	पद्मप्रभ	सुसीमा	सुसीमा	सुसीमा	सुसीमा	सुसीमा	सुसीमा
७	सुपार्श्वनाथ	पृथ्वी	पृथ्वी	पृथ्वी	पृथ्वी	पृथिवीषेणा	पृथिवी
८	चन्द्रप्रभ	लक्ष्मणा	लक्ष्मणा	लक्ष्मणा	लक्ष्मणा	लक्ष्मणा	(लक्ष्मणा) लक्ष्मीमती
९	सुविधिनाथ	रामा	रामा	श्यामा	रामा	जयरामा	रामा
१०	शीतलनाथ	नन्दा	नन्दा	नन्दा	सुनन्दा	सुनन्दा	नन्दा
११	श्रेयांसनाथ	विष्णु	विष्णु	विष्णु	विष्णुश्री	सुनन्दा	वेणुदेवी
१२	वासुपूज्य	जया	जया	जया	जया	जयावती	विजया
१३	विमलनाथ	सामा	सामा	रामा	शर्मा	जयश्यामा	जयश्यामा
१४	अनन्तनाथ	सुजशा	सुजशा	सुजशा	सर्वयशा	जयश्यामा	सर्वयशा
१५	धर्मनाथ	सुव्रता	सुव्रता	सुव्रता	सुव्रता	सुप्रभा	सुव्रता
१६	शान्तिनाथ	अचिरा	अचिरा	अचिरा	ऐरा	ऐरा	ऐरा (अइरा
१७	कुंथुनाथ	श्री	श्री	श्री	श्रीमती	श्रीकान्ता	श्रीमतीदेवी
१८	अरनाथ	देवी	देवी	देवी	मित्रा	मित्रसेना	मित्रा
१९	मल्लिनाथ	प्रभावती	प्रभावती	प्रभावती	रक्षिता	प्रजावती	प्रभावती
२०	मुनिसुव्रत	पद्मावती	पद्मावती	पद्मावती	पद्मावती	सोमा	पद्मा
२१	नमिनाथ	वप्रा	वप्रा	वप्रा	वप्रा	वप्पिला	वप्रिला
२२	अरिष्टनेमि	शिवा	शिवा	शिवा	शिवा	शिवदेवी	शिवदेवी
२३	पार्श्वनाथ	वामा (वम्मा)	वामा	वम्मा	वर्मा	ब्राह्मी	वर्मिला (वा
२४	महावीर	त्रिशला	त्रिशला	त्रिशला	प्रियकारिणी	प्रियकारिणी	प्रियकारिणी

जन्म-भूमि

तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ		दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
	सत्तरिसय द्वार	आवश्यक नि०	हरिवंश पुराण	उत्तर पुराण	तिलोय पण्णत्ती
ऋषभदेव	इक्ष्वाकुभूमि	इक्ष्वाकुभूमि	अयोध्या	अयोध्या	अयोध्या
अजितनाथ	अयोध्या	अयोध्या	अयोध्या	अयोध्या	साकेत
संभवनाथ	श्रावस्ती	श्रावस्ती	श्रावस्ती	श्रावस्ती	श्रावस्ती
अभिनन्दन	अयोध्या	विनीता	अयोध्या	अयोध्या	साकेतपुरी
सुमतिनाथ	अयोध्या	कोसलपुर	अयोध्या	अयोध्या	साकेतपुरी
पद्मप्रभ	कौशाम्बी	कौशाम्बी	कौशाम्बी	कौशाम्बी	कौशाम्बी
सुपार्श्वनाथ	वाणारसी	वाराणसी	काशी	वाराणसी	वाराणसी
चन्द्रप्रभ	चन्द्रपुरी	चन्द्रपुरी	चन्द्रपुरी	चन्द्रपुरी	चन्द्रपुरी
सुविधिनाथ	काकन्दी	काकन्दी	काकन्दी	काकन्दी	काकन्दी
शीतलनाथ	भद्दिलपुर	भद्दिलपुरी	भद्दिलापुरी	भद्रपुर	भद्दलपुर
श्रेयांसनाथ	सिंहपुर	सिंहपुर	सिंहनादपुर	सिंहपुर	सिंहपुरी
वासुपूज्य	चम्पा	चम्पा	चम्पापुरी	चम्पा	चम्पानगरी
विमलनाथ	कांपिल्य	कंपिलपुर	कंपिल्यपुर	काम्पिल्यपुर	कंपिलापुरी
अनन्तनाथ	अयोध्या	अयोध्या	अयोध्यानगरी	अयोध्या	अयोध्यापुरी
धर्मनाथ	रत्नपुर	रत्नपुर	रत्नपुर	रत्नपुर	रत्नपुर
शान्तिनाथ	गजपुर	गजपुरम्	हस्तिनापुर	हस्तिनापुर	हस्तिनापुर
कुंथुनाथ	गजपुर	गजपुरम्	हस्तिनापुर	हस्तिनापुर	हस्तिनापुर
अरनाथ	गजपुर	गजपुरम्	हस्तिनापुर	हस्तिनापुर	हस्तिनापुर
मल्लिनाथ	मिथिला	मिथिला	मिथिला	मिथिलानगरी	मिथलापुरी
मुनिसुव्रत	राजगृह	राजगृही	कुशाग्रनगर	राजगृह	राजगृह
नमिनाथ	मिथिला	मिथिला	मिथिला	मिथिला	मिथलापुरी
अरिष्टनेमि	सोरियपुर	सौर्यपुरम्	सूर्यपुरनगर	द्वारावती	शोरीपुर
पार्श्वनाथ	वाणारसी	वाराणसी	वाराणसी	वाराणसी	वाराणसी
महावीर	कुंडपुर	कुण्डलपुर	कुण्डपुर	कुण्डपुर	कुंडलपुर

च्यवन-तिथि

क्र.सं.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ	दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ
		सत्त०द्वार १४ गा. ५९ से ६३	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	आषाढ़ कृ० ४	—
२	अजितनाथ	वैशाख शु० १३	ज्येष्ठ कृ० १५
३	संभवनाथ	फाल्गुन शु० ८	फाल्गुन शु० ८
४	अभिनन्दन	वैशाख शु० ४	वैशाख शु० ६
५	सुमतिनाथ	श्रावण शु० २	श्रावण शु० २
६	पद्मप्रभ	माघ कृ० ६	माघ कृ० ६
७	सुपार्श्वनाथ	भाद्रपद कृ० ८	भाद्रपद शु० ६
८	चन्द्रप्रभ	चैत्र कृ० ५	चैत्र कृ० ५
९	सुविधिनाथ	फाल्गुन कृ० ९	फाल्गुन कृ० ९
१०	शीतलनाथ	वैशाख कृ० ६	चैत्र कृ० ८
११	श्रेयांसनाथ	ज्येष्ठ कृ० ६	ज्येष्ठ कृ० ६
१२	वासुपूज्य	ज्येष्ठ शु० ९	आषाढ़ कृ० ६
१३	विमलनाथ	वैशाख शु० १२	ज्येष्ठ कृ० १०
१४	अनन्तनाथ	श्रावण कृ० ७	कार्तिक कृ० १
१५	धर्मनाथ	वैशाख शु० ७	वैशाख शु० १३
१६	शान्तिनाथ	भाद्रपद कृ० ७	भाद्रपद कृ० ७
१७	कुंथुनाथ	श्रावण कृ० ९	श्रावण कृ० १०
१८	अरनाथ	फाल्गुन शु० २	फाल्गुन कृ० ३
१९	मल्लिनाथ	फाल्गुन शु० ४	चैत्र शु० १
२०	मुनिसुव्रत	श्रावण शु० १५	श्रावण कृ० २
२१	नमिनाथ	आश्विन शु० १५	आश्विन कृ० २
२२	अरिष्टनेमि	कार्तिक कृ० १२	कार्तिक शु० ६
२३	पार्श्वनाथ	चैत्र कृ० ४	वैशाख कृ० २ विशाखा
२४	महावीर	आषाढ़ शु० ६	आषाढ़ शु० ६

च्यवन-नक्षत्र

क्र०सं०	नाम तीर्थंकर	श्वेताम्बर	दिगम्बर
१	ऋषभदेव	उत्तराषाढ़ा	उत्तराषाढ़ा
२	अजितनाथ	रोहिणी	रोहिणी
३	संभवनाथ	मृगशीर्ष	मृगशीर्ष
४	अभिनन्दन	पुनर्वसु	पुनर्वसु
५	सुमतिनाथ	मघा	मघा
६	पद्मप्रभ	चित्रा	चित्रा
७	सुपार्श्वनाथ	विशाखा	विशाखा
८	चन्द्रप्रभ	अनुराधा	अनुराधा
९	सुविधिनाथ	मूल	मूल
१०	शीतलनाथ	पूर्वाषाढ़ा	पूर्वाषाढ़ा
११	श्रेयांसनाथ	श्रवण	श्रवण
१२	वासुपूज्य	शतभिशा	शतभिशा
१३	विमलनाथ	उत्तराभाद्रपद	उत्तराभाद्रपद
१४	अनन्तनाथ	रेवती	रेवती
१५	धर्मनाथ	पुष्य	रेवती
१६	शान्तिनाथ	भरणी	भरणी
१७	कुंथुनाथ	कृत्तिका	कृत्तिका
१८	अरनाथ	रेवती	रेवती
१९	मल्लिनाथ	अश्विनी	अश्विनी
२०	मुनिसुव्रत	श्रवण	श्रवण
२१	नमिनाथ	अश्विनी	अश्विनी
२२	अरिष्टनेमि	चित्रा	उत्तराषाढ़ा
२३	पार्श्वनाथ	विशाखा	विशाखा
२४	महावीर	उत्तराफाल्गुनी	उत्तराषाढ़ा

च्यवन-स्थल

क्र.सं.	नाम तीर्थंकर	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ	दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ	
		सत० द्वार १२ गाथा ५४–५६	उत्तर पुराण	तिलोय पण्णत्ती गाथा ५२२-२५
१	ऋषभदेव	सर्वार्थसिद्ध	सर्वार्थसिद्ध	सर्वार्थसिद्ध
२	अजितनाथ	विजय विमान	विजय विमान	विजय से
३	संभवनाथ	सातवां ग्रैवेयक	सुदर्शन विमान प्रथम ग्रैवेयक	अधोग्रैवेयक
४	अभिनन्दन	जयंत विमान	विजय विमान	विजय से
५	सुमतिनाथ	जयंत विमान	वैजयन्त	जयन्त
६	पद्मप्रभ	नौवां ग्रैवेयक	उर्ध्व ग्रैवेयक प्रीतिंकर विमान	ऊर्ध्व ग्रैवेयक
७	सुपार्श्वनाथ	छठा ग्रैवेयक	मध्य ग्रैवेयक	मध्य ग्रैवेयक
८	चन्द्रप्रभ	वैजयंत विमान	वैजयन्त	वैजयंत विमान
९	सुविधिनाथ	आनत स्वर्ग	प्राणत स्वर्ग	आरण युगल
१०	शीतलनाथ	प्राणत स्वर्ग	आरण १५वां स्वर्ग	आरण युगल
११	श्रेयांसनाथ	अच्युत स्वर्ग	अच्युत स्वर्ग	पुष्पोत्तर विमान
१२	वासुपूज्य	प्राणत स्वर्ग	महाशुक्र विमान	महाशुक्र
१३	विमलनाथ	सहस्रार	सहस्रार स्वर्ग	शतारकल्प से
१४	अनन्तनाथ	प्राणत	पुष्पोत्तर विमान	पुष्पोत्तर विमान
१५	धर्मनाथ*	विजय विमान	सर्वार्थसिद्ध	सर्वार्थसिद्ध
१६	शान्तिनाथ	सर्वार्थसिद्ध	सर्वार्थसिद्ध	सर्वार्थसिद्ध
१७	कुंथुनाथ	सर्वार्थसिद्ध	सर्वार्थसिद्ध	सर्वार्थसिद्ध
१८	अरनाथ	सर्वार्थसिद्ध	जयंत	अपराजित
१९	मल्लिनाथ	जयंत विमान	अपराजित विमान	अपराजित विमान
२०	मुनिसुव्रत	अपराजित विमान	प्राणत	आनत विमान
२१	नमिनाथ	प्राणत स्वर्ग	अपराजित	अपराजित विमान
२२	अरिष्टनेमि	अपराजित विमान	जयन्त	अपराजित
२३	पार्श्वनाथ	प्राणत स्वर्ग	प्राणत स्वर्ग (इन्द्र)	प्राणत कल्प
२४	महावीर	प्राणत स्वर्ग	पुष्पोत्तर विमान	पुष्पोत्तर विमान

*श्री धर्मनाथ ने स्वर्ग की मध्यम आयु और शेष तीर्थंकरों ने उत्कृष्ट आयु भोगी।

जन्म तिथि

नाम तीर्थंकर	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ		दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
	सत्त० २१ द्वा. गा. ७८ से ८१		हरिवंश पुराण गा. १६९–१८०	उत्तर पुराण	तिलोय पण्णत्ती गा. ५२६–५४९
ऋषभदेव	चैत्र कृ. ८		चैत्र कृ. ९	चैत्र कृ. ९	चैत्र कृ. ९
अजितनाथ	माघ शु. ८	माघ शु. १०	माघ शु. ९	माघ शु. १०	माघ शु. १०
संभवनाथ	मार्ग. शु. १४	फाल्गुन शु. ८	मार्ग. शु. १५	कार्तिक शु. १५	मंगसर शु. १५
अभिनन्दन	माघ शु. २		माघ शु. १२	माघ शु. १२	माघ शु. १२
सुमतिनाथ	वैशाख शु. ८	चैत्र शु. ११	श्रावण शु. ११	चैत्र शु. ११	श्रा. शु. ११
पद्मप्रभ	कार्तिक कृ. १२		कार्तिक कृ. १३	कार्तिक कृ. १३	आसोज कृ. १३
सुपार्श्वनाथ	ज्येष्ठ शु. १२		ज्येष्ठ शु. १२	ज्येष्ठ शु. १२	ज्येष्ठ शु. १२
चन्द्रप्रभ	पौष कृ. १२		पौष कृ. ११	पौष कृ. ११	पौष कृ. ११
सुविधिनाथ	मार्गशी. कृ. ५		मार्गशी. शु. १	मार्गशीर्ष शु. १	मार्गशी. शु. १
शीतलनाथ	माघ कृ. १२		माघ कृ. १२	माघ कृ. १२	माघ कृ. १२
श्रेयांसनाथ	फाल्गुन कृ. १२		फाल्गुन कृ. ११	फाल्गुन कृ. ११	फाल्गुन शु. ११
वासुपूज्य	फाल्गुन कृ. १४		फाल्गुन कृ. १४	फाल्गुन कृ. १४	फाल्गुन शु. १४
विमलनाथ	माघ शु. ३		माघ शु. १४	माघ शु. ४*	माघ शु. १४
अनन्तनाथ	वैशाख कृ. १३		ज्येष्ठ कृ. १२	ज्येष्ठ कृ. १२	ज्येष्ठ कृ. १२
धर्मनाथ	माघ शु. ३		माघ शु. १३	माघ शु. १३	माघ शु. १३
शान्तिनाथ	ज्येष्ठ कृ. १३		ज्येष्ठ कृ. १४	ज्येष्ठ कृ. १४	ज्येष्ठ शु. १२
कुन्थुनाथ	वैशाख कृ. १४		वैशाख शु. १	वैशाख शु. १	वैशाख शु. १
अरनाथ	मार्गशी. शु. १०		मार्गशी. शु. १४	मार्गशी. शु. १४	मिग. शु. १४
मल्लिनाथ	मार्गशी. शु. ११		मार्गशी. शु. ११	मार्ग. शु. ११	मिग. शु. ११
मुनिसुव्रत	ज्येष्ठ कृ. ८		आश्विन शु. १२	×	आश्विन शु. १२
नमिनाथ	श्रावण कृ. ८		आषाढ़ कृ. १०	आषाढ़ कृ. १०	आषाढ़ शु. १०
अरिष्टनेमि	श्रावण शु. ५		वैशाख शु. १३	श्रावण शु. ६	वैशाख शु. १३
पार्श्वनाथ	पौष कृ. १०		पौष कृ. ११	पौष कृ. ११ पर्व ७३ श्लो. ९०	पौष कृ. ११
महावीर	चैत्र शु. १३		चैत्र शु. १३	चैत्र शु. १३	चैत्र शु. १३

*कुछ प्रतियों के अनुसार माघ शु. १४। × श्री मुनिसुव्रतस्वामी की जन्मतिथि उत्तर पुराण में दी ही नहीं है।

जन्म-नक्षत्र

क्र०सं०	नाम तीर्थंकर	श्वेताम्बर	दिगम्बर
१	ऋषभदेव	उत्तराषाढ़ा	उत्तराषाढ़ा
२	अजितनाथ	रोहिणी	रोहिणी
३	संभवनाथ	मृगशीर्ष	ज्येष्ठा
४	अभिनन्दन	पुष्य	पुनर्वसु
५	सुमतिनाथ	मघा	मघा
६	पद्मप्रभ	चित्रा	चित्रा
७	सुपार्श्वनाथ	विशाखा	विशाखा
८	चन्द्रप्रभ	अनुराधा	अनुराधा
९	सुविधिनाथ	मूल	मूल
१०	शीतलनाथ	पूर्वाषाढ़ा	पूर्वाषाढ़ा
११	श्रेयांसनाथ	श्रवण	श्रवण
१२	वासुपूज्य	शतभिषा	विशाखा
१३	विमलनाथ	उत्तराभाद्रपदा	पूर्वाभाद्रपदा
१४	अनन्तनाथ	रेवती	रेवती
१५	धर्मनाथ	पुष्य	पुष्य
१६	शान्तिनाथ	भरणी	भरणी
१७	कुंथुनाथ	कृत्तिका	कृत्तिका
१८	अरनाथ	रेवती	रोहिणी
१९	मल्लिनाथ	अश्विनी	अश्विनी
२०	मुनिसुव्रत	श्रवण	श्रवण
२१	नमिनाथ	अश्विनी	अश्विनी
२२	अरिष्टनेमि	चित्रा	चित्रा
२३	पार्श्वनाथ	विशाखा	विशाखा
२४	महावीर	उत्तराफाल्गुनी	उत्तराफाल्गुनी

वर्ण

तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ			दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
	प्रवचन० द्वार ३०	सत्त० द्वा. ४६	आव० नि०	हरिवंश पुराण	तिलोय पण्णत्ती	उत्तर पुराण
ऋषभदेव	तपे सोने की तरह गौर वर्ण	तपे सोने की तरह गौर वर्ण	तपे सोने की तरह गौर वर्ण	सुवर्ण	सुवर्ण के समान पीत	स्वर्ण के समान
अजितनाथ	" "	" "	" "	"	"	सुवर्ण के समान पीत
संभवनाथ	" "	" "	" "	"	"	—
अभिनन्दन	" "	" "	" "	"	"	चन्द्रमा के समान
सुमतिनाथ	" "	" "	" "	"	"	तपाये स्वर्ण के समान
पद्मप्रभ	लाल	लाल	लाल	लालवर्ण	मूंगे के समान रक्त वर्ण	लाल कमल के समान
सुपार्श्वनाथ	तपे सोने की तरह गौर वर्ण	तपे सोने की तरह गौर वर्ण	तपे हुए सोने की तरह गौर वर्ण	हरितवर्ण	हरितवर्ण	चन्द्रमा के समान
चंद्रप्रभ	गौर श्वेत	गौर श्वेत	चंद्र गौर	गौर श्वेत	कुन्द पुष्प	चन्द्र गौर
सुविधिनाथ	" "	" "	चंद्र गौर	शंख के समान	"	—
शीतलनाथ	तपे सोने की तरह गौर वर्ण	तपे सोने की तरह गौर वर्ण	तपे हुए सोने की तरह गौर वर्ण	सुवर्ण	सुवर्ण के समान पीत	सुवर्ण के समान
श्रेयांसनाथ	" "	" "	" "	"	"	सुवर्ण के समान
वासुपूज्य	लाल	लाल	लाल	लालवर्ण	मूंगे के समान रक्त वर्ण	कुंकुम के समान
विमलनाथ	तपे सोने की तरह गौर वर्ण	तपे सोने की तरह गौर वर्ण	तपे हुए सोने की तरह गौर वर्ण	सुवर्ण	सुवर्ण के समान पीत	सुवर्ण के समान

क्र.सं.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ			दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
		प्रवचन० द्वार ३०	सत्त० द्वा. ४६	आव० नि०	हरिवंश पुराण	तिलोय पण्णत्ती	उत्तर पुराण
१४	अनंतनाथ	तपे सोने की तरह गौरवर्ण	तपे सोने की तरह गौर वर्ण	तपे हुए सोने की तरह गौर वर्ण	सुवर्ण	सुवर्ण के समान पीत	सुवर्ण के समान
१५	धर्मनाथ	,, ,,	,, ,,	,, ,,	,,	,,	,,
१६	शान्तिनाथ	,, ,,	,, ,,	,, ,,	,,	,,	,,
१७	कुंथुनाथ	,, ,,	,, ,,	,, ,,	,,	,,	,,
१८	अरनाथ	,, ,,	,, ,,	,, ,,	,,	,,	,,
१९	मल्लिनाथ	प्रियंगु (नीले)	प्रियंगु (नीले)	प्रियंगु नील	,,	,,	स्वर्ण के समान
२०	मुनिसुव्रत	काला	काला	काला	नीलवर्ण	नीलवर्ण	नीलवर्ण (मयूर के कंठ के समान)
२१	नमिनाथ	तपे सोने की तरह गौर वर्ण	तपे सोने की तरह गौर वर्ण	तपे हुए सोने की तरह गौर वर्ण	सुवर्ण	सुवर्ण के समान	सुवर्ण के समान
२२	अरिष्टनेमि	काला (श्याम)	काला (श्याम)	काला	नीलवर्ण	नीलवर्ण	नीलवर्ण
२३	पार्श्वनाथ	प्रियंगु (नीले)	प्रियंगु (नीले)	प्रियंगु नील	श्यामल	हरितवर्ण	हरित
२४	महावीर	तपे सोने की तरह गौर वर्ण	तपे सोने की तरह गौर वर्ण	तपे हुए सोने की तरह गौर वर्ण	सुवर्ण	सुवर्ण के समान पीले	—

लक्षण

क्रमांक	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ: प्रवचन० द्वार २६ गा. ३७६-८०	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ: सत्त० द्वा. ४२ गाथा १२१-१२२	दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ: तिलोयपण्णत्ती गा. ६०४-६०५
१	ऋषभदेव	वृषभ	वृषभ	बैल
२	अजितनाथ	गज	गज	गज
३	संभवनाथ	तुरय (अश्व)	अश्व	अश्व
४	अभिनन्दन	वानर	वानर	वन्दर
५	सुमतिनाथ	कुंचु (क्रोंच)	कुंचु	चकवा
६	पद्मप्रभ	कमल	रक्त कमल	कमल
७	सुपार्श्वनाथ	स्वस्तिक	स्वस्तिक	नंद्यावर्त
८	चन्द्रप्रभ	चन्द्र	चन्द्र	अर्द्धचन्द्र
९	सुविधिनाथ	मगर	मगर	मगर
१०	शीतलनाथ	श्रीवत्स	श्रीवत्स	स्वस्तिक
११	श्रेयांसनाथ	गण्डय खड़ी (गेंड़ा)	गेंड़ा	गेंड़ा
१२	वासुपूज्य	महिष	महिष	भैंसा
१३	विमलनाथ	वराह	वराह	शूकर
१४	अनन्तनाथ	श्येन	श्येन	सेही
१५	धर्मनाथ	वज्र	वज्र	वज्र
१६	शान्तिनाथ	हरिण	हरिण	हरिण
१७	कुंथुनाथ	छाग	छाग	छाग
१८	अरनाथ	नंद्यावर्त	नंद्यावर्त	तगर कुसुम (मत्स्य)
१९	मल्लिनाथ	कलश	कलश	कलश
२०	मुनिसुव्रत	कूर्म	कूर्म	कूर्म
२१	नमिनाथ	नीलोत्पल	नीलोत्पल	उत्पल (नील कमल)
२२	अरिष्टनेमि	शंख	शंख	शंख
२३	पार्श्वनाथ	सर्प	सर्प	सर्प
२४	महावीर	सिंह	सिंह	सिंह
				पृ० २१६

शरीर मान

क्र.सं.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ			दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
		आव० नि०	सप्ततिशत गाथा ४९	समवायांग	हरिवंश पुराण	तिलोय पण्णत्ती	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	५०० धनुष	५०० धनुष	५०० धनुष	५०० धनुष	५०० धनुष	५०० धनुष
२	अजितनाथ	४५० ,,	४५० ,,	४५० ,,	४५० ,,	४५० ,,	४५० ,,
३	संभवनाथ	४०० ,,	४०० ,,	४०० ,,	४०० ,,	४०० ,,	४०० ,,
४	अभिनन्दन	३५० ,,	३५० ,,	३५० ,,	३५० ,,	३५० ,,	३५० ,,
५	सुमतिनाथ	३०० ,,	३०० ,,	३०० ,,	३०० ,,	३०० ,,	३०० ,,
६	पद्मप्रभ	२५० ,,	२५० ,,	२५० ,,	२५० ,,	२५० ,,	२५० ,,
७	सुपार्श्वनाथ	२०० ,,	२०० ,,	२०० ,,	२०० ,,	२०० ,,	२०० ,,
८	चन्द्रप्रभ	१५० ,,	१५० ,,	१५० ,,	१५० ,,	१५० ,,	१५० ,,
९	सुविधिनाथ	१०० ,,	१०० ,,	१०० ,,	१०० ,,	१०० ,,	१०० ,,
१०	शीतलनाथ	९० ,,	९० ,,	९० ,,	९० ,,	९० ,,	९० ,,
११	श्रेयांसनाथ	८० ,,	८० ,,	८० ,,	८० ,,	८० ,,	८० ,,
१२	वासुपूज्य	७० ,,	७० ,,	७० ,,	७० ,,	७० ,,	७० ,,
१३	विमलनाथ	६० ,,	६० ,,	६० ,,	६० ,,	६० ,,	६० ,,
१४	अनन्तनाथ	५० ,,	५० ,,	५० ,,	५० ,,	५० ,,	५० ,,
१५	धर्मनाथ	४५ ,,	४५ ,,	४५ ,,	४५ ,,	४५ ,,	१८० हाथ
१६	शान्तिनाथ	४० ,,	४० ,,	४० ,,	४० ,,	४० ,,	४० धनुष
१७	कुंथुनाथ	३५ ,,	३५ ,,	३५ ,,	३५ ,,	३५ ,,	३५ ,,
१८	अरनाथ	३० ,,	३० ,,	३० ,,	३० ,,	३० ,,	३० ,,
१९	मल्लिनाथ	२५ ,,	२५ ,,	२५ ,,	२५ ,,	२५ ,,	२५ ,,
२०	मुनिसुव्रत	२० ,,	२० ,,	२० ,,	२० ,,	२० ,,	२० ,,
२१	नमिनाथ	१५ ,,	१५ ,,	१५ ,,	१५ ,,	१५ ,,	१५ ,,
२२	अरिष्टनेमि	१० ,,	१० ,,	१० ,,	१० ,,	१० ,,	१० ,,
२३	पार्श्वनाथ	९ हाथ	९ हाथ	९ हाथ (रत्नी)	९ हाथ	९ हाथ	९ हाथ
२४	महावीर	७ हाथ	७ हाथ	७ हाथ (रत्नी)	७ हाथ	७ हाथ	७ हाथ

कौमार्य जीवन

तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ		दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
	आवश्यक नि० गा. २६९-३२२	सत्तरि० द्वार ५४ गा. १३५ से १३७	हरिवंश पुराण ३३० से ३३१	तिलोय पण्णत्ती गा. ५८३-५८५	उत्तर पुराण
ऋषभदेव	२० लाख पूर्व	२० लाख पूर्व	२० लाख पूर्व	२० लाख पूर्व	२० लाख पूर्व
अजितनाथ	१८ लाख पूर्व	१८ लाख पूर्व	१८ लाख पूर्व	१८ लाख पूर्व	१८ लाख पूर्व
संभवनाथ	१५ लाख पूर्व	१५ लाख पूर्व	१५ लाख पूर्व	१५ लाख पूर्व	१५ लाख पूर्व
अभिनन्दन	१२५०००० पूर्व	१२५०००० पूर्व	१२५०००० पूर्व	१२५०००० पूर्व	१२५०००० पूर्व
सुमतिनाथ	१० लाख पूर्व	१० लाख पूर्व	१० लाख पूर्व	१० लाख पूर्व	१० लाख पूर्व
पद्मप्रभ	७५०००० पूर्व	७५०००० पूर्व	७५०००० पूर्व	७५०००० पूर्व	७५०००० पूर्व
सुपार्श्वनाथ	५००००० पूर्व	५००००० पूर्व	५००००० पूर्व	५००००० पूर्व	५००००० पूर्व
चन्द्रप्रभ	२५०००० पूर्व	२५०००० पूर्व	२५०००० पूर्व	२५०००० पूर्व	२५०००० पूर्व
सुविधिनाथ	५०००० पूर्व	५०००० पूर्व	५०००० पूर्व	५०००० पूर्व	५०००० पूर्व
शीतलनाथ	२५ हजार पूर्व	२५ हजार पूर्व	२५ हजार पूर्व	२५ हजार पूर्व	२५ हजार पूर्व
श्रेयांसनाथ	२१ लाख वर्ष	२१ लाख वर्ष	२१ लाख वर्ष	२१ लाख वर्ष	२१ लाख वर्ष
वासुपूज्य	१८ लाख वर्ष	१८ लाख वर्ष	१८ लाख वर्ष	१८ लाख वर्ष	१८ लाख वर्ष
विमलनाथ	१५ लाख वर्ष	१५ लाख वर्ष	१५ लाख वर्ष	१५ लाख वर्ष	१५ लाख वर्ष
अनन्तनाथ	७५०००० वर्ष	७५०००० वर्ष	७५०००० वर्ष	७५०००० वर्ष	७५०००० वर्ष
धर्मनाथ	२५०००० वर्ष	२५०००० वर्ष	२५०००० वर्ष	२५०००० वर्ष	२५०००० वर्ष
शान्तिनाथ	२५००० वर्ष	२५००० वर्ष	२५००० वर्ष	२५००० वर्ष	२५००० वर्ष
कुंथुनाथ	२३७५० वर्ष	२३७५० वर्ष	२३७५० वर्ष	२३७५० वर्ष	२३७५० वर्ष
अरनाथ	२१००० वर्ष	२१००० वर्ष	२१००० वर्ष	२१००० वर्ष	२१००० वर्ष
मल्लिनाथ	१०० वर्ष	१०० वर्ष	१०० वर्ष	१०० वर्ष	१०० वर्ष
मुनिसुव्रत	७५०० वर्ष	७५०० वर्ष	७५०० वर्ष	७५०० वर्ष	७५०० वर्ष
नमिनाथ	२५०० वर्ष	२५०० वर्ष	२५०० वर्ष	२५०० वर्ष	२५०० वर्ष
अरिष्टनेमि	३०० वर्ष	३०० वर्ष	३०० वर्ष	३०० वर्ष	३०० वर्ष
पार्श्वनाथ	३० वर्ष	३० वर्ष	३० वर्ष	३० वर्ष	३० वर्ष
महावीर	३० वर्ष	३० वर्ष	३० वर्ष	३० वर्ष	३० वर्ष
			पृ० ७३१-७३२	पृ० २१० से २१६	

राज्य काल

क्र.सं.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ		दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
		आवश्यक नि. गा. २६६-३२२	सत्तरिसय ५५ गाथा १३८-१४१	हरिवंश पुराण पृ० ७३१ से ७३२	तिलोय पण्णत्ती पृ० २१७ से २१६	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	६३ लाख पूर्व	६३ लाख पूर्व	६३ लाख पूर्व	६३ लाख पूर्व	—
२	अजितनाथ	५३ लाख पूर्व १ पूर्वांग	५३ लाख पूर्व १ पूर्वांग	५३ लाख पूर्व १ पूर्वांग	५३ लाख पूर्व १ पूर्वांग	५३ लाख पूर्व १ पूर्वांग
३	संभवनाथ	४४ लाख पूर्व ४ पूर्वांग	४४ लाख पूर्व ४ पूर्वांग	४४ लाख पूर्व ४ पूर्वांग	४४ लाख पूर्व ४ पूर्वांग	४४ लाख पूर्व ४ पूर्वांग
४	अभिनन्दन	३६ लाख ५० हजार पूर्व ८ पूर्वांग	३६ लाख ५० हजार पूर्व ८ पूर्वांग	३६ लाख ५० हजार पूर्व और ८ पूर्वांग	३६ लाख ५० हजार पूर्व ८ पूर्वांग	३६५००००
५	सुमतिनाथ	२६ लाख पूर्व १२ पूर्वांग	२६ लाख पूर्व १२ पूर्वांग	२६ लाख पूर्व १२ पूर्वांग	२६ लाख पूर्व १२ पूर्वांग	२६ लाख पूर्व १२ पूर्वांग
६	पद्मप्रभ	२१ लाख ५० हजार पूर्व १६ अंग	२१ लाख ५० हजार पूर्व १६ अंग	२१ लाख ५० हजार पूर्व १६ पूर्वांग	२१ लाख ५० हजार पूर्व १६ पूर्वांग	२१ लाख ५० हजार पूर्व १६ पूर्वांग कम
७	सुपार्श्वनाथ	१४ लाख पूर्व २० अंग	१४ लाख पूर्व २० अंग	१४ लाख पूर्व २० पूर्वांग	१४ लाख पूर्व २० पूर्वांग	१४ लाख पूर्व २० पूर्वांग कम
८	चन्द्रप्रभ	६ लाख ५० हजार पूर्व २४ अंग	६ लाख ५० हजार पूर्व २४ अंग	६ लाख ५० हजार पूर्व २४ पूर्वांग	६ लाख ५० हजार २४ पूर्वांग	६ लाख ५० हजार पूर्व २४ पूर्वांग
९	सुविधिनाथ	५० हजार पूर्व २८ अंग	५० हजार पूर्व २८ अंग	५० हजार पूर्व २८ पूर्वांग	५० हजार पूर्व २८ पूर्वांग	५० हजार पू[illegible] २८ पूर्वांग
१०	शीतलनाथ	५० हजार पूर्व	५० हजार पूर्व	५० हजार पूर्व	५० हजार पूर्व	५० हजार पूर्व
११	श्रेयांसनाथ	४२ लाख वर्ष	४२ लाख वर्ष	५० लाख वर्ष	४२ लाख वर्ष	४२ लाख वर्ष[1]

[1] एवं पंचखपक्षाब्धिमितसंवत्सरावधौ, राज्यकालेऽयमन्येद्युर्वसन्तपरिवर्तनम्।। उत्तर पु., अ. ५७ श्लो. ४[illegible]

तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ		दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
	आवश्यक नि. गा. २९९-३२२	सत्तरिसय ५५ गाथा १३८-१४१	हरिवंश पुराण पृ० ७३१ से ७३२	तिलोय पण्णत्ती पृ० २१७ से २१९	उत्तर पुराण
वासुपूज्य*	अभाव	अभाव	अभाव	अभाव	अभाव
विमलनाथ	३० लाख वर्ष	३० लाख वर्ष	३० लाख वर्ष	३० लाख वर्ष	३० लाख वर्ष
अनन्तनाथ	१५ लाख वर्ष	१५ लाख वर्ष	१५ लाख वर्ष	१५ लाख वर्ष	१५ लाख वर्ष
धर्मनाथ	५ लाख वर्ष	५ लाख वर्ष	५ लाख वर्ष	५ लाख वर्ष	५००००० वर्ष
शान्तिनाथ	२५ हजार वर्ष मांडलिक २५ ह. वर्ष चक्रवर्ती	२५ हजार वर्ष मांडलिक २५ ह. वर्ष चक्रवर्ती	२५ हजार वर्ष मांडलिक २५ हजार वर्ष चक्रवर्ती	२५ हजार वर्ष मांडलिक २५ हजार वर्ष चक्रवर्ती	२५ हजार वर्ष मांडलिक २५ हजार वर्ष चक्रवर्ती
कुंथुनाथ	२३७५० वर्ष मांडलिक इतना ही चक्रवर्ती	२३७५० वर्ष मांड. इतना ही चक्र.	२३७५० वर्ष मांडलिक इतना ही चक्रवर्ती	२३७५० वर्ष मांडलिक इतना ही चक्रवर्ती	२३७५० वर्ष मांडलिक २३७५० वर्ष चक्रवर्ती
अरनाथ	२१००० वर्ष मांडलिक इतना ही चक्रवर्ती	२१००० वर्ष मांड. इतना ही चक्र.	२१००० वर्ष मांडलिक इतना ही चक्रवर्ती	२१ हजार वर्ष मांडलिक इतना ही चक्रवर्ती	२१ हजार वर्ष मांडलिक २१ हजार वर्ष चक्रवर्ती
मल्लिनाथ*	अभाव	अभाव	अभाव	अभाव	अभाव
मुनिसुव्रत	१५००० वर्ष	१५००० वर्ष	१५००० वर्ष	१५००० वर्ष	१५००० वर्ष
नमिनाथ	५००० वर्ष	५००० वर्ष	५००० वर्ष	५००० वर्ष	५००० वर्ष
अरिष्टनेमि*	अभाव	अभाव	अभाव	अभाव	अभाव
पार्श्वनाथ*	अभाव	अभाव	अभाव	अभाव	अभाव
महावीर*	अभाव	अभाव	अभाव	अभाव	अभाव

तारांकित ५ तीर्थंकरों ने राज्य का उपभोग ही नहीं किया

दीक्षा-तिथि

क्र.सं.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रन्थ	दिगम्बर संदर्भ-ग्रन्थ		
		सत्त. द्वार ५६, गाथा १४५ से १४७	हरिवंश पुराण गाथा २२६-२३६	तिलोयपण्णत्ती गाथा ६४४-६६७	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	चैत्र कृ. ८	चैत्र कृ. ६	चैत्र कृ. ६	चैत्र कृ. ६
२	अजितनाथ	माघ शु. ६	माघ शु. ६	माघ शु. ६	माघ शु. ६
३	संभवनाथ	मार्गशीर्ष शु. १५	मार्गशीर्ष शु. १५	मार्गशीर्ष शु. १५	—
४	अभिनन्दन	माघ शु. १२	माघ शु. १२	माघ शु. १२	माघ शु. १२
५	सुमतिनाथ	वैशाख शु. ६	मार्गशीर्ष कृ. १०	वैशाख शु. ६	वैशाख शु. ६
६	पद्मप्रभ	कार्तिक कृ. १३	कार्तिक कृ. १३	कार्तिक कृ. १३	कार्तिक कृ. १३
७	सुपार्श्वनाथ	ज्येष्ठ शु. १३	ज्येष्ठ कृ. १२	ज्येष्ठ शु. १२	ज्येष्ठ शु. १२
८	चन्द्रप्रभ	पौष कृ. १३	पौष कृ. ११	पौष कृ. ११	पौप कृ. ११
६	सुविधिनाथ	मार्गशीर्ष कृ. ६	मार्गशीर्ष शु. १	पौष शु. ११	मार्गशीर्ष शु. १
१०	शीतलनाथ	माघ कृ. १२	माघ कृ. १२	माघ कृ. १२	माघ. कृ. १२
११	श्रेयांसनाथ	फाल्गुन कृ. १३	फाल्गुन कृ. १३	फाल्गुन कृ. ११	फाल्गुन कृ. ११
१२	वासुपूज्य	फाल्गुन कृ. ३०	फाल्गुन कृ. १४	फाल्गुन कृ. १४	फाल्गुन कृ. १४
१३	विमलनाथ	माघ शु. ४	माघ शु. ४	माघ शु. ४	माघ शु. ४
१४	अनन्तनाथ	वैशाख कृ. १४	ज्येष्ठ कृ. १२	ज्येष्ठ कृ. १२	ज्येष्ठ कृ. १२
१५	धर्मनाथ	माघ शु. १३	माघ शु. १३	भाद्रपद शु. १३	माघ शु. १३
१६	शान्तिनाथ	ज्येष्ठ कृ. १४	ज्येष्ठ कृ. १३	ज्येष्ठ कृ. १४	ज्येष्ठ कृ. १४
१७	कुंथुनाथ	वैशाख कृ. ५	वैशाख शु. १	वैशाख शु. १	वैशाख शु. १
१८	अरनाथ	मार्गशीर्ष शु. ११	मार्गशीर्ष शु. १०	मार्गशीर्ष शु. १०	मार्गशीर्ष शु. १०
१६	मल्लिनाथ	मार्गशीर्ष कृ. ११	मार्गशीर्ष शु. ११	मार्गशीर्ष शु. ११	मार्गशीर्ष शु. ११
२०	मुनिसुव्रत	ज्येष्ठ शु. १२	वैशाख कृ. ६	वैशाख कृ. १०	वैशाख कृ. १०
२१	नमिनाथ	श्रावण कृ. ६	आषाढ़ कृ. १०	आषाढ़ कृ. १०	आषाढ़ कृ. १०
२२	अरिष्टनेमि	श्रावण शु. ६	श्रावण शु. ४	श्रावण शु. ६	—
२३	पार्श्वनाथ	पौष कृ. ११	पौष कृ. ११	माघ शु. ११	पौप कृ. ११
२४	महावीर	चैत्र शु. १०	मार्गशीर्ष कृ. १०	मार्गशीर्ष कृ. १०	मार्गशीर्ष कृ. १०

तीर्थंकरों के दीक्षा-नक्षत्र

क्र०सं०	नाम तीर्थंकर	श्वेताम्बर	दिगम्बर
१	ऋषभदेव	उत्तराषाढ़ा	उत्तराषाढ़ा
२	अजितनाथ	रोहिणी	रोहिणी
३	संभवनाथ	अभिजित	ज्येष्ठा
४	अभिनन्दन	मृगशीर्ष	पुनर्वसु
५	सुमतिनाथ	मघा	मघा
६	पद्मप्रभ	चित्रा	चित्रा
७	सुपार्श्वनाथ	विशाखा	विशाखा
८	चन्द्रप्रभ	अनुराधा	अनुराधा
९	सुविधिनाथ	मूल	अनुराधा
१०	शीतलनाथ	पूर्वाषाढ़ा	मूल
११	श्रेयांसनाथ	श्रवण	श्रवण
१२	वासुपूज्य	शतभिषा	विशाखा
१३	विमलनाथ	उत्तराभाद्रपदा	उत्तराभाद्रपदा
१४	अनन्तनाथ	रेवती	रेवती
१५	धर्मनाथ	पुष्य	पुष्य
१६	शान्तिनाथ	भरणी	भरणी
१७	कुंथुनाथ	कृत्तिका	कृत्तिका
१८	अरनाथ	रेवती	रेवती
१९	मल्लिनाथ	अश्विनी	अश्विनी
२०	मुनिसुव्रत	श्रवण	श्रवण
२१	नमिनाथ	अश्विनी	अश्विनी
२२	अरिष्टनेमि	चित्रा	चित्रा
२३	पार्श्वनाथ	विशाखा	विशाखा
२४	महावीर	उत्तराफाल्गुनी	उत्तरा

दीक्षा साथी

क्र.सं.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ			दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
		प्रवचन सारोद्धार गाथा ३८३ से ३८४	सत्तरिसय गाथा १५३–५५	समवायांग समवाय २५	हरिवंश पुराण गाथा ३५०–३५१	तिलोय-पण्णत्ती गा. ६६८ से ६६९	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	४०००	४०००	४०००	४०००	४०००	४०००
२	अजितनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
३	संभवनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
४	अभिनन्दन	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
५	सुमतिनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
६	पद्मप्रभ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
७	सुपार्श्वनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
८	चन्द्रप्रभ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
९	सुविधिनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
१०	शीतलनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
११	श्रेयांसनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
१२	वासुपूज्य	६००	६००	६००	६०६	६७६	६७६
१३	विमलनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
१४	अनन्तनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
१५	धर्मनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
१६	शान्तिनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
१७	कुंथुनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
१८	अरनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
१९	मल्लिनाथ	३०० पुरुष	३०० पुरुष	३०० पुरुष	३०० पुरुष	३०० पुरुष	३००
२०	मुनिसुव्रत	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
२१	नमिनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
२२	अरिष्टनेमि	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
२३	पार्श्वनाथ	३०० पुरुष	३००	३००	३०० पुरुष	३०० पुरुष	३००
२४	महावीर	एकाकी	एकाकी	एकाकी	एकाकी	एकाकी	१०००*

* गन्ता मुनिसहस्रेण निर्वाणं सर्ववांछितम् ॥

— उत्तर पुराण, पर्व ७६, श्लोक ५१२

प्रथम तप

तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ			दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
	सम. गा. २६, प्र० सा० ४३ द्वा०	आवश्यक नि०	सत्त. द्वार ६३ गाथा १४६	हरिवंश पुराण गाथा २१६ से २२०	तिलोय पण्णत्ती गाथा ६४४ से ६६७	उत्तर पुराण
ऋषभदेव	वेला (छट्ठभक्त)	वेला	बेला	छमास अनसन	षष्ठ उपवास	—
अजितनाथ	वेला	वेला	वेला	वेला(छट्ठ भक्त)	अष्टम भक्त	वेला
संभवनाथ	बेला	वेला	वेला	वेला	तेला	—
अभिनन्दन	वेला	वेला	बेला	बेला	तेला	वेला
सुमतिनाथ	नित्यभक्त	वेला	नित्यभक्त	तेला	तेला	वेला
पद्मप्रभ	वेला	वेला	बेला	बेला	तेला	वेला
सुपार्श्वनाथ	वेला	बेला	वेला	बेला	तेला	बेला
चन्द्रप्रभ	वेला	वेला	बेला	बेला	तेला	बेला
सुविधिनाथ	बेला	बेला	वेला	वेला	तेला	बेला
शीतलनाथ	बेला	वेला	बेला	वेला	तेला	वेला
श्रेयांसनाथ	वेला	वेला	बेला	वेला	तेला	वेला
वासुपूज्य	चतुर्थ-भक्त	चतुर्थ-भक्त	चतुर्थ-भक्त	एक उपवास	एक उपवास	वेला
विमलनाथ	वेला	बेला	वेला	बेला	तीन उपवास	वेला
अनन्तनाथ	वेला	वेला	बेला	वेला	तीन उपवास	बेला
धर्मनाथ	वेला	बेला	बेला	बेला	तीन उपवास	वेला
शान्तिनाथ	वेला	बेला	बेला	बेला	तीन उपवास	वेला
कुंथुनाथ	वेला	बेला	बेला	बेला	तीन उपवास	तेला
अरनाथ	बेला	वेला	वेला	बेला	तीन उपवास	तेला
मल्लिनाथ	तीन उपवास (अष्टम-तप)	तीन उपवास	तीन उपवास	तीन उपवास	षष्ठ भक्त	बेला
मुनिसुव्रत	वेला	बेला	वेला	बेला	तीन उपवास	वेला
नमिनाथ	वेला	बेला	बेला	बेला	तीन उपवास	वेला
अरिष्टनेमि	वेला	बेला	बेला	बेला	तीन उपवास	तेला
पार्श्वनाथ	तीन उपवास (अष्टम-तप)	तीन उपवास	तीन उपवास	एक उपवास	षष्ठभक्त	तेला
महावीर	बेला	वेला	वेला	बेला	तीन उपवास	तेला

प्रथम पारणा-दाता

क्र.सं.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ			दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ	
		आवश्यक नि० गा. ३२३ से ३२९	सत्त० द्वार ७७ गा. १६३-१६५	समवायांग गा. ७६-७७	उत्तर पुराण पर्व ४८ से ६९	हरिवंश पुराण ७२४
१	ऋषभदेव	श्रेयांस	श्रेयांस	श्रेयांस	श्रेयांस	श्रेयांस
२	अजितनाथ	ब्रह्मदत्त	ब्रह्मदत्त	ब्रह्मदत्त	ब्रह्माराजा	ब्रह्मदत्त
३	संभवनाथ	सुरेन्द्रदत्त	सुरेन्द्रदत्त	सुरेन्द्रदत्त	सुरेन्द्रदत्त	सुरेन्द्रदत्त
४	अभिनन्दन	इन्द्रदत्त	इन्द्रदत्त	इन्द्रदत्त	इन्द्रदत्तराजा	इन्द्रदत्त
५	सुमतिनाथ	पद्म	पद्म	पद्म	पद्मराजा	पद्मक
६	पद्मप्रभ	सोमदेव	सोमदेव	सोमदेव	सोमदत्तराजा	सोमदत्त
७	सुपार्श्वनाथ	महेन्द्र	महेन्द्र	महेन्द्र	महेन्द्रदत्त राजा	महादत्त
८	चन्द्रप्रभ	सोमदत्त	सोमदत्त	सोमदत्त	सोमदत्तराजा	सोमदेव
९	सुविधिनाथ	पुष्य	पुष्य	पुष्य	पुष्यमित्रराजा	पुष्पक
१०	शीतलनाथ	पुनर्वसु	पुनर्वसु	पुनर्वसु	पुनर्वसुराजा	पुनर्वसु
११	श्रेयांसनाथ	पूर्णनंद	नंद	पूर्णनंद	नंदराजा	सुनन्द
१२	वासुपूज्य	सुनन्द	सुनन्द	सुनन्द	सुन्दरराजा	जय
१३	विमलनाथ	जय	जय	जय	कनकप्रभु	विशाख
१४	अनन्तनाथ	विजय	विजय	विजय	विशाखराजा	धर्मसिंह
१५	धर्मनाथ	धर्मसिंह	धर्मसिंह	धर्मसिंह	धन्य	सुमित्र
१६	शान्तिनाथ	सुमित्र	सुमित्र	सुमित्र	सुमित्रराजा	धर्ममित्र
१७	कुंथुनाथ	व्याघ्रसिंह (वग्गसीह)	व्याघ्रसिंह	वग्गसिंह	धर्ममित्रराजा	अपराजित
१८	अरनाथ	अपराजित	अपराजित	अपराजित	अपराजितराजा	नन्दिषेण
१९	मल्लिनाथ	विश्वसेन	विश्वसेन	विश्वसेन	नन्दीषेण	वृषभदत्त
२०	मुनिसुव्रत	ब्रह्मदत्त	ब्रह्मदत्त	ऋषभसेन	वृषभषेन	दत्त
२१	नमिनाथ	दिन्न	दिन्न	दिन्न	दन्तराजा	वरदत्त
२२	अरिष्टनेमि	वरदत्त	वरदिन्न	वरदत्त	वरदत्त	नृपति
२३	पार्श्वनाथ	धन्य	धन्य	धन्य	धन्यराजा	धन्य
२४	महावीर	बहूल	बहूल	बहूल	कूल	बकुल

प्रथम पारणा-स्थल

तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ			दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ	
	आव. निर्युक्ति ३२३ से ३२९	सत्त० द्वार ७६ गा० १६०-१६१	समवायांग ७६—७७	उत्तर पुराण पर्व ४८ से ६६	हरिवंश पु० पृ० ७२४
ऋषभदेव	हस्तिनापुर	हस्तिनापुर	हस्तिनापुर	हस्तिनापुर	हस्तिनापुर
अजितनाथ	अयोध्या	अयोध्या	अयोध्या	साकेतपुरी	अयोध्या
संभवनाथ	श्रावस्ती	श्रावस्ती	श्रावस्ती	श्रावस्ती	श्रावस्ती
अभिनन्दन	साकेतपुर	अयोध्या	साकेतपुर	साकेत (अयोध्या)	विनीता
सुमतिनाथ	विजयपुर	विजयपुर	विजयपुर	सौमनस नगर	विजयपुर
पद्मप्रभ	ब्रह्मस्थल	ब्रह्मस्थल	ब्रह्मस्थल	वर्द्धमान नगर	मंगलपुर
सुपार्श्वनाथ	पाटलिखंड	पाटलिखंड	पाटलिखंड	सोमखेट नगर	पाटलिखंड
चन्द्रप्रभ	पद्मखंड	पद्मखंड	पद्मखंड	नलिन नगर	पद्मखण्ड
सुविधिनाथ	श्रेय:पुर	श्रेय:पुर	श्रेय:पुर	शैलपुर नगर	श्वेतपुर
शीतलनाथ	रिष्ठपुर	रिष्ठपुर	रिष्ठपुर	अरिष्ठ नगर	अरिष्ठपुर
श्रेयांसनाथ	सिद्धार्थपुर	सिद्धार्थपुर	सिद्धार्थपुर	सिद्धार्थनगर	सिद्धार्थपुर
वासुपूज्य	महापुर	महापुर	महापुर	महानगर	महापुर
विमलनाथ	धान्यकड	धान्यकड	धान्यकड	नन्दनपुर	धान्यवटपुर
अनन्तनाथ	वर्द्धमानपुर	वर्द्धमानपुर	वर्द्धमानपुर	साकेतपुर	वर्द्धमानपुर
धर्मनाथ	सौमनस	सौमनस	सौमनस	पाटलिपुत्र	सौमनसपुर
शान्तिनाथ	मंदिरपुर	मंदिरपुर	मंदिरपुर	मंदिरपुर	मंदिरपुर
कुंथुनाथ	चक्रपुर	चक्रपुर	चक्रपुर	हस्तिनापुर	हस्तिनापुर
अरनाथ	राजपुर	राजपुर	राजपुर	चक्रपुरनगर	चक्रपुर
मल्लिनाथ	मिथिला	मिथिला	मिथिला	मिथिलानगर	मिथिला
मुनिसुव्रत	राजगृह	राजगृह	राजगृह	राजगृह नगर	राजगृह
नमिनाथ	वीरपुर	वीरपुर	वीरपुर	वीरपुर	वीरपुर
अरिष्टनेमि	द्वारावती	द्वारावती	द्वारावती	द्वारावती	द्वारवती
पार्श्वनाथ	कोपकंट	कोपकट	कोपकट	गुल्मखेट	काम्यकृत
महावीर	कोल्लाक ग्राम	कोल्लाक ग्राम	कोल्लाक ग्राम	कूलग्राम	कुंडपुर

छद्मस्थ-काल

क्र.सं.	नाम तीर्थंकर	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ			दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ	
		सत्त० ८४ द्वा. गा. १७२-१७४	आ० नि० २३८-२४०	हरिवंश पुराण श्लो. ३३७-३४०	तिलोय पण्णत्ती गा. ६७५-६७८	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	एक हजार वर्ष	एक हजार वर्ष	एक हजार वर्ष	एक हजार वर्ष	एक हजार वर्ष
२	अजितनाथ	बारह वर्ष	बारह वर्ष	बारह वर्ष	बारह वर्ष	बारह वर्ष
३	संभवनाथ	चौदह वर्ष	चौदह वर्ष	चौदह वर्ष	चौदह वर्ष	चौदह वर्ष
४	अभिनन्दन	अठारह वर्ष	अठारह वर्ष	अठारह वर्ष	अठारह वर्ष	अठारह वर्ष
५	सुमतिनाथ	बीस वर्ष	बीस वर्ष	बीस वर्ष	बीस वर्ष	बीस वर्ष
६	पद्मप्रभ	छः महीना	छः महीना	छः मास	छः मास	छः मास
७	सुपार्श्वनाथ	नव महीना	नव महीना	नव वर्ष	नव वर्ष	नव वर्ष
८	चन्द्रप्रभ	तीन महीना	तीन महीना	तीन मास	तीन मास	तीन मास
९	सुविधिनाथ	चार महीना	चार महीना	चार मास	चार वर्ष	चार वर्ष
१०	शीतलनाथ	तीन महीना	तीन महीना	तीन मास	तीन वर्ष	तीन वर्ष
११	श्रेयांसनाथ	दो महीना	दो महीना	दो मास	दो वर्ष	दो वर्ष
१२	वासुपूज्य	एक महीना	एक महीना	एक मास	एक वर्ष	एक वर्ष
१३	विमलनाथ	दो महीना	दो महीना	तीन मास	तीन वर्ष	तीन वर्ष
१४	अनन्तनाथ	तीन वर्ष	तीन वर्ष	दो मास	दो वर्ष	दो वर्ष
१५	धर्मनाथ	दो वर्ष	दो वर्ष	एक मास	एक वर्ष	एक वर्ष
१६	शान्तिनाथ	एक वर्ष	एक वर्ष	सोलह वर्ष	सोलह वर्ष	सोलह वर्ष
१७	कुन्थुनाथ	सोलह वर्ष	सोलह वर्ष	सोलह वर्ष	सोलह वर्ष	सोलह वर्ष
१८	अरनाथ	तीन वर्ष	तीन वर्ष	सोलह वर्ष	सोलह वर्ष	सोलह वर्ष
१९	मल्लिनाथ	* एक अहोरात्र	एक अहोरात्र	छः दिन	छः दिन	छः दिन
२०	मुनिसुव्रत	ग्यारह महीना	ग्यारह महीना	ग्यारह मास	ग्यारह मास	ग्यारह मास
२१	नमिनाथ	नव महीना	नव मास	नव वर्ष	नव मास	नव वर्ष
२२	अरिष्टनेमि	चौपन दिन	चौपन दिन	छप्पन दिन	छप्पन दिन	छप्पन दिन
२३	पार्श्वनाथ	चौरासी दिन	चौरासी दिन	चार मास	चार मास	चार मास
२४	महावीर	साढ़े बारह वर्ष पन्द्रह दिन	साढ़े बारह वर्ष	बारह वर्ष	बारह वर्ष	बारह वर्ष

* जं चेव दिवसं पव्वइये तस्सेव दिवसस्स पुव्वावरह्णकालसमयंसि···केवलवर नाणदंसणे समुप्पन्ने।

— ज्ञाता., श्रु. १, अ. ८, सूत्र

केवलज्ञान-तिथि

तीर्थंकर	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ		दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
	आव० नि०	सत्त० द्वार ८७ गा. १७९-८३	तिलोय पण्णत्ती चौ. महा. गाथा ६७९ से ७०१	हरिवंश पुराण ४२५ पृ.	उत्तर पुराण
ऋषभदेव	फा. कृ. ११ उत्तरा.	फाल्गुन कृ. ११	फाल्गुनकृ.११	फाल्गुनकृ.११	फाल्गुनकृ.११
अजितनाथ	पो. शु. ११ रोहिणी	पोष शु. ११	पोष शु. १४	पौष शु. १४	पौष शु. ११
संभवनाथ	का. कृ, ५ मृग.	कार्तिक कृ.५	कार्तिक कृ. ५	कार्तिक कृ. ५	कार्तिक कृ.४
अभिनन्दन	पो.शु. १४अभि.	पोष शु. १४	कार्तिक शु. ५	पौष शु. १५	पौष शु. १४
सुमतिनाथ	चै.शु. ११ मघा.	चैत्र शु. ११	पोष शु. १५	चैत्र शु. १०	चैत्र शु. ११
पद्मप्रभ	चै.शु.१५ चित्रा	चैत्र शु. १५	वैशाख शु.१०	चैत्र शु. १०	चैत्र शु. १५
सुपार्श्वनाथ	फा.कृ.६ विशा.	फा. कृ. ६	फाल्गुनकृ. ७	फाल्गुन कृ. ७	फाल्गुन कृ.६
चन्द्रप्रभ	फा.कृ.७ अनु.	फाल्गुन कृ. ७	फाल्गुन कृ. ७	फाल्गुन कृ. ७	फाल्गुन कृ.७
सुविधिनाथ	का. शु. ३ मूल	कार्तिक शु. ३	कार्तिक शु. ३	कार्तिक शु. ३	कार्तिक शु.२
शीतलनाथ	पो.कृ.१४पू. षा.	पोष कृ. १४	पोष कृ. १४	पौष कृ. १४	पौष कृ. १४
श्रेयांसनाथ	माघ.कृ.३०श्रव.	माघ कृ. ३०	माघ कृ. ३०	माघ कृ. ३०	माघ कृ. ३०
वासुपूज्य	मा. शु. २ शत.	माघ शु. २	माघ शु. २	माघ शु. २	माघ शु. २
विमलनाथ	पो.शु.६ उ.भा.	पोष शु. ६	पोष शु. १०	पौष कृ. १०	माघ शु. ६
अनन्तनाथ	वै. कृ.१४रेवती	वैशाखकृ. १४	चैत्र कृ. ३०	चैत्र कृ. ३०	चैत्र कृ.३०
धर्मनाथ	पो.शु.१५ पुष्य	पोष शु. १५	पोष शु. १५	पौष शु. १५	पौष शु. १५
शान्तिनाथ	पो.शु.९ भरणी	पोष शु. ९	पोष शु. ११	पौष शु. ११	पौष शु. १०
कुंथुनाथ	चै. शु.३ कृत्ति.	चैत्र शु. ३	चैत्र शु. ३	चैत्र शु. ३	चैत्र शु. ३
अरनाथ	का.शु. १२रेव.	कार्तिकशु.१२	कार्तिक शु.१२	कार्तिक शु.१२	कार्तिक शु. १२
मल्लिनाथ	मृ.शु.११आश्वि.	मृगशीर्ष शु.११	फाल्गुन कृ.१२	फाल्गुन कृ.११	मार्ग. शु. ११
मुनिसुव्रत	फा.कृ.१२श्रवण	फाल्गुन कृ.१२	फाल्गुन कृ. ६	फाल्गुन. कृ.६	वैशाख कृ. ९
नमिनाथ	मृ.शु.११अश्वि.	मृगशीर्ष शु.११	चैत्र शु. ३	चैत्र शु. ३	मार्ग. शु. ११
अरिष्टनेमि	आश्वि. कृ. ३० चित्रा	आसोज कृ. ३०	आसोज शु. १	आश्वि. शु.१	आसोज कृ. ३०
पार्श्वनाथ	चै.कृ. ४ विशा.	चैत्र कृ.४	चैत्र कृ. ४	चैत्र कृ. ४	चैत्र कृ. १३
महावीर	वै.शु.१०हस्तो०	वैशाख शु. १०	वैशाखशु. १०	वैशाख शु. १०	वैशाख शु.१०
	गा.२६३से२७४		पृ.२२७-२३०		

तीर्थंकरों के केवलज्ञान-नक्षत्र

क्र०सं०	नाम तीर्थंकर	श्वेताम्बर	दिगम्बर
१	ऋषभदेव	उत्तराषाढ़ा	उत्तराषाढ़ा
२	अजितनाथ	रोहिणी	रोहिणी
३	संभवनाथ	मृगशीर्ष	ज्येष्ठा
४	अभिनन्दन	अभिजित	पुनर्वसु
५	सुमतिनाथ	मघा	हस्त
६	पद्मप्रभ	चित्रा	चित्रा
७	सुपार्श्वनाथ	विशाखा	विशाखा
८	चन्द्रप्रभ	अनुराधा	अनुराधा
९	सुविधिनाथ	मूल	मूल
१०	शीतलनाथ	पूर्वाषाढ़ा	पूर्वाषाढ़ा
११	श्रेयांसनाथ	श्रवण	श्रवण
१२	वासुपूज्य	शतभिषा	विशाखा
१३	विमलनाथ	उत्तरभाद्रपद	उत्तराषाढ़ा
१४	अनन्तनाथ	रेवती	रेवती
१५	धर्मनाथ	पुष्य	पुष्य
१६	शान्तिनाथ	भरणी	भरणी
१७	कुंथुनाथ	कृत्तिका	कृत्तिका
१८	अरनाथ	रेवती	रेवती
१९	मल्लिनाथ	अश्विनी	अश्विनी
२०	मुनिसुव्रत	श्रवण	श्रवण
२१	नमिनाथ	अश्विनी	अश्विनी
२२	अरिष्टनेमि	चित्रा	चित्रा
२३	पार्श्वनाथ	विशाखा	विशाखा
२४	महावीर	उत्तराफाल्गुनी	मघा

केवलज्ञान-स्थल

क्र.	नाम तीर्थंकर	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ	दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ	
		सप्ततिशतस्थान गा. १८४-१८५	उत्तर पुराण	तिलोय पण्णत्ती गाथा. ६७६-७०१
१	ऋषभदेव	पुरिमताल नगरी (शकटमुख उद्यान)	पुरिमताल	पुरिमतालनगर
२	अजितनाथ	अयोध्यानगरी	—	सहेतुकवन
३	संभवनाथ	श्रावस्ती	सहेतुकवन	सहेतुकवन
४	अभिनन्दन	अयोध्या	अग्रउद्यान	उग्रवन
५	सुमतिनाथ	अयोध्या	सहेतुकवन	सहैतुकवन
६	पद्मप्रभ	कौशाम्वी	—	मनोहर उद्यान
७	सुपार्श्वनाथ	वाराणसी	सहेतुकवन	सहेतुकवन
८	चन्द्रप्रभ	चन्द्रपुरी	सर्वर्तुकवन	सर्वार्थवन
९	सुविधिनाथ	काकन्दी	पुष्पकवन	पुष्पवन
१०	शीतलनाथ	भद्दिलपुरी	—	सहेतुकवन
११	श्रेयांसनाथ	सिंहपुर	मनोहरउद्यान	मनोहरउद्यान
१२	वासुपूज्य	चम्पा	मनोहरउद्यान	मनोहरउद्यान
१३	विमलनाथ	कंपिलपुर	सहेतुकवन	सहेतुकवन
१४	अनन्तनाथ	अयोध्या	सहेतुकवन	सहेतुकवन
१५	धर्मनाथ	रत्नपुर	रत्नपुर (शालवन)	सहेतुकवन
१६	शान्तिनाथ	गजपुरम्	सहस्राम्रवन	आम्रवन
१७	कुंथुनाथ	गजपुरम्	सहेतुकवन (हस्तिनापुर)	सहेतुकवन
१८	अरनाथ	गजपुरम्	सहेतुकवन	सहेतुकवन
१९	मल्लिनाथ	मिथिला	श्वेतवन (मिथिला)	मनोहरउद्यान
२०	मुनिसुव्रत	राजगृही	नीलवन (राजगृह)	नीलवन
२१	नमिनाथ	मिथिला	चैत्रवनउद्यान (मिथिला)	चित्रवन
२२	अरिष्टनेमि	उज्जयन्त	रैवतक	ऊर्जयंतगिरि
२३	पार्श्वनाथ	वाराणसी	अश्ववन (वाराणसी)	शक्रपुर
२४	महावीर	जृंभिका नगरी ऋजु बालिका नदी पृष्ठ ४५	ऋजुकूला नदी (मनोहरवन)	ऋजुकूला नदी पृ. २२७-२३०

तीर्थंकरों के चैत्य-वृक्ष

क्र.सं.	तीर्थंकर नाम	ऊंचाई	श्वेताम्बर	दिगम्बर
			समवा. गा. ३३-३७	हरिवंश पृ. ७१९-७२१
१	ऋषभदेव	३ गव्यूति	न्यग्रोध के नीचे ज्ञानोत्पत्ति	वट
२	अजितनाथ	शरीर की ऊंचाई से बारह गुना	शक्तिपर्ण	सप्तपर्ण
३	संभवनाथ		शाल	शाल
४	अभिनन्दन	"	पियय	सरल
५	सुमतिनाथ	"	प्रियंगु	प्रियंगु
६	पद्मप्रभ	"	छत्राभ	प्रियंगु
७	सुपार्श्वनाथ	"	सिरीश	सिरीश
८	चन्द्रप्रभ	"	नागवृक्ष	नागवृक्ष
९	सुविधिनाथ	"	माली	शाली
१०	शीतलनाथ	"	पिलक्खु	प्लक्ष
११	श्रेयांसनाथ	"	तिन्दुक	तिन्दुक
१२	वासुपूज्य	"	पाटल	पाटला
१३	विमलनाथ	"	जम्बु	जामुन
१४	अनन्तनाथ	"	अश्वत्थ	पीपल
१५	धर्मनाथ	"	दधिपर्ण	दधिपर्ण
१६	शान्तिनाथ	"	नन्दिवृक्ष	नन्दिवृक्ष
१७	कुंथुनाथ	"	पिलक्खु	पिलक्खु
१८	अरनाथ	"	आम्र	आम्र
१९	मल्लिनाथ	"	अशोक	अशोक
२०	मुनिसुव्रत	"	चम्पक	चम्पक
२१	नमिनाथ	"	बकुल	बकुल
२२	अरिष्टनेमि	"	वेतस	मेढासींगी
२३	पार्श्वनाथ	"	धातकी	धव
२४	महावीर	३२ धनुष	साल	शाल

गणधर समुदाय

नाम तीर्थंकर	आव० नि० गा. २६६ से ६८	समवायांग	प्रवचन सारोद्धार द्वार १५	हरिवंश पुराण गा. ३४१ से ४५	तिलोय पण्णत्ती गा. ३५९ से ६३	उत्तर पुराण
ऋषभदेव	८४	८४	८४	८४	८४	८४
अजितनाथ	९५	९०	९५	९०	९०	९०
संभवनाथ	१०२	१०२	१०२	१०५	१०५	१०५
अभिनन्दन	११६	११६	११६	१०३	१०३	१०३
सुमतिनाथ	१००	१००	१००	११६	११६	११६
पद्मप्रभ	१०७	१०७	१०७	१११	१११	११०
सुपार्श्वनाथ	९५	९५	९५	९५	९५	९५
चन्द्रप्रभ	९३	९३	९३	९३	९३	९३
सुविधिनाथ	८८	८६	८८	८८	८८	८८
शीतलनाथ	८१	८३	८१	८१	८१	८७
श्रेयांसनाथ	७२	६६	७६	७७	७७	७७
वासुपूज्य	६६	६२	६६	६६	६६	६६
विमलनाथ	५७	५६	५७	५५	५५	५५
अनंतनाथ	५०	५४	५०	५०	५०	५०
धर्मनाथ	४३	४८	४३	४३	४३	४३
शान्तिनाथ	३६	९०	३६	३६	३६	३६
कुंथुनाथ	३५	३७	३५	३५	३५	३५
अरनाथ	३३	३३	३३	३०	३०	३०
मल्लिनाथ	२८	२८	२८	२८	२८	२८
मुनिसुव्रत	१८	१८	१८	१८	१८	१८
नमिनाथ	१७	—	१७	१७	१७	१७
अरिष्टनेमि*	११	—	११	११	११	११
पार्श्वनाथ	१०	८	१०	१०	१०	१०
महावीर	११	११	११	११	११	११

(क) कल्पसूत्र में भगवान् अरिष्टनेमि के गणधरों की संख्या १८ दी गई है।
(ख) अरिष्टनेमेरेकादश नेमिनाथस्याष्टादशेति केचिन्मन्यन्ते। प्रव०, पृ० ८६, भाग – १

प्रथम-शिष्य

क्र.सं.	नाम तीर्थंकर	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ			दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ	
		प्रचवन सारोद्धार ८ द्वार गा. ३०४-३०६	समवायांग गा. ३९-४१	सत्तरि. द्वा., १०३ द्वा. गा. २१४-२१५	हरिवंश गा. ३४६-३४९	तिलोय प. [illegible] २६४-२६६
१	ऋषभदेव	उषभसेन	उषभसेन	पुंडरीक	वृषभसेन	वृषभसेन
२	अजितनाथ	सिंहसेन	सिंहसेन	सिंहसेन	सिंहसेन	केसरीसेन
३	संभवनाथ	चारू	चारू	चारू	चारूदत्त	चारुदत्त
४	अभिनन्दन	वज्रनाभ	वज्रनाभ	वज्रनाभ	वज्रनाभ	वज्रचमर
५	सुमतिनाथ	चमर	चमर	चमरगणी	चमर	वज्र
६	पद्मप्रभ	प्रद्योत	सुव्रत	सुज्ज-सुद्योत	वज्र चमर	चमर
७	सुपार्श्वनाथ	विदर्भ	विदर्भ	विदर्भ	वली	वलदत्त
८	चन्द्रप्रभ	दिन्न पहव	दिन्न	दिन्न	दत्त	वैदर्भ
९	सुविधिनाथ	वराह	वराह	वराह	विदर्भ	नाग
१०	शीतलनाथ	प्रभुनंद	आनन्द	नंद	अनगार	कुंथु
११	श्रेयांसनाथ	कोस्तूभ	गोस्तूभ	कुच्छुभ	कुंथु	धर्म
१२	वासुपूज्य	सुभोम	सुधर्मा	सुभूम	सुधर्म	मन्दिर
१३	विमलनाथ	मन्दर	मन्दर	मन्दर	मन्दरार्य	जय
१४	अनन्तनाथ	यश	यश	यश	जय	अरिष्ठ
१५	धर्मनाथ	अरिष्ठ	अरिष्ठ	अरिष्ठ	अरिष्ठसेन	सेन
१६	शान्तिनाथ	चक्रायुध	चक्राभ	चक्रायुध	चक्रायुध	चक्रायुध
१७	कुंथुनाथ	संब	सयंभू	संव	स्वयंभू	स्वयंभू
१८	अरनाथ	कुम्भ	कुंभ	कुम्भ	कुन्थु	कुम्भ
१९	मल्लिनाथ	भिसय	इन्द्र	भिसग	विपाख	विशाख
२०	मुनिसुव्रत	मल्ली	कुम्भ	मल्ली	मल्ली	मल्ली
२१	नमिनाथ	सुंभ	शुंभ	शुंभ	सोमक	सुप्रभ
२२	अरिष्टनेमि	वरदत्त	वरदत्त	वरदत्त	वरदत्त	वरदत्त
२३	पार्श्वनाथ	अजदिन्न	दिन्न	आर्यदत्त	स्वयंभू	स्वयंभू
२४	महावीर	इन्द्रभूति	इन्द्रभूति	इन्द्रभूति	इन्द्रभूति	इन्द्रभूति

प्रथम शिष्या

तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ			दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
	समवायांग	प्रव. सा. गा. ३०७-९	सत्त. द्वा. १०४ गा. २१६-२१७	हरि. पुराण परि. ५९	तिलोय प. गा. ११७८ से ११८०	उत्तर पुराण
ऋषभदेव	ब्राह्मी	ब्राह्मी	ब्राह्मी	ब्राह्मी	ब्राह्मी	ब्राह्मी
अजितनाथ	फलगू	फलगू (फग्गू)	फग्गुणी	प्रकुब्जा	प्रकुब्जा	प्रकुब्जा
संभवनाथ	श्यामा	सामा	श्यामा	धर्मश्री	धर्मश्री	धर्मार्या
अभिनन्दन	अजीता	अजिया	अजीता	मेरूसेना	मेरूषेणा	मरूषेणा
सुमतिनाथ	कासवी	कासवी	कासवी	अनन्ता	अनन्ता	अनन्तमती
पद्मप्रभ	रति	रति	रति	रतिसेना	रतिषेणा	रात्रिषेणा
सुपार्श्वनाथ	सोमा	सोमा	सोमा	मीना	मीना	मीना
चन्द्रप्रभ	सुमना	सुमणा	सुमणा	वरुणा	वरूणा	वरुणा
सुविधिनाथ	वारूणी	वारूणी	वारूणी	घोषा	घोषा	घोषा
शीतलनाथ	सुलसा	सुजसा	सुजसा	धरणा	धरणा	धरणा
श्रेयांसनाथ	धारणी	धारिणी	धारिणी	चारणा	चारणा	धारणा
वासुपूज्य	धरणी	धरिणी	धरणी	वरसेना	वरसेना	सेना
विमलनाथ	धरणीधरा	धरा	धरा	पद्मा	पद्मा	पद्मा
अनन्तनाथ	पद्मा	पद्मा	पद्मा	सर्वश्री	सर्वश्री	सर्वश्री
धर्मनाथ	शिवा	अज्जासिवा	अज्जासिवा	सुव्रता	सुव्रता	सुव्रता
शान्तिनाथ	सुयी (श्रुती)	सुहा	सुई	हरिसेना	हरिषेणा	हरिषेणा
कुंथुनाथ	अंजुया भावितात्मा	दामणी	दामिणी	भाविता	भाविता	भाविता
अरनाथ	रखी	रक्खी	रक्खिअा	कुंतुसेना	कुंथुसेना	यक्षिला
मल्लिनाथ	बंधुमती	बंधुमती	बंधुमती	मधुसेना	मधुसेना	बंधुषेणा
मुनिसुव्रत	पुष्पवती	पुप्फवती	पुष्पवती	पूर्वदत्ता	पूर्वदत्ता	पुष्पदन्ता
नमिनाथ	अमिला	अनिला	अनिला	मार्गिणी	मार्गिणी	मंगिनी
अरिष्टनेमि	जखिणी (जक्षिणी)	जक्खदिन्ना	जक्खदिन्ना	यक्षी	यक्षिणी	यक्षी
पार्श्वनाथ	पुष्पचूला	पुप्फचूला	पुष्पचूला	सुलोका	सुलोका	सुलोचना
महावीर	चन्दना	चन्दना	चन्दनबाला	चन्दना	चन्दना	चन्दना

पृ० २९८

साधु-संख्या

क्र. सं.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ			दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
		आवश्यक निर्यु. गा. २५६-२५९	प्रवचन सार. गाथा ३३१-३३४	सत्त. द्वार. ११२ गा. २३२-२३४	हरिवंश पुराण गा. ३५२-३५६	तिलोय प.गा. १०९२ से १०९७	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	८४०००	८४०००	८४०००	८४०००	८४०००	८४०८४
२	अजितनाथ	१०००००	१०००००	१०००००	१०००००	१०००००	१००००[illegible]
३	संभवनाथ	२०००००	२०००००	२०००००	२०००००	२०००००	२००[illegible]
४	अभिनन्दन	३०००००	३०००००	३०००००	३०००००	३०००००	३००[illegible]
५	सुमतिनाथ	३२००००	३२००००	३२००००	३२००००	३२००००	३२००[illegible]
६	पद्मप्रभ	३३००००	३३००००	३३००००	३३००००	३३००००	३३००[illegible]
७	सुपार्श्वनाथ	३०००००	३०००००	३०००००	३०००००	३०००००	३०००[illegible]
८	चन्द्रप्रभ	२५००००	२५००००	२५००००	२५००००	२५००००	२५००[illegible]
९	सुविधिनाथ	२०००००	२०००००	२०००००	२०००००	२०००००	२०००[illegible]
१०	शीतलनाथ	१०००००	१०००००	१०००००	१०००००	१०००००	१०००[illegible]
११	श्रेयांसनाथ	८४०००	८४०००	८४०००	८४०००	८४०००	८४०[illegible]
१२	वासुपूज्य	७२०००	७२०००	७२०००	७२०००	७२०००	७२०[illegible]
१३	विमलनाथ	६८०००	६८०००	६८०००	६८०००	६८०००	६८००[illegible]
१४	अनन्तनाथ	६६०००	६६०००	६६०००	६६०००	६६०००	६६००[illegible]
१५	धर्मनाथ	६४०००	६४०००	६४०००	६४०००	६४०००	६४००[illegible]
१६	शान्तिनाथ	६२०००	६२०००	६२०००	६२०००	६२०००	६२००[illegible]
१७	कुंथुनाथ	६००००	६००००	६००००	६००००	६००००	६०००[illegible]
१८	अरनाथ	५००००	५००००	५००००	५००००	५००००	५०००[illegible]
१९	मल्लिनाथ	४००००	४००००	४००००	४००००	४००००	४०००[illegible]
२०	मुनिसुव्रत	३००००	३००००	३००००	३००००	३००००	३०००[illegible]
२१	नमिनाथ	२००००	२००००	२००००	२००००	२००००	२०००[illegible]
२२	अरिष्टनेमि	१८०००	१८०००	१८०००	१८०००	१८०००	१८००[illegible]
२३	पार्श्वनाथ	१६०००	१६०००	१६०००	१६०००	१६०००	१६००[illegible]
२४	महावीर	१४०००	१४०००	१४०००	१४०००	१४०००	१४००[illegible]

साध्वी-संख्या

नाम तीर्थंकर	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ		दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
	प्र. सा. द्वा. १७ गा. ३३५-३६	सत्त. द्वा. ११३ गा. २३५-२३६	हरिवंश पुराण गा. ४३२-४४०	तिलोय पण्णत्ती गा. ११६६ से ११७६	उत्तर पुराण
ऋषभदेव	३०००००	३०००००	३५००००	३५००००	३५००००
अजितनाथ	३३००००	३३००००	३२००००	३२००००	३२००००
संभवनाथ	३३६०००	३३६०००	३३००००	३३००००	३२००००
अभिनन्दन	६३००००	६३००००	३३००००	३३०६००	३३०६००
सुमतिनाथ	५३००००	५३००००	३३००००	३३००००	३३००००
पद्मप्रभ	४२००००	४२००००	४२००००	४२००००	४२००००
सुपार्श्वनाथ	४३००००	४३००००	३३००००	३३००००	३३००००
चन्द्रप्रभ	३८००००	३८००००	३८००००	३८००००	३८००००
सुविधिनाथ	१२००००	१२००००	३८००००	३८००००	३८००००
शीतलनाथ	१००००६	१००००६	३८००००	३८००००	३८००००
श्रेयांसनाथ	१०३०००	१०३०००	१२००००	१३००००	१२००००
वासुपूज्य	१०००००	१०००००	१०६०००	१०६०००	१०६०००
विमलनाथ	१००८००	१००८००	१०३०००	१०३०००	१०३०००
अनन्तनाथ	६२०००	६२०००	१०८०००	१०८०००	१०८०००
धर्मनाथ	६२४००	६२४००	६२४००	६२४००	६२४००
शान्तिनाथ	६१६००	६१६००	६०३००	६०३००	६०३००
कुंथुनाथ	६०६००	६०६००	६०३५०	६०३५०	६०३५०
अरनाथ	६००००	६००००	६००००	६००००	६००००
मल्लिनाथ	५५०००	५५०००	५५०००	५५०००	५५०००
मुनिसुव्रत	५००००	५००००	५००००	५००००	५००००
नमिनाथ	४१०००	४१०००	४५०००	४५०००	४५०००
अरिष्टनेमि	४००००	४००००	४००००	४००००	४००००
पार्श्वनाथ	३८०००	३८०००	३८०००	३८०००	३६०००
महावीर	३६०००	३६०००	३५०००	३६०००	३६०००

श्रावक-संख्या

क्र.सं.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रन्थ			दिगम्बर संदर्भ-ग्रन्थ		
		प्र. सा. द्वा. २४ गा. ३६४-६७	आ० नि०	सत्त. द्वा. ११४ गा. २४०-२४२	हरि. पु. गा. ४४१	तिलोय पण्णत्ती गा. ११८१ से ११८२	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	३०५०००	३०५०००	३०५०००	३०००००	३०००००	३०००००
२	अजितनाथ	२९८०००	२९८०००	२९८०००	३०००००	३०००००	३०००००
३	संभवनाथ	२९३०००	२९३०००	२९३०००	३०००००	३०००००	३०००००
४	अभिनन्दन	२८८०००	२८८०००	२८८०००	३०००००	३०००००	३०००००
५	सुमतिनाथ	२८१०००	२८१०००	२८१०००	३०००००	३०००००	३०००००
६	पद्मप्रभ	२७६०००	२७६०००	२७६०००	३०००००	३०००००	३०००००
७	सुपार्श्वनाथ	२५७०००	२५७०००	२५७०००	३०००००	३०००००	३०००००
८	चन्द्रप्रभ	२५००००	२५००००	२५००००	३०००००	३०००००	३०००००
९	सुविधिनाथ	२२९०००	२२९०००	२२९०००	२०००००	२०००००	२०००००
१०	शीतलनाथ	२८९०००	२८९०००	२८९०००	"	"	२०००००
११	श्रेयांसनाथ	२७९०००	२७९०००	२७९०००	"	"	२०००००
१२	वासुपूज्य	२१५०००	२१५०००	२१५०००	"	"	२०००००
१३	विमलनाथ	२०८०००	२०८०००	२०८०००	"	"	२०००००
१४	अनन्तनाथ	२०६०००	२०६०००	२०६०००	"	"	२०००००
१५	धर्मनाथ	२०४०००	२०४०००	२०४०००	"	"	२०००००
१६	शान्तिनाथ	२९००००	२९००००	२९००००	"	"	२०००००
१७	कुंथुनाथ	१७९०००	१७९०००	१७९०००	१०००००	१०००००	१६००००
१८	अरनाथ	१८४०००	१८४०००	१८४०००	"	"	१०००००
१९	मल्लिनाथ	१८३०००	१८३०००	१८३०००	"	"	१०००००
२०	मुनिसुव्रत	१७२०००	१७२०००	१७२०००	"	"	१०००००
२१	नमिनाथ	१७००००	१७००००	१७००००	"	"	१०००००
२२	अरिष्टनेमि	१७१०००	१६९०००	१६९०००	"	"	१०००००
२३	पार्श्वनाथ	१६४०००	१६४०००	१६४०००	"	"	१०००००
२४	महावीर	१५९०००	१५९०००	१५९०००	"	"	

श्राविका-संख्या

तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ			दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
	प्र.सा.द्वा. २५ गा. ३६८-७२	समवायांग	सत्त. द्वा. ११५ गा. २४३-२४६	हरिवंश पुराण गा. ४४२	तिलोय प. गा. ११८३	उत्तर पुराण
ऋषभदेव	५५४०००	५५४०००	५५४०००	५०००००	५०००००	५०००००
अजितनाथ	५४५०००	५४५०००	५४५०००	"	"	५०००००
संभवनाथ	६३६०००	६३६०००	६३६०००	"	"	५०००००
अभिनन्दन	५२७०००	५२७०००	५२७०००	"	"	५०००००
सुमतिनाथ	५१६०००	५१६०००	५१६०००	"	"	५०००००
पद्मप्रभ	५०५०००	५०५०००	५०५०००	"	"	५०००००
सुपार्श्वनाथ	४९३०००	४९३०००	४९३०००	"	"	५०००००
चन्द्रप्रभ	४९१०००	४९१०००	४९१०००	"	"	५०००००
सुविधिनाथ	४७१०००	४७१०००	४७१०००	४०००००	४०००००	५०००००
शीतलनाथ	४५८०००	४५८०००	४५८०००	"	"	३०००००
श्रेयांसनाथ	४४८०००	४४८०००	४४८०००	"	"	४०००००
वासुपूज्य	४३६०००	४३६०००	४३६०००	"	"	४०००००
विमलनाथ	४२४०००	४२४०००	४२४०००	"	"	४०००००
अनन्तनाथ	४१४०००	४१४०००	४१४०००	"	"	४०००००
धर्मनाथ	४१३०००	४१३०००	४१३०००	"	"	४०००००
शान्तिनाथ	३९३०००	३९३०००	३९३०००	"	"	४०००००
कुंथुनाथ	३८१०००	३८१०००	३८१०००	३०००००	३०००००	३०००००
अरनाथ	३७२०००	३७२०००	३७२०००	"	"	३०००००
मल्लिनाथ	३७००००	३७००००	३७००००	"	"	३०००००
मुनिसुव्रत	३५००००	३५००००	३५००००	"	"	३०००००
नमिनाथ	३४८०००	३४८०००	३४८०००	"	"	३०००००
अरिष्टनेमि	३३६०००	३३६०००	३३६०००	"	"	३०००००
पार्श्वनाथ	३३९०००	३२७०००	३३९०००	"	"	३०००००
महावीर	३१८०००	३१८०००	३१८०००	"	"	३०००००

केवल-ज्ञानी

क्र.सं.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ			दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
		प्रवचन. द्वा. २१९ गा. ३५१-३५४	सत्त. द्वा. ११६ गा. २४७-२४८	ज्ञाता	हरिवंश पुराण गा. ३५८ से ४३१	तिलोय पण्णत्ती गा. ११००-११६१	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव*	२००००	२००००	२००००	२००००	२००००	२००००
२	अजितनाथ	"	"	"	"	"	"
३	संभवनाथ	१५०००	१५०००	१५०००	१५०००	१५०००	१५०००
४	अभिनन्दन	१४०००	१४०००	१४०००	१६०००	१६०००	१६०००
५	सुमतिनाथ	१३०००	१३०००	१३०००	१३०००	१३०००	१३०००
६	पद्मप्रभु	१२०००	१२०००	१२०००	१२८००	१२०००	१२०००
७	सुपार्श्वनाथ	११०००	११०००	११०००	११३००	११०००	११०००
८	चन्द्रप्रभ	१००००	१००००	१००००	१००००	१८०००	१००००
९	सुविधिनाथ	७५००	७५००	७५००	७५००	७५००	७०००
१०	शीतलनाथ	७०००	७०००	७०००	७०००	७०००	७०००
११	श्रेयांसनाथ	६५००	६५००	६५००	६५००	६५००	६५००
१२	वासुपूज्य	६०००	६०००	६०००	६०००	६०००	६०००
१३	विमलनाथ	५५००	५५००	५५००	५५००	५५००	५५००
१४	अनन्तनाथ	५०००	५०००	५०००	५०००	५०००	५००५
१५	धर्मनाथ	४५००	४५००	४५००	४५००	४५००	४५००
१६	शान्तिनाथ	४३००	४३००	४३००	४३००	४३००	४३००
१७	कुंथुनाथ	३२००	३२००	३२००	३२००	३२००	३२००
१८	अरनाथ	२८००	२८००	२८००	२८००	२८००	२८००
१९	मल्लिनाथ	२२००	२२००	३२००	२६५०	२२००	२२००
२०	मुनिसुव्रत	१८००	१८००	१८००	१८००	१८००	१८००
२१	नमिनाथ	१६००	१६००	१६००	१६००	१६००	१६००
२२	अरिष्टनेमि*	१५००	१५००	१५००	१५००	१५००	१५००
२३	पार्श्वनाथ*	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
२४	महावीर*	७००	७००	७०००	७००	७००	७००

*जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति कालाधिकार में भगवान् ऋषभदेव की ४०००० आर्यिकाओं के सिद्ध होने का उल्लेख है।

कल्प सूत्र में भगवान् अरिष्टनेमि की ३०००, भगवान् पार्श्वनाथ की २००० और भगवान् महावीर की १४०० साध्वियों के मुक्त होने का उल्लेख है।

उपरिवर्णित सूचिपट्ट में श्वेताम्बर संदर्भ ग्रन्थों के अनुसार केवल पुरुष केवलियों की संख्या दी हुई है।

मनःपर्यवज्ञानी

तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ			दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
	प्र. द्वा. २२ गाथा ३५५-३५६	समवायांग	सत्त. द्वा. ११७ गा. २५०-२५४	हरि. पुराण गा. ३५८ से ४३१	तिलोय प. गा. ११०१ से ११६१	उत्तर पुराण
ऋषभदेव	१२७५०	१२७५०	१२७५०	१२७५०	१२७५०	१२७५०
अजितनाथ	१२५००	१२५००	१२५००	१२४००	१२४५०	१२४५०
संभवनाथ	१२१५०	१२१५०	१२१५०	१२०००	१२१५०	१२१५०
अभिनन्दन	११६५०	११६५०	११६५०	११६५०	२११६५०	११६५०
सुमतिनाथ	१०४५०	१०४५०	१०४५०	१०४००	१०४००	१०४००
पद्मप्रभ	१०३००	१०३००	१०३००	१०६००	१०३००	१०३००
सुपार्श्वनाथ	९१५०	९१५०	९१५०	९६००	९१५०	९१५०
चन्द्रप्रभ	८०००	८०००	८०००	८०००	८०००	८०००
सुविधिनाथ	७५००	७५००	७५००	६५००	७५००	७५००
शीतलनाथ	७५००	७५००	७५००	७५००	७५००	७५००
श्रेयांसनाथ	६०००	६०००	६०००	६०००	६०००	६०००
वासुपूज्य	"	"	"	"	"	६०००
विमलनाथ	५५००	५५००	५५००	९०००	५५००	५५००
अनन्तनाथ	५०००	५०००	५०००	५०००	५०००	५०००
धर्मनाथ	४५००	४५००	४५००	४५००	४५००	४५००
शान्तिनाथ	४०००	४०००	४०००	४०००	४०००	४०००
कुंथुनाथ	३३४०	८१००	३३४०	३३५०	३३५०	३३००
अरनाथ	२५५१	२५५१	२५५१	२०५५	२०५५	२०५५
मल्लिनाथ	१७५०	५७००	१७५०	२२००	१७५०	१७५०
मुनिसुव्रत	१५००	१५००	१५००	१५००	१५००	१५००
नमिनाथ	१२६०	१२६०	१२५०	१२५०	१२५०	१२५०
अरिष्टनेमि	१०००	१०००	१०००	९००	९००	९००
पार्श्वनाथ	७५०	७५०	७५०	७५०	७५०	७५०
महावीर	५००	५००	५००	५००	५००	५००

अवधि ज्ञानी

क्र.सं.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ			दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
		प्रवचन द्वा. २० गा. ३४८–३५०	सत्त. रि. द्वा. ११८ गा. २५५–२५७	समवायांग	हरिवंश पुराण गाथा ३५८–४३१	तिलोय पण्णत्ती गा. ११०० से ११६१	उत्तर (महा) पुराण
१	ऋषभदेव	९०००	९०००	९०००	९०००	९०००	९०००
२	अजितनाथ	९४००	९४००	९४००	९४००	९४००	९४००
३	संभवनाथ	९६००	९६००	९६००	९६००	९६००	९६००
४	अभिनन्दन	९८००	९८००	९८००	९८००	९८००	९८००
५	सुमतिनाथ	११०००	११०००	११०००	११०००	११०००	११०००
६	पद्मप्रभ	१००००	१००००	१००००	१००००	१००००	१००००
७	सुपार्श्वनाथ	९०००	९०००	९०००	९०००	९०००	९०००
८	चन्द्रप्रभ	८०००	८०००	८०००	८०००	८०००	८०००
९	सुविधिनाथ	८४००	८४००	८४००	८४००	८४००	८४००
१०	शीतलनाथ	७२००	७२००	७२००	७२००	७२००	७२००
११	श्रेयांसनाथ	६०००	६०००	६०००	६०००	६०००	६०००
१२	वासुपूज्य	५४००	५४००	५४००	५४००	५४००	५४००
१३	विमलनाथ	४८००	४८००	४८००	४८००	४८००	४८००
१४	अनन्तनाथ	४३००	४३००	४३००	४३००	४३००	४३००
१५	धर्मनाथ	३६००	३६००	३६००	३६००	३६००	३६००
१६	शान्तिनाथ	३०००	३०००	३०००	३०००	३०००	३०००
१७	कुंथुनाथ	२५००	२५००	९१००	२५००	२५००	२५००
१८	अरनाथ	२६००	२६००	२६००	२८००	२८००	२८००
१९	मल्लिनाथ	२२००	२२००	५९००	२२००	२२००	२२००
२०	मुनिसुव्रत	१८००	१८००	१८००	१८००	१८००	१८००
२१	नमिनाथ	१६००	१६००	३९००	१६००	१६००	१६००
२२	अरिष्टनेमि	१५००	१५००	१५००	१५००	१५००	१५००
२३	पार्श्वनाथ	१४००	१४००	१४००	१४००	१४००	१४००
२४	महावीर	१३००	१३००	१३००	१३००	१३००	१३००
					पृ० ७३५ से ७३६	पृ० २८७ से २९६	

वैक्रियलब्धि-धारी

क्र.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ		दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
		प्रवचन., द्वारा २१८ गाथा २६१–२६३	सत्तरिसय द्वा. १२० गाथा २६१–२६३	हरिवंश पुराण श्लो. ३५८–४३१	तिलोय-पण्णत्ती गा. ११०० से ११६१	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	२०६००	२०६००	२०६००	२०६००	२०६००
२	अजितनाथ	२०४००	२०४००	२०४५०	२०४००	२०४००
३	संभवनाथ	१९८००	१९८००	१९८५०	१९८००	१९८००
४	अभिनन्दन	१९०००	१९०००	१९०००	१९०००	१९०००
५	सुमतिनाथ	१८४००	१८४००	१८४००	१८४००	१८४००
६	पद्मप्रभ	१६८००	१६८००	१६३००	१६८००	१६८००
७	सुपार्श्वनाथ	१५३००	१५३००	१५१५०	१५३००	१५३००
८	चन्द्रप्रभ	१४०००	१४०००	१०४००	६००	१४०००
९	सुविधिनाथ	१३०००	१३०००	१३०००	१३०००	१३०००
१०	शीतलनाथ	१२०००	१२०००	१२०००	१२०००	१२०००
११	श्रेयांसनाथ	११०००	११०००	११०००	११०००	११०००
१२	वासुपूज्य	१००००	१००००	१००००	१००००	१००००
१३	विमलनाथ	९०००	९०००	९०००	९०००	९०००
१४	अनन्तनाथ	८०००	८०००	८०००	८०००	८०००
१५	धर्मनाथ	७०००	७०००	७०००	७०००	७०००
१६	शान्तिनाथ	६०००	६०००	६०००	६०००	६०००
१७	कुंथुनाथ	५१००	५१००	५१००	५१००	५१००
१८	अरनाथ	७३००	७३००	४३००	४३००	४३००
१९	मल्लिनाथ	२९००	२९००	१४००	२९००	२९००
२०	मुनिसुव्रत	२०००	२०००	२२००	२२००	२२००
२१	नमिनाथ	५०००	५०००	१५००	१५००	१५००
२२	अरिष्टनेमि	१५००	१५००	११००	११००	११००
२३	पार्श्वनाथ	११००	११००	१०००	१०००	१०००
२४	महावीर	७००	७००	९००	९००	९००
				पृ. ७३५–७३९	पृ. २८७–२९६	

पूर्वधारी

क्र.सं.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ: प्रवचन द्वा. २३ गा. ३६०–३६३	समवायांग	सत्त. द्वा. ११९ गा. २५८–२६०	दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ: हरिवंश पुराण गाथा ३५८–४३१	तिलोय पण्णती गा. ११०० से ११६१	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	४७५०	४७५०	४७५०	४७५०	४७५०	४७५०
२	अजितनाथ	३७२०	३७२०	२७२०	३७५०	३७५०	३७५०
३	संभवनाथ	२१५०	२१५०	२१५०	२१५०	२१५०	२१५०
४	अभिनन्दन	१५००	१५००	१५००	२५००	२५००	२५००
५	सुमतिनाथ	२४००	२४००	२४००	२४००	२४००	२४००
६	पद्मप्रभ	२३००	२३००	२३००	२३००	२३००	२३००
७	सुपार्श्वनाथ	२०३०	२०३०	२०३०	२०३०	२०३०	२०३०
८	चन्द्रप्रभ	२०००	२०००	२०००	२०००	४०००	२०००
९	सुविधिनाथ	१५००	१५००	१५००	५०००	१५००	१५०० (श्रुत केवली)
१०	शीतलनाथ	१४००	१४००	१४००	१४००	१४००	१४००
११	श्रेयांसनाथ	१३००	१३००	१३००	१३००	१३००	१३००
१२	वासुपूज्य	१२००	१२००	१२००	१२००	१२००	१२००
१३	विमलनाथ	११००	११००	११००	११००	११००	११००
१४	अनन्तनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
१५	धर्मनाथ	९००	९००	९००	९००	९००	९००
१६	शान्तिनाथ	८००	९३०	८००	८००	८००	८००
१७	कुंथुनाथ	६७०	६७०	६७०	७००	७००	७००
१८	अरनाथ	६१०	६१०	६१०	६००	६१०	६१०
१९	मल्लिनाथ	५६८	५६८	६६८	७५०	५५०	५५०
२०	मुनिसुव्रत	५००	५००	५००	५००	५००	५००
२१	नमिनाथ	४५०	४५०	४५०	४५०	४५०	४५०
२२	अरिष्टनेमि	४००	४००	४००	४००	४००	४००
२३	पार्श्वनाथ	३५०	३५०	३५०	३५०	३५०	३५०
२४	महावीर	३००	३००	३००	३००	३००	३००
					पृ. ७३५–७३९	पृ. २८७–२९६	

वादी

तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ			दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
	प्रवचन. द्वा. १६ गा. ३४४-३४७	समवायांग	सत्त. द्वा. १२१ गा. २६४-२६६	हरिवंश पुराण श्लो. ३५८ ४३१	तिलोय प. गा. ११०० से ११६१	उत्तर पुराण
ऋषभदेव	१२६५०	१२६५०	१२६५०	१२७५०	१२७५०	१२७५०
अजितनाथ	१२४००	१२४००	१२४००	१२४००	१२४००	१२४००
संभवनाथ	१२०००	१२०००	१२०००	१२१००	१२०००	१२०००
अभिनन्दन	११०००	११०००	११०००	११६५०	९०००	११०००
सुमतिनाथ	१०६५०	१०६५०	१०४५०	१०४५०	१०४५०	१०४५०
पद्मप्रभ	९६००	९६००	९६००	९०००	९६००	९६००
सुपार्श्वनाथ	८४००	८६००	८४००	८०००	८६००	८६००
चन्द्रप्रभ	७६००	७६००	७६००	७६००	७०००	७६००
सुविधिनाथ	६०००	६०००	६०००	७६००	६६००	६६००
शीतलनाथ	५८००	५८००	५८००	५७००	५७००	५८००*
श्रेयांसनाथ	५०००	५०००	५०००	५०००	५०००	५०००
वासुपूज्य	४७००	४७००	४२००	४२००	४२००	४२००
विमलनाथ	३२००	३२००	३६००	३६००	३६००	३६००
अनन्तनाथ	३२००	३२००	३२००	३२००	३२००	३२००
धर्मनाथ	२८००	२८००	२८००	२८००	२८००	२८००
शान्तिनाथ	२४००	२४००	२४००	२४००	२४००	२४००
कुंथुनाथ	२०००	२०००	२०००	२०००	२०००	२०५०
अरनाथ	१६००	१६००	१६००	१६००	१६००	१६००
मल्लिनाथ	१४००	१४००	१४००	२२००	१४००	१४००
मुनिसुव्रत	१२००	१२००	१२००	१२००	१२००	१२००
नमिनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
अरिष्टनेमि	८००	८००	८००	८००	८००	८००
पार्श्वनाथ	६००	६००	६००	६००	६००	६००
महावीर	४००	४००	४००	४००	४००	४००
				पृ. ७३५ से ७३९	पृ. २८७ से २९६	

*शून्य द्वर्यद्विपञ्चोक्त वादि मुख्यांचितक्रमः ।। उत्तर पुराण, पर्व ५६ श्लो० ५३

साधक जीवन

क्र.सं.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ		दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ
		आवश्यक निर्युक्ति गा. २९४-२९८	सत्त. १४५ गाथा २९९-३०१	हरिवंश पुराण पृ० ७३२
१	ऋषभदेव	१ लाख पूर्व	१ लाख पूर्व	१ लाख पूर्व
२	अजितनाथ	१ लाख पूर्व एक पूर्वांग कम	१ लाख पूर्व १ पूर्वांग कम	१ लाख पूर्व १ पूर्वांग कम
३	संभवनाथ	१ लाख पूर्व ४ पूर्वांग कम	१ लाख पूर्व ४ पूर्वांग कम	१ लाख पूर्व ४ पूर्वांग कम
४	अभिनन्दन	१ लाख पूर्व ८ पूर्वांग कम	१ लाख पूर्व ८ पूर्वांग कम	१ लाख पूर्व ८ पूर्वांग कम
५	सुमतिनाथ	१ लाख पूर्व १२ पूर्वांग कम	१ लाख पूर्व १२ पूर्वांग कम	१ लाख पूर्व १२ पूर्वांग कम
६	पद्मप्रभ	१ लाख पूर्व १६ पूर्वांग कम	१ लाख पूर्व १६ पूर्वांग कम	१ लाख पूर्व १६ पूर्वांग कम
७	सुपार्श्वनाथ	१ लाख पूर्व २० पूर्वांग कम	१ लाख पूर्व २० पूर्वांग कम	१ लाख पूर्व २० पूर्वांग कम
८	चन्द्रप्रभ	१ लाख पूर्व २४ पूर्वांग कम	१ लाख पूर्व २४ पूर्वांग कम	१ लाख पूर्व २४ पूर्वांग कम
९	सुविधिनाथ	१ लाख पूर्व २८ पूर्वांग कम	१ लाख पूर्व २८ पूर्वांग कम	१ लाख पूर्व २८ पूर्वांग कम
१०	शीतलनाथ	२५००० पूर्व	२५ हजार पूर्व	२५ हजार पूर्व
११	श्रेयांसनाथ	२१००००० वर्ष	२१ लाख वर्ष	२१ लाख वर्ष
१२	वासुपूज्य	५४ लाख वर्ष	५४ लाख वर्ष	५४ लाख वर्ष
१३	विमलनाथ	१५ लाख वर्ष	१५ लाख वर्ष	१५ लाख वर्ष
१४	अनन्तनाथ	साढ़े सात लाख वर्ष	साढ़े सात लाख वर्ष	साढ़े सात लाख वर्ष
१५	धर्मनाथ	ढ़ाई लाख वर्ष	ढ़ाई लाख वर्ष	ढ़ाई लाख वर्ष
१६	शान्तिनाथ	२५ हजार वर्ष	२५ हजार वर्ष	२५ हजार वर्ष
१७	कुंथुनाथ	२३ हजार सात सौ पचास वर्ष	२३ हजार ७५० वर्ष	२७३५० वर्ष
१८	अरनाथ	२१ हजार वर्ष	२१ हजार वर्ष	२१ हजार वर्ष
१९	मल्लिनाथ	५४ हजार नौ सौ वर्ष	५४ हजार नौ सौ वर्ष	५४९०० वर्ष
२०	मुनिसुव्रत	साढ़े सात हजार वर्ष	साढ़े सात हजार वर्ष	साढ़े सात हजार वर्ष
२१	नमिनाथ	ढ़ाई हजार वर्ष	ढ़ाई हजार वर्ष	ढ़ाई हजार वर्ष
२२	अरिष्टनेमि	सात सौ वर्ष	सात सौ वर्ष	सात सौ वर्ष
२३	पार्श्वनाथ	सित्तर वर्ष	सित्तर वर्ष	सित्तर वर्ष
२४	महावीर	४२ वर्ष	४२ वर्ष	४२ वर्ष

आयु प्रमाण

तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ			दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
	आव. नि. गाथा ३२५-३२७	सत्त. द्वा. ४६ गाथा ३०२-३०३	प्र. गा. ३८५-३८७	हरि. पुराण गा. ३१२ से ३१६	ति. प. गा. ५७९ से ५८२	उत्तर पुराण
ऋषभदेव	८४ लाख पू.	८४ लाख पू.	८४ लाख पू.	८४ लाख पू.	८४ लाख पू.	८४ लाख पू.
अजितनाथ	७२ ,, ,,	७२ ,, ,,	७२ ,, ,,	७२ ,, ,,	७२ ,, ,,	७२ लाख पू.
संभवनाथ	६० ,, ,,	६० ,, ,,	६० ,, ,,	६० ,, ,,	६० ,, ,,	६० ,, ,,
अभिनन्दन	५० ,, ,,	५० ,, ,,	५० ,, ,,	५० ,, ,,	५० ,, ,,	५० ,, ,,
सुमतिनाथ	४० ,, ,,	४० ,, ,,	४० ,, ,,	४० ,, ,,	४० ,, ,,	४० लाख पू.
पद्मप्रभ	३० ,, ,,	३० ,, ,,	३० ,, ,,	३० ,, ,,	३० ,, ,,	३० लाख पू.
सुपार्श्वनाथ	२० ,, ,,	२० ,, ,,	२० ,, ,,	२० ,, ,,	२० ,, ,,	२० लाख पू.
चन्द्रप्रभ	१० ,, ,,	१० ,, ,,	१० ,, ,,	१० ,, ,,	१० ,, ,,	१० लाख पू.
सुविधिनाथ	२ ,, ,,	२ ,, ,,	२ ,, ,,	२ ,, ,,	२ ,, ,,	२ लाख पू.
शीतलनाथ	१ ,, ,,	१ ,, ,,	१ ,, ,,	१ ,, ,,	१ ,, ,,	१ लाख पू.
श्रेयांसनाथ	८४ लाख व.	८४ लाख व.	८४ लाख व.	८४ लाख व.	८४ लाख व.	८४ लाख व.
वासुपूज्य	७२ ,, ,,	७२ ,, ,,	७२ ,, ,,	७२ ,, ,,	७२ ,, ,,	७२ लाख व.
विमलनाथ	६० ,, ,,	६० ,, ,,	६० ,, ,,	६० ,, ,,	६० ,, ,,	६० लाख व.
अनन्तनाथ	३० ,, ,,	३० ,, ,,	३० ,, ,,	३० ,, ,,	३० ,, ,,	३० लाख व.
धर्मनाथ	१० ,, ,,	१० ,, ,,	१० ,, ,,	१० ,, ,,	१० ,, ,,	१० लाख व.
शान्तिनाथ	१ ,, ,,	१ ,, ,,	१ ,, ,,	१ ,, ,,	१ ,, ,,	१ लाख व.
कुंथुनाथ	९५ ह. वर्ष	९५ ह. वर्ष	९५ ह. वर्ष	९५ ह. वर्ष	९५ ह. वर्ष	९५ ह. वर्ष
अरनाथ	८४ ,, ,,	८४ ,, ,,	८४ ,, ,,	८४ ,, ,,	८४ ,, ,,	८४००० वर्ष
मल्लिनाथ	५५ ,, ,,	५५ ,, ,,	५५ ,, ,,	५५ ,, ,,	५५ ,, ,,	५५,००० वर्ष
मुनिसुव्रत	३० ,, ,,	३० ,, ,,	३० ,, ,,	३० ,, ,,	३० ,, ,,	३०,००० वर्ष
नमिनाथ	१० ,, ,,	१० ,, ,,	१० ,, ,,	१० ,, ,,	१० ,, ,,	१०,००० वर्ष
अरिष्टनेमि	१ ,, ,,	१ ,, ,,	१ ,, ,,	१ ,, ,,	१ ,, ,,	१,००० वर्ष
पार्श्वनाथ	१०० वर्ष	१०० वर्ष	१०० वर्ष	१०० वर्ष	१०० वर्ष	१०० वर्ष
महावीर	७२ वर्ष	७२ वर्ष	७२ वर्ष	७२ वर्ष	७२ वर्ष	७२ वर्ष

तीर्थंकरों के माता-पिता की गति

क्रमांक	तीर्थंकर नाम	माता का नाम	माता की गति	पिता का नाम	पिता की गति
१	ऋषभदेव	मरुदेवी	सिद्ध	नाभि	नागकुमार
२	अजितनाथ	विजया	,,	जित शत्रु	दूसरे देवलोक इशान में
३	संभवनाथ	सेना	,,	जितारि	,,
४	अभिनन्दन	सिद्धार्थी	,,	संवर	,,
५	सुमतिनाथ	मंगला	,,	मेघ	,,
६	पद्मप्रभ	सुसीमा	,,	धर	,,
७	सुपार्श्वनाथ	पृथिवी	,,	प्रतिष्ठ	,,
८	चन्द्रप्रभ	लक्षणा	,,	महासेन	,,
९	सुविधिनाथ	रामा	तृतीय सनत्कुमार देवलोक में	सुग्रीव	तीसरे देवलोक सनत्कुमार
१०	शीतलनाथ	नन्दा	,,	दृढरथ	,,
११	श्रेयांसनाथ	विष्णुदेवी	,,	विष्णु	,,
१२	वासुपूज्य	जया	,,	वसुपूज्य	,,
१३	विमलनाथ	श्यामा	,,	कृतवर्मा	,,
१४	अनंतनाथ	सुयशा	,,	सिंहसेन	,,
१५	धर्मनाथ	सुव्रता	,,	भानु	,,
१६	शान्तिनाथ	अचिरा	,,	विश्वसेन	,,
१७	कुंथुनाथ	श्री	चौथे माहेन्द्र देवलोक में	शूर	चौथे देवलोक माहेन्द्र में
१८	अरनाथ	देवी	,,	सुदर्शन	,,
१९	मल्लिनाथ	प्रभावती	,,	कुम्भ	,,
२०	मुनिसुव्रत	पद्मावती	,,	सुमित्र	,,
२१	नमिनाथ	वप्रा	,,	विजय	,,
२२	अरिष्टनेमि*	शिवा	,,	समुद्रविजय	,,
२३	पार्श्वनाथ	वामा	,,	अश्वसेन	,,
२४	महावीर	१ त्रिशला	,,	१ सिद्धार्थ	आचारांग सूत्र में इन दोनों का बारहवे स्वर्ग में जाने का उल्लेख है
		२ देवानन्दा	२ सिद्ध	२ ऋषभदत्त	२ सिद्ध

(१) जितशत्रु शिवं प्राप, सुमित्रस्त्रिदिवं गतः ।।

(२) महावीर के प्रथम माता-पिता के मुक्त होने का ······सत्तरिसय द्वार आदि में उल्लेख है। तीर्थंकरों के पिता एवं माताओं की गति के सम्बन्ध में दिगम्बर एवं श्वेताम्बर परम्परा में मूल भेद तो यह है कि दिगम्बर परम्परा स्त्री-मुक्ति नहीं मानती।

निर्वाण-तप

क्र० सं०	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ		दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ
		प्रवचन द्वार ४५ गा. ४५६	सत्त १५३ द्वार गा० ३१७	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	६ उपवास	६ उपवास	चौदह दिन
२	अजितनाथ	मासिक तप	मासिक तप	मासिक तप
३	संभवनाथ	" "	" "	" "
४	अभिनन्दन	" "	" "	" "
५	सुमतिनाथ	" "	" "	" "
६	पद्मप्रभ	" "	" "	" "
७	सुपार्श्वनाथ	" "	" "	" "
८	चन्द्रप्रभ	" "	" "	" "
९	सुविधिनाथ	" "	" "	—
१०	शीतलनाथ	" "	" "	" "
११	श्रेयांसनाथ	" "	" "	" "
१२	वासुपूज्य	" "	" "	" "
१३	विमलनाथ	" "	" "	" "
१४	अनन्तनाथ	" "	" "	" "
१५	धर्मनाथ	" "	" "	" "
१६	शान्तिनाथ	" "	" "	" "
१७	कुंथुनाथ	" "	" "	" "
१८	अरनाथ	" "	" "	" "
१९	मल्लिनाथ	" "	" "	" "
२०	मुनिसुव्रत	" "	" "	" "
२१	नमिनाथ	" "	" "	" "
२२	अरिष्टनेमि	" "	" "	" "
२३	पार्श्वनाथ	" "	" "	" "
२४	महावीर	२ उपवास	२ उपवास	—

निर्वाण-तिथि

क्र. सं.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रन्थ		दिगम्बर संदर्भ-ग्रन्थ		
		प्रवच०	सत्त. द्वा. १४७ गा. ३०६-३१०	हरिवंश पुराण गा. २६६-२७५	तिलोय प. गा. ११८४-१२०८	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	माघ कृ. १४	माघ कृ. १३	माघ कृ. १४	माघ कृ. १४	माघ कृ. १४
२	अजितनाथ	चैत्र शु. ५	चैत्र शु. ५	चैत्र शु. ५	चैत्र शु. ५	चैत्र शु. ५
३	संभवनाथ	चैत्र शु. ६	चैत्र शु. ५	चैत्र शु. ६	चैत्र शु. ६	चैत्र शु. ६
४	अभिनन्दन	वैशाख शु. ७	वैशाख शु. ८	वैशाख शु. ७	वैशाख शु. ७	वैशाख शु. ६
५	सुमतिनाथ	चैत्र शु. १०	चैत्र शु. ९	चैत्र शु. १०	चैत्र शु. १०	चैत्र शु. ११
६	पद्मप्रभ	फाल्गुन कृ. ४	मार्गशीर्ष कृ. ११	फाल्गुन कृ. ४	फाल्गुन कृ. ४	फाल्गुन कृ. ४
७	सुपार्श्वनाथ	फाल्गुन कृ. ६	फाल्गुन कृ. ७	फाल्गुन कृ. ६	फाल्गुन कृ. ६	फाल्गुन कृ. ७
८	चन्द्रप्रभ	भादवा शु. ७	भादवा कृ. ७	भादवा शु. ७	भादवा शु. ७	फाल्गुन शु. ७
९	सुविधिनाथ	भादवा शु. ८	भादवा शु. ९	भादवा शु. ८	आसोज शु. ८	भादवा शु. ८
१०	शीतलनाथ	आश्विन शु. ५	वैशाख कृ. २	आश्विन शु. ५	कार्तिक शु. ५	आश्विन शु. ८
११	श्रेयांसनाथ	श्रावण शु. १५	श्रावण कृ. ३	श्रावण शु. १५	श्रावण शु. १५	श्रावण शु. १५
१२	वासुपूज्य	फाल्गुन शु. ५	आषाढ़ शु. १४	फाल्गुन शु. ५	फाल्गुन कृ. ५	भाद्रपद शु. १४
१३	विमलनाथ	आषाढ़ कृ. ८	आषाढ़ कृ. ७	आषाढ़ कृ. ८	आषाढ़ शु. ८	आषाढ़ कृ. ८
१४	अनन्तनाथ	चैत्र कृ. ३०	चैत्र शु. ५	चैत्र कृ. ३०	चैत्र कृ. ३०	चैत्र कृ. ३०
१५	धर्मनाथ	ज्येष्ठ शु. ४	ज्येष्ठ शु. ५	ज्येष्ठ शु. ४	ज्येष्ठ कृ. १४	ज्येष्ठ शु. ४
१६	शान्तिनाथ	ज्येष्ठ कृ. १४	ज्येष्ठ कृ. १३	ज्येष्ठ कृ. १४	ज्येष्ठ कृ. १४	ज्येष्ठ कृ. १४
१७	कुंथुनाथ	वैशाख शु. १	वैशाख कृ. १	वैशाख शु. १	वैशाख शु. १	वैशाख शु. १
१८	अरनाथ	चैत्र कृ. १५	मार्गशीर्ष शु. १०	चैत्र कृ. ३०	चैत्र कृ. ३०	चैत्र कृ. ३०
१९	मल्लिनाथ	फाल्गुन शु. १०	फाल्गुन शु. १२	फाल्गुन शु. ५	फाल्गुन कृ. ५	फाल्गुन शु. ५
२०	मुनिसुव्रत	फाल्गुन कृ. १२	ज्येष्ठ कृ. ९	फाल्गुन कृ. १२	फाल्गुन कृ. १२	फाल्गुन कृ. १२
२१	नमिनाथ	वैशाख कृ. १४	वैशाख कृ. १०	वैशाख कृ. १४	वैशाख कृ. १४	वैशाख कृ. १४
२२	अरिष्टनेमि	आषाढ़ शु. ८	आषाढ़ शु. ८	आषाढ़ शु. ८	आषाढ़ कृ. ८	आषाढ़ शु. ७
२३	पार्श्वनाथ	श्रावण शु. ७	श्रावण शु. ८	श्रावण शु. ७	श्रावण शु. ७	श्रावण शु. ७
२४	महावीर	कार्तिक कृ. १४	कार्तिक कृ. ३०	कार्तिक कृ. १४	कार्तिक कृ. १४	
				पृ. ७२५ से ७२६	पृ. २९९ से ३०२	

तीर्थंकरों के निर्वाण नक्षत्र

क्र.	नाम तीर्थंकर	श्वेताम्बर परम्परा	दिगम्बर परम्परा
१	ऋषभदेव	अभिजित	उत्तराषाढ़ा
२	अजितनाथ	मृगशीर्ष	भरणी
३	संभवनाथ	आर्द्रा	ज्येष्ठा
४	अभिनन्दन	पुष्य	पुनर्वसु
५	सुमतिनाथ	पुनर्वसु	मघा
६	पद्मप्रभ	चित्रा	चित्रा
७	सुपार्श्वनाथ	अनुराधा	अनुराधा
८	चन्द्रप्रभ	ज्येष्ठा	ज्येष्ठा
९	सुविधिनाथ	मूल	मूल
१०	शीतलनाथ	पूर्वाषाढ़ा	पूर्वाषाढ़ा
११	श्रेयांसनाथ	धनिष्ठा	धनिष्ठा
१२	वासुपूज्य	उत्तरा भाद्रपदा	अश्विनी
१३	विमलनाथ	रेवती	पूर्वभाद्रपद
१४	अनन्तनाथ	रेवती	रेवती
१५	धर्मनाथ	पुष्य	पुष्य
१६	शान्तिनाथ	भरणी	भरणी
१७	कुंथुनाथ	कृत्तिका	कृत्तिका
१८	अरनाथ	रेवती	रेवती
१९	मल्लिनाथ	भरणी	भरणी
२०	मुनिसुव्रत	श्रवण	श्रवण
२१	नमिनाथ	अश्विनी	अश्विनी
२२	अरिष्टनेमि	चित्रा	चित्रा
२३	पार्श्वनाथ	विशाखा	विशाखा
२४	महावीर	स्वाति	स्वाति

निर्वाणस्थल

क्र.सं.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ		दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
		प्रवचन द्वार. ३४ गा. ३९२	सत्त. १५० द्वा. गा. ३१५	हरिवंश पुराण श्लो. १८२ से २०५	उत्तर पुराण	तिल्लोय प[illegible] गा. ११८४ [illegible] १२०८
१	ऋषभदेव	अष्टापद	अष्टापद	कैलाश	कैलाश	कैलाश
२	अजितनाथ	सम्मेदशिखर	सम्मेदशिखर	सम्मेदाचल	सम्मेदाचल	सम्मेदशिखर
३	संभवनाथ	"	"	"	"	"
४	अभिनन्दन	"	"	"	"	"
५	सुमतिनाथ	"	"	"	"	"
६	पद्मप्रभ	"	"	"	"	"
७	सुपार्श्वनाथ	"	"	"	"	"
८	चन्द्रप्रभ	"	"	"	"	"
९	सुविधिनाथ	"	"	"	"	"
१०	शीतलनाथ	"	"	"	"	"
११	श्रेयांसनाथ	"	"	"	"	"
१२	वासुपूज्य	चंपा	चंपा	चम्पापुरी	मन्दरगिरि मनोहरोद्यान	चम्पापुरी
१३	विमलनाथ	सम्मेदशिखर	सम्मेदशिखर	सम्मेदशिखर	सम्मेदशिखर	सम्मेदशिखर
१४	अनन्तनाथ	"	"	"	"	"
१५	धर्मनाथ	"	"	"	"	"
१६	शान्तिनाथ	"	"	"	"	"
१७	कुंथुनाथ	"	"	"	"	"
१८	अरनाथ	"	"	"	"	"
१९	मल्लिनाथ	"	"	"	"	"
२०	मुनिसुव्रत	"	"	"	"	"
२१	नमिनाथ	"	"	"	"	"
२२	अरिष्टनेमि	उज्जयंत गिरि	रेवताचल	उज्जयंत गिरि	(रैवतक) गिरनार	उज्जयंत गि[illegible]
२३	पार्श्वनाथ	सम्मेदशिखर	सम्मेदशिखर	सम्मेदशिखर	सम्मेदाचल	सम्मेदशिखर
२४	महावीर	पावापुरी	पावापुरी	पावापुरी		पावापुरी
				पृ. ७१९ से ७२०		पृ. २९९ से ३[illegible]

निर्वाण साथी

तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ			दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ		
	प्रवचन ३३ द्वार गाथा ३८८–३९१	आव० नि० गा. ३०६	सत्त. द्वार १५४ गाथा ३१८–३२०	हरिवंश पुराण श्लो. २८३–२८५	तिलोय पण्णत्ती गाथा ११८५ से १२०८	उत्तर पुराण
ऋषभदेव	१००००	१००००	१००००	१००००	१००००	अनेक
अजितनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	—
संभवनाथ	,,	,,	,,	,,	,,	१०००
अभिनन्दन	,,	,,	,,	,,	,,	अनेक
सुमतिनाथ	,,	,,	,,	,,	,,	१०००
पद्मप्रभ	३०८	३०८	३०८	३८००	३२४	१०००
सुपार्श्वनाथ	५००	५००	५००	५००	५००	१०००
चन्द्रप्रभ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
सुविधिनाथ	,,	,,	,,	,,	,,	,,
शीतलनाथ	,,	,,	,,	,,	,,	,,
श्रेयांसनाथ	,,	,,	,,	,,	,,	,,
वासुपूज्य	६००	६००	६००	६०१	६०१	९४
विमलनाथ	६०००	६०००	६०००	६०००	६००	८६००
अनन्तनाथ	७०००	७०००	७०००	७०००	७०००	६१००
धर्मनाथ	८००	८००	८००	८०१	८०१	८०९
शान्तिनाथ	९००	९००	९००	९००	९००	९०००
कुंथुनाथ	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
अरनाथ	,,	,,	,,	,,	,,	,,
मल्लिनाथ	५००	५००	५००	५००	५००	५०००
मुनिसुव्रत	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००	१०००
नमिनाथ	,,	,,	,,	,,	,,	,,
अरिष्टनेमि	५३६	५३६	५३६	५३६	५३६	५३३
पार्श्वनाथ	३३	३३	३३	५३६	३६	३६
महावीर	१	१	एकाकी	२६	एकेले	१०००[1]
				पृ० ७२६ से ७२७	पृ० २९९ से ३०२	

[1] ...मुनिसहस्रेण निर्वाणं सर्ववांछितम् । [उत्तर पुराण, पर्व ७६, श्लो. ५१२]

पूर्वभव-नाम

क्र.सं.	तीर्थंकर नाम	श्वेताम्बर संदर्भ-ग्रंथ		दिगम्बर संदर्भ-ग्रंथ	
		समवायांग	सत्त. द्वार ७ गा. ४४-४६	हरिवंशपुराण श्लो. १५०-१५५	उत्तर पुराण
१	ऋषभदेव	वज्रनाभ	वज्रनाभ	वज्रनाभि	
२	अजितनाथ	विमल	विमल वाहन	विमल	विमलवाहन
३	संभवनाथ	विमल वाहन	विपुल बल	विपुल वाहन	विमल वाहन
४	अभिनन्दन	धर्मसिंह	महाबल	महाबल	महाबल
५	सुमतिनाथ	सुमित्र	अतिबल	अतिबल	रतिषेण
६	पद्मप्रभ	धर्ममित्र	अपराजित	अपराजित	अपराजित
७	सुपार्श्वनाथ	सुन्दरबाहु	नंदिसेन	नंदिषेण	नंदिषेण
८	चन्द्रप्रभ	दीर्घबाहु	पद्म	पद्म	पद्मनाभ
९	सुविधिनाथ	युगबाहु	महापद्म	महापद्म	महापद्म
१०	शीतलनाथ	लष्टबाहु	पद्म	पद्मगुल्म	पद्मगुल्म
११	श्रेयांसनाथ	दिन्न	नलिनीगुल्म	नलिन गुल्म	नलिन प्रभ
१२	वासुपूज्य	इन्द्रदत्त	पद्मोत्तर	पद्मोत्तर	पद्मोत्तर
१३	विमलनाथ	सुन्दर	पद्मसेन	पद्मासन	पद्मसेन
१४	अनन्तनाथ	माहिन्द्र	पद्मरथ	पद्म	पद्मरथ
१५	धर्मनाथ	सिंहरथ	दृढ़रथ	दशरथ	दशरथ
१६	शान्तिनाथ	मेघरथ	मेघरथ	मेघरथ	मेघरथ
१७	कुंथुनाथ	रूक्मी (रुप्पी)	सिंहावह	सिंहरथ	सिंहरथ
१८	अरनाथ	सुदर्शन	धनपति	धनपति	धनपति
१९	मल्लिनाथ	नंदन	वैश्रमण	वैश्रवण	वैश्रवण
२०	मुनिसुव्रत	सिंहगिरि	श्रीवर्मा	श्रीधर्म	हरिवर्मा
२१	नमिनाथ	अदीन शत्रु	सिद्धार्थ	सिद्धार्थ	सिद्धार्थ
२२	अरिष्टनेमि	शंख	सुप्रतिष्ठ	सुप्रतिष्ठ	सुप्रतिष्ठ
२३	पार्श्वनाथ	सुदर्शन	आनंद	आनंद	आनन्द
२४	महावीर	नन्दन	नंदन	नंदन	नन्द

पृ० ७१७ से ७१८

तीर्थंकरों का अन्तरालकाल श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं द्वारा सम्मत

१. ऋषभदेव	तीसरे आरे के निवासी पक्ष अर्थात् ३ वर्ष साढ़े आठ मास शेष रहे तब मुक्ति पधारे
२. अजितनाथ	पचास लाख करोड़ सागर
३. संभवनाथ	तीस लाख करोड़ सागर
४. अभिनन्दन	दश लाख करोड़ सागर
५. सुमतिनाथ	नव लाख करोड़ सागर
६. पद्मप्रभ	नब्बे हजार करोड़ सागर
७. सुपार्श्वनाथ	नव हजार करोड़ सागर
८. चन्द्रप्रभ	नव सौ करोड़ सागर
९. सुविधिनाथ	नब्बे करोड़ सागर
१०. शीतलनाथ	नव करोड़ सागर
११. श्रेयांसनाथ	छासठ लाख छब्वीस हजार एक सौ सागर कम एक करोड़ सागर
१२. वासुपूज्य	चौवन सागर
१३. विमलनाथ	तीस सागर
१४. अनन्तनाथ	नव सागर
१५. धर्मनाथ	चार सागर
१६. शान्तिनाथ	पौन पल्योपम कम तीन सागर
१७. कुंथुनाथ	अर्द्ध पल्य
१८. अरनाथ	एक हजार करोड़ वर्ष कम पाव पल्य
१९. मल्लिनाथ	एक हजार करोड़ वर्ष
२०. मुनिसुव्रत	चौवन लाख वर्ष
२१. नमिनाथ	छः लाख वर्ष
२२. अरिष्टनेमि	पांच लाख वर्ष
२३. पार्श्वनाथ	तिरासी हजार सात सौ पचास वर्ष
२४. महावीर	दो सौ पचास वर्ष बाद महावीर सिद्ध हुए

तीर्थंकर और धर्म विच्छेद

१. सुविधिनाथ और शीतलनाथ के अन्तरालकाल में $\frac{1}{4}$ पाव पल्योपम तक तीर्थ (धर्म) का विच्छेद। गुणभद्र ने शीतलनाथ के तीर्थ के अन्तिम भाग में काल दोष से धर्म का नाश माना है।

२. भगवान् शीतलनाथ और श्रेयांसनाथ के अन्तरालकाल में $\frac{1}{4}$ पाव पल्योपम तक तीर्थ विच्छेद।

३. भगवान् श्रेयांसनाथ और वासुपूज्य के अन्तरालकाल में (पल्योपम सम्बन्धिनस्त्रयचतुर्भागा) पौन पल्योपम तीर्थ विच्छेद।

४. भगवान् वासुपूज्य और विमलनाथ के अन्तरालकाल में $\frac{1}{4}$ पाव पल्योपम तक तीर्थ विच्छेद।

५. भगवान् विमलनाथ और अनन्तनाथ के अन्तरालकाल में पौन पल्योपम तक तीर्थ विच्छेद रहा। जैसे कि पल्योपम सम्बन्धिनस्त्रयचतुर्भागास्तीर्थ विच्छेदः।

६. भगवान् अनन्तनाथ और धर्मनाथ के अन्तरालकाल में $\frac{1}{4}$ पाव पल्योपम तक तीर्थ विच्छेद।

७. धर्मनाथ और शान्तिनाथ के अन्तरालकाल में $\frac{1}{4}$ पाव पल्योपम तक तीर्थ विच्छेद।

तिलोयपण्णत्ती में सुविधिनाथ से सात तीर्थों में धर्म की विच्छित्ति मानी गयी है। इन सात तीर्थों में क्रम से पाव पल्य, अर्ध पल्य, पौन पल्य, पल्य, पौन पल्य, अर्ध पल्य और पाव पल्य कुल ४ पल्य धर्म तीर्थ का विच्छेद रहा। उस समय धर्म रूप सूर्य अस्त हो गया था।

(तिलोय ४) १२७८।७६।पृ० ३१३

गुणभद्र के उत्तरपुराण के अनुसार उस समय मलय देश के राजा मेघरथ का मंत्री सत्यकीर्ति जैन धर्मानुयायी था। राजा द्वारा दान कैसा हो जिज्ञासा करने पर शास्त्रदान, अभयदान और त्यागी मुनियों को अन्नदान को श्रेष्ठता बतलाई। राजा कुछ अन्य दान करना चाहता था उसको मंत्री की बात से संतोष नहीं हुआ। उस समय भूति शर्मा ब्राह्मण के पुत्र मुंडशालायन ने कहा महाराज! ये तीन दान तो मुनि या दरिद्र मनुष्य के लिये हैं। बड़ी इच्छा वाले राजाओं के तो दूसरे उत्तमदान हैं। शापानुग्रह समर्थ ब्राह्मण को पृथ्वी एवं सुवर्णादि का दान दीजिये। ऋषि प्रणीत शास्त्रों में भी इसकी महिमा बताई है उसने राजा को प्रसन्न कर अपना भक्त बना लिया। मंत्री के बहुत समझाने पर भी राजा को उसकी बात पसंद नहीं आयी। उसने मुंडशालायन द्वारा बतलाये कन्यादान, हस्तिदान, सुवर्णदान, अश्वदान, गोदान, दासीदान, तिलदान, रथदान, भूमिदान और गृहदान इन १० दानों का प्रचार किया।[1] संभव है राज्याश्रित विरोधी प्रचार और दान के प्रलोभनों से नये जैन नहीं बने हों और प्राचीन लोगों ने शनैः-शनैः धर्म परिवर्तन कर लिया हो।

[उत्तर० पर्व ७६ पृ० ६६ से ७८। श्लो० ६४ से ६६ तक]

आगामी उत्सर्पिणी काल के चौबीस तीर्थंकर

१. महापद्म	(श्रेणिक का जीव)*
२. सुरदेव	(सुपार्श्व का जीव)*
३. सुपार्श्व	उदायी*
४. स्वयंप्रभ	(पोट्टिल अणगार)*
५. सर्वानुभूति	(दृढायु)*
६. देवश्रुति	(कार्तिक)
७. उदय	(शंख)*
८. पेढालपुत्र	(नंद)
९. पोट्टिल	(सुनन्द)
१०. शतकीर्ति	शतक*
११. मुनिसुव्रत	देवकी
१२. अमम	कृष्ण
१३. सर्वभावित	सात्यकि
१४. निष्कषाय	बलदेव (कृष्ण के बड़े भाई नहीं)
१५. निष्पुलाक	रोहिणी
१६. निर्मम	सुलसा*
१७. चित्रगुप्त	रेवती*
१८. समाधि	शताली
१९. संवर	भयाली
२०. अनिवृत्ति	कृष्ण द्वैपायन
२१. विजय	नारद
२२. विमल	अम्बड़
२३. देवोपपात	दारुमृत
२४. अनन्त विजय	स्वातिबुद्ध

*तारांकित पुण्यात्माओं ने भगवान् महावीर के शासनकाल में तीर्थंकर नाम-कर्म का उपार्जन किया, यथा :— "समणस्स भगवउ महावीरस्स तित्थंसि नवहिं जीवेहिं तित्थकर-नामगोयकम्मे निव्वित्तिए तंजहा सेणिएणं, सुपासेणं, उदाइणा, पुट्टलेणं अणगारेणं, दढाउणा, संखेणं, सयएणं, सुलसाए, सावियाए रेवईए।"

[स्थानांग, ठाणा ९, (अभयदेव सूरि) पत्र ५२०, ५२१]

चक्रवर्तियों के नाम व उनका काल

१. भरत (प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के समय में)
२. सगर (द्वि० तीर्थंकर अजितनाथ के समय में)
३. मघवा (पन्द्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथजी और १६वें तीर्थंकर शान्तिनाथजी के अन्तराल काल में)
४. सनत्कुमार " " "
५. शान्तिनाथ (सोलहवें तीर्थंकर)
६. कुन्थुनाथ (सत्रहवें तीर्थंकर)
७. अरनाथ (अठारहवें तीर्थंकर)
८. सुभूम (अठारहवें तीर्थंकर व ७वें चक्रवर्ती अरनाथ व १९वें ती० मल्लिनाथ के अन्तराल काल में)
९. पद्म (२०वें तीर्थंकर मुनिसुव्रत के समय में)
१०. हरिषेण (इक्कीसवें तीर्थंकर नमिनाथ के समय में)
११. जयसेन (नमिनाथ और अरिष्टनेमि के अन्तराल काल में)
१२. ब्रह्मदत्त (अरिष्टनेमि और पार्श्वनाथ के अन्तराल काल में)

अवसर्पिणीकाल के बलदेव, वासुदेव और प्रतिवासुदे[व]

बलदेव	वासुदेव	प्रतिवासुदेव	तीर्थंकरकाल
(१) विजय	(१) त्रिपृष्ठ	(१) अश्वग्रीव	भ. श्रेयांसनाथ के तीर्थ-काल [में]
(२) अचल	(२) द्विपृष्ठ	(२) तारक	भ. वासुपूज्य " "
(३) सुधर्म	(३) स्वयम्भू	(३) मेरक	भ. विमलनाथ " "
(४) सुप्रभ	(४) पुरुषोत्तम	(४) मधुकैटभ	भ. अनन्तनाथ " "
(५) सुदर्शन	(५) पुरुषसिंह	(५) निशुम्भ	भ. धर्मनाथ " "
(६) नन्दी	(६) पुरुष पुण्डरीक	(६) बलि	भ. अरनाथ और मल्लिनाथ [के] अन्तराल काल में
(७) नन्दिमित्र	(७) दत्त	(७) प्रह्लाद*	" "
(८) राम	(८) नारायण	(८) रावण	भ. मुनिसुव्रत और भ. नमि के अन्तराल काल में
(९) पद्म	(९) कृष्ण	(९) जरासंध	भ. नेमिनाथ के शासनकाल में

* तिलोय पण्णत्ती में प्रह्लाद के स्थान पर प्रहरण नाम उल्लिखित है।

परिशिष्ट २

तिलोयपण्णत्ती में कुलकर

तिलोयपण्णत्ती में १४ कुलकरों का वर्णन करते हुए आचार्य ने उस समय के मानवों की अपने-अपने समय में आई हुई समस्याओं का कुलकरों द्वारा किस प्रकार हल हुआ, इसका बड़े विस्तार के साथ सुन्दर ढंग से वर्णन किया है। वह संक्षेप में यहां दिया जा रहा है :–

जब उस समय के मानवों ने सर्वप्रथम आकाश में चन्द्र और सूर्य को देखा तो किसी आकस्मिक घोर विपत्ति की आशंका से वे बड़े त्रस्त हुए। तब प्रथम कुलकर प्रतिश्रुति ने निर्णय करते हुए लोगों को कहा कि अनादिकाल से ये चन्द्र और सूर्य नित्य उगते एवं अस्त होते हैं पर इतने दिन तेजांग जाति के प्रकाशपूर्ण कल्पवृक्षों के कारण दिखाई नहीं देते थे। अब उन कल्पवृक्षों का प्रकाश कालक्रम से मन्द पड़ गया है अतः ये प्रकट दृष्टिगोचर होते हैं। इनकी ओर से किसी को भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है।

प्रथम मनु प्रतिश्रुति के देहावसान के कुछ काल पश्चात् सन्मति नामक द्वितीय मनु उत्पन्न हुए। उनके समय में 'तेजांग' जाति के कल्पवृक्ष नष्टप्राय हो गये। अतः सूर्यास्त के पश्चात् अदृष्टपूर्व अन्धकार और चमचमाते तारामण्डल को देखकर लोग बड़े दुःखित हुए। 'सन्मति' कुलकर ने भी लोगों को निर्भय करते हुए उन्हें यह समझाकर आश्वस्त किया कि प्रकाश फैलाने वाले कल्पवृक्षों के सर्वथा नष्ट हो चुकने से सूर्य के अस्त हो जाने पर अन्धकार हो जाता है और तारामण्डल जो पहले उन वृक्षों के प्रकाश के कारण दृष्टिगोचर नहीं होता था, अब दिखने लगा है। वास्तविक तथ्य यह है कि सूर्य, चन्द्र और तारे अपने मण्डल में मेरु पर्वत की नित्य ही प्रदक्षिणा करते रहते हैं। इसमें भय करने की कोई बात नहीं है।

कालान्तर में तृतीय कुलकर 'क्षेमंकर' के समय में व्याघ्रादि पशु समय के प्रभाव से क्रूर स्वभाव के होने लगे तो लोग बड़े त्रस्त हुए। 'क्षेमंकर' ने उन लोगों को व्याघ्रादि पशुओं का विश्वास न करने की और समूह बनाकर निर्भय रहने की सलाह दी।

इसी तरह चौथे कुलकर 'क्षेमंधर' ने अपने समय के लोगों को सिंहादि हिंसक जानवरों से बचने के लिये दण्डादि रखकर बचाव करने की शिक्षा दी।

पांचवें कुलकर 'सीमंकर' के समय में कल्पवृक्ष अल्प मात्रा में फल देने लगे। अतः स्वामित्व के प्रश्न को लेकर उन लोगों में परस्पर झगड़े होने लगे तो 'सीमंकर' ने सीमा आदि की समुचित व्यवस्था कर उन लोगों को संघर्ष से बचाया।

इन पांचों कुलकरों ने भोग-युग के समाप्त होने और कर्म-युग के आगमन की पूर्व सूचना देते हुए अपने-अपने समय के मानव-समुदाय को आने वाले कर्म-युग के अनुकूल जीवन बिताने की शिक्षा दी। अपराधियों के लिये ये 'हाकार' नीति का प्रयोग करते रहे।

छट्ठे कुलकर 'सीमंधर' ने अपने समय के कल्पवृक्षों के स्वामित्व के प्रश्न को लेकर लोगों में परस्पर होने वाले झगड़ों को शान्त कर वृक्षों को चिह्नित कर सीमाएं नियत कर दीं।

'विमल वाहन' नामक सातवें कुलकर अथवा मनु ने लोगों के गमनागमन आदि की समस्याओं का समाधान करने हेतु उन्हें हाथी आदि पशुओं को पालतू बनाकर उन पर सवारी करने की शिक्षा दी।

आठवें मनु 'चक्षुष्मान' के समय में भोगभूमिज युगल अपनी बाल-युगल संतान को देखकर बड़े भयभीत होते । चक्षुष्मान उन्हें समझाते कि ये तुम्हारे पुत्र-पुत्री हैं, इनके पूर्ण चन्द्रोपम मुखों को देखो । मनु के इस उपदेश से वे स्पष्ट रूप से अपने बाल-युगल को देखते और बच्चों का मुंह देखते ही मृत्यु को प्राप्त हो विलीन हो जाते ।

नवम मनु 'यशस्वी' ने युगलों को अपनी सन्तान के नामकरण महोत्सव करने की शिक्षा दी । उस समय के युगल अपनी युगल-संतति का नामकरण-संस्कार कर थोड़े समय बाद कालकर विलीन हो जाते थे ।

दशम कुलकर 'अभिचन्द' ने कुलों की व्यवस्था करने के साथ-साथ बालकों के रुदन को रोकने, उन्हें खिलाने, बोलना सिखाने, पालन-पोषण करने आदि की युगलियों को शिक्षा दी । ये युगल थोड़े दिन बच्चों का पोषण कर मृत्यु को प्राप्त करते ।

छट्ठे से दशवें ५ कुलकर 'हा' और 'मा' दोनों दण्ड-नीतियों का उपयोग करते थे ।

ग्यारहवें 'चन्द्राभ' नामक मनु के समय में अति शीत, तुषार और तीव्र वायु से दुखित हो भोग-भूमिज मनुष्य तुषार से आच्छन्न चन्द्रादिक ज्योतिष समूह को भी नहीं देख पाने के कारण भयभीत हो गये । मनु 'चन्द्राभ' ने उन्हें समझाया कि अब भोग-युग की समाप्ति होने पर कर्म-युग निकट आ रहा है । यह शीत और तुषार सूर्य की किरणों से नष्ट होंगे ।

बारहवें कुलकर 'मरुदेव' के समय में बादल गड़गड़ाहट और बिजली की चमक के साथ बरसने लगे । कीचड़युक्त जल-प्रवाह वाली नदियां प्रवाहित होने लगीं । उस समय का मानव-समाज यह सत्य और अभूतपूर्व घटनाएं देखकर बड़ा भय-भ्रान्त हुआ । 'मरुदेव' ने उन लोगों को काल-विभाग के सम्बन्ध में समझाते हुए कहा कि अब कर्म-भूमि (कर्मक्षेत्र) तुम्हारे सन्निकट आ चुकी है । अतः निडर होकर कर्म करो । 'मरुदेव' ने नावों से नदियां पार करने, पहाड़ों पर सीढ़ियां बनाकर चढ़ने एवं वर्षा आदि से बचने के लिये छाता आदि रखने की शिक्षा दी ।

तेरहवें मनु 'प्रसेनजित' के समय में जरायु से वेष्टित युगल बालकों के जन्म से उस समय के मानव बड़े भयभीत हुए । 'प्रसेनजित' ने जरायु हटाने और बालकों का समुचित रूप से पालन करने की उन लोगों को शिक्षा दी ।

चौदहवें मनु 'नाभिराय' के समय में बालकों का नाभि नाल बहुत लम्बा होता था । उन्होंने लोगों को उसके काटने की शिक्षा दी । इनके समय में कल्पवृक्ष नष्ट हो गये और सहज ही उत्पन्न विविध औषधियाँ, धान्यादिक और मीठे फल दृष्टिगोचर होने लगे । नाभिराय ने भूखे भयाकुल लोगों को स्वतः उत्पन्न शालि, जौ, वल्ल, तुवर, तिल और उड़द आदि के भक्षण से क्षुधा की ज्वाला शान्त करने की शिक्षा दी ।

[तिलोयपण्णत्ती, महाधिकार ४, गा० ४२१-५०९, पृ० १९७-२०६]

पंचम आरक (दिगम्बर मान्यता)

तिलोयपण्णत्ती के अनुसार एक-एक हजार वर्ष से एक-एक कल्की और पांच-पांच सौ वर्षों से एक-एक उपकल्पी होता है। कल्की अपने-अपने शासनकाल में मुनियों से भी अग्रपिंड मांगते हैं। मुनिगण उस काल के कल्की को समझाने का पूरा प्रयास करते हैं कि अग्रपिंड लेना उनके श्रमण-आचार के विपरीत और उनके लिये अकल्पनीय है पर अन्ततोगत्वा कल्कियों के दुराग्रह के कारण उस समय के मुनि अग्रपिंड दे निराहार रह जाते हैं। उन मुनियों में से किसी एक मुनि को अवधिज्ञान हो जाता है। कल्की भी क्रमशः समय-समय पर असुर द्वारा मार दिए जाते हैं। प्रत्येक कल्की के समय में चातुर्वर्ण्य संघ भी बड़ी स्वल्प संख्या में रह जाता है।

इस प्रकार धर्म, आयु, शारीरिक अवगाहना आदि की हीनता के साथ-साथ पंचम आरे की समाप्ति से कुछ पूर्व इक्कीसवां कल्की होगा। उसके समय में वीरांगज नामक मुनि, सर्वश्री नामक आर्यिका, अग्निदत्त (अग्निल) श्रावक और पंगुश्री श्राविका होंगे। कल्की अनेक जनपदों पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् अपने मंत्री से पूछेगा – "क्या मेरे राज्य में ऐसा भी कोई व्यक्ति है जो मेरे वश में नहीं है ?" उत्तर में मंत्री कहेगा – "राजराजेश्वर ! केवल एक मुनि आपके वश में नहीं हैं।"

कल्की यह सुनते ही तत्काल अपने अधिकारियों को मुनि से अग्रपिण्ड लेने का आदेश देगा। वीरांगज मुनि राज्याधिकारियों को अग्रपिण्ड देकर स्थानक की ओर लौट पड़ेंगे। उन्हें उस समय अवधिज्ञान प्राप्त हो जायगा और वे अग्निल श्रावक, पंगुश्री श्राविका और सर्वश्री आर्यिका को बुलाकर कहेंगे – "अब दुष्षमकाल का अन्त आ चुका है। तुम्हारी और मेरी अब केवल तीन दिन की आयु शेष है। इस समय जो यह राजा है, यह अन्तिम कल्की है। अतः प्रसन्नतापूर्वक हमें चतुर्विध आहार और परिग्रह आदि का त्याग कर आजीवन संन्यास ग्रहण कर लेना चाहिये।"

वे चारों तत्काल आहार, परिग्रह आदि का त्याग कर संन्यास सहित कार्तिक कृष्णा अमावस्या को स्वाति नक्षत्र में समाधि-मरण को प्राप्त होंगे और सौधर्म कल्प में देवरूप से उत्पन्न होंगे। उसी दिन मध्याह्न में कुपित हुए असुर द्वारा कल्की मार दिया जायगा और सूर्यास्तवेला में भरत क्षेत्र से उसकी सत्ता विलुप्त हो जायगी। कल्की नरक में उत्पन्न होगा। उस दिवस के ठीक तीन वर्ष और साढ़े आठ मास पश्चात् महाविषम दुष्षमादुष्षम नामक छठा आरक प्रारम्भ होगा।

[तिलोयपण्णत्ती, ४।१५१६–१५३५]

परिशिष्ट ३

पारिभाषिक शब्दार्थानुक्रमणिका

अंग — तीर्थंकरों से अर्थ (वाणी) सुनकर गणधरों द्वारा ग्रथित सूत्र ।

अकल्पनीय — सदोष अग्राह्य वस्तु ।

अघाती-कर्म — आत्मिक गुणों की हानि नहीं करने वाले आयु, नाम, गोत्र और वेदनीय नामक चार कर्म ।

अतिशय — सर्वोत्कृष्ट विशिष्ट गुण ।

अन्तराय-कर्म — लाभ आदि में बाधा पहुंचाने वाला कर्म ।

अनुत्तरोपपातिक — अनुत्तर-विमान में जाने वाले जीव ।

अपूर्वकरण गुणस्थान — आठवें गुणस्थान में स्थितिघात,, रसघात, गुणश्रेणी और गुणसंक्रमण आदि अपूर्व क्रियाएं होती हैं । अतः उसे अपूर्वकरण कहते हैं ।

अभिग्रह — गुप्त प्रतिज्ञा ।

अवग्रह — पांच इन्द्रियों एवं मन से ग्रहण किया जाने वाला मति ज्ञान का एक भेद ।

अवसर्पिणीकाल — कालचक्र का दस कोटाकोटि सागर की स्थिति वाला वह अर्द्धभाग, जिसमें पुद्गलों के वर्ण, गन्ध, रूप, रस, स्पर्श एवं प्राणियों की आयु, अवगाहना, संहनन, संस्थान, बल-वीर्य आदि का क्रमिक अपकर्ष होता है ।

अयोगी-भाव — योगरहित चौदहवें गुणस्थान में होने वाली आत्मपरिणति ।

आचाम्लव्रत — वह तपस्या जिसमें रूखा भोजन दिन में एक बार अचित जल के साथ ग्रहण किया जाता है ।

आरा-अथवा-आरक — अवसर्पिणी एवं उत्सर्पिणी के छः-छः काल-विभाग ।

उत्सर्पिणी-काल — अपकर्षोन्मुख अवसर्पिणीकाल के प्रतिलोम (उल्टे) क्रम से उत्कर्षोन्मुख दस कोटाकोटि सागरोपम की स्थिति वाला काल ।

उपांग — द्वादशांगी में वर्णित विषय को स्पष्ट करने हेतु श्रुतकेवली अथवा पूर्वधर आचार्यों द्वारा रचित आगम ।

कल्पवृक्ष — भोग-युग के मानव को सभी प्रकार की आवश्यक सामग्री देने वाले वृक्ष ।

क्षपक श्रेणी – क्रोध, मान, माया, लोभ आदि मोह-कर्म की प्रकृतियों को क्रमिक क्षय करने की पद्धति।

कालचक्र – दस कोड़ाकोड़ी सागर के एक अवसर्पिणीकाल और दस कोड़ा-कोड़ी सागर के एक उत्सर्पिणीकाल को मिलाने पर बीस कोड़ा-कोड़ी सागर का एक कालचक्र कहलाता है।

कुलकर – कुल की व्यवस्था करने वाला विशिष्ट पुरुष।

केवलज्ञान – ज्ञानावरणीय कर्म को पूर्णरूपेण क्षय करने पर बिना मन और इन्द्रियों की सहायता के केवल आत्मसाक्षात्कार से सम्पूर्ण संसार के समस्त पदार्थों की तीनों काल की सभी पर्यायों को हस्तामलक के समान युगपद् जानने वाला सर्वोत्कृष्ट पूर्णज्ञान।

गच्छ – एक आचार्य का श्रमण परिवार।

गाथापति – एक अत्यन्त वैभवशाली सम्पन्न परिवार का गृहस्वामी।

घाती-कर्म – आत्मिक गुणों की हानि करने वाले ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय नामक चार कर्म।

च्यवन – देव-गति की आयु पूर्ण कर प्राणी का अन्य गति में जाना।

छद्मस्थ – ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय नामक चार छद्म (घाती) कर्मों के आवरणों से आच्छादित आत्मा।

जातिस्मरण-ज्ञान – मति-ज्ञान का वह भेद, जिसके द्वारा प्राणी को अपने एक से लेकर नौ पूर्व-भवों का ज्ञान हो जाता है।
– एक मान्यता यह भी है कि जातिस्मरण ज्ञान से प्राणी को अपने ६०० पूर्व भवों तक का स्मरण हो सकता है।

जिन – राग-द्वेष पर पूर्ण रूप से विजय प्राप्त करने वाली आत्मा।

देवानुप्रिय – देवों का प्रिय। एक स्नेह पूर्ण सम्बोधन।

द्वादशांगी – गणधरों द्वारा ग्रथित बारह अंग शास्त्र।

निकाचित-कर्म – प्रगाढ चिक्कण कर्म-बन्ध, जिसका फल अनिवार्य रूप से भोगना ही पड़ता है।

परिणामी-नित्य – विविध अवस्थाओं में परिणमन (परिवर्तन) करते हुए भी मूल द्रव्य रूप से विद्यमान रहना।

परिषह-परीषह – क्षुधा आदि कष्ट जो साधुओं द्वारा सहन किये जायें।

पल्योपम – एक योजन (४ कोस) लम्बे, चौड़े और गहरे कुए को एक दिन से लेकर सात दिन तक की आयु वाले उत्तरकुरु के यौगलिक शिशुओं के सूक्ष्मातिसूक्ष्म केश-खण्डों से (प्रत्येक केश के असंख्यात

खण्ड कर) इस प्रकार कूट-कूट कर ठसाठस भर दिया जाय कि यदि उस पर से चक्रवर्ती की पूरी सेना निकल जाय तो भी वह अंश मात्र लचक न पाये, न उस में जल प्रवेश कर सके और न अग्नि ही जला सके। उसमें से एक-एक केश-खण्ड को सौ-सौ वर्षों के अन्तर से निकालने पर जितने समय में वह कूआं केश-खण्डों से पूर्णरूपेण रिक्त हो, उतने असंख्यात वर्षों का एक पल्योपम होता है।

पूर्व – सत्तर लाख, छप्पन हजार करोड़ वर्ष का एक पूर्व।

पौषध – एक दिन व एक रात तक के लिये चारों प्रकार के आहार व अशुभ-प्रवृत्तियों का त्याग धारण करना।

पौषध-शाला – वह स्थान जहां पर पौषध आदि धर्म-क्रिया की जाय।

प्रतिक्रमण – अशुभ योगों को त्याग कर शुभ योगों में जाना।

माण्डलिक-राजा – एक मण्डल का अधिपति।

युग

– कृत या सत्ययुग	१७,२८,००० वर्ष
– त्रेतायुग	१२,९६,००० वर्ष
– द्वापरयुग	८,६४,००० वर्ष
– कलियुग	४,३२,००० वर्ष
कुल	४३,२०,००० वर्ष

ऐसा माना जाता है कि युगों की उत्तरोत्तर घटती हुई अवधि के अनुसार शारीरिक और नैतिक शक्ति भी मनुष्यों में वरावर गिरती गई है; सम्भवतः इसीलिये कृतयुग को स्वर्णयुग और कलियुग को लोहयुग कहते हैं।

[संस्कृत-हिन्दी कोष : वामन शिवराम आप्टे कृत, पेज ८३६, सन् १९६६, मोतीलाल वनारसीदास, दिल्ली द्वारा प्रकाशित]

[संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पेज ८५४, एम. मोन्योर विलियम कृत, १९७० एडीशन]

[युगचतुष्टय सम्वन्धी विस्तृत विवेचन 'शब्द कल्पद्रुम', चतुर्थ काण्ड, पृष्ठ ४३–४४ पर भी देखें]

रजोहरण – भूमि आदि के प्रमार्जन हेतु काम में आने वाला जैन श्रमणों का एक उपकरण-विशेष।

लोकान्तिक – ब्रह्म नाम के पांचवें देवलोक के छः प्रतरों (मंजिलों) में से तीसरे अरिष्ट नामक प्रतर के पास दक्षिण दिशा में स्थित त्रसनाड़ी के अन्दर आठों दिशा-विदिशाओं की आठ-कृष्ण, राजियों में तथा मध्यभाग में स्थित (१) अर्चि, (२) अर्चिमाल, (३) वैरोचन,

(४) प्रभंकर, (५) चन्द्राभ, (६) सूर्याभ, (७) शुक्राभ, (८) सुप्रतिष्ठ और (९) रिष्टाभ नामक नौ लोकान्तिक विमानों में रहने वाले देवों में से मुख्य ९ देव जो शाश्वत परम्परा के अनुसार तीर्थंकरों द्वारा दीक्षा ग्रहण करने से एक वर्ष पूर्व उनसे दीक्षा ग्रहण करने एवं संसार का कल्याण करने की प्रार्थना करने के लिये उनके पास आते हैं। ये देव एक भवावतारी होने के कारण लोकान्तिक और विषय-वासना से प्रायः विमुक्त होने के कारण देवर्षि भी कहलाते हैं।

वर्षीदान – दीक्षा-ग्रहण से पूर्व प्रतिदिन एक वर्ष तक तीर्थंकरों द्वारा दिया जाने वाला दान।

विद्याधर – विशिष्ट प्रकार की विद्याओं से युक्त मानव जाति का व्यक्ति-विशेष।

शुक्लध्यान – राग-द्वेष की अत्यन्त मन्द स्थिति में होने वाला चतुर्थ ध्यान।

शैलेशी अवस्था – चौदहवें गुणस्थान में मन, वचन एवं काय-योग का निरोध होने पर शैलेन्द्र-मेरु-पर्वत के समान निष्कम्प-निश्चल ध्यान की पराकाष्ठा पर पहुँची हुई स्थिति।

सम्यक्त्व – सम्यक्रूपेण यथार्थ तत्त्व-श्रद्धान।

स्थविर – दीक्षा, आयु एवं ज्ञान की दृष्टि से स्थिरता-प्राप्त व्यक्ति। स्थविर तीन प्रकार के होते हैं – (१) प्रव्रज्यास्थविर, जिनका २० वर्ष का दीक्षाकाल हो, (२) वय-स्थविर, जिनकी आयु ६० वर्ष या इससे अधिक हो गई हो तथा (३) श्रुत-स्थविर, जिन साधुओं ने स्थानांग, समवायांग आदि शास्त्रों का विधिवद् ज्ञान प्राप्त कर लिया हो।

सागर–सागरोपम – दस कोटाकोटि पल्य का एक सागर या सागरोपम कहलाता है।

शब्दानुक्रमणिका

[क] तीर्थंकर, आचार्य, मुनि, राजा, श्रावकादि

(प)

(ह)

[ख] ग्राम, नगर, प्रान्त, स्थानादि

(अ)

(आ)

(इ)

(ई)

(उ)

(ह)

[ग] सूत्र, ग्रंथादि

(अ)

(आ)

[घ] मत, सम्प्रदाय, वंश, गोत्रादि

(ब)

(म)

(य)

(ल)

(व)

(श)

(स)

(ह)

संदर्भ ग्रन्थों की सूची

ग्रन्थ का नाम	ग्रन्थकार अथवा टीकाकार का नाम
अंतगड़ दशा	१. अमोलक ऋषिजी महाराज
	२. आ० हस्तीमलजी महाराज
अग्निपुराण	व्यास
अणुत्तरोववाइय	श्री घासीलाल जी महाराज
अभिधान चिन्तामणि	आ० हेमचन्द्र
अभिधान राजेन्द्र कोष–भाग १–७	राजेन्द्र सूरि
अमरकोष	अमरसिंह
अरिहन्त अरिष्टनेमि और वासुदेव श्रीकृष्ण	श्रीचन्द रामपुरिया
अशोक के धर्म लेख	जनार्दन भट्ट
आगम और त्रिपिटक–एक अनुशीलन	मुनि श्री नगराजजी
आचारांगसूत्र टीका	
आचारांग सूत्र, भाग १ व २	सम्पा. पुप्फ भिक्खु
आचारांग सूत्र टीका	
आदिपुराण	आचार्य जिनसेन
आप्टे की संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी	
आर्य मंजूश्री	
आवश्यक-चूर्णि दोनों भाग	आचार्य जिनदास गणि
आवश्यक-निर्युक्ति	मलयगिरि
आवश्यक-निर्युक्तिदीपिका	माणिक्य शेखर
आवश्यक मलयवृत्ति, भाग १–३	मलयगिरि
आवश्यक हारिभद्रीय	
इण्डियन एण्टीक्वेरी, वोल्यूम ६	
इण्डियन फिलोसोफी, वोल्यूम १	डॉ० राधाकृष्णन्
ईशान संहिता	
उत्तर पुराण	आचार्य गुणभद्र, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
उत्तराध्ययन सूत्र	सं० घासीलाल जी महाराज
उपासकदशा (टीका)	आ० अभयदेव सूरि
उववाई (टीका)	,, ,, ,,
ऋग्वेद	
ऋग्वेद-संहिता	
ऋषभदेव—एक अनुशीलन	देवेन्द्र मुनि शास्त्री

ग्रन्थ का नाम	ग्रन्थकार अथवा टीकाकार का नाम
एकविंशतिस्थान प्रकरण	
एन एड्वान्स्ड हिस्ट्री आफ इण्डिया	आर. सी. मजूमदार, एच. सी. राय चौधरी और के. के. दत्ता
एन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स	डॉ. हार्नले
एन्शियेन्ट जोग्राफी ऑफ इण्डिया	
एपिटोम ऑफ जैनिज्म, एपेंडिक्स ए. पी. ४	
ओपपातिक सूत्र	आ० घासीलालजी
कम्पेरेटिव स्टडीज दी परिनिव्वान सुत्त एण्ड इट्स चाइनीज वर्शन	Faiub
कल्प-समर्थन	
कल्पसूत्र—अंग्रेजी अनुवाद	
कल्पसूत्र (गुजराती)	मुनि श्री पुण्य विजयजी
कल्पसूत्र, हिन्दी अ०	श्री देवेन्द्र मुनि
कल्पसूत्र किरणावली	
कल्पसूत्र सुबोधा	
कल्पसूत्र (बंगला)	वसंत कुमार
कालमाधवीय नागर खण्ड	
कूर्मपुराण	
केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, भाग १	
गौतम धर्मसूत्र	
चन्द्रगुप्त मौर्य एण्ड हिज टाइम	डॉ० राधाकुमुद मुखर्जी
चउप्पन्न महापुरिस चरियं	आचार्य शीलांक
जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति	आ० अमोलक ऋषिजी
जर्नल ऑफ बिहार-एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी	
ज्ञाताधर्मकथा-सूत्र	श्री घासीलालजी महाराज
जातक अट्ठकहा	
जैन-दर्शन	महेन्द्र कुमार
जैन धर्म का संक्षिप्त इतिहास	कामता प्रसाद
जैन धर्म नो प्राचीन इतिहास	पं० हीरालाल
जैन परम्परा नो इतिहास, भाग १ व २	त्रिपुटी महाराज
जैन सूत्र (एस. बी. ई.), भाग १	
तित्थोगालीपइन्नय	
तिलोय-पण्णत्ती, भाग १ व २	आचार्य यतिवृषभ
त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित्र, पर्व १–१०	आ० हेमचन्द्र
तीर्थंकर महावीर, भाग १ व २	विजयेन्द्र सूरि

ग्रन्थ का नाम	ग्रन्थकार अथवा टीकाकार का नाम
तीर्थंकर वर्धमान	श्रीचन्द रामपुरिया
दर्शन दिग्दर्शन	
दर्शनसार	देवसेनाचार्य
दशवैकालिक अगस्त्य चूर्णि	
दशभक्ति	आचार्य पूज्यपाद
दी फिलोसफी ऑफ इण्डिया	
धम्मपद अट्ठकहा	आचार्य बुद्धघोष
धर्मरत्न प्रकाश	
नन्दीश्वर भक्ति	
नारद पुराण	
निरयावलिका	
निशीथसूत्र चूर्णि	
पउम-चरियं	मुनि पुण्य विजयजी
परिशिष्ट पर्व	आ. हेमचन्द्र
प्रवचन सारोद्धार वृत्ति, पूर्व और उत्तर भाग	सिद्धसेन सूरि
प्रश्न व्याकरण	
प्राकृत साहित्य का इतिहास	
पाणिनिकालीन भारत	वासुदेवशरण अग्रवाल
पातंजल महाभाष्य	
पार्श्वनाथ	श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री
पार्श्वनाथ का चातुर्याम धर्म	धर्मानन्द कौशाम्बी
पार्श्वनाथ चरित्र	सकलकीर्ति
पार्श्वनाथ चरित्र	अभय देव सूरि
पासनाह चरियं	पद्मकीर्ति
पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एन्शियेण्ट इण्डिया	एच. सी. राय चौधरी
ब्रह्माण्ड पुराण	
बालकाण्ड (वाल्मीकीय रामायण)	
बिलोंग्स ऑफ बुद्धा, भाग २	
भगवान् पार्श्वनाथ की परम्परा का इतिहास, भाग १ व २	मुनि श्री ज्ञान सुन्दरजी
भगवती सूत्र, हिन्दी अ०	आगमोदय समिति
भगवती सूत्र अभयदेवीया वृत्ति	
भगवान् महावीर	मुनि कल्याण विजयजी
भगवान् महावीर (अंग्रेजी में) १२ जिल्दें	रत्नप्रभ विजयजी
भगवान् महावीर और महात्मा बुद्ध	कामता· प्रसाद जैन
भरतेश्वरबाहुबली-वृत्ति	

ग्रन्थ का नाम	ग्रन्थकार अथवा टीकाकार का नाम
भागवत श्रीमद्	व्यास
भारत का वृहत् इतिहास	नेम पाण्डे
भारतीय इतिहास–एक दृष्टि	
भारतीय प्राचीन लिपिमाला	रायबहादुर पं० गौरिशंकर हीराचन्द ओझा
भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान	
भाव संग्रह	
मज्झिम निकाय	
मनुस्मृति	
महापुराण	आचार्य जिनसेन
महाभारत, १से १८ पर्व	व्यास
महावीर कथा	पं० गोपाल दास
महावीर चरित्र	आ० नेमिचन्द्र
महावीर चरियं	आ० गुणभद्र
महावीर नो संयम धर्म	
मूलाचर	
मोन्योर मोन्योर संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी	सर एम. मोन्योर
यजुर्वेद	दामोदर सातवलेकर संस्करण
योगसूत्र	पतंजलि
रत्नकरण्ड श्रावकाचार	
रायपसेणी	
लिंगपुराण	
लोक-प्रकाश	
वशिष्ठ स्मृति	
वसुदेव हिण्डी,प्रथम खण्ड	संघदास गणि
वसुदेव हिण्डी, द्वितीय खण्ड	,,
वृहत्कल्प भाष्य	
वाजसनेयि माध्यंदिन शुक्ल यजुर्वेद संहिता	
वायुपुराण	
वाराहपुराण	
विचार-श्रेणी	
विपाकसूत्र	
विविध तीर्थकल्प	
विशेषावश्यक भाष्य	हेमचन्द्र सूरि
विशेषावश्यक वृहद् वृत्ति	

ग्रन्थ का नाम	ग्रन्थकार अथवा टीकाकार का नाम
विष्णु-पुराण	व्यास
वीर विहार मीमांसा	
वीर निर्वाण संवत् और जैन कालगणना	मुनि कल्याण विजयजी
वैजयन्ती कोष	
शब्दरत्न समन्वय कोष	
शिवपुराण	
षट् खण्डागम	
सत्तरिसय प्रकरण	सोमतिलक सूरि
समवायांगसूत्र	पं० घासीलाल जी द्वारा संपादित
समवायांग वृत्ति	
स्कन्ध-पुराण	
स्थानांगसूत्र	अमोलक ऋषिजी
स्थानांगसूत्र-टीका	
साइनो इण्डियन स्टडीज, वोल्यूम १ जुलाई, १९४५	
सुत्तनिपात	
सुत्तागमे	धर्मोपदेष्टा फूलचन्जी म०
सुमंगल विलासिनी (दीर्घकाय अट्ठकहा)	
सूत्र कृतांग	
सेक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट	
हरिवंशपुराण	आचार्य जिनसेन
हरिवंश पुराण	व्यास
हिस्टोरिकल बिगिनिंग्स ऑफ जैनिज्म	
हिस्ट्री एण्ड डोक्टराइन्स ऑफ आजीवकाज	ए. एल. बाशम

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ सं०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८	स्कम्भ	तीर्थंकर पद प्राप्ति	कुलकर : तुलनात्मक विश्लेषण
८	६ नीचे से	महाधिकारी	महाधिकार
१३	९	वक्रवर्ती	चक्रवर्ती
१६	५	से जन्म	जन्म से
२३	१४	चक्कं	चक्क
३१	टि० १	षण्मासानशन	षण्मासानशनं
३१	,, ,,	योगैकाग्रय	योगैकाग्र्य
३८	२०	अतिशत	अतिशय
४७	स्कम्भ	ब्राह्मी और सुन्दरी	परिव्राजक मत का प्रारम्भ
५६	२	ज्ञाता थे ।[१]	ज्ञाता थे ।[१] उनकी ४० हजार श्रमणियां मुक्त हुईं ।
११५	१२	स्वयं	स्वयं ने
१८१	टि० १ पं० ३	महाम्वोधे:	महाम्भोधे:
२९४	२६	ज्ञानाभाव से विरक्त	ज्ञानभाव से विरक्त
३०४	१०	संवरवार	संवरद्वार
३३९	२५	ततस्तस्नयसिति	ततस्त्र्यशीति
३६३	टिप्पण ३	पाल्लणए	पारणय
३६५	१	थंथु-वोर	मंथु-बोर
३७१	२६	आर्काषिक	आर्काषित
३७८	३	कूपनाथ	कूपनय
३८१	२१	शुभ भूमि	शुभ्र भूमि
३९८	४	निर्यंच	तिर्यञ्च
४०५	टि० ३	आसहेत्ता	आराहेत्ता
४११	२७	सुमरिया	सुमरूया
४१२	१८	अगमन	आगमन
४३७	१४	संयामिका	कायिका
४४३	३	छट्ठा	छट्ठ
४४५	१४	तीन	दो
४५०	३	मैं	में
४५८	२	मिथ्ना	मिथ्या
४५९	३१	मणवेगा	मणाणिग्रं
४८७	टि० १	पच्छिस्स	पच्छिमस्स

पृष्ठ सं०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५०३	१६	द्दष्टव्य	द्रष्टव्य
५०७	२	कश्यप	काश्यप
५१०	८	अभिहत	अभिहृत
५१०	१२	पसंतं	पसंसंतं
५१२	१५	कायावादी	आयावादी
५१२	टि० १	भवत्तव्व	भवत्तव्वं
५१२	,,	जइ	जह
५१५	२१	धर्मावली	धर्मावलम्बी
५१८	१२	भगवो	भगवओ
५१८	२४	खङ्ग	खङ्ग आदि
५२०	१७	अंशका	आशंका
५२२	६	उपोशित	उपोषित
५२२	१८	स्याधर्मी	स्वधर्मी
५३०	३२	केशिकुमार	भानजे केशिकुमार
५३०	३३	भानजे महावीर	महावीर
५३२	२४	इनता	इतना







